वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं० १

श्रीमद्भगवद्विद्यानंदाचार्य विरचित

अष्टसहस्री

[प्रथम भाग]

[प्रथम परिच्छेद अपूर्ण—कारिका १ से ६ तक]

स्याद्वादचिंतामणि—भाषा टीका सहित

टीकाकर्त्री

चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की शिष्या, जम्बूद्वीप रचना की पावन प्रेरिका, सिद्धान्तवारिधि, विधान वाचस्पति, न्यायप्रभाकर

गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

प्रकाशक :

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

द्वितीय संस्करण
११०० प्रति

फाल्गुन शुक्ला २ वीर० नि० सं० २५१५
६ मार्च १९८९

मूल्य
६४.००

अनुक्रम दर्पण

	पृष्ठ नं०
हिन्दी टीका का मंगलाचरण	१
गुरु वन्दना	३
अष्टसहस्री वंदना	४
ग्रन्थ का मंगलाचरण	५
मंगलाचरण का महत्त्व और ग्रन्थकर्ता का उद्देश्य	६
आप्त की परीक्षा	
विभूतिमत्त्व हेतु को निर्दोष मानने में युक्ति	१३
तटस्थ जैनी द्वारा समाधान-जनक प्रश्नोत्तर एवं कारिका का द्वितीय अर्थ	१३
पुनः आचार्य तर्क द्वारा हेतु को अविसंवादी सिद्ध करते हैं	१४
यहाँ कोई तटस्थ जैनी "विग्रहादि महोदयत्वात्" हेतु को निर्दोष सिद्ध करता है	१६
पुनः आचार्य हेतु को सदोष सिद्ध करते हैं	१६
आप्त परीक्षण का सारांश	२२
नियोगवाद	
यहाँ पर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर द्वारा मान्य नियोगवाद के खंडन हेतु पहले उसका पूर्वपक्ष रखते हैं	२५
एकादश प्रकार के नियोग का क्रम से वर्णन	२६
नियोग को प्रमाण, प्रमेयादि रूप मानने में दोषारोपण	३१
नियोग को सत्-असत् आदि मानने में दोषारोपण	३६
नियोग को प्रवर्तक या अप्रवर्तक मानने में दोष	४०
नियोग फलरहित है या फलसहित	४२
प्रारंभ में जो नियोग के ११ प्रकार से अर्थ किये हैं—	
उनका क्रमशः भाट्ट द्वारा खंडन किया जा रहा है	४४
नियोगवाद के खंडन का सारांश	४७

विधिवाद	पृष्ठ सं०
प्रभाकर नियोगवाद को मानते हैं वेदान्तियों ने भट्टाचार्य भट्ट के मुख से उस नियोगवादी.....	५१
विधि को प्रमाण रूप मानने पर उसका खंडन	५१
यहां पर भाट्ट जैनमत का आश्रय लेकर विधिवाद का खंडन करता है	५६
वेदवाक्य का अर्थ विधि—परमब्रह्म रूप है ऐसी मान्यता में भाट्ट ने प्रश्न उठाये वे कि आपका.....	६२
विधि को शब्द के व्यापार आदि रूप से ४ विकल्प रूप मानने में हानि	६४
विधि को सत्-असत् आदि रूप मानने में दोषारोपण	६५
विधि को प्रवर्तक स्वभाव या अप्रवर्तक स्वभाव मानने में दोष	६६
विधि को फल रहित या सहित मानने में दोषारोपण	६७
जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट विधिवादी पर दोषारोपण करता है	६८
पूर्व में भावनावादी भाट्ट ने जैसे नियोग का खंडन किया है उसी प्रकार विशेष रूप से अब विधिवाद का भी खण्डन करता है	७०
विधि को ग्रहण करने वाले वाक्य अप्रधान रूप से विधि को ग्रहण करते हैं या प्रधान रूप से ? दोनों विकल्पों का निराकरण	७६
यहां विधिवादी पुनरपि ब्रह्माद्वैतवाद का समर्थन करते हैं	८१
यहां भावनावादी भाट्ट पुनरपि नियोग पक्ष का आश्रय लेकर विधिवादी को दूषण देता है	८२
विधि को कहने वाले वाक्य अन्य अर्थ का निषेध करते हैं या नहीं ? ये दो विकल्प उठाकर दोष देते हैं	८४
यहां भावनावादी भाट्ट सौगत मत का अवलंबन लेकर विधिवाद को दूषित करते हैं	८६
वाक्य का अर्थ विधि ही है वही सर्वत्र प्रधान है ऐसा मानने में दोष	८७
हम आपसे प्रश्न करते हैं कि जो आप पर रूप का निषेध करते हैं वह क्रम से करते हैं या युगपत् ? क्रम से है.....	८७
सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति में हेतु नहीं है ऐसा कहते हुये भाट्ट विधिवाद का परिहार करते हैं	८८
इस पर किसी की शंका यह है कि हे स्याद्वादिन् !	८९
विधिवाद के खंडन का सारांश	९२

पृष्ठ सं०

भावनावाद

यहां तक भावनावादी भाट्ट से नियोगवादी प्रभाकर के मत का खण्डन करके एवं सौगत ·····—— ९४

अर्थात् वह ज्ञात्वर्थ सम्यक् रूप है या·····—— ९६

"शब्द व्यापार रूप शब्दभावना ही नियोग है" ऐसा प्रभाकर के द्वारा मानने पर भाट्ट कहता है कि·····—— १०१

संकेत ग्रहण किये हुये शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं या बिना संकेत ग्रहण किये हुये शब्द····· १०१

प्रत्यक्ष के समान शब्द से भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है १०५

शब्द से कार्य का साक्षात्कार होता है या नहीं इस पर विचार १०७

कारकों के भेद से क्रिया में भेदाभेद का विचार ११२

शब्दभावना रूप नियोग अर्थभावना का विश्लेषण है इस पर विचार ११७

वेदवाक्य से यज्ञकार्य में प्रवृत्त हुआ पुरुष स्वर्ग रूप फल को देखे बिना कैसे प्रवृत्त होगा ? १२०

बौद्ध भेद को काल्पनिक सिद्ध करना चाहता है किंतु भाट्ट भेद को वास्तविक मान रहा है १२२

पुनरपि बौद्ध भेद कल्पना के मानने में अनावस्था दोष देता है, भाट्ट उसका परिहार करता है १२३

अवस्था को छोड़ कर अवस्थावान कोई चीज नहीं है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर भाट्ट के द्वारा समाधान १२५

करोति क्रिया सामान्य रूप है और यजनयाचनादि क्रियायें विशेष रूप हैं इनमें····· १२७

जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट उत्तर देता है १२८

बौद्ध के द्वारा आरोपित संशय दोष का भाट्ट के द्वारा निराकरण किया जाता है १२९

संशय के लक्षण का विचार १३२

भेद और अभेद को विवक्षा मानने रूप बौद्ध की मान्यता का निराकरण १३९

बुद्धि के बिना पदार्थ में भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती है इस बौद्ध की मान्यता का निराकरण किया जाता है १४०

स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञान के धर्म हैं पदार्थ के नहीं एवं स्पष्ट ज्ञान के समान अस्पष्ट ज्ञान भी प्रमाण है १४१

अब यहां से जैनाचार्य भावनावादी भाट्ट का खंडन करते हैं १४७

शब्द से शब्द के व्यापार को अभिन्न मानने में दोष १४७

शब्द से शब्द के व्यापार को भिन्न मानने में दोष १५०

पृष्ठ सं०

भाट्ट शब्द से उसके व्यापार को भिन्न और अभिन्न दोनों रूप मानता है उस पर १३७

भाट्ट कहता है कि आप जैनों के द्वारा शब्द भी अपने व्यापार से भिन्न है या अभिन्न है १३९

भाट्ट के द्वारा दिये गये दोषों का जैनाचार्य निराकरण करते हैं १४३

शब्द भावना का निराकरण करके अब यहां से आचार्य अर्थभावना का निराकरण करते हैं १४५

भाट्ट ने करोति क्रिया को सामान्य मान कर उसे ही वेदवाक्य का अर्थ माना है उस पर ... १४६

निष्क्रिय वस्तु में भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है अतः वह क्रियास्वभाव नहीं है ऐसी ... १५७

करोति क्रिया का अर्थ सामान्य और भिन्न है ऐसा भाट्ट के द्वारा कहने पर जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं १५९

करोति क्रिया एक है ऐसा भाट्ट कहता है उसका परिहार १६०

करोति सामान्य निरंश है ऐसा भाट्ट का कहना है उसका जैनाचार्य परिहार करते हैं १६१

वह सामान्य सर्वगत है ऐसा कहने पर जैनाचार्य दूषण दिखलाते हैं १६१

शब्दाद्वैत के खंडन का सारांश १७०

वेद की अप्रमाणता

जैनाचार्य वेद को अपौरुषेय एवं प्रमाण मानने का खंडन करते हैं १७३

कोई भी वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः वेद की प्रमाणता सिद्ध नहीं होती है १७८

वेद की प्रमाणता के खंडन का सारांश १८३

चार्वाक मत खंडन

चार्वाक सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करना चाहता है उसका निराकरण १८३

चार्वाक कहता है कि हमारे बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व और पृथ्वी आदि चतुष्टय को बतलाता है अतः..... १८५

चार्वाक कहता है कि हम लोगों के द्वारा मान्य अनुमान को लेकर उससे सर्वज्ञ को और प्रत्यक्ष के १८८

चार्वाक इंद्रिय-प्रत्यक्ष से सभी अतीन्द्रिय सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेगा ? इस पर विचार किया जाता है १८९

चार्वाक मत के खण्डन का सारांश १९१

शून्यवाद

तत्त्वोपप्लववादी का खंडन १९२

तत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों के द्वारा मान्य प्रमाण को लेकर सभी के तत्त्वों का १९४

	पृष्ठ नं०
उपप्लववादी तत्ववादीयों को दोष दे रहे हैं	१६४
अब तत्वोपप्लववादी आस्तिक्यवादियों के प्रमाण तत्व को [illegible] करने की चेष्टा करता है	१६५
निर्दोष कारण अन्यत्व हेतु का खंडन	१६६
तत्वोपप्लववाद	
बाधारहितत्व हेतु का खंडन	२०४
बाधा की अनुत्पत्ति पदार्थ के ज्ञान के अनंतर ही ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है या हमेशा.....	२०५
एक देश में स्थित मनुष्य के ज्ञान में बाधा की अनुत्पत्ति प्रमाणता का हेतु है या सर्वत्र.....	२०६
किसी को बाधा का उत्पन्न न होना ज्ञान में प्रमाणता का हेतु है या सभी को.....	२०७
नैयायिक प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान की प्रमाणता मानते हैं उनका खंडन	२०९
प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रकार से तत्वोपप्लववादी नैयायिक से प्रश्न करता है	२११
सौगत अविसंवादित्व होने से ज्ञान को प्रमाणता मानता है उसका खण्डन	२१२
अभ्यास दशा में अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता स्वतः सिद्ध है इस प्रकार से बौद्ध मानता है उसका निराकरण	२१६
तत्वोपप्लववाद का खण्डन	
अब जैनाचार्य तत्वोपप्लववाद का खंडन करके अपने मत में मान्य ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं	२१९
प्रमाण की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यस्त दशा परसे है ऐसी मान्यता.....	२२०
कथंचित् नित्यानित्यात्मक आत्मा में अभ्यास-अनभ्यास दोनों ही संभव है	२२१
अभ्यास और अनभ्यास का लक्षण	२२१
तत्वोपप्लववादी संशय को करके प्रमाण का प्रलय करना चाहता है उसका निराकरण	२२३
उपप्लववादी कुछ भी तत्व का निर्णय न करके पर के तत्वों का उपप्लव या पर के तत्व में संदेह कैसे कर सकता है ?	२२५
अब जैनाचार्य उपप्लववादी के मत का ही उपप्लव कर रहे हैं	२२६
तत्वोपप्लववादी के खंडन का सारांश	२२८
सौगतदेश संप्रदाय वालों का खण्डन	
सर्वत्र सामान्य की सिद्धि में विसंवाद करने वाले सौगतादि, चार्वाक और तत्वोपप्लववादियों.....	२३०

	पृष्ठ सं०
एक प्रमाण को मानने वाले कौन-कौन है ?	२१०
अनेक प्रमाण को मानने वाले कौन-कौन है ?	२१०
अद्वैतवादियों का खण्डन	
अद्वैतवादियों का खंडन	२१२
विज्ञानाद्वैतवाद का खण्डन	२१२
"चित्राद्वैतवाद"	२१४
"शून्याद्वैतवाद"	२१४
"ब्रह्माद्वैतवाद"	२१५
"शब्दाद्वैतवाद"	२१५
प्रत्यक्षैक प्रमाणवादी चार्वाक का खण्डन	
चार्वाक का खण्डन	२१७
तर्क प्रमाण की आवश्यकता	
तर्क प्रमाण के न मानने से हानि	२१६
वैनयिक मत में परस्पर विरोध	
परस्पर विरोध दोष का स्पष्टीकरण	२४०
ज्ञान को निरंश मानने में दोष	
अन्य सिद्धांतों में स्वयं को स्वयं का ज्ञान संभव नहीं है	२४३
चार्वाक आदि के मत में ज्ञान स्वसंविदित नहीं है अतः उनके यहाँ प्रमाण की व्यवस्था नहीं बनती है	२४४
सर्वज्ञ का ज्ञान असाधारण है	
आवरणरहित ज्ञान वाले सर्वज्ञ के वचन आदि व्यापार असाधारण हैं साधारण नहीं है	२२५
अर्हंत भगवान् ही सर्वज्ञ हैं अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है	२४७
सर्वज्ञ भगवान् इन्द्रिय ज्ञान से सभी पदार्थों को जानते हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से ?	२४८
सर्वज्ञ भगवान् के भावेन्द्रियों के समान द्रव्येन्द्रियों का विनाश क्यों नहीं हो जाता है ?	२४६
मीमांसक द्वारा सर्वज्ञ का अभाव	
आपके सर्वज्ञ में अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे है एवं सभी संसारी जीवों के वे प्रभु कैसे हैं ?	२५१

पृष्ठ सं०

मीमांसक कहता है कि प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है अतः सर्वज्ञ नहीं है २५१

इस भरत क्षेत्र में और इस पंचम काल में सर्वज्ञ नहीं है तो न सही किंतु विदेह क्षेत्रों··· २५५

यहां जैनमत का आश्रय लेकर कोई शंका करता है २५६

इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं पर के विषय को नहीं, अतः····· २५८

अतीन्द्रिय ज्ञान भी असंभव ही है २५९

अब मीमांसकाभिमत सर्वज्ञ के अभाव के विषय में जैनाचार्य मीमांसा करते हैं २६०

सर्वज्ञ-सिद्धि

मीमांसक कहता है कि अस्तित्व ग्रहण करने वाले पांचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ ··· २६२

सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण विद्यमान २७०

सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले और बाधित करने वाले दोनों ही प्रमाण पाये जाते हैं अतः···· २७१

मीमांसक आत्मा को ज्ञान स्वभाव नहीं मानता है उसका उत्तर २७४

यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाली है तब संसारावस्था में उसके अज्ञानादि भाव कैसे दिखते हैं ? २७५

मोहरहित भी आत्मा तीन विप्रकृष्ट पदार्थों को नहीं जान सकता है २७७

सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से रहित अतीन्द्रिय है २७९

सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि का सारांश २८३

पूर्वोक्त तीन कारिकाओं में कथित तीन हेतुओं से भगवान् महान् नहीं हैं किंतु··· २८५

बौद्ध दोषों को स्वहेतुक एवं सांख्य दोषों को परहेतुक ही मानता है किन्तु····· २८८

किसी का कहना है कि दोष या आवरण दोनों में से एक का ही अभाव कहना चाहिये किंतु २८९

अनादिकाल से दोष आवरण निमित्तक है एवं आवरण दोष निमित्तक है दोनों ····· २९०

बौद्ध दोषों को ही संसार का कारण मानता है आवरण को नहीं, किंतु ····· २९१

दोष आवरण की हानि प्रध्वंसाभाव रूप है अत्यंताभाव रूप नहीं है २९३

शंकाकार बुद्धि की तरतमता देखकर "अतिशायन हेतु" को व्यभिचारी कहता है किंतु··· २९५

जो पदार्थ दिखते नहीं हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इस पर जैनाचार्य का कहना है कि ····· २९६

जैनाचार्य भस्म लोष्ट आदि पृथ्वी को निर्जीव सिद्ध करते हैं २९७

कर्मद्रव्य का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव मानने पर दोषारोपण एवं स्याद्वादी द्वारा उन दोषों का निराकरण ३०२

	पृष्ठ नं०
शब्द, विद्युत, दीपक आदि भी कथंचित् नित्य हैं	३०३
बुद्धि का सर्वथा विनाश होता है या नहीं ?	३०५
अज्ञानादि दोषों की हानि कैसे होगी ?	३०६
आत्मा के परिणाम कितने प्रकार के हैं ?	३०७
मीमांसक दोषों को जीव का स्वभाव मानता है उसका निराकरण	३०८
किसी जीव के संसार का सर्वथा अभाव हो जाता है जैनाचार्य इस बात को सिद्ध करते हैं	३१०
मिथ्यादर्शन आदि का परमप्रकर्ष अभव्य जीवों में पाया जाता है	३१२
ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं किंतु दोष आत्मा के स्वभाव नहीं हैं	३१३
दोष आवरण पर्वत के समान विशाल है	३१५
सर्वज्ञ के दोषावरण के अभाव का सारांश	३१६
कर्म से रहित भी आत्मा अत्यंत परोक्ष पदार्थों को कैसे जानेगा ?	३१८
सूक्ष्मादि पदार्थ जैसे किसी के प्रत्यक्ष हैं वैसे ही अनुमेय हैं या अन्य रूप से ?	३२१
परोक्षवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराने के लिये अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस मान्यता का खंडन	३२३
धर्म-अधर्म आदि पर्यायें अनित्य हैं क्योंकि वे पर्याय हैं इस प्रकार से जैनाचार्य सिद्ध करते हैं	३२५
अनुमेयत्व का "अनुज्ञानाविषयत्व" ऐसा अर्थ भी संभव है सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय ही रहें	
प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय न होवें क्या बाधा है ?	३३०
अब अनुमान के अभाव को स्वीकार करने वाले चार्वाक को जैनाचार्य समझाते हैं	३३०
मीमांसक कहता है कि कोई भी व्यक्ति सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने वाला नहीं है.....	३३१
सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने में आपका हेतु सर्वज्ञ के भाव का धर्म है या.....	३३३
अब यहां मीमांसक सौगतमत का आश्रय लेकर पक्ष रखता है पुनः जैनाचार्य उसका खंडन करते हैं	३३४
मीमांसक कहता है कि जैनों का सर्वज्ञ धर्मी प्रसिद्ध सत्तावाला नहीं है इस प्रकार जैनाचार्य समाधान करते हैं	३३५
धर्मी की सत्ता सर्वथा प्रसिद्ध है या कथंचित् ?	३३७
सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के प्रत्यक्ष हैं या नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष से ?	३३८
नैयायिक कहता है कि योगज धर्म से अनुगृहीत इन्द्रियां परमाणु आदि को भी देख लेती हैं उसका निराकरण	३३९
मानस प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है	३४२

पृष्ठ नं०

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा से रहित सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही..... ३४३

क्षेत्र आवरण के अभावपूर्वक सर्वज्ञ सिद्धि

सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जानने वाले कौन हैं ? अर्हंत बुद्ध आदि या इससे भिन्न अन्य कोई जन ? ३४६

मीमांसक जिन प्रश्नोत्तरों के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करना चाहते हैं उनका..... ३४७

सर्वज्ञसिद्धि का सारांश ३५४

चार्वाक मत-खण्डन

चार्वाक के द्वारा ईश्वर एवं उसके कारण का खंडन तथा जैन के द्वारा समाधान ३५५

चार्वाक मत निरास

संसार तत्त्व पर विचार ३५७

चार्वाक के द्वारा संसार तत्त्व का खंडन एवं जैनाचार्य द्वारा उसका समाधान ३५७

वन में अग्नि स्वयमेव उत्पन्न होती है पश्चात् अग्निपूर्वक ही अग्नि उत्पन्न होती है इस मान्यता पर विचार ३६०

जल और बिजली आदि उपादान के बिना ही उत्पन्न होते हैं चार्वाक की इस मान्यता पर प्रत्युत्तर ३६२

भूत चतुष्टय एवं चेतन का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से ये भिन्न तत्त्व हैं इस पर विचार ३६१

चार्वाक मत के खण्डन का सारांश ३६५

ज्ञान अस्वसंविदित नहीं है

ज्ञान अस्वसंविदित है इस मान्यता पर जैनाचार्य समाधान करते हैं ३६७

सुख और सुख का ज्ञान भी कथंचित् पृथक्-पृथक् ही है इस पर विचार ३६८

स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वयं को नहीं जानता है इस पर विचार ३७०

भूत और चैतन्य का लक्षण पृथक्-पृथक् ही है ३७२

उपादान का लक्षण ३७३

भिन्न लक्षणत्व हेतु भिन्न-भिन्न तत्त्व से व्याप्त है वह ज्ञात कैसे होगी ? इसका समाधान ३७४

चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ज्ञान स्वसंविदित नहीं मानते हैं उसके खंडन का सारांश ३७७

संसार के कारण भूत तत्त्वों का विचार ३७८

दूरवर्ती पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वे अर्हंत आप ही हैं ३८०

पृष्ठ सं०

सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन

सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन ३८१

चेतन के संसर्ग से अचेतन भी ज्ञानादि चेतन रूप से प्रतीत होते हैं सांख्य की इस मान्यता का निराकरण ३८४

वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन

वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खंडन ३८६

चित्रज्ञान एक रूप है या अनेक रूप ? इस पर विचार ३८७

मुक्ति में ज्ञानोपशमिक ज्ञान, सुख आदि का अभाव है न कि अनंत सुखादिकों का अभाव ३९१

वेदांतों के द्वारा मान्य मुक्ति का खंडन ३९४

बौद्ध द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन

सौगत द्वारा अभिमत मोक्ष का खंडन ३९६

सांख्यादि अन्य मतावलंबियों के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी बाधित ही हैं ३९६

सांख्यादि द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन

सांख्यादि के द्वारा मान्य संसार मोक्ष के खण्डन का सारांश ४०७

सांख्याभिमत मोक्ष कारण खण्डन

सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष के कारण का खंडन ४०८

संसार तत्त्व के न मानने वालों का निराकरण

अन्यों के द्वारा मान्य संसार तत्त्व सर्वथा विरुद्ध ही है ४०३

अन्यों के द्वारा मान्य संसार कारण भी विरुद्ध है ४०४

सांख्य के द्वारा मान्य संसार के कारण का खंडन ४०४

सांख्य द्वारा मान्य संसार का खण्डन

सांख्याभिमत संसार मोक्ष के कारण के खण्डन का सारांश ४०६

अर्हंत की वीतरागता पर विचार

बौद्ध शंका करता है कि वीतराग भी सरागवत् चेष्टा कर सकते हैं क्योंकि— ४०७

यत्न से परीक्षित कार्य कारण के अनुयायी होते हैं ४१२

अर्हंत ही सर्वज्ञ हैं

उसी हेतु अर्हंत भगवान् को ही सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं अन्य बुद्ध आदि को नहीं ४१३

पृष्ठ नं०

सर्वज्ञ के वचन इच्छापूर्वक नहीं हैं

इच्छा के बिना भी भगवान् के वचन निर्दोष हैं ४१४

सर्वज्ञ के वचन इच्छापूर्वक ही होते हैं ऐसी मान्यता में क्या दोष है ? इसका समाधान ४१५

बोलने की इच्छा भी सर्वज्ञ वचन में सहकारी है इस मान्यता का निराकरण ४१८

कोई कहता है कि दोषों का समुदाय ही सर्वज्ञ के बोलने में हेतु है..... ४१९

भगवान् का अनेकांत शासन प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है ४२२

तर्क ज्ञान प्रमाण है

जैनमत के तर्क ज्ञान प्रमाण है और वह व्यवसायात्मक ही है ४२४

निर्विकल्प दर्शन अप्रमाण है

बौद्ध के द्वारा मान्य निर्विकल्प दर्शन भी प्रामाणिक नहीं है जैसे कि सन्निकर्ष ४२६

प्रमाण नहीं है

नवनीत ४३१

सन्निकर्ष के समान निर्विकल्प दर्शन भी प्रमाण नहीं है इस बात को सिद्ध करके अब

एकांतवादियों के मत में अनुमान प्रमाण भी सिद्ध नहीं होता है। अतः वे अनेकांत में..... ४३२

प्रशस्ति— ४३३

परिशिष्ट— ४३४

उद्धृत श्लोक ४३५

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ ४४०

❋ पुरोवाक् ❋

—आर्यिका ज्ञानमती

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः विज्ञायेत यया एव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥

श्री विद्यानंद स्वामी का यह कहना है कि एक अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये अन्य हजारों ग्रन्थों को सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस एक अष्टसहस्री ग्रन्थ के द्वारा ही स्वसमय और परसमय का स्वरूप जान लिया जाता है।

महान् आचार्य श्री उमास्वामी जी ने महान् ग्रन्थराज तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ में "मोक्ष-मार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये" इस मंगल श्लोक को रचा है। श्रीसमंत-भद्रस्वामी ने इस मंगलाचरण श्लोक का आधार लेकर 'आप्तमीमांसा' नाम से एक स्तोत्र रचा है जिसका अपरनाम 'देवागमस्तोत्र' भी है। श्रीभट्टाकलंक देव ने आप्तमीमांसा स्तुति पर 'अष्टशती' नाम से भाष्य बनाया है। जो कि जैनदर्शन का एक अतीव गूढ़तम ग्रन्थ बन गया है। इसी ग्रन्थ पर आचार्यवर्य श्री विद्यानंदमहोदय ने 'अष्टसहस्री' नाम से अलंकार टीका बनाई है जो कि जैनदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ कहलाता है। इसमें दश परिच्छेद में अस्ति-नास्ति, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत आदि एक-एक प्रकरणों के एकांतों का पूर्वपक्ष पूर्वक निरसन करके सम्यक् स्याद्वाद-प्रक्रिया से वस्तुतत्त्व को समझाया गया है। वास्तव में तत्त्व-अतत्त्व को समझने के लिये यह न्याय ग्रन्थ एक कसौटी का पत्थर है और अधिक तो क्या कहा जाये श्री स्वामी समंतभद्राचार्यवर्य ने आप्त और अनाप्त की मीमांसा करते हुये आप्तअर्हंतदेव को ही न्याय की कसौटी पर कसकर सत्य सिद्ध किया है, देखिये !

देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतयः मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥

अतिशय गुणों से युक्त भगवान् की स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्रस्वामी स्वयं अपनी भद्रता और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन से ही इस देवागम स्तव में आप्त की मीमांसा करते हुये भगवान् के प्रत्युत्तर करते हुये के समान ही कहते हैं। अर्थात् मानो भगवान् वहाँ प्रगट हो रहे हैं कि हे समंतभद्र ? मुझमें देवों का आगमन, चमर, छत्रादि अनेकों विभूतियाँ हैं फिर भी तुम मुझे नमस्कार क्यों नहीं करते हो ! तब उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि "हे भगवन् ! आपके अन्य कल्याणक आदिकों में देव, चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किंतु ये विभूतियाँ तो मायावी जनों में भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिये महान्-पूज्य नहीं हैं।

इस पर भगवान् मानों पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र ! बाह्य विभूतियों से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही किंतु मस्करी आदि में असंभवी ऐसे अंतरंग में पसीना आदि का न होना एवं बहिरंग में जो गंधोदक वृष्टि आदि महोदय हैं जो कि दिव्य और सत्य हैं वे मुझ में हैं अतः आप मेरी स्तुति करिये। इस पर श्रीसमंतभद्रस्वामी कहते हैं कि अंतरंग और बहिरंग शरीरादि के महोदय भी रागादिमान् देवों में पाये जाते हैं अतः

इनसे भी आप महान् नहीं है अर्थात् देवों के शरीर में भी पसीना मलमूत्रादि नहीं हैं उनके यहाँ भी गंधोदक वृष्टि आदि वैभव होते हैं अतः इन महोदय से भी आप हमारे पूज्य नहीं है।

मानों पुनः भगवान् कहते हैं कि हे समंतभद्र ! रागादिमान् देवों में भी असंभवी ऐसे तीर्थंकृत् संप्रदाय को चलाने वाला 'मैं तीर्थंकर हूँ' अतः मैं अवश्य ही तुम्हारे द्वारा स्तुति करने के योग्य हूँ। इस पर श्री समंतभद्रस्वामी प्रत्युत्तर देते हुये से बखान कहते हैं कि हे भगवन् ! आगमरूप तीर्थ को करने वाले सभी तीर्थंकरों के आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् बुद्ध, कपिल, ईश्वर आदि सभी ने अपने-अपने आगमों को रचकर अपना-अपना तीर्थ चलाकर अपने को तीर्थंकर माना है किंतु सभी के आगम में परस्पर में विरोध होने से सभी सच्चे आप्त नहीं हो सकते हैं इसलिये इन सभी में कोई एक ही परमात्मा-सच्चा आप्त हो सकता है ऐसा अर्थ ध्वनित कर देते हैं इस कारिका की अष्टसहस्री टीका में श्री विद्यानंद महोदय ने बहुत ही विस्तार से सभी संप्रदायों का परस्पर में विरोध दर्शाया है।

अन्य संप्रदायों में वेदों को प्रमाण मानने वाले वैदिक संप्रदायी हैं। उनमें मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक एवं सांख्य वैदिक कहलाते हैं और चार्वाक, बौद्ध आदि वेद को नहीं मानने वाले अवैदिक कहलाते हैं। आजकल कुछ लोग वेद के मानने वालों को आस्तिक एवं नहीं मानने वालों को नास्तिक कहते हैं और उसमें जैन को भी नास्तिक में लिया है क्योंकि जैन भी वेदों को प्रमाणीक नहीं मानते हैं। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है जो आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि के अस्तित्व को मानते हैं वे आस्तिक एवं आत्मा आदि के अस्तित्व को मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं अतः चार्वाक और शून्यवादी नास्तिक हैं बाकी सभी आस्तिक की कोटि में आ जाते हैं। अस्तु ! सभी के संप्रदायों के परस्पर विरोध का यहाँ किंचित् दिग्दर्शन कराते हैं।

चार्वाक—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार जड़ तत्त्वों को ही मानता है। उसका कहना है कि इन्हीं भूतचतुष्टयों के मिलने से शरीर बना है और इन्हीं भूतचतुष्टयों से आत्मा की उत्पत्ति होती है। ये चार्वाक परलोक गमन, पुण्यपाप का फल आदि नहीं मानते हैं। वेदांती एक ब्रह्मरूप ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, उनका कहना है कि एक परम ब्रह्म ही तत्त्व है संपूर्ण विश्व में जो चेतन अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं हम और आप सभी उस एक परब्रह्म की ही पर्यायें हैं यह चर-अचर जगत् माया अविद्या का ही विलास है इत्यादि। बड़े आश्चर्य की बात है कि एक कोई जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति मान रहा है तो दूसरा चैतन्य ब्रह्म से अचेतनों की उत्पत्ति मान रहा है। दोनों में सर्वथा परस्पर विरोध है।

ऐसे ही बौद्ध सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं उनका कहना है कि एक क्षण के बाद सभी वस्तुयें जड़ मूल से नष्ट हो जाती हैं जो उनका कहलाना शिशिर आदि क्षणों में दिख रहा है वह सब कल्पना मात्र है वासना से ही ऐसा अनुभव आता है। इधर सांख्य कहता है कि सभी वस्तुयें सर्वथा नित्य हैं कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है किंतु तिरोभूत हो जाती है एवं उत्पत्ति भी नहीं है वस्तु का आविर्भाव ही होता है। मिट्टी से घट बनता नहीं है अपितु मिट्टी में घट सदा विद्यमान है कुम्हार के प्रयोग से प्रगट हो गया है इत्यादि। इन दोनों में भी सर्वथा ३६ का आंकड़ा है।

वैशेषिक एक सदाशिव महेश्वर को मानकर उसे सृष्टि का कर्ता मानते हैं तो मीमांसक सर्वज्ञ के अस्तित्व को न मानकर वेद वाक्यों से ही सम्पूर्ण सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का जानना मानते हैं। वेद को प्रमाण मानने वालों

में भी उन वेद वाक्यों को पृथक्-पृथक् अर्थ करके कई लोग आपस में विसंवाद करते हैं। भाट्ट, वेद वाक्यों का अर्थ भावना करते हैं। प्रभाकर उन्हीं वाक्यों का अर्थ नियोग करते हैं और वेदान्ती उन्हीं वाक्यों से ब्रह्मवाद की पुष्टि करते हैं।

इसलिए श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि सभी के सम्प्रदायों में परस्पर में विरोध होने से सभी आप्त नहीं हो सकते हैं किन्तु कोई एक ही आप्त-सच्चा देव हो सकता है। पुनः भक्तों भगवान् यह प्रश्न करते हैं कि उन्हें आप्त में आप क्या गुण चाहते हैं ? तो समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि वह सर्वज्ञ होना चाहिये। सूक्ष्म-परमाणु आदि, अंतरित-रामरावण आदि और दूरवर्ती-हिमवन सुमेरु आदि पदार्थ अनुमान ज्ञान से जाने जाते हैं जैसे कहीं पर धुयें को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है तो वह अग्नि किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है और जिनके ये सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं वे ही सर्वज्ञ हैं। पुनः प्रश्न होता है कि हम सभी संसारी प्राणी अल्पज्ञ हैं तो सर्वज्ञ कैसे बन सकते हैं ? इस पर आचार्य कहते हैं कि दोष और आवरणों का अभाव किसी न किसी जीव में सम्पूर्ण रूप से हो सकता है क्योंकि हम लोगों में दोष-रागादि भाव और आवरण-कर्मों की तरतमता देखी जाती है किन्हीं में रागादि दोष कम हैं किन्हीं में उससे भी कम हैं। इससे यह अनुमान लगता है कि किसी जीव में ये दोषादि सर्वथा भी नष्ट हो सकते हैं जैसे कि अपने निमित्तों से स्वर्ण पाषाण से किट्ट और कालिमा का सर्वथा अभाव हो जाता है और स्वर्ण शुद्ध हो जाता है।

प्रश्न—दोष और आवरण में क्या अन्तर है ?

उत्तर—कर्म के उदय से होने वाले जीव के राग-द्वेष, अज्ञान आदि परिणाम दोष कहलाते हैं इन्हें भाव कर्म भी कहते हैं। ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्म आवरण कहलाते हैं इन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं। इन दोनों में परस्पर में कार्य कारण भाव निश्चित है जैसे बीज से अंकुर एवं अंकुर से बीज की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है उसी प्रकार से दोष से आवरण और आवरण से दोष होते रहते हैं।

बौद्ध—अज्ञानादि दोष स्वपरिणाम के निमित्त से ही होते हैं। इसमें आवरण (कर्म का उदय) कुछ भी नहीं कर सकता है।

जैनाचार्य—ऐसा नहीं है। यदि दोषों को स्वनिमित्तक ही मानोगे तो इनका कभी अभाव नहीं हो सकेगा पुनः इसके नाश के बिना मोक्ष होना भी असंभव हो जावेगा। जैसे जीव के जीवत्व आदि भाव स्वनिमित्तक होने से कभी भी नष्ट नहीं होते हैं। इसलिये दोषों को आवरण निमित्तक मानना ही चाहिये।

सांख्य—अज्ञान आदि दोष परनिमित्तक ही हैं क्योंकि ये स्वयं अज्ञान-प्रकृति—जड़ के परिणाम हैं, आत्मा के नहीं।

जैनाचार्य—ये दोष सर्वथा पर पुद्गल के निमित्त से हों ही ऐसी बात नहीं है अन्यथा मुक्त जीव में भी इनका प्रसंग आ जावेगा, क्योंकि पुद्गल सर्वथा तो वहाँ भी मौजूद है किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। उन सिद्धों में अज्ञान आदि दोष के न होने से केवल पुद्गल के निमित्त से वहाँ पर कर्मबंध नहीं होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि राग-द्वेष आदि से कर्मबंध होता है। और कर्म के उदय से दोष होते हैं। जैसे—ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव में अज्ञान, दर्शनावरण के उदय से अदर्शन, दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व, चारित्र-मोहनीय के उदय से अचारित्र आदि दोष होते हैं। वैसे ही प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अंतराय आदि भावों के

निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है। केवली, श्रुत, संघ, धर्म आदि को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय का एवं कषायों की तीव्रता से चारित्र मोहनीय का आस्रव होकर बंध होता है। इस प्रकार से भाव कर्म के लिये निमित्त कारण द्रव्य कर्म है एवं द्रव्य कर्म के लिये निमित्त कारण भावकर्म है ऐसा निश्चय हो जाता है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि 'मेरी भूल से ही संसार है कर्म का उदय मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता' उन्हें अपनी एकांत मान्यता को हटा देना चाहिए।

प्रश्न—जैसे किसी जीव में दोष और आवरण का पूर्णतया नाश हो सकता है ऐसे ही किसी जीव में बुद्धि-ज्ञान का भी पूर्णतया नाश मान लेना चाहिये ?

उत्तर—ठीक है, हम स्याद्वादी हैं। किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि को शरीररूप से ग्रहण करके छोड़ दिया, अतः उन पाषाण, मिट्टी आदि में चैतन्य-ज्ञान का सर्वथा अभाव हो गया। इससे यह समझना चाहिए कि वस्त्र सोफा आदि पृथ्वीकाय सर्वथा अजीव हैं पृथ्वीकायिक में ही जीव विद्यमान रहता है। दूसरी बात यह है कि मति, श्रुत आदि रूप अपोपशम ज्ञान का अभाव हो जाता है किन्तु पूर्ण—केवलज्ञान का किसी जीव में अभाव होना सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञान यह जीव का स्वाभाविक परिणाम है।

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक और वैभाविक। अनंत ज्ञान आदि गुण स्वाभाविक हैं और अज्ञान आदि सब वैभाविक हैं। वैभाविक मिथ्यात्व, राग-द्वेष अज्ञान आदि दोष के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन आदि गुणों की वृद्धि हो जाने से दोषों का अभाव हो जाता है।

मीमांसक—संपूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा, परमाणु, धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा ? इनका ज्ञान तो वेद वाक्यों से ही होता है अतः विश्व में कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

जैनाचार्य—सूक्ष्म परमाणु आदि और राम-रावण, सुमेरु आदि किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं। सर्वज्ञ भगवान् अतीन्द्रिय ज्ञान से ही सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते हैं, इन्द्रिय ज्ञान से नहीं। क्योंकि इंद्रियाँ तो वर्तमान और नियत पदार्थ को विषय करती हैं भूत, भविष्यत् के अनंत पदार्थों को नहीं। वेद-वाक्यों से सूक्ष्मादि पदार्थों को ज्ञात मानने में तो सबसे पहले वेद को सर्वज्ञ का वाक्य कहना होगा अन्यथा हम आप जैसे अल्पज्ञ का कथन निर्दोष नहीं हो सकेगा। 'वेद का कर्ता कोई नहीं है' इसका खंडन समय-नुसार किया जावेगा।

अतः कोई न कोई कर्ममलकलंक रहित अकलंक आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, वही निर्दोष है यह अब सिद्ध हो जाती है। अब वह निर्दोष, सर्वज्ञ आत्मा कौन हो सकता है ? इस बात को सिद्ध कर रहे हैं।

वे निर्दोष सर्वज्ञ आप ही हैं

चार्वाक—कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं है न कोई आगम है न वेद है अथवा न कोई तर्क अनुमान ही है बस एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टय से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

जैनाचार्य—यह बात ठीक नहीं है, देखिये ! यदि आप प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं तब तो कोई भी प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अच्छा ! आप पहले इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सारे विश्व में घूम-कर देख लो कि कहीं भी सर्वज्ञ तीर्थंकर नहीं है तभी आपका कहना सत्य होगा और यदि आपने सारे विश्व को देख लिया, जान लिया तब तो आप स्वयं ही सर्वज्ञ बन गये क्योंकि 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' जो सभी को जानता है वही सर्वज्ञ है।

तत्त्वोपप्लववादी—सभी प्रमाण अनेक उपप्लुत ही हैं अर्थात् अप्रामाणरूप ही हैं। इसलिये सर्वज्ञ कोई है ही नहीं।

जैनाचार्य—आप सभी प्रमाण—ज्ञान, प्रमेय-जीवादि वस्तुओं का अभाव मानते हैं तब आप अपना और अपनी मान्यता—शून्यवाद का अस्तित्व स्वीकार करते हैं या नहीं? यदि करते हैं तब तो सर्वथा शून्यवाद नहीं रहा। यदि अपना तथा अपनी मान्यता का भी अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं तब तो आपका कथन भी अस्तित्व रहित होने से कैसे माना जायेगा? जैसे कि आकाश का कमल नहीं माना जा सकता है।

बात यह है—मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी ये तीनों सर्वज्ञ को मानते ही नहीं हैं। बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक और ब्रह्माद्वैती ये लोग सर्वज्ञ को तो मानते हैं किन्तु इनकी मान्यतायें गलत हैं इस बात का स्पष्टीकरण आगे समयानुसार होगा। हे भगवन्! जो आत्मा कर्मकलंक रहित निर्दोष और सर्वज्ञ है वह आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हैं। यह आपका अविरोध इष्ट—आगम, प्रसिद्ध—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है। अर्थात् घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ये तीन गुण आप अर्हंत में ही घटित होते हैं अन्यत्र किसी में घटित नहीं होते हैं, इसलिये आप अर्हंत ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं क्योंकि आपके वचनों में किसी प्रकार का विरोध न होने से आपका मत बाधा रहित सर्व प्राणी को हितकर है। और आपके शासन में संसार और मोक्ष तथा संसार के कारण और मोक्ष के कारण ये चार तत्त्व बाधा रहित हैं। ये चारों बाधा रहित कैसे हैं?

मोक्ष की समीक्षा

सांख्य—प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाने पर चैतन्यमात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है। सर्वज्ञता प्रधानतत्त्व का स्वरूप है आत्मा का नहीं, क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं। वे प्रकृति के ही स्वरूप हैं।

जैनाचार्य—यह आपका कथन असंभव है। हमारे यहाँ तो अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख आदि स्वरूप चैतन्य में अवस्थान हो जाने को ही मोक्ष कहा है, क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं—जैसे चैतन्य। ये ज्ञानादि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र अचेतन में नहीं पाये जाते हैं। ज्ञान से ही आत्मा सुख दुःख का अनुभव करता है। ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानने पर तो आत्मा का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।

वैशेषिक—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेष गुणों का नाश हो जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं आत्मा से भिन्न हैं।

जैनाचार्य—यदि मुक्ति में बुद्धि-ज्ञान और सुख का ही विनाश माना जायेगा तब मुक्ति के लिये भला कौन बुद्धिमान प्रयत्न करेगा?

ज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है कर्ता और करण की अपेक्षा से कथंचित् ही भिन्न है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि सांपेक्षिक ज्ञान और साता वेदनीयजन्य सुख का तो हम लोग भी मुक्ति में विनाश मान लेते हैं किन्तु आत्मिक पूर्णज्ञान और अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख का तो मोक्ष में अभाव नहीं है प्रत्युत ज्ञान और सुख की पूर्णता के लिये ही मोक्ष के लिये प्रयत्न किया जाता है।

वैभाषिकवादी—मुक्त जीव के अनन्त सुख संवेदनरूप ज्ञान तो है किन्तु उन्हें बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है।

जैनाचार्य—पहले यह बताओ कि मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है इसलिये बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है या बाह्य पदार्थ का अभाव है इसलिये उनका ज्ञान नहीं है ? यदि बाह्य पदार्थ का अभाव ही तो सुख का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि आप अर्हंत आदिकों ने सुख को भी बाह्य पदार्थ ही माना है। यदि इन्द्रिय का अभाव कहो तब तो उन्हें सुख का भी अनुभव कैसे होगा ?

बौद्ध—आस्रवरहित चित्तसंतति की उत्पत्ति ही मोक्ष है।

जैनाचार्य—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है। तथा निरन्वय क्षणक्षय (अन्वयरहित क्षण-क्षण में क्षय होने की व्यवस्था) को एकान्त से स्वीकार करने पर आपके द्वारा मान्य मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है। इस प्रकार से अन्वयव्यतिरेकों द्वारा सत्य मोक्ष तत्त्व में बाधा आती है अतः जैनों द्वारा मान्य 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' संपूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना मोक्ष है वहीं पर अनंत गुणों की सिद्धि हो जाती है।

मोक्ष के कारण की समीक्षा—

सांख्य ज्ञानमात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं। सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमौदारिक शरीर पाया जाता है : यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे तो यहाँ पर सर्वज्ञ का रहना, उपदेश आदि देना नहीं घटेगा। तथा यदि एकांत से ज्ञान को ही मोक्ष का कारण मान लिया जावे तो सभी के आगम में दीक्षा यदि बाह्य चारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों के अभावरूप अभ्यन्तर चारित्र का जो वर्णन है वह सब व्यर्थ हो जावेगा। किन्तु सभी ने तो दीक्षा ग्रहण, लिंग धारण और ध्यान आदि को माना ही है।

ऐसे ही कोई मात्र सम्यग्दर्शन से या कोई-कोई मात्र चारित्र से-क्रियाकांड से ही मुक्ति मानते हैं। उन सबकी मान्यता गलत है।

हम जैनों ने तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस आगम सूत्र के सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही मोक्ष माना है और यही मान्यता सुसंगत है इसलिये जैनाचार्य द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व ठीक ही हैं।

कोई मोक्ष को अकारणक ही कहते हैं किन्तु यह मान्यता बिल्कुल गलत है क्योंकि अनिमित्तक मोक्ष होने से तो हमेशा ही सभी जीवों को मोक्ष हो जावेगी, पुनः कोई संसारी और दुःखी रहेगा ही नहीं। किन्तु ऐसा तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है।

संसार की समीक्षा—

सांख्य कहता है कि प्रकृति-जड़ को ही संसार है आत्मा को नहीं है, किन्तु ऐसी एकांत मान्यता गलत है। हम देखते हैं कि जड़ के संसर्ग से यह संसारी आत्मा संसार में जन्म, मरण आदि अनेकों दुःखों को उठा रही है। 'संसरणं संसारः' संसरण करना—एक गति से दूसरी गति में गमन करना इसी का नाम संसार है। इसके पंच परिवर्तन की अपेक्षा पाँच भेद हैं—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार। इन का विवेचन सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में देखना चाहिये, इसलिये संसार तत्त्व भी सिद्ध ही है।

संसार के कारण की समीक्षा—

सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है। सो ठीक नहीं है। क्योंकि मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाने पर भी राग आदि दोषों का अभाव न होने से संसार का अभाव नहीं होता है। यह बात स्वयं सांख्यों ने भी मान ली है। हम जैनों को मान्य संसार के कारण आगम में प्रसिद्ध है "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः" मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच बंध के कारण हैं। बंध से ही संसार होता है अतः बंध के कारण ही संसार के कारण माने गये हैं।

किन्हीं का कहना है कि संसार के कारण मिथ्यात्व आदि अनादिकालीन हैं अतः ये निर्हेतुक हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है यद्यपि ये संसार के कारण अनादि हैं फिर भी सहेतुक (सकारणक) नहीं हैं। इनके कारण द्रव्य कर्म मौजूद हैं, तथा द्रव्य कर्म के कारण ये भाव कर्म हैं इन दोनों में परस्पर में कार्य-कारणभाव पाया जाता है। इसीलिये इन मिथ्यात्व आदि कारणों को सम्यग्दर्शन आदि कारणों से विनाश भी हो सकता है अन्यथा निर्हेतुक का विनाश होना असम्भव ही हो जाता।

इस प्रकार से आप अर्हन्त भगवान् के शासन में मोक्ष और मोक्ष के कारण तथा संसार और संसार के कारण ये चार तत्त्व अबाधित रूप से सिद्ध हैं अतः आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी सिद्ध हैं और इसीलिये आप निर्दोष परमात्मा हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

इस तरह छह कारिकायें मात्र अष्टसहस्री के प्रथम भाग में आई हैं। यहाँ तक उन छह कारिकाओं का अभिप्राय है। आगे सातवीं कारिका से लेकर तेईस कारिका तक प्रथम परिच्छेद है जो कि द्वितीयभाग में लिया गया है।

अष्टसहस्री ग्रन्थराज का महत्त्व

इस अष्टसहस्री ग्रन्थ में श्री समंतभद्राचार्य ने दश अध्यायों में मुख्यरूप से दश प्रकार के एकांत का निरसन करके स्याद्वाद की सप्तभंगी प्रक्रिया को घटित किया है। उन एक-एक परिच्छेद में मुख्य-मुख्य एकांतों के खण्डन में उभयैकात्म्य तथा अवाच्य का खण्डन करते हुये "विरोधान्नोभयैकात्म्यं" स्याद्वादन्यायविद्विषाम्। अवाच्यतैकांतेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥ इस कारिका को प्रत्येक अध्याय में लिया है अतः यह कारिका दश बार आ गई है।

प्रथम अध्याय में मुख्यता से भावैकांत अभावैकांत का खंडन है पुनः उभयैकात्म्य का खंडन एवं अवाच्य का खण्डन करते हुये "विरोधान्नोभयैकात्म्यं" इत्यादि कारिका दी गई है। पुनः कथंचित् भाव और कथंचित् अभाव को सिद्ध करके सप्तभंगी प्रक्रिया घटित की है तथा इस भाव अभाव के खण्डन में अनेक अन्य विषय भी स्पष्ट किये हैं। द्वितीय अध्याय में एकत्व पृथक्त्व को एकांत से न मानकर प्रत्येक वस्तु कथंचित् एकत्व-पृथक्त्वरूप ही है यह प्रगट किया है। तृतीय परिच्छेद में नित्यानित्य को दिखाया है। चतुर्थ में भेदाभेदात्मक वस्तु को बताया है, पांचवें में कथंचित् आपेक्षिक अनापेक्षिकरूप वस्तु को सिद्ध किया है। पुनः छठे में हेतुवाद और आगम को स्याद्वाद से सिद्ध करके सातवें में अन्तस्तत्त्व-बहिस्तत्त्व का अनेकांत बताया है। आठवें में दैव-पुरुषार्थ को स्याद्वाद से प्रवेद करके नवमें में पुण्य-पाप का अनेकांत उद्योतित किया है। दसवें में ज्ञान-अज्ञान से मोक्ष और बन्ध की व्यवस्था को प्रकाशित किया है तथा स्याद्वाद और नयों का उत्तम रीति से वर्णन किया है। तात्पर्य यही है कि इस अष्टसहस्री ग्रन्थ में जिस रीति से स्याद्वाद का वर्णन प्रत्येक स्थान पर किया गया है वैसा वर्णन अन्यत्र न्याय ग्रन्थों में कहीं पर भी नहीं है। प्रत्येक अध्याय में सप्तभंगी प्रक्रिया बहुत ही अच्छी मालूम पड़ती है। अन्त में आचार्य ने यह बताया है कि मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों के लिये यह आप्त मीमांसा—सर्वज्ञ विशेष की परीक्षा की गई है। क्योंकि

मुख्यरूप से मोक्ष ही हितरूप है। और उसकी प्राप्ति के कारणभूत परमागम भी हितरूप माना गया है अतः सम्यक्त्व और मिथ्यात्व विशेष का ज्ञान कराने के लिये यह आप्त मीमांसा प्रधान ग्रन्थ है क्योंकि एकान्त-असत्य तत्त्व का एवं आप्त का पूर्णतया निर्णय हो जाने के बाद ही यह जीव असत्य को छोड़कर सत्य मार्ग का या सत्य-आप्त का आश्रय लेता है। अतः यह अष्टसहस्री ग्रन्थ आर्हन्त्य लक्ष्मी की प्राप्ति पर्यंत स्वार्थ संपत्ति की सिद्धि करने वाली है इसलिये शास्त्र की आदि में स्तुति किये गये आप्त ही मोक्ष मार्ग के प्रणेता कर्मभूभृत् भेत्ता और विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सिद्ध हुये अर्हंत भगवान् ही निर्दोष आप्त हैं उन्हीं के गुणों को प्राप्त करने के लिये उन्हें ही नमस्कार करना उचित है अन्य को नहीं। यही कारण है कि—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः। विज्ञायेत यया एव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥

स्वयं श्री विद्यानन्दि आचार्यवर्य ऐसा कहते हैं कि एक अष्टसहस्री ग्रन्थ को ही सुनना चाहिये अन्य हजारों ग्रन्थों के सुनने से क्या प्रयोजन है? क्योंकि इस एक ग्रन्थ के द्वारा ही स्वसमय अपने स्याद्वाद जैन सिद्धांत और परसमय—पर परिकल्पित अनेक एकांत तत्त्वों को समझ नहीं लेंगे तब तक हम अपना सिद्धान्त भी अत्यंत सूक्ष्मतया स्याद्वाद की कसौटी पर कस नहीं सकेंगे और जब तक सप्तभंगी स्याद्वाद प्रक्रिया से हम अपने तत्त्वों को नहीं समझ लेंगे तब तक एकांतवाद के किसी प्रवाह में बहने का डर बना ही रहेगा।

आगम और तर्क दोनों की कसौटी पर कसा गया तत्त्व ही शुद्ध सत्य सिद्ध होता है अन्यथा नहीं। केवल सिद्धांत अथवा केवल अध्यात्म रूप आगम से जाना गया तत्त्व कदाचित् बेमालूम ही एकांत के बहुते में आ सकता है किन्तु आगम और तर्क दोनों के द्वारा समझा गया तत्त्व सम्यक् श्रद्धान से कदापि च्युत नहीं कर सकता। श्री समंतभद्राचार्यवर्य ने अपनी रचनाओं को भगवान् की स्तुति का रूप देते हुए प्रौढ़तया न्याय के ग्रन्थ रूप बना दिया है यह विशेषता केवल एक समंतभद्रस्वामी में ही थी कि न्यायपूर्ण तर्कों के द्वारा निर्भीकतया भगवान् के साथ भी वार्तालाप करते हुये उन्हीं सर्वज्ञ भगवान् की भी परीक्षा करने का साहस कर डाला है सो ठीक ही है क्योंकि जब उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र की रचना के द्वारा तिरपिटी से भगवान् चन्द्रप्रभु को ही प्रगट कर लिया था तब उनका इस पद्धति से भगवान् को ही न्याय की कसौटी पर कस देना कोई बड़ी बात नहीं है। सचमुच में यह कोई साधारण व्यक्ति का काम नहीं कि भगवान् की परीक्षा शुरू कर देवें। श्री समंतभद्र जैसे महान् मुनि पुंगवों का ही काम है। इस ग्रन्थ में भगवान् को ही निर्दोष आप्त सिद्ध करके अन्त में यह बतलाया है कि—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्। सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये॥११४॥

अर्थात् यह आप्त की मीमांसा-परीक्षा हित-मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले भव्यपुरुषों के लिये ही की गई है क्योंकि सम्यक् और मिथ्या उपदेश विशेष की जानकारी होने से मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व का ग्रहण शक्य है अन्यथा नहीं।

अपने जैनसिद्धांत के ही एक-एक कथनरूप एक-एक अंश को लेकर मिथ्याग्रही बन जाते हैं वे अपेक्षावाद—कथंचित्वादरूप सिद्धांत को नहीं समझ पाते हैं। एक-एक के आग्रह से ही नित्यैकांतवादी, क्षणिकैकांतवादी बन जाते हैं। जैसे सूक्ष्मऋजुसूत्र नय से हमारे यहाँ प्रत्येक वस्तु अर्थपर्यायरूप से प्रतिक्षण होने वाली अर्थपर्याय एक समयवर्ती-क्षणिक है किन्तु यह नय अन्य नयों से सापेक्ष होने से ही सम्यक् नय है। यदि यह अन्य नयों की अपेक्षा न करे तो मिथ्या नय है इसी एक नय के हठाग्रही बौद्धजन हैं जिन्होंने अपना क्षणिकसिद्धान्त ही बना लिया है इत्यादि। इन सब एकांतों का खण्डन करके यह अष्टसहस्री ग्रन्थ अपने स्याद्वाद को पद-पद पर पुष्ट करता है।

अतएव आचार्य विद्यानन्द महोदय ने यह श्लोक सार्थक ही दिया है—कि इसी एक ग्रन्थ से ही सभी स्वसमय और परसमय का ज्ञान हो जाता है। इसका अष्टसहस्री यह महान सार्थक ही नाम है। इसमें ११४ कारिकाओं से श्री समन्तभद्राचार्यवर्य ने देवागमस्तोत्र रचना की है उस स्तोत्र के ऊपर श्री भट्टाकलंकदेव ने अष्टशती नाम से ८०० श्लोक प्रमाण में टीका की है पुनः उस अष्टशती सहित देवागमस्तोत्र की श्री विद्यानंदि स्वामी ने ८००० आठ हजार श्लोक प्रमाण से अष्टसहस्री नाम की टीका की है इसका नाम आपने कष्टसहस्री भी दिया है। क्योंकि न्याय के प्रत्येक प्रकरण इसमें बहुत ही विशिष्ट हैं बड़े ही कष्ट साध्य हैं। तथा आपने इसे "अलंष्टसहस्री पुष्यात्" कहा है कि यह ग्रन्थ नित्य ही हजारों मनोरथों को पुष्ट करे। अतः इस अष्टसहस्री ग्रन्थराज का नित्य ही मनन करना चाहिये तथा देवागम स्तोत्र को भी नित्य ही पढ़ना चाहिये। इस स्तुति के प्रसाद से ही इसका अर्थ समझ सकेंगे।

अष्टसहस्री का अनुवाद

चारित्रचक्रवर्ती १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज का चातुर्मास सन् १९६९ वीर सं० २०२५ में जयपुर में मेंहदी वालों के चौक में हो रहा था। उस समय संघ में मैं अनेक सुनि-आर्यिकाओं व ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणियों को अष्टसहस्री, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराती थी।

अष्टसहस्री ग्रन्थ के अध्ययन में मोतीचन्द भी थे। इन्होंने मेरी प्रेरणा से शास्त्री का फार्म सोलापुर परीक्षालय का भर दिया था और कलकत्ते का न्यायतीर्थ का फार्म भी भर दिया था इतने विशिष्ट अष्टसहस्री ग्रन्थ को पढ़ते समय ये प्रतिदिन कहते—माताजी! मैं इसे भूल से पढ़कर परीक्षा नहीं दे पाऊँगा।''' मैंने तभी इस अष्ट-सहस्री ग्रन्थ का अनुवाद करना प्रारम्भ किया। मुझे उस समय पढ़ाने से भी ज्यादा लिखने में आनन्द आने लगा।

कुछ पेजों का अनुवाद देखकर पं० इंद्रलाल जी शास्त्री, पं० मंगरलाल जी न्यायतीर्थ, पं० गुलाबचन्द जैन दर्शनाचार्य, पं० सत्यंधर कुमार जी सेठी आदि विद्वानों ने प्रशंसा के साथ-साथ यह प्रार्थना शुरू कर दी कि माताजी! इस ग्रन्थ का अनुवाद पूरा कर दीजिये यह आपके ही बल का काम है इत्यादि। यद्यपि मैं तो स्वयं अपनी रुचि से अनुवाद के कार्य में प्रवर्तित थी फिर भी विद्वानों की प्रेरणा भी सहायक थी। मैंने सन् १९७० में टोडारायसिंह में पौष शुक्ला द्वादशी के दिन यह अनुवाद कार्य पूरा किया। अनन्तर मैंने इस ग्रन्थ के अनुवाद की सब कापियों से सार लेकर चौदस सारांश बनाये। मेरे इन सारांशों के आधार से विद्यार्थी मोतीचन्द, रवीन्द्रकुमार, कुमारी मालती, माधुरी, त्रिशला, कमला ने शास्त्री की परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की थी।

दिल्ली में कई बार ब्र० पं० चांदमल बड़जात्या जी शास्त्री आदि ने मेरे से निवेदन किया कि माताजी! आप इन सारांशों को अवश्य ही प्रकाशित करा दीजिये। इसके आधार से आज अनेक विद्यार्थी अष्टसहस्री ग्रन्थ की परीक्षा दे सकेंगे। ये सभी सारांश इस अष्टसहस्री ग्रन्थ की हिन्दी टीका में यथास्थान जोड़े गये हैं जिससे यह अनुवादित हिन्दी टीका बहुत ही सरल बन गई है।

यह पहला भाग मात्र जिसमें छह कारिकायें ही हैं यह सन् १९७४ में छप चुका था। उस समय उसकी टीका का नामकरण नहीं किया गया था। पुनः मैंने "स्याद्वादचिंतामणि" ऐसा इसका सार्थक नाम दिया है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का अष्टसहस्री ग्रन्थ का यह प्रथम भाग प्रथम पुष्प था और आज सन् १९८९ में इसका द्वितीय भाग अट्ठासवाँ पुष्प बना है। इस द्वितीय भाग के छपते ही प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण निकालना अतीव आवश्यक प्रतीत हुआ क्योंकि यह प्रथम संस्करण अप्राप्य हो चुका था, मुझे हर्ष है कि अष्टसहस्री

का यह प्रथम भाग पुनः आपके हाथों में पहुँच रहा है। इस बीच में ग्रन्थमाला के द्वितीय पुष्प से लेकर सत्तावन पुष्प तक छप चुके हैं। आगे इसके तृतीय और चतुर्थ भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होवें ऐसी भावना है।

न्यायसार कुंजिका है

इन बड़े-बड़े न्यायग्रन्थों को—जैन दर्शन के ग्रन्थों को सरलता से समझने के लिये मैंने परीक्षामुख, न्यायदीपिका, षट्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थों का अच्छी तरह मनन करके उनमें से कुछ सारभूत सूत्रों को लेकर एक "न्यायसार" नाम से छोटी-सी पुस्तक लिखी है उसे अष्टसहस्री के प्रथम भाग के परिशिष्ट में दे दिया था। यह एक स्वतन्त्र पुस्तक है। अष्टसहस्री के पाठकों को उस "न्यायसार" का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। यह छोटी-सी पुस्तक न्यायशास्त्रों में प्रवेश पाने के लिये कुंजिका (चाबी) के समान है।

आगे इस "अष्टसहस्री" ग्रंथराज के सूत्रकर्ता—आद्यारभूत आचार्य श्री उमा स्वामी आदि चारों आचार्यों का कुछ परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

श्री उमास्वामी आचार्य

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के रचयिता आचार्य श्री उमास्वामी हैं। इनको उमास्वाति भी कहते हैं। इनका अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य है। धवलाकार ने इनका नामोल्लेख करते हुये कहा है कि—

"तह गिद्धपिंछाइरिएप्पयासिदतच्चत्थसुत्तेवि"[1]।

उसी प्रकार से गृद्धपिच्छाचार्य के द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है।

इनके इस नाम का समर्थन श्री विद्यानन्द आचार्य ने भी किया है। यथा—

"एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यंतमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता"[2]।"

इस कथन से गृद्धपिच्छाचार्य पर्यंत मुनियों के सूत्रों से व्यभिचार दोष का निराकरण हो जाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के किसी टीकाकार ने भी निम्न पद्य में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्। वंदे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

"गृद्धपिच्छ" इस नाम से उपलक्षित, तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता, गण के नाथ उमास्वामी मुनीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

श्री वादिराज ने भी इनके गृद्धपिच्छ नाम का उल्लेख किया है—

अनुच्छ्रगुणसंपातं गृद्धपिच्छं ततोऽस्मि तम्। पक्षीकुर्वंति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः[3]॥

आकाश में उड़ने की इच्छा करने वाले पक्षी जिस प्रकार अपने पंखों का सहारा लेते हैं उसी प्रकार मोक्ष नगर को जाने के लिये भव्य लोग जिस मुनीश्वर का सहारा लेते हैं, उन महामना, अगणित गुणों के भंडार स्वरूप गृद्धपिच्छ नामक मुनिमहाराज के लिये मेरा सविनय नमस्कार हो।

---

1. षट्खंडागम, धवलाटीका, जीवस्थान, काल अनुयोग द्वार पृ० ३१६।
2. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक पृ० ६।
3. पार्श्वनाथचरित १, १६।

श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में गृद्धपिच्छ नाम की सार्थकता और कुन्दकुन्द के वंश में उनकी उत्पत्ति बतलाते हुये उनका "उमास्वाति" नाम भी दिया है। यथा—

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे, वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं, शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो, बभार योगी किल गृद्धपिच्छान्।
तदा प्रभृत्येव मुनीश्वरोऽयं बलाकपिच्छोत्तरगृद्धपिच्छः[1]॥

आचार्य कुन्दकुन्द के पवित्र वंश में सकलार्थ के ज्ञाता उमास्वाति मुनीश्वर हुये, जिन्होंने जिनप्रणीत शास्त्रार्थसमाज को सूत्रों में निबद्ध किया। इन आचार्य ने प्राणि रक्षा हेतु गृद्धपिच्छों को धारण किया। इसी कारण ये गृद्धपिच्छाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुये। इस प्रमाण में गृद्धपिच्छाचार्य को "सकलार्थवेदी" कहकर "श्रुतकेवली सदृश" भी कहा है। इससे उनका आगम सम्बन्धी पाण्डित्य भान प्रकट होता है।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य और अभिलेखों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य, अपरनाम उमास्वामि या उमास्वाति है।

समय निर्धारण और गुरु-शिष्य परम्परा :—नंदिसंघ की पट्टावली और श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि ये गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में हुए हैं। नंदिसंघ की पट्टावली विक्रम के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होती है। वह निम्न प्रकार है—

१. भद्रबाहु द्वितीय (४), २. गुप्तिगुप्त (२६), ३. माघनंदि (३६), ४. जिनचन्द्र (४०), ५. कुन्दकुन्दाचार्य (४), ६. उमास्वामि (१०१), ७. लोहाचार्य (१४२) ·····।

अर्थात् "नंदिसंघ की पट्टावली में बताया है कि उमास्वामी वि० सं० १०१ में आचार्य पद पर आसीन हुये, वे ४० वर्ष आठ महीने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ८४ वर्ष की थी और विक्रम सं० १४२ में उनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुये। प्रो० हार्नले, डा० पिटर्सन और डा० सतीशचन्द्र ने इस पट्टावली के आधार पर उमास्वाति को ईसा की प्रथम शताब्दी का विद्वान माना है[2]।"

"किन्तु स्वयं मेरुतुंग ज्योतिषाचार्य ने इन्हें विक्रम सं० की द्वितीय शताब्दी का अनुमानित किया है।"

कुछ भी हो ये आचार्य श्री कुन्दकुन्द के शिष्य थे। यह बात अनेक प्रशस्तियों से स्पष्ट है। यथा—

तस्मादभूद्यतीन्द्रकुलप्रदीपो, बलाकपिच्छः स तपोमहर्द्धिः।
यदंगसंस्पर्शनमात्रतापि, वायुर्विषादीनमृतीचकार[3]॥१६॥

इन योगी महाराज की परम्परा में प्रदीप्तस्वरूप महर्द्धिशाली तपस्वी बलाकपिच्छ हुये। इनके शरीर के स्पर्शमात्र से पवित्र हुई वायु भी उस समय लोगों के विष आदि को अमृत कर देती थी।

---

1. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं० १०८, पृ० २१०-११।
2. भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० १४२।
3. वही पुस्तक, पृ० ४११।

शिलालेखों में भी कुन्दकुन्द के पट्ट पर उमास्वाति को माना है। "वंशाभ्यांबसमाक्षिप्तरजोभायमतस्वार्थ-सूत्रसमूहमीमदुमास्वातिदेवतानाम्' ।।३।।"

इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री कुन्दकुन्ददेव के पट्ट पर ही ये उमास्वामी आचार्य हुये हैं और इन्होंने अपना आचार्य पद लोहाचार्य को सौंपा है।

तत्त्वार्थसूत्र रचना—इन आचार्य महोदय की "तत्त्वार्थसूत्र" रचना यह अपूर्व रचना है। यह ग्रन्थ जैन धर्म का सार ग्रन्थ होने से इसके मात्र पाठ करने का या सुनने का फल एक उपवास बतलाया गया है यथा—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति। फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ।।

दश अध्याय में परिमित इस तत्त्वार्थसूत्र के पढ़ने से एक उपवास का फल होता है ऐसा मुनिपुंगवों ने कहा है। वर्तमान में इस ग्रन्थ को जैन परम्परा में वही स्थान प्राप्त है, जो कि हिन्दू धर्म में "श्रीमद्भगवद्गीता" को, इस्लाम में "कुरान" को और ईसाई धर्म में "बाइबिल" को प्राप्त है। इससे पूर्व प्राकृत में ही जैनग्रन्थों की रचना की जाती थी।

इस ग्रन्थ को दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में समानरूप से ही महत्ता प्राप्त है। अनेक आचार्यों ने इस पर टीका ग्रन्थ रचे हैं। श्री देवनन्दि अपरनाम पूज्यपाद आचार्य ने इस पर "सर्वार्थसिद्धि" नाम से टीका रची है जिसका अपरनाम "तत्त्वार्थवृत्ति" भी है। श्री भट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक नाम से तथा विद्यानन्द महोदय ने "तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक" नाम से दार्शनिक शैली में टीका ग्रन्थों का निर्माण करके इस ग्रन्थ के अतिशय महत्त्व को सूचित किया है। श्री श्रुतसागरसूरि ने "तत्त्वार्थवृत्ति" नाम से टीका रची है और अन्य-अन्य कई टीकायें उपलब्ध हैं। श्री समन्तभद्र स्वामी ने इसी ग्रन्थ पर "आप्तमीमांसितमहाशास्त्र" नाम से "महाभाष्य" रचा है जो कि आज उपलब्ध नहीं हो रहा है।

वंशाभ्यायपूर्ण इस ग्रन्थ का एक मंगलाचरण ही इतना महत्त्वशाली है कि आचार्य श्री समंतभद्र ने उस पर "आप्तमीमांसा" नाम से आप्त की मीमांसा-विचारणा करते हुये एक स्तोत्र ग्रन्थ रचा है, उस पर श्री भट्टाकलंकदेव ने "अष्टशती" ग्रन्थ रचा है। इसी पर श्री विद्यानंद आचार्य ने "अष्टसहस्री" नाम से महान् उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ रचा है। श्री विद्यानंद आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र पर ही "श्लोकवार्तिक" नाम से जो महान् टीका ग्रन्थ की रचना की है उसमें सबसे प्रथम मंगलाचरण की टीका में ही उन्होंने १२४ कारिकाओं में आप्त परीक्षा ग्रन्थ की रचना की एवं उसी पर स्वयं से ही स्वोपज्ञ टीका रची है।

कुछ विद्वान् "मोक्षमार्गस्य नेतारं" इत्यादि मंगलाचरण को भी उमास्वामी आचार्य द्वारा रचित न मान कर किन्हीं टीकाकारों का कह रहे थे। परन्तु "श्लोकवार्तिक" और "अष्टसहस्री" ग्रन्थ में उपलब्ध हुये अनेक प्रमाणों से अब यह अच्छी तरह निर्णीत किया जा चुका है कि यह मंगलश्लोक श्री सूत्रकार आचार्य द्वारा ही विरचित है।

इन महान् आचार्य के द्वारा रचा हुआ एक श्रावकाचार भी है जो कि "उमास्वामी-श्रावकाचार" नाम से प्रकाशित हो चुका है। कुछ विद्वान् इस श्रावकाचार को इन्हीं सूत्रकर्ता उमास्वामी का नहीं मानते हैं, किन्तु

---

1. वही पुस्तक, पृ० ४३१।

ऐसी बात नहीं है। वास्तव में यह इन्हीं आचार्यदेव की रचना है यह बात इसी श्रावकाचार के निम्न श्लोकों से स्पष्ट है। यथा—

सूत्रे तु सप्तमेऽप्युक्ताः पृथग्नोक्तास्तदर्थतः। अवशिष्टः समाचारः सोऽत्रैव कथितो मया ॥४६४॥

अर्थात्—इस श्रावकाचार में श्रावकों की षट्आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करते हुये उनके अनुव्रत आदिकों का भी वर्णन किया है। पुनः यह संकेत दिया है कि मैंने "तत्त्वार्थसूत्र" के सप्तम अध्याय में श्रावक के १२ व्रतों का और उनके अतीचारों का विस्तार से कथन किया है अतः यहाँ उनका कथन नहीं किया है। बाकी जो आवश्यक क्रियायें "देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान का वर्णन यहाँ नहीं किया है उन्हीं को यहाँ पर कहा गया है।"

पुनरपि अंतिम श्लोक में कहते हैं कि—

इति यूक्तं मयेदं सत्यये श्रावकमोक्षिलम्। श्राव्यन्यया कृते ग्रंथेऽन्यस्मिन् दृष्टव्यमेव च। ॥४७६॥

इस प्रकार से मैंने इस श्रावकाचार की सातों अध्याय में श्रावक के लिये इष्ट चारित्र का वर्णन किया है। अन्य और जो कुछ भी श्रावकों का आचार है वह सब मेरे द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र) से देख लेना चाहिये।

इस प्रकार के उल्लेखों से यह निश्चित हो जाता है कि श्रावकाचार भी पूज्य उमास्वामी आचार्य की ही रचना है।

यद्यपि इस श्रावकाचार में भाषा शैली की अतीव सरलता है फिर भी उससे यह नहीं कहा जा सकता है कि यह रचना उनकी नहीं है, क्योंकि सूत्रग्रन्थ में सूत्रों की रचना सूत्ररूप ही रहेगी और श्लोक ग्रन्थों में श्लोकरूप। जिस प्रकार से श्री कुंदकुंददेव द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों की रचना अतीव प्रौढ़ है "तथा अष्टपाहुड़ के गाथासूत्रों की रचना उतनी प्रौढ़ न होकर सरल है फिर भी एक ही आचार्य कुंदकुंद इन ग्रन्थों के रचयिता मान्य हैं वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये और उमास्वामी आचार्य की प्रमाणता के अनुरूप ही उनके इस श्रावकाचार को भी प्रमाण मानकर उसका भी स्वाध्याय करना चाहिये।

श्री समंतभद्र स्वामी

जिस प्रकार भूतबलि आचार्य संस्कृत के प्रथम सूत्रकार हैं, उसी प्रकार जैनवाङ्मय में स्वामी समंतभद्र प्रथम संस्कृत कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं। वे कवि होने के साथ-साथ प्रकाण्ड दार्शनिक और गंभीर चिंतक भी हैं। स्तोत्रकाव्य का सूत्रपात आचार्य समंतभद्र से ही होता है। इनकी स्तुतिकर दार्शनिक रचनाओं पर अकलंक और विद्यानंद जैसे उद्भट आचार्यों ने टीका और विवृत्तियाँ लिखकर मौलिक ग्रन्थ रचयिता का यश विभूषित किया है। वीतरागी तीर्थंकर की स्तुतियों में दार्शनिक गम्भीरताओं का समावेश करना असाधारण प्रतिभा का द्योतक है।

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन इन्हें कवियों के विधाता कहते हैं और उन्हें वचन आदि चार विशेषणों से विशिष्ट बतलाते हैं। यथा—

(नमः समंतभद्राय महते कविवेधसे। यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः॥
कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि। यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥[1]

मैं कवि समंतभद्र को नमस्कार करता हूँ, जो कि कवियों के लिये ब्रह्मा हैं और जिनके वचनरूपी वज्रपात से मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं। कविगण, गमकगण, वादीगण और वाग्मीगण इन सभी के मस्तक पर श्री समंतभद्र स्वामी का यश चूड़ामणि के समान शोभित होता है।)

स्वतन्त्र कविता करने वाले "कवि" कहलाते हैं, शिष्यों को शास्त्र तक पहुँचा देने वाले "गमक", शास्त्रार्थ करने वाले "वादी" और मनोहर व्याख्यान देने वाले "वाग्मी" कहलाते हैं।

श्रीगुणभद्र आचार्य, श्रीवर्द्धमानसूरि, श्रीजिनसेनाचार्य और श्रीवादीभसिंहसूरी आदि ने अपने-अपने ग्रन्थ आत्मानुशासन, वरांगचरित, अलंकार चिंतामणि और क्षत्रचूडामणि आदि में भी समंतभद्र स्वामी की सुन्दर-सुन्दर श्लोकों में स्तुति की है।

ये जैनधर्म और जैनसिद्धांत के प्रमेय विद्वान होने के साथ-साथ तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार एवं काव्य, कोष आदि विषयों में पूर्णतया अधिकार रखते थे। जो ही इनके ग्रन्थों से स्पष्ट झलक आता है। इन्होंने जैनविद्या के क्षेत्र में एक नया आलोक विकीर्ण किया है। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में तो इन्हें जिनशासन के प्रणेता और भद्रमूर्ति कहा गया है।

इनका जीवन परिचय, मुनिपद, गुरु-शिष्य परंपरा, समय और इनके रचित ग्रन्थ इन पाँच बातों पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा।

जीवन परिचय

इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। इन्हें चोल राजवंश का राजकुमार अनुमित किया जाता है। इनके पिता उरगपुर (उरैपुर) के क्षत्रिय राजा थे। यह स्थान कावेरी नदी के तट पर त्रिचिनापल्ली के अन्तर्गत अत्यन्त समृद्धशाली माना गया है। श्रवणबेलगोला के दोरबली जिनदासशास्त्री के भंडार में पाई जाने वाली आप्त-मीमांसा की प्रति के अन्त में लिखा है—"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामीसमंतभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्"—इस प्रशस्तिवाक्य से स्पष्ट है कि समंतभद्र स्वामी का जन्म क्षत्रियवंश में हुआ था और उनका जन्मस्थान उरगपुर है।

इनका जन्म नाम शांतिवर्मा बताया जाता है "स्तुतिविद्या" अपरनाम "जिनस्तुतिशतक" के ११६वें पद्य में कवि और काव्य का नाम चित्रबद्धरूप में अंकित है। इस काव्य के छह आरे और नव वलय वाली चित्ररचना पर से "शांतिवर्मकृतम्" और "जिनस्तुतिशतम्" ये दो पद निकलते हैं। संभव है यह नाम माता-पिता के द्वारा रखा गया हो और "समंतभद्र" मुनि अवस्था का हो।

मुनिदीक्षा और भस्मकव्याधि

मुनिदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् आप ये मनुष्यलोकवर्ती स्थान में विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मक

1. महापुराण, भाग १, । (४४-४३)।

व्याधि नामक भयानक रोग हो गया, जिससे दिगम्बर मुनि चर्या का निर्वाह उन्हें असंभव प्रतीत हुआ। तब उन्होंने गुरु से समाधिमरण धारण करने की इच्छा व्यक्त की। गुरु ने भावी होनहार शिष्य को आदेश देते हुये कहा—

"आपसे स्वयं प्रभावना के लिये बड़ी-बड़ी आशायें हैं अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग शमन का उपाय करें, रोग दूर होने पर पुनः मुनिदीक्षा ग्रहण करके स्वपर कल्याण करें।" गुरु की आज्ञानुसार समंतभद्र रोगोपचार हेतु जिनमुद्रा छोड़कर सन्यासी बन गये और इधर-उधर विचरण करने लगे। एक समय वाराणसी में शिवकोटि राजा के शिवालय में जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और शिवजी को ही मैं जिमा सकता हूँ ऐसी घोषणा की। राजा की अनुमति प्राप्त कर समंतभद्र शिवालय के किवाड़ बंद कर उसे भैरव को स्वयं ही भोजन कर रोग को शांत करने लगे। शनैः शनैः उनकी व्याधि का उपशम होने लगा अतः भोग की सामग्री कम होने लगी तब राजा को संदेह हो गया अतः गुप्तरूप से उसने इस रहस्य का पता लगा लिया। तब समंतभद्र से उन्होंने शिवजी को नमस्कार के लिये प्रेरित किया। समंतभद्र ने इसे उपसर्ग समझकर चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति प्रारंभ की। जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति कर रहे थे कि शिव की पिंडी से भगवान् चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रकट हो गई। समंतभद्र के इस माहात्म्य को देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित उनके शिष्य बन गये। यह कथानक "राजावलिकथे" में उपलब्ध है।

मल्लिषेणप्रशस्ति के एक अभिलेख में लिखा है—

वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-दत्तोदात्तपदस्वमंत्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभः।
आचार्यस्स समंतभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ, जैनं वर्त्म समंततोभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः[1] ॥

अर्थात् जो अपने भस्मक रोग को भस्मसात् करने में चतुर हैं, पद्मावती नाटक देवी की दिव्य शक्ति के द्वारा जिन्हें उदात्त पद की प्राप्ति होने से मंत्रवचनों द्वारा जिन्होंने चन्द्रप्रभ को प्रकट किया है और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग इस कलिकाल में सब ओर से भद्रस्वरूप हुआ है वे गणधरतुल्य आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी बार-बार हम सभी के द्वारा वंद्य हैं।

आराधना कथाकोश में मूर्ति प्रकट होने के अनंतर ऐसा प्रकरण आया है कि चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट होने के इस चमत्कार को देखकर उनकी स्तोत्र रचना पूरी होने के बाद राजा शिवकोटि ने उनसे उनका परिचय पूछा। तब समंतभद्र ने उत्तर देते हुए कहा—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं, मलमलिनतनुर्लांबिशे पांडुपिंडः।
पुण्ड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे, मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशकरधवलः, पांडुरांगस्तपस्वी।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स, वदतु पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी॥

मैं कांची में नग्न दिगम्बर यति के रूप में रहा, शरीर में रोग होने पर पुण्ड्र नगरी में बौद्ध भिक्षु बनकर मैंने निवास किया। पश्चात् दशपुर नगर में मिष्टान्न भोजी परिव्राजक बनकर रहा। अनंतर वाराणसी में आकर शैव तपस्वी बना। हे राजन्! मैं जैन निर्ग्रंथवादी हूँ। यहाँ जिसको शक्ति वाद करने की हो वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे। पुनश्च—

---

1. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ५४, पृ० १८२।

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे, भेरी मया ताडिता ।
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचरामि हं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ॥

मैंने पहले पटना नगर में वाद की भेरी बजाई, पुनः मालवा, सिन्धु-देश, ठक्क-देश (बंगाल), कांचीपुर और वैदिश—विदिशा—मैसूर के आसपास के प्रदेशों में भेरी बजाई। अब बड़े-बड़े योद्धों से युक्त इस करहाटक नगर को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार हे राजन् ! मैं वाद करने के लिये सिंह के समान इतस्ततः क्रीड़ा करता हुआ विचरण कर रहा हूँ।

राजा शिवकोटि समंतभद्र के इस आख्यान को सुनकर भोगों से विरक्त हो दीक्षित हो गये। ऐसा वर्णन है।

गुरु-शिष्य परम्परा—यद्यपि समंतभद्र की गुरु-शिष्य परंपरा के विषय में अधिक कुछ अभिज्ञात ही है। फिर भी इन्हें किन्हीं प्रशस्तियों में उमास्वामी के शिष्य बलाकपिच्छ के पट्टाचार्य माना है। श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में भी आया है—"श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः। शिष्योऽजनिष्ट···। एवं महाचार्यपरंपरायां,···समंतभद्रोऽभवि वादिसिंहः[1]।"

अर्थात् भद्रबाहुश्रुतकेवली के शिष्य चंद्रगुप्त, चंद्रगुप्त के वंशज पद्मनंदि अपरनाम श्री कुन्दकुन्दाचार्य, उनके वंशज उमास्वामिपिच्छाचार्य, उनके शिष्य बलाकपिच्छ और उनके पट्टाचार्य श्री समंतभद्र हुये हैं।

"श्रुतमुनि-पट्टावलि:" में भी कहा है—

तस्माज्जातो[2]-योगिकुलप्रदीपो, बलाकपिच्छः स यतीन्द्रसिंहः।
यद्वाक्शस्त्रप्रहतोऽपि, वादभूमिश्वादीनभूतीश्चकार ॥ १३॥
समंतभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः पवेता जिनशासनस्य।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान् ॥१४॥

चन्नरायपट्टण तालुका के अभिलेख नं० १४६ में इस श्रुतकेवलि में वृद्धि वाली है और वर्द्धमान जिन के शासन की सहस्रमुखी वृद्धि करने वाला कहा है।

समय निर्धारण—आचार्य समंतभद्र के समय के संबंध में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। जि० सेविस राईस का अनुमान है कि ये आचार्य ई० की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुये हैं। डा० ज्योतिप्रसाद जी आदि ने भी सन् १२० में राजकुमार के रूप में, सन् १३८ में मुनि पद में, सन् २८५ के लगभग स्वर्गस्थ हुये ऐसे ईस्वी सन् की द्वितीयशती को ही स्वीकार किया है। अतएव संक्षेप में समंतभद्र का समय ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी ही प्रतीत होता है।

---

1. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, लेख संख्या ४०, पद्य ८-९, पृ० २३।
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा भाग ४, पृ० ४११।

समंतभद्र की रचनायें

१. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २. स्तुतिविद्या-जिनशतक, ३. देवागमस्तोत्राप्तमीमांसा, ४. युक्त्यनुशासन, ५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६. जीवसिद्धि, ७. तत्त्वानुशासन, ८. प्राकृतव्याकरण, ९. प्रमाण पदार्थ, १०. कर्मप्राभृत-टीका, ११. गंधहस्तिमहाभाष्य।

१. "स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले" आदि रूप से स्वयंभूस्तोत्र, तत्त्वभावना दीपक आदि पुस्तकों में प्रकाशित हो चुका है। यह सटीक भी छप चुका है।

२. "स्तुतिविद्या" इसमें भी चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है जो कि एक अक्षर, दो अक्षर आदि के श्लोकों में अथवा मुरजबंध, हारबंध आदि चित्रबंधरूप श्लोकों में एक अपूर्व ही रचना है।

३. इस देवागमस्तोत्र में सर्वज्ञदेव को तर्क की कसौटी पर कसकर सच्चा आप्त सिद्ध किया गया है। तत्कालीन नैरात्म्यवाद, क्षणिकवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, पुरुष-प्रकृतिवाद आदि की समीक्षा करते हुये स्याद्वाद सिद्धान्त की प्रतिष्ठा जैसी इस ग्रन्थ में उपलब्ध है वैसी सप्तभंगी की सुन्दर व्यवस्था अन्यत्र जैनवाङ्मय में आपको नहीं मिलेगी। यह स्तोत्र ग्रन्थ केवल तत्त्वार्थसूत्र के "मोक्षमार्गस्य" मंगलाचरण को आधार करके बना है। इसी स्तोत्र पर अकलंक देव ने अष्टशती नाम का भाष्य ग्रन्थ बनाया है और विद्यानंद आचार्य ने अष्टसहस्री नाम का जैन दर्शन का सर्वोत्तम ग्रन्थ निर्मित किया है।

४. युक्त्यनुशासन में श्री वर्धमान का संस्तवन करते हुये आचार्यदेव ने वीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ घोषित किया है।

५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार में तो १५० श्लोकों में ही आचार्यदेव ने श्रावकों के सम्पूर्ण व्रतों का वर्णन कर दिया है। इसमें अतिथिसंविभाग व्रत के स्थान पर वैयावृत्य का सुन्दर स्वरूप बतलाकर इसी व्रत में देव पूजा को भी ले लिया है।

आगे की ७ रचनायें आज उपलब्ध नहीं हैं।

इस प्रकार से श्री समंतभद्राचार्य अपने समय में एक महान आचार्य हुए हैं। इनकी गौरव गाथा गाने के लिये हम और आप जैसे साधारण लोग समर्थ नहीं हो सकते हैं। यहीं-कहीं इन्हें भावी तीर्थंकर मानते हैं।

श्री अकलंकदेव आचार्य

जैन दर्शन में अकलंकदेव एक प्रखर तार्किक और महान दार्शनिक हुये हैं। बौद्ध दर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति को प्राप्त है, जैन दर्शन में वही स्थान अकलंकदेव का है। इनके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैन दर्शन और जैन न्याय विषयक हैं।

श्री अकलंकदेव के सम्बन्ध में श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में अनेक स्थान पर स्मरण आया है।

अभिलेख संख्या ४७ में लिखा है—

अकलङ्कोऽकलङ्कोऽभाद्विबुधः साक्षादयं भुवले[1]।

1. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, अभिलेख ४७।

अर्थात् अकलंकदेव षट्दर्शन और तर्कशास्त्र में इस पृथ्वी पर साक्षात् बृहस्पति वेश थे।
शिलालेख नं० १०८ में पूज्यपाद के पश्चात् अकलंकदेव का स्मरण किया गया है—

"ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरीऽभूदकलंकसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगितास्खिलार्था:, प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः[1] ॥"

इनके बाद शास्त्र ज्ञानी महामुनियों के अग्रणी श्री अकलंकदेव हुये जिनकी वचनरूपी किरणों के द्वारा मिथ्यांधकार से ढके हुए खिल पदार्थ प्रकाशित हुए हैं।

इनका जीवन परिचय, समय, गुरुपरम्परा और इनके द्वारा रचित ग्रन्थ इन चार बातों को संक्षेप से यहां दिखाया जायेगा।

जीवन परिचय—तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के अन्त में जो प्रशस्ति है उसके आधार से ये "लघुहव्वनृपति" के पुत्र प्रतीत होते हैं यथा—

"जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥"

लघुहव्वनृपति के श्रेष्ठ पुत्र अकलंक ब्रह्मा चिरकाल तक जयशील होवें, जिनको हमेशा सभी जन नमस्कार करते थे और जो प्रशस्तजनों के हृदय के अतिशय प्रिय हैं।

ये राजा कौन थे ? किस देश के थे ? यह कुछ पता नहीं चल सका है। हो सकता है ये दक्षिण देश के राजा रहे हों। श्री नेमिचन्द्रकृत आराधना कथाकोष में इन्हें मंत्रीपुत्र कहा है। यथा—

मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मन्त्री का नाम पुरुषोत्तम था उनकी पत्नी पद्मावती थीं। इनके दो पुत्र थे—अकलंक और निकलंक। एक दिन अष्टान्हिक पर्व में पुरुषोत्तम मंत्री ने जिनगुप्त मुनिराज के समीप आठ दिन का ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और उसी समय विनोद में दोनों पुत्रों को भी व्रत दिला दिया।

जब दोनों पुत्र युवा हुए तब पिता के द्वारा विवाह की चर्चा आने पर विवाह करने से इन्कार कर दिया। यद्यपि पिता ने बहुत समझाया कि तुम दोनों को व्रत विनोद में दिलाया था तब यह आठ दिन के लिये ही था किन्तु इन युवकों ने यही उत्तर दिया कि—पिताजी ! ब्रह्मचर्य में विनोद कैसा ? और हमारे लिये आठ दिन की मर्यादा नहीं की थी।

पुनः ये दोनों खास ब्रह्मचर्य के पालन में दृढ़प्रतिज्ञ हो गये और अर्थोपार्जना में तथा विद्याध्ययन में तत्पर हो गये। ये बौद्ध शास्त्रों के अध्ययन हेतु "महाबोधि" स्थान में बौद्ध धर्माचार्य के पास पढ़ने गये। एक दिन बौद्ध गुरु पढ़ाते-पढ़ाते कुछ विषय को नहीं समझा सके तो वे चिन्तित हो बाहर चले गये। वह प्रकरण सप्तभंगी का था, अकलंक ने समय पाकर उसे देखा, वहां कुछ अशुद्ध पाठ समझकर उसे शुद्ध कर दिया। वापस आने पर गुरु को शंका हो गई कि यहां कोई विद्यार्थी जैन धर्मी अवश्य है। उसकी परीक्षा की जाने पर ये अकलंक-निकलंक पकड़े गये। इन्हें जेल में डाल दिया गया। उस समय रात्रि में धर्म की शरण लेकर ये दोनों वहां से भाग निकले। प्रातः इनकी खोज शुरू हुई। नंगी तलवार हाथ में लिये घुड़सवार दौड़ाये गये।

---

1. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, शिलालेख १०८।

अब आगे हुये उन्हें आहट मिली तब निकलंक ने भाई से कहा—भाई ! आप एकपत्नी हैं—अतः आपके द्वारा जैन-शासन की विशेष प्रभावना हो सकती है अतः आप इस तालाब के कमलपत्र में छिपकर अपनी रक्षा कीजिये। इतना कहकर वे अत्यधिक वेग से भागने लगे। इधर अकलंक ने कोई उपाय न देख अपनी रक्षा कमल-पत्र में छिपकर की। निकलंक के साथ एक धोबी भी भागा, तब वे दोनों मारे गये।

कुछ दिन बाद एक घटना हुई वह ऐसी है—

रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी ने फाल्गुन की अष्टाह्निका में रथयात्रा महोत्सव कराना चाहा। उस समय बौद्धों के प्रधान आचार्य 'संघश्री' ने राजा के पास आकर कहा कि यदि कोई जैन मेरे से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर लेवे तभी यह जैन रथ निकल सकेगा अन्यथा नहीं। महाराज ने यह बात रानी से कह दी। रानी अत्यधिक चिंतित हो जिनमंदिर में गई और वहां मुनियों को नमस्कार कर बोली, प्रभो ! आप में से कोई भी इस बौद्धगुरु से शास्त्रार्थ करके उसे पराजित कर मेरा रथ निकलवादेवे। मुनि बोले—रानी ! हम लोगों में एक भी ऐसा विद्वान् नहीं है। हां, मान्यखेटपुर में ऐसे विद्वान् मिल सकते हैं। रानी बोली। गुरुवर ! अब मान्यखेटपुर से विद्वान् आने का समय कहां है ? यह चिंतित हो जिनेन्द्रदेव के समक्ष पहुँची और प्रार्थना करते हुये बोली—भगवन् ! यदि इस समय जैन शासन की रक्षा नहीं होवी तो मेरा जीना किस काम का ? अतः अब मैं चतुराहार का त्याग कर आपकी ही शरण लेती हूँ। ऐसा कहकर उसने कायोत्सर्ग धारण कर लिया।

उसके निश्चल ध्यान के प्रभाव से पद्मावती देवी का आसन कंपित हुआ। उसने आकर कहा देवि ! तुम चिन्ता छोड़ो, उठो, कल ही अकलंकदेव आयेंगे जो कि तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करने के लिये कल्पवृक्ष होंगे। रानी ने घर आकर सब-तरफ किंकर दौड़ाये। अकलंकदेव अशोक में अशोकवृक्ष के नीचे ठहरे हैं सुनकर वहाँ पहुँची। भक्तिभाव से उनकी पूजा की और अश्रु बिखेरते हुए अपनी विपदा कह सुनाई। अकलंकदेव ने उसे आश्वासन दिया और वहाँ आये। राजसभा में शास्त्रार्थ शुरू हुआ। प्रथम दिन ही 'संघश्री' घबड़ा गया और उसने अपने इष्टदेव की आराधना करके तारादेवी को शास्त्रार्थ करने के लिये घट में उतारा।

छह महीने तक शास्त्रार्थ चलता रहा किन्तु तारादेवी भी अकलंकदेव को पराजित नहीं कर सकी। अन्त में अकलंक को चिंतापुर देव अष्टांगधरी देवी ने उन्हें उपाय बतलाया। अतः अकलंकदेव ने देवी से समुचित प्रत्युत्तर न मिलने से परदे के अन्दर घुसकर घड़े को लात मारी जिससे वह देवी पराजित हो भाग गई और अकलंकदेव के साथ-साथ जैन शासन की विजय हो गई। रानी के द्वारा कराई जाने वाली रथयात्रा बड़े धूमधाम से निकली और जैन धर्म की बहुती प्रभावना हुई। श्री मल्लिषेणप्रशस्ति में इनके विषय में विशेष श्लोक पाये जाते हैं। यथा—

तारा येन विनिर्जिता घटकुटीगूढावतारा सभं।
बौद्धैर्यो घृतपीठपीडितकुबुद्धेवात्तसेवांजलिः॥
प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिजरजस्नानं च यस्याचरत्।
दोषाणां सुगतस्स कस्य विषयो देवाकलंकः कृती॥२०॥

भूमि "यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविद्याविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते।"

राजन्साहसतुंग ! संति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
किंतु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।
त्वद्वत्संति बुधा न संति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो।
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः॥२१॥

आगे २१वें श्लोक में कहते हैं—

साहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
सैरास्मं प्रतिपद्य लक्षयति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सभितिं प्रायो विदग्धात्मनो।
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुघटः पादेन विस्फोटितः[1] ॥

अर्थात् महाराज हिमशीतल की सभा में मैंने सर्व बौद्ध विद्वानों को पराजित कर घूमते को पैर से ठुकराया। यह न तो मैंने अभिमान के वश होकर किया है न किसी प्रकार के द्वेष भाव से, किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुये जनों पर मुझे दया आई, इसलिये कुछ क्रोध होकर ऐसा करना पड़ा है।

इस प्रकार से संक्षेप में इनका जीवन परिचय दिया गया है।

समय—डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने इनका समय ईसवी सन् की ८वीं शती सिद्ध किया है। पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने ईसवी सन् ६२०–६८० तक निश्चित किया है। किन्तु पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य के अनुसार यह समय ई० सन् ७२०–७५० आता है।

गुरुपरम्परा—देवकीर्ति की पट्टावली में श्री कुन्दकुन्ददेव के पट्ट पर उमास्वामी अपरनाम गृद्धपिच्छ आचार्य हुये। उनके पट्ट पर बलाकपिच्छ आचार्य हुये इनके पट्टाधीश श्री समंतभद्र स्वामी हुये। इनके पट्ट पर श्री पूज्यपाद हुये पुनः उनके पट्ट पर श्री अकलंकदेव हुये।

"अकलङ्कोऽकलङ्कोऽभाद्विद्वज्जनसभासनमाश्रितः। अकलंकी जयी येन शैवतर्कांकुरो महान्[2] ॥१०॥

"श्रुतमुनि—पट्टावली" में भी इन्हें पूज्यपाद स्वामी के पट्ट[3] पर आचार्य माना है। इनके अन्य भेद की चर्चा की है।

इनके द्वारा रचित ग्रन्थ—

इनके द्वारा रचित स्वतन्त्र ग्रन्थ चार हैं और टीका ग्रन्थ दो हैं।

१. लघीयस्त्रय	(स्वोपज्ञविवृत्ति सहित)
२. न्यायविनिश्चय	(सवृत्ति)
३. सिद्धिविनिश्चय	(सवृत्ति)
४. प्रमाण संग्रह	(सवृत्ति)

टीका ग्रन्थ—

१. तत्त्वार्थवार्तिक (सभाष्य) २. अष्टशती (देवागम विवृत्ति)

---

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग, ४, पृ० ३८४।
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृ० ४१२।
3. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृ० ३७३–३७६।

लघीयस्त्रय—

इस ग्रन्थ में प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और निक्षेपप्रवेश के तीन प्रकरण हैं। ७८ कारिकायें हैं, मुद्रित प्रति ७७ ही हैं। श्री अकलंकदेव ने इस पर संक्षिप्त विवृत्ति भी लिखी है जिसे स्वोपज्ञ विवृत्ति कहते हैं। श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने इसी ग्रन्थ पर "न्यायकुमुदचन्द्र" नाम से व्याख्या रची है जो कि न्याय का एक अनूठा ग्रन्थ है।

न्यायविनिश्चय—इस ग्रन्थ में प्रस्ताव, अनुमान और प्रवचन ये तीन प्रस्ताव हैं कारिकायें ४८० हैं। इसकी विस्तृत टीका श्री वादिराजसूरी ने की है। यह ग्रन्थ भारतीपीठ काशी द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

सिद्धिविनिश्चय—इस ग्रन्थ में १२ प्रस्ताव हैं। इसकी टीका श्री अनंतवीर्य सूरि ने की है। यह भी भारतीपीठ द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

प्रमाण संग्रह—इसमें ९ प्रस्ताव हैं और ८७ कारिकायें हैं। यह ग्रन्थ "अकलंक ग्रन्थत्रय" में सिंघी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है।

इस ग्रन्थ की अनंतवीर्य कवि ने भावमाला में एक पद्य लिखा है—

प्रमाणमकलंकस्य, पूज्यपादस्य लक्षणम्। धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलंकदेव का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनंजय कवि का काव्य ये अपश्चिम-सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रय—तीनरत्न हैं।

वास्तव में जैन न्याय को अकलंक की सबसे बड़ी देन है प्रमाण संग्रह। इसके द्वारा की गई प्रमाण व्यवस्था दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदाय के आचार्यों को मान्य रही है।

तत्त्वार्थवार्तिक—यह ग्रन्थ भी उमास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थसूत्र की टीका रूप है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र पर वार्तिक रूप में व्याख्या लिखी जाने के कारण "तत्त्वार्थवार्तिक" यह सार्थक नाम भी भट्टाकलंकदेव ने ही दिया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यही है कि इसमें तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों पर वार्तिक रचकर उन वार्तिकों पर ही भाष्य लिखा गया है। अतः यह ग्रन्थ अतीव प्रांजल और सरल प्रतीत होता है।

अष्टशती—श्री स्वामी समंतभद्र द्वारा रचित आप्तमीमांसा की यह भाष्यरूप टीका है। इस वृत्ति का प्रमाण ८०० श्लोक प्रमाण है अतः इसका "अष्टशती" यह नाम सार्थक है।

जैन दर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। आचार्य समंतभद्र अनेकांतवाद के सबसे बड़े व्यवस्थापक हैं। उन्होंने श्री उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण "मोक्षमार्गस्य नेतारं" आदि को लेकर आप्त-सच्चे देव की मीमांसा परीक्षा करते हुए ११४ कारिकाओं द्वारा स्याद्वाद की प्रक्रिया को दर्शाया है। उस पर श्री भट्टाकलंकदेव ने "अष्टशती" नाम से भाष्य बनाया है। इस भाष्य को वेष्टित करके श्री विद्यानंद आचार्य ने ८००० श्लोक प्रमाण रूप से "अष्टसहस्री" नाम का सार्थक टीका ग्रन्थ तैयार किया, इसे "कष्टसहस्री" नाम भी दिया है। जैन दर्शन का यह सर्वोपरि ग्रन्थ है। मैंने पूर्वाचार्यों और अपने दीक्षा, शिक्षा आदि गुरुओं के प्रताप से इस "अष्टसहस्री" ग्रन्थ का हिन्दी भाषानुवाद किया है जिसका प्रथम खंड "वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला" से प्रकाशित हो चुका है। अब यह दूसरा खंड आपके हाथ में है।

इस प्रकार से श्रीमद् भट्टाकलंक देव के बारे में मैंने संक्षिप्त वर्णन किया है। वर्तमान में "सिकलंक का बलिदान" नाम से इनका नाटक खेला जाता है। जो कि प्रत्येक मानव के मानसपटल पर जैन शासन की रक्षा और प्रभावना की भावना को अंकित किये बिना नहीं रहता है।

बाल्यकाल में "अकलंक निकलंक नाटक" देखकर ही मेरे हृदय में एक पंक्ति अंकित हो गई थी कि—

"प्रज्वलनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्"

कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पैर न रखना ही अच्छा है। उसी प्रकार से गृहस्थावस्था में फंस कर पुनः निकलकर दीक्षा लेने की अपेक्षा गृहस्थी में न फंसना ही अच्छा है। इस पंक्ति ने ही मेरे हृदय में वैराग्य का अंकुर प्रकट किया था जिसके फलस्वरूप आज मैं उनके पदचिन्हों पर चलने का प्रयास करते हुये उनके विषय में कुछ लिखने के लिये सक्षम हुई हूँ।

श्री विद्यानंद आचार्य का परिचय पं० वर्द्धमानशास्त्री की प्रस्तावना में है अतः यहाँ नहीं दिया गया है। श्री उमास्वामी आचार्य, श्री समंतभद्राचार्य, श्री अकलंकदेव आचार्य और श्री विद्यानंद आचार्य इन चारों आचार्यों को मेरा कोटिशः नमन।

प्रस्तावना

नमः श्री स्याद्वाद विद्यापतये

न्यायशास्त्र प्रमाणभूत शास्त्र है, इतना ही नहीं, इतर सिद्धांत, व्याकरण, साहित्य, चरणानुयोग, करणानुयोग, प्रथमानुयोग आदि ग्रन्थों में प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए साधन है। द्वादशांग वाणी में दृष्टिवाद नामक जो अन्तिम अंग है उसके प्रमुख यह न्यायशास्त्र है। न्यायशास्त्र के द्वारा सिद्धांत समर्थित विषयों को कसौटी में कसकर सिद्ध किया जाता है। सिद्धांत प्रतिपादित तत्त्वों में प्रामाणिकता किस प्रकार है इसे न्यायशास्त्र प्रतिपादन करता है। वस्तु का सर्वांश से, सर्वांश से यथार्थ दर्शन न्यायशास्त्र के द्वारा होता है। न्यायशास्त्र की आधार शिला स्याद्वाद या अनेकांत है तो प्रकाश व नय उसके दो पंख हैं। नय प्रमाणरूपी पंखों को धारण कर स्याद्वाद यथेच्छ सर्वत्र जल, स्थल, आकाश में भ्रमण कर सकता है। उसे कोई भी किसी भी क्षेत्र में रोकने के लिए समर्थ नहीं है। उसकी गति निर्बाध है, उसकी गति आवरण रहित देखती है। उसमें अवरोध करने वाली कोई शक्ति संसार में नहीं है।

संसार में युक्ति प्रयुक्त करने की योग्यता वाले हर विषय को विवादास्पद बना सकते हैं। उसे, उस कथन को एवं युक्ति को तर्क की कसौटी में कसकर देखना होगा कि वह सम्यक् है या मिथ्या है? युक्ति और शास्त्र से अविरोध जो वचन है वह सम्यक् तर्क है। तर्क में तर्क भी होता है, कुतर्क भी होता है। परन्तु सुतर्क ग्राह्य है, उपादेय है परन्तु कुतर्क त्याज्य है, निषेध्य है, सुतर्क या तर्क के द्वारा द्रव्य की प्रतिष्ठा होती है, द्रव्य में द्रव्यत्व की सिद्धि, गुण में गुणत्व की सिद्धि, पर्याय में उत्पाद व्यय की सिद्धि आदि सभी तर्क पूर्ण दृष्टि से होती है, अनुदिन के बोलने वाले वचनों में भी न्याय का पुट लगना चाहिये, अन्याय पूर्ण वचनों से विवाद, कलह, संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसलिए युक्ति शास्त्र से अविरोध वचनों से पूर्ण न्याय पथ से चलने को ही बोलने के लिए मनुष्य को सीखना चाहिये। भगवान् समंतभद्र ने आप्तपरमेश्वर भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए आप्तमीमांसा में लिखा है कि—

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥

हे भगवन्! आप ही युक्ति और आगम के अविरोधी वचन को बोलते हैं, अतएव निर्दोष हैं। आपके बोलने चलने में भी अविरोध है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है, अर्थात् स्पष्टतया आत्मकथन से विवक्षा

है, आप जैसा बोलते हैं, वैसा ही चलते हैं, आपको वस्तु इष्ट है, जो ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है वही न्यायशास्त्र के लिए सम्मत है, उसी से पदार्थ का निर्दोष ज्ञान होता है।

इसलिए सिद्धांत शिरोमणि श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि "प्रमाणनयैर-धिगमः" प्रमाण व नयों से तत्त्व का ज्ञान होता है, अर्थात् पदार्थों का निर्दोष ज्ञान होता है, इस परिपाटी को सिखाने वाला न्यायशास्त्र है, इस सरणि को छोड़कर हम पदार्थों के ज्ञान को ही प्राप्त नहीं कर सकते हैं। हमारे ज्ञान में प्रमाण की सत्ता रहेगी, या नयविवक्षा रहेगी या नयांश रहेगा। इसके बिना हम पदार्थों का चतुर्मुखी ज्ञान नहीं कर सकते हैं। पदार्थों का चतुर्मुखी ज्ञान ही निर्दोष ज्ञान है, अविकृत दर्शन है।

इसलिए आगम सिद्धांत की सिद्धि के लिये, लोक व्यवहार की प्रसिद्धि के लिये, स्वमत स्थापन, परमत खंडन कर वस्तु तत्त्व की सिद्धि के लिये न्यायशास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता है। इसलिए जैनाचार्यों ने इस विषय के भी ग्रन्थों का निर्माण कर भगवान् महावीरस्वामी के द्वारा प्रतिपादित तत्त्व विवेचन को निर्दोष सिद्ध किया है। इन सब कार्यों को करते हुए उन्होंने एक ही स्याद्वाद शासन का उपयोग किया है। स्याद्वाद या अनेकांत के रूप में सर्व पदार्थ व्यवस्थित हैं, अतएव उनका ज्ञान भी स्याद्वाद या अनेकांत से ही ठीक तरह से हो सकता है। स्याद्वाद के बिना हम पदार्थों के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं, पदार्थों के ज्ञान में गड़बड़ी होती है, हम संशय कल्लोल में गोता खाते हैं। इसलिए वस्तु तत्त्व की निर्दोष सिद्धि के लिए स्याद्वाद का ही अवलंबन करना चाहिये।

भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए महर्षि समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है कि—

अनवद्यः स्याद्वादः तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादः सदितरदविरोधन्मुनीश्वरास्याद्वाद ॥
(स्वयंभूस्तोत्र) १०८

जिस स्याद्वाद से पदार्थों की ठीक स्थिति का ज्ञान होता है उसके सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! आपका स्याद्वाद निर्दोष है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से अबाधित है, अतएव स्याद्वाद है। प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, तर्क आदि कोई भी प्रमाण इसे बाधित करने के लिये समर्थ नहीं है। दूसरों को एकांतवाद है उन्हें स्याद्वाद नहीं कह सकते हैं, उनमें स्यात् का प्रयोग नहीं हो सकता है। इसके अलावा उनमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा भी उपस्थित होती है। अतः वह स्याद्वाद भी नहीं है। अस्याद्वाद है।

इसलिये स्याद्वाद शास्त्रों के निरूपण में मूलाधार स्याद्वाद है। उसके आधार से तत्त्व की वस्तुनिष्ठ प्रतिष्ठा हो जाती है।

तर्कों की निर्दोष सिद्धि करते हुए हित प्राप्ति एवं अहित परिहार के लिए [illegible] अत्यन्त आवश्यक है। इसी के लिये ही जैनाचार्यों ने न्याय ग्रंथों की रचना की है।

इस सम्बन्ध में विचार करने पर न्यायशास्त्र की परम्परा का उद्योत करने वाले निम्नलिखित [illegible] अत्यन्त उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं।

परम तार्किक श्री अकलंकदेव, विद्यानंदि, माणिक्यनंदि, प्रभाचन्द्र, वादिराज सूरि आदि का नाम बहुत गौरव के साथ इस दिशा में लिया जा सकता है, इन आचार्यों ने अपने अगाध पांडित्य के द्वारा जैन सिद्धांत की समीचीनता का वर्णन युक्ति और आगम के अविरोधी वचन के द्वारा एवं अपने तर्क [illegible] के द्वारा कराया, यही कारण है कि आज जैनदर्शन निर्दोष रूप से और पूर्वापर अविरोध रूप से व्यवस्थित है।

अष्टसहस्री एक महान् न्यायग्रन्थ

अष्टसहस्री एक महान् तार्किक ग्रन्थ है। इसका मूलाधार देवागमस्तोत्र है। स्वामी समंतभद्राचार्य के द्वारा विरचित गंधहस्ति महाभाष्य का यह देवागमस्तोत्र मंगलाचरण कहलाता है। गंधहस्ति महाभाष्य के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में 'उक्तं च' कहते हुये उद्धरण मिलता है, इसलिए स्वामी समन्तभद्राचार्य के द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के ऊपर एक महान् भाष्य ग्रन्थ की रचना की गई है, यह स्पष्ट है, देवागम स्तोत्र का यदि मंगलाचरण है तो निस्संदेह यह ग्रन्थ भी विद्यानंदि के श्लोकवार्तिकालंकार के समान ही महान तार्किक ग्रंथ होगा, इसे सहज अनुमान कर सकते हैं। आचार्य श्री ने मंगलाचरण की रचना में भी इतनी तर्क पूर्ण दृष्टि रखी है तो मूलग्रंथ में न मालूम कितना रहस्य भरा होगा। जिस ग्रन्थ के मंगलाचरण पर अकलंक देव अष्टशती भाष्य की रचना कर सकते हैं और महर्षि विद्यानंदि अष्टसहस्री की रचना करते हैं तो समझना चाहिये कि यह ग्रंथ सामान्य नहीं हो सकता है, परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि आज यह अनुपलब्ध है।

समंतभद्र की अनुपम कृति

महर्षि समंतभद्र की यह अनुपम कृति है, इसे देवागमस्तोत्र इसलिये कहते हैं कि इसका आरम्भ देवागम पद से होता है, जिस प्रकार भक्तामर, कल्याणमंदिर आदि स्तोत्र उन्हीं पदों से आरम्भ होने के कारण उस नाम से कहे जाते हैं, इसी प्रकार यह भी देवागमस्तोत्र कहलाता है। नहीं तो इसे आप्तमीमांसा के नाम से भी कहते हैं। आप्त किस प्रकार होना चाहिये ? आप्त में किन गुणों की आवश्यकता है ? इस बात की सुन्दर मीमांसा इस ग्रन्थ में की गई है, अतः इसका नाम "आप्तमीमांसा" सार्थक है।

आप्तमीमांसा समन्तभद्र की एक अर्थगर्भित दुरूह कृति है, उस पर तर्कपूर्ण दृष्टि से अकलंक देव ने अष्टशती नामक वृत्ति लिखी है, यह ग्रन्थ आठ सौ श्लोक प्रमाण है, अतः इसका नाम अष्टशती पड़ गया है, अकलंक देव ने यह जो ग्रन्थ लिखा, वह गंभीर, तर्क पूर्ण एवं अर्थगर्भित है, अनेक स्थानों में विशद व्याख्या न होने के कारण अन्य मतावलंबी को विद्वान् भी समझने में असमर्थ रहे, इसीलिए तार्किक चूड़ामणि विद्यानंदि स्वामी ने अष्टसहस्री नामक आठ हजार श्लोक परिमित ग्रन्थ की रचना कर अनेक दृष्टियों को सुंदर शैली से सुलझाया है। कठिन से कठिन विषयों को सरल बनाकर विद्वानु जगत को आकर्षित ही नहीं, आह्लादित भी किया है। इस देवागम पर वसुनंदि सिद्धांतदेव के द्वारा विरचित देवागम वृत्ति नामक ग्रंथ भी है जो कि श्लोकों का अर्थमात्र सूचित करता है। इससे स्तोत्र के अर्थ को समझने में कोई बाधा नहीं है, यद्यपि अकलंक का विद्यानंदी के समान गम्भीर तर्क पूर्ण भाषा से ग्रन्थ की रचना नहीं है, तथापि अपने स्थान में उसका महत्त्व इसमें कोई संदेह नहीं है।

ग्रन्थ की महत्ता

यह विद्यानंदि कृत अष्टसहस्री समयसूत्र में देवागम का विशेष अलंकार है, अतः इसे देवागमालंकार के नाम से भी कहते हैं अथवा अकलंकदेवकृत आप्त मीमांसा को सामने रखकर यह व्याख्यान रूप अलंकार किया गया है अतः दृष्टि से इसे आप्तमीमांसालंकार भी कह सकते हैं। इसका प्रसिद्ध नाम अष्टसहस्री है। आठ हजार इसलिए कि यह आठ हजार श्लोक प्रमाण है। अष्टसहस्री में विद्यानंद स्वामी ने भी इस ग्रंथ को अष्टसहस्री के नाम से अनेक-स्थान उल्लेख किया है।

ग्रन्थ की शैली अनूठी है। यौगपद्य तर्क ग्रन्थों का सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान होने के कारण उसके तर्कों को पूर्व पक्ष में रखकर ग्रंथ में अकाट्य युक्तियों के द्वारा उत्तर दिया गया है। ग्रंथकार ने कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, धर्मकीर्ति आदि मीमांसक, बौद्ध सिद्धांतों का जिस तर्क के साथ खंडन किया है वह अजोड़ है।

कुमारिल भट्ट ने अपने मीमांसा श्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हुए लिखा है कि—

सुखादो यदि सर्वज्ञः कश्चिन्नेति का प्रमा। तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥

यदि सुखत सर्वज्ञ है तो कपिल सर्वज्ञ क्यों नहीं है। उसके निषेध में प्रमाण क्या है? यदि ये दोनों सर्वज्ञ हैं तो उनमें मतभेद क्यों? मतभेद होने के कारण निश्चय से दोनों सर्वज्ञ नहीं हैं यह स्पष्ट है।

अष्टसहस्री को लिखते समय यह मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रन्थकार के सामने था, इसलिए उन्होंने भावना, विधि व नियोग को वाक्यार्थ निर्णय करने में उसी युक्ति का प्रयोग कर खंडन किया है।

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतो भट्टप्रभाकरौ।
कार्येषु योजना ज्ञानं स्वरूपे सिद्ध तत्प्रमा द्वयोश्चेद्वेदांत सौ सम्यौ भट्टवेदांतवर्तिनौ॥

यदि भावना श्रुति वाक्य का अर्थ है तो नियोग नहीं है इसमें क्या प्रमाण है, यदि दोनों ही श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व प्रभाकर का सिद्धांत नष्ट होता है इसी प्रकार नियोग श्रुतिवाक्य का अर्थ है तो विधि क्यों नहीं है? इसमें प्रमाण क्या है? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट व वेदांती दोनों का सिद्धांत खंडित हो जाता है।

अष्टसहस्री में स्थान-स्थान पर इसी प्रकार की तर्कणा शैली के द्वारा स्वपक्ष सिद्धांत का मंडन किया गया है। भाषा सौष्ठव, सरलता, युक्तियुक्त कथन, गंभीर शैली, कोमल प्रहार आदि बातों का विचार करने पर समग्र श्वेताम्बर साहित्य में इसकी बराबरी करने वाला अन्य ग्रन्थ नहीं है यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।

अष्टसहस्री की तर्कणा शैली अद्वितीय है। खंडन मंडन पद्धति मनोहारिणी है। सूक्ष्मतम स्पर्शी सिद्धांत का निरूपण है। विद्वत्संसार को चकित करने वाली मीमांसा है।

स्वयं अष्टसहस्री में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के संबंध में स्पष्ट किया है कि :—

स्फुटमकलंकपदं या प्रकटयति परिवेत्तसामसमम्। दर्शितसमन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु ॥

अर्थात् अकलंक के अत्यंत दुर्लभ पदों का जो स्पष्टीकरण करती है, समंतभद्र की विशाओं को जो प्रदर्शन करती है वह अष्टसहस्री सदा जयवंत रहे।

इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर समंतभद्र के अभिप्रायानुसार अकलंक की अष्टशती के स्पष्ट आशय को व्यक्त किया है। अष्टशती में यह अष्टसहस्री इतनी अनुप्रविष्ट हुई है कि अष्टशती की अनेक पंक्तियां अष्टसहस्री में उपलब्ध होती हैं, एवं उनकी विशद व्याख्या इस ग्रंथ में की गई है। इसकी शैली अत्यंत गंभीर व प्रसन्न है, गंभीर इसलिए की वह गूढ़ है, प्रसन्न इसलिए कि स्वयं व दूसरों के लिए खेदजनक नहीं है। सरल, मृदु, मधुर, संतुलनात्मक शब्दों से यह रचित है। इसलिए ग्रन्थ में एक स्थान पर कहा गया है कि :—

श्रोयाच्चाष्टसहस्री देवागमसंगतार्थमकलंकम्। गमयन्ती सन्मयतः प्रसन्नगंभीरपदपदवी ॥

देवागम स्तोत्र में समंतभद्र ने जिस स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है, जिसे अकलंक देव ने अलंकृत किया है जिसमें प्रसन्न गंभीर पदों का प्रयोग हुआ है ऐसी आप्तमीमांसालंकृति अष्टसहस्री सदा जयवंत रहे। यह आचार्य के द्वारा की गई स्वप्रशंसा नहीं है, अपितु वस्तु स्थिति का परिचायक है। देवागम की विशद व्याख्या को प्रतिपादन करने वाला, इसकी तुलना करने वाला अन्य ग्रन्थ नहीं है।

इस ग्रंथ में संशय, विपर्यय, वैयधिकरण्य, व्यतिकर आदि दोषों का उद्भावन कर पूर्व पक्ष में परमत का खंडन कर मंडन किया गया है, एवं स्वमत का मंडन किया गया है। सर्वज्ञ अभाव वादियों को करारा उत्तर देते हुए निर्दोष सर्वज्ञ की सिद्धि करते हुए आचार्य ने मनोरम शैली से ग्रंथ को प्रभावित किया है। निस्संदेह कहा जा सकता है कि अष्टसहस्री का प्रमेय अत्यन्त दुर्लभ है। सिद्धांत पक्ष का समर्थ समर्थन है। इस ग्रंथ के अध्ययन से अनेक विषयों का परिज्ञान हो जाता है। कतिपय विषयों में यह निष्णात विद्वान् बन जाता है। इस गौरव मय व्याख्यान के संबंध में स्वयं ग्रंथकार ने वर्णन किया है कि—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः। विज्ञायेत यथैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥

हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है ? केवल एक अष्टसहस्री के सुनने से ही सर्व इष्टार्थ की सिद्धि हो सकती है, जिसके सुनने से स्वसमय क्या है, पर समय क्या है इसका अच्छा बोध हो जाता है। यह इस ग्रंथ का विषय है।

इस ग्रंथ के कर्ता महर्षि विद्यानंदि

इस ग्रंथ की रचना महर्षि विद्यानंदि ने की है। विद्यानंदि महिपति के ऐतिहास का पता लगाने पर ज्ञात होता है कि आप वैदिक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर जैनमार्ग के अकाट्य तर्क व सयुक्तिक कथन से आकर्षित

होकर उस पवित्र धर्म में आये एवं अपनी विद्वत्ता व तर्कणा शक्ति का सदुपयोग किया। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के द्वारा अनेक न्याय ग्रन्थों की रचना कर जैन न्याय भंडार की श्री वृद्धि की है।

उनके द्वारा विरचित पंच संपत्ति का उल्लेख यहाँ पर करना अप्रस्तुत नहीं होगा।

(१) विद्यानन्द महोदय, (२) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, (३) अष्टसहस्री, (४) युक्त्यनुशासनालंकार, (५) आप्त परीक्षा, (६) प्रमाण परीक्षा, (७) पत्र परीक्षा, (८) सत्यशासन परीक्षा, (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, इस प्रकार ९ ग्रन्थों की रचना का उल्लेख मिलता है, इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यों कराया जाता है।

(१) विद्यानन्द महोदय—यह विद्यानन्दि आचार्य के द्वारा विरचित आद्य प्रथम रचना है, क्योंकि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इसका प्रायः उल्लेख आता है, इतना ही नहीं, विस्तार से देखना हो तो विद्यानन्द महोदय में देखो ऐसी सूचना भी इनमें पायी जाती है। परन्तु दुर्भाग्य से आज यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। महर्षि विद्यानन्दि के बाद करीब पांच सौ वर्षों तक यह ग्रन्थ उपलब्ध रहा, तत्कालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का उद्धरण दिया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थ सूत्र पर श्लोक व वार्तिक रूप दुरूह भाष्य है। यह निश्चित कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थ सूत्र पर जो आज उपलब्ध भाष्य हैं, उनमें सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण है। तत्त्वार्थ सूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ रत्न है जिस पर पूज्यपाद, अकलंक, भास्करनन्दी, श्रुतसागर आदि अनेक विद्वानों ने भाष्य की रचना की है। कुमारिल भट्ट के मीमांसक श्लोकवार्तिक का यह बेजोड़ अनुपम है, यह विद्यानन्दि मतिपति की अद्वितीय रचना व न्यायशास्त्र की शोभा को बढ़ाने वाली है।

अष्टसहस्री—प्रकृत ग्रन्थ है। यह समन्तभद्र के देवागम स्तोत्र पर अकलंक देव के द्वारा विरचित आप्त मीमांसा पर टीकालंकृत भाष्य है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने अकलंक ग्रन्थ की दुरूह त्रुटियों को अच्छी तरह सोलह-मात्र से सुलझाया है। पाठकों को इसके अध्ययन से सहज ज्ञात हो जावेगा।

युक्त्यनुशासनालंकार—आचार्य समन्तभद्र के द्वारा विरचित सर्वपूर्ण स्तोत्र ग्रन्थ की यह टीका ग्रन्थ है। महर्षि विद्यानंदि ने अपनी ही शैली से इसमें युक्ति प्रयुक्तियों से भगवत् की उपासना की है।

आप्त परीक्षा—इस ग्रन्थ में महर्षि विद्यानन्द ने—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥

इस श्लोक को आधार बनाकर अत्यन्त सरल व सुबोध शैली से आप्त की परीक्षा की है। वस्तुतः अर्हंत ही निर्दोष सर्वज्ञ आप्त हो सकते हैं इस बात को सुन्दर सिद्धि आचार्य देव ने इस ग्रन्थ में की है। इसके साथ स्वोपज्ञ टीका होने से ग्रन्थ के हृदय को समझने में बड़ी सहायिका हो गई है।

प्रमाण परीक्षा—इस ग्रन्थ में इतर दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित प्रमाणों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए जैनमत सम्मत प्रमाण के स्वरूप में विशद विवेचन किया गया है। प्रमाणपरीक्षा नाम सार्थक है।

पत्र परीक्षा—यह विद्यानंदि के द्वारा विरचित नव्य पद्यमय रचना है, इसमें साध्य के लिए उपयुक्त अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए स्वमत की स्थापना एवं परमत का निराकरण किया गया है। शायद विद्यानंदि को जैनधर्म की निर्दोषता को व्यक्त करने की अत्यन्त आवश्यकता ही उत्पन्न हो गई थी।

सत्यशासन परीक्षा—यह ग्रन्थ अपूर्ण उपलब्ध होता है, प्रकाशित भी है, इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ इतर शासनों की परीक्षा करने का संकल्प आचार्य ने व्यक्त किया है, परन्तु ९ की ही मीमांसा की गई है, शायद आचार्य

की यह अनिश्चित कृति है, बीच में ही आयु का अन्त हो गया हो, इसे पूर्ण न कर सके हों, अनेकान्त शासन की परीक्षा का प्रकरण इस ग्रन्थ में अनुपलब्ध है, शायद इस प्रकरण को तार्किक विद्यानंदि की लेखनी से हम आध्यात्मिक सम्पन्न स्थिति में देख सकते थे परन्तु दुर्भाग्य है।

श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र—यह श्रीपुर 'शिरपुरअंतरिक्ष' पार्श्वनाथ का नामांतर है। अथवा उसी का अपभ्रंश होकर शिरपुर हो गया है। इस अतिशय पार्श्वनाथ विग्रहादि की सर्वांपूर्ण शैली से इस स्तोत्र में स्तुति की गई है, यद्यपि यह स्तोत्र अत्यन्त लघुकाय है तथापि अर्थगर्भित है, महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों की रचना कर विद्यानंद स्वामी ने अपनी सम्यक्त्व निष्ठा को व्यक्त किया है। वे जिनमत के निष्णीम व सुदृढ़ उपासक थे, इस विषय का अनुभव उनकी कृतियों के अध्ययन में निश्चित रूप से हो जाता है।

स्व० न्यायाचार्य पं० माणिकचंद जी कवि रत्न कहते थे कि अनारस विद्यालय के न्यायाध्यापक न्याय विषय के प्रकांड विद्वान् पं० अंबादास जी, विद्यानंदि की तर्कणा शैली से अत्यन्त प्रभावित थे, ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व के विरोध में उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो युक्तियों का प्रयोग किया है वह अन्यत्र देखने में नहीं आते, शायद विद्यानन्द की ईश्वर के पीछे हाथ धोकर ही पड़े थे, जिससे उनके अनेक ग्रन्थों में इस विषय का अकाट्य सिद्धान्त देखने को मिलता है।

स्व० न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी जो हमारे सहपाठी थे, उन्होंने अपने एक निबन्ध में लिखा था कि—'एक ग्रन्थ के अभ्यासी विद्यानन्द के अतुल पांडित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एवं प्रसन्न भाषा (मृदुमधुर गम्भीर) में मुँह भरे युक्ति जाल से परिचित होंगे। उनके प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, आप्त परीक्षा आदि प्रकरण अपने-अपने विषय के बेजोड़ निबन्ध हैं, वे ही निबन्ध एवं विद्यानन्द के द्वारा विरचित अन्य ग्रन्थ आगे बने हुए समस्त दि० श्वे० न्याय ग्रन्थ के आधारभूत हैं, इनके विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि० श्वे० न्याय ग्रन्थों पर अमिट छाप लगाये हुये हैं। यदि जैन न्याय के कोषागार से विद्यानंदि के ग्रन्थों को अलग कर दिया जाये तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायेगा।'

स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी का कथन सचमुच में विद्यानन्द के ग्रन्थों पर संक्षेप में अपितु वस्तु का दर्शन है, आचार्य विद्यानंदि उसी कोटि के विद्वान् थे।

श्वेताम्बर संप्रदाय के माने हुये विद्वान् प्रज्ञाचक्षु पंडिताग्रणी पं० सुखलाल जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में (विद्यानन्द विरचित) जितना जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खण्डन है, वैसा तत्त्वार्थ सूत्र की दूसरी किसी की टीका में नहीं, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में चर्चित हुए कोई विषय छूटे नहीं, बल्कि बहुत से स्थानों पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है, कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में अपूर्व ही है। राजवार्तिक में तार्किक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, समग्र जैन वाङ्मय में जो थोड़ी बहुत कृतियाँ महत्त्व रखती हैं उनमें की दो कृतियाँ राजवार्तिक व श्लोकवार्तिक की है।[1]

---

1. पं० सुखलाल जी ने तत्त्वार्थ सूत्र की प्रस्तावना में यह निर्देश किया है। इसलिए विद्यानंद की इसी विषय की कृति का इसमें विवेचन है।

तत्त्वार्थ सूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बर साहित्य में से कुछ भी अन्य श्लोकवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके ऐसा दिखाई नहीं देता।"

पं० सुखलाल जी का यह कथन सचमुच में अर्थ पूर्ण है। एवं विद्यानन्द के अद्भुत विद्वत्ता को सूचित करने के लिये पर्याप्त है।

उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओं पर प्रभाव

यह असाधारण प्रभाव उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओं पर भी विविध रूप से पड़ा है, अनेकों ने विद्यानन्द की शैली को अपनाया है तो अनेकों ने विद्यानन्द के वचनों का उद्धरण किया है, अनेकों ने विद्यानन्द के विशेष आचार एवं वाग्वैभव की प्रशंसा की है।

श्रीमद् विद्यानन्द के ग्रन्थों का परिशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वे केवल न्यायशास्त्र के ही धुरंधर पंडित नहीं थे अपितु व्याकरण, साहित्य, छन्द व सिद्धान्त के भी निष्णात विद्वान् थे, इसलिये उन्होंने अपनी विद्वत्ता द्वारा उनका समावेश अपने ग्रन्थों में किया है, अतः उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने उनके उद्धरण को महत्त्व दिया हो तो आश्चर्य की बात नहीं है।

उत्तरवर्ती ग्रन्थकार मल्लिषेणसूरि, वादिराजसूरि, प्रभाचंद्र, अभयदेव, मल्लिषेणसूरि, हेमचन्द्र, वसु विमलसूरि, धर्मभूषण, यशोविजय आदि विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में विद्यानन्द के ग्रन्थों से आदरपूर्वक प्राप्त किया है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं विद्यानन्द के उद्धरणों को भी स्थान दिया है। अनेक उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने विद्यानंद के विद्या वैभव की प्रशंसा करते हुए अपने ग्रन्थ की श्रीमा बढ़ाई है।

न्यायविनिश्चय में अकलंक ने निम्न श्लोक के द्वारा विद्यानन्द की प्रशंसा की है।

देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत् तात्पर्यतः क इह कोमलधीरवैत्तु।
विद्वान् न चेत् सकलतर्कपुरस्सरेण विद्यानंदोऽनवद्यवचनैरवदत्तरां नः॥

[न्यायविनिश्चय.]

सचमुच अकलंक देव के गम्भीर वचनों की गुत्थियों को सुलझा निर्दोष चारित्र को धारण करने वाले विद्यानंद न होते तो कौन समझाने में समर्थ होता? इसमें यह विद्यानन्द का ही प्रशंसा है, उन्होंने अष्टसहस्री ग्रन्थ में उसका पल्लवोद्घाटन किया है।

वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथ चरित में भी विद्यानंद की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि—

अद्यापि यत्स्फुरालं विद्यानंदस्य विस्मयः मुक्ताकलापकल्पेषु यीप्सिरेषु रंगति॥

[अ० १ श्लोक-२८.]

विद्यानंद के सरल, सरस, सार्वजनिक विचारों को सुनने में भी बहुत बड़ा आनंद आता है, यह भी अपने शरीर में अलंकार के रूप में परिवर्तित होता है तो उसके अध्ययन व अनुभव में न जाने कितना आनन्द होता होगा।

इस प्रकार उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों ने विद्यानंद का उल्लेख अपने ग्रन्थों में गौरवपूर्वक किया है।

प्रमाण परीक्षा के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में श्री जिनेश्वर की वंदना करते हुए अपने नाम का निम्नलिखित कराते हुए विद्यानंद स्वामी ने जिनेश्वर का विशेषण उस विद्यानंद पद को किया है।

जयंति निर्जितशेषसर्वथैकांतमतयः। स्तुत्यमाप्तमाप्तिपाः शास्त्रविद्यानंदा जिनेश्वराः॥

[प्रमाणपरीक्षा मंगलाचरण]

इन उद्धरणों से विद्यानंद की महत्ता सहज समझ में आ सकती है। पंच परीक्षा के अंत में विद्यानंद की प्रशंसा में निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है।

जीयाल्लिरस्तनिखिलेतरसर्वथैकांतशासनम् सदा जीयद्वर्धमानस्य विद्यानंदस्य शासनम्॥

इसमें विद्यानंद ने अपने नाम का उल्लेख करते हुए श्री वर्धमान् महावीर के लिए विद्यानंद विशेषण का प्रयोग किया है।

आप्त परीक्षा की प्रशस्ति में स्वयं विद्यानन्द ने लिखा कि :—

स जयतु विद्यानंदो रत्नत्रयपवित्रभूषणस्ततम् तत्त्वार्थनिर्णयतरये सदुपायः प्रकटितो येन॥

रत्नत्रय के द्वारा विभूषित समर्थ विद्यानंद सदा जयशील रहें जिन्होंने तत्त्वार्थ सत्र को तैरने का सरल उपाय प्रकट किया है। ऐसे विद्यानंद के द्वारा प्रकृत अष्टसहस्री की रचना की गई है।

आचार्य विद्यानंदि की कृतियों से स्पष्ट है कि वे एक प्रतिभा संपन्न तार्किक थे, उन्होंने इसी दृष्टि से अनेक ग्रन्थ रत्नों की रचना की है।

आचार्य विद्यानंदि का काल

ऐसे आचार्य पुंगव का समय कौन सा था इस संबंध में तार्किक विद्वानुओं को जानने की इच्छा होना सहजिक है। परन्तु आचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने समय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अतः उनके ग्रन्थों से इस समय निर्धारण नहीं कर सकते हैं, तथापि अन्य अनेक अनुमानों से उनके समय का निर्धारण हो सकता है, इस दृष्टि से अनेक ऐतिहासिक विद्वानों के द्वारा उनके समय का अनुमान किया गया है। विद्वानों ने उन्हें करीब आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में होने का निर्णय किया है, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी कोठिया ने आप्त परीक्षा की प्रस्तावना लिखते हुए आप्त परीक्षा के कर्ता महर्षि विद्यानंदि के समय का भी उल्लेख किया है, समय निर्धारण में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये हैं। वह इस प्रसंग में उपयुक्त होंगे।

(१) न्यायसूत्र पर लिखे गये वात्स्यायन के न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य पर रचे गये उद्योतकर के न्यायवार्तिक, इन तीनों का तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक आदि में सविस्तृत समालोचना की है, उद्योतकर का समय ई. सन् ६०० माना जाता है।

(२) तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक और अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में विद्यानंद ने प्रसिद्ध शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि का नाम लेकर एवं अनुल्लेख से भी उनके वाक्य प्रदीप ग्रन्थ की कारिकाओं को उद्धृत कर खंडन किया है, भर्तृहरि का समय करीब ६०० से ६५० तक सुनिश्चित है।

(३) वैभाषिक, सौत्रांतिक, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर इन मीमांसक विद्वानों के सिद्धान्तों का विद्यानंद ने अपने ग्रन्थों में निरसन किया है कुमारिल भट्ट प्रभाकर का समय ई. सन् ६२५ से ६८० तक सुनिश्चित है।

(४) कणाद के वैशेषिक सूत्र पर लिखे गये प्रशस्तपाद के प्रशस्तपादभाष्य एवं उस पर रची गई व्योम शिवाचार्य की व्योमवती टीका की आचार्य विद्यानंद ने आप्त परीक्षा में आलोचना की है। व्योमशिवाचार्य का समय ७ वीं सदी का उत्तरार्ध माना जाता है। (अर्थात् विद्यानंद सातवीं सदी के उत्तरकालीन सिद्ध होते हैं)।

(५) धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर का अष्टसहस्री में एवं प्रमाण परीक्षा में विद्यानंद ने खंडन किया है। प्रज्ञाकर व धर्मोत्तर का आठवीं सदी का प्रारंभिक काल माना जाता है।

(६) अष्टसहस्री में मंडनमिश्र का खंडन किया गया है। श्लोकवार्तिक में भी मंडनमिश्र के सिद्धान्तों का खंडन किया गया है, मंडन मिश्र का भी समय आठवीं सदी का प्रारंभ माना जाता है। इसी प्रकार शंकराचार्य के प्रधान शिष्य सुरेश्वर मिश्र के ग्रन्थों का उल्लेख कर आचार्य विद्यानंद ने खंडन किया है, सुरेश्वर मिश्र का समय भी आठवीं सदी का प्रारंभ माना जाता है। इसके उत्तरवर्तिग्रंथकारों के उद्धरण आचार्य विद्यानंदि के ग्रन्थों में पाये नहीं जाते हैं। इसलिए उनका समय आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का जो विद्वानों ने निर्णय किया है वही समुचित होता है। उनके उत्तरवर्ति ग्रन्थकारों में किसी-किसी ने उनकी स्तुति की है। इससे भी वे उनसे पूर्ववर्ती हुए हैं। यह सुनिश्चित विषय है।

वादिराज सूरि ने अपने न्याय विनिश्चय [illegible] पार्श्वनाथ चरित में विद्यानंद का स्मरण किया है। न्याय विनिश्चय विवरणकार १०२५ सन् में हुए हैं।

प्रशस्त पाद भाष्य पर चार टीकायें लिखी गई हैं उनमें सिर्फ व्योमवती टीका का विद्यानंद ने निरसन किया है, अन्य तीन टीकाओं का निरसन नहीं किया, इससे ज्ञात होता है कि विद्यानंद के समय ये तीन टीकायें नहीं थीं, न्याय कंदली के टीकाकार श्रीधर का समय १० वीं सदी का माना जाता है, उदयन का भी समय प्रायः यही है, इससे विद्यानंद, उदयन व श्रीधर से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

अष्टसहस्री की अंतिम प्रशस्ति में विद्यानंद ने दो पद्य दिये हैं। उनमें दूसरा पद्य इस प्रकार है।

कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात् शश्वदनष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥

इससे स्पष्ट होता है कि अकलंक की अष्टशती पर कुमारसेन की कोई टिप्पणी होगी, वह विद्यानंद के समय अवश्य रही होगी, उसका स्पष्टीकरण करने के लिए ही यह अष्टसहस्री की रचना की गई है। कुमारसेन का समय निश्चित ७८३ से पहिले है। क्योंकि हरिवंशकार जिनसेन ने अपने ग्रन्थ में कुमारसेन का स्मरण किया है, इसलिए कुमारसेन जिनसेन के भी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। इसलिए आचार्य विद्यानंद किसी भी तरह ७वीं सदी के अंतिम भाग में नहीं हो सकते हैं, अगर वे होंगे भी तो उनका वह प्रारंभ काल हो सकता है, ग्रन्थ निर्माण का काल नहीं माना जा सकता है। यह सुनिश्चित है।

आचार्य विद्यानंद ने अपने श्लोकवार्तिक के अंत में श्लेष रूप में शिवमार राजा का उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि उनके समय में शिवमार शासक था गंगवंशी श्रीपुरुष नरेश का उत्तराधिकारी शिवमार

(द्वितीय) था। विक्रम का समय आठवीं सदी का प्रारंभ माना जाता है। यह जैन धर्म का अत्यन्त प्रभावशाली राजा था, इसने श्रवण बेलगोला के चंद्रगिरि पर एक जिन मंदिर बनवाया था जिसका नाम 'त्रिभुवनतिलकजिनेंद्र' है, कन्नड में बसदि का अर्थ मंदिर है। इस बसदि के पास ही चट्टान पर त्रिभुवनतिलक बसदि यह लेख भी अंकित है। इसका समय करीब ८१० शक का माना जाता है। उसके बाद इसका उत्तराधिकारी सत्य वाक्य राजगद्दी पर आया, उसका भी उल्लेख आचार्य विद्यानंद ने किया है, वह करीब ८१६ के आसपास पट्टाधिकारी हुआ था, तदनंतर वही उसका कार्य काल रहा होगा, आचार्य विद्यानंदि ने भी उसके राजाश्रय को पाकर अपने ग्रंथों का निर्माण निराबाध के रूप में किया, सत्य वाक्य को धारण करने वाले कई राजा हुए हैं, सत्य शासन परीक्षा नामक ग्रन्थ की रचना भी इसी सत्य वाक्य शासक के काल में ही रची गई है।

इन सब प्रमाणों से हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य विद्यानंद के ग्रन्थ निर्माण का समय सन् ८०० से ८४० तक रहा होगा। इसी काल में उन्होंने अपने ग्रन्थों का निर्माण किया है। अष्टसहस्री व तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार उनकी प्रौढ़ रचनायें हैं, आयु के उत्तर काल में इनकी उन्होंने रचना की होगी, तत्त्वार्थसूत्रपरीक्षा विद्यानंद की अंतिम रचना प्रतीत होती है।

अष्टसहस्री की कष्टसहस्री हिंदी टीका

न्याय ग्रन्थों की हिन्दी या भाषा टीका करना सरल काम नहीं है। सिद्धान्त और काव्यों का भाषांतर सरल व सरल हो जाता है, परन्तु न्याय शास्त्र की पारिभाषिक शैली का भाषानुवाद सूक्ष्म ही नहीं दुरूहतम भी हो जाता है। तथापि पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने इसकी टीका न्यायलोक में उपस्थित कर सचमुच में एक लोकोत्तर कार्य किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती जी संक्षिप्त परिचय

बालब्रह्मचारिणी आर्यिका ज्ञानमती जी का जन्मोत्सव अलौकिक है, आपने बाल्यकाल से ही विरक्ति को पाकर आचार्य देशभूषणजी महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की तदनंतर परम पूज्य स्व० आचार्य वीर सागर महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की, संघ में निरंतर अतीक्ष्ण ज्ञानोपयोग क्रमबद्ध रूप से शब्द, अलंकार, व्याकरण, न्याय सिद्धान्तों का अध्ययन जारी रहा, केवल पठन की दृष्टि ही नहीं, ग्रन्थों के अन्तस्तल में पहुँचकर उनके सूक्ष्म मर्म को समझने के नैपुण्य को उन्होंने प्राप्त किया, विद्वानों में बहुत कम रहकर अल्प वेला लौकिक कला तक अध्ययन करने वाले छात्रों में वह योग्यता प्राप्त नहीं होती है, जो योग्यता ग्रंथ का सूक्ष्म तलस्पर्शी ज्ञान आर्यिका ज्ञानमती जी को प्राप्त हो गई है। इससे यह अक्षर बुद्धीभूत होती है कि सम्यग्दर्शन के साथ सिर्फ ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, चारित्र पूर्वक जो ज्ञान है उसमें विशिष्ट अपोहत्व की प्राप्ति होती है, तप की प्रखरता से ज्ञान भी निखर उठता है। इस बात के लिए आर्यिका ज्ञानमती माताजी ही निदर्शन हैं। बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, जिस अष्टसहस्री को कष्टसहस्री समझकर विद्वानों पठन से विद्वान् पाठन से उपेक्षा करते हैं उस अष्टसहस्री का बिना किसी की सहायता के स्वयं अध्ययन कर अर्थ करना, भावांतर लिखना, सुबोध अनुवाद का निर्माण करना, यह उनके तपःपूत प्रज्ञातिशय का ही कार्य है, यह सभी साधारण को साध्य नहीं है। आचार्य शांतिसागर जी की परम्परा में प्राप्त ऐसी ज्ञानरत्नों से जैन समाज के साधु समुदाय का मुख उज्ज्वल है, मस्तक ऊँचा है, यह लिखने में हमें जरा भी संकोच नहीं होता है।

टिकैतनगर (उ. प्र.) सदृश छोटे से कस्बे में जन्म होने पर सर्व भारत के कोने-कोने में विहार करतप्रान्तीय भाषाओं का प्रगाढ़ परिश्रम, साधु सन्तों के प्रति निर्मल भक्ति, विद्वानों के प्रति वात्सल्यमय स्नेह, गुणीजनों के प्रति सर्म स्नेहयुक्त समादर यह माताजी की विशेषता है।

कन्नड़, मराठी, हिंदी, संस्कृत व प्राकृत ग्रन्थों में सूक्ष्मतम प्रवेश ही नहीं, अपितु उन भाषाओं में काव्य-रचना की योग्यता भी माताजी में है अनेक काव्यमय ग्रन्थ उनकी ज्ञान-गंगा से प्रवाहित हुए हैं एवं समादर को पा चुके हैं ; विपुल प्रमाण में ज्ञानदान करने के कारण उनका नाम सचमुच में आदर्श है।

चातुर्मास में प्रायः निरन्तर अध्ययन अध्यापनादि के कारण स्वपर कल्याण के महान् कार्य में वे संलग्न होती हैं, उनका चातुर्मास प्रायः सर्वत्र हुआ है, कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश के भव्य जनों के हृदय में उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ दी है। वे सबके हैं, आदृत अवस्था में उनका स्मरण करते रहते हैं। उनकी कृपा से कभी उऋण नहीं हो सकेंगे।

पूज्य माताजी जिस प्रकार ज्ञान की धनी हैं, उसी प्रकार वे प्रवचन में भी पटु हैं, आराधना और पीयूष हैं, बनकर ज्ञानामृत धारी का विस्तार-विवेचन करना और बात है, सबको यह सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। पूज्य विदुषी आर्यिका ज्ञानमती में यह विशेषता है कि वे अपने हस्तगत ज्ञान को दूसरों के सामने करतलामलकवत् सुस्पष्ट रूप से रख सकती हैं। कठिन से कठिन विषयों को सरल बनाकर लोक के सामने रखने में आप सिद्ध हस्त हैं।

भारत की राजधानी देहली में उन्होंने भगवान महावीर निर्वाण रजत जयंती वर्ष में हस्तिनापुर त्रिलोक शोध संस्थान सदृश आवश्यक व अनिवार्य कार्य का जो नेतृत्व किया है वह अभिनन्दनीय है। उस त्रिलोक शोध-संस्थान भवन का यह महान् कार्य कलश के रूप में सिद्ध होगा, माताजी का कार्य अनुपम है। युक्त है, मुसाध्य है, सर्वजनोपयोगी है। केवल उनके प्रति अनन्य भक्ति होने से ही यो हमसब उन्हें समर्पित किये हैं।

ज्ञानामृत भवन
सोलापुर (महाराष्ट्र)
१ जून १९७४

ब्रह्मचारी पार्श्वनाथ शास्त्री

प्राक्-कथन

आ० विद्यानन्द और उनके ग्रन्थ-वाक्यों का अपने ग्रन्थों में उल्लेखादिरूप से उल्लेख करने वाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के समुल्लेखों तथा विद्यानन्द की स्वयं की रचनाओं पर से जो उनका संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है उस पर से विदित है[1] कि विद्यानन्द वर्तमान मैसूर राज्य के पूर्ववर्ती गंगराजाओं—शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और उसके उत्तराधिकारी राजमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) के समकालीन विद्वान् हैं। इनका कार्यक्षेत्र मुख्यतया इन्हीं गंगराजाओं का राज्य मैसूर प्रान्त का वह भाग था, जिसे 'गंगवाडि' प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसवी चौथी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा और आठवीं शती के भी पुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वाधिकारी) के राज्यकाल में वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखों तथा दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जैनधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्दि ने इसकी स्थापना में भारी सहायता की थी और आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि इस राज्य के संस्थापक दुर्विनीत (लगभग ई० ५००) के राजगुरु थे। अतः आश्चर्य नहीं कि ऐसे जिनशासन और जैनाचार्य भक्त राज्य में विद्यानन्द ने बहुवास किया हो और वहाँ अपने बहुत समय साध्य विशाल तार्किक ग्रन्थों का प्रणयन किया हो। कार्यक्षेत्र की तरह संभवतः यही प्रदेश उनकी जन्मभूमि भी रहा ज्ञात होता है, क्योंकि अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उल्लिखित इस प्रदेश के राजाओं की उन्होंने पर्याप्त प्रशंसा एवं गुणगान किया है।[2] इन्हीं तथा दूसरे प्रमाणों से विद्यानन्द का समय इन्हीं राजाओं का काल स्पष्ट ज्ञात होता है। अर्थात् विद्यानन्द ई० ७७० से ८४१ के विद्वान् निश्चित होते हैं।[3]

विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य, सूक्ष्म प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, गम्भीर विचारणा, बहुश्रुत अध्ययनशीलता, अपूर्व तर्कणा आदि के सुन्दर और आश्चर्यजनक उदाहरण उनकी रचनाओं में पद-पद पर मिलते हैं। उनके ग्रन्थों में प्रचुर व्याकरण के सिद्धि प्रयोग, अनूठी पद्यात्मक काव्य रचना, तर्कांगित वादचर्चा, प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शि चित्र खींचने की अद्भुत शक्ति उन्हें निःसन्देह उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठतम कवि, अद्वितीय वादी, बहुश्रुत सैद्धान्ती और सच्चा जिनशासनभक्त सिद्ध करने में पूरक्षम समर्थ हैं। वस्तुतः विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ्मय में कम-से-कम जैन परम्परा में तो दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियाँ उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र, लघु समन्तभद्र, अभिनव धर्मभूषण, उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिए पथप्रदर्शक एवं अनुकरणीय सिद्ध हुई हैं। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख महाँ अकलङ्क देव के वाङ्मय का उपजीव्य है, वहाँ वह विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षा आदि तार्किक रचनाओं का भी आभारी है। उस पर उनका उल्लेखनीय प्रभाव है।[4] वादिराज सूरि[5] (ई० १०२५) ने लिखा है कि यदि विद्यानन्द अकलङ्क देव के वाङ्मय का रहस्योद्घाटन न करते तो उसे कौन

---

१. देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित 'आप्त-परीक्षा' की प्रस्तावना।
२. वही, प्रस्तावना पृ० ५३ तथा ५४। ३. वही, प्रस्तावना पृ० ५३ तथा ५४।
४. प्रमाण परीक्षा और परीक्षा मुख की तुलना देखें—आ० प० प्रस्तावना पृ० २८–२९।
५. न्यायविनिश्चयविवरण भाग २, पृ० १३१।

समझ सकता था। विदित है कि विद्यानन्द ने अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा द्वारा समन्तभद्र की अत्यन्त जटिल एवं दुरूह रचना अष्टशती के तात्पर्य को 'अष्टसहस्री' व्याख्या में उद्घाटित किया है। पार्श्वनाथ चरित में भी वादिराज ने विद्यानन्द के तत्त्वार्थालङ्कार (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक) तथा देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए यहां तक लिखा है—'आश्चर्य है कि विद्यानन्द के इन दीप्तिमान् अलङ्कारों की चर्चा करने-कराने और सुनने-सुनाने वालों के भी अङ्गों में आनन्द आ जाती है तब फिर उन्हें धारण करने वालों की तो बात ही क्या है।' प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र और वादिभूषण की कृतियों भी विद्यानन्द के अधिक ऋणी की उद्घोषणा है। उन्होंने इनके ग्रन्थों से स्थल के स्थल उद्धृत किए और अपने अभिप्राय को उनसे पुष्ट किया है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री को लिखने विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "हजार शास्त्रों को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए, इसी से ही समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान हो जायेगा' पढ़कर यशोविजय भी इतने विभोर एवं मुग्ध हुए कि उन्होंने उस पर 'अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण, नाम की सरल व्याख्यालेखी अपूर्व विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस तरह हम देखते हैं कि आ० विद्यानन्द एक उच्चकोटि के प्रभावशाली दार्शनिक एवं तार्किक थे तथा उनकी अनूठी दार्शनिक कृतियां भारतीय विशेषतः जैनवाङ्मयाकाश की दीप्तिमान् नक्षत्र हैं।

जैन दर्शन को उनकी अपूर्व देन

विद्यानन्द ने जैन दर्शन को दो तरह से समृद्ध किया है। एक तो अपनी कृतियों के निर्माण से और दूसरे उनमें कई विषयों पर किए गए नये चिन्तन से। हम यहां उनके इन दोनों प्रकारों पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

(क) कृतियां

जैन दर्शन के लिए विद्यानन्द की जो सबसे बड़ी देन है, वह है उनकी महत्वपूर्ण रचनाएं। वे ये हैं—

(१) विद्यानन्द महोदय, (२) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, (३) अष्टसहस्री, (४) युक्त्यनुशासनालङ्कार, (५) आप्तपरीक्षा, (६) प्रमाण परीक्षा, (७) पत्र-परीक्षा, (८) सत्यशासन परीक्षा और (९) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र। इनमें तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री और युक्त्यनुशासनालङ्कार ये तीन व्याख्या-ग्रन्थ हैं और शेष उनके मौलिक ग्रन्थ हैं।

(१) भावना-विधि-नियोग—इसमें सन्देह नहीं कि आ० विद्यानन्द का दर्शनशास्त्रीय अभ्यास अपूर्व था। वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्ध दर्शनों के वे निष्णात विद्वान् थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में इन दर्शनों के जो विशद पूर्व-पक्ष प्रस्तुत किए हैं और उनकी जैसी मार्मिक समीक्षा की है, उससे स्पष्टतया विद्यानन्द का इनका दर्शनों का अत्यन्त सूक्ष्म और गहरा अध्ययन जाना जाता है। किन्तु मीमांसा दर्शन की भावना-नियोग और वेदान्त दर्शन की विधि सम्बन्धी कुछ चर्चा को जब हम उन्हें अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री में विस्तार के साथ करते हुए देखते हैं, तो उनकी असाधारण विद्वत्ता, असाधारण प्रतिभा और सूक्ष्म प्रज्ञा पर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। उनका मीमांसा और वेदान्त दर्शनों का कितना गहरा और तलस्पर्शी पाण्डित्य था, यह सहृदय ही उनका पाठक जान जाता है। जहां तक हम जानते हैं, जैन वाङ्मय में यह भावना-नियोग-विधि की दुरूहवाह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्णबुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही की गई है और इसलिए जैन दर्शन को यह उनकी अपूर्व देन है। मीमांसा दर्शन की जैसी और जितनी सरल मीमांसा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में है वैसी और उतनी जैन वाङ्मय की अन्य कृतियों में नहीं है।

(१) सह-क्रमानेकान्त की परिकल्पना—आचार्यसमन्तभद्र स्वामी ने द्रव्य का लक्षण गुण और पर्यायवत्त प्रतिपादित किया है, यद्यपि यही लक्षण आचार्य कुन्दकुन्द भी प्रकट कर चुके हैं। इस पर शङ्का की गई कि 'गुण' संज्ञा तो इतर दार्शनिकों (वैशेषिकों) की है, जैनों की नहीं। उनके यहां तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित है और इसी से उनके ग्राहक द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो ही नयों का उपदेश है। यदि गुण भी उनके यहां मान्य हो तो उसको ग्रहण करने के लिए एक और तीसरे गुणार्थिक नय की भी व्यवस्था होना चाहिये? इस शङ्का का समाधान विद्यानन्द, अकलङ्क और विद्यानन्द तीनों तार्किकों ने किया है। विद्यानन्द ने[1] बतलाया कि 'गुण' पर्याय से भिन्न नहीं—पर्याय में ही गुण संज्ञा वैशेषिक में स्वीकृत है और इसलिए गुण तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक नय द्वारा ही गुण का ग्रहण होने से गुणार्थिक नय पृथक् उपदिष्ट नहीं है। अकलङ्क[2] कहते हैं कि द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है तथा सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये सब उसके पर्याय वाचक हैं। तथा विशेष, भेद, पर्याय ये तीनों विशेष के पर्यायवाची हैं। अतः सामान्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। अतएव गुण का पृथक् द्रव्यार्थिक नय ही है, इसलिये पृथक् गुणार्थिक नय प्रतिपादित नहीं हुआ। अथवा गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं है—पर्याय का ही नाम गुण है।

विद्यानन्द और अकलङ्क के इन समाधानों के बाद भी शङ्का उठायी गयी कि यदि गुण, द्रव्य या पर्याय से अतिरिक्त नहीं है तो द्रव्य लक्षण में गुण और पर्याय दोनों का निर्देश क्यों किया? 'गुणवद् द्रव्यम्' या 'पर्यायवद् द्रव्यम्' इतना ही लक्षण पर्याप्त था? इसका उत्तर विद्यानन्द ने[3] जो दिया वह बहुत ही महत्वपूर्ण एवं सूक्ष्म प्रज्ञता से भरा हुआ है। वे कहते हैं कि वस्तु दो तरह के अनेकान्तों का रूप (पिण्ड) है—१ सहानेकान्त और २ क्रमानेकान्त। सहानेकान्त का ज्ञान कराने के लिए गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त का निश्चय कराने के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य कहा है। अतः द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनों पदों का निर्देश सुघट एवं सार्थक है।

जहां तक हम जानते हैं, विद्यानन्द से पूर्व अकलङ्क देव ने सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्त के भेद से दो प्रकार के अनेकान्तों का तो प्रतिपादन किया है। परन्तु सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो तरह के अनेकान्तों का कथन विद्यानन्द से पूर्व उपलब्ध नहीं होता। इन अनेकान्तों के कथन और उनकी सिद्धि के लिए द्रव्य लक्षण में गुण तथा पर्याय दोनों शब्दों के निर्देश का समाधान विद्यानन्द की अद्भुत प्रतिभा का सुपरिणाम है। उनका यह समाधान और स्पष्ट शब्दों में सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तों की परिकल्पना इतनी अभीष्ट एवं सबल सिद्ध हुई कि स्याद्वादसिद्धिकार आ० वादीभसिंह ने[4] उससे प्रेरणा पाकर उक्त अनेकान्तों की प्रतिष्ठा के लिए सहानेकान्त-सिद्धि और क्रमानेकान्तसिद्धि नाम से दो स्वतन्त्र प्रकरणों की सृष्टि स्याद्वादसिद्धि में की है तथा उनका विस्तृत विवेचन किया है।

(२) व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुविवेचन—आम्नाय के क्षेत्र में तो व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु का विवेचन किया ही जाता है, पर तर्क के क्षेत्र में भी उनके द्वारा वस्तुविवेचन हो सकता है, यह दृष्टि हमें विद्यानन्द से प्राप्त होती है। उन्होंने इन दोनों नयों से अनेक स्थलों में वस्तु-विवेचन किया है। 'निश्चिकाशि

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत यदैव स्वसमय-परसमयसद्भावः॥ अष्टस. पृ० १५०।

१. देखिए सन्मतिसूत्र ३-९, १०, १२। २. देखिए, तत्त्वार्थवार्तिक ५-३७।

३. गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्त सिद्धये।
तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्त सिद्धये॥ तत्त्वा० श्लो० पृ० ४१८।

४. स्याद्वाद सिद्धि ३-१ से ३-७४ तथा ४-१ से ४-८६।

च' (त० सू० ५-७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए वे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ४००) में लिखते हैं, कि निश्चयनय से सभी वस्तुएं कथंचित् निष्क्रिय हैं और व्यवहारनय से कथंचित् सक्रिय हैं। लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों में आधारक्षेत्रता का विचार करते हुए वे कहते हैं कि व्यवहारनय से लोकाकाश तथा धर्मादि द्रव्यों में आधारक्षेत्रता है तथा निश्चयनय से उनमें उसका अभाव है। उनका तर्क है कि निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य अपने में अवस्थित होता है। अन्य द्रव्य की स्थिति अन्य द्रव्य में नहीं होती, अन्यथा उनका अपना प्रातिस्विक रूप न रहकर उनमें स्वरूप-सांकर्य हो जायेगा। इसी तरह सब द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्यवस्था करते हुए वे त० सू० ५-३९ टीका में लिखते हैं[1] कि निश्चयनय से सभी द्रव्यों की उत्पादादि व्यवस्था विस्रसा (स्वभावतः) है। व्यवहारनय से उनके उत्पादादिक सहेतुक हैं। अतः व्यवहार और निश्चयनय के स्वरूप को समझ कर द्रव्यों की आधारक्षेत्रता तथा कार्यकारण भाव की व्यवस्था जहाँ जिस नय से की गई हो उसे उसी नय से जानना चाहिए। इस तरह विद्यानन्द का व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु विचार भी जैन दर्शन के लिए उनकी एक अपूर्व उपलब्धि है।

(४) उपादान और निमित्त का विचार—यों तो कारणों का विचार सभी दर्शनों में है और उनकी विस्तार से चर्चा की गई है किन्तु जैन दर्शन में उसका चिन्तन बहुत सूक्ष्म किया गया है। कार्य की उत्पत्ति में कितने कारणों का व्यापार होता है, इस सम्बन्ध में न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है कि समवायि, असमवायि और सहकारी इन तीन कारणों का व्यापार कार्योत्पत्ति में होता है। बौद्धदर्शन का मत है कि उपादान और सहकारी इन दो ही कारणों से कार्य उत्पन्न होता है। सांख्य दर्शन भी कारणों का विचार करता है, लेकिन उसका दृष्टिकोण कार्य की उत्पत्ति से न होकर उसके आविर्भाव से और कारण से तात्पर्य केवल उपादान से है। जो भी अनेक अथवा विरूप कार्य उत्पन्न होता है वह एकमात्र प्रकृति रूप उपादान से होता है, उसका कोई प्रकृति से भिन्न सहकारी कारण नहीं है। जैन दर्शन यद्यपि बौद्ध दर्शन की तरह प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्त इन दो कारणों को स्वीकार करता है। परन्तु बौद्ध दर्शन की मान्यता से जैन दर्शन की मान्यता में बड़ा अंतर है। बौद्ध दर्शन पूर्व क्षणादिक्षण को उत्तरक्षणादि क्षण में उपादान तथा रूपादि को सहकारी मानता है। पर जैनदर्शन अन्वय-रहित पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य को उपादान और कालादि सामग्री को निमित्त स्वीकार करता है। यहाँ हम विद्यानन्द के सूक्ष्म चिन्तन के दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

प्रश्न है[2] कि उपादान के नाश से उपादेय की उत्पत्ति होती है। सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान का उपादान है। अतः सम्यक्ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर सम्यक्दर्शन का नाश हो जाना चाहिए? इसके उत्तर में विद्यानन्द कहते हैं कि उपादेय की उत्पत्ति में उपादान का नाश कथंचित् इष्ट है, सर्वथा नहीं, अन्यथा, कार्य की उत्पत्ति कभी भी न हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि दर्शन परिणाम से परिणत आत्मा ही वस्तुतः दर्शन है और वह विशिष्ट ज्ञान 'परिणाम की उत्पत्ति का उपादान है। आत्म रहित केवल पर्याय या केवल जीव द्रव्य उसका उपादान नहीं है, क्योंकि केवल पर्याय या केवल जीवादि द्रव्य कूर्मरोम आदि की तरह अवस्तु है। इसी तरह दर्शन-ज्ञान परिणत जीव-दर्शन-ज्ञान है और दर्शन-ज्ञान चारित्र का उपादान है, क्योंकि पर्याय विशेष परिणत द्रव्य उपादान है, जिस प्रकार घट परिणमन में समर्थ पर्यायरूप मिट्टी द्रव्य घट का उपादान होता है। विद्यानन्द[3] उपादान का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—'जो पूर्व रूप को छोड़ता हुआ तथा अपूर्व रूप को न छोड़ता हुआ तीनों कालों में भी विद्यमान रहता है उस द्रव्य को उपादान कहा गया है। किन्तु जो सर्वथा अपने रूप को छोड़ देता है अथवा जो बिल्कुल नहीं छोड़ता वह किसी भी वस्तु का उपादान नहीं है। जैसे सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य।' विद्यानन्द ने

१. त० श्लो० पृ० ४०८-४११। २. त० श्लो० पृ० ४१०। ३. तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ६८-६९।

उपादान के इसी लक्षण को सामने रखकर सर्वत्र उपादानोपादेय की व्यवस्था की है। यह तो हुआ उनके उपादान का विचार।

इसी प्रकार उन्होंने[1] निमित्त-सहकारि कारण का भी चिन्तन किया है। वे लिखते हैं कि बिना सहकारी सामग्री के उपादान कार्यजनक में समर्थ नहीं है। जब तक मोहोदय केवलि गुणस्थान का उपशम्य और क्षय्य समय प्राप्त नहीं होता तब तक ज्ञानावरणादिक कर्मों के निर्जरण की शक्ति प्रकट नहीं होती और न मुक्ति ही सम्भव है। अतः मोहोदय केवली का क्षय्य क्षण ही शेष कर्मों के क्षय में कारण है। इस तरह सहकारी सापेक्षित उपादान कार्यजनक है, अकेला नहीं। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्द का यह उपादान और निमित्त सम्बन्धी चिन्तन जैन दर्शन के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को पुष्ट करता है।

इस तरह आचार्य विद्यानन्द की जैन दर्शन को कितनी ही नयी देनें हैं जो उसे गौरवास्पद और सर्वादरणीय बनाती हैं।

अष्टसहस्री का प्रस्तुत संस्करण

आचार्य विद्यानन्द की कृतियों का पीछे उल्लेख कर आये हैं। अष्टसहस्री उन्हीं में से एक महनीय कृति है। इसका सन् १९१५ में सेठ नाथारङ्ग जी गाँधी द्वारा आज से ५९ वर्ष पूर्व एक बार प्रकाशन हो चुका है। किन्तु उसका हिन्दी-रूपान्तर अब तक नहीं हो सका था। अत्यन्त प्रमोद की बात है कि अनेकान्त ज्ञानोपासकों में ही नहीं, चारित्राराधनादि पंचाचार में सतत निरत चुल्लक माता श्री ज्ञानमती जी ने इस अभाव की पूर्ति का सफल एवं स्तुत्य प्रयत्न किया है। अष्टसहस्री कितना जटिल और दुरवगाह दार्शनिक ग्रन्थ है, इसे सकल विद्वान् जानते हैं। एक ही स्थल पर बौद्धदर्शन की चर्चा करते-करते अन्य दर्शनों की भी चर्चा आ जाती है, जिसे समझना साधारण बुद्धि का कार्य नहीं है। उसे समझने-समझाने के लिए बुद्धि का बहु-आयाम करना पड़ता है। जिसका सभी भारतीय दर्शनों में गहरा प्रवेश होगा, वही अष्टसहस्री का मर्मोद्घाटन कर सकता है। माता जी ने इस दुरवगाह ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करके जिस साहस एवं बुद्धि-वैभव का परिचय दिया है वह निःसंदेह स्तुत्य है।

आत्मानुरागी श्री मोतीचन्द जी सर्राफ द्वारा प्रेषित माता जी के अष्टसहस्री-अनुवाद के कुछ मुद्रित फर्मों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्हें 'स्याद्वाद-चन्द्रोदय' नाम से देखकर हम अनुभव करते हैं कि माता जी ने गहराई से ग्रंथ का अध्ययन कर यह हिन्दी-रूपान्तर लिखा है। भारतीय दर्शनों का उनका तलस्पर्शी अभ्यास भी स्पष्टतया अवगत होता है। बुद्धि वैभव और अध्यवसाय से भरे माता जी के इस महान् प्रयत्न की हम सराहना करते हैं। इसके लिए हम ही नहीं, समस्त समाज एवं विद्वद्वर्ग उनका आकृत है। उनके द्वारा जिनशासन की अधिक काल तक प्रभावना हो, यही मंगल-कामनाएँ हैं।

वीर-शासन-जयन्ती
श्रावण कृष्णा १, वी. नि. सं० २५००
२ जुलाई, १९७४,
वाराणसी-५

डॉ० दरबारीलाल कोठिया
[रीडर, जैन-बौद्ध दर्शन]
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

---

१. स्वकृतात्यक्तात्मकर्म वस्तुवर्तिपूर्वेण वर्तते। कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥
यत्स्वकर्म त्यजत्येव तच्च त्यजति सर्वथा। तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं नान्यवत् यथा ॥२॥ अष्ट स० पृ० २१०।
स्वसामग्र्या बिना कार्यं न हि जातुचिदीक्षते।
कालादिलब्धमात्रोक्तो हि मोहक्षयस्तदुपाधिर्भावहेतुर्न केवलः तथाऽप्रतीतेः।
क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणिप्रथम क्षणे। यथा क्षीणकषायस्य क्षीणरस्यक्षणे मता ॥
ज्ञानावृत्यादि कर्माणि हन्तु तद्भवयोगिनः। पर्यन्त क्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽक्षमौ ॥ स० श्लो० पृ० ७०-७१।

मंगल-स्तोत्र

यह अष्टसहस्री आप्तमीमांसा की व्याख्या है। अब प्रश्न है कि स्वामी समन्तभद्र ने यह आप्तमीमांसा जिस 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मङ्गल-स्तोत्र में स्तुत आप्त की मीमांसा (समीक्षा) में लिखी है और स्वयं विद्यानन्द ने भी स्तोत्रगत आप्त की परीक्षा में आप्त परीक्षा रची है, वह महत्त्वपूर्ण मंगल-स्तोत्र तत्त्वार्थ सूत्र का मंगलाचरण है या सर्वार्थसिद्धि का ? इस प्रश्न पर भी विचार लेना आवश्यक है।

इस विषय में पर्याप्त ऊहापोह हुआ है। कुछ विद्वानों का मत रहा कि उक्त मंगल-पद्य सर्वार्थ सिद्धि के आरम्भ में उपलब्ध होने और उस पर सर्वार्थ सिद्धिकार की व्याख्या न होने से उसी का मंगलाचरण है, तत्त्वार्थ-सूत्र का नहीं। सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थ सूत्र के अवतरण की जो प्रश्नोत्तर रूप उत्थानिका दी गई है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थसूत्र के आरम्भ में मंगलाचरण किये बिना ही उसकी रचना की है।

इसके विपरीत दूसरे अनेक विद्वानों का स्पष्ट अभिमत है, कि सूत्रकार ने, जिन्हें शास्त्रकार भी कहा गया है, तत्त्वार्थ सूत्र के आदि में मंगलाचरण किया है और वह 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगल-स्तोत्र है। सर्वार्थसिद्धि में यहीं से वह लिया गया है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ परम आर्हतिक थे। वे मंगलाचरण की प्राचीन परम्परा का, जो षट्खण्डागम, कषायपाहुड आदि आगम ग्रन्थों में भी उपलब्ध है, उल्लंघन नहीं कर सकते। अतः उक्त पद्य उन्हीं द्वारा तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ में रचित मङ्गल-स्तोत्र है। वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि ने उसे अपनी टीका सर्वार्थ सिद्धि में अपना लिया है और अपना लेने से उन्होंने उसकी व्याख्या नहीं की।

इस सम्बन्ध में डाक्टर दरबारीलाल कोठिया ने ऊहापोहपूर्वक सूक्ष्म एवं गम्भीर विचार किया है और 'तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण' शीर्षक अपने दो विस्तृत निबन्धों में[1] आचार्य विद्यानन्द के प्रचुर ग्रन्थोल्लेखों एवं अन्य प्रमाणों से सबलता के साथ सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ में 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' [१-१] सूत्र से पहले मंगलाचरण किया है, और वह उक्त 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल-स्तोत्र है, जिसे विद्यानन्द ने[2] 'शास्त्रकारकृत स्तोत्र' बतलाते हुए 'तीर्थोपम', 'प्रथित-पृथु-पद्य' और 'स्वामि-मीमांसित' जैसे सार्थक महत्त्वपूर्ण विशेषणों से पुरस्कृत किया है।[3] विद्यानन्द का उसे शास्त्रकारकृत बतलाना, तीर्थोपम कहना, प्रथित-पृथु-पद्य-प्रसिद्ध-महामार्ग प्रकट करना और स्वामी द्वारा मीमांसित निरूपित करना ये सभी बातें विशेष महत्त्वपूर्ण एवं सार्थ हैं। आगे डाक्टर कोठिया ने बल देते हुए लिखा है, कि विद्यानन्द के[4] इन तथा अन्य उल्लेखों

---

१. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६, ७ तथा १०, ११, वीर सेवा मन्दिर, सन् १९४४।

२. आप्तपरीक्षा, कारिका १ व १२३ वीर सेवा मन्दिर-संस्करण, सन् १९४९।

३. श्री मत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत-सलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पदं स्वामि-मीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै॥

४. इति तत्त्वार्थशास्त्राद्रि मुनीन्द्रस्तोत्र-वज्रभृता।
प्रभीताऽऽप्तपरीक्षेयं विहायः-पथिभिर्धृतये॥ —आप्त परीक्षा, का० १२३, १२४; पृ० २६५।

से स्पष्ट है 'कि स्वामी समन्तभद्र ने इसी मंगल-स्तोत्र पर उसके व्याख्यान में 'आप्तमीमांसा' लिखी और स्वयं विद्यानन्द ने भी उसी की व्याख्या में अष्टसहस्री के अतिरिक्त 'आप्तपरीक्षा' रची। सूत्रकार एवं शास्त्रकार पदों से विद्यानन्द का स्पष्ट अभिप्राय तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ से है, तत्त्वार्थ वृत्तिकार आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि से नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में उक्त मंगल-स्तोत्र को अपना मङ्गलाचरण बना लिया गया है और इसी कारण उसकी व्याख्या नहीं की गयी। सर्वार्थसिद्धि में भी तत्त्वार्थशास्त्र के अवतरण की प्रश्नोत्तर रूप उत्थानिका दी गयी है, उसका यह अर्थ नहीं कि प्रश्नकर्ता शब्द के प्रश्न करने पर आचार्य ने सारा व्याख्यान देकर उसे तत्काल लिखा दिया है। अपितु उसने मोक्ष और मोक्षमार्ग की जिज्ञासा प्रकट की। तदनुसार आचार्य ने इसकी या उस जैसे अनेक धर्मों की जिज्ञासा-शांति के लिए उक्त प्रकार के शास्त्र-निर्माण की आवश्यकता अनुभव करके 'तत्त्वार्थ सूत्र' शास्त्र की रचना की और उसके आरम्भ में पूर्व परम्पराानुसार उक्त स्तोत्र को मंगलाचरण के रूप में लिखा दिया।

अतः मंगल-स्तोत्र के विषय में अधिक न लिखकर अब इतना ही लिखना पर्याप्त है, कि यह आचार्य गृद्धपिच्छरचित तत्त्वार्थ सूत्र का ही मंगलाचरण है, सर्वार्थ सिद्धि का नहीं।

इस विषय में पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी ने अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिक ग्रन्थ से अनेकों प्रमाण निकाले हैं। उनमें से कुछ उदाहरण मात्रा के रूप में यहाँ दिये जा रहे हैं—

अष्टसहस्री के मंगलाचरण में ही प्रारम्भ में "शास्त्रावतार रचितस्तुतिगोचरत्वमीमांसित कृतिरलं विद्यते तावत्" इस उत्तरार्द्ध में श्री विद्यानंदि महोदय ने स्पष्ट कह दिया है कि शास्त्रावतार—तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र के प्रारम्भमें रचित स्तुति के गोचर जो आप्त हैं उनकी मीमांसा रूप यह कृति मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

टिप्पणीकार श्री मल्लिषेण ने भी इसे अत्यधिक विस्तृत कर दिया है—

"इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंपदा अखिलप्रत्यक्षैकबुद्धभूत-केवलिश्रुतपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमासादयितुकामैरुमास्वामिपादाचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गंधहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नतः स्याद्वादविद्याप्रभवः श्रीस्वामिसमंतभद्राचार्यस्तत्र मंगलपुरस्सर-स्तवविषयपरमाप्त-गुणातिशय-परीक्षामुपक्षिप्तवंतो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे।"

तत्त्वार्थाधिगमाख्यमोक्षशास्त्र के ऊपर 'गंधहस्ति' नाम का महाभाष्य लिखते हुए श्री समंतभद्र स्वामी ने मंगलाचरण में स्तुति के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणों के अतिशयों की परीक्षा करते हुये 'देवागम' नामक प्रवचनतीर्थ की सृष्टि को बनाया है।

स्वयं श्री विद्यानंद महोदय ने छठी कारिका की उत्थानिका में—"अस्त्वसौ मार्गस्य कस्यचित्कर्म भूभृद्भित्तिप्रभिन्न विश्व तत्त्व साक्षात्कारित्वं, प्रमाण सद्भावात्। स तु परमात्माईन्नेवेति कथं निश्चयो मतोऽस्मेव महानभिनिवेशो भवतामिति·····"।

कर्म पर्वत भेदन करने वाले के समान कोई महापुरुष विश्व तत्त्व को साक्षात् करने वाले हो जावें, किन्तु वह परमात्मा अर्हंत ही हैं ? यह निश्चय कैसे हुआ कि जिससे 'मैं ही आपके द्वारा अभिवंद्य होऊँ, अतः ऐसा प्रश्न श्री समंतभद्र ने स्वयं भगवान् के सामने रखा है। आगे सातवीं कारिका की उत्थानिका में भी कहते हैं कि—"अगत्यैवैतत् एव मुक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्वमीश्वरादस्यावगतम्। अतस्त्वमेव मङ्गल मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः।"

इन वाक्यों से यह बात स्पष्ट है कि 'मोक्ष मार्ग के नेता, कर्म पर्वत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता' इन तीन विशेषणों से ही अर्हंत को सच्चा आप्त सिद्ध किया जा रहा है, अतएव अर्हंत में ये तीन विशेषण घटित होते हैं इसलिये ही वे सच्चे आप्त हैं। यह सिद्ध किया गया है।

आगे और देखिये—अन्तिम ११४ वीं कारिका की टीका में भी अष्टसहस्रीकार क्या कहते हैं—

"शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेतृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्-सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।"

शास्त्र के आरम्भ में स्तुति को प्राप्त जो आप्त हैं, वे 'मोक्षमार्ग के प्रणेता, कर्म पर्वत के भेत्ता और विश्वतत्त्व के ज्ञाता' इन तीन विशेषणों से युक्त भगवान् अर्हंत सर्वज्ञ ही हैं, अन्य कोई नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार अन्य योग का व्यवच्छेद करके भगवान् अर्हंत में ही इन विशेषणों की व्यवस्था को करने में तत्पर यह परीक्षा की गई है। यह है सारे अष्टसहस्री ग्रन्थ का अंतिम उपसंहार। यह मंगलाचरण श्री उमास्वामी आचार्य-कृत ही है, इस बात को सिद्ध करने के लिये इससे बढ़कर सबल प्रमाण और क्या हो सकता है? पूज्य श्री ज्ञानमती माता जी आश्चर्यपूर्वक कह रही हैं, कि यह मंगलाचरण श्री उमास्वामी कृत है या नहीं? विद्वानों में ऐसी शंका कहां से उत्पन्न हो गई?

श्लोकवार्तिकालंकार ग्रन्थ में भी श्री विद्यानंद महोदय ने स्थान-स्थान पर इस बात को स्पष्ट किया है। देखिये!

'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थसाक्षात्प्रक्षीणकल्मषे। सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥१॥

तस्यां तत्परिणिप्सायामुपयोगात्मकात्मनः। येनेदं शास्त्रमारब्धं प्रभूतं सूत्रमादिमम् ॥२॥

कल्याणमार्ग के अभिलाषी अनेक शिष्यों की मोक्षमार्ग जानने की इच्छा होने पर ही 'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं.....' इस अच्छी तरह सिद्ध किये गये मंगलाचरण की भित्ति पर ही श्री उमास्वामी महाराज ने पहला सूत्र लिखा है। जिन्होंने केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ जान लिये हैं, ज्ञानावरण आदि घाति कर्म नष्ट कर दिये हैं तथा मोक्षमार्ग को प्राप्त करने और कराने वाले मुनि पुंगवों द्वारा स्तुति करने योग्य हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव के सिद्ध होने पर ही तथा ज्ञानदर्शनोपयोग स्वरूप और मोक्ष से युक्त होने वाले शिष्य की मोक्षमार्ग को जानने की तीव्र अभिलाषा होने पर यह पहला सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' उमास्वामी आचार्य ने प्रचलित किया है।

"सिद्धे मोक्षमार्गस्य नेतरि प्रकर्षेण सूत्रं सूत्रकारादिमं शास्त्रस्येति"।

"तत्रो' नि: शेषतत्त्वार्थवेदी प्रक्षीणकल्मषः। येनेदं मोक्षमार्गस्य नेतारित्स च संस्तुतस्तदर्थिभि." ॥४६॥

इन सभी प्रमाणों से सर्वथा यह बात सिद्ध हो जाती है कि मंगलाचरण भी सूत्रकार उमास्वामी आचार्य-कृत ही है।

---

१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार प्रथम खंड, पृ० ४०। २. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार प्र० खं० पृ० ५८।
३. तत्त्वार्थ श्लोक पृ० १४६।

श्री उमास्वामी आचार्य ने 'गागर में सागर' को भरने वाली कहावत को पूर्णतया चरितार्थ कर दिया है। उनके इस तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के ऊपर अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थ तैयार हो गये हैं। जब एक मंगलाचरण के ऊपर आप्त मीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्री जैसे जैन दर्शन के सर्वोपरि ग्रन्थ बन गये। आप्तपरीक्षा ग्रन्थ बन गया। तब उस ग्रन्थ की महत्ता और विशेषता की जितनी भी गौरव गाथायें गाई जायें, थोड़ी ही हैं। यही कारण है कि आज भी भारतवर्ष में दक्षिण-उत्तर आदि प्रान्तों में हजारों नर-नारी इस तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ बड़ी भक्ति से करते हैं और एक उपवास करने का फल समझते हैं। बहुत-सी महिलाओं का तो नियम ही रहता है कि 'तत्त्वार्थसूत्र सुने बिना भोजन नहीं करना'। कहा भी है—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति। फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

दश अध्याय से परिपूर्ण इस तत्त्वार्थसूत्र को पढ़ने पर एक-उपवास का फल प्राप्त होता है ऐसा श्री मुनियों में श्रेष्ठ मुनियों ने कहा है।

इस ग्रन्थ का यह मंगलाचरण सच्चे आप्त-देव को सिद्ध करने में सर्वोपरि मान्य अकाट्य उपाय है। ऐसा समझना चाहिए।

ब्र० भारती शास्त्री, न्यायालंकार

इस अष्टसहस्री ग्रंथ का अनुवाद तथा प्रकाशन क्यों ? कब ? एवं कैसे ?

लेखक—पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर

मोती मालाएं पन्ना आदि बिखेरकर अथवा रंग बिरंगे फूलों से बुनी गई माला जिस प्रकार से वक्षस्थल की शोभा बढ़ाती है उसी प्रकार से समंतभद्राचार्य ने भगवान् की भक्ति उनकी परीक्षाओं में कसते हुए देवागम स्तोत्र की रचना की। उस स्तोत्र को ही आधार बनाकर भट्टाकलंकदेव ने अष्टशती का निर्माण किया तदनंतर उसी स्तोत्र पर विद्यानंद स्वामी ने अब से बारह सौ वर्ष पूर्व अष्टसहस्री का सृजन किया। अष्टसहस्री में देवागम स्तोत्र को ऐसा गूंथा कि जिसने स्वामी समंतभद्र का सेहरा बनकर जिनशासन के मस्तक को सौरभान्वित किया।

स्याद्वादशैली की शृंखला में समय-समय पर अनेक दिग्गज विद्वान जैनाचार्यों द्वारा कड़ियां जोड़ते रहने से एक विशाल अर्गल बन गई जिससे एकांतवादियों को जीतना (पराहत करना) सुलभ हो गया। कालचक्र निरंतर चलते हुए भी इस फौलादी शृंखला को काट नहीं सका। यही कारण है कि विलासिता के इस दुर्लभ समय में भी जिनमत का प्रचार-प्रसार निरंतर अविरल गति से हो रहा है।

अनुवाद का ऐतिहासिक—

अष्टसहस्री का अनुवाद समस्त दार्शनिक जगत के लिये एक अनूठी उपलब्धि है। किसी भी मिष्टान्न को खा लेना और उसे खाकर उसका आनन्द प्राप्त करना बहुत ही सुगम है किन्तु उसके बनाने में कितना श्रम लगा यह वही जान सकता है जिसने उसे बनाया है अथवा आद्योपांत बनते देखा है न बनाने में सहयोग दिया है।

किसी भी वस्तु को बनाने वाला या किसी काम को करने वाला जब उसमें तन्मय होता है तब वह उसका स्वाभाविक आस्वाद प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः यहां तक देखने में आता है कि वस्तु के उपभोक्ता से भी अधिक आनंद निर्माता को प्राप्त होता है।

ठीक यही स्थिति ग्रंथ निर्माता आचार्यों की रही है। परम निर्ग्रंथ गुरु भगवान् कुंद-कुंद, पूज्यपाद, समंतभद्र, अकलंकदेव, जिनसेन, पुष्पदंत, भूतबली, अमृतचन्द्र, जयसेन, विद्यानंदि आदि ने आत्मानंद में निमग्न होकर उन्हीं भावों को ताड़पत्रों पर लिपिबद्ध कर दिया। यह उसी का प्रतिफल है कि हम उनका स्वाध्याय करके अपनी आत्मानुभूति का मार्ग खोज रहे हैं। जो आनन्द उन महामुनिराजों ने प्राप्त किया उसका अंश भी हमको अनुपलब्ध है।

अनुवाद का उद्देश्य—

जिस कार्य के बारे में सोचना भी कठिन था ऐसे इस अष्टसहस्री ग्रन्थ का भाषानुवाद पूज्य माताजी ने सहज में करके एक आश्चर्यजनक कार्य कर दिया। अधिकांश प्राचीन ग्रन्थों का सृजन शिष्यों के अध्यापन अथवा प्रश्नों के निमित्त से हुआ है। इस ग्रन्थ का भाषांतर भी माताजी द्वारा साधुओं तथा शिष्यों को अध्ययन कराने के निमित्त से ही किया गया।

विक्रम सं० २०२५ में शांतिवीरनगर (श्रीमहावीरजी) राज० में सम्पन्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अनंतर नूतन आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज विशाल संघ को लेकर वि० आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की निषीधिका के दर्शनार्थ जयपुर खानिया पधारे। जयपुर शहर के श्रावकों के अत्यधिक आग्रह के कारण श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर (बधीचंदजी), मेंहदी वालों का चौक, रामगंज बाजार, बड़ी चौपड़ में चातुर्मास स्थापना हुई।

अनुवाद का शुभारंभ—

वर्षायोग में एक स्थान पर लगातार चार माह तक निश्चित ठहरने के कारण साधुओं का स्वाध्याय अध्ययन विशेष होता है। वरिष्ठता के कारण माताजी ने आर्यिका संघ संबंधी अनेक दैनिक व्यवस्थाओं को सम्हालने के साथ-साथ अध्ययन कराते हुए जब हम लोगों को अष्टसहस्री का अध्ययन कराना प्रारम्भ किया तो मैंने माताजी से निवेदन किया कि इतने बड़े ग्रंथ को मूल से पढ़कर परीक्षा देना हमारे लिये कठिन है।

माताजी ने हमारी प्रार्थना को सुनकर अनुवाद करना ही प्रारम्भ कर दिया। समय बीतने के साथ ही अनुवाद को भी तीव्र गति प्राप्त हो गई। अनुवाद कार्य समाप्ति से पूर्व वि० सं० २०२७ का आगामी चातुर्मास का समय आ गया। इस चातुर्मास का क्षेत्र टोंक (राज०) को प्राप्त हुआ। चातुर्मास समाप्ति तक अनुवाद कार्य भी चरमसीमा को प्राप्त हो चुका था। अनुवाद के समापन का क्षेत्र टोंक जिले में स्थित टोडारायसिंह नगर को प्राप्त हुआ।

इस अष्टसहस्री ग्रंथ में अत्यधिक कठिन समझे जाने वाले भावना नियोग अधिकार को पहले तो माताजी ने भी अनुवाद करने से यह सोचकर छोड़ दिया था कि किसी विद्वान का सहारा लेकर इसका अनुवाद करना पड़ेगा किंतु जब किसी भी विद्वान ने इस कठिन कार्य में हाथ डालने की हिम्मत नहीं की तो स्वयं माताजी ने ही आत्म-विश्वास के साथ भगवान् के समक्ष मंदिर में बैठकर मात्र दस दिन में ही उसे भी पूरा कर दिया।

अनुवाद समापन समारोह—

वि० सं० २०२७ के पौष की सुदी बारस का यह उज्ज्वल दिवस था जिस दिन अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ। इसके तीन दिन बाद ही आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज का ५७वां जन्म दिवस मनाया गया। अनुवाद कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के हर्षोपलक्ष्य में पौष सु० १५ को विशाल रथयात्रा के साथ अष्टसहस्री की अनुवादित हस्तलिखित कापियों को सुसज्जित सुन्दर पालकी में विराजमान करके जुलूस के बाद आरती पूजनादि के द्वारा सही प्रभावना की गई।

प्रकाशन से पूर्व की तैयारी—

माताजी ने तो अनुवाद पूर्ण कर आचार्यों के मनोभावों का रसास्वादन प्राप्त कर लिया किन्तु न्यायदर्शन के पाठक विद्यार्थी एवं स्वाध्याय प्रेमी भी अष्टसहस्री के मर्म को हृदयंगम कर सकें इस पुनीत भावना से इसे अनुवाद सहित शीघ्र प्रकाशित करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। किन्तु प्रकाशन हेतु प्रेस में देने से पूर्व जो सबसे पहली समस्या सामने आई वह थी पुनर्निरीक्षण एवं संशोधन करके प्रेस कापी तैयार करने की। इस कार्य के लिये बड़ी आशाएं थी परम तपस्वी पूज्य आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज से। किन्तु उनका असमय में ही स्वर्गवास हो गया।

तब आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज को अनुवादित कापियाँ पढ़ने के लिए दी गईं। उन्हें वृद्धावस्था तथा शारीरिक कमजोरी के कारण स्वयं पढ़ने की तो शक्ति नहीं थी अतः कुछ पृष्ठ पढ़कर सुनाये गये। जिस पर

उन्होंने अतीव संतोष व्यक्त करते हुए कई बार ये शब्द कहे कि—"अनुवाद बहुत ही सरल, स्पष्ट एवं प्रभावक हुआ है। साथ ही यह भी कहा कि माताजी स्वयं ही एक बार सूक्ष्मता से दृष्टि डालकर परिमार्जित कर दें। अतः माताजी ने अन्य कार्यों को गौण करके अपना अमूल्य समय एवं सम्पूर्ण शक्ति इसी में लगाकर कृति को पूर्ण रूप से विशुद्ध बना दिया।

हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति—

अनुवाद के समय तो केवल छपी हुई प्रति ही सामने थी जो कि निर्णयसागर प्रेस बम्बई की छपी थी। वि० सं० २०२९ के अजमेर चातुर्मास के पश्चात् जब माताजी ब्यावर पधारीं तब पं० हीरालाल जी सिद्धांतशास्त्री ने अष्टसहस्री के अनुवाद को देखने की अभिलाषा व्यक्त की। कुछ पृष्ठों का अवलोकन करके परम संतोष व्यक्त करते हुये इस महान कार्य की भूरि-२ प्रशंसा की। बाद में पं० हीरालाल जी के सौजन्य से ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन ब्यावर के विशाल ग्रंथ भण्डार से जिसमें कि ये देखरहे थे, ४०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलिखित अष्टसहस्री की प्रति प्राप्त हुई। उसमें छपी हुई प्रति से कुछ अधिक टिप्पणियाँ एवं पाठांतर थे जिनसे अर्थ का विशेष स्पष्टीकरण होता है यदि यह प्रति अनुवाद से पूर्व सामने होती तो अनुवाद में जितना श्रम लगा उसमें सहायता मिलती। इस हस्तलिखित प्रति की विशेष टिप्पणियों एवं पाठांतरों को माताजी ने इस ग्रन्थ में जोड़ दिया है।

प्रकाशन का निश्चय—

जब प्रकाशन की तैयारी हो चुकी तो प्रेस की समस्या सामने आई। ब्यावर में तो ऐसी कोई प्रेस उपलब्ध नहीं हुई जिसमें संस्कृत का कार्य हो सके। तब पं० अभयकुमार जी अजमेर (तत्कालीन प्रबंधक-जैन गजट सस्ता-हिक) के सहयोग से केसर आर्ट प्रिंटर्स, हाथी भाटा अजमेर के यहाँ छपाना प्रारम्भ हुआ। संस्कृत प्रूफ रीडिंग एवं पेज कटिंग के लिये कई लोगों से बात की किन्तु कोई उचित व्यक्ति न मिल पाने से अंततोगत्वा प्रूफ रीडिंग का कार्य हमें ही करना पड़ा। पेज कटिंग व फायनल प्रूफ रीडिंग का कार्य आर माताजी पर ही छोड़ा गया क्योंकि और कोई करने में सक्षम भी नहीं था।

प्रकाशन व्यवस्था अजमेर से दिल्ली—

बड़ी कठिनाई से यह व्यवस्था बन पाई थी कि ग्रंथ का विहार दिल्ली के लिए हो गया। पुनः यह समस्या उपस्थित हो गई कि इतनी दूर रहकर यह काम चलाना असम्भव है अतः दिल्ली में संस्कृत का काम करने वाली अनुभवी प्रेस की खोज की गई। भारत प्रेस पहाड़ी धीरज इसके लिये सक्षम रही। अजमेर से छपे हुये फर्मे व अवशेष कागज आने तक छह माह बीत गये एवं प्रेस निर्णय के बाद भी टाइप आदि की व्यवस्था में तीन माह और निकल गये। पुनः वि० सं० २०२९ में भाद्रपद माह के शुभ दिन से छपाई का कार्य मंद गति से चलने लगा।

पूज्य माताजी का अनुवाद सौष्ठव में अपार श्रम

पूज्य माताजी ने अनुवाद करने में जितना श्रम किया है उसके विषय में कलम से लिखना कठिन है। मूल एवं हिन्दी प्रकरणों के शीर्षक बनाना, प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर विषय के अनुसार शीर्षक देना, मूल पंक्तियों के अर्थ के साथ टिप्पणियों के अर्थ को जोड़ना, अर्थ के अनंतर स्थान-स्थान पर भावार्थ एवं विशेषार्थ के द्वारा अति स्पष्ट रूप में प्रकरण के रहस्य को प्रस्फुट करना सामान्य श्रम नहीं था।

इस सबके अतिरिक्त समस्त प्रतिवादियों की विचारधारा को दृष्टिपथ में रखकर सार रूप में विषय विभाजन करते हुये २४ सारांश बनाये जिनकी सहायता से प्रारम्भ में कोरा पढ़कर भी बहुत कुछ समझा जा सकता है। मैंने तथा संस्कृत अन्य छात्र-छात्राओं ने इन्हीं सारांशों के आधार से शास्त्री एवं न्यायतीर्थ की परीक्षायें दीं। बहुत सी बातों को एक सूत्र में गर्भित करके कहना अथवा एक सूत्र पर एक ग्रन्थ तैयार कर देना ये दोनों कार्य अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्व रखते हैं।

एक और हस्तलिखित प्रति की उपलब्धि—

जब प्रथम भाग के २०० पृष्ठ छप गये तब दि० जैन नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली के प्राचीन शास्त्र भण्डार से अष्टसहस्री की एक और हस्तलिखित प्रति श्री पन्नालाल जैन अग्रवाल (दिवाला वालों) के सौजन्य से प्राप्त हुई। उसमें विस्तारपूर्वक टिप्पणियां दी गई हैं। इस प्रति से भी अतिरिक्त टिप्पणियां एवं पाठांतर लिये गये हैं उनको अलग से दिखाने के लिये दिल्ली प्रति = दि० प्र० ऐसा संकेत उसके आगे किया है।

पूज्य माताजी की अपार क्षमता एवं कार्य कुशलता—

नीतिकारों ने कार्य करने वाले तीन प्रकार के बतलाये हैं। एक तो वे होते हैं जो कठिनता आदि कारणों से कार्य को करते ही नहीं हैं। दूसरे वे होते हैं जो कि विघ्न बाधायें आने पर प्रारम्भ किये हुये कार्य को बीच में ही अधूरा छोड़ देते हैं। तीसरे वे होते हैं जो विघ्न बाधाओं की परवाह न करके अनेक कष्टों की सहन करते हुये कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ते हैं अथवा पूर्ण करने में संलग्न रहते हैं।

पू० माताजी तीसरे प्रकार के व्यक्तियों में से एक हैं जिन्होंने अपने जीवन में कभी भी यह नहीं सोचा कि यह काम नहीं हो सकता है। सदैव सोचे हुये कार्य आत्मीक बल से पूर्ण किये। आपका मनोबल अपार है। उत्साह हीनता को आपके जीवन में प्रश्रय नहीं मिला। कर्मठता ही आपके जीवन का ध्येय रहा। इसी के फल-स्वरूप यह अष्टसहस्री ग्रन्थ अनुवादित होकर पाठकों के हाथों में पहुँच सका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता—

इस अष्टसहस्री की महानता के विषय में स्व० पं० श्री जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा लिखित देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा नामक पुस्तक की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है—"एक बार खुर्जा के सेठ पं० मेवारामजी ने बतलाया कि जर्मनी के एक विद्वान् ने उनसे कहा कि—"जिसने अष्टसहस्री नहीं पढ़ी वह जैनी नहीं और जो अष्टसहस्री पढ़कर जैनी नहीं बना उसने अष्टसहस्री को पढ़ा नहीं, समझा ही नहीं।" यह कितना महत्वपूर्ण वाक्य है। एक अनुभवी विद्वान् के मुख से निकला हुआ यह वाक्य इस अष्टसहस्री ग्रन्थ के गौरव को कितना अधिक स्थापित करता है। सचमुच अष्टसहस्री ऐसी ही एक अपूर्वकृति है। खेद है कि आज तक ऐसी महत्वपूर्ण कृति का कोई हिन्दी अनुवाद गौरव के अनुरूप होकर प्रकाशित नहीं हो सका।"

काश! यदि आज पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार होते तो उन्हें इस अनुवादित ग्रन्थ को देखकर कितनी प्रसन्नता होती।

इस महान् ग्रन्थ की महत्ता को स्वयं आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने द्वितीय अध्याय के मंगलाचरण में इस रूप में लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्र संख्यानैः।
विज्ञायेत यया एव स्वसमयपरसमय सद्भावः॥

अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिये, हजारों ग्रन्थों को सुनने/पढ़ने से क्या प्रयोजन/लाभ है। क्योंकि एक अष्टसहस्री से ही स्वसमय अर्थात् आत्मा—जैन सिद्धान्त और उसके तलस्पर्शी रहस्यों का बोध हो जाता है तथा पर समय अर्थात् अनात्म अजड़ अतात्वलम्बियों के सिद्धान्त और मिथ्या धारणाओं का एवं कदेवकल्पनाओं का सर्वथा निराकरण हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के महत्त्व पर स्वयं माताजी का अभिमत—

"कुछ महानुभावों की यह धारणा है कि न्यायग्रन्थों में आत्मा का वर्णन नहीं है किन्तु यह उनकी भ्रान्त भ्रांति है। प्रमाण-सच्चे ज्ञान का एवं आप्त-सर्वज्ञदेव सहित आत्मा का इसमें विशद वर्णन है। आत्मा या अन्य द्रव्यों को समझने के लिये स्याद्वाद ही महान् आधार है क्योंकि यह ग्रन्थ स्याद्वाद प्रक्रियामय है।"

माताजी का कहना है कि "सप्तभंगीमय स्याद्वाद प्रक्रिया का स्पष्ट-सरल पर जितना अधिक विवेचन अष्टसहस्री में है उतना वर्तमान में उपलब्ध जैन सिद्धान्त ग्रन्थों में किन्हीं में भी नहीं है। यह ग्रन्थ स्याद्वाद प्रक्रिया को समझने में सर्वोपरि है।"

युग की अनुपम देन—

ग्रन्थ रचना काल के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर से लेकर अब तक जितने भी ग्रन्थ लिखे गये वे सब पुरुष वर्ग द्वारा लिखे गये या मुनियों-आचार्यों ने लिखे अथवा विद्वान् पंडितों ने लिखे। पूर्व से पश्चिम तक अथवा उत्तर से दक्षिण तक किसी भी भाषा प्रकार में किसी आर्यिका अथवा आर्यिका द्वारा लिखित एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

ग्रन्थ लेखन का यह कार्य जो कि महिलाओं के द्वारा नहीं हो पाया था उसका शुभारम्भ पूज्य ज्ञानमती माताजी ने किया। पूज्य माताजी के पश्चात् अन्य और भी आर्यिका माताओं ने ग्रन्थ लेखन करके साहित्यद्वारा को प्रवाहित किया है। इस युग की यह एक बड़ी भारी ऐतिहासिक देन है कि न्याय दर्शन जैसे क्लिष्ट एवं शुष्क विषयक ग्रन्थ का अनुवाद कठिनतम संयम को धारण करने वाली महिला आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा किया जाकर इतनी सुन्दरता एवं विशेषता के साथ प्रकाशित हुआ है।

अनेक विद्वानों को यह सुनकर विश्वास नहीं होता था कि किन्हीं आर्यिका जी ने अष्टसहस्री का अनुवाद किया है। किन्तु अष्टसहस्री प्रथम भाग जब सबके हाथों में पहुंचा तो सब आश्चर्यचकित रह गये। स्व० पं० कैलाशचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री जैसे साधुओं के अध्यापक विद्वान ने भी यह कहा कि—"जो विद्वान् मिलकर जिस काम को नहीं कर पाते उसे अकेली ज्ञानमती माताजी ने कर दिया।

अन्य विद्वानों के अभिमत—

अष्टसहस्री प्रथम भाग के छपे हुए कुछ पृष्ठों का अवलोकन करके पं० परमेष्ठीदास जी ललितपुर, डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री, पं० कुलभद्र जी जैनदर्शनाचार्य-प्राचार्य संस्कृत महाविद्यालय जयपुर, पं० बाबूलाल जी जमादार बड़ौत; पं० बुद्धमलजी शास्त्री श्री महावीर जी, डॉ० ए० एन० उपाध्याय, पं० फूलचंद जी सिद्धांत शास्त्री, पं० मोतीलाल जी कोठारी फलटन आदि अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने बड़ी प्रसन्नता एवं गौरव व्यक्त किया कि अभी भी अष्टसहस्री जैसे न्याय के महान् ग्रन्थों का अध्ययन करने आने ही नहीं अपितु उसके अनुवाद जैसे दुरूह

कार्य को करने वाली पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी जैसी परम विदुषी आर्यिका विद्यमान हैं जिनके कि हमें साक्षात् दर्शन हो रहे हैं।

पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य ने तो माताजी के साहित्य का अवलोकन करते हुए अत्यन्त गद्गद होकर कहा कि "ज्ञानमती माताजी तो सरस्वती की अवतार हैं।"

पं० दरबारीलाल जी कोठिया जो कि न्यायदर्शन के उत्कृष्ट विद्वान् हैं हस्तिनापुर आये तो माताजी से वात्सल्य भाव से उन्हें कहा कि आप तो सरस्वती पुत्र हैं तो उन्होंने कहा—"माताजी! आप तो साक्षात् ही सरस्वती हैं ऐसा कहते हुए उन्होंने अनेकशः माताजी की प्रशंसा की।

पं० कैलाशचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री ने अष्टसहस्री का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित करने के लिये अत्यधिक आग्रह किया था किन्तु दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत स्थापित वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का यह प्रथम भाग पहला पुष्प था इसलिये ज्ञानपीठ से प्रकाशन कराने की भावना नहीं बनी।

टिप्पण संकलन—

अष्टसहस्री प्रथम भाग में मुद्रित प्रति के टिप्पण तो सभी रखे ही गये हैं साथ ही ब्यावर से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से एवं दिल्ली से प्राप्त हस्तलिखित प्रति से लिये गये प्रमुख टिप्पण भी दिये गये हैं।

ब्यावर प्रति से ब्र० रवीन्द्रकुमार, ब्र० आसती एवं ब्र० माधुरी आदि से माताजी ने टिप्पण निकलवाए थे। बाद में उनमें से प्रमुख टिप्पण स्वयं माताजी ने छांटकर निकालने में अत्यधिक परिश्रम किया था।

इस प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण—

इस अष्टसहस्री प्रथम भाग के प्रकाशन के बाद से एक-एक करके ८७ पुष्पों का प्रकाशन हो गया। १५ वर्ष के पश्चात् इसके दूसरे भाग का प्रकाशन हुआ। प्रथम भाग के समाप्त हो जाने से पुनः इसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह लिखते हुए प्रसन्नता हो रही है कि प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण आपके हाथों में है।

दिल्ली ग्रंथ भंडार से हस्तलिखित प्राचीन अष्टसहस्री के एक पृष्ठ का नमूना
(जिससे इस ग्रंथ में टिप्पण व पाठांतर संपहीत किये गये हैं)

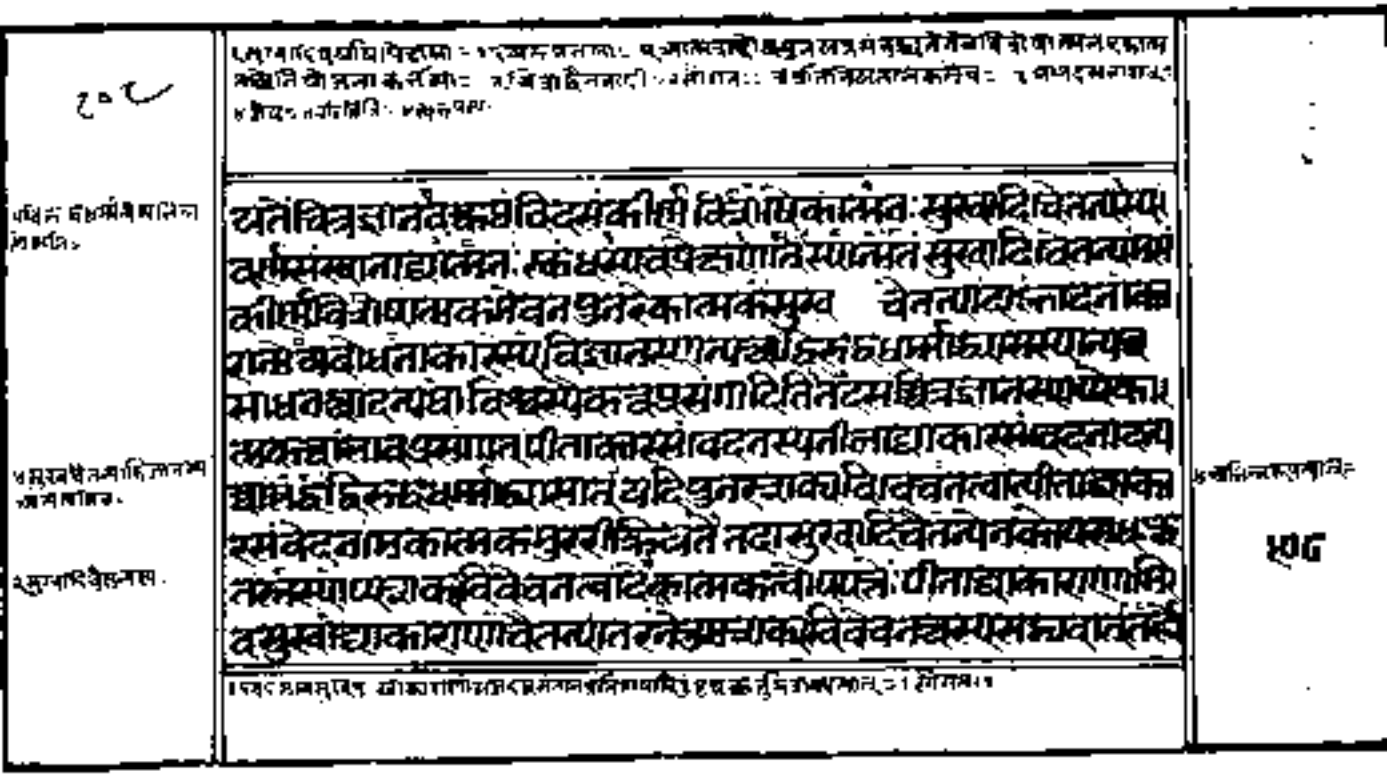

अष्टसहस्री का आधारभूत

देवागमस्तोत्र

[पद्यानुवाद-आर्यिका ज्ञानमती]

(प्रथम परिच्छेद)

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

भगवन् ! पंचकल्याणक में तव देवों का आगमन महान ।
केवलज्ञान प्रगट होने पर नभ में अधर गमन सुखदान ॥
छत्र, चमर आदिक वैभव सब, मायावी में भी दिखते ।
अतः आप हम जैसों द्वारा, पूज्य-वंद्य नहिं हो सकते ॥१॥

अन्तरं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः । दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

विग्रह आदि महोदय भगवन् ! तव अभ्यंतर क्षुधादि रहित ।
बाह्य महोदय कुसुम वृष्टि गंधोदक आदिक देव रचित ॥
दिव्य, सत्य ये वैभव फिर भी रागादिक युत सुरगण में ।
पाये जाते हैं हे जिनवर ! अतः आप नहिं पूज्य हमें ॥२॥

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः । सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

सभी मतों में सभी तीर्थकृत, के आगम में दिखे विरोध ।
सभी आप्त सच्चे परमेश्वर, नहिं हो सकते, अतः जिनेश ॥
इन सब में से कोई एक ही, आप्त-सत्यगुरु हो सकता ।
चित्-सर्वज्ञ देव परमातमा, सत्यहितंकर जगभर्ता ॥३॥

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरंतर्मलक्षयः ॥४॥

किसी जीव में सर्व दोष अरु, आवरणों की हानि निःशेष ।
हो सकती है क्योंकि जगत् में, तरतमता से दिखे विशेष ॥
रागादिक की हानि किन्हीं में, दिखती है कुछ अंशों से ।
जैसे हेतू से बाह्यांतर, मलक्षय होता स्वर्णों से ॥४॥

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

सूक्ष्म वस्तु परमाणु आदि, अंतरित राम रावण आदिक ।
दूरवर्ति हिमवन् सुमेरु भी, हैं प्रत्यक्ष किसी के नित ॥
क्योंकि ये अनुमेय कहे हैं, जैसे अग्न्यादिक अनुमेय ।
इस अनुमान प्रमाण कथित, सर्वज्ञ व्यवस्था है स्वयमेव ॥५॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

वह रागादिक दोष रहित, सर्वार्थविज्ञ प्रभु तुम्हीं कहे ।
क्योंकि तुम्हारे वचन युक्ति, आगम से अविरोधी नित हैं ॥
प्रत्यक्षादि प्रमाणों से तव, तत्त्व बाधित है जग में ।
अतः प्रभो ! यह शासन तेरा, नित अविरोधी जनगण में ॥६॥

त्वन्मतामृतबाह्यानां, सर्वथैकान्तवादिनाम् । आप्ताभिमानदग्धानां, स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

प्रभु तव मत अमृत से बाहर, दुराग्रही एकांतमती ।
'मैं हूं आप्त' सदा इस मद से, दग्ध हुये अज्ञानमती ॥
उनका यह ऐकांतिक शासन, इष्ट उन्हें फिर भी बाधित ।
प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वह, तत्त्व सदा निंदित दूषित ॥७॥

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् । एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु ॥८॥

नाथ ! स्वपर वैरी एकांत-ग्रह पीड़ित जन के मत में ।
शुभ अरु अशुभ क्रिया परलोका-दिक फल भी नहिं बनते हैं ॥
पुण्य पाप फल बंध-मोक्ष की नहीं व्यवस्था भी बनती ।
क्योंकि सर्वथा नित्य-क्षणिक में, अर्थक्रिया ही नहिं घटती ॥८॥

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् । सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥

सब पदार्थ एकांतरूप से, अस्तिरूप ही यदि जग में ।
तो अभाव का लोप हुआ फिर, चार दोष हैं प्रमुख बने ॥
सब पदार्थ सबरूप, अनादि, अनिधन, निःस्वरूप होंगे ।
हे भगवन् ! तव मत के द्वेषी जन के वहां न कुछ होंगे ॥९॥

कथंचिन्नास्त्यसावादि स्यात्प्रागभावजितस्य विक्षये। प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रध्वंसेऽनन्तता भवेत् ॥१०॥

प्रागभाव को यदि नहिं मानो, सभी कार्य हो अनादि सिद्ध।
मिट्टी में घट सदा बना है, फिर क्या करता चक्र निमित्त ॥
यदि प्रध्वंस धर्म नहीं मानो, किसी वस्तु का अंत न हो।
पिता, पितामह आदि कभी भी, अंत-मरण को प्राप्त न हों ॥१०॥

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोह-व्यतिक्रमे। अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

यदि अन्योन्याभाव नहीं हो, एक वस्तु सब रूप बने।
एक समय में मनुज बने सुर पशु नारक पर्याय बने ॥
यदि अत्यंताभाव न होवे, एक द्रव्य का अन्यों में।
हो जावे संमिश्रण फिर यह, जीव अजीव न भेद बने ॥११॥

सर्वाभावैकांत-पक्षेपि भावापह्नव-वादिनाम्। बोधवाक्यं प्रमाणं न, केन साधनदूषणम् ॥१२॥

यदि सब वस्तु अभावरूप हैं, शून्यवाद जन के मत में।
तब तो भाव-पदार्थ किंचित्, नहिं प्रतिभासित हों जग में ॥
ज्ञान और आगम भी किंचित्, नहिं प्रमाण होंगे तबतो।
कैसे अपने मत का साधन, परमत दूषण किससे हो ॥१२॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्। अवाच्यतैकांतेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥१३॥

अस्ति नास्ति से उभयरूप ये, द्रव्य कदापि नहीं होते।
क्योंकि विरोध परस्पर इनका, स्याद्वाद विद्वेषी के ॥
यदि एकांत अवाच्य तत्त्व है, कहो कथन कैसे होगा।
"तत्त्व अवाच्य" यही कहना तो, वाच्य हुआ स्ववचन बाधा ॥१३॥

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्। तदोभयमवाच्यं च क्रम-योगापेक्षया सर्वथा ॥१४॥

हे भगवन्! तव मत में वस्तु, तत्त्व कथंचित "सत्" ही है।
वही कथंचित् "असत्" रूप ही "उभय" कथंचित् वो ही है ॥
वह "अवाच्य" भी है नयशैली, से ही सप्तभंगयुत है।
वस्तु सर्वथा अस्तिरूप या, नास्ति आदि से अवरित है ॥१४॥

अनेन द्रव्यं सत्त्वेनैव स्वद्रव्यादि-चतुष्टयात्। असत्त्वेन च परद्रव्यादि-चतुष्टयात् ॥१३॥

अपने द्रव्य सुक्षेत्र काल अरु भाव चतुष्टय से नित ही।
सभी वस्तुयें अस्तिरूप ही, नास्तिरूप भी हैं वे भी॥
परद्रव्यादि चतुष्टय से यह कौन नहीं स्वीकार करे।
यदि नहिं माने तब वह है जिन! वस्तु व्यवस्था नहीं बने ॥१३॥

क्रमार्पित-द्वयात् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः। अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयोभङ्गाः स्वहेतुतः ॥१४॥

क्रम से स्वपर चतुष्टय से ही, वस्तु उभय धर्मात्मक है।
युगपत् द्वय को नहिं कह सकते, अतः "अवाच्य" वस्तु यह है॥
बचे शेष त्रय भंगों में यह, अवक्तव्य उत्तर पद है।
सत् असत् उभय धर्मों के आगे, अवक्तव्य निज हेतुक है ॥१४॥

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभावि स्वधर्मिणि। विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा हेतोरबन्धने ॥१५॥

एक वस्तु में अस्ति धर्म अपने प्रतिषेधी नास्ति के।
बिना नहिं रह सकता—अविनाभावी कहलाता इससे॥
क्योंकि विशेषण है जैसे अन्वय हेतु व्यतिरेक बिना।
नहीं रहे अविनाभावी है ऐसा यह दृष्टांत बना ॥१५॥

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभावि स्वधर्मिणि। विशेषणत्वात्तद्वैधर्म्यं यथाऽबन्धे-विपक्षतः ॥१६॥

एक वस्तु में नास्ति धर्म भी, स्वविरोधी अस्ति के साथ।
अविनाभावी ही रहता है, क्योंकि विशेषण भी वह साथ॥
जैसे हेतु के प्रयोग में, है व्यतिरेक हेतु नित ही।
अन्वय हेतु के वह रहता, अविनाभावी सुघटित ही ॥१६॥

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः। तथ्यसत्यौ यथा हेतुरहेतुश्चाप्यनेकधा ॥१७॥

वस्तु सदा विधिप्रतिषेधात्मक, है विशेष्य धर्मी विख्यात।
क्योंकि शब्द के गोचर है वह, सत् असत्रूप अग विख्यात॥
यथा साध्य-अग्नि का साधन धूम अग्नि का हेतु है।
वही अग्नि से हेतु भी अन्य—के लिये अहेतु है ॥१७॥

सोपयोगादिभेदेन सप्तधा सप्तभङ्गतः । नं च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनिन्द्र ! तव शासने ॥२०॥

अस्ति नास्ति उभयात्मक क्रम से, तीन भंग ये कहे गये ।
अवाच्यरूप नय विधि से आते, भंग चार हैं शेष कहे ॥
अवाच्य, अस्तिअवाच्य, नास्तिअवाच्य, अस्तिनास्ति अवाच्य ।
हे मुनीन्द्र ! तव शासन में कुछ भी विरोध नहिं जिसे बाधित ॥२०॥

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थेतरच्युदस्तम् । सेत्सिद्धयेन्न वस्तु कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः ॥२१॥

ऐसे विधि निषेध द्वारा जो, एकरूप से नहीं कही ।
वह अनवस्थित वस्तु जगत् में, अर्थक्रियाकारी सिद्ध ही ॥
यदि ऐसा नहिं मानो तो, बाह्याभ्यंतर हय कारण से ।
कार्य कहा है, वह नहिं होगा, अर्थक्रिया नहिं होने से ॥२१॥

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः । अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्ताना तदंगता ॥२२॥

अनंतधर्मी वस्तु के प्रत्येक धर्म को पृथक्-पृथक् ।
अर्थ कहें हैं अतः वस्तु है, अनंत धर्मात्मक शाश्वत ॥
अनंत धर्मों में जब एक ही, धर्मी प्रधान कहा जाता ।
तब वे शेषधर्म हो जाते, गौण वही जिन ने भाखा ॥२२॥

एकानेक-विकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् । प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नय-विशारदः ॥२३॥

नय में निपुण जनों को नित ही, एक अनेक विकल्पों में ।
नित्य अनित्य आदिक में भी वे, सप्तभंग कर लेते हैं ॥
सुनय विवक्षा के द्वारा प्रत्येक धर्म में सुघटित है ।
सप्तभंग प्रक्रिया विधि यह, जिनमत में ही वर्णित है ॥२३॥

इति आप्तमीमांसायां प्रथमः परिच्छेदः ।

स्वाध्याय प्रारम्भ एवं समापन की विधि

अथ पौर्वाण्हिक[1] स्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं॥

चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं सिद्ध मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो-धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा-अरहंत लोगुत्तमा सिद्ध लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरहंत सरणं पव्वज्जामि सिद्ध सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं-पव्वज्जामि। केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करोमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(९ बार णमोकार मन्त्र जपना—सत्तार्इस श्वासोच्छ्वास में।)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलिअणंतजिणं। णरपवर लोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे॥१॥
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणं वन्दे। अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो॥२॥

श्रुतभक्ति—

श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितं द्व्यनेकभेदस्थम्।
अंगांगबाह्यभावितमनन्तविषयं नमस्यामि॥१॥

इच्छामि भंते। सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउं अंगोवंगपइण्णय पाहुडयपरियम्म-सुत्तपढमाणिओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्तत्थयथुइ-धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमण, समाहिमरणं जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।

अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्याय प्रतिष्ठापन क्रियायां आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

(णमो अरहंताणं से लेकर पूरा पाठ पढ़कर ९ बार णमोकार मन्त्र जपकर 'थोस्सामि' स्तव पढ़कर भक्ति पढ़ें।)

आचार्यभक्ति—

गुरुभक्त्या वयं सार्धद्वीपद्वितयवर्तिनः।
वंदामहे त्रिसंध्योननवकोटिमुनीश्वरान्॥१॥

इच्छामि भंते! आयरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाण-सम्मदंसणसम्म-चारित्त-जुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयणगुण-पालणरयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमण समाहिमरणं जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।

पुनः स्वाध्याय समापन करते समय—

नमोऽस्तु पौर्वाण्हिक स्वाध्याय निष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

(पूर्ववत् णमो अरहंताणं आदि पढ़कर ९ बार महामन्त्र जपकर 'थोस्सामि' पढ़कर श्रुत-भक्ति पढ़ें।

---

१. मध्याह्न में स्वाध्याय करते समय 'अपराह्णिक' बोलें। रात्रि में स्वाध्याय के प्रारम्भ के समय 'पूर्वरात्रिक' बोलें।

अष्टसहस्री ग्रंथ का मूल स्रोत

(श्रीमदुमास्वामिविरचित—तत्त्वार्थसूत्रमहाशास्त्र का मंगलाचरण)

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥१॥

卐 卐 卐

(श्रीमत्समंतभद्रस्वामि विरचित देवागमस्तोत्र का मंगलाचरण)

देवागम–नभोयान–चामरादि–विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

卐 卐 卐

(श्रीमद्भट्टाकलंकदेव विरचित अष्टशती भाष्य का मंगलाचरण)

उद्बोधीकृतसमंतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलत्केवला-
लोकालोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वंदितम् ।
वंदित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभंगीविधिं ।
स्याद्वादामृतगर्भिणीं प्रतिहतैकांतान्धकारोदयाम् ॥१॥

卐 卐 卐

(श्रीमद्विद्यानंद आचार्य विरचित अष्टसहस्री का मंगलाचरण)

श्रीवर्द्धमानमभिवंद्य समंतभद्र–मुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त–मीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयास्य ॥१॥

卐 卐 卐

(स्याद्वादचिंतामणि नामा हिंदी टीकाकर्त्री आर्यिका ज्ञानमती कृत मंगलाचरण)

सिद्धान्मत्वार्हतश्चाप्तान्, आत्मब्रह्मा स वंद्यते ।
युगादौ सृष्टिकर्ता यः, ज्ञानज्योतिः स मे विशे ॥१॥

卐 卐 卐

श्रीमद्विद्यानंदिस्वामिविरचिता

अष्टसहस्री

स्याद्वादचिंतामणि-हिन्दी टीका सहित

(टीकाकर्त्री-आर्यिका ज्ञानमती)

प्रथम परिच्छेद

मंगलस्तवः

(टीकाकर्त्रीद्वारा)

अनुष्टुप् छन्द

सिद्धान् नत्वाऽर्हतश्चाप्तान्, आदिब्रह्मा स वंद्यते। युगादौ सृष्टिकर्ता यः, ज्ञानज्योतिः स मे दिशेत् ॥१॥

मंदाक्रांता छन्द

तीर्थेशं श्रीजिनसुरपतिं वीरनाथं प्रणम्य, श्रीमत्सार्वं जिनवरवचःसूत्रपीयूषगर्भम्।
धृत्वा यस्तीशपतिजगत्पूज्यतास्वामिसूरिः, नूत्वा नित्यं मुकुलसहितः वंद्यते मुक्तकर्त्रा ॥२॥

सिद्धों को और आप्तस्वरूप अर्हंतों को नमस्कार करके उन आदिब्रह्मा की मेरे द्वारा वंदना की जाती है कि जो युग की आदि में सृष्टिकर्मभूमिरूपी सृष्टि के कर्ता हुये हैं। वे आदिनाथ भगवान् मुझे ज्ञानज्योति प्रदान करें।

धर्म तीर्थ के ईश्वर-तीर्थेश्वर श्री-अंतरंग लक्ष्मी अनंतचतुष्टय आदि और बहिरंग लक्ष्मी समवसरणविभूति, उसके स्वामी तथा तीनलोक के नाथ ऐसे महावीर स्वामी को नमस्कार करके जिनेंद्रदेव के पवित्र वचनरूपी अमृत से गर्भित श्री तत्त्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र को अपने हृदय में धारण करके यतीश्वरों के अधिपति तथा जगत् के स्वामी श्री उमास्वामी आचार्य जो कि जगत् में पूज्य हैं, तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ के कर्ता हैं, सिर झुकाकर नित्य ही मेरे द्वारा उनकी वंदना की जाती है।

श्रीमत्सूत्रावतारविधौ श्लोकमाद्यं कृतं यत्,
श्रीमान् स्वामी मुनिगणपतिः स्तोत्रमाश्रित्य तर्कात् ।
मीमांसां वा जिनपतिमहाप्तस्य सामन्तभद्रीं,
कृत्वा लोके जयति सततं नम्यतेऽसौ मयात्र ॥३॥

वसंततिलका छन्द

देवागमस्तवनमाप्तपरीक्षया यत् । तस्योपरि प्रकटिताष्टशती सुटीका ॥
येनेह तं विजितवादिगणं मुनीन्द्र, वंदे कलंकरहितं ह्यकलंकदेवम् ॥४॥

अनुष्टुप् छन्द

देवागमस्तवं ह्यष्टशतीयुक्तं प्रपद्य वैः । कृता टीकाष्टसाहस्री, श्रीविद्यानंदिने नमः ॥५॥

आर्या छन्द

अष्टसहस्री वंद्या, सप्तभृशंगस्तरंगितामृतसरणिः ।
यत्सवगाहन वचो मे, सत्सन्तां ह्यकलंकं लघु भूयात् ॥६॥

श्रीमान्-रत्नत्रय लक्ष्मी से विभूषित सूत्र के अवतार की विधि में सर्वप्रथम ग्रंथकार ने जो श्लोक बनाया था। श्रीमान् मुनियों के अधिपति श्री समंतभद्र आचार्य ने उस मंगलस्तोत्र का आश्रय लेकर तर्क-बुद्धि से जिनेंद्रदेव महाआप्त की मीमांसा की, जो कि श्री समंतभद्राचार्य की कृति और सब प्रकार से भद्र-कल्याण को करने वाली आप्तमीमांसा है उसको रच करके जो लोक में अतिशय जयशील हो रहे हैं, ऐसे श्रीस मंतभद्राचार्य को यहाँ मेरे द्वारा नमस्कार किया जा रहा है।

विशेषार्थ—श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ की रचना के प्रारम्भ में जो प्रथम सूत्र बनाया, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्र से भी पहले "मंगलाचरण" बनाया था। मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां, ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये। इस मंगलाचरण का आश्रय लेकर श्री समंतभद्रस्वामी ने उस एक श्लोक को आधार बनाकर "आप्तमीमांसा" नाम से एक स्तुति ग्रंथ बनाया। इसमें आप्त की मीमांसा—परीक्षा करते हुये आप्त को कसौटी पर कसकर उनको सच्चे आप्त सिद्ध किया है। इस स्तुति का दूसरा नाम देवागमस्तोत्र भी है चूंकि प्रारम्भ में ही इसमें "देवागमनभोयान" से स्तोत्र शुरू किया है।

आप्त की परीक्षापूर्वक यह 'देवागमस्तोत्र' नाम का जो शास्त्र है उसके ऊपर जिन्होंने "अष्टशती" नाम से टीका बनाई है। वादीजनों को जीतने वाले, कलंक रहित, मुनींद्र श्री अकलंकदेव की मेरे द्वारा वंदना की जाती है।

अष्टशती से युक्त इस देवागमस्तोत्र को प्राप्त करके जिन्होंने 'अष्टसहस्री' नाम से टीका रची है उन श्री विद्यानंदि आचार्य को मेरा नमस्कार हो।

सप्तभंगरूपी तरंगों से सहित अमृत की नदीस्वरूप अष्टसहस्री सदा वंद्य है कि जिसका अवगाहन करके मेरे वचन शीघ्र ही समंतभद्र स्वरूप—सबका हित करने वाले और अकलंक—निर्दोष हो जावें।

वर्तमानगुरुपरम्परा—अनुष्टुप् छन्द

चारित्रचक्रवर्ती यः, शांतिसिंधुर्गणेश्वरः। धर्मधुर्यो जगत्पूज्यस्तस्मै नित्यं नमोऽस्तु मे ॥७॥
आत्तजातधरो धीरो, महो श्रीवीरसागरः, भक्तस्तस्मै च भक्त्या मे, शिवसागरसूरये ॥८॥
धर्मध्यानरतो नित्यं, सूरिर्यो धर्मसागरः। तस्मै नमोऽस्तु मे भक्त्या, जगतां धर्मवृद्धये ॥९॥
एते परंपराचार्याः, रत्नत्रयविभूषिताः। मया भक्त्या प्रवंद्यन्ते, रत्नत्रयविशुद्धये ॥१०॥

गुरुवंदना

श्रीदेशभूषणाचार्यः, क्षुल्लिकाव्रतदायकः। भवकूपात् समुद्धर्ता, तस्मै भक्त्या नमोऽस्तु मे ॥११॥
श्रीवीरसागराचार्यो, भक्तस्तस्मै च येन मे, महाव्रतादिकं दत्वा, ज्ञानमत्यादिका कृता ॥१२॥
न्यायसिद्धान्तसज्ज्ञानं, लब्धं यस्य प्रसादतः। विद्यागुरुर्महावीरकीर्त्याचार्यो नमोऽस्तु से ॥१३॥

टीकायाः उपक्रमः

क्वायं ग्रन्थः क्व मे बुद्धिस्तथापि श्रुतभक्तितः। अहो! ह्यष्टसहस्रीयं, भाष्यतामुद्यते मया ॥१४॥
पंचमहागुरून् चित्ते, धृत्वा लिख्यतेऽधुना। सतां चेतो हरेन्नित्यं, त्वत्प्रसादेन मे कृतिः ॥१५॥
सरस्वति! नमस्तुभ्यं, प्रसीद वरदा भव। त्वत्प्रसादेन मे सूयात् वाक्शुद्धिः सर्वसिद्धिदा ॥१६॥

टीकाकर्त्री की गुरुपरंपरा—

चारित्र के चक्रवर्ती-प्रधान, धर्म के धुर्य, जगत् में पूज्य, श्री शांतिसागर जी महान् आचार्य हुये हैं, उनको मेरा नमोऽस्तु होवे। यथाजात मुद्रा के धारी महावीर वीर श्री वीरसागर आचार्य को मेरा भक्तिपूर्वक नमस्कार होवे और शिवसागर आचार्य को भी मेरा नमस्कार होवे। नित्य ही धर्म-ध्यान में लीन जो धर्मसागर आचार्य हैं भक्तिपूर्वक उनको मेरा नमस्कार होवे वे जगत् में सदा धर्म की वृद्धि करते रहें। रत्नत्रय से विभूषित इन परंपरा के आचार्यों को अपने रत्नत्रय की विशुद्धि के लिये गुरुभक्तिपूर्वक मेरा नमस्कार होवे।

गुरुवंदना—

क्षुल्लिका दीक्षा के देने वाले श्री देशभूषण आचार्य मुझे भवकूप से निकालने वाले हैं। भक्ति-पूर्वक उनको मेरा नमस्कार होवे। श्री वीरसागर आचार्य को मेरा नमस्कार होवे जिन्होंने मुझे महा-व्रत आदि मूलगुणों को देकर आर्यिका 'ज्ञानमती' बना दिया है। जिनके प्रसाद से मैंने न्याय और सिद्धांत का समीचीन ज्ञान किंचित् प्राप्त किया उन विद्यागुरु श्री महावीरकीर्ति आचार्य को नमस्कार होवे।

टीका प्रारम्भ करने का उपक्रम—

कहाँ यह अष्टसहस्री नाम का दार्शनिक महाग्रंथ ? और कहाँ मेरी बुद्धि ? फिर भी आश्चर्य है कि मेरे द्वारा गुरुभक्ति से इस अष्टसहस्री ग्रंथ का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया जा रहा है। पंचमहागुरुओं को अपने हृदय में धारण कर मेरे द्वारा इस समय यह टीका लिखी जा रही है। उन पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से यह मेरी रचना नित्य ही सज्जन पुरुषों के चित्त को हरण करने वाली होवे।

हे सरस्वति मातः ! आपको मेरा नमस्कार हो आप मुझे वर देने वाली होवें। आपके प्रसाद से मुझे सर्वसिद्धि को देने वाली वचनशुद्धि प्राप्त होवे।

इन्द्रवज्रा छन्द

स्याद्वादचिंतामणिनामधेया । टीका मयेयं क्रियतेऽल्पबुद्धया ॥
चिंतामणिः चिंतितवस्तुदाने । सम्यक्त्ववृद्धयै भवतात् सदा मे ॥१७॥

अष्टसहस्री वंदना

उमास्वामिकृतं पूत-महंत्स्तवमंगलं । महेश्वरश्रियं दद्यात्, महादेवपदस्थितं ॥१८॥
मूलाधारं स्तुतेराप्त—मीमांसाकृतेरिदं । मूलमष्टसहस्र्याश्च, मंगलं मंगलं क्रियात् ॥१९॥
देवागमस्तवोद्भूता, समंतात् भद्रकारिणी । अकलंकवचःपूता, विद्यानंदं तनोतु मे ॥२०॥
महापूज्या जगन्माता, स्याद्वादामृतवर्षिणी । अनेकांतमयीमूर्तिः, सप्तभंगतरंगिणी ॥२१॥
स्वपर—समयज्ञानं, प्रकटीकुरुते सदा । सर्वथैकांतदुर्वादान्, विमदीकुरुते क्षणात् ॥२२॥
जिनशासन माहात्म्य-वर्धने पूर्णचंद्रवत् । मिथ्याध्वांतमहाध्वांत—ध्वंसने सूर्यवत् सदा ॥२३॥

श्रीमान् कष्टसहस्रार्या साध्या सर्वार्थसिद्धिदा ।
पुष्यात्साष्टसहस्री मे, वांछां शतसहस्रिकाम् ॥२४॥चतुष्कं॥

"स्याद्वादचिंतामणि" नाम की यह टीका मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा की जा रही है। यह चिंतित वस्तु को देने में चिंतामणि ही है, यह चिंतामणि टीका सदा मेरे सम्यक्त्व की वृद्धि के लिये होवे।

अष्टसहस्री वंदना :

उमास्वामी के द्वारा कृत, पवित्र अर्हंतदेव का स्तवरूप मंगलाचरण महादेव पद में स्थित ऐसी महेश्वर की लक्ष्मी मुझे प्रदान करे।

आचार्य—इस श्लोक में श्लेषालंकार है अतः उमा—पार्वती के पति महादेव पक्ष में उमा—लक्ष्मी—तथा लक्ष्मी के स्वामी आचार्य श्री उमास्वामी के द्वारा रचित "मोक्षमार्गस्य नेतारं·····आदि मंगलाचरण मुझे महादेव की लक्ष्मी—"महांश्चासौ देवः च, महादेवः" के अनुसार महान् देव—देवों के भी देव श्री अर्हंतदेव की लक्ष्मी प्रदान करें।

आप्तमीमांसा नाम की स्तुति का मूल आधारभूत और अष्टसहस्री का भी मूल ऐसा यह मंगलाचरण सदा मंगल करे। "देवागमस्तव" से उत्पन्न हुई, समंतात्—सब तरफ से भद्र—कल्याण को करने वाली, अकलंकवचन—निर्दोष वचन से पवित्र यह अष्टसहस्री ग्रंथ मुझे विद्यानंद—ज्ञान और आनन्द—सुख को देवे। यहाँ श्री समंतभद्र, श्री अकलंकदेव और श्री विद्यानंद ऐसे तीनों आचार्यों का नाम लेकर स्तवन भी कर दिया गया है। जो महान् पूज्य है, जगत् की माता है, स्याद्वादरूपी अमृत को बरसाने वाली है, अनेकांतमयी मूर्ति है, सप्तभंगों के तरंगों से सहित उत्तम नदी है, हमेशा स्वसमय और परसमय के ज्ञान को प्रगट करती है। सर्वथा—एकांत दुरायहरूपी मत्त हस्तियों के मद को क्षण में दूर करने वाली है। जिनशासन के महात्म्य को बढ़ाने में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान है। मिथ्यामत रूपी महाअंधकार को नष्ट करने में सदा सूर्य के समान है। जो हजारों कष्टों से सिद्ध होने योग्य है वह अष्टसहस्री सदा जयशील होवे, सर्व अर्थ की सिद्धि को देने वाली होवे और मेरी कोटि-कोटि वांछाओं को पूर्ण करे। इस प्रकार हिन्दी टीकाकर्त्री द्वारा रचित पीठिका प्रकरण पूर्ण हुआ।

इति पीठिकाबंधः

मंगलाचरणम्

ओ 'वर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्र-मुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त-मीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयास्य ॥१॥

मङ्गलाचरण का अर्थ—जो समंत-सर्वप्रकार से भद्र-कल्याणस्वरूप हैं, जिनके केवलज्ञान की महिमा प्रकट हो चुकी है—जो विद्यानंदमय हैं, जिनके वचन अनिंद्य-अकलंकरूप अनेकांतमय हैं, ऐसे श्री-अंतरंग-अनन्तचतुष्टयादि एवं बहिरंग-समवसरणादि विभूति से सहित अंतिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान भगवान् को नमस्कार करके महाशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" इत्यादि मंगलरूप से रचित स्तुति के विषयभूत आप्त भगवान् की मीमांसा स्वरूप जो "देवागमस्तोत्र" है उसे भाष्यरूप से मैं—विद्यानंदि स्वामी अलंकृत करता हूँ।

[श्री वसुनंदिसैद्धांतिक टिप्पणी का भावार्थ—इसमें मंगलाचरण से सर्वप्रथम श्री वर्द्धमान भगवान् को एवं संपूर्ण अर्हंतप्रभु को नमस्कार किया है। पुनः इसी श्लोक से श्री समंतभद्रस्वामी को एवं आप्तमीमांसा स्तोत्र को नमस्कार किया है।]

उत्थानिका—इसी भरतक्षेत्र में पहले अपनी निर्दोष विद्या एवं निर्दोष संयमरूपी संपत्ति से गणधरदेव, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली, दशपूर्वधारी आदि सूत्र की रचना करने वाले महर्षियों की महिमा को आत्मसात् (स्वयं प्रत्यक्ष) करते हुए भगवान् श्री उमास्वामी आचार्यवर्य ने तत्त्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्र की रचना की है। स्याद्वादविद्या के अवनी श्री समंतभद्रस्वामी ने उस तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र की 'गंधहस्ति महाभाष्य' रूप टीका रचते हुए मंगलाचरण में "मोक्षमार्गस्य नेतारम्" इत्यादि की टीका में मंगल स्वरूप स्तुति के गोचर परम आप्त भगवान् के गुणों की मीमांसा (परीक्षा) को करते

---

1 ॐ नमः। इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वादीनां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाभिधानस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नद्भिः स्याद्वादविद्याधरपुरैः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यैस्तत्र मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपर-

हुए प्रवचनमय तीर्थ की सृष्टि की पूर्ति स्वरूप इस 'देवागम-नभोयान" इत्यादि पदों द्वारा 'देवागम-स्तोत्र" नाम के ग्रन्थ की रचना की है।

इसके पश्चात् जिनके चरणनख की किरणें सकल तार्किक जनों के चूड़ामणि की किरणों से चित्र विचित्र शोभा को प्राप्त हैं, ऐसे भगवान् भट्टाकलङ्कदेव ने इसी देवागम-स्तोत्र की 'अष्टशती' नामक टीका रची है।

इसी प्रकार महाभाग तार्किकजनों से मान्य 'वादीभसिंह' इस पदवी से अलंकृत श्री विद्यानंदि स्वामी स्याद्वाद से प्रगट सत्यवचनों का प्रवाह है जिसमें, ऐसी अपनी वाणी की चतुरता को प्रगट करते हुए 'आप्त-मीमांसा' को अलंकृत करने की इच्छा करते हुए 'श्री वर्द्धमानम्' इत्यादि प्रतिज्ञा श्लोक को कहते हैं।

"मया अलंक्रियते" मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है,—इस पद से अलंकार का महत्त्व प्रगट किया है अर्थात् जिस प्रकार सौंदर्यशालिनी कन्या की भी अलंकार आदि से शोभा द्विगुणित हो जाती है, उसी प्रकार से यह टीका भी इस स्तोत्र के लिए अलंकार स्वरूप इस स्तोत्र के पदों के अर्थों को अत्यर्थ रूप में स्पष्ट करते हुए श्रोता जनों के मन को हरण करने वाली है।"

"मेरे द्वारा क्या अलंकृत की जाती है ?" "कृति"-रचना। वह किस रूप में है ? शास्त्र के प्रारंभ में रचित स्तुति के विषय को प्राप्त जो परम आप्त भगवान हैं, उनकी मीमांसा-परीक्षा की जाती है। "अस्य" यह निर्देश विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध से युक्त होने से स्वामी समंतभद्राचार्य के माहात्म्य को प्रगट करता है अर्थात् स्वामी समंतभद्राचार्य की रचना, "अभिवंद्य"—नमस्कार करके-मन वचन काय से वंदना करके, मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है। इस नमस्कार पद से आस्तिक्य भावना के अस्तित्व को दिखलाया है। किसको नमस्कार करके ? "श्री वर्द्धमानम्" सब तरफ से वृद्धि को प्राप्त है 'मान'—केवलज्ञान जिनका, ऐसे वर्द्धमान भगवान को। श्री—समवसरणादि लक्षण एवं परम आर्हंत्य

प्राप्तमुमास्वामिशपरीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिसापूरयाम्बभूविरे। तदनु सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवस्तदेतस्याप्तशत्याख्येन भाष्येणोन्मेषमकार्षीत्। तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञाता मीमांसा वादीभसिंहैरुपबृंहिताप्तमीमांसालंकिरीर्णेवा स्याद्वादोद्गिरितसत्यवाक्यसरा गिरां चातुरीमाविर्भावयन्तः प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः "श्रीवर्द्धमानमित्यादि" अस्यार्थः।—अभिष्टूयते विशिष्यते। केन ? मया विद्यानन्दिसूरिणा। अनेनाभ्यर्हितस्य महत्त्वमुद्द्योतितम्। का ? कृतिः सन्दर्भः। किंरूपा ? शास्त्रारम्भस्तवरचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितम्। विशेष्यविशेषणयोरभिष्टुत्यभिधायकयोरयं निर्देशो यथा।—स्तूयतेऽस्तूयतेति। कस्य ? अस्य स्वामिसमन्तभद्राचार्यस्य। माहात्म्यमावेदितम्। श्रीवर्द्धमानः समन्ततः सूरिरभिनव इति वेदितव्यमस्यानन्तरोक्तस्येत्यनेन परिग्रहप्राप्तावपि सूरेरेव परिगृहीतिः कृतेरनेनैव प्रत्यासत्तिप्रकर्षयोगात्। किं कृत्वा ? प्रणम्य मनसा वचसा वपुषा च वन्दित्वा। अनेन नमस्कारवास्तिक्यस्यास्तित्वमाख्यातम्। कम् ? श्रीवर्द्धमानम्। अव समन्ताद्वृद्धं प्रवृद्धं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ तमुक्तः। श्रिया समवसरणविभवलक्षणया परमार्हंत्यलक्ष्म्या सहितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानः परमजिनेश्वरसमुदयस्तम्। अर्थकथनमस्यार्थः कथम् ? अव समन्ताद्वृद्धं परमातिशयप्राप्तं

लक्षण से विभूषित श्री वर्द्धमान भगवान् अंतिम तीर्थंकर अथवा संपूर्ण अर्हत्परमेष्ठी समुदाय को नमस्कार करके। पुनः कैसे हैं भगवान्? "समंतभद्र" भद्र अर्थात् जिनके गर्भावतरण आदि कल्याणक हुये हैं, ऐसे भगवान् ही समन्तभद्र हैं। पुनः कैसे हैं भगवान्? "उद्भूतबोध महिमानम्" जिनके केवलज्ञान की महिमा-यथावत् संपूर्ण वस्तुतत्त्व के प्रकाशन की महिमा प्रगट हुई है। इस विशेषण से अचल ज्योतिः स्वरूप केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को अवलोकन करने वाले हैं, यह प्रगट किया है। पुनः कैसे हैं भगवान्? "अनिद्यवाचम्" अनेकान्त की नीति यही हुआ गंगाप्रवाह, उसमें अवगाहन करने वाली है वाणी दिव्यध्वनि जिनकी ऐसे भगवान् को। इस विशेषण से धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति स्वरूप भगवान के वचन हैं—यह स्पष्ट किया है।

[अथवा इसी श्लोक से आचार्य समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करते हैं—]

दूसरा अर्थ -[श्री समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करके। कैसे हैं समंतभद्र स्वामी? "श्री वर्द्धमानम्" निर्दोष स्याद्वाद विद्या के वैभव की आधिपत्य-लक्षण लक्ष्मी से जो वृद्धि को प्राप्त हैं। पुनः कैसे हैं? "उद्भूत-बोध-महिमानम्" भव्य जीवों को इस कलिकाल में भी कलंकरहित निर्दोष विद्या को प्रगट करने के लिए स्याद्वाद तत्त्व को प्रगट करने में जिनका ज्ञान समर्थ है। पुनः कैसे हैं? "अनिद्यवाचम्" सप्तभंगी से युक्त आप्तमीमांसा नाम की स्तुति जिन्होंने रची है, ऐसे

मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्द्धमानः। अथाप्योरल्लोप इत्यवशब्दस्याकारलोपः। श्रिया बहिरङ्गया चान्तरङ्गया समवसरणानन्तचतुष्टयलक्षणया वोपलक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानोऽर्हत्सर्वमुदय इति व्युत्पत्तेः। अनेन परमार्हंत्यं समुदयमिति वृत्तिकारोक्तपरिज्ञानलोकनमस्कृतो विशेष्यकृपात्तम्। कथम्भूतम्? समन्तभद्रम् समन्ताद्भद्राणि सकलजनताभिनन्दितानि पञ्चकल्याणमहिमादिकल्याणानि यस्य तत्। अनेनाखिलैश्वर्यादिभिर्वन्दितमिति विशेषणमुपगृहीतम्। पुनः कथम्भूतम्? उद्भूतः प्रसिद्धो बोधस्य महिमा वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणो यस्य तत्। अनेनाचलज्योतिर्ज्वलत्केवलालोकालोकितलोकालोकमिति विशेषणं स्वीकृतम् अचलैर्निर्बाधैर्ज्योतिर्भिर्निर्बाधैर्ज्वलता दीप्यमानेन केवलालोकेन केवलदर्शनेनालोकितौ लोकालोकौ येन तमिति प्रतिपादनात्। भूयोऽपि कथम्भूतम्? अनिद्यवाचम्। अनिद्यानेकान्तनीतिसद्भावप्रवाहवाहिनी वाग् वाणी यस्य तत्। अनेनोद्दीपीकृतधर्मतीर्थमिति विशेषणमात्मीकृतम्। उद्दीपीकृतं धर्मप्रतिपादकं तीर्थं शास्त्रं येनेति व्युत्पादनात्। भगवान् श्रीवर्द्धमानः कल्याणसम्पदाक्षिप्तानामभिवन्द्यः सकलकल्याणसम्पदधिरूढत्वात्। अथवा सकलसम्पदधिरूढः सार्वभौमो लक्ष्मीसम्पदाक्षिप्तानामिति स्वभावसिद्धत्वमनुमानम्। सकलकल्याणसम्पदधिरूढोऽप्यमुद्भूतबोधमहिमत्वादिति कारणसद्भावसिद्धत्वमनिद्यं केवलज्ञानोदयसद्भावितस्तीर्थंकरपुण्योदयात् सकलकल्याणाधिरूढपरमार्हन्त्यलक्ष्मीसम्पत्संभूतेः सर्वत्रोद्भूतमहिमानं तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्। सर्वज्ञागमकारकर्मणि युक्तिशास्त्राविरोधिवाग्विभवरसत्रोद्भूतमहिमेति कार्यनिर्वृत्तिसिद्धं महीयसां चरणरजोनिषेवणस्यैवंविधप्रज्ञातिशयनिबन्धनत्वादिति। एवमुत्तरत्र व्याख्याद्वयेऽपि यथासम्भवं हेतूपन्यासः प्रतिपत्तव्यः।

[अथवा अभिधत्ते। कम्? समन्तभद्रं समन्तभद्राचार्यम्। कीदृशम्? श्रीवर्द्धमानं श्रिया निखिलविद्यालङ्कारनिरवद्यस्याद्वादविद्याविभवाधिपत्यलक्षणया लक्ष्म्या वर्द्धमानमेधमानम्। साक्षात्कृतसकलबाह्यवस्तुत्वेन समस्तविद्याविद्यपरमैश्वर्यमाधिष्ठमानस्य स्याद्वादविद्यागुरोर्मीमांसाकृतेः श्रीवर्द्धमानतायां श्रियाधाधाभावात्। भूयः कीदृशम्? उद्भूतबोधमहिमानम्। उद्भूतो बोधस्य महिमा भव्यानां कलिकालेप्यकलङ्कभावाभिधायिस्याद्वादतत्त्वसमर्थने पटिमा यस्य

श्री समंतभद्र स्वामी को नमस्कार करके यह आप्त मीमांसा की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

[अथवा तीसरा अर्थ—यहाँ आप्तमीमांसा को नमस्कार करते हैं।]

इस आप्त मीमांसा स्तुति को मैं नमस्कार करता हूँ। कैसी है यह स्तुति ? "अनिन्द्यवाचं" प्रत्यक्षादिप्रमाणों से अबाधित एवं पूर्वा पर विरोध से रहित वचन जिसमें हैं। पुनः कैसी है ? "श्री वर्द्धमानं" जो स्यात्कार लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त-अभ्युदयशील है। पुनः कैसी है ? "समन्तभद्र" सब तरफ से भद्र-कल्याण स्वरूप है, सभी के हृदय को आल्हादकारी तत्व स्वरूप आगम को ही अमृत उसके निर्झर से जो रमणीय है।

पुनः यह स्तुति कैसी है ? "उद्भूत बोध महिमानं।" जिसमें अनेकांत तत्व की महिमा प्रगट अर्थात् पाप रूप एकान्तवाद रूपी अंधकार, उसको नाश करने में प्रचंड सूर्य के समान जिसमें ज्ञान है। इन विशेषणों से विशिष्ट इस आप्तमीमांसा स्तुति को नमस्कार करके, शास्त्र जो तत्वार्थ सूत्र है उसके प्रारम्भ में रचित जो मंगलाचरण स्तुति "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृतां" आदि इस स्तुति के विषय को प्राप्त जो आप्त—भगवान् उनकी मीमांसा-परीक्षा जिसमें है ऐसी यह आप्तमीमांसा नामक स्तोत्र की टीका मेरे द्वारा अलंकृत की जाती है।

तम्। पुनरपि कीदृशम् ? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या सप्तभङ्गीसमन्विता वाग्यस्य आप्तमीमांसास्तुतिसंदर्भस्य तम्। अनेन स्याद्वादविद्याविभवं सप्तभङ्गीतरङ्गितं वीरजिनेन्द्रवाग्गङ्गाप्रवाहमवगाह्य तीर्थमिवेदमेवाद्य कुर्वन्तो वयमपि निष्कल्मषा जाता इति विशेषणद्वयेन वीरजिनेन्द्रस्तवो कृतो भवतीत्यवसेयम्। पुनः कीदृशम् ? श्रीवर्द्धमानं श्रीः केवलज्ञानलक्ष्मीः स्याच्छब्दसंगतसप्तभङ्गीविधिसमुद्भवपुण्योदयैकहेतुत्वेतद्वाक्यमाश्रित्य वर्द्धमानमाचार्यः स्याद्वादविद्याविभवाभिनन्दिस्तुतिविद्याप्रहेयमेवेदमद्यतन प्रकरणकारवन्दित्वात्। यथा सकलश्रुतविद्यामहोदधेरेकहेतुत्वोत्तरोत्तरप्रबन्धप्रकरणकारवन्दनम् बहवोऽस्तुतिविद्याविभवाभिनन्दिनोऽनुपलक्षितत्वात्। द्वितीयेन स्याद्वादैकान्तसमुद्भवकाले कलाविलेतविशिष्टं स्पष्टम्। तृतीयेन तीर्थं प्रावादीत्येतदुपलक्षितमिति। विशेष्यं तु प्रसिद्धमेव।

अथवान्यथा। कम् ? अनिन्द्यवाचम्। अनिन्द्या प्रमाणाबाधा पूर्वापरविरोधविधुरा वाग्यस्याप्तमीमांसास्तवसंदर्भस्य तत्तथोक्तम्। अनिन्द्यवाक् प्रस्तुतत्वात् समन्तभद्राचार्यवैकृतिराप्तमीमांसास्तवस्तम्। अनेन चेति विशेषणमादिशब्दकृतम्। कीदृशम् ? श्रीवर्द्धमानम्। श्रिया ज्ञानाख्यलक्ष्मीभावपुण्यरूपमूर्त्या स्याकारसंज्ञया वर्द्धमानमभ्युदयशीलम्। अनेन सप्तभङ्गीविधिसिद्धिमिति विशेषणमुपपन्नम्। भूयः कीदृशम् ? समन्तभद्रं समन्तात्सर्वतो भद्रं सकलप्रवादिप्रवादान्तरोत्तीर्णत्वागमसुधासारनिष्यन्दिसूक्तिरमणीयमिति यावत्। अनेन स्याद्वादामृतपर्वतविभवोऽयमिति विशेषणं परिस्फुटम्। अनेकान्ततत्त्वाकलनात्मना पीयूषेन सान्तस्तारमिति गोत्रस्यस्य क्षेत्रवर्धनोत्तिमभिसंधीयते प्रतिभावनात्। भूयोऽपि कीदृशम् ? उद्भूतबोधमहिमानम्। उद्भूतो बोधस्यानेकान्ततत्त्वप्रकाशस्य महिमा दुरितैकान्तवादतमस्काण्डखण्डने प्रचण्डिमा यस्याहिनेतारं तम्। अनेन प्रतिहतैकान्ततमःप्रकाशोदयमिति विशेषणं परिस्फुटम्। गोत्रस्यस्य दीप्तत्वेनविवक्षितत्वात्प्रकाशस्य निवेदनात्। शास्त्रं तत्त्वार्थसूत्रं तस्यावतारः प्रारम्भस्तस्मिन् रचिता यासौ स्तुति "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां भेत्तारं" विश्वतत्त्वानां ज्ञातारो विश्वयोगिनस्तेषामाप्तस्य मीमांसितं वा। अस्मिन् श्लोके पूर्वार्द्धेन मांगलिकमुत्तरार्द्धेन शास्त्रमाचार्यस्य लक्षणगृहीतः संस्तवः। गुणार्थो वर्ण्यते अत्र शास्त्रे: गुणगुणादिभिः। स्वयमाप्तैः च वर्ण्यते शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः।

[मंगलाचरणस्य महत्त्वं ग्रन्थकर्तुरुद्देश्यञ्च]

श्रेयः[1] श्रीवर्द्धमानस्य परमजिनेश्वरसमुदयस्य समन्तभद्रस्य तदमलवाचश्च [2]संस्तवनमाप्त-मीमांसितस्यालङ्करणे [3]तदाश्रयत्वादन्यतमासम्भवे तदघटनात्। [4]तद्वृत्तिकारैरपि तत एकोद्दी-पीकृतेत्यादिना तत्संस्तवनविधानात्। [5]देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणा-तिशयपरीक्षानुपक्षिपतैव[6] स्वयं[7] श्रद्धागुणज्ञतास्वकृतं[8] प्रयोजनमाक्षिप्तं[9] लक्ष्यते[10]। [11]सदन्य-तरापायेऽर्थ[12]स्यानुपपत्तेः[13]। [14]शास्त्रन्यायानुसारितया [15]तर्कोपन्यासात् *। इत्यनेन[16]

[मंगलाचरण का महत्त्व और ग्रन्थकर्ता का उद्देश्य]

श्री वर्द्धमान भगवान, समस्त तीर्थंकरों का समुदाय, श्री समन्तभद्र स्वामी और उनके निर्दोष वचन रूप स्तुति का संस्तवन ही कल्याणकारी है, क्योंकि आप्तमीमांसा की टीका करने में ये सब आश्रयभूत हैं। इनमें से एक किसी की भी स्तुति न करने से इसकी टीका नहीं हो सकती है। इस आप्तमीमांसा की प्रथमतः वृत्ति (टीका) करने वाले श्री भट्टाकलंक देव ने भी इसी विषय को अष्टशती नामक टीका करते समय "उद्दीपीकृत" इत्यादि श्लोक के द्वारा मंगलाचरण किया है। तथैव "देवागम" इत्यादि मंगल-पूर्वक स्तुति के विषय को प्राप्त, परम आप्त भगवान के गुणातिशय की परीक्षा को स्वीकार करते हुए श्री समन्तभद्र स्वामी ने स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन को सूचित किया है, ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि श्रद्धा और गुणज्ञता इन दोनों में से किसी एक के अभाव में देवागम स्तव में परीक्षा। लक्षण अर्थ नहीं बन सकता है। अतः आचार्य पूर्वशास्त्र के आधार से ही अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र का अवलंबन लेकर ही टीका करते हैं *। इस कथन से ग्रंथकार ने स्वरचित एवं स्वरुचि-विरचित शास्त्र का परिहार किया है।

1 ननु चेष्टदेवतानमस्क्रियैव ग्रन्थेपि शास्त्रकृतः शास्त्रमुपक्रमन्ते न पुनःस्तुत्यस्तोतृस्तुतीस्तत्स्तोत्रमिदं शास्त्रादौ भगवता सूचितं कथं सोऽयमारभ्यमतीत्याशङ्क्याहुरार्या आह श्रेय इत्यादि। 2 इदं शास्त्रम्। अनेन श्लोकावयवेनाभिधानाभिधेयसंबन्धप्रयोजनानि संस्तवनार्थ एव न तु प्रथमतार्थे इति प्रकाशितः (तम्)। अनेनोपकारकरणार्थं स्तुत्यादिविषयसंस्तवनं कृतमिति प्रकाशितं श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरित्यादौ तथैव भगवात्। अतएव तदाश्रयत्वात्तत्त्वयतमासम्भवे तदघटनात् अनेन सम्भितिर्वसिद्धिर भाष्यादिपद्धतयस्वामिप्रभवत्व सूचितः, भाष्यानुसारेणैवालङ्कारः क्रियते इति च प्रकाशितः (तम्)। 3 पदः। 4 ननु चाप्तालङ्कारस्य स्तुत्यस्तोतृस्तुतिनिमित्तकत्वेपि तत्र तत्त्वयस्तोत्रेण श्रेयसा भाष्यमिति कोयं नियम इत्याशङ्क्याहुः तद्वृत्तिकारैरपीत्यादि। भट्टाकलंकदेवैः। 5 भगवतः समन्तभद्रस्य समन्तभद्रायस्यैव एव कृतयः श्रूयन्ते न तु शास्त्रावतारचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं नाम कृतिस्तस्यात्कथमियं प्रतिज्ञा सुघटतामटतीत्युच्यते यत्ति देवागम नेत्यादि। मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि। 6 स्वीकुर्वता समन्तभद्रस्वामिना। 7 स्वस्य समन्तभद्रस्य। 8 प्रेरकत्वं भाऽप्राधान्येन ज्ञानं चरितस्तत्रात्यन्तमनुरागः श्रद्धा। 9 कटाक्षितं सूचितमित्यर्थः। प्रतिज्ञातम्। स्वीकृतम्। लाभम्यें नोपलब्धम्। संगृहीतम्। 10 (पदः) प्रयोजनाभावे शास्त्रकरणं न स्यात्। 11 तयोः श्रद्धागुणज्ञतयोर्मध्ये एकस्याभावे। 12 परीक्षालक्षणस्य। देवागमस्तवस्य। 13 प्रयोजनानुसारेण शास्त्रकरणं घटते। 14 अनुपपत्तिः कुत इत्याह पूर्वशास्त्रानुसारितया। 15 ग्रन्थकारस्य तत्त्वार्थशास्त्रप्रसिद्धानुसारित्वेन स्वोपज्ञशास्त्रस्वरुचिविरचितस्वपरिहारलक्षणप्रयोजनेन मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयेत्यादिप्रकारेणैवोपन्यासात्। अन्यथानुपपत्तिप्रकारेण परीक्षात्वेन वा। 16 वृत्तिग्रन्थेन।

ग्रन्थकारस्य[1] श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे [2]प्रयोजने साध्ये[3]शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगुणा[4]तिशय[5]परीक्षोपक्षेपस्य[6] [7]साधनत्वसमर्थनात् । शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं देवागमाभिधानमिति निर्णयः[8] । [9]मङ्गलपुरस्सरस्तवो[10] हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते । मंङ्गलं पुरस्सरमस्येति मङ्गलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तवः इति व्याख्यानात् । तद्विषयो यः [11]परमाप्तस्तद्गुणातिशयपरीक्षा तद्विषयाप्तमीमांसितमेवोक्तम् ।

इस प्रकार से ग्रंथकार ने श्रद्धा, गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन रूप साध्य में शास्त्र के प्रारम्भ में रचित स्तव के विषय को प्राप्त परम आप्त के गुणातिशय की परीक्षा की स्वीकारता को हेतु बनाया है। शास्त्र के आदि में रचित स्तुति के विषय को प्राप्त आप्त की मीमांसा रूप यह शास्त्र "देवागमस्तोत्र" इस नाम का है—यह निर्णय हुआ क्योंकि मंगल-पूर्वक स्तव ही शास्त्र के आदि में रचित स्तुति कहलाती है। मंगल है पूर्व में जिसके, उसे मंगलपुरस्सर कहते हैं। शास्त्र-रचना के प्रारम्भ में रचित मंगलपुरस्सर स्तव कहलाता है। उस स्तुति के विषयभूत परम आप्त भगवान्, उनके मोक्षमार्ग प्रणेतृत्वादि गुणातिशयों की परीक्षा ही तद्विषयक आप्तमीमांसा है।

भावार्थ—श्री विद्यानंद स्वामी का कहना है कि श्री वर्धमान भगवान्, सभी तीर्थंकरों का समुदाय एवं देवागम स्तोत्र के कर्ता श्री समंतभद्र स्वामी तथा उनके निर्दोष वचन इन सबकी मंगलाचरण के द्वारा मैंने स्तुति की है क्योंकि इनमें से किसी एक की भी स्तुति न करें तो इस आप्तमीमांसा की टीका को करने में हम समर्थ नहीं हो सकेंगे। एवं श्री भट्टाकलंक देव ने तो अष्टशती भाष्य में स्पष्ट ही कह दिया है कि इस ग्रंथ में आप्त-अर्हंत भगवान् की परीक्षा करने में श्रद्धा और गुणज्ञता ये दो ही प्रयोजन मुख्य हैं। यदि हमारे में श्रद्धा और भगवान् के गुणों का ज्ञान नहीं है तो कथमपि

---

1 ग्रन्थकारः पक्षः । 2 प्रेरकत्वे । 3 मोक्षमार्गस्येत्यादि । 4 मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि । 5 विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य (बटमानयोरेव) दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा । सा अस्त्येवं नेदेवं स्यादेवं नेदेवं न स्यादित्येवं प्रवर्तते । 6 स्वीकारस्य । 7 श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनं पक्षः साध्यत्वं समन्तभद्राचार्यस्यास्ति । आप्तगुणातिशय परीक्षोपक्षेपाग्यथानुपपत्तेः । 8 अर्थस्यानुभवबन्धस्य परीक्षाविशेषस्य गुणातिशयपरीक्षोपक्षिप्तस्यास्यैव तावद्देवागमाभिधानमिति निर्णयः । कथमिति चेदुच्यते । अस्य देवागमस्तोत्रस्यैते ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे प्रयोजने साध्ये शास्त्रमिदं न भवत्येव स्वरूपाविद्धत्वात् । कथमिति चेद्देवागमनभस्तलेत्यस्य मोक्षशास्त्रारम्भरचित "मोक्षमार्गस्य नेतारं" मित्यादिस्तवनविषयाप्तगुणातिशयपरीक्षारूपायाः समन्तभद्राचार्यकृतेः सर्वथाप्यसम्भवात् । निश्चेयसपूर्वोक्तशास्त्रलक्षणस्यार्थोयम् । 9 एतच्च विभावयति । 10 नन्देवमपि शास्त्रारम्भस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षैव देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामित्यनेन तयोरेकत्वेनाभिधानात्, न पुनः शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति । ततः कथमित्युक्तम् ।—शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रम् । देवागमाभिधानमित्युक्ते तद्गुणातिशयपरीक्षातदाप्तमीमांसितयोरेकत्वे सांप्रते तदाप्तमीमांसितमपि देवागमाभिधानं भविष्यतीति स्वीकृत्य तयोरेकत्वासमर्थनायाह ।—मङ्गलपुरस्सरेत्यादि । 11 मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि ।

[1]तदेवं [2]निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया[3] मंगलार्थतया च [4]मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छता[5] [6]सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेष [7]प्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसां [8]विदधानाः, श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः, कस्माद् देवागमादिविभूतितोऽहं[9] महान्नाभिष्टुत[10] इति स्फुटं पृष्टा[11] इव स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः—

उनकी परीक्षा नहीं की जा सकती है। यदि श्रद्धा या गुणज्ञता इन दोनों गुणों में से एक गुण नहीं हो तो भी आप्त की परीक्षा नहीं हो सकती है। इस कथन से यह जाना जाता है कि श्री समंतभद्र स्वामी भगवान् के गुणों में विशेष रूप से अनुरक्त हो करके ही व्यंग्यात्मक शैली से आप्त की परीक्षा के बहाने से उनके महान् गुणों की स्तुति कर रहे हैं। इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि जो व्यक्ति किसी देव, शास्त्र या गुरुओं की परीक्षा करने में रुचि रखते हैं तो सबसे पहले उन्हें श्रद्धालु एवं गुणग्राही होना चाहिये न कि अश्रद्धालु अथवा दोषज्ञ, क्योंकि मात्र दोषग्राही व्यक्ति किसी के गुणों की परीक्षा करने में या किसी के गुणों का मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दोषग्राही बुद्धि से तो सामने वाले के गुणों में भी दोषारोपण कर दिया जाता है अतः परीक्षा करने में कुशल, अधिकारी व्यक्ति को ही किसी की परीक्षा में कदम उठाना चाहिये क्योंकि सभी को सभी की परीक्षा का अधिकार नहीं है।

उत्थानिका—इस प्रकार से निःश्रेयस शास्त्र (मोक्षशास्त्र) के आदि में मोक्ष के लिये जो कारण भूत हैं और श्री उमास्वामी आचार्य के द्वारा स्तुति को प्राप्त अतिशय गुण सहित जो भगवान आप्त हैं, उन्होंने श्री समंतभद्र स्वामी से यह प्रश्न किया है। कैसे हैं समन्तभद्र स्वामी ? मोक्षमार्ग ही आत्मा का हित है इस प्रकार स्वीकार करने वाले शिष्यों को सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेश की जानकारी के लिये आप्तमीमांसा को करते हुए श्रद्धा और गुणज्ञता से जिनका मन युक्त है—उनसे भगवान् ने प्रश्न किया कि हे समन्तभद्र ! "देवागम आदि विभूति से मैं महान हूँ पुनः आप मेरी स्तुति क्यों नहीं करते हैं ?" इस प्रकार स्पष्टतया भगवान के प्रश्न करने पर ही मानों समन्तभद्र स्वामी कहते हैं—

---

1 ननु च मीमांसितं, परीक्षा, विचार इत्यनर्थान्तरं तच्च वादिप्रतिवादिभ्यां भवितव्यम्। तथा च सति समन्तभद्राचार्यस्य महावादिनः प्रतिवादी न कश्चिन्मनुष्यमात्रः सम्भवत्येव (अवटुतटमटति झटिति स्फुटतटपाटचूर्जटेर्जिह्वा। वादिनि समन्तभद्रे कास्मेषा संकथा तत्र) ततः कथमाप्तमीमांसाविधानमुपपद्यते इति पृष्टः कश्चिदाचष्टे तदेवमुक्तन्यायेनेत्यर्थः। 2 तत्त्वार्थसूत्रस्य। 3 मोक्षनिमित्तं मङ्गलनिमित्तमाचार्याः शास्त्रं कुर्वन्ति। 4 उमास्वामिपादैः गृद्धपिच्छाचार्यापरनामधेयैः "आचार्यैः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः। एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पञ्चनन्दी बितन्यते" ॥१॥ "तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वात्प्रकटीकृतसत्तमः। उमास्वामिपदाचार्यो भिव्यात्सतिमिरापहम् ॥२॥ (टिप्पणकान्तरम्)। 5 विनेयजनान्। 6 यतः (हेतुसमासः)। 7 अर्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रस्यावानुशासितया तत्रैवोपन्यासादिति पूर्वोक्तमाप्तमीमांसाविधानलक्षणम्। एवं यथायोग्यं ज्ञातव्यम्। 8 कुर्वाणाः समन्तभद्राचार्याः। 9 जिनः, परमेष्ठी। 10 तत्त्वार्थसूत्रकारैः। 11 मोक्षमार्गस्य नेता कर्मभूभृतां भेत्ता विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति विशेषणवत्त्वेनाहं स्तुतः सूत्रकृता श्री समन्तभद्राचार्या देवागमादिविभूत्या त्वं महानिति कुतोऽहं नाभिष्टुत इति पृष्टा इव।

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते [1]नातस्त्वमसि[2] नो[3]महान् ॥१॥

देवागमादीनामादिशब्देन प्रत्येकमभिसम्बन्धाद्देवागमादयो[4] नभोयानादय[5]श्चासरादयश्च[6] विभूतयः परिगृह्यन्ते ताश्च भगवतीव मायाविष्वपि मस्करिप्रभृतिषु दृश्यन्ते इति तद्वत्तया[7] भगवन्नोस्माकं परीक्षाप्रधानानां महान्न स्तुत्योसि । [8]आप्ताभासास्तु [9]हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तावुभौ[10] मायाविष्वपि [11]मायादित्वागमाश्रयोयं[12] स्तवः * । श्रेयोमार्गस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान् देवागमनभोयानचामरादिविभूतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतोरप्यागमाश्रयत्वात्[13] । तस्य च प्रतिवादिनः[14] प्रमाणत्वेनासिद्धेः तदागमप्रामाण्यवादिनापि विपक्षवृत्तितया गमकत्वायोगात्[15] । तदागमादेव हेतोर्विपक्षवृत्तित्वप्रसिद्धेः ।

कारिकार्थ—आप के जन्म कल्याणक आदिकों में देवों का आगमन, आप का आकाश मार्ग में गमन एवं समवसरण में चामर छत्र आदि अनेक विभूतियों का होना आदि यह सब बाह्य वैभव मायावी विद्याधर मस्करी आदिकों में भी पाया जा सकता है अतः हे भगवन् ! हम लोगों के लिए आप महान् नहीं हैं, स्तुति करने योग्य नहीं हैं ॥१॥

इस कारिका के आदि पद को प्रत्येक पद के साथ लगाना चाहिए। इससे देव चक्रवर्ती आदिकों का आगमन, आकाश में गमन, चतुर्भुज आदि, चामर, छत्र, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ ग्रहण की जाती हैं—ये विभूतियाँ जिस प्रकार अर्हंत भगवान् में देखी जाती हैं उसी प्रकार मायावी मस्करी, पूरण आदिकों में भी पाई जा सकती हैं। इसलिए हे भगवन् ! हम जैसे परीक्षा-प्रधानी महापुरुषों के लिए आप स्तुति करने योग्य नहीं हैं। हाँ ! जो आप्ताभास प्रधानी हैं वे ही अर्हंत भगवान के देवागम, नभोयान आदि वैभव को परमात्मा का चिह्न समझ कर नमस्कार करते हैं न कि हम जैसे परीक्षा-प्रधानी जन, क्योंकि वैसा वैभव मायावी जनों में भी पाया जाता है। अतः इस प्रकार का स्तवन आगम के आश्रित है।*

अथवा—"मोक्ष मार्ग के प्रणेता भगवान् स्तुति करने योग्य महान् हैं, क्योंकि देवागम नभोयान चामरादि विभूतियों का अन्यथा होना सम्भव नहीं है।"

---

1 इति हेतोः । अथवा देवागमादिविभूतिः । 2 महानसि । 3 अस्माकं परीक्षाप्रधानानां सम्यक्त्वादीनाम् । 4 चक्रवर्त्यादिभावि । 5 चतुरास्यत्वादि । 6 सुरपुष्पवृष्ट्यादि । 7 देवागमादिविभूतियुक्तत्वेन (व्या० प्र०) । 8 परीक्षाप्रधानानां स्तुत्यो नासीत्यादि भावयति । 9 आप्ताभासवर्तिनः सम्यक्त्वाद्यविद्यन्तीति यदुक्तं आप्तविचारे न चानन्तीति आप्ताभासत्वव्यवस्थापकवर्तिनः । 10 देवागमादिविभूतित्वस्य । 11 इति हेतोः । 12 देवागमादिविभूतिमत्त्वं महानित्यत्वम् । 13 महत्त्वाभावे (व्या० प्र०)। 14 मीमांसकस्य । 15 जैनाभासस्यत्वादिनां स्याद्वादिनामपि विपक्षेषु मस्करिप्रभृतिषु प्रवर्तमानत्वाद्धेतोः साध्यकरत्वासम्भवात् ।

[विभूतिमत्त्वहेतोर्निर्दोषत्व ज्ञापने युक्तिः]

परमार्थपथप्रस्थायियथोदितविभूतिमत्त्वस्य हेतोर्मायो[1] पदर्शिततद्विभूतिमद्भिर्मायाविभिर्न व्यभिचारः [2]सत्यधूमवत्त्वादेः पावकादौ साध्ये स्वप्नोपलब्धधूमादिमतां देशादिनानैकान्तिकत्वप्रसंगात् सर्वानुमानोच्छेदात्[3] ।

[तटस्थजैनेन समाधानजनकं हस्तुलङ् कारिकाया द्वितीयोऽर्थस्य]

इति चेत् तर्हि मा भूदस्य[4] हेतोर्व्यभिचारः पारमार्थिक्यः पुरन्दरभेरीनिनादादिकृत-[5]प्रतिघातागोचरचारिण्यो यथोदितविभूतयस्तीर्थंकरे भगवति त्वयि तादृश्यो मायाविष्वपि नेत्य[6]तस्त्वं[7] महानस्माकमसीति[8] व्याख्यानाद्ग्रन्थविरोधाभावादिति[9] कश्चित्[10],

---

यह हेतु भी आगमाश्रित है इसलिए यह हेतु प्रतिवादी को प्रमाण रूप से मान्य नहीं है, क्योंकि वे लोग भी अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। अतः विपक्ष में चले जाने से यह हेतु गमक (अपने साध्य को सिद्ध करने वाला) नहीं हो सकता है। उनके आगम में भी चले जाने से इस हेतु में विपक्षवृत्तित्व सिद्ध ही है।

[विभूतिमत्त्व हेतु को निर्दोष मानने में युक्ति]

अब कोई प्रश्न करता है कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् जो हेतु है वह माया से उपदर्शित विभूति वाले मायावी जनों के साथ व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि मायावी जनों में उस प्रकार की विभूतियाँ नहीं पाई जाती हैं, यदि ऐसा नहीं मानोगे तो सत्य धूमवत्त्वादिक हेतु से अग्नि आदि साध्य के सिद्ध करने में स्वप्न में उपलब्ध हुए धूमादिमान प्रदेशादिक से भी व्यभिचार मानना पड़ेगा और पुनः सभी अनुमानों का उच्छेद हो जायेगा।

[तटस्थ जैनी द्वारा समाधान जनक उत्तर एवं कारिका का द्वितीय अर्थ]

अब यहाँ कोई तटस्थ जैनी उत्तर देता है कि यदि ऐसी बात है तो इस "देवागमत्व हेतु को व्यभिचारी मत मानिये, किन्तु ऐसा अर्थ कर लीजिए कि देवादिकों के भेरी निनाद आदि के द्वारा होने वाली एवं विनाश को न प्राप्त होने वाली, ऐसी वास्तविक, यथोदित (शास्त्र में कही गई) विभूतियाँ जिस प्रकार की आप तीर्थंकर भगवान् में हैं, उस प्रकार की मायावी जनों में नहीं हैं। अतएव आप हम लोगों के लिए महान् हैं—इस श्लोक का ऐसा अर्थ करने पर ग्रन्थ में भी विरोध नहीं आता है।

---

1 मायाविभिरुपदर्शिताश्च तास्तद्विभूतयो देवागमादिविभूतयस्तासां यत्र मायाविषु ते मायोपदर्शिततद्विभूतिमन्तस्तैः। 2 अत्राह कश्चित्स्वमतवर्ती 'हे समन्तभद्राचार्या! मायाविषि: कृत्वास्य हेतोर्व्यभिचारो नास्ति तदेव सत्यधूमवत्त्वादेरित्यादिना दर्शयति। 3 सर्वानुमानोच्छेदप्रसंगात्:—इति पाठांतरम् (व्या० प्र०)। 4 देवागमादिमत्त्वस्य। 5 विनाश। 6 मायाविषु तादृश्यो विभूतयो न भवन्ति। 7 इति हेतोः। 8 देवागमादिरूपोऽस्यैवं व्याख्यानादित्यर्थः। 9 व्यभिचाराभावे देवागमेत्यादिग्रन्थविरोध इत्यत आह ग्रन्थविरोधाभावादिति। 10 तटस्थः स्वमतवर्ती पृच्छति।

[पुनरप्याचार्यस्तर्केण हेतोर्व्यभिचारं साधयंति]

सोपि कुतः प्रमाणात्प्रकृतहेतुं[1] [2]विपक्षासम्भविनं प्रतीयात्[3] ? न तावत्प्रत्यक्षादनुमानाद्वा [4]तस्य [5]तदविषयत्वात्। नाप्यागमादसिद्ध[6]प्रामाण्यात्तत्प्रतिपत्तिरतिप्रसंगात्। [7]प्रमाणतः[8] सिद्धप्रामाण्यादागमात्तत्प्रतिपत्तौ ततः [9]साध्यप्रतिपत्तिरेवास्तु [10]परम्परापरिश्रमपरिहारश्चैवं[11] प्रतिपत्तुः स्यात्। ततः[12] सूक्तं सर्वथा नातो हेतोस्त्वमसि नो महांस्तस्यागमाश्रयत्वादिति।

[पुनः आचार्य तर्क द्वारा हेतु को व्यभिचारी सिद्ध करते हैं]

इस पर श्री विद्यानन्दि स्वामी प्रश्न करते हैं कि आप किस प्रमाण से प्रकृत हेतु (देवागमनादि) को विपक्ष में असंभवी निश्चित करते हैं—प्रत्यक्ष से या अनुमान से ?

इन दोनों प्रमाणों से भी चामरादि विभूतिमत्व हेतु की सिद्धि नहीं हो सकती है और सिद्ध नहीं है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से भी यह हेतु विपक्ष-व्यावृत्ति रूप सिद्ध नहीं है। यदि आप कहें अनुमान प्रमाण से सिद्ध है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से इस हेतु को सिद्ध करेंगे तो इस आगम से महानपने रूप साध्य की ही सिद्धि हो जावे जिससे कि प्रतिपत्ता-ज्ञाता के परम्परा से होने वाले परिश्रम का परिहार हो जाता है। अर्थात् आगम से विभूतिमत्व हेतु की सिद्धि, पुनः इस हेतु से भगवान के महानपने रूप साध्य की सिद्धि होती है। अतः इस परम्परा परिश्रम से कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु स्वयं आगम से ही साध्य की सिद्धि कर सकते हैं, इसलिए यह ठीक ही कहा है कि सर्वथा इस 'विभूतिमत्वादि' हेतु से आप हम लोगों के लिए महान् नहीं हैं क्योंकि यह हेतु आगमाश्रित है।

भावार्थ—ग्रन्थकर्ता का कहना है कि विभूतिमत्व हेतु से हम भगवान को महान समझकर नमस्कार नहीं करते हैं। इस पर कोई जैन ही कह देता है कि जैसी विशेष एवं सच्ची विभूतियाँ अर्हंत भगवान् में हैं वैसी अन्य मायावी जनों में हो ही नहीं सकती हैं। इस पर कोई दूसरा तटस्थ जन उत्तर देता है कि पुनः इस हेतु को व्यभिचारी मत मानिये एवं कारिका के अर्थ में 'न' शब्द को "मायाविष्वपि" के साथ लगाकर अर्थ कर लीजिये, जिससे भगवान् अर्हंत इन विभूतियों से ही महान्

---

1 देवागमादिहेतुम्। 2 मायाविष्वसम्भविनम्। 3 निश्चीयात्। 4 विभूतिमत्वादिहेतोः। 5 अनोः प्रत्यक्षानुमानयोरगोचरत्वात् प्रत्यक्षात्तावन्नामरादिविभूतिमत्वं दृश्यते नाप्यनुमानेन हेतोरसिद्धेरिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां हेतुरयं गोचरो न। 6 असिद्धप्रामाण्यत्वाभावमात्रस्य हेतोः परिज्ञानं चेत्सदातिप्रसङ्गः। 7 अयमागमो धर्मी प्रमाणं भवितुमर्हति पूर्वापरविरोधरहितत्वादित्यनुमानात् प्रमाणात्। 8 यदि प्रमाणाद्यागमसिद्धिरागमात्साध्यसिद्धिर्हेतुना किं प्रयोजनम् (इत्या० प्र०)। 9 महानिति। 10 आगमाद्धेतुप्रतिपत्तिस्ततः साध्यसिद्धिरिति परम्परापरिश्रमस्तस्यपरिहारः। 11 आगमात्साध्य प्रतिपत्तिप्रकारेण। 12 निर्विशेषे सति विशेषव्याख्यानहृदयस्यागमाश्रितत्वं यतः।

सह[1]स्तरंगबहिरंगविग्रहादिमहोदयेनान्यजनाति शायिना[1] सत्येन[2] स्तोतव्योहं [3]महानिति भगवत्पर्यनुयोगे[4] सतीव प्राहुः :—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।
दिव्यः सत्यो [5]दिवौकस्स्वप्यस्ति [6]रागादिमत्सु सः ॥२॥

आत्मानमधिश्रित्य वर्तमानोऽध्यात्ममन्तरंगो विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः

हैं अतः हम लोगों के लिये पूज्य हैं क्योंकि मायावीजनों में ये विभूतियां नहीं पाई जाती हैं, ऐसा अर्थ करके परस्पर में समाधान कर देने पर श्री विद्यानन्द स्वामी कहने लगे कि यह "विभूतिमत्व" हेतु अन्य के भी आगम में चला जाता है। अतः विपक्ष में चले जाने से यह व्यभिचारी है क्योंकि सभी मतावलंबी जन अपने-अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहे वह हेतु व्यभिचारी कहलाता है जैसे कि "आकाश नित्य है क्योंकि वह ज्ञान का विषय है" अब यहाँ ज्ञान का विषय रूप "ज्ञेयत्व" हेतु व्यभिचारी है। क्योंकि यह घट पट आदि अनित्य पदार्थों में भी पाया जाता है। तथा "इस पर्वत पर अग्नि है क्योंकि धूमवाला है" यहाँ यह धूमवत्व हेतु पक्ष-रूप पर्वत पर है एवं सपक्ष रूप रसोईघर में भी है तथा विपक्षभूत तालाब में नहीं है अतः यह हेतु व्यभिचारी नहीं है। उपर्युक्त व्यभिचारी हेतु का दूसरा नाम अनैकांतिक भी है।

उत्थानिका—पुनः मानो साक्षात् भगवान ही समन्तभद्र स्वामी से प्रश्न कर रहे हैं—कि हे समन्तभद्र ! बाह्य विभूति से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही, किन्तु अन्य मस्करी पूरण आदि जनों में नहीं पाये जाने वाले, ऐसे वास्तविक अन्तरंग, बहिरंग विग्रहादि महोदय हैं, उनके द्वारा तो मैं तुम्हारे स्तवन करने योग्य महान अवश्य ही हूँ।

इस प्रकार के प्रश्न करने पर ही मानों समन्तभद्र स्वामी कहते हैं :—

कारिकार्थ—अंतरंग विग्रह आदि महोदय-निरन्तर पसीना रहितपना आदि एवं बहिरंग-गन्धोदक वृष्टि आदि महोदय जो कि दिव्य हैं, सत्य अर्थात् वास्तविक हैं। इस प्रकार अन्तरंग, बहिरंग शरीर आदि महोदय भी मस्करीपूरण आदि में न होते हुए भी रागद्वेष-युक्त देवों में पाये जाते हैं, इसलिए भी हे भगवन् ! आप महान् नहीं हैं ॥२॥

---

1 मस्करिपूरणाद्यन्यजनेभ्योतिशयवता। 2 परमार्थभूतेन। 3 अहं पक्षः महान् भवामीति साध्यो धर्मः अन्तरङ्ग-बहिरङ्गविग्रहादिमहोदयसद्भावान्यथानुपपत्तेः। 4 प्रश्ने। 5 असौकसयायेषु देवेषु। 6 वर्तते यस्मात्तस्त्वं महान्न। अथवा किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः। अतस्त्वं महानस्माकमसीत्यभिप्रायो भगवतः। 7 आदिशब्दात्सोह-ङ्गेयमयाहङ्कारादीनां ग्रहणम्।

परानपेक्षत्वात्[1] । ततो बहिर्गन्धोदकवृष्टयादिर्बहिरंगो देवोपनीतत्वात् । स च सत्यो माया-विष्वसत्वात् । दिव्यश्च [2]मनुजेन्द्राणामभ्यभावात् । स एष **बहिरन्तःशरीरादिमहोदयोऽपि[3] पूरणादिष्वसम्भवी व्यभिचारी स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु । [4]ततोऽपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते** * ।

[अब कश्चित्तटस्थजैनः महोदयत्वहेतुं निर्दोषं साधयति]

अथ[5] यादृशो घातिक्षयजः स[6] भगवति न तादृशो देवेषु [7]येनानैकान्तिकः स्यात् । [8]दिवौ-कस्स्वप्यस्ति ? रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते

[पुनरपि आचार्या हेतुं सदोषं साधयंति]

तथाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत्[9] । ननु प्रमाणसंप्लववादिनां[10] प्रमाणप्रसिद्धप्रामाण्या-

---

आत्मा का आश्रय लेकर जो होवे उसे अध्यात्म कहते हैं अर्थात् अन्तरंग शरीरादि महोदय हमेशा मल-मूत्र, पसीना आदि से रहित अवस्था विशेष, जो कि पर मंत्रादि किसी की भी अपेक्षा नहीं रखते हैं उससे भिन्न बाह्य-गन्धोदक, पुष्प वृष्टि आदि बहिरंग महोदय होते हैं जो कि देवों के द्वारा किये जाते हैं। ये दोनों प्रकार के महोदय सत्य (वास्तविक) हैं, क्योंकि ये मायावी जनों में नहीं पाये जाते हैं और दिव्य हैं क्योंकि चक्रवर्ती आदि महापुरुषों में भी इनका अभाव है। इस प्रकार ये "बहिरंग, अंतरंग शरीरादिक महोदय" भी मस्करीपूरण आदि में असम्भव हैं, तो भी रागादिमान्—कषाय सहित देवों में पाये जाते हैं अतः व्यभिचारी हैं, इसलिए इस हेतु के द्वारा भी आप परमात्मा नहीं हैं अतः मेरे द्वारा स्तुत्य नहीं हैं।

[यहाँ कोई तटस्थ जैनी "विग्रहादि महोदयत्वात्" हेतु को निर्दोष सिद्ध करता है]

अब कोई तटस्थ जैनी कहता है कि जिस प्रकार का घातिया कर्म के क्षय से होने वाला अतिशय भगवान् में है, उस प्रकार का देवों में नहीं है जिससे कि यह विग्रह आदि महोदय हेतु अनैकान्तिक होवे, अर्थात् यह हेतु व्यभिचारी नहीं है तथा यह विग्रहादि महोदय रागादिमान देवों में है ? अर्थात् नहीं है। इस प्रकार वक्रोक्ति रूप व्याख्यान के द्वारा अर्थ करने से आगम में भी बाधा नहीं आती है।

[पुनः आचार्य हेतु को सदोष सिद्ध करते हैं]

इस पर आचार्य श्री विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं कि यह हेतु भी पूर्ववत् आगमाश्रय होने से अहेतु है, क्योंकि यह हेतु विपक्ष में नहीं रहता है, यह कैसे जाना जाये। कोई कहता है कि आप जैनी

---

1 सम्बाह्यनपेक्षत्वात् । 2 चक्रवर्त्यादीनाम् । 3 अहं यदि महान् भवामि अंतरंगबहिरंगमहोदयसद्भावान्य थानुपपत्तेः (व्या० प्र०)। 4 हेतोर्व्यभिचारित्वात् । 5 यदि । अहं स्वमतवर्ती । 6 विग्रहादिमहोदयः । 7 न केनापि । 8 किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः । 9 सोपि प्रकृतहेतुं विपक्षासम्भविनं कुतः प्रतीयादित्याशिष्यमाणमनीयम् । 10 बहूनां प्रमाणानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः प्रमाणसम्प्लवः । जैनानाम् ।

दागमात्साध्यसिद्धावपि[1] तत्प्रसिद्धसाधनजनितानुमानादनुमेयप्रतिपत्तिरविरुद्धेति चेन्न, [2]उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसम्प्लवस्यानभ्युपगमात्। सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे [3]देशादिविशेषसमवधानादागमात्प्रतिपन्नमपि[4] हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्रतिपित्सते। तत्प्रतिबद्धधूमादिसाक्षात्करणात्प्रतिपत्तिविशेषघटनात्[5] पुनस्तमेव प्रत्यक्षतो बुभुत्सते। [6]तत्करणसम्बन्धात्तद्विशेष[7]प्रतिभाससिद्धेः[8]। न [9]चैवमागमगम्यात्रगम्ये साध्ये साधने च [10]तत्प्रतिपत्तिविशेषोस्तीति [11]किमकार[12]णमत्र[13] प्रमाणसंप्लवोभ्युपगम्यते [14]प्रत्यक्षनिश्चयेऽग्नौ धूमे च तदभ्युपगमप्रसंगात्। सर्वथा विशेषाभावात्। ततो देवागमनभोयानचामरादिविभूतिभिरिवान्तरंगबहिरंगविग्रहादिमहोदयेनापि न स्तोत्रं भगवान् परमात्माऽर्हति।

तो प्रमाण सम्प्लववादी हैं, अतः प्रमाण से प्रसिद्ध है प्रमाणता जिसकी, ऐसे आगम से साध्य की सिद्धि, अर्थात् भगवान् का महान् सिद्ध हो जाने पर भी आगम से प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न होने वाले अनुमान प्रमाण से पुनरपि साध्य की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उपयोग विशेष के अभाव में हमने प्रमाण सम्प्लव को स्वीकार नहीं किया है।

जानने वाले आत्मा का उपयोग—प्रयोजन विशेष होने पर ही देश, कालादि विशेष से निर्णीत आगम से निश्चित होने पर भी अग्नि को अनुमान विशेष से जानना चाहता है, एवं साध्य से सम्बद्ध धूमादि के साक्षात् करण से ज्ञान विशेष होता है, पुनः वह आत्मा उस साध्य अग्नि आदि को प्रत्यक्ष से जानना चाहता है, क्योंकि साध्य 'अग्नि' का चक्षु इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से इसका विशेष पीत वर्ण रूप भासुराकार प्रतिभास सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रमाण संप्लव के द्वारा आगम मात्र गम्य साध्य और साधन में साध्य का परिज्ञान विशेष नहीं हो सकता है।

अतः यहाँ पर व्यर्थ ही प्रमाण संप्लव को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं है। यदि कारण के बिना भी प्रमाण-संप्लव स्वीकार करेंगे तो प्रत्यक्ष से निश्चित हुई अग्नि और धूम में भी प्रमाण-सम्प्लव मानने का प्रसंग आवेगा। सर्वथा यहाँ पर भी विशेष का अभाव है, इसलिए 'देवागम नभोयान चामरादि विभूतिमत्व' के समान अन्तरंग, बहिरंग विग्रहादि महोदय के द्वारा भी आप भगवान्—परमात्मा स्तवन करने योग्य नहीं हैं।

आचार्य—पुनरपि ग्रंथकर्ता "विग्रहादि महोदयत्व" हेतु से भी भगवान् को महान् मानने को तैयार नहीं है। इस पर भी कोई तटस्थ जैन कहता है कि घाति कर्म के क्षय से होने वाले जो दिव्य

---

1 सहस्रा। 2 परिच्छित्ति। 3 कालस्वरूपम्। 4 निर्णयात्। 5 पुनः स प्रतिपत्ता तं हिरण्यरेतसं साक्षात्कर्तुमिच्छति। कस्मात्? अग्नेरनेकविशेषसंबोधात्साध्यविशेषप्रतिपत्तेः सिद्धत्वात् यतः। 6 इन्द्रियेण। 7 पिङ्गलभासुराकार। 8 विशेषप्रतिभाससिद्धेरिति वा पाठः। 9 अग्निसद्भावेन। 10 प्रमाणसंप्लवेन तस्य साध्यस्य परिज्ञानविशेषो नास्ति। 11 किमिति किमर्थम्। 12 कारणं बिना। 13 साध्ये। 14 अग्नौ धूमे च प्रत्यक्षं निश्चिते सति तस्य प्रमाणसंप्लवस्याङ्गीकारप्रसङ्गो घटते।

तर्हि तीर्थकृत्सम्प्रदायेन[1] स्तुत्योऽहं महानिति भगवदाक्षेपप्रवृत्ताविव[2] साक्षादाहुः—

तीर्थकृत्समयानां[3] च परस्परविरोधतः[4]।
सर्वेषामाप्तता[5] नास्ति[6] कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

अतिशय है वे रागादिमान् देवों में असंभव है अतः कारिका के अर्थ में वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ करके प्रश्न-वाचक कर देने से, मतलब ये विग्रहादि महोदय रागादिमान देवों में हो सकते हैं क्या ? अर्थात् नहीं हो सकते हैं ऐसा अर्थ कर देने से आगम में भी बाधा नहीं आती है। इस समाधान पर भी श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि यह हेतु आगमाश्रित होने से अनैकांतिक ही है। इस पर किसी का कहना है कि आप जैन प्रमाण संप्लव को मानते हैं अतः प्रमाण से प्रसिद्ध प्रमाणता वाले आगम प्रमाण से भगवान् का महत्त्व सिद्ध करो, पुनः प्रसिद्ध हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाण से भी भगवान् का महत्त्व सिद्ध करो, इस प्रकार से आप जैनों के यहाँ तो कोई भी बाधा नहीं है अर्थात् बहुत से प्रमाणों का एक ही साध्य को सिद्ध करने में प्रवृत्त हो जाना प्रमाण संप्लव कहलाता है। जैसे किसी पुस्तक में पढ़ा कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। पुनः सामने के पर्वत पर धूम को देखकर अनुमान से जाना कि यहाँ अग्नि अवश्य है, तदनंतर कदाचित् उसी पर्वत पर चढ़ गये अथवा रसोईघर में गये एवं अग्नि को प्रत्यक्ष चक्षुइंद्रिय से देखा। इस अग्निरूप साध्य को सिद्ध करने में आगम, अनुमान एवं प्रत्यक्ष ऐसे तीन प्रमाण प्रवृत्त हुये हैं। कोई-कोई इस विषय में आगे के प्रमाण को अपूर्वार्थ-ग्राही न होने से दोष मानते हैं किन्तु जैनाचार्य इसे दोष नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक प्रमाण आगे-आगे कुछ विशेष-विशेष अंशों को ग्रहण करने वाले होने से अपूर्वार्थग्राही ही हैं इत्यादि। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हम प्रयोजन के बिना ही प्रमाण संप्लव को नहीं मानते हैं। जहाँ प्रयोजन विशेष होता है वहीं पर मानते हैं, नहीं तो एक बार अग्नि को प्रत्यक्ष से देखकर भी उसका अनुमान लगाते बैठेंगे।

उत्थानिका—सब ही देवों में भी असंभवी ऐसे आगम रूप तीर्थकृत् संप्रदाय के द्वारा तो मैं अवश्य ही स्तुति करने योग्य महान् हूँ, इस प्रकार मानों भगवान् के साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समंतभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुए के समान ही कहते हैं :—

कारिकार्थ—परमागम लक्षण तीर्थ को करने वाले तीर्थकृत् कहलाते हैं। उनके समय अर्थात्

---

1 दिव्योऽस्त्वन्यस्तथाभिधा आगमेन। 2 प्रश्नप्रवृत्तौ सत्याम्। 3 तीर्थं परमागमलक्षणं कुर्वन्ति ये ते तीर्थकृतो जैनव्यतिरिक्तवादिनः कपिलादयस्तेषां समया आगमास्तेषाम्। 4 स्वकीयस्वकीयशिष्याभिप्रायेण। 5 मीमांसक, सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्त्वोपप्लववादि, बौद्ध, ब्रह्माद्वैतवादि, पुरुषाद्वैतवादि, चिदद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादि, शून्याद्वैतवादिप्रभृतानां सर्वेषामेकान्तसमताश्रयिणाम्। 6 प्रसाधूनामर्थवेदृत्वम्। 7 परमतापेक्षया कारका व्याख्यानं, कश्चिदपि गुरुर्भवेदपि न कश्चिदपि गुरुर्भवेदिति। जैनमतापेक्षया तु द्वावप्येतौ कारिकार्थौ, कः परमात्मा विशेषार्हन् केवलज्ञानाप्तो भवेत्सार्वः। अथवा अस्ति यः स भवेत् संसारिजन्तूनां गुरुर्भवेद्गुरुरित्येकपदं ज्ञेयम्। चार्वाकमते बृहस्पतेर्ग्रहणं ज्ञेयम्।

इति भगवतो महत्त्वे साध्ये तीर्थंकरत्वं साधनं कुतः प्रमाणात् सिद्धम् ? न तावदध्यक्षात्तस्य [1]तदविषयत्वात्साध्यवत् । नाप्यनु[2]मानात्तदविनाभाविलिंगाभावात् । [3]समयात्सिद्धमिति चेत् पूर्ववदागमाश्रयत्वादगमकत्वमस्य व्यभिचारश्च । न[4] हि तीर्थंकरत्वमाप्तता साधयति, शाक्यादिष्वसम्भवि सुगतादौ दर्शनात् * । यथैव[5] हि भगवति तीर्थंकरत्वसमयोस्ति तथा सुगतादिष्वपि । सुगतस्तीर्थंकरः, कपिलस्तीर्थंकर इत्यविसमयाः [6]सन्तीति सर्वे महान्तः स्तुत्याः स्युः । न च सर्वे सर्वज्ञिनः परस्परविरुद्धतत्त्वयाथात्म्यवादिनः * । [7]तदुक्तम् ।

सुगतो यदि सर्वज्ञो कपिलो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः[8] कथं तयोः ॥

आगमों में परस्पर में भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है, अतः सभी को आप्तपना (सर्वज्ञपना) नहीं है, अर्थात् मीमांसक सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, तत्त्वोपप्लववादी, योग, ब्रह्माद्वैतवादी, ज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्तमतावलम्बी वादियों में सभी के ही सर्वज्ञता नहीं हो सकती है, इसलिए कोई एक गुरु-परमात्मा अवश्य है ॥३॥

इस प्रकार भगवान् में "महानपना" साध्य करने में तीर्थंकरत्व हेतु भी किस प्रमाण से सिद्ध है ?

यह हेतु प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नहीं है, क्योंकि साध्य के समान यह हेतु भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, न अनुमान से सिद्ध है क्योंकि साध्य जो महान् है उसके साथ अविनाभावी लिंग नहीं पाया जाता है। यदि आप कहें—आगम से सिद्ध है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्ववत् आगमाश्रय होने से यह हेतु अगमक है—साध्य को सिद्ध करने वाला नहीं है। और विपक्ष में जाने से व्यभिचारी भी है।

देखिये—यह 'तीर्थंकरत्व' हेतु आप्तपने को सिद्ध नहीं कर सकता है। यद्यपि यह तीर्थंकरत्व हेतु वैशेषिकों में असंभवी है फिर भी बुद्ध आदिकों में पाया जाता है। * क्योंकि जिस प्रकार भगवान्—तीर्थंकर का आगम मौजूद है उसी प्रकार सुगत आदि में भी अपने-अपने तीर्थ को करने वाला आगम पाया जाता है। सुगत भी तीर्थंकर हैं, कपिल भी तीर्थंकर हैं, इस प्रकार आगम मौजूद है। अतः सभी ही महान् एवं स्तुति के योग्य हो जावेंगे।

किन्तु वे सभी सर्वदर्शी सर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि परस्पर में विरुद्ध आगम का कथन करने वाले हैं।*

जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा—

श्लोकार्थ—बुद्ध यदि सर्वज्ञ है और कपिल (सांख्य का गुरु) नहीं है इसमें क्या प्रमाण है

---

1 प्रत्यक्षागोचरत्वात् । 2 भगवान् सभी महान् भवतीति साध्यस्तीर्थंकरत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । यो महान् भवति स तीर्थंकरो न भवति यथा रथ्यापुरुषः तीर्थंकरत्वाभावो तस्माद् महान् भवतीति । 3 आगमात् । 4 व्यभिचारमेव भावयति । 5 एतत्सास्तीत्युक्ते आह । 6 आप्तबुद्ध । 7 कुमारिलेन । 8 सर्वथा सर्वज्ञिनः, सर्वथा भिन्नमिन्नादि ।

इति । ततोऽनैकान्तिको हेतुः[1] तीर्थकरत्वाख्यो न[2] कश्चिन्महत्त्वं साध्यतीति कश्चिदेव गुरुर्मेहान् प्रदेत् ? नैवम्भवेदित्यायातम्[3] । [4]अत एव न कश्चित्सुतः सर्वज्ञः स्तुत्यः श्रेयोऽर्थिनां श्रुतेरेव[5] श्रेयःसाधनोपदेशसिद्धेरित्यपरः[6] । तं प्रत्येषामेव कारिका योज्या । तीर्थं कृत्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः[7] सर्वज्ञागमनिराकरणकारित्वात्[8] । तेषां [9]समयास्तीर्थकृत्समयास्तीर्थकृदसम्प्रदायाः अकलङ्कादि[10]भ्यस्तदर्थप्रसादा इत्यर्थः । तेषां च परस्परविरोधादाप्तता संवादकता[11] [12]नास्तीति कश्चिदेव शब्दादयो नयेद्गुरुः [13]संवादकत्वे वैव प्रवेशितेति व्याख्यानात् । सदेवं वरतत्त्वम् ।

और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं तो उन दोनों में मतभेद क्यों पाया जाता है, क्योंकि बुद्ध तो सर्वथा वस्तु को क्षणिक ही मानते हैं और सांख्य सर्वथा सभी वस्तु को नित्य ही मानते हैं।

इसलिए यह 'तीर्थंकरत्व' हेतु अनैकान्तिक है," यह किसी भी पुरुष को "महान्" सिद्ध नहीं कर सकता है। अतः कोई बुद्ध-महान् हो सकेगा क्या ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

अब मीमांसक कहते हैं कि इसीलिए सौगतादिकों के द्वारा कोई भी पुरुष विशेष सर्वज्ञ स्तुति योग्य नहीं है।* श्रुति अर्थात् अपौरुषेय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधन भूत उपदेश की प्रसिद्धि है।

ऐसा कहने वाले उन मीमांसकों के प्रति भी इस कारिका का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—

"तीर्थं कृत्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः" अर्थात् मीमांसकजन तीर्थ का लोप करने वाले तीर्थकृत् हैं क्योंकि ये सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम का निराकरण करने वाले हैं। उनके आगम (उपदेश) तीर्थकृत् आगम हैं, अर्थात् तीर्थ के वास्तविक स्वरूप को करने वाले हैं—भावना, विधि, और नियोग रूप वेद वाक्यों के प्रतिपादक अर्थ करने वाले हैं। अर्थात् वेदवाक्यों का अर्थ कोई तो भावना रूप मानते हैं, कोई उससे विरुद्ध विधिरूप करते हैं, एवं कोई उससे विरुद्ध नियोगरूप करते हैं। इसलिए सभी परस्पर में विरोध होने से आप्तपना-संवादकपना सम्भव नहीं है। अतः कोई भी सम्प्रदाय बुद्ध-संवादक नहीं है, ऐसा व्याख्यान अकलङ्क आदिकों से।

आचार्य—पुनरपि भी समंतभद्र स्वामी भगवान् को तीर्थंकृत्व हेतु से भी महान् सिद्ध नहीं कर रहे हैं। इस पर मीमांसक, सौगत और शून्यवादी को दौड़ने का मौका मिल जाता है। वे कहते हैं कि कारिका के "कश्चिदेव भवेद्गुरुः" इस अंतिम चरण का व्याख्यान के द्वारा प्रश्न वाचक अर्थ कर दीजिये कि सभी आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः "क्या कोई गुरु भगवान् हो सकता है ?" अर्थात् नहीं हो सकता है। बस ! ऐसा अर्थ कर देने पर हम मीमांसकों का मत पुष्ट हो

---

1 पुंसः। 2 यत एवं ततस्तीर्थकरत्वभावो हेत्वनैकान्तिकः सन् कस्यचित् सुगतादेर्महत्त्वं न साधयति। 3 सर्वथा तीर्थकरत्वाविशेषकत्वादिति भावः। 4 यतोऽतिशयो नैव श्रेयः इत्युक्ते अत्र 'नैवास्ति'। 5 मीमांसकः। 6 सर्वज्ञप्रतिपादकः। 7 उपदेशाः। 8 आदिशब्देन विधिनियोगौ। 9 संवादकत्वाभावेऽप्यागमस्याप्रामाण्यमकलङ्कादीनाम्। 10 संवादकता नास्ति यतः। 11 भावनावाक्ये।

भावना[1] यदि वाक्यार्थो नियोगो[2] वेदितव्यः[3] । तत्पूर्वो यदि वाक्यार्थो ह्यहो मुह्यन्ति मादृशाः ॥१॥इति
[4]कार्यैक्ये [5]प्रतीयमाने स्वरूपे किमु [illegible] । [illegible] मुह्यन्त्यन्धपरम्परा ॥२॥इति

आता है कि जगत में कहीं पर भी कोई सर्वज्ञ भगवान् है ही नहीं। हमारे द्वारा अपौरुषेय वेद से ही धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सिद्ध हो जाता है। अतः किसी पुरुष को सर्वज्ञ मानने की आवश्यकता ही नहीं है। इस पर जैनाचार्यों ने इस 'अग्निष्टोमयज्ञ' का अवयव तो यह अर्थ किया है कि कोई एक ही पुरुष हो सकता है पुनः उसी से यह अर्थ भी कर दिया है कि क:—परमात्मा, यित्-अर्हंत भगवान्, एव—ही अग्नेय, यज-संसार का जो इष्ट-प्राप्त है वे यजेत् हैं उन संसारी जीवों के पुरु-भगवान् महान् केवली आप्त ही हो सकते हैं, अन्य कोई भी नहीं हो सकते हैं।

श्लोकार्थ—यदि वेदवाक्य का अर्थ भावना है नियोग नहीं है इसमें क्या प्रमाण है? यदि ये दोनों ही वाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और प्रभाकर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं ॥१॥ नियोगरूप कार्य के अर्थ में वेद का ज्ञान प्रमाण है तो स्वरूप-विधि में वह प्रमाण क्यों नहीं है? यदि कार्य और स्वरूप दोनों में ही यह वेदवाक्य प्रमाण होवे तब तो खेद है कि भट्ट और वेदांतवादी दोनों ही नष्ट हो गये ॥२॥

विशेषार्थ—जैनाचार्य अपौरुषेय वेद में भी परस्पर विरोध को दिखलाते हुये कहते हैं। "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्ग कामः" इत्यादि वाक्यों में जो "यजेत" पद विधि लिङ् है, वेदांतवादी लोग इसका अर्थ विधिरूप एक अद्वितीय परब्रह्म ही करते हैं, नियोगवादी प्रभाकर इसी का अर्थ "मैं इस वाक्य से यज्ञ कार्य में नियुक्त हुआ हूँ" ऐसा नियोग रूप करते हैं तथा भावनावादी भट्ट इसी वेद का अर्थ भावना रूप करते हैं। "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इन वेद वाक्यों से नैयायिक लोग ईश्वर का सर्वज्ञत्व अर्थ निकालते हैं एवं इसी वाक्य से मीमांसक लोग कर्मकांड की स्तुति करने वाला अर्थवाद वाक्य मानते हैं और चार्वाक "अग्नौ पुरुषः" आदि श्रुतियों से अपना मत पुष्ट करते हुये कहते हैं कि अग्न्यादि भूत चतुष्टय से ही आत्मा का निर्माण होता है। कामधेनु के समान इन वेदवाक्यों से भिन्न-भिन्न मतावलम्बी अपने भिन्न-भिन्न ही अर्थ की कल्पना करके अपनाभिप्रेत मत पुष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार सभी के मतों में परस्पर में एक दूसरे से विरोध आता है। मीमांसक तो सर्वज्ञ को मानते ही नहीं हैं। वे वेदवाक्य स्वयं तो कहते नहीं हैं कि मेरा यह अर्थ प्रमाण है एवं यह अर्थ अप्रमाण है। तथा उस वेद के व्याख्याता पुरुष भी वहाँ होते ही नहीं हैं। इसलिये "वे ही अर्थ प्रमाण हैं" ऐसी अंध परम्परा से अर्थ का निर्णय होना नहीं बनेगा। एक अंधे से दूसरे अंधे का एवं दूसरे से तीसरे का इत्यादि रूप से सैकड़ों अंधे हाथ पकड़कर पंक्ति से खड़े हों तो क्या उनको दीखने लगेगा? अर्थात् नहीं दीखेगा और न वे अंधे अभीष्ट स्थान को ही प्राप्त कर सकेंगे और यदि उन अंधों की पंक्ति में आगे एक चक्षुष्मान् व्यक्ति खड़ा जावेगा तो कदाचित् सभी को

---

1 कि केन प्रमाणेनावगम्यते भावना-वाक्यकरण पदोत्पन्ना प्रत्ययवाच्या (ब्या० प्र०)। 2 विधुलोहितमित्याकृतं वस्त्वाक्षिपति स एव नियोग इत्यर्थः। 3 अहं वै खलिवद् अग्नेष्टोमादिभिर्यजनक्रियानियोगेन वेदवाक्यं कार्यं व प्रमाणम्। 4 भावनाकार्ये धात्वे (ब्या० प्र०)। 5 कार्यस्वरूपयोः।

अभीष्ट स्थान तक पहुँचा भी सकता है। तथैव यदि आप मीमांसक इस अनादि निधन वेद का व्याख्याता सर्वज्ञ को मान लेवें तो सभी असर्वज्ञों—असर्वज्ञों को भी शब्दार्थ बोध हो सकता है हम जैनों ने भी द्रव्यार्थिक नय से श्रुत को अनादि निधन माना है एवं पर्यायार्थिक नय से ही सादि सान्त भी माना है। किन्तु सर्वज्ञ को मानने से हमारे यहाँ अर्थकर्ता तो सर्वज्ञ ही हैं किन्तु ग्रन्थकर्ता चार ज्ञानधारी गणधर हैं। उन्हीं की परम्परा से अविच्छिन्न परम्परा तक ग्रन्थ प्रमाण माने जाते हैं। इसका श्लोकवार्तिक में अच्छा स्पष्टीकरण है।

यहाँ पर तो अपौरुषेय वेद में प्रभाकर, भाट्ट एवं अर्हतवादी इन तीनों ने ही नियोग भावना और विधिरूप से वेदवाक्यों का अर्थ किया है तथा जैनाचार्यों ने एक दूसरे के द्वारा ही उनका खंडन करा दिया है।

आप्त परीक्षण का सारांश

मोक्षशास्त्र की आदि में मोक्ष के लिये कारणभूत एवं मंगल के लिये कारणभूत श्री उमास्वामी आचार्य द्वारा जो अतिशय गुण सहित भगवान् आप्त हैं उनकी स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्र स्वामी भगवान् से प्रश्न-उत्तर करते हुये के समान ही कहते हैं कि—

हे भगवन्! आपके जन्मकल्याणकादिकों में देव चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किन्तु ये विभूतियाँ तो मायावी आदिकों में भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिये महान्-पूज्य नहीं हैं। अर्थात्—"श्रेयोमार्गस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान् देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः" इसमें 'देवागमनभोयान चामरादि विभूतिमान् की अन्यथानुपपत्ति होने से' यह हेतु आगमाश्रय होने से असिद्ध है क्योंकि सभी लोग अपने-अपने आगम को प्रमाण मानते हैं। यदि कोई तटस्थ जैनी यों कहे कि वास्तविक आगम कथित विभूतिमान् हेतु मायावीजनों में सम्भव नहीं है क्योंकि साधारण में असंभवी असाधारण विभूतियाँ तीर्थंकर भगवान की हैं इसलिये इस श्लोक का अर्थ ऐसा करना चाहिये कि "देवागम आदि विभूतियाँ जो आप में हैं सो मायावीजनों में नहीं देखी जाती हैं अतएव आप हमारे लिये महान् हैं इस पर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि इस "विभूतिमत्त्वात्" हेतु को विपक्ष से असम्भवी आप किस प्रमाण से निश्चित करते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से? इन दोनों से तो आप सिद्ध नहीं कर सकते। यदि आगम प्रमाण से सिद्ध करें तब तो हमने पहले कहा ही है कि यह हेतु आगमाश्रय होने से असिद्ध है।

इस पर भगवान् मानो पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र ! बाह्य विभूति से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही किन्तु अन्य मसखरी आदि में असम्भवी ऐसे अंतरंग में पसीना आदि से रहितपना एवं बहिरंग गंधोदक की वृष्टि आदि महोदय हैं जो कि दिव्य हैं, सत्य हैं वे मुझमें हैं अतः आप स्तुति करिये। इस पर स्वामी समंतभद्राचार्य कहते हैं कि ये महोदय भी रागादिमान् देवों में पाये जाते हैं अतः इनसे भी आप महान् नहीं हैं।

इस पर कोई तटस्थ जैनी कहता है कि जैसा घाति कर्म के क्षय से होने वाला अतिशय भगवान् में है वैसा देवों में नहीं है। अतः "विग्रहादि महोदयत्वात्" हेतु व्यभिचारी नहीं है इसलिये कारिका का अर्थ ऐसा करना कि ये विग्रहादि महोदय रागादिमान् देवों में हैं ? अर्थात् नहीं है इस प्रकार वक्रोक्ति द्वारा अर्थ करने से आगम में बाधा नहीं आती है। इस पर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि पूर्ववत् ही यह हेतु आगमाश्रय होने से अहेतु है। अतः पूर्ववत् आप विग्रहादि महोदय के द्वारा भी हमारे लिये महान् पूज्य नहीं हो सकते हैं।

तब तो देवों में भी असम्भवी ऐसे आगमरूप तीर्थकृत् सम्प्रदाय महोदय के द्वारा तो मैं अवश्य स्तुति करने योग्य हूँ इस प्रकार से मानो भगवान् के द्वारा साक्षात् प्रश्न करने पर ही श्री समंतभद्र स्वामी प्रत्युत्तर देते हुये के समान कहते हैं कि हे भगवन् ! आगमरूप तीर्थ को करने वाले तीर्थंकरों में परस्पर में भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् मीमांसक, सांख्य, सौगत, नैयायिक, चार्वाक, शब्दाद्वैतवादी, योग, ब्रह्माद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, शब्दाद्वैतवादी, विज्ञानाद्वैतवादी आदि अनेक एकान्त मतावलम्बियों में सभी के सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकती है इसलिये कोई एक ही गुरु परमात्मा हो सकता है।

यहाँ भी तीर्थकृत्व हेतु देवों में असंभवी होते हुये भी बुद्धादिकों में पाया जाता है, क्योंकि सभी अपने-अपने बुद्ध, कपिल आदि को तीर्थकृत् मानते हैं किन्तु सभी सर्वदर्शी नहीं हो सकते हैं। कुमारिलभट्ट ने कहा है कि "यदि बुद्ध भगवान सर्वज्ञ हैं सांख्य के गुरु कपिल सर्वज्ञ नहीं हैं इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो उनमें मतभेद क्यों पाया जाता है?" इस पर मीमांसक कहता है कि—

कोई विशेष पुरुष सर्वज्ञ स्तुति करने योग्य नहीं है अतः अपौरुषेय वेद के द्वारा ही मोक्ष के साधनभूत उपदेश की एवं अतीन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि हो जाती है। उनके प्रति आचार्य उत्तर देते हैं कि "तीर्थं कृंततीति तीर्थंकृत् मीमांसकः" तीर्थ का नाश करने वाले आप मीमांसक हैं क्योंकि आपके आगम तीर्थ के नाशक हैं एवं आपके वेदवाक्यों का अर्थ कोई तो भावना करते हैं कोई उससे विरुद्ध विधिरूप एवं कोई नियोगरूप करते हैं इसलिये इनमें परस्पर विरोध होने से आप्तता नहीं है।

卐——卐

विशेष सूचना

यद्यपि आगे नियोगवाद, विधिवाद एवं भावनावाद ये तीनों प्रकरण क्लिष्ट एवं नीरस हैं ये प्रकरण वेद से संबंधित हैं एवं इनमें व्याकरण का संबंध भी अधिक है तथापि भावार्थ और विशेषार्थ द्वारा इसे सरल एवं सरस बनाने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी स्वाध्याय प्रेमी जनों को इन विषयों में रुचि न हो तो आगे [illegible] के प्रकरणों का स्वाध्याय करें। अनन्तर ये तीनों प्रकरण भी सरल मालूम पड़ेंगे। किन्तु इनके समान सारे ग्रंथ को ही कठिन समझकर स्वाध्याय न छोड़ें क्योंकि आगे-आगे इस ग्रंथ में प्रकरण सरल, सरस एवं अतीव रुचिपूर्ण हैं। स्थान-स्थान पर पाठकों को स्वयं ही अनुभव आता रहेगा।

—

[अब प्रभाकर नियोगवादनिराकरणार्थ अष्टम पूर्वपक्ष स्थापयति]

ननु च[1] भावनावाक्यार्थ इति सम्प्रदायः श्रेयान् नियोगो न, नियोगे बाधकसद्भावात् । नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगो हि नियोगस्तत्र मनागप्ययोगस्य[2] सम्भवाभावात् स चानेकविधः [3]प्रवक्तृमतभेदात् ।

[एकावलम्बा नियोगस्य कथनः वर्णनम् ।]

(१) [4]केषाञ्चिल्लिङादि[5]प्रत्ययार्थः[6] [7]शुद्धोन्यनिरपेक्षः[8] [9]कार्यरूपो नियोगः ।

[यहाँ पर भावनावादी भट्ट प्रभाकर द्वारा मान्य नियोगवाद के खंडन हेतु पहले उसका पूर्वपक्ष रखते हैं ।]

भट्ट—वेदवाक्यों का अर्थ भावना ही है नियोग नहीं है, और यही संप्रदाय श्रेयस्कर है क्योंकि यदि आप वेदवाक्य का अर्थ नियोग करेंगे तब तो नियोग में बाधा का सद्भाव देखा जाता है । "इस अग्निष्टोमादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार निरवशेष योग को नियोग कहते हैं क्योंकि वहाँ पर किंचित् भी अयोग (अप्रेरकत्व असंघटमान चिद्भावना रूप) कार्य संभव नहीं है और वह नियोग अनेक प्रकार का है क्योंकि नियोग के कथन करने वाले प्रवक्ता लोग भिन्न-भिन्न अभिप्राय को लिए हुये हैं।

भावार्थ—"अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" मैं इस वाक्य से नियुक्त हो गया हूँ इस प्रकार "नि" निरवशेष तथा "योग" अर्थात् मन, वचन, काय और आत्मा की एकाग्रता होकर प्रवृत्ति हो जाना नियोग है । नियुक्त किये गये व्यक्ति का अपने नियोज्य कार्य में परिपूर्ण योग लग रहा है जैसे कि स्वामिभक्त सेवक या गुरु-भक्त शिष्य को स्वामी या गुरु विवक्षित कार्य करने की आज्ञा दे देते हैं कि तुम जयपुर से पुखराज रत्न लेते आना, अथवा तुम अष्टसहस्री पढ़ो तो सेवक एवं शिष्य उन कार्यों में परिपूर्ण रूप से नियुक्त हो जाते हैं । कार्य होने तक उनको उठते, बैठते, सोते, जागते शांति नहीं मिलती है सदा इसी कार्य में परिपूर्ण योग लगा रहता है । इसी प्रकार प्रभाकर लोग "यजेत" इत्यादि वाक्यों को सुनकर नियोग से आक्रांत हो जाते हैं । जन्मोत्सव, विवाह, प्रतिष्ठा आदि के

---

1 अथाह भावनावादी भट्टः । 2 अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतानेन वाक्येनो यत्र विद्भावनाख्यस्वरूपः । 3 अप्रेरकत्वस्य, असंघटमानस्य, चिद्भावनाख्यस्य कार्यस्य । 4 अनेन लिङादिप्रत्ययार्थः सूच्यते न तु सकलनियोगप्रत्ययार्थः । 5 "शक्तिर्लिङादिप्रत्यय निष्ठा" न प्रकृत्यर्थोऽभिधीयते । संज्ञा च कारकं चेति प्रत्ययार्थः प्रतीयते" 6 पूर्वकारिकायां वाक्यार्थ एव नियोगः प्रतिपादितः इदानीं प्रत्ययार्थः प्रतिपाद्यते । इदं विरोधमिति मावधारणीयं, मुख्यगुण्यभावात् नियोगस्ताक्प्रत्ययेन निष्पन्नः अस्मात्प्रत्ययार्थकरणेति सूत्रेण नियोगार्थे लिङादिप्रत्यया भवन्ति (आ० प०) । 7 अग्निष्टोमादिविशेषरहितः । 8 आत्मार्थनिरपेक्षः । 9 अवश्यं करणीयः ।

[1]प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते। [3]कार्यरूपश्च तेनात्र[2] शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥१॥
विशेषणं तु यस्तस्य[4] किञ्चिदन्यत्[5] प्रतीयते। [6]प्रत्ययार्थो न तदुक्तं धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥२॥
प्रेरकत्वं तु [7]यस्तस्य[8] [9]विशेषणमिहेष्यते। तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच्छुद्धे[10] कार्ये नियोगता ॥३॥
[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० २६]

इति वचनात्।

(२) [11]परेषां शुद्धा[12] प्रेरणा[13] नियोग इत्याशयः[14]।

अवसर पर पुरोहित, नाई आदि नियोगी पुरुष अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं, तभी तो उनके नेग (नियोग) का परितोष दिया जाता है। वह नियोग अनेक प्रकार का है. मीमांसकों के प्रभाकर, भट्ट और मुरारि ये तीन भेद हैं, प्रभाकरों की भी अनेक शाखायें हैं ये प्रभाकर लोग "यजेत" इस विधिलिङ् प्रत्यय, "यजताम्" इस लोट् प्रत्यय, एवं "यष्टव्यं" इस तव्य प्रत्यय का अर्थ नियोग रूप से करते हैं।

[एकादश प्रकार के नियोग का क्रम से वर्णन]

(१) कोई-कोई कहते हैं कि जो लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्य निरपेक्ष है एवं कार्यरूप है, वही नियोग है। अर्थात् पहले वेदवाक्य के अर्थ को नियोग कहा या इस समय प्रत्यय के अर्थ को नियोग कहते हैं इस तरह से तो परस्पर में विरोध आता है, ऐसी शंका नहीं करना चाहिये क्योंकि गौण मुख्य कथन है। प्रत्यय के द्वारा नियोग का कथन होता है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—"जो प्रत्यय का अर्थ शुद्ध अग्निहोत्रादि विशेषण से रहित प्रतीति में आता है उसे नियोग कहते हैं और वह कार्यरूप ही है, इसलिये इस वेदवाक्य का अर्थ शुद्ध कार्यरूप है" ॥१॥

श्लोकार्थ—एवं जो उस कार्यरूप नियोग का अग्निहोत्रादि कुछ अन्य विशेषण प्रतीति में आता है वह प्रत्यय का अर्थ नहीं है किन्तु वह धातु का अर्थ है, जैसे स्वर्गकामः ॥२॥

श्लोकार्थ—जो उस कार्यरूप नियोग कार्य की निष्पत्ति के लिये प्रेरकत्व—प्रवर्तकत्व विशेषण है, वह प्रत्ययों से वाच्य अर्थ नहीं है क्योंकि शुद्धकार्य में ही नियोगता होती है ऐसा कहा गया है।

---

1 कुत एतदित्याशङ्क्य पुरातनं श्लोकत्रयमाह। 2 एव। 3 वेदवाक्ये। 4 कार्यरूपस्य नियोगस्य। 5 अग्निहोत्रादिकम्। 6 यजनमात्रः 7 कार्यस्य स्वनिष्पत्त्यर्थं यत्प्रेरकत्वं प्रवर्तकत्वम्। 8 कार्यरूपस्य नियोगस्य। 9 भावकर्मणि। 10 प्रत्ययार्थप्रतिपादकाभावादागमवत् करणीये (व्या० प्र०)। 11 नियोगवादिनाम्। 12 वाक्यान्तर्गतकृत्यक्रियापेक्षारहिता। 13 प्रेरकत्वम्। 14 सिद्धान्त।

विशेष—यह नियोगवाद का प्रकरण, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक मूलग्रन्थ के 262 पेज पर एवं हिंदी सहितग्रन्थ की चौथी पुस्तक के 163 पर है। तथा न्यायकुमुदचन्द्रोदय ग्रन्थ के 583 पेज पर है।

प्रेरणैव नियोगोऽत्र [1]शुद्धा सर्वत्र गम्यते। ताप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ॥४॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० २६]

(३) प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचिन्मन्यन्ते।

यमेवं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत्। [2]स्वसिद्धौ [3]प्रेरकं तत्स्यादन्यथा[4] तन्न सिद्ध्यति ॥५॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० २६]

(४) कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे।

प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्यमेतद् विना क्वचित्[5]। ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥६॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० २६]

अर्थात् जैसे यजि, यचि आदि धातुओं के अर्थ शुद्ध याग, पाक हैं स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला या तृप्ति की कामना करने वाला आख्यर्थ नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादक नहीं है ॥३॥

(२) तथा अन्य किन्हीं नियोगवादियों का ऐसा कहना है कि वाक्यांतर्गत कर्मादि अवयवों की अपेक्षा से रहित 'शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है ऐसा सिद्धांत है।"

श्लोकार्थ—शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है और वह सर्वत्र जानी जाती है क्योंकि प्रेरित नहीं हुआ कोई भी पुरुष अपने को नियुक्त हुआ नहीं समझता है। अर्थात् जाति, व्यक्ति और लिंग तो जिस प्रकृति से प्रत्यय किये जाते हैं उस प्रकृति के अर्थ कहे जाते हैं और संख्या एवं कारक ये प्रत्यय के अर्थ हैं, इस मन्तव्य की अपेक्षा शुद्ध प्रेरणा को ही प्रत्यय का अर्थ मानना चाहिये। वह प्रेरणा जिस आख्यर्थ के साथ लग जावेगी उस क्रिया में नियुक्त जन प्रवृत्ति करता रहेगा ॥४॥

(३) कोई प्रेरणा सहित कार्य को नियोग कहते हैं।

श्लोकार्थ—"यह मेरा कर्तव्य—कार्य है ऐसा जब पहले ज्ञान हो जाता है, तभी वह वाक्य अपने कार्य की सिद्धि में—पुरुष को याग कर्म में प्रेरक हो सकता है अन्यथा—यदि यह मेरा कार्य है ऐसा पहले नहीं जाना है तब वह अपने कार्य की सिद्धि में प्रेरक नहीं हो सकता है। अर्थात् अकेली प्रेरणा या शुद्ध कार्य नियोग नहीं है किन्तु प्रेरणा सहित कार्य नियोग है" ॥५॥

(४) कोई कार्यसहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं। तथाहि—

श्लोकार्थ—कार्य के बिना कोई पुरुष यज्ञ क्रिया में प्रेरित नहीं किया जाता है इसलिये कार्य-

---

1 नियोगरहिता। 2 वाक्यस्य। 3 पुरुषस्य यागकर्मणि। 4 यमेवं कार्यमित्येवं ज्ञानाभावे तत्स्वसिद्धौ प्रेरकं न सिद्ध्यति। 5 यागकर्मणि (व्या० प्र०)।

(५) कार्यस्यैवोपचारतः[1] प्रवर्तकत्वं नियोग इत्यन्ये ।

[2]प्रेरणाविषयः [3]कार्यं न तु तत्प्रेरकं स्वतः । [4]व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेये[5] उपचर्यते ॥७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

(६) कार्यप्रेरणयोः[6] सम्बन्धो नियोग इत्यपरे ।

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्यं वा प्रेरणायोगो नियोगस्तेन[7] सम्मतः ॥८॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

(७) तत्समुदायो[8] नियोग इति चापरे ।

परस्पराविनाभूतं [9]द्वयमेतत्प्रतीयते[10] । नियोगः समुदायोस्मात् कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥९॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

सहित प्रेरणा ही नियोग कही जाती है । अर्थात् तृतीय पक्ष में कार्य की प्रधानता थी, और यहाँ प्रेरणा की मुख्यता है, जैसे गुरु से सहित शिष्य या शिष्य से सहित गुरु इन वाक्यों में विशेषण विशेष्य भाव से प्रधानता और अप्रधानता हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी विशेषण को गौण और विशेष्य को मुख्य समझना चाहिये ॥६॥

(५) कोई कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते हैं अर्थात् वेदवाक्य का जो मुख्य प्रेरकत्व है वह यागलक्षण कार्य में उपचरित किया जाता है उसका नाम उपचार है । कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक मानते हैं और उसे नियोग कहते हैं ।

श्लोकार्थ—वेदवाक्य का व्यापार—याग प्रेरणा का विषय कार्य है (प्रवर्तक है) किंतु वह स्वतः प्रेरक नहीं है । प्रमाण का व्यापार प्रमेय में उपचरित किया जाता है (वेदवाक्य का जो व्यापार है उस यागादि कार्य रूप प्रमेय में प्रमाण का उपचार किया जाता है ॥७॥

(६) कार्य और प्रेरणा का संबंध नियोग है अर्थात् याग और वेदवाक्य का संबंध नियोग है, ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—कार्य के बिना प्रेरणा किसी पुरुष को प्रेरणा नहीं करती है अथवा कार्य और प्रेरणा का योग ही नियोग है ऐसा सम्मत है अर्थात् प्रेरणा के बिना कार्य भी किसी का प्रेरक नहीं है इसलिये प्रेरणा और कार्य का संबंध ही नियोग है" ॥८॥

---

1 मुख्यं वेदवाक्यस्य यत्प्रेरकत्वं तद्यागलक्षणकार्ये उपचर्यते इत्युपचारः । 2 वेदवाक्यव्यापारः यागः । 3 प्रवर्तकत्वम् । 4 वेदवाक्यस्य । 5 यागादौ कार्ये । 6 यागवेदवाक्ययोः सम्बन्धः । 7 प्रेरणां विना कार्यं कस्यचित्प्रेरकं नैव तेन कारणेन प्रेरणाकार्ययोः सम्बन्धो नियोगः प्रतिपादितः । 8 तयोः प्रेरणाकार्ययोस्तादात्म्यम् । 9 तादात्म्यम् 10 एतः कारणात् ।

(८) तदुभयस्वभावविनिर्मुक्तो[1] नियोग इति चान्ये ।

[2]सिद्धत्वेन [3]वतो ब्रह्म [4]तत्स्वभावत्वतः[5] सदा । सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं [6]कुत एव तत् ॥१०॥

[प्रभाचन्द्रकृतिकालंकार पृ० ३०]

(९) [7]यत्राक्षेपो[8] नियोग इति कश्चित् ।

[9]कामी यत्रैव[10] यः कश्चिन्नियोगे [11]सति तत्र सः । [12]विषयाक्षेपमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ॥११॥

[प्रभाचन्द्रकृतिकालंकार पृ० ३०]

---

(७) "उन प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है" ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—परस्पर में अविनाभूत वे दोनों तादात्म्य रूप से प्रतीति में आते हैं अतः कार्य और प्रेरणा का समुदाय ही नियोग माना गया है ॥९॥

(८) कार्य और प्रेरणा इन उभय स्वभाव से विनिर्मुक्त ही नियोग है, ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—क्योंकि एक ब्रह्म आम्नाय से सदा सिद्ध है और सिद्ध होने से ही नियोग उसका कार्य नहीं हो सकता है पुनः वह प्रेरक कैसे होगा ? अर्थात् कार्य रूप ही जो कुछ होता है वह अपनी निष्पत्ति के लिये प्रेरक होता है किन्तु यह ब्रह्म तो नित्य रूप होने से कार्य रूप नहीं है अतः प्रेरक भी नहीं है । "अग्निष्टोमादि" वाक्य में कार्य एवं प्रेरणा से निरपेक्ष होकर जो अवभास है अथवा जो परमात्म स्वभाव है वही एक ब्रह्म रूप से सिद्ध है, निरंश है और वेदवाक्य से जाना जाता है एवं सदा सिद्ध रूप होने से वह कार्य नहीं है पुनः वह प्रेरक कैसे होगा ? ॥१०॥

(९) मन्त्राक्षेप - याग कर्म में लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है ऐसा कोई कहते हैं ।

श्लोकार्थ—स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष (प्रवर्तक वाक्य रूप) नियोग के होने पर जिस यज्ञ कार्य में नियुक्त है वह वहाँ पर—यागलक्षण विषय में अपने को आरूढ़ मानता हुआ प्रवृत्त होता है, वही नियोग है । अर्थात् मंत्रों में आरूढ़ होने के समान यज्ञादि कार्यों में आरूढ़ हो जाना नियोग है जैसे झूला या यन्त्र से चलने वाले घोड़े आदि पर आरूढ़ हुआ पुरुष उन्हीं भावों में रंगा हुआ प्रवर्त रहा है उसी प्रकार से जिस पुरुष को जिस विषय की भावना लग रही है वह पुरुष उसी में अपने को रंगा हुआ मानकर प्रवृत्ति करता है ॥११॥

---

1 कार्यरूपमेव हि प्रतिक्षणक्षय स्वनिष्पत्तौ प्रेरकं स्यात्तत्र तु ब्रह्मणो नित्यत्वेन कार्यरूपत्वाभावात् प्रेरकत्वं न घटतीत्यर्थः । 2 अग्निष्टोमादिवाक्ये कार्यप्रेरणादिनिरपेक्षतयावभासः परमात्मस्वभावो वा । 3 निरंशम् । 4 वेदात् । 5 कुतः ? यतः । 6 प्रेरकम् । 7 पुरुषः । 8 स्वर्गकामी । 9 यागलक्षणे । 10 प्रवर्तकवाक्ये इति । 11 वाक्यजन्य । स्वर्गे ।

(१०) [1]भोग्यरूपो नियोग इत्यपरः ।

अनेवं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ॥१२॥
स्वामित्वेनाभिमानो[2] हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् । भोग्यं तदेव विज्ञेयं तदेवं [3]स्वं निरुच्यते ॥१३॥
[4]साध्यरूपतया येन[5] मयेदमिति मन्यते । तत्प्रसाध्येन वपुषा भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥१४॥
सिद्धरूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता । साध्यत्वेनेह[6] भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता[7] ॥१५॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

(११) पुरुष एव नियोग इत्यन्यः ।

अनेवं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा । पुंसः [8]कार्यविशिष्टात्मं नियोगोस्य[9] च वाच्यता ॥१६॥
कार्यस्य[10] सिद्धौ सत्तायां तद्भुक्तः[11] पुरुषस्तदा । अनेनासाधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥१७॥

[प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ३०]

---

(१०) कोई कहते हैं कि भोग्यरूप—भविष्य में होने वाला जो भोग्य है वही नियोग है ।

श्लोकार्थ—मेरा यह भोग्य है इस प्रकार से जो भोग्य का रूप प्रतीति में आता है और ममत्व रूप से जो विज्ञान है, वह भोक्ता में ही व्यवस्थित है ॥१२॥ जहाँ पर स्वामीपने से भोक्ता का अभिप्राय है उसी को भोग्य समझना चाहिये । इस प्रकार वह स्वकीय कहलाता है ॥१३॥ साध्य रूप से जिस पुरुष के द्वारा यह मेरा है, इस प्रकार से जाना जाता है, वह प्रसाध्य रूप से स्वकीय भोग्य कहलाता है ॥१४॥ और सिद्ध रूप भोग्य है वह नियोग नहीं है वह उतने साध्य रूप से इस वेद-वाक्य में भोग्य का प्रेरक होने से नियोग रूप है ॥१५॥

भावार्थ—कार्य कर चुकने पर भविष्य में जो भोगने योग्य अवस्था होगी उसे भोग्य कहते हैं जैसे कि अपराधी को कठोर कारावास की आज्ञा के वचन सुनकर भोग्य रूप का अनुभव हो रहा है । जिस पदार्थ का जो स्वामी है उसके लिए वही पदार्थ भोग्य है अतः आत्मा का स्वरूप ही 'स्व' शब्द से कहा जाता है । आत्मा अपने स्वभावों का भोक्ता है । मेरे द्वारा यह कार्य साध्य है इस प्रकार से जान लेने पर निज स्वरूप भोग्य नियोग है किन्तु जो आत्मा का स्वरूप सिद्ध हो चुका है वह भोग्य नहीं है अपितु भविष्य में करने योग्य ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से विशिष्ट आत्मा का स्वरूप ही भोग्य है, वही नियोग है ।

(११) कोई पुरुष—आत्मा को ही नियोग कहते हैं ।

श्लोकार्थ - यह मेरा कार्य है इस प्रकार से पुरुष हमेशा मानता है वह पुरुष का कार्य विशिष्ट ही नियोग है और यही इसकी वाच्यता है ॥१६॥

---

1 भविष्यद्रूपमेव भोग्यं नियोग इत्याह । 2 अभिप्रायः । 3स्वकीयम् । 4 स्वकीयविशेषं साध्यम् । 5 पुंसा । 6 वेदवाक्ये । 7 यतः । 8 यागादिक्रियासम्पृक्तत्वम् । प्रेरकत्वात् । भोग्यतासामान्येन । 9 नियोगः स्वार्थक्रियेति वा पाठः । 10 यदि पुरुष एव नियोगस्तदा तस्य नित्यत्वात् कथं साध्यरूपो भवतीत्याशङ्क्याहुः । 11 साध्यकार्यविशिष्टः ।

[अकरणात् भाट्टः नियोगं निराकरोति]

[1]सोयमेकादशप्रकारोपि नियोगो विचार्यमाणो बाध्यते ।

प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात् । [2]तदुक्तम् :—

[3]प्रमाणं किं नियोगः स्यात् प्रमेयमथवा पुनः । उभयेन विहीनो वा उभयरूपोथवा पुनः ॥१॥
शब्दव्यापाररूपो वा [4]व्यापारः पुरुषस्य वा । उभयव्यापाररूपो वा द्वयाव्यापार एव वा ॥२॥

[नियोगस्य प्रमाणप्रमेयादिरूपाभ्युपगमे दोषारोपणम्]

(१) [5]तत्रैकादशभेदोपि नियोगो यदि प्रमाणं[6] तदा विधिरेव[7] वाक्यार्थ इति वेदान्तवाद-प्रवेशः प्रभाकरस्य[8] स्यात्, प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्[9], चिदात्मनः प्रतिभासमात्रत्वात्,

---

[एवं कोई कहे कि यदि पुरुष ही नियोग है तब तो वह नित्य है साध्य रूप कैसे होगा ? इस पर समाधान]

कार्य की सिद्धि हो जाने पर उस साध्य-कार्य से विशिष्ट पुरुष ही उस समय साधित हो जाता है। इस प्रकार पुरुष ही वेदवाक्य का अर्थ है ॥१७॥

किन्तु यह ११ प्रकार का नियोगवाद भी विचार करने पर प्रमाण प्रमेयादि वक्ष्यमाण आठ विकल्पों से पार नहीं पा सकने के कारण बाधित हो जाता है।

[इस प्रकार से अब विधिवाद का आश्रय लेकर भावनावादी भाट्ट प्रभाकर सम्बन्धी नियोगवाद को दूषित करते हैं।]

रविगुप्त नाम के आचार्य ने कहा भी है—

श्लोकार्थ—यह आप प्रभाकरवादी का नियोग प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप है, दोनों से रहित है या उभयरूप है, शब्द-व्यापार रूप है अथवा पुरुष के व्यापार रूप, दोनों के व्यापार रूप है या दोनों के व्यापार से रहित है ? ॥

[नियोग को प्रमाण, प्रमेयादि रूप मानने में दोषारोपण]

इन आठ प्रकार के विकल्पों में से यदि पहला विकल्प लेवें कि उपर्युक्त ग्यारह प्रकार का नियोग भी प्रमाण है, तब तो विधि ही वाक्य का अर्थ सिद्ध हो जावेगी, पुनः आप नियोगवादी प्रभाकर का वेदांतवाद में प्रवेश हो जाता है क्योंकि प्रमाण तो चिदात्मक है एवं चिदात्मा प्रतिभास मात्र है तथा वह प्रतिभास परब्रह्मस्वरूप ही है। उस प्रतिभास मात्र से पृथक् विधि कार्य-कर्तव्यरूप से

---

1 अथ विधिवादमाश्रित्य भट्टः प्रभाकरमतसम्बन्धिनं नियोगवादं दूषयति । 2 रविगुप्तेन । 3 भाट्टः प्राभाकरं प्रतिपृच्छति । 4 वाङ्मयमानसकायनो व्यापारः । 5 अष्टप्रकारविकल्पमध्ये । 6 प्रथमः प्रमाणस्वरूपो विकल्पः । 7 कर्तव्यापॉपदेशो विधिः । ब्रह्म । 8 नियोगवादिनः । 9 अत्र प्रमाणस्याचिदात्मकत्वकथनमयुक्तं तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादप्रमोपचारादिदोषे वक्ष्यमाणयुक्तेः ह्यत्वात् ।

तस्य[1] च परब्रह्मत्वात्[2]। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः [3]कार्यरूपतया न प्रतीयते घटादिवत्[4]। प्रेरकतया वा [5]नानुभूयते [6]वचनादि[7]वत्[8]। [9]कर्मकरणसाधनतया हि [10]तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययौ युक्तौ [11]नान्यथा। किं [12]तर्हि [13]दृष्टव्योरेयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो[14] [15]निदिध्यासितव्य[16] इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन[17] प्रेरितोऽहमिति

प्रतीति में नहीं आता है। जैसे घट प्रतिभासमात्र से कार्य रूप से पृथक् अनुभव में आता है, वैसे ही विधि प्रतिभास मात्र स्वरूप से भिन्न रूप-पृथक् अनुभव में नहीं आती है।

अथवा प्रेरक रूप से भी वह विधि अनुभव में नहीं आती है, वचनादि के समान। अर्थात् जैसे वचनादि प्रेरक रूप से प्रतिभास मात्र से पृथक् अनुभव में आते हैं, उस प्रकार विधि अनुभव में नहीं आती है, क्योंकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि का अनुभव आने पर तो कार्यता प्रत्यय और प्रेरकता प्रत्यय मानना युक्त है अन्यथा नहीं। अर्थात् जो किये जावें, बनाये जावें वे कर्म हैं, जैसे घटादि। जो पुरुष अपने कार्य में जिसके द्वारा प्रेरित किया जावे—नियुक्त किया जावे वह प्रेरक-वचन करण है। इन कर्म और करण रूप से यदि विधि का अनुभव आवे तब तो उसे कार्य और प्रेरकपना मानना अन्यथा कैसे मानना? मतलब "विधीयते यत् या विधीयतेऽनेन" इस प्रकार से निरुक्ति द्वारा विधि शब्द कर्म साधन या करण साधन में नहीं बनता है अतः कर्म करण साधन के बिना ही शुद्ध सन्मात्र विधि का ज्ञान पाया जाता है पुनः उसे कार्य या प्रेरक नहीं माना जा सकता है। तब तो उस विधि का स्वरूप क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर कहिये! अरे! यह आत्मा "देखने योग्य है, सुनने योग्य है और ध्यान करने योग्य है" इत्यादि शब्दों के सुनने से अवस्थांतर विलक्षण—अन्य अवस्थाओं से विलक्षण दर्शनादि के द्वारा "मैं प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय से सहित अहंकार रूप से स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होती है और वही विधि है ऐसा वेदांतवादियों का कहना है। ब्रह्म में तात्पर्य का निश्चय करना श्रोतव्य है। सुने हुये अर्थ का युक्ति से विचार करना अनुमन्तव्य है

---

1 प्रतिभासमात्रस्य। 2 प्रतिभासमात्रान्यो विधिरित्यस्य हेतुर्वा आह। 3 कर्तव्य। 4 व्यतिरेकदृष्टान्तः। यथा घटः प्रतिभासमात्रात् कार्यरूपतया पृथक् प्रतीयते न तथा विधिः प्रतिभासमात्रात् स्वरूपात् पृथक् प्रतीयते। 5 नानुमीयते इत्यपि क्वचित् पाठः। 6 व्यतिरेकदृष्टान्तः। 7 अनुमितेर्वा। 8 यथा वचनादिः प्रेरकतया प्रतिभासमात्रात् पृथगनुभूयते। तथा विधिर्नानुभूयते। 9 कथमस्यतया विधिर्नानुभूयते इत्युक्ते आह। क्रियते निष्पाद्यते इति कर्म घटादि। नियोजयते नियुक्तयते पुरुषः स्वकृत्येऽनेनेति प्रेरकं वचनं करणम्। 10 विधिप्रतीतौ। 11 कर्मकरणसाधनत्वाभावेन विधिप्रतीतौ कार्यताप्रेरकताज्ञानं युक्तं न स्यात्। 12 तर्हि किं स्वरूपं विधेरित्युक्ते आह दृष्टव्योत्यादि। 13 "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः"। 14 यद्यपि तात्पर्यविचारं श्रोतव्यं। श्रुतार्थस्य युक्त्या विचारमनुमन्तव्यम् (ब्या० प्र०)। 15 परब्रह्मस्वरूपेण ध्यातव्यः। 16 अवलम्बनाभ्यां निश्चलं मनसा परिचिंतनं निदिध्यासितव्यम् (ब्या० प्र०)। 17 यदस्या दर्शनादिः अवस्थान्तरवर्तिदर्शनादिस्तेन विलक्षणो दर्शनादिस्तेन।

[1]जाताकूतेना[2]हङ्कारेण[3] स्वयमात्मैव प्रतिभाति स एव विधिरिति वेदान्तवादिभिरभिधानात् ।

(२) प्रमेयत्वं तर्हि नियोगस्यास्तु प्रमाणत्वे दोषाभिधानादित्यप्यसत्—प्रमाणाभावात् । प्रमेयत्वे हि तस्य[4] प्रमाणमन्यद्वाच्यम्[5]—तदभावे प्रमेयत्वायोगाद् । श्रुतिवाक्यं [6]प्रमाणमिति चेन्न—[7]तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात्[8] । [9]संविदात्मकत्वे श्रुति-

---

और सुने गये एवं मनन किये गये निश्चित अर्थ का हमेशा ही मन से परिचिन्तन करना निदिध्यासितव्य है । ऐसा तीनों का अर्थ समझना चाहिये ।

भावार्थ—विधि है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर यह है कि अरे मैत्रेय ! यह आत्मा दर्शन करने योग्य है और आत्मा का दर्शन यों होता है कि पहले उस आत्मा का वेदवाक्यों के द्वारा श्रवण करना चाहिये तभी ब्रह्म ज्ञान में तत्परता हो सकती है। पुनः श्रुत आत्मा का युक्तियों से विचार कर अनुमनन करना चाहिये । श्रवण और मनन से निश्चित किये गये अर्थ का मन से परिचिन्तन करना चाहिये अथवा "तत्त्वमसि" वह प्रसिद्ध ब्रह्म तू ही है इत्यादि वैदिक शब्दों के श्रवण से मैं पहली अदर्शन, अश्रवण आदि अवस्थाओं की अपेक्षा विलक्षण हो रही दूसरी अवस्थाओं से इस समय प्रेरित हो गया हूँ, इस प्रकार से "अहं" शब्द का दर्शन आदि द्वारा प्रत्यक्ष कराने रूप अहंकार अथवा आकार वाली चेष्टा करके स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित हो रही है और वह आत्मा ही तो विधि है इस प्रकार वेदांतवादियों का कथन है । अतः नियोग को प्रमाण रूप मानने पर आप प्रभाकर को वेदांतवादी बनना ही पड़ेगा ।

(२) इस पर यदि आप कहें कि नियोग को हम प्रमेय मानेंगे क्योंकि आपने उसको प्रमाण मानने से अनेक दोष दिये हैं सो यह कथन भी असत् है क्योंकि नियोग को प्रमेय सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है । नियोग को प्रमेय मान लेने पर तो उसको ग्रहण करने वाला अन्य कोई प्रमाण आप प्रभाकर को कहना ही चाहिये क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय है, यह कैसे कहा जावेगा ? "प्रमाणेन ज्ञातुं योग्यम् प्रमेयं" जो प्रमाण के द्वारा जानने योग्य है वही तो प्रमेय है ।

---

1 अर्थैरितरावस्थाविलक्षणयेत्याकारेण प्रविष्टोऽहमित्यभिमानरूपेण । 2 दर्शनादिना । 3 जाताकूतेनाकारेण इति पा० (ब्या० प्र०) । 4 प्रमेयरूपस्य नियोगस्य ग्राहकं प्रमाणम् । 5 प्रभाकरेण । 6 श्रुतिवाक्यं प्रमाणं, नियोगः प्रमेयमिति चेत् । 7 अत्राह भावनावादी गुरुः ।—यो नियोगवादिन् प्रभाकर तावकं श्रुतिवाक्यं चिदात्मकमचिदात्मकं वेति । तत्र विकल्पद्वयं दूषयति । 8 चेतनवन्मुखमित्यादिरूपचारः । 9 ज्ञानात्मकत्वे सति ।

वाक्यस्य पुरुष[1] एव श्रुतिवाक्यमिति स एव प्रमाणम्। तत्संवेदनविवर्त्तस्तु[2] नियुक्तोऽहमित्यभिमानरूपो[3] नियोगः प्रमेयत्वमिति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते यतो वेदान्तवादिमतप्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षे न भवेत्।

(३) तर्हि प्रमाणप्रमेयरूपो नियोगो भवत्वित्यप्ययुक्तम् संविद्विवर्त्तत्वापत्तेः अन्यथा[4] प्रमाणप्रमेयरूपतानुपपत्तेः। तथा चैं स एव [5]चिदात्मोभयस्वभावतयात्मानमा[6]दर्शयन्नियोग इति सिद्धो ब्रह्मवादः।

प्रभाकर—श्रुति-वेदवाक्य तो प्रमाण हैं और नियोग प्रमेय है हम ऐसा मानते हैं।

भाट्ट—ऐसा भी आप नहीं कह सकते क्योंकि वेदवाक्यों के अचिदात्मक होने से उनमें प्रमाणता घटित नहीं होती है और यदि मानेंगे भी तो उपचार के सिवाय वस्तुतः वे प्रमाण नहीं हो सकेंगे। यदि उन वेदवाक्यों को आप चिदात्मक-ज्ञानात्मक मानेंगे तब तो पुरुष ही श्रुति वाक्य है इस प्रकार से वह पुरुष-परब्रह्म ही प्रमाण सिद्ध हुआ और उस संवेदन की पर्याय-ब्रह्म की पर्याय ही "नियुक्तोऽहं" इस प्रकार के अभिमान-अभिप्राय रूप नियोग है और वही प्रमेय है इस प्रकार से तो यह प्रमेय रूप नियोग पुरुष से भिन्न कोई प्रतीति में नहीं आता है कि जिससे इस पक्ष के मानने पर वेदांतवादी के मत में प्रवेश न हो जावे अर्थात् यदि आप नियोग को प्रमेय रूप मानते हैं तो भी आप वेदांतवादी बन जावेंगे।

(३) प्रभाकर—तब तो प्रमाण और प्रमेय इन उभय रूप नियोग को मानना यह तृतीय पक्ष ही उचित है।

भाट्ट—यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि वह नियोग ज्ञान की पर्याय हो जावेगा अन्यथा प्रमाण और प्रमेय रूपता ही घटित नहीं होगी। अर्थात् नियोग ज्ञान की पर्याय हो जाता है क्योंकि सामान्य से "मैं नियुक्त हूं" इस प्रकार के अभिप्राय को स्वीकार किया है अन्यथा ज्ञान पर्याय न मानने पर वह नियोग प्रमाण नहीं हो सकेगा और अप्रकाशमान होने से प्रमेय रूप भी नहीं हो सकेगा क्योंकि जो वस्तु प्रमाण, प्रमेय रूप से उभयरूप है वह चैतन्यात्मक अवश्य है। पुनः वह सत्, चित्, आनन्द स्वरूप आत्मा ही प्रमाण प्रमेय रूप सिद्ध होता है और यही तो ब्रह्माद्वैतवाद सिद्धान्त है। इसलिये वह चिदात्मा ही उभय स्वभाव रूप से अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ नियोग कहलाता है। इस प्रकार से नियोग ब्रह्मवाद रूप ही सिद्ध हो जाता है।

---

1 परब्रह्म पक्षात् कार्यं कुर्यात्। 2 पर्यायः। 3 विशेषणमिदं नियोगस्य संवेदनविवर्त्तत्वसमर्थनार्थम्। 4 ज्ञानपर्यायप्राप्तत्वाभियोगस्य सामान्येन नियुक्तोऽहमित्यभिमानरूपत्वाभ्युपगमादन्यथा ज्ञानपर्यायप्राप्यभावे प्रमाणरूपत्वं नोपपद्यते, अप्रकाशमानत्वेन प्रमेयरूपत्वं च न घटते इति भावः। 5 स्वरूपम्। 6 प्रकाशयन्।

(४) अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत्तर्हि[1] संवेदनमात्रमेव[2] पारमार्थिकं[3] तस्य[4] कदाचिदप्यहेयत्वा[5]दनुभयस्वभावत्वसम्भवात् । [6]प्रमाणप्रमेयत्वव्यवस्थाभेदविकलस्य सन्मात्रदेहतया[7] तस्य[8] वेदान्तवादिभिर्निरूपितत्वात्तन्मतप्रवेश एव ।

(५) यदि पुनः [9]शब्दव्यापारो नियोग इति मतं तदा भट्टमतानुसरणमस्य[10] दुर्निवारम्-शब्दव्यापारस्य[11] शब्दभावनारूपत्वात् ।

(६) अथ पुरुषव्यापारो [12]नियोगस्तदापि परमतानुसरणम्-पुरुषव्यापारस्यापि [13]भावनास्वभावत्वात् शब्दात्मव्यापारभेदेन भावनायाः परेण [14]हैविध्याभिधानात् ।

---

(४) प्रभाकर—अनुभय स्वभाव ही नियोग है ।

भाट्ट—तब तो आपका नियोग प्रमाण और प्रमेय इन दोनों रूपों का त्याग कर देने से तो केवल शुद्ध संवेदन मात्र ही पारमार्थिक रूप होगा क्योंकि वह संवेदन मात्र कदाचित् भी अहेय-त्यागने योग्य न होने से वही अनुभय स्वभाव हो सकता है । उस संवेदन मात्र को छोड़कर अन्य कोई अनुभय स्वभाव हो ही नहीं सकता है । वेदांतवादियों ने भी ऐसा ही निरूपण किया है कि "प्रमाण प्रमेय भेद की व्यवस्था से रहित सन्मात्र देहरूप से यह संवेदन मात्र परब्रह्म रूप सिद्ध है । "इसलिये चतुर्थ पक्ष के मानने पर भी आप उस वेदांतवादी के मत में ही प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् "न उभयः अनुभयः" नञ् समास का पर्युदास अर्थ करने से सर्वथा प्रमाण प्रमेय रूप उपाधियों से रहित शुद्ध प्रतिभास ही ग्रहण हो जाता है जो कि "सत्स्वरूप" इतने मात्र शरीर को धारण करने वाले ब्रह्म का ही द्योतक है ।

(५) प्रभाकर—"अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि रूप से शब्द का व्यापार ही नियोग है ।

भाट्ट—तब तो आपको हमारे मत का ही अनुसरण दुर्निवार है क्योंकि हमारे यहाँ शब्द का व्यापार शब्द की भावना रूप है । शब्द भावक हैं और उसका व्यापार भावना स्वरूप है ।

(६) प्रभाकर—तब तो हम पुरुष के व्यापार को नियोग कहेंगे ।

भाट्ट—तो भी आपको पर—हमारे मत का ही अनुसरण करना पड़ेगा क्योंकि पुरुष का व्यापार भी भावना स्वभाव है । हम भाट्टों ने शब्द-व्यापार और आत्म-व्यापार के भेद से भावना के दो भेद माने हैं ।

---

1 प्रमाणप्रमेयरूपत्यागे । 2 संवेदनमात्रादभिन्नस्य कस्यचिदनुभयस्वभावत्वाघटनात् । 3 पारमार्थिकत्वं कुतः ? । 4 संवेदनमात्रस्य । 5 कुतः । 6 अनुभयस्वभावत्वं कुतः । 7 सत्स्वरूपतया । 8 संवेदनमात्रस्य । 9 अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादिशब्दव्यापारः । 10 प्रभाकरस्य । 11 शब्दरूपत्वं चेति भावना ह्येषा । 12 तदेव (पूर्वोक्तमेव) इति बहुपुस्तकपाठः । 13 अर्थभावना । 14 शब्दभावना आत्म (अर्थ) भावना च ।

(७) तदुभयरूपो[1] नियोग इति चेत्तर्हि पर्ययेण युगपद्वा ? यदि पर्ययेण स[2] एव दोषः—क्वचित्कदाचिच्छब्दव्यापारस्य पुरुषव्यापारस्य च भावनास्वभावस्य नियोग इति नामकरणात् । युगपदुभयस्वभावत्वं पुनरेकत्र विरुद्ध[3] न शक्यं व्यवस्थापयितुम्[4] ।

(८) तर्हि तदनुभयव्यापाररूपो नियोगोऽङ्गीकर्तव्य इति चेत् सोपि [5]विषयस्वभावो वा स्यात् फलस्वभावो वा स्यान्निस्स्वभावो[6] वा ? गत्यन्तराभावात् । विषयस्वभाव इति चेत् । कः पुनरसौ विषयः ? अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यस्यार्थो यागादिर्विषय इति चेत्[7] स [8]तद्वाक्यकाले स्वयमविद्यमानो विद्यमानो वा ? यद्यविद्यमानस्तदा [9]तत्स्वभावो

---

(७) प्रभाकर—शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार ऐसे उभय के व्यापार को हम नियोग कहते हैं ।

भाट्ट—तब तो आप पर्याय से-क्रम से कहते हैं या युगपत् ? यदि पर्याय-क्रम से कहें तब तो वही पूर्वोक्त हमारे मत का अनुसरण करने रूप दोष आता है क्योंकि कहीं पर किसी काल में आपने शब्द व्यापार रूप और कहीं पर पुरुष व्यापार रूप भावना के स्वभाव को ही नियोग यह नाम कर दिया है । यदि युगपत् उभय स्वभाव कहो तो एक जगह विरुद्ध दो धर्मों को व्यवस्थापित करना शक्य नहीं है अर्थात् शब्द-व्यापार प्रेरणा रूप है और पुरुष व्यापार क्रिया रूप है एवं प्रेरणा तो अतीतकाल संबंधी है तथा क्रिया भविष्यत्काल संबंधी है । जैसे प्रकाश और अंधकार एक जगह नहीं रह सकते हैं वैसे ही ये दोनों विरुद्ध धर्म एक जगह एक काल में नहीं रह सकते हैं ।

(८) प्रभाकर—तब तो उन दोनों के अनुभय व्यापार को नियोग मानना ठीक है । अर्थात् आठवें पक्ष के अनुसार वह नियोग शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार इन दोनों ही व्यापारों से रहित है ।

भाट्ट—यदि आप ऐसा कहें तो भी हम आपसे नञ् समास का पर्युदास पक्ष लेकर प्रश्न करते हैं कि वह अनुभय व्यापार रूप भी नियोग विषय (यजादि कर्म रूप) स्वभाव है, या फल (स्वर्गादि) स्वभाव है अथवा (प्रसज्य निषेध पक्ष लेने पर) निःस्वभाव है ? इन तीनों विकल्पों के सिवाय और अन्य कोई प्रकार संभव नहीं है । यदि विषय स्वभाव मानो तब तो यह विषय क्या है ? यह बतलाइये ।

प्रभाकर—"स्वर्ग की इच्छा करने वाला अग्निष्टोम से यज्ञ करे" इत्यादि वाक्य का अर्थ जो यागादि रूप है वही विषय है ।

---

1 शब्दव्यापारेण पुरुषव्यापारेण च । 2 तर्हि । भट्टमतानुसरणलक्षणः पूर्वोक्तः । 3 प्रेरणाया अतीतकालत्वं क्रियाया भविष्यत्करत्वं यतः पूर्वं प्रेरितः पश्चात् कार्यं करोति । 4 यथा तेजस्तमसोरैक्यमेकत्र स्थातुं न शक्यम् । 5 विषयो यागादिकर्म । 6 पर्युदासवृत्त्या द्वौ विकल्पौ प्रसज्यवृत्त्या त्वेकः (निःस्वभावः) । 7 विधिः । 8 वेदवाक्यकाले । 9 विषयस्वभावः ।

नियोगोप्यविद्यमान एवेति [1]कथमसौ वाक्यार्थः खपुष्पवत्। [2]बुद्ध्यारूढस्य भाविनस्तस्य[3] वाक्यार्थत्वे सौगतमतानुसरणप्रसङ्गः[4]। अथ [5]तद्वाक्यकाले [6]विद्यमानोसौ तर्हि न नियोगो वाक्यस्यार्थः—तस्य [7]यागादिनिष्पादनार्थत्वात्[8]—निष्पन्नस्य च यागादेः पुननिष्पादनायोगात्,[9] पुरुषादिवत्। अथ [10]तस्य किञ्चिदनिष्पन्नं रूपं तदा तन्निष्पादनार्थो नियोग इति मतम् तर्हि [11]तत्स्वभावो नियोगोप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः ? [12]स्वयमसन्निहितस्य कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स[13] एव सौगतमतप्रवेशः। फलस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षो न कक्षी कर्तव्यः—तस्य[14] नियोगत्वाघटनात्। न हि स्वर्गादिफलं नियोगः—[15]फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्-

---

आप्त—पुनः वह विषय उस वेदवाक्य के काल में स्वयं अविद्यमान है या विद्यमान ? यदि अविद्यमान रूप प्रथम पक्ष लेवें तब तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान ही रहा। पुनः ऐसी स्थिति में वह नियोग आकाश-कुसुम के समान वेदवाक्य का अर्थ कैसे हो सकता है ? बुद्धि से परिगत (वर्तमान काल में कल्पित विषय रूप) भावी—विषय स्वभाव नियोग को वेदवाक्य का अर्थ मानने पर तो सौगत मत के अनुसरण का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि सौगत के मत में प्रमाण प्रमेय व्यवहार काल्पनिक है। उनके यहाँ वचनों को वक्ता के अभिप्राय मात्र का सूचक माना है। यदि कहो कि वेदवाक्य के काल में वह विषय स्वभाव विद्यमान है, तब तो वह नियोग वाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा क्योंकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है और निष्पन्न हुये यागादि का पुरुषादि के समान पुनः निष्पादन करना बनता नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार निष्पन्न परमब्रह्म पुरुष का संपादन करना नहीं बन सकता उसी प्रकार निष्पन्न यागादिकों का संपादन करना भी नहीं बन सकेगा। यदि आप कहें कि उस यागादि का किंचित्-कुछ अनिष्पन्न रूप है इसलिये उस शेष अनिष्पन्न के निष्पादन के लिये नियोग है तब तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न है इस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा ? स्वयं असन्निहित-भावी विषय स्वभाव, कल्पनारूढ़ को वेदवाक्य का अर्थ मानने पर वही सौगत मत में आपका प्रवेश हो जावेगा, उसका रोकना दुर्निवार है।

"फल स्वभाव नियोग है" यह पक्ष भी तुम्हें स्वीकार नहीं करना चाहिये क्योंकि वह नियोग फल स्वभाव भी घटित नहीं होता है। स्वर्गादि के फल नियोग नहीं है अन्यथा फलांतर की कल्पना का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि निष्फल-फल रहित नियोग का अभाव है। एवं फल स्वभाव नियोग-वादियों के यहाँ फलांतर को नियोग मानने पर उसके लिए अन्य फल की कल्पना करने पर अनवस्था

---

1 नियोगः। 2 बुद्धिपरिगतस्य। वर्तमानकाले कल्पितविषयस्य। 3 विषयस्वभावनियोगस्य। 4 प्रमाणप्रमेय-व्यवहारस्य काल्पनिकत्वात्सौगतमते। वक्तृप्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं स्थितेर्हि सौगतमतम्। 5 वेद। 6 यागादि-विषयो नियोगो यागमुत्पादयति। 7 आकाशादि। 8 यागादिनिष्पादनं वाक्यकाले जातमेव। 9 पुरुषादिविषयस्य। 10 यागादेः। 11 यागादिविषयस्वभावः। 12 भाविनो विषयस्य। 13 पूर्वोक्तः। 14 फलस्वभावस्य। 15 अन्यथा।

निष्फलस्य नियोगस्यानुयोगात्। फलांतरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलपरिकल्पनेऽनवस्याप्रसङ्गः[1]। [2]फलस्य [3]वाक्यकाले स्वयमसन्निहितत्वाच्च [4]तत्स्वभावो नियोगोप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? [5]तस्य वाक्यार्थत्वे [6]निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ? निःस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षोऽनेनैवप्रतिक्षिप्तः[7]।

का प्रसंग आ जावेगा। तथा स्वर्गादि फल "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्य के काल में स्वयं असन्निहित अविद्यमान हैं पुनः यह फल स्वभाव रूप नियोग भी असन्निहित-अविद्यमान ही रहेगा। इस प्रकार से वह वेदवाक्य का अर्थ कैसे सिद्ध होगा ? यदि आप अविद्यमान फल स्वभाव वाले 'नियोग' को वेदवाक्य का अर्थ मान लेवो तो निरालंब शब्दवाद का आश्रय लेने से आप प्रभाकर के मत की सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् शब्द को अन्यापोह मात्र का कहने वाला मानने से बौद्ध का अर्थ शून्यवाद सिद्ध होता है। बौद्ध के मत में शब्द अन्यापोह रूप हैं, अर्थ को कहने वाले नहीं हैं।

यदि आप निःस्वभाव को नियोग कहें तो यह पक्ष भी इसी कथन से निराकृत हो जाता है क्योंकि निःस्वभाव अन्यापोह रूप ही है।

भावार्थ—प्रभाकर ने नियोग का लक्षण करके भिन्न-भिन्न वक्ता के अभिप्राय से उन्हें ११ प्रकार से सिद्ध किया है। इस प्रकार भाट्ट ने उन ११ विकल्प रूप नियोगों को दूषित ठहराने के लिये प्रमाण प्रमेय आदि रूप आठ विकल्प उठाकर उस प्रभाकर को वेदांतवादी होने का दूषण दिखाया है। उसी में अंतिम "अनुभय व्यापार रूप" आठवें पक्ष में तीन विकल्प उठाये हैं। उसमें विषय और फल स्वभाव को पर्युदास पक्ष से एवं निःस्वभाव नियोग को प्रसज्य निषेध पक्ष से लिया है। उसमें विषय स्वभाव और फल स्वभाव नियोग में दूषण दिया है कि "अग्निष्टोम से यज्ञ करना चाहिये" इस वाक्य के उच्चारण काल में यज्ञादि कर्म नहीं हैं अतः यज्ञ रूप नियोग भी संभव नहीं है। जो कार्य भविष्य में होने वाला है उस कार्य के साथ तादात्म्य संबंध रखने वाला धर्म वर्तमान काल में नहीं है और यदि भविष्य में होने वाले यज्ञ की वर्तमान में संभावना मानो जावे तो पुनः वाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकेगा क्योंकि वह नियोग तो कर्तव्य कार्यों को भविष्य में बनाने के लिये हुआ करता है। जो किया जाकर बन चुका है उसका पुनः बनाना नहीं हो सकता है, जैसे कि अनादि काल के बने हुए (अकृत्रिम) नित्य द्रव्य-आत्मा, आकाशादि नहीं बनाये जा सकते हैं। एवं उस नियोग को स्वर्गादि फल स्वभाव मानने पर वे स्वर्गादि फल तो स्वयं उस यज्ञ के अंतिम परिणाम हैं। फल का पुनः फल होता नहीं है किन्तु नियोग तो फल से सहित है। यदि अन्य फलों की कल्पना करो तो अनवस्था तैयार खड़ी है। यदि फल को भविष्य में होने वाला माना जावे तो वर्तमान काल का नियोग नहीं हो

---

1 प्रसङ्गादिति बहुपुस्तकपाठः। 2 स्वर्गादेः। 3 अग्निष्टोमेन यजेतेति वाक्यकाले। 4 फलस्वभावः। 5 असन्निहितस्य फलरूपनियोगस्य। 6 शब्दस्यान्यापोहाभिधायित्वेनार्थशून्यवादः। सौगतमते शब्दस्तदन्यापोहकथो नस्वार्थाभिधायी। 7 निःस्वभावस्यान्यापोहत्वान्नतिक्रमात्।

[नियोगस्य उभयात्मिकस्वीकारे दोषारोपणम्]

किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एव। द्वितीयपक्षे निरालम्बनवादः[1]। तृतीयपक्षे तूभयदोषानुषङ्गः[2]। चतुर्थपक्षे [3]व्याघातः—[4]सत्त्वासत्त्वयोः[5] परस्परव्यवच्छेद[6]रूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्तेः—सकृदेकत्र [7]प्रतिषेधायोगात्। सर्वथा सदसत्त्वयोः प्रतिषेधेपि कथञ्चित्सद[8]सत्त्वा[9]विरोधाददोष इति चेत् स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गः प्रभाकरस्य।

सकता है। दूसरी बात यह भी है कि उस वाक्य उच्चारण के समय में उन स्वर्गादि फलों का सन्निधान नहीं है। यदि उस अविद्यमान फल को भी वाक्य का अर्थ मानोगे तो निरालंब शब्द पक्ष को लेने से आप बौद्ध बन जावेंगे क्योंकि बौद्धों के यहाँ शब्द का अर्थ वस्तुभूत कुछ भी नहीं है। अविद्यमान-अवास्तविक अर्थों को ही शब्द कहा करते हैं किंतु आपने तो आगम को प्रमाण माना है अतः यह मान्यता ठीक नहीं है। तथा यदि आप तृतीय निःस्वभाव पक्ष को अनुभय के नञ् समास का प्रसज्य प्रतिषेध करके मानें तब तो सभी स्वभावों से रहित नियोग खर-विषाण के समान असत् ही हो जावेगा एवं बौद्धों ने शब्दों का वाच्य अवत्-अन्यापोह ही माना है। उन्हीं के मत में आपका प्रवेश हो जावेगा अतः आठों विकल्पों की कसौटी पर कसने से आपका नियोग सिद्ध नहीं होता है।

[नियोग को सत् असत् आदि मानने में दोषारोपण]

दूसरी बात यह है कि यह आपका नियोग सत् रूप ही है या असत् रूप ही है या उभयरूप है अथवा अनुभय रूप है ? प्रथम पक्ष में तो विधिवाद-ही आता है अर्थात् वेदांती संपूर्ण जगत् को सत् रूप ही मानते हैं। द्वितीय पक्ष के लेने पर निरालंबनवाद-शून्यवाद ही आता है अर्थात् शून्यवादी संपूर्ण जगत को असत् रूप ही मानते हैं। तृतीय पक्ष में उभयपक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग आता है। एवं चतुर्थ पक्ष के मानने पर व्याघात-विरोध नाम का दोष आता है क्योंकि सत् और असत् एक दूसरे के व्यवच्छेद विरोध रूप हैं अतः इन दोनों में से किसी एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान हो जाता है। एक साथ एक ही वस्तु में सत्त्व एवं असत्त्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता है अर्थात् "सत् नहीं है" ऐसा कहने पर असत् स्वयं ही आ जाता है एवं "असत् नहीं है" ऐसा कहने पर सत् स्वयमेव आ जाता है। तथा सर्वथा सत्त्व एवं असत्त्व का प्रतिषेध करने पर भी कथंचित् सत्त्व असत्त्व का विरोध न होने से कोई दोष नहीं है यदि आप ऐसा कहें तो आप प्रभाकर स्याद्वाद मत का आश्रय ले लेंगे।

---

1 अन्धसर्पविलप्रवेशन्यायेन। 2 तदुक्तम्।—प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्नापि कथं न स इति वचनात्। 3 विरोधः। 4 कथम् ?। 5 परस्परव्यवच्छेदयोः। इतिपाठान्तरं (ब्या० प्र०)। 6 यथा सदित्युक्तेऽसत्त्वमेवायाति, असदित्युक्ते सत्त्वमेवायाति। 7 सत्त्वासत्त्वयोः। 8 सदसत्त्वविज्ञानाददोष इति पाठः। 9 सर्वेषां एषामेषां क्रमवर्त्तित्वात् सदादीनां च।

[नियोगस्य प्रवर्तकाप्रवर्तकस्वीकारे दोषारोपणं]

किञ्च[1] नियोगः सकलोपि[2] प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेत् प्रभाकराणामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात्—तस्य सर्वथा[3] प्रवर्त्तकत्वात् । [4]तेषां [5]विपर्यासादप्रवर्त्तक इति चेत् [6]परेषामपि [7]विपर्यासाद[8]प्रवर्त्तकोस्तु[9] । शक्यं हि वक्तुं प्राभाकरा [10]विपर्यस्तत्वाच्छब्द[11]नियोगात्प्रवर्त्तन्ते [12]नेतरे[13]—तेषामविपर्यस्तत्वादिति । सौगतादयो[14] विपर्यस्तास्तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात् । न पुनः प्राभाकरा इत्यपि[15] पक्षपातमात्रम्-तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात् । यथैव हि प्रतिक्षणविनश्वरसकलार्थकथनं

[नियोग को प्रवर्तक या अप्रवर्तक मानने में दोष]

दूसरी बात यह है कि ग्यारह प्रकार का भी नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव है ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानों तो आप प्रभाकर के समान ही वेदवाक्य का अर्थ बौद्धों के लिये भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योंकि वह वेदवाक्य सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव वाला है । यदि आप कहें कि वे सौगतादि विपरीत बुद्धि वाले हैं अतः वह नियोग उनके लिये अप्रवर्तक है तब तो आप प्रभाकरों को भी विपर्यास होने से वह अप्रवर्तक हो जावे । हम ऐसा कह सकते हैं कि प्रभाकर विपर्यस्त-विपरीत बुद्धि वाले होने से शब्द नियोग से प्रवृत्ति करते हैं इतर बौद्धादि नहीं करते हैं क्योंकि वे विपर्यस्त बुद्धि वाले नहीं हैं । टिप्पणी में "अप्रवर्तक" की जगह "प्रवर्तक" ऐसा पाठ है उसका ऐसा अर्थ करना कि आप प्रभाकर को भी विपरीत बुद्धि होने से ही वह नियोग प्रवृत्ति कराता है । अर्थात् आपकी ही बुद्धि विपरीत है ।

प्रभाकर—सौगतादि विपर्यस्त-विपरीत बुद्धि वाले हैं क्योंकि उनका मत प्रमाण से बाधित है, किंतु हम प्रभाकर मत प्रमाण से बाधित नहीं है ।

भाट्ट—यह आपका कथन पक्षपात मात्र को सूचित करता है क्योंकि आपका मत भी प्रमाण से बाधित ही है, अतः दोनों ही मत प्रमाण से बाधित हैं । जिस प्रकार से सभी पदार्थों को प्रतिक्षण विनश्वर कहना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है उसी प्रकार से नियोक्ता-यजमानकर्ता, नियोग-वेदवाक्य और इसका विषय-यजादि रूप से भेद की परिकल्पना को प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से बाधित ही है क्योंकि सभी प्रमाण विधि के विषय को व्यवस्थापित करते हैं अतः नियोग की सिद्धि बाधित ही है ।

1 भाट्टः । 2 एकादशप्रकारोपि । 3 सर्वपुरुषापेक्षाप्रकारेण । 4 सौगतादीनाम् । 5 प्रवर्तकस्वभावे नियोगेऽप्रवर्तकतया मननं विपर्यासः । 6 युष्माकं प्राभाकराणां विपरीतत्वादप्रवर्तकोस्तु । 7 अप्रवर्तकस्वभावे नियोगेप्रवर्तकतया मननं विपर्यासः । 8 प्रवर्तकोस्त्विति पाठः । 9 विपर्यासात्प्रवर्तकोऽस्तु । इति पा० (ब्या० प्र०) । 10 अप्रवर्तकत्वात् (अपुस्तके) । 11 शब्दाधिकारात् । 12 ताथागतादयः । 13 बौद्धा अविपर्ययज्ञानत्वान्नियोगात् प्रवर्तन्ते । (ब्या० प्र०) 14 अत्राह नियोगवादी प्रभाकरः । 15 अत्राह भाट्टप्राभाकरौ भाट्टः ।—भो प्रभाकर इति हे कथनं स्वमतपक्षपातमात्रम् । कस्मात् ? प्रभाकरमतस्यापि प्रमाणबाधितत्वेन विशेषो नास्ति यतः ।

प्रत्यक्षादिविरुद्धं तथा [1]नियोक्तृनियोग[2]तद्विषयादि[3]भेदपरिकल्पनमपि, सर्वप्रमाणानां [4]विधि[5]विषयता[6]व्यवस्थापनेन[7] [8]तद्बाधकत्वोपपत्तेः। यदि पुनरप्रवर्तकस्वभावः[9] शब्दनियोग-स्तदा सिद्ध एव तस्य[10] प्रवृत्तिहेतुत्वाभावः। स[11] च वाक्यार्थत्वाभावं साधयति।

अर्थात् प्रमाण चेतन रूप है और विधि ब्रह्म भी चेतन रूप है। अतः विधि में ही सभी प्रमाण घटित हो जाते हैं, किन्तु नियोग में घटित नहीं होते हैं। इसलिये नियोग बाधित हो जाता है क्योंकि जब सभी प्रमाण विधि-परब्रह्म में अंतर्भूत हो जाते हैं तब वह नियोक्ता है, यह नियोग है इत्यादि भेद कल्पना प्रत्यक्षादि से ही विरुद्ध हो जाती है।

पुनः यदि द्वितीय पक्ष लेवो कि शब्द नियोग अप्रवर्तक स्वभाव वाला है तब तो वह शब्द नियोग प्रवृत्ति हेतुक नहीं है अतः उसमें प्रवृत्ति का अभाव सिद्ध ही है। वह शब्दनियोग उपरोक्त विधि से सिद्ध होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को सिद्ध करता है।

भावार्थ—यहाँ पर भाट्ट विधिवाद का आश्रय लेकर प्रभाकरों से प्रश्न करते हैं कि आपका नियोग प्रवृत्ति करा देने रूप स्वभाव वाला है या प्रवृत्ति नहीं कराने रूप ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो वह नियोग जैसे आप प्रभाकरों को यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति कराता है वैसे ही बौद्धों को भी क्यों नहीं कराता है ? क्योंकि यदि अग्नि का स्वभाव जलाने का है तो वह पक्षपात रहित काष्ठ, वस्त्र, मूर्ख के शरीर, पंडित के शरीर, रत्न, तृण आदि सभी को भस्म कर देती है। यदि आप कहें कि बौद्ध मिथ्या बुद्धि वाले हैं अतः उन्हें वेदवाक्य प्रवृत्ति नहीं करा सकते हैं जैसे कि सुवर्ण, अभ्रक आदि को अग्नि नहीं भी जलाती है तब तो हम ऐसा भी कह सकते हैं कि आप प्रभाकर विपरीत बुद्धि वाले हैं अतः वेदवाक्य के अर्थ नियोग से अपने आपको यज्ञकार्य में नियुक्त होना अर्थ मान लेते हैं और कर्मकांडों में प्रवृत्ति भी करते हैं किन्तु बौद्धादि विपरीत बुद्धि वाले नहीं हैं अतः वे नियोग को प्रवृत्ति कराने वाला नहीं मानते हैं एवं उसके अनुकूल यज्ञादि में प्रवृत्ति भी नहीं करते हैं। यह हमारा कथन भी आप किसी तरह से बाधित नहीं कर सकते हैं। यदि आप बौद्ध चार्वाकादि के मतों को बाधित कहें तो जैसे उनके मत प्रत्यक्षादि से बाधित हैं वैसे ही आपका नियोग पक्ष भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित ही है क्योंकि

---

1 नियोगकृद्-यज्ञकृद्-यज्ञकर्त्ता। अयं यज्ञकर्त्तार्थं नियोग इदं फलमिति वेदावादनं प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धं भवतेवः साधयितुं न शक्यते। 2 वेदवाक्य। 3 आदिशब्दात् पुरुषकर्मे। 4 विधिमात्रापतितत्वव्यवस्थापनेन। 5 प्रमाणं चेतनं विधिश्चेतनो विधिमात्रे सर्वाणि प्रमाणानि घटंते न च नियोगे (व्या० प्र०)। 6 व्यवस्थापने इति पा०। इति यदा सर्वेषां प्रमाणानां विधौ परमब्रह्मणि अंतर्भावे नियोक्तृनियोज्यादिभेदकल्पनं प्रत्यक्षादिविरुद्धं भवतीति भावः। (व्या० प्र०)। 7 प्रत्यक्षादिविरुद्धमिति शब्दतः। 8 तस्य नियोगस्य बाधकमुपपद्यते यतः। 9 अस्मिष्टोमादिवाक्य-निबंधनः (व्या० प्र०)। 10 शब्दनियोगस्य। 11 शब्दनियोगः सिद्धः सन्।

[नियोगः फलरहितः फल सहितो वेत्युभयपक्षे दोषारोपणम्]

किञ्च नियोगः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेत्, न ततः[1] प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः अप्रेक्षावत्त्वप्रसङ्गात्[2], प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्त्तते इति प्रसिद्धेश्च। [3]प्रसिद्धचण्ड[4]नरपतिवचननियोगादफलादपि प्रवर्त्तनदर्शनाददोष इति चेन्न, तस्यापायपरिरक्षणफलत्वात्। [5]तन्नियोगादप्रवर्त्तने तदाज्ञोल्लङ्घन[6]कृतान्यपायोवश्य[7] सम्भवतीति।

सभी प्रमाणों से विधिवाद-सत्-चित् परमब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है। यदि आप द्वितीय पक्ष में उस नियोग को प्रवृत्ति नहीं कराने वाला मानेंगे तब तो उन "यजेत" आदि वाक्यों से यज्ञादि कार्य में कभी भी प्रवृत्ति ही नहीं कर सकेंगे पुनः आप कर्मकांडी मीमांसक कैसे रहेंगे ? अतः उपर्युक्त विकल्पों से भी वेदवाक्य का अर्थ नियोग सिद्ध नहीं होता है।

[नियोग फल रहित है या फल सहित]

प्रकारांतर से यह भी प्रश्न होता है कि वह नियोग फल रहित है या फल सहित है ? यदि फल रहित मानो तब तो उस फल रहित नियोग में बुद्धिमान् पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी अन्यथा वे बुद्धिमान् भी मूर्ख ही हो जावेंगे क्योंकि "प्रयोजन के बिना मंद-मूढ़ भी प्रवृत्ति नहीं करते हैं" यह बात प्रसिद्ध है। अर्थात् बुद्धिमान जन फल की अभिलाषा से ही प्रवृत्ति करते हैं। यदि फल के अभाव में भी प्रवृत्ति करेंगे तब तो विद्वान् नहीं कहे जा सकेंगे।

प्रभाकर—प्रसिद्ध अत्यंत क्रोधी राजा के वचन के नियोग से-फल रहित भी वचन के नियोग से प्रवृत्ति देखी जाती है अतः कोई दोष नहीं है।

भाट्ट—ऐसा भी नहीं कहना, वह प्रवृत्ति भी अपाय (कष्ट) से परिरक्षण रूप फल वाली है क्योंकि उस क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर तो उस राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले मनुष्यों का धनापहरण आदि अपाय अवश्यंभावी है।

प्रभाकर—तब तो वेदवाक्य से भी नियुक्त हुआ मनुष्य प्रत्यवाय-विघ्नों को दूर करने के लिये प्रयत्न करे क्योंकि हमारे यहाँ कहा भी है कि विघ्नों को दूर करने के लिये नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानों को करे अर्थात् "त्रिकाल संध्या, उपासना, जप, देव, ऋषि, पितृ-तर्पण आदि अनुष्ठान नित्य कर्म कहलाते हैं एवं अमावस्या, पौर्णमासी, ग्रह, ग्रहण आदिकों में किया गया अनुष्ठान नैमित्तिक कहलाता है। इन नित्यनैमित्तिक क्रियाओं को विघ्नों का नाश करने के लिये करे"।

---

1 फलरहितान्नियोगान्नियोगादचारचतुराणां प्रवृत्तिर्न घटते। घटते चेतदा तेषामप्रेक्षावत्त्वं सजतीति। 2 अन्यथा। प्रेक्षावंतः फलमभिसन्ध्य प्रवर्तंते यदि फलाभावे प्रवर्तंते तर्हि—। (अष्टा० प्र०)। 3 प्रसिद्ध इत्ययं शब्दः अष्टसहस्रीपुस्तके नास्ति। 4 चण्डस्वभावस्यतत्कोपनः। 5 चण्डनरपतिवचनादेशात्। 6 वचनानाम्। 7 वित्तापहारादिः।

तर्हि[1] वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय[2] प्रवर्त्तताम्—"[3]नित्यनैमित्तिके[4] कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया[5]" इति वचनात्। [6]कथमिदानीं[7] स्वर्गकाम[8] इति वचनमवतिष्ठते—[9]जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययान्त[10] निर्देशमात्रादेव नियोगमात्रस्य सिद्धेस्तत एव च प्रवृत्तिसम्भवात्[11]। यदि पुनः फलसहितो नियोग इति पक्षस्तदा फलार्थितैव प्रवर्त्तिका न नियोगः—[12]तमन्तरेणापि फलार्थिनां प्रवृत्तिदर्शनात्। [13]पुरुषवचनान्नियोगे[14]—यमुपालम्भो[15] [16]नापौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यात्—[17]तस्यानुपालम्भत्वादिति चेत्, "सर्वं वै

"नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया।
अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते॥"

ऐसा श्रुतिवाक्य है।

शङ्का— पुनः विघ्नों के परिहार रूप फल का प्रतिपादन करते समय "स्वर्गकामः" यह वचन कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् यदि विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष" इस शब्द से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

"जुहुयात्, जुहोतु, होतव्यं" इस प्रकार से लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय जिसके अंत में है ऐसे शब्द के निर्देश कर देने मात्र से ही नियोग मात्र सिद्ध है और उसी से ही प्रवृत्ति संभव है। अर्थात् इस संसार में लौकिक विघ्नों को दूर करने की इच्छा रखता हुआ पुरुष होम क्रिया में प्रवृत्त होवे न कि स्वर्ग की इच्छा करने वाला मनुष्य, क्योंकि लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय स्वरूप ही नियोग है इसलिए स्वर्ग की इच्छा के बिना ही यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति संभव है अतः आप नियोगवादियों को पूर्वापर विरुद्ध दो प्रकार के वचन नहीं कहना चाहिये क्योंकि पाप का परिहार करने के लिए यज्ञादि कर्म हैं पुनः वे यज्ञादि कर्म स्वर्ग की प्राप्ति कैसे करावेंगे ? अतः "स्वर्गकामः" यह शब्द संभव है ऐसा नहीं कहना चाहिये। यदि पुनः आप दूसरा पक्ष लेवें कि फल सहित ही नियोग है तब तो फल की इच्छा होना ही प्रवर्तिका-प्रवर्तन कराने वाली है न कि नियोग, क्योंकि उस नियोग के बिना भी फलार्थी-फल की इच्छा करने वाले जनों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

---

1 प्रभाकरः। 2 पापपरिहारफलाय। अवश्यं विघ्न आयाति धर्मकार्ये तन्निवारणाय। 3 त्रिकालं सन्ध्योपासनजपदेवर्षिपितृतर्पणादिकमित्याद्यनुष्ठानम्। 4 दर्शपौर्णमासीग्रहणादिषु क्रियमाणं नैमित्तिकानुष्ठानम्। 5 अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते इति श्रुतेः। 6 भावनावादी। 7 प्रत्यवायपरिहारस्य फलत्वप्रतिपादनकाले। 8 यदि विघ्नविनाशनाय यज्ञः क्रियते तर्हि स्वर्गकाम इत्यनेन वचनेन किं प्रयोजनम् ?। 9 इहलोकप्रत्यवायपरिहारार्थी पुमान् जुहुयादिति प्रवर्तताम्, न तु स्वर्गकाम इति। 10 प्रत्ययस्वरूप एव नियोगः। 11 अतः स्वर्गकामनिरपेक्षतया यागे प्रवर्तेतां नाम। 12 नियोगं विनापि। 13 भवाद्द नियोगवादी। 14 पूर्वोक्तः सर्वः। 15 दूषणम्। 16 अग्निष्टोमं स्वर्गकामो यजेतेत्यापौरुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यान्नियोगे दूषणं न—तस्य वाक्यस्यादूष्यत्वात्। 17 अनुपालम्भत्वात् इति पा०। अदूष्यत्वात्। (म्या० प्र०)।

खल्विदं ब्रह्मे" त्यादि[1] वचनमपि विधिमात्रप्रतिपादकमनुपालभ्यमस्तु [2]तत एव। तथा च वेदान्तवादसिद्धिः। तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थः [3]कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुत्वाभावाद्विधिवत्[4]।

[पूर्वकथितैकादशप्रकारस्य नियोगस्य क्रमशः निराकरणम्]

सर्वेषु[5] च पक्षेषु नियोगस्य प्रत्येकं विचार्यमाणस्यायोगान्न वाक्यार्थत्वमवतिष्ठते। तथा हि।—न तावत्कार्यं शुद्धं नियोग इति पक्षो घटते [6]प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य[7] नियोगस्यासम्भवात्। तस्मिन्नियोगसंज्ञाकरणे स्वकम्बलस्य [8]कूर्दालिकेति नामान्तरकरणमात्रे स्यात्। न च तावता [9]स्वेष्टसिद्धिः। शुद्धा प्रेरणा[10] नियोग इत्यप्यनेनापास्तं[11]—[12]नियोज्यफल-[13]

नियोगवादी प्रभाकर—यदि हम पौरुषेय वचन-पुरुष के वचन से नियोग का अर्थ करें तब तो उपर्युक्त दोष आ सकते हैं किंतु हम तो अपौरुषेय वेद के अग्निहोत्रादि वाक्य से नियोग मानते हैं अतएव उस मान्यता में आप उलाहना नहीं दे सकते हैं।

भावनावादी-भाट्ट—सब "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन। आरामं तस्य पश्यंति न तं पश्यति कश्चन॥" इस विधि मात्र के प्रतिपादक वचन भी निर्दोष सिद्ध होवें क्या बाधा है? क्योंकि अपौरुषेयत्व हेतु दोनों जगह समान है और उस प्रकार से तो वेदांतवाद की सिद्धि हो जाती है। इसलिये वेदवाक्य का अर्थ नियोग नहीं है क्योंकि उसमें किसी भी पुरुष की प्रवृत्ति का अभाव है जैसे विधि-ब्रह्म में किसी की प्रवृत्ति नहीं है।

[प्रारम्भ में जो नियोग के ११ प्रकार से अर्थ किये हैं उनका क्रमशः भाट्ट द्वारा खंडन किया जा रहा है]

उपर्युक्त सभी एकादश प्रकार के पक्षों में प्रत्येक का विचार करने से वह नियोग सिद्ध नहीं होता है अतः वेदवाक्य का अर्थ नियोग करना ठीक नहीं है। तथाहि—

(१) "शुद्ध कार्य नियोग है" यह पक्ष भी घटित नहीं होता क्योंकि "यजेत स्वर्गकामः" इस प्रकार से प्रेरणा और नियोज्य—स्वर्ग की इच्छा करने वाले श्रोतापुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है अर्थात् स्वर्ग की इच्छा करने वाले पुरुष से वर्जित नियोग ही असम्भव है। और उसकी नियोग संज्ञा करने पर तो अपने कम्बल को 'कूर्दालिका-कुदाली' ऐसा एक भिन्न नाम रख दिया गया मात्र ही हो जाता किन्तु उतने से अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थात् नियोग पक्ष में स्वर्ग है और कूर्दालिका-कुदाली पक्ष में खोदना आदि है। अर्थात् कुछ का कुछ नाम रख देने से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रेरणा और नियोज्य पुरुष से रहित केवल शुद्ध कार्य रूप

---

1 नेह नानास्ति किञ्चन। आरामं (विस्तारं) तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन॥ 2 अपौरुषेयत्वस्याविशिष्टत्वात्। 3 पुरुषस्य। 4 परब्रह्म यथा। 5 एकादशभेदनियोगेषु। 6 यजेतेति। प्रवर्तकस्य। 7 स्वर्गकाम। 8 कुदाली। 9 स्वर्ग। स्वर्गो नियोगपक्षे कूर्दालिकापक्षे खननादि। 10 अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि। 11 पूर्वोक्तेन वक्ष्यमाणेन च। 12 नियोज्यः पुमान्। 13 स्वर्गः। 14 अपौरुषेयत्वादेव। (अष्टा० प्र०)

रहितायाः [1]प्रेरणायाः [2]प्रलापमात्रत्वान्नियोगरूपतानुपपत्तेः। प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इत्यप्यसम्भाव्यम्—नियोज्यविरहे नियोगविरोधात्। कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तम्। कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्त्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारम्—नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य [3]प्रवर्त्तकत्वोपचारायोगात्। [4]कदाचित्कचित्परमार्थतस्तस्य तथानुपलम्भाच्च[5]। [6]कार्यप्रेरणयोः[7] सम्बन्धो नियोग इति [8]वचनमसङ्गतम्—[9]ततो भिन्नस्य[10] सम्बन्धस्य सम्बन्धि-निरपेक्षस्य [11]नियोगत्वाघटनात् [12]सम्बन्ध्यात्मनः सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्[13]-

---

नियोग से स्वर्ग नहीं मिल सकता है जैसे कि कम्बल को कुदाली कह देने से उससे सड़क का खोदना नहीं हो सकता है।

(२) और जो आपने कहा था कि "शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है" अर्थात् "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इस कथन का भी पूर्वोक्त कथन से ही निरसन हो जाता है। नियोज्य-पुरुष और उसका फल-स्वर्ग इन दोनों से रहित प्रेरणा प्रलाप मात्र ही है इसलिये वह प्रेरणा नियोग रूप नहीं हो सकती है।

(३) "प्रेरणा सहित कार्य नियोग है" यह पक्ष भी असम्भव है क्योंकि नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है।

(४) "कार्य सहित प्रेरणा ही नियोग है" इसका भी इसी कथन से निरसन हो जाता है।

(५) "कार्य ही उपचार से प्रवर्तक होने से नियोग है" यह पक्ष भी असार है। नियोज्य—पुरुष आदि से निरपेक्ष कार्य में प्रवर्तक का उपचार ही नहीं हो सकता है क्योंकि कदाचित् क्वचित् परमार्थ से वह नियोज्यादि निरपेक्ष कार्य प्रवर्तक प्रकार से उपलब्ध नहीं होता है। अर्थात् नियोज्य—श्रोता-पुरुष, नियोजक—शब्दादि की अपेक्षा रहित कार्य उपचार से भी यज्ञादि में प्रवृत्ति नहीं करता है। मुख्य रूप से सिंह के अस्तित्व होने पर वीर पुरुषों में सिंह का उपचार कर दिया जाता है किन्तु यहाँ कभी कहीं नियोज्यादि से रहित केवल कार्य उस प्रकार से प्रवर्तक नहीं हो सकता है।

(६) "यागादि कार्य और वेदवाक्य रूप प्रेरणा का सम्बन्ध ही नियोग है।" यह वचन भी असंगत है क्योंकि कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धी से भिन्न सम्बन्ध यदि सम्बन्धी से निरपेक्ष है तो वह नियोग रूप से घटित नहीं हो सकता है। "संबंध्यात्मक सम्बन्ध को नियोग कहना भी दुरन्वय-गलत ही है" क्योंकि प्रेर्यमाण पुरुष से निरपेक्ष, संबंध्यात्मक भी कार्य और प्रेरणा नियोग नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ—सम्बन्धियों से सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ सम्बन्ध तटस्थ पदार्थ के समान उनका नियोग

---

1 प्रेरकस्यस्य। 2 निरर्थकत्वात्। 3 निरर्थकत्वादिति पाठः। 4 नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य। 5 प्रवर्तकत्व-प्रकारेण। 6 यागादि। 7 वेदवाक्य। 8 इति च न सङ्गतमिति बहुपुस्तकपाठः। 9 कार्यप्रेरणाख्येभ्यः सम्बन्धिभ्यः। 10 सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वेति विकल्पद्वयमनवतीति क्रमेण निराकुर्वन्नाह। 11 नियोगत्वेनाघटनादिति बहुपुस्तकपाठः। 12 सम्बन्धिनाधात्मानौ स्वरूपे यस्य। 13 दुष्टोपदेशः। (अष्ट० प्र०)

प्रेर्यमाणपुरुष[1]निरपेक्षयोः [2]सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्तेः। [3]तत्समुदायनियोगवादोऽप्यनेन[4] प्रत्याख्यातः। कार्यप्रेरणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो न विधिवादमतिशेते[5]। यत्पुनः स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्त्तते इति यन्त्रारूढनियोगवचनं तदपि न [6]परमात्मवादप्रतिकूलम्—[7]पुरुषाभिमानमात्रस्य[8] नियोगत्ववचनात्, [9]तस्य चाविद्योदयनिबन्धनत्वात्। भोग्यरूपो नियोग इति चायुक्तम्—[10]नियोक्तृ [11]प्रेरणाशून्यस्य [12]भोग्यस्य तद्भावानुपपत्तेः। पुरुषस्वभावो हि[13] न नियोगो घटते [14]तस्य [15]शाश्वतिकत्वेन नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गात्। [16]पुरुषमात्रविधेरेव [17]तथाभिधाने वेदान्तवादपरिसमाप्तेः[18] कुतो नियोगवादो नाम।

नहीं हो सकता एवं कार्य और प्रेरणा रूप सम्बन्धियों से अभिन्न तदात्मक हो रहा सम्बन्ध जब तक श्रोता-पुरुष की अपेक्षा नहीं रखेगा तब तक कथमपि नियोग नहीं हो सकता। शिष्य की अपेक्षा नहीं रखकर अध्ययन करने की प्रेरणा करना बहुत ही कठिन है सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध का भेद अथवा अभेद इन दोनों पक्षों में नियोग व्यवस्थित नहीं होता है।

(७) "उन दोनों का तादात्म्य समुदाय ही नियोग है" उपर्युक्त भिन्न अभिन्न पक्ष उठाने से यह पक्ष भी निरस्त हो जाता है क्योंकि पुरुष के बिना उन दोनों के समुदाय को नियोग कहना उचित नहीं है।

(८) कार्य और प्रेरणा से रहित भी नियोग विधिवाद का उल्लंघन नहीं कर सकता है किन्तु विधिवाद ही आ जाता है। तुच्छाभाव को न मानने से आप प्रभाकरों के यहाँ कार्य और प्रेरणा से रहित नियोग वेदान्तवादी के ब्रह्माद्वैतवाद का ही आश्रय ले लेता है।

(९) जो आपने कहा है कि स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्रादि वाक्यों से नियुक्त होने पर अपने को याग लक्षण विषय में आरूढ मानता हुआ प्रवृत्ति करता है इस प्रकार से "यन्त्रारूढ नियोग वचन ही नियोग है" यह कथन भी परमात्म—ब्रह्मवाद के प्रतिकूल नहीं है। यहाँ विधिवाद में भी पुरुष के अभिप्राय मात्र को नियोग कहा है और पुरुष का अभिमान—अभिप्राय भी तो अविद्या के उदय से ही होता है।

(१०) "भोग्य रूप नियोग है" यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि नियोक्ता—वेदवाक्य और

---

1 यजः (कर्मधारयः)। 2 सम्बन्धात्मनोः इति पा०। (ब्या० प्र०) 3 तादात्म्यम्। 4 ततो भिन्नस्येत्यादिना। 5 नातिशयं प्राप्नोति। नातिक्रामति। किन्तु विधिवाद एवायातः। 6 विधिवाद। 7 अभिप्रायः। 8 तत्संवेदनविवर्तस्तु नियुक्तोऽहमिति अभिमानरूपो नियोग इति नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते। (ब्या० प्र०) 9 पुरुषस्याभिप्रायाभावादित्युक्ते आह। पुरुषाभिमानमात्रस्य। 10 वेदवाक्य। 11 प्रवर्तकलक्षणो वाक्यधर्मः। 12 स्वर्गस्य। 13 पुरुषस्वभावोपीति क्वचित्पाठः। 14 अन्यथा। तस्य पुरुषस्वभावस्य। 15 नित्यत्वेन। 16 अस्तित्वस्य। 17 नियोग इति। 18 प्राप्तेः।

प्रेरणा-प्रवर्तक लक्षण वेदवाक्य का अर्थ इन दोनों से रहित भोग्य-स्वर्ग (भविष्यत्काल में भोगने योग्य पदार्थ) की व्यवस्था नहीं बन सकती है।

(११) एवं ग्यारहवें पक्ष में माना गया "पुरुष का स्वभाव नियोग है" यह कथन भी घटित नहीं होता है। अन्यथा यदि पुरुष के स्वभाव को ही नियोग मानोगे तो पुरुष का स्वभाव तो शाश्वतिक है पुनः वह नियोग भी शाश्वतिक हो जावेगा। पुरुषमात्र के अस्तित्व को ही "नियोग" कहने पर तो वेदान्तवाद की प्राप्ति हो जाने से नियोगवाद नाम ही कैसे रह सकेगा ?

इस प्रकार आप प्रभाकर द्वारा मान्य ११ प्रकार का नियोग कथमपि सिद्ध नहीं होता है विचार कोटि में रखने पर वह विधिवाद में ही चला जाता है एवं आगे विधिवाद का भी निराकरण कर देने से अपौरुषेय वेदवाक्य एवं उसमें मान्य नियोग, विधि आदि सभी समाप्त हो जाते हैं।

नियोगवाद के खंडन का सारांश

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं और उन्हीं के यहाँ जो भेद प्रभेद हैं उनके अर्थ में अनेक की कल्पना करके परस्पर में विसंवाद करते हैं। प्रभाकर मतानुयायी वेदवाक्य का अर्थ नियोग करते हैं, भाट्ट भावना अर्थ करते हैं और वेदान्ती वेदवाक्य का अर्थ विधि करते हैं।

सर्वप्रथम नियोगवादी का पक्ष स्थापित करके भावनावादी भाट्ट दोष दिखाता है—

भावनावादी—आप प्रभाकर ने वेदवाक्य का अर्थ नियोग किया है सो ठीक नहीं है उसमें अनेक बाधायें सम्भव हैं "अग्निष्टोमादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार से निरवशेष योग को नियोग कहते हैं वहाँ भी किंचित् चिद् भावना रूप कार्य सम्भव नहीं है क्योंकि आपके यहाँ नियोग का अर्थ अनेक वक्ताओं ने ग्यारह प्रकार से किया है।

(१) कोई कहते हैं कि जो लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्यनिरपेक्ष है, एवं कार्यरूप (यज्ञरूप) है वही नियोग है।

(२) वाक्यांतर्गत कर्मादि अवयवों से निरपेक्ष शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है।

(३) प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है।

(४) कार्य सहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं क्योंकि कार्य के बिना कोई पुरुष प्रेरित नहीं होता है।

(५) कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते हैं।

(६) प्रेरणा और कार्य का सम्बन्ध ही नियोग है।

(७) प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है।

(८) इन दोनों से विनिर्मुक्त स्वभाव ही नियोग है।

(९) यंत्रारूढ—यागलक्षण कार्य में लगा हुआ जो पुरुष है वही नियोग है।

(१०) भोग्य—अविष्यत् रूप ही नियोग है।

(११) पुरुष ही नियोग है।

इन एकादश पक्षों का विचार करने से यह नियोग सिद्ध नहीं होता है यथा—

(१) "शुद्ध कार्य नियोग है" यह पक्ष असंभव है क्योंकि "यजेत स्वर्गकामः" इस प्रकार प्रेरणा और नियोज्य से रहित नियोग असंभव है।

(२) जो आपने कहा था "शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है" क्योंकि नियोज्य—पुरुष और उसका फल—स्वर्ग उससे रहित प्रेरणा प्रलाप मात्र है।

(३) "प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है" इसमें भी नियोज्य मनुष्य के न होने पर नियोग ही असम्भव है।

(४) "कार्य सहित प्रेरणा" का इसी से निरसन हो गया।

(५) "कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहना" भी असार है क्योंकि पुरुषादि से निरपेक्ष कार्य (यज्ञ) में प्रवर्तक का उपचार ही असम्भव है।

(६) "कार्य और प्रेरणा का संयोग" अर्थ करने पर तो इन दोनों सम्बन्धी से भिन्न सम्बन्ध यदि सम्बन्धी से निरपेक्ष है तो वह नियोग रूप से नहीं घटता है।

(७) "इन दोनों का समुदाय" अर्थ कहने पर वह उससे भिन्न है या अभिन्न? इत्यादि विकल्पों से दूषित हो जाता है।

(८) "कार्य और प्रेरणा से रहित नियोग" विधिवाद में ही अनिष्ट हो जाता है।

(९) "वेदवाक्य नियोज्य कथन ही नियोग है" इस कथन से भी विधिवाद ही आता है।

(१०) भोग्य को नियोग कहने से वेदवाक्य और प्रेरणारूप वाक्य का अर्थ इन दोनों से रहित भोग्य-स्वर्ग की व्यवस्था ही असम्भव है।

(११) "पुरुष का स्वभाव नियोग है" ऐसा अर्थ करने पर तो पुरुष का स्वभाव शाश्वतिक होने से नियोग भी शाश्वत हो जावेगा।

इस प्रकार से ११ विकल्पों में कहा गया नियोग सिद्ध नहीं होता तथा इनमें आठ विकल्प और उठते हैं कि वे ग्यारहों विकल्प रूप नियोग प्रमाण है या प्रमेय, उभय रूप हैं या अनुभय रूप तथा शब्द व्यापार रूप है या पुरुष व्यापार रूप, दोनों के व्यापार रूप हैं या दोनों के व्यापार से रहित?

यदि आप प्रथम पक्ष लेवें तो विधिवाद आ जावेगा क्योंकि प्रमाण तो विधात्मक है। यह आत्मा "दृष्टव्यः, श्रोतव्यो, निदिध्यासितव्यः" इत्यादि वाक्यों के सुनने से अवस्थांतर से विलक्षण "मैं प्रेरित हुआ हूँ" ऐसी अहंकार बुद्धि से आत्मा ही प्रतिभासित होती है और यही विधि है। यदि दूसरा पक्ष लेवें तो प्रमेय को ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण मानना होगा अन्यथा प्रमाण के अभाव में प्रमेय कैसे रहेगा? एवं प्रमेय रूप नियोग पुरुष से भिन्न न होने से आप वेदान्ती बन जावेंगे।

यदि उभयरूप को नियोग कहें तब तो नियोग को ज्ञान पर्याय-विधानात्मक मानने से विधिवाद ही सिद्ध हो जाता है यदि अनुभय स्वभाव कहो तो उभयरूप से रहित संवेदनमात्र ही पारमार्थिक होने से विधिवाद ही आवेगा। यदि शब्द व्यापार को नियोग कहो तो "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि शब्द का व्यापार नियोग होने से आप हमारे-भाट्ट के मत में प्रवेश कर जावेंगे क्योंकि हमने "शब्द भावना" को नियोग कहा है। एवं छठे पक्ष में भी आप भाट्ट ही हो जावेंगे कारण हमने पुरुष के व्यापार को भी भावना स्वभाव कहा है। हमारे यहाँ भावना के २ भेद हैं-शब्द भावना और अर्थ-भावना। यदि उभय के व्यापार को नियोग कहो तो क्रम से कहोगे या युगपत् ? क्रम से कहो तो वही भाट्टमत प्रवेश नाम का दोष आता है। यदि युगपत् कहो तो एक जगह एक साथ उभय स्वभाव की व्यवस्था नहीं होगी। अनुभय स्वभाव को नियोग कहो तो वह यागादि कर्म रूप विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा निःस्वभाव ?

यदि विषय स्वभाव कहो तो यागादि अर्थ के विषय विद्यमान हैं या नहीं ? यदि वेदवाक्य के काल में विषय अविद्यमान हैं तो उस विषय का स्वभाव रूप नियोग भी अविद्यमान ही रहा। यदि विद्यमान कहो तो वह वेदवाक्य के काल में विषय स्वभाव विद्यमान होने से वाक्य का अर्थ नहीं होगा क्योंकि वह तो यागादि को निष्पादन करने के लिये हुआ है। निष्पन्न हुये यागादि का पुनः निष्पादन शक्य नहीं है। यदि यागादि का रूप किंचित् अनिष्पन्न है उसे निष्पादन करने के लिये नियोग है कहो तो यागादि विषय स्वभाव नियोग भी अनिष्पन्न होने से वेदवाक्य का अर्थ कैसे होगा ? यदि फल स्वभाव नियोग है कहो, तो स्वर्गादि का फल नियोग नहीं है क्योंकि वह स्वर्गादि फल वाक्य के काल में अविद्यमान है यदि असन्निहितफल को भी नियोग कहो तो निरालंबवाद-बौद्ध के मत में प्रवेश हो जावेगा क्योंकि वे शब्द को निरालंब—अन्यापोह अर्थवाला कहते हैं यदि निःस्वभाव कहो तो भी अन्यापोहवाद हो आवेगा।

दूसरी बात यह है कि यह नियोग सत् है या असत्, उभयरूप है या अनुभयरूप ? प्रथम पक्ष में विधिवाद है। द्वितीय में निरालंब-शून्यवाद है, उभयपक्ष में उभय पक्षोपक्षिप्त दोष है एवं चतुर्थ पक्ष में विरोध दोष आता है क्योंकि सत् के निषेध में असत् का विधान होगा ही। यदि सर्वथा सत् असत् का निषेध करो तो कथंचित् सत् असत् आ जाता है जो कि स्याद्वाद का आश्रय ले लेता है, वह आपको इष्ट नहीं है। पुनः नियोग प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो आप प्रभाकर के समान ही वह बौद्धों को भी प्रवर्तक हो जावेगा क्योंकि सर्वथा प्रवर्तक स्वभाव है यदि दूसरा पक्ष लेवो तो वह नियोग प्रवृत्ति का हेतु न होता हुआ वेदवाक्य के अर्थ के अभाव को ही सिद्ध करेगा। तथा वह नियोग फल रहित है या फल सहित ? यदि प्रथम विकल्प कहो तो फल रहित नियोग से कोई भी बुद्धिमान प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि प्रयोजन के बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नहीं करता है यदि कहो कि अत्यन्त क्रोधी राजा के फल रहित भी वचन के नियोग से प्रवृत्ति देखी जाती है सो भी प्रवृत्ति कष्ट से परिरक्षण रूप फल वाली है क्योंकि क्रोधी राजा के वचनादेश से प्रवृत्ति न करने पर धनापहरण, मृत्यु बंध आदि अवश्यंभावी हैं। इस पर यदि कहें कि वेदवाक्य से नियुक्त हुआ पुरुष विघ्नों को दूर करने के लिये ही प्रवृत्ति करता है क्या बाधा है ? त्रिकाल संध्योपासन, पितृऋषितर्पण आदि नित्य कर्म और पौर्णमासी आदि तिथियों में किया गया अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म है। कहा भी है—

'नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ।
अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते ।।"

परन्तु यह कथन भी विरुद्ध है। विघ्नों के परिहार रूप फल को प्रतिपादन करते समय "स्वर्गकामः" यह वचन कैसे सिद्ध होगा ? जब विघ्न का परिहार करने के लिये यज्ञ किया जाता है तब "स्वर्गकामः" इस शब्द से क्या प्रयोजन है ? अतएव "जुह्वयात् जुहोतु होतव्यं" इन लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय को अन्त में रखकर निर्देश कर देने से नियोग मात्र सिद्ध हो गया उसी से प्रवृत्ति सम्भव है इसलिये स्वर्ग की इच्छा के बिना भी याग कर्म में प्रवृत्ति हो गई।

यदि फल सहित नियोग है ऐसा कहो तो फल की इच्छा होना ही प्रवर्तक है न कि नियोग, क्योंकि नियोग के बिना भी फलार्थीजनों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

नियोगवादी—ये सभी दोष तो तब आवेंगे जब हम वेद को पौरुषेय—पुरुषकृत मानें। हमारे यहाँ अपौरुषेय वेदवाक्य से नियोग अर्थ मानने में कोई दोष नहीं आते हैं।

भाट्ट—तब तो आपको 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन, आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' इत्यादि विधि वचन को भी प्रमाण मानना होगा। अतः एकादश प्रकार के सभी पक्षों में प्रत्येक का विचार करने पर वह नियोग सिद्ध नहीं होता है।

[भाट्टो नियोगवादं निराकृत्यानुना विधिवादं निराकरोति]

[1]नन्वेवं नियोगनिराकरणेऽपि [2]विधेर्वाक्यार्थत्वघटनान्न भावना वाक्यार्थः सिद्धो भट्टस्येति न [3]चेतसि विधेयम्[4]—विधेरपि विचार्यमाणस्य बाध्यमानत्वात्। सोऽपि हि प्रमाणरूपो वा स्यात् प्रमेयरूपो वा तदुभयरूपे वा अनुभयरूपो वा पुरुषव्यापाररूपो वा [5]शब्दव्यापाररूपो वा द्वयव्यापाररूपो वाऽद्वयव्यापाररूपो वेत्यष्टौ विकल्पान्नातिक्रामति। तथाहि।

[विधेः प्रमाणकल्पनाभ्युपगमे दोषानाह]

प्रमाणं विधिरिति [6]कल्पनायां प्रमेयं किमपरं स्यात्? [7]तत्स्वरूपमेवेति चेन्न—सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विधेः प्रमाणप्रमेयरूपद्वयविरोधात्। [8]कल्पितत्वात्तद्रूपद्वयस्य

[प्रभाकर नियोगवाद को मानता है जैनाचार्यों ने भावनावादी भाट्ट के मुख से उस नियोगवादी का खंडन कराया है। अब जैनाचार्य पुनः विधिवादी वेदान्ती का भी खंडन भाट्ट के द्वारा ही करा रहे हैं।]

विधिवादी [वेदांतवादी]—इस प्रकार से नियोग का निराकरण हो जाने पर भी वेद का अर्थ विधि ही घटित होता है किन्तु आप भाट्टों के द्वारा मान्य वेदवाक्य का भावना अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता है।

भाट्ट—ऐसा भी तुम्हें मन में नहीं समझना चाहिये क्योंकि विधिवाद को भी विचार की कोटि में रखने से वह बाधित हो जाता है। उस विधि अर्थ में हम प्रश्न करेंगे कि वह विधि प्रमाण रूप है या प्रमेयरूप, उभयरूप है या अनुभयरूप, पुरुष व्यापार रूप है या शब्द व्यापार रूप, द्वय—इन दोनों के व्यापार रूप है या अद्वय—इन दोनों से रहित व्यापार रूप है? इन आठ विकल्पों का उल्लंघन वह विधि—ब्रह्मवाद भी नहीं कर सकता है।

[विधि को प्रमाण रूप मानने पर उसका खंडन]

(१) तथाहि—विधि को प्रमाण मानने पर आप ब्रह्माद्वैतवादियों के यहाँ अन्य प्रमेय नाम की और क्या वस्तु होगी? यदि आप कहो विधि (ब्रह्म) का स्वरूप ही प्रमेय है तब तो सर्वथा निरंश, सन्मात्रदेहवाले विधि-परब्रह्म के प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप नहीं हो सकते हैं क्योंकि विरोध आता है।

वेदांती—कल्पित होने से वे प्रमाण और प्रमेय दोनों रूप वहाँ पर विधि में अविरुद्ध हैं।

---

1 अथ नियोगवादिनं निराकृत्य भट्टो विधिवादिनं दूषयति। 2 वाक्यार्थनिवेदनादिति पाठः। 3 त्वया विधिवादिनेति शेषः। 4 निधेयं इति वा पाठः। (ब्या० प्र०) 5 यदि शब्दः ब्रह्मावस्वरूपं नाधिपद्यति निर्देशस्वरूपमधिपद्यति शेषत्वभावे कथंचिद्स्तुति प्रवृत्तिर्न स्यात्। 6 ब्रह्माद्वैतवादिनाम्। 7 विधिस्वरूपमेव। 8 ननु य एव विधेस्तथोभयस्वभावतया स्वात्मानं प्रकाशयन्निरंशत्वं बाधते, सान्मात्रं निरंशतैवोच्यतेऽतः पूर्वापरविरोधः इति चेन्न, प्रमेयस्वभावः काल्पनिकः प्रतिभाद्वार्थमुच्यते न तु वास्तवस्तद्विवर्तत्वात्तस्य।

तत्राविरोध इति चेत्, [1]कथमिदानीमन्यापोहः[2] शब्दार्थः प्रतिषिध्यते[3]—संविन्मात्रस्याप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वमिति। [4]परैरभिधातुं शक्यत्वात्। [5]वस्तुस्वभावाभिधायकत्वाभावे शब्दस्यान्यापोहाभिधायकत्वेऽपि [6]क्वचित्[7] प्रवर्तकत्वायोगान्नान्यापोहः शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि वस्तुस्वरूपाभिधायिनोपि शब्दस्यान्यापोहान[10]-

---

भाट्ट—तब तो बौद्धाभिमत शब्द का अर्थ अन्यापोह है उसका आप निषेध कैसे करते हैं? क्योंकि "अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण और अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय है" इस प्रकार से संविन्मात्र को ही विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध ने स्वीकार किया है।

भावार्थ—शंका यह हुई थी कि चिदात्मा प्रमाण एवं प्रमेयरूप उभयस्वभाव से अपने को प्रकाशित करता हुआ युक्त है ऐसा विधिवादी का कहना था पुनः ऐसा कह दिया वह परमब्रह्म निरंश ही है इसलिये परस्पर विरुद्ध हो गया ऐसा कहने पर उसने कहा कि प्रमेय स्वभाव तो काल्पनिक है और वही प्रतिपाद्य अर्थ है वह वास्तविक नहीं है वह तो उस ब्रह्म को ही पर्याय है। तब उस भाट्ट ने कहा कि प्रमाण और प्रमेय दोनों रूपों को कल्पित कहने पर तो बौद्ध भी शब्द का अर्थ अन्यापोह करता है उसका निषेध आप क्यों करते हैं क्योंकि बौद्धों के यहाँ भी संविन्मात्र—विज्ञानमात्र तत्त्व अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण रूप है और प्रमेय भी अप्रमेय की व्यावृत्ति से प्रमेय रूप है ऐसा संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध भी कह सकते हैं क्या बाधा है? मतलब—आप विधिवादी प्रमाण प्रमेय-दोनों को कल्पना रूप से विधि में विरुद्ध नहीं मानते हो तब तो "अगोव्यावृत्तिर्गौः, अघटव्यावृत्तिर्घटः" इत्यादि लक्षण अभावात्मक-अन्यापोह रूप शब्द का अर्थ क्यों नहीं मान लेते हो, उसका निषेध क्यों करते हो क्योंकि कल्पित शब्द तो प्रमाण और अन्यापोह दोनों में समान है? जैसे आप वेदांतवादी प्रमाण को कल्पित मानते हो वैसे ही बौद्ध अन्यापोह को कल्पित मानते हैं इसलिये दोनों में कोई अन्तर नहीं दीखता है।

विधिवादी—आप बौद्ध की मान्यतानुसार शब्द अन्यापोह का कथन करने वाले भले ही हों किन्तु वस्तु के स्वभाव का कथन करने वाले नहीं हैं। अतः उन शब्दों की क्वचित्—विधि में प्रवृत्ति नहीं होती है इसीलिये शब्द का अर्थ अन्यापोह नहीं है।

---

1 प्रमाणप्रमेयरूपद्वयस्य कल्पितत्वाभिधानकाले। 2 विधौ कल्पितत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं घटते नेत्कल्पितं किमन्यापोहः? स एव शब्दार्थोस्त्वापि नास्त्यर्थस्वघटनात्। 3 अत्राह सौगतमतमवलम्ब्य भावनावादी विधिवादिनं प्रति। —हे विधिवादिन् कल्पनारूपत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं विधौ न विरुध्यते इति त्वया प्रतिपाद्यते चेत् तर्हि कल्पनारूपत्वादगोव्यावृत्तिगौः अघटव्यावृत्तिर्घट इत्यादिलक्षणः सौगताभ्युपगतशब्दार्थः अन्यापोहः अभावात्मकस्त्वया विधिवादिना कथं निराक्रियते? प्रमाणान्यापोहयोः कल्पितत्वाविशेषात्। 4 शून्य। 5 सौगतैः संविन्मात्रपक्षग्राहकैः। 6 विधिवादी। 7 तदा शब्दो वस्तुस्वरूपमभिधत्ते अन्यापोहस्वरूपं नाभिधत्ते चेदन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न स्यात् स्वपररूपयोः सङ्करो भवेदित्यर्थः। 8 विधौ। 9 सर्वत्र निवर्तकत्वात्। (ब्या० प्र०) 10 विशेषस्यात्राप्यत्वात्।

विधायित्वे[1]ऽन्य[2]परिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबन्धनताप[3]याद्विधिरपि शब्दार्थो मा भूत्। [4]परमपुरुषस्यैव [5]विधेयत्वात्तदन्य[6]स्यासम्भवान्नान्यपरिहारेण [7]प्रवृत्तिरिति चेत् कथमिदानी[8] "द्रष्टव्यो[9]ऽयमात्मे" [10]त्यादिवाक्यान्नैरात्म्यादि[11]परिहारेणात्मनि [12]प्रवृत्तिर्नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रसङ्गात्। [13]नैरात्म्यादेरनाद्यविद्योपकल्पितत्वान्न [14]तद्दर्शनादौ प्रवृत्तिरिति चेत्[15] कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न भवेत्? [16]परमब्रह्मणो [17]विधिरेवान्य[18]स्यानाद्य-

---

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो वस्तु स्वरूप का कथन करने वाले भी शब्द अन्यापोह का कथन करने वाले नहीं हैं ऐसा मानने पर तो आपके यहाँ ब्रह्म को छोड़कर अन्य कोई है ही नहीं अतः अन्य का परिहार करके वे शब्द कहीं पर भी प्रवृत्ति के निमित्त नहीं हो सकेंगे इसलिये विधि भी शब्द का अर्थ मत होवे। अर्थात् विधि तो प्रवर्तनस्वभाव वाली ही है तो फिर अन्य का निषेध करके एक ब्रह्म के विषय में ही नियम रूप से वह प्रवृत्ति कैसे करावेगी?

विधिवादी—परम पुरुष ही विधेय है क्योंकि ब्रह्म को छोड़कर कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं इसलिये अन्य का परिहार करने से विधि में प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो अन्य का परिहार करके प्रवृत्ति के न होने रूप समय में "द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अरे मैत्रेयि! यह आत्मा देखने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, अनुमनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है, इत्यादि वाक्यों से नैरात्म्य दर्शनादिकों का परिहार करके आत्मा में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? अन्यथा—यदि नैरात्म्यादि दर्शन का परिहार नहीं मानोगे तो उनका भी प्रसंग आ जावेगा अर्थात् नैरात्म्यादि सिद्धान्त भी मानने पड़ेंगे।

आचार्य—यहाँ यदि आप वेदांती के वचन केवल विधि वाक्य को ही कहते हैं, निषेधवाक्य को नहीं कहते हैं तो फिर आप क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि का परिहार भी कैसे करेंगे? पुनः आपके ब्रह्मवाद में शून्यवाद आदि आ घुसेंगे, आप किसी को भी नहीं रोक सकेंगे।

वेदांती—नैरात्म्यादि दर्शन तो अनादिकालीन अविद्या से ही उपकल्पित हैं अतः उन दर्शनों में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है।

---

1 विधेयत्वात्प्राप्यत्वात्। 2 अन्यद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्तु नास्ति विधिवादिनो मते। 3 अनियामकत्वात् विधेः प्रवर्तनस्वभावत्वात्तदन्यपरिहारेण क्वचित् प्रवृत्तिः कथं स्यात्। (ब्या० प्र०) 4 विधिवादी। 5 प्राप्यत्वात्। 6 परमपुरुषातिरिक्तचिदचिन्नाम वस्तु नास्ति यतः। 7 विधौ। 8 अन्यपरिहारेण प्रवृत्त्यभावप्रतिपादनकाले। 9 द्रष्टव्यः श्रुतवाक्येभ्यो मंतव्यश्चोपपत्तिभिः। ध्येय एते दर्शनहेतवः। इति स्मृति वाक्यं। (ब्या० प्र०) 10 द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुतिः। 11 सौगत आह।—हे विधिवादिन् अन्यथा नैरात्म्यादि परिहाराभावे पुरुषे तत्त्वस्य प्रवृत्तिर्घटते चेत्तदा नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रवृत्तिर्घटताम्। 12 अन्यथा। 13 विधिवादाहानात्मकमाह।—अनाद्यज्ञानोपकल्पं यतस्तत्त्वान्नैरात्म्यादिदर्शनमथवादौ प्रवृत्तिर्न घटते। 14 नैरात्म्य। 15 भाट्टः। 16 विधिवादी (परब्रह्मणः)। 17 विधानम्। 18 अन्यापोहस्य।

विद्योपकल्पितस्य नैरात्म्यादेः परिहार[1] इति चेत् [2]कथमेवमन्यापोह[3]वादिनोपि परापोहनमेव स्वरूपविधिर्न [4]भवेत् ? [5]तस्यान्यापोहवादविरोधा[6]ल्नैवमिति चेत् [7]विधिवादिनोपि [8]तथा विधिवादविरोधादन्यापोहाभ्युपगमो मा भूत्। [9]परमार्थतोन्यापोहो विधिवादिना नैवाभ्युपगम्यते तस्य प्रतिभास[10]समानाधिकरणत्वेन[11] प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः परमपुरुषत्वात्, प्रतिभासस्वरूपवत्। तस्याप्रतिभासमानत्वे[12] व्यवस्थानुपपत्तेरन्यथातिप्रसङ्गात्[13]।

भाट्ट—यदि ऐसा मानते हो तो पुनः अन्य का परिहार करके शब्द की प्रवृत्ति कैसे नहीं होगी ?

वेदांती—परब्रह्म की विधि ही तो अनादि अविद्या से उपकल्पित—माने गये नैरात्म्यादि अन्यदर्शनों का परिहार है।

भाट्ट—तब तो अन्यापोह वादी बौद्ध-शून्यवादियों के द्वारा पर का अपोहन—अभाव करना भी स्वरूप की विधि क्यों न हो जावेगा अर्थात् हो ही जावेगा। मतलब यह है कि शून्यवादियों के अन्यापोह से भी स्वरूप का ही विधान होता है ऐसा मान लेना चाहिये।

विधिवादी—उस विधि का अन्यापोहवाद से विरोध है इसलिये वह अन्यापोह स्वरूप का विधान करने वाला नहीं हो सकता है। अर्थात् बौद्धों के यहाँ सभी वस्तुयें अपने स्वभाव से शून्य ही हैं क्योंकि स्वरूप की विधि—अस्तित्व को उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया है और अन्य के अभाव वस्तु से स्वरूप का विधान तो होता ही नहीं है।

भाट्ट—तब तो आप विधिवादियों के यहाँ भी विधि-कथन के प्रकार से अन्यापोह में विधिवाद का विरोध होने से अन्यापोह की स्वीकृति नहीं होनी चाहिये।

विधिवादी—हम वेदांतियों ने तो परमार्थ से अन्यापोह को स्वीकार ही नहीं किया है वह अन्यापोह तो प्रतिभास-समानाधिकरण रूप के प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट सिद्ध है क्योंकि वह परम पुरुष रूप है जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप। यदि उस अन्यापोह को प्रतिभासमान नहीं मानोगे तब तो व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी, अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा।

---

1 निषेधः। 2 सौगतः। भाट्टः। 3 शून्यवादिनः। 4 अपि तु भवेदेव (विधिवादे दूषणं दत्तम्)। 5 विधिवाद्याह। —तस्यविधेरन्यापोहवादेन विरोधाद्धे सौगत। यदुक्तं त्वया अन्यापोहनमेव विधिस्तदेवं न स्यात्। 6 सर्वेषां वस्तूनां निःस्वभावत्वं बौद्धानां मते यतः। स्वरूपविधेरनंगीकारादन्यस्यापोहनं स्वरूपविधिरिति नास्ति यतः। (व्या० प्र०) 7 सौगतः। भाट्टः। 8 अन्यापोहस्य विधिक्थनप्रकारेण। 9 विधिवादी। 10 विधिः प्रतिभासतेऽपोहः प्रतिभासते इत्यन्यापोहस्य प्रतिभासमानाधिकरण्यम्। विधिवादिनोऽनुमानम्।—अन्यापोहः पक्षः प्रतिभासमानाधिकरणत्वेन कृत्वा प्रतिभासान्तःप्रविष्टो भवतीति साध्यो धर्मः—प्रतिभासमानत्वात्। यत्प्रतिभासमानं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्। प्रतिभासते चायं तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टः। विधिवाद्याह।—अन्यापोहः प्रतिभासते न प्रतिभासते वा ? प्रतिभासते चेत्तदा विधौ प्रविष्टः। न प्रतिभासते चेत्तदा तस्य व्यवस्थितिरपि नास्ति। 11 भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां एकस्मिन्नधिकरणे प्रवृत्तिः समानाधिकरणत्वं। (व्या० प्र०) 12 असदन्यापोह इति। (व्या० प्र०) 13 अप्रतिभासमानत्वेप्यन्यापोहस्य स्थितिरुपपद्यते चेत्तदातिप्रसङ्गः स्यात्। असतः स्थितिश्चेत्तदा खरविषाणादेरपि सास्तु।

[1]शब्दज्ञानेस्यानु[2]मानज्ञाने[3] चान्यापोहस्य प्रतिभासनेपि तत्समानाधि[4]करणतया प्रतिभासनान्न [5]ततोन्यत्वम्। तस्य[6] च शब्दानुमानज्ञानस्य प्रतिभासमात्रात्मकत्वान्ना[7]र्थान्तरत्वमिति चेत् कथमिदा[8]नीमुपनिषद्वाक्यं[9] [10]प्रतिभासमात्रादन्यल्लिङ्ग[11] वा[12] यतस्तत्प्रतिपत्तिः [13]प्रेक्षावतः स्यात्। तस्य[14] परमब्रह्म[15]विवर्त्तत्वाद्विवर्त्तस्य च [16]विवर्त्तिनोऽभेदेन[17]

भावार्थ—विधि प्रतिभासित होती है, अन्यापोह प्रतिभासित होता है। इस प्रकार से अन्यापोह प्रतिभास समानाधिकरण है, विधिवादियों के अनुमान में अन्यापोह पक्ष है, प्रतिभास समानाधिकरण रूप से प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट है यह साध्य है, प्रतिभासमानत्वात् यह हेतु है। वे विधिवादी प्रश्न करते हैं कि अन्यापोह प्रतिभासित होता है या नहीं ? यदि होता है तो विधि में ही प्रविष्ट है, यदि नहीं होता है तो उसकी स्थिति ही नहीं हो सकती है। एवं प्रतिभासमान न होने पर भी यह अन्यापोह है इस प्रकार से उसकी स्थिति मानों तो असत् खर विषाणादि की भी स्थिति माननी पड़ेगी।

शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान में इस अन्यापोह का प्रतिभास होने पर भी तत्समानाधिकरणअभेद रूप से प्रतिभासित होने से वह अन्यापोह प्रतिभास से भिन्न नहीं है। एवं वह शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान भी प्रतिभासमात्रात्मक स्वरूप वाला होने से प्रतिभास से भिन्न नहीं है।

शङ्का—प्रतिभास का समानाधिकरण होने से अन्यापोहादि प्रतिभास से भिन्न नहीं है ऐसा कहने पर तो "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि उपनिषद्वाक्य अथवा "प्रतिभासमानत्वात्" हेतु प्रतिभासमात्र—परमब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकेंगे कि जिससे उनका ज्ञान विद्वानों को हो सके अर्थात् ऐसी मान्यता में तो विद्वानों को उपनिषद्वाक्य अथवा हेतु का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा।

विधिवादी—वह हेतु परमब्रह्म की पर्याय है तथा पर्यायें अपने पर्यायी परमब्रह्म से अभिन्न मानी गई हैं, अतः उनका ज्ञान होता है। अथवा पाठांतर ऐसा भी है कि ये हेतु आदि परब्रह्म से भेद रूप कल्पित किये जाते हैं, वास्तव में उस ब्रह्म से उनमें भेद नहीं है। अतः भेद रूप से माने जाने से ही उनका ज्ञान होता रहता है।

---

1 अन्यापोह इति। 2 अन्यापोहोस्ति-अनुमत्वात्। 3 शब्दज्ञानेऽनुमानज्ञाने इ० पा०। (ब्या० प्र०) 4 अभेदतया। 5 प्रतिभासादन्यापोहस्यान्यत्वं न। 6 शब्दज्ञानानुमानज्ञानस्यसमानाधिकरणत्वे न द्वैतप्रसंग इति शंकां परिहरति। (ब्या० प्र०) 7 प्रतिभासात्। विशे:। 8 प्रतिभाससमानाधिकरण्यात्प्रतिभासादन्यापोहादीनामभेदप्रतिपादनकाले। 9 सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि। 10 ब्रह्मण:। 11 प्रतिभासमानत्वम्। 12 वर्त्म। (ब्या० प्र०) 13 परमब्रह्मपरिज्ञानं विचारकस्य कुतः स्यात् ? न कुतोपि। 14 विधिवादी आह।—लिङ्गस्य। 15 "पूर्वाकारपरित्यागादवरः प्रतिभाति चेत्। विवर्त्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रतिबिम्बवत्" ("पूर्वाकारपरित्यागादिति कपाठः)। 16 ब्रह्मण:। 17 भेदेन कल्पनमेव न तु परमार्थतो भेदः। भेदेन इति पा०। (ब्या० प्र०)

परिकल्पनास्ततस्तत्प्रतिपत्तिरिति चेत् [1]कथं तत्परिकल्पिताद्वाक्यात्लिङ्गाद्वा परमार्थ-पथावतारिणः परमब्रह्मणः प्रतिपत्तिः—परिकल्पिताद्धूमादेः पारमार्थिकपावकादि-प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । [2]पारमार्थिकमेवोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमब्रह्मत्वेनेति[3] चेत् तर्हि[4] यथा तत्पारमार्थिकं [5]तथा साध्यसमं[6] कथं पुरुषाद्वैतं व्यवस्थापयेत्[7] ? यथा[8] च प्रतिपाद्य-[9]जनस्य प्रसिद्धं न तथा[10] पारमार्थिकं[11]—द्वैत[12]प्रसङ्गात् । इति कुतः परमार्थसिद्धिः । [13]तत-स्तामभ्युपगच्छता पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च[14] प्रतिपत्तव्यम् । [15]तच्चाचित्स्वभावं,

---

भाट्ट—परिकल्पित उपनिषद्वाक्य से अथवा कल्पित हेतु से, परमार्थ-पथावतारी—वास्तविक परमब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? अन्यथा परिकल्पित धूमादि से वास्तविक अग्नि आदि का भी ज्ञान होने लगेगा ।

विधिवादी—उपनिषद्वाक्य और हेतु ये दोनों पारमार्थिक ही हैं, क्योंकि वे परमब्रह्म रूप ही हैं ।

भाट्ट—तब तो जैसे वे पारमार्थिक हैं वैसे ही कल्पितरूप से साध्यसम-असिद्ध पुरुषाद्वैत को कैसे व्यवस्थापित कर सकेंगे ? क्योंकि जिस प्रकार से कल्पित रूप से प्रतिपाद्य जनों को प्रसिद्ध है उसी प्रकार से वे पारमार्थिक नहीं है अन्यथा द्वैत का प्रसंग आ जावेगा इस प्रकार से परमार्थ की सिद्धि कैसे हो सकेगी ? इसलिये उपनिषद् वाक्य और हेतु से परमार्थ सिद्धि को स्वीकार करते हुये आप विधिवादी को उपनिषद्वाक्य और हेतु को भी पारमार्थिक रूप ही स्वीकार करना चाहिए ।

वे उपनिषद्वाक्य एवं हेतु अचित्स्वभाव हैं । यदि आप इन उपनिषद् वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानेंगे तब तो उपर्युक्त अनुमान के अनुसार पर के द्वारा संवेद्य का विरोध हो जावेगा, क्योंकि वे प्रतिपादक—गुरु के चित्स्वभाव हैं । जैसे कि उस प्रतिपादक के सुखादि का अनुभव स्वयं

---

1 भाट्टः । सौगतः । 2 विधिवाद्याह । 3 ब्रह्मरूपत्वेन । (ब्या० प्र०) 4 भाट्टः । सौगतो वदति ।—यथा तत्पेदं वाक्यं लिङ्गं वा सत्यभूतं तथा सत्यभूतपरब्रह्मप्रमाणमनुमानं च कर्तृपुरुषाद्वैतं कथं व्यवस्थापयेत् ? अपि तु न । 5 कल्पितत्वप्रकारेण । 6 असिद्धं । (ब्या० प्र०) 7 प्रतिपाद्यजनेन सिद्धमुपनिषद्वाक्यमित्यादिकमाह भाट्टः । (ब्या० प्र०) 8 कल्पितत्वप्रकारेण । 9 येन प्रकारेणोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च प्रतिपाद्यकादिजनस्य प्रसिद्धं तेन प्रकारेण प्रसिद्धं पारमार्थिकं न पारमार्थिकम् । अन्यथा चेत् तदा द्वैतं प्रसज्यते, इति कुतः पारमार्थिकसिद्धिः ? न कुतोपि । उपनिषद्वाक्यस्येति शेषः । 10 कोर्थः पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं चेति त्वयोक्तं तथा चेत्साध्यसमं यथाप्रसिद्धं तथोपनिषद्वाक्यमप्यसिद्धम् । असिद्धं साध्यमिति वचनात् । विरुद्धयोरप्यविरुद्धकरणात् । 11 अन्यथा । 12 पारमार्थिकत्वं प्रतिपाद्यस्य प्रसिद्धं किंतु तर्हि कुतः चित्स्वभावस्य प्रतिपाद्यादीनां प्रसिद्धेरभावात्, प्रतिपादकसुखादिवत् । 13 तत उपनिषद्वाक्यलिङ्गाभ्यं परमार्थसिद्धिमङ्गीकुर्वता विधिवादिना उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमार्थभूतं ज्ञातव्यम् । 14 च अङ्गीकर्तव्यं प्रतिपत्तव्यमिति क्वचित्पाठः । 15 विकल्पचतुष्टयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयन्नाह ।

[1]चित्स्वभावत्वे परसंवेद्यत्वविरोधात् प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात्, तत्सुखादिवत् । प्रतिपाद्यचित्स्वभावत्वे वा न प्रतिपादकसंवेद्यत्वं प्रतिपाद्यसुखादिवत् । तस्य[2] तदुभयचित्स्वभावत्वे प्राश्निकादिसंवेद्यत्वविरोधस्तदुभयसुखादिवत् । [3]सकलजनचित्स्वभावत्वे [4]प्रतिपादकादिभावानुपपत्तिः—[5]अविशेषात् । प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वाददोष इति चेत्, [6]यैव प्रतिपाद-

---

उसी को होता है पर को नहीं होता है अथवा प्रतिपाद्य—शिष्य का चित्स्वभाव स्वीकार करने पर प्रतिपादक के संवेद्य नहीं होंगे, उस प्रतिपाद्य के सुखादि के समान । यदि उन उपनिषद् वाक्य और लिंग को गुरु और शिष्य दोनों का चित्स्वभाव मानोगे तब तो प्राश्निक—प्रश्न करने वाले मनुष्यादिकों के द्वारा संवेदन का विरोध हो जाता है उन दोनों गुरु शिष्यों के सुखादि के समान । अर्थात् गुरु और शिष्य के सुख दुःख का अनुभव गुरु और शिष्य को ही होगा, किन्तु प्रश्न करने वाले एवं सुनने वाले लोगों को गुरु शिष्य के सुख दुःख का अनुभव नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि उपनिषद्वाक्य और हेतु को चित्स्वभाव मानने पर दूसरों के द्वारा ये संवेद्य-ग्राह्य नहीं हो सकते हैं । तथा इन दोनों को गुरु का चित्स्वभाव कहने पर गुरु के सुख दुःखादि के समान उनका भी अन्य शिष्यों के द्वारा संवेदन विरुद्ध होता है । अथवा इन दोनों को यदि शिष्य का चित्स्वभाव कहोगे तो शिष्य के सुखादि के समान गुरु के द्वारा उनका संवेदन विरुद्ध हो जावेगा । यदि उन गुरु और शिष्य का ही चित्स्वभाव इन उपनिषद्वाक्य और हेतु को कहोगे तब तो वे प्रश्न करने वालों के ज्ञान के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकेंगे ।

सभी प्रतिपाद्यजनों का चित्स्वभाव कहने पर तो प्रतिपादक आदि भाव ही नहीं बन सकेंगे, क्योंकि सभी समान हैं अर्थात् सभी जनों का चित्स्वभाव इन आगमवाक्य और हेतु को मान लेने पर उसका यह गुरु है, यह शिष्य है ये प्रश्न करने वाले लोग हैं इत्यादि भाव नहीं बन सकेंगे क्योंकि ये दोनों तो सभी के चित्स्वभाव हैं पुनः भेद कैसे होगा ?

---

1 सौगतो वदति हे विधिवादिन् तत् (उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च) अचित्स्वभावं चित्स्वभावं वेति प्रश्नविकल्पः । अचित्स्वभावं चेत्तदा परसङ्क्रान्तो हेतुं व्यवस्थापयति । चित्स्वभावं चेत्तदा प्रतिपादकाद्यनुमानद्वारेण ब्रूषयति । प्रतिपादकवाक्यं पक्षः प्रतिपाद्यसंवेद्यं न भवतीति साध्यो धर्मः प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात् । यत्प्रतिपादकचित्स्वभावं तत्प्रतिपाद्यसंवेद्यं न, यथा प्रतिपादकसुखादिकम् । प्रतिपादकचित्स्वभावं चेदं तस्मात्प्रतिपाद्यसंवेद्यं न भवति । एवमन्येपि । 2 उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य च चित्स्वभावत्वे सति परेषां ग्राह्यत्वं विरुध्यते । उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य गुरोश्च चित्स्वभावत्वमस्तीत्युक्ते तथा सति गुरुसुखदुःखादिवत्तस्यापि परेषां प्रतिपाद्यादीनां संवेद्यत्वं विरुध्यते । तस्य शास्त्रस्य चित्स्वभावत्वे सति वा शिष्यसुखादेर्यथा तथा तस्यापि गुरोः संवेद्यत्वं विरुध्यते । तस्य गुरुशिष्योभयचित्स्वभावत्वे सति तत्सुखादेर्यथा तथोपनिषद्वाक्यस्यापि प्राश्निकानां संवेद्यत्वं ज्ञानग्राह्यत्वं विरुध्यते । 3 प्रतिपाद्यादि । 4 सर्वजनचित्स्वभावत्वे सति तस्यार्थं गुरुः, अर्थं शिष्यः, अमी प्राश्निका इत्यादिभावो नोपपद्यते सर्वेषां चित्स्वभावत्वेन विशेषाभावात् । 5 या अविद्या गुरोर्गुरुत्वव्यवस्थापिका सैव शिष्यादेः सकाशादविद्या सती शिष्यादेरपि गुरुत्वं व्यवस्थापयेत् । 6 सकलजनचित्स्वभावत्वाविशेषात् ।

कस्याविद्या प्रतिपादकत्वोपकल्पिका सैव प्रतिपाद्यस्य प्राश्निकादेश्चाविशिष्टा प्रतिपादकत्वमुपकल्पयेत्। प्रतिपाद्यस्य चाविद्या प्रतिपाद्यत्वोपकल्पनपरा प्रतिपादकादेरविशिष्टा प्रतिपाद्यत्वं परिकल्पयेत् प्रतिपादकादीनामभेदात्तदविद्यानामभेदप्रसङ्गात्[1]। भेदे[2] वा प्रतिपाद-

---

आचार्य—प्रश्न यह होता है कि आप विधिवादी "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इस उपनिषद्वाक्य रूप आगम को एवं "प्रतिभासमानत्वात्" इस हेतु को अचेतन स्वभाव मानते हो या चेतन स्वभाव ? यदि कहो कि इन्हें हम अचेतन स्वभाव कहते हैं तब तो चेतन स्वरूप परमब्रह्म से ये भिन्न ही रहेंगे पुनः आप अद्वैतवादी के यहाँ द्वैत का प्रसंग आ जावेगा और यदि आप इन्हें चेतन स्वभाव कहें तो चार विकल्प उठाये जा सकते हैं कि ये आगम वाक्य और हेतु गुरु के चेतन स्वभाव हैं या शिष्य के, प्राश्निकजनों के या सभी जनों के चेतन के स्वभाव हैं ? गुरु के कहने पर तो शिष्य को उनका अनुभव नहीं होगा अर्थात् गुरु के चेतनस्वभाव रूप आगम और हेतु गुरु के ही संवेदन योग्य हैं शिष्य के संवेदन करने योग्य नहीं हैं क्योंकि वे गुरु के ही चैतन्य स्वभाव हैं। जो जो गुरु का स्वभाव होता है वह वह शिष्य को संवेद्य नहीं होता है जैसे कि गुरु के सुख-दुःखादि का अनुभव गुरु को ही होता है शिष्यों को नहीं हो सकता है। इसी प्रकार से यदि दूसरे पक्ष में आप इन आगम और हेतु को शिष्य का चैतन्य स्वभाव कहो तो भी वे गुरु के द्वारा अनुभव करने योग्य नहीं रहेंगे एवं तीसरे विकल्पानुसार यदि इन्हें प्रश्न करने वालों का चेतन स्वभाव कहो तो गुरु और शिष्य दोनों को ही इनका ज्ञान नहीं हो सकेगा। तथा इन्हें सभी का चेतन स्वभाव माना जावेगा तब तो ये गुरु हैं, ये शिष्य हैं, ये प्राश्निक लोग हैं एवं ये सुनने वाले हैं इत्यादि रूप से कुछ भी भेदभाव नहीं बन सकेगा और यदि अविद्या से ही आप यह सब भेद स्वीकार करोगे तो भी आपके यहाँ अविद्या भी सर्वथा निःस्वभाव-स्वभाव से शून्य ही है उसके द्वारा इन कल्पित भेद भावों की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी जैसे कि आकाश के गुलाब पुष्पों से माला बना कर वंध्या के पुत्र को पहनाना शक्य नहीं है तद्वत् आपके द्वारा कल्पित अविद्या से असत् रूप गुरु शिष्यादि भेद करना सर्वथा असंभव ही है। इस अविद्या के विषय में आगे स्वयं ही स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

विधिवादी—प्रतिपादक, प्रतिपाद्य आदि भाव तो अविद्या से ही उपकल्पित हैं अतः कोई दोष नहीं आता है।

भाट्ट—तब तो जो अविद्या प्रतिपादक—गुरु में प्रतिपादकपने को कल्पित कराती है वही अविद्या प्रतिपाद्य—शिष्य और प्राश्निकजनों में समान रूप से है अतः उन्हें भी प्रतिपादक—गुरु बना देने में क्या बाधा है ? अर्थात् जो अविद्या गुरु में गुरुत्व की व्यवस्था करती है वही अविद्या शिष्यादिकों से अभिन्न होती हुई शिष्यादिकों को भी गुरु रूप से व्यवस्थापित कर सकती है। शिष्य की

---

1 प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः। प्रसङ्ग इति कपाठः। 2 अविद्याभेदकृतः प्रतिपादकादीनां भेद इति।

कादीनां भेदसिद्धिः--[1]विरुद्धधर्माध्यासात्। अनाद्यविद्योपकल्पित एव तदविद्यानां भेदो न पारमार्थिक इति चेत्, परमार्थतस्तस्त्र्यभिन्नास्तदविद्या इति स एव प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्ग[2]। यदि पुनरविद्यापि[3] प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वादेव, न भेदाभेद-विकल्पसहा [4]नीरूपत्वादिति मतं तदा परमार्थपथावतारिणः प्रतिपादकादय इति बला-दायातम्—तदविद्यानामविद्योपकल्पितत्वे विद्यात्वविधेरवश्यम्भावित्वात्। तथा च प्रति-

---

अविद्या शिष्य में शिष्य की उपकल्पना करने में तत्पर हुई प्रतिपादक गुरु आदि में समान रूप से विद्यमान है पुनः उन गुरुओं में शिष्य की कल्पना भी करा देगी। एवं प्रतिपादकों में अभेद होने से उस अविद्या में भी अभेद का प्रसंग आ जावेगा पुनः सभी प्रतिपादकादिकों में संकर का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् गुरु भी शिष्य बन जावेंगे एवं शिष्य गुरु भी बन बैठेंगे। अथवा अविद्या के भेद से उन प्रतिपादकों में भेद की सिद्धि माननी पड़ेगी तब तो अभेद को सिद्ध करने में प्रवृत्त हुये आप भेद को सिद्ध कर देंगे तो विरुद्धधर्माध्यास हो जावेगा।

विधिवादी—उन अविद्याओं का जो भेद है वह भी अनादि अविद्या से उपकल्पित ही है पारमार्थिक नहीं है।

भाट्ट—तब तो परमार्थ से वह अविद्या अभिन्न ही रही। अतः प्रतिपादक आदिकों में वही संकर दोष आ जावेगा अर्थात् गुरु और शिष्यादि का भेद न रहने से गुरु ही शिष्य और शिष्य ही गुरु बन बैठेंगे।

विधिवादी—प्रतिपादकादिकों की अविद्या भी अविद्या से ही उपकल्पित है अर्थात् प्रतिपादक आदि केवल अविद्या से ही उपकल्पित हैं ऐसा ही नहीं हैं किन्तु अविद्या भी अविद्या से ही उपकल्पित है। अतः वह भेद और अभेद के विकल्प को सहन ही नहीं कर सकती हैं क्योंकि वह नीरूप-निःस्वभाव-तुच्छाभाव रूप है अर्थात् अविद्यमान रूप है।

[यहाँ पर भाट्ट भेद मत का आश्रय लेकर विधिवाद का खंडन करता है]

भाट्ट—यदि आप ऐसा मानते हैं तब तो प्रतिपादकादि—गुरु, शिष्य आदि परमार्थ पथावतारी ही हैं यह बात बलपूर्वक आ गई क्योंकि उन प्रतिपादकादिकों की अविद्या को अनादि अविद्या से कल्पित मानने पर विद्या की विधि ही अवश्यंभावी है और इस प्रकार से प्रतिपादकादिकों से उपनिषद्-वाक्य भिन्न हैं क्योंकि युगपत् उन गुरु शिष्यादिकों के संवेदन करने योग्य संवेद्य की अन्यथानुपपत्ति

---

1 अभेदसाधने प्रवृत्तस्ये भेदः साधित इति विरुद्धधर्माध्यासः (बलात्कारः साहित्यम्)। 2 य एव प्रतिपादक स एव प्रतिपाद्य इति। 3 न केवलं प्रतिपादकादय एवाविद्योपकल्पिताः। 4 तस्या अविद्याया नीरूपत्वाद् अविद्यमानत्वा-दित्यर्थः। 5 प्रतिपादकादिविद्यानामनाद्यविद्योपकल्पितत्वे प्रतिपादकादीनां विद्यासद्भावोऽवश्यमेव सम्भवति।

पादिकादिभ्यो भिन्नमुपनिषद्वाक्यं [1]सकृत[2]त्संवेद्यत्वान्यथानुपपत्तेः[3] इत्यचित्स्वभावं,[4] सिद्धं[5] बहिर्वस्तु तद्वद्घटादिवस्तुसिद्धिरिति न प्रतिभासाद्वैतव्यवस्था प्रतिभास्य[6]स्यापि सुप्रसिद्धत्वात्। [7]प्रतिभास[8]समानाधिकरणता पुनः प्रतिभास्यस्य[9] कथञ्चिद्भेदेपि[10] न विरुध्यते।

है इसलिये वह अचित्स्वभाव रूप बहिर्वस्तु सिद्ध है अर्थात् यदि उपनिषद्वाक्य प्रतिपादकादिकों से भिन्न नहीं होवे तो उन सभी को युगपत् संवेदन नहीं हो सकेगा किन्तु एक साथ सबको उसका संवेदन देखा जाता है अतः उपनिषद्वाक्य अचेतन स्वभाव है और बाह्यवस्तु रूप है यह बात सिद्ध हो गई।

उसी प्रकार से घटादि वस्तुएँ भी बाह्यवस्तु हैं इसलिये प्रतिभासाद्वैत—ब्रह्माद्वैत की व्यवस्था नहीं हो सकती क्योंकि प्रतिभासित होने योग्य—प्रतिभास्य बाह्य पदार्थ सुप्रसिद्ध है। अर्थात् उपनिषद्वाक्य और घटादि वस्तुरूप प्रतिभास्य प्रमेय भी जगत् में प्रसिद्ध हैं न कि प्रतिभास मात्र एक पुरुष। प्रतिभाससमानाधिकरणता भी प्रतिभास्य से कथंचित् भेद होने पर विरुद्ध नहीं है अर्थात् घट प्रतिभासित होता है, पट प्रतिभासित होता है यह समानाधिकरणता है। यदि कोई कहे कि घटादि पदार्थ ज्ञान से अर्थांतरभूत हैं पुनः घटादिपदार्थों की ज्ञान से समानाधिकरणता कैसे घटेगी? अर्थात् घट और ज्ञान में विषय-विषयी-भाव है घट तो विषय है और ज्ञान विषयी है सब घट प्रतिभासित होता है ऐसा कैसे कह सकेंगे? इसका उत्तर तो यही है कि प्रतिभास की समानता है। ज्ञान से ज्ञेय पदार्थ उपचार से अभिन्न हैं किन्तु परमार्थ से भिन्न हैं। इस प्रकार से प्रतिभास से प्रतिभासित होने योग्य-अन्यापोह लक्षण में कथंचित् भेद होने पर भी प्रतिभास की समानाधिकरणता विरुद्ध नहीं है। प्रतिभास है समानाधिकरण जिसका उसे प्रतिभास समानाधिकरण कहते हैं।

घट प्रतिभासित होता है। मतलब घट प्रतिभास का विषय होता है ऐसा कहने से विषय और विषयी में उपचार से अभेद माना है। अर्थात् "घट प्रतिभासित होता है" यह उपचरित समानाधिकरण है, संवेदन—ज्ञान प्रतिभासित होता है यह मुख्य समानाधिकरण है, संवेदन का प्रतिभासन यह उपचरित वैयधिकरण्य है और पट का प्रतिभास यह मुख्य वैयधिकरण्य है। घट और प्रतिभास में

---

1 उपनिषद्वाक्यं प्रतिपादकादिभ्यो भिन्नं न भवतीति चेत्तदा प्रतिपादकादीनां युगपदेव सर्वेषां संवेद्यत्वं न स्यात्। 2 तेषां प्रतिपादकादीनाम्। 3 प्रत्यक्षरूपतया। (ब्या० प्र०) 4 उपनिषद्वाक्यमचित्स्वभावं सद्बहिर्वस्तु सिद्धं यथा तद्वत् (उपनिषद्वाक्यवत्) घटादिवस्तुनोपि बहिर्वस्तुत्वं सिध्यति। 5 तस्मिद्धं। इतिपा०। (ब्या० प्र०) 6 उपनिषद्वाक्यं घटादि वस्तुरूपं प्रतिभास्यं प्रमेयमपि सुप्रसिद्धम्। (प्रतिभासस्यापीति पाठः)। 7 घटः प्रतिभासते, ज्ञानं प्रतिभासते इति प्रतिभाससमानाधिकरणता। 8 यदि घटादयो ज्ञानादर्थांतरभूतास्तदा कथं ज्ञानसामानाधिकरण्यं घटादेर्घटेतेत्युक्ते आह प्रतिभाससमानेति। 9 प्रतिभासस्येति पाठः। 10 ज्ञानाद् ज्ञेयमुपचाराद्भिन्नं परमार्थतो भिन्नमिति प्रतिभासात्मतिभास्यस्यान्यापोहलक्षणस्य कथञ्चिद्भेदेपि प्रतिभाससमानाधिकरणता न विरुध्यते। प्रतिभासः समानमधिकरणं यस्य स समानाधिकरणस्तस्य भावः प्रतिभाससमानाधिकरणता।

[1]घटः प्रतिभासत इति प्रतिभासविषयो भवतीत्युच्यते[2] विषयविषयिणोर[3]भेदोपचाराद्[4], प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्थ इति यथा। ततः सामानाधिकरण्यादुपचरितान्नानुपचरितैकत्वसिद्धिः। मुख्यं सामानाधिकरण्यं क्व सिद्धमिति चेत्, संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्तीत्यादि व्यवहारे मुख्यम्। ततो [5]वैयधिकरण्यव्यवहारस्तु गौणस्तत्र[7] संवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमित्यत्र तस्य[8] मुख्यत्वप्रसिद्धेः। कथञ्चिद्भेदमन्तरेण सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च[9]। तत[10] एव [11]कथञ्चिद्भेदसिद्धिः। [12]शुक्लः पट इत्यत्र सर्वथा शुक्लपटयोरैक्ये हि न समानाधिकरणता[13] पटः[14] पट इति यथा। नापि सर्वथा भेदे हिमवन्मकरा-

---

विषय-विषयी भाव है घट प्रतिभासित होता है इसमें अभेदोपचार है जैसे प्रस्थ प्रमाण धान्य को प्रस्थ कह देते हैं इसलिये उपचरित समानाधिकरण से अनुपचरित—वास्तविक एकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

शंका—मुख्य समानाधिकरण कहाँ पर सिद्ध है?

समाधान—संवेदन प्रतिभासित होता है "संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्ति" इत्यादि व्यवहार में मुख्य है। इसलिए वैयधिकरण्य व्यवहार गौण है मुख्य समानाधिकरण में "संवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमिति" संवेदन का प्रतिभासन, पट का प्रतिभासन इस प्रकार से यहाँ प्रतिभासन में वैयधिकरण्य व्यवहार मुख्य है। कथंचिद् भेद को माने बिना समानाधिकरण बन नहीं सकता इसलिये उस समानाधिकरण से ही कथंचित् भेद की सिद्धि होती है। अर्थात् प्रतिभासित होने योग्य पदार्थ और प्रतिभास रूप ज्ञान के प्रकार से भेद सिद्ध ही है। "शुक्लः पटः" इसमें यदि सर्वथा शुक्ल और पट में ऐक्य मानो तो समानाधिकरण नहीं बनेगा जैसे पट पट में समानाधिकरण नहीं है। अर्थात् "पटः पटः" इस प्रकार से दो पट शब्द हैं, वे दोनों एक अर्थ के वाचक हैं या अनेक अर्थ के वाचक हैं? यदि एक अर्थ के वाचक हैं तो भिन्न प्रवृत्ति में निमित्त नहीं हो सकेंगे और यदि भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं तो एक अर्थ की वृत्ति नहीं बन सकेगी। तथैव सर्वथा भेद में भी हिमवान्

---

1 घटः प्रतिभासत इत्युपचरितं सामानाधिकरण्यं, संवेदनं प्रतिभासते इति मुख्यं सामानाधिकरण्यं, संवेदनस्य प्रतिभासनमिति उपचरितं वैयधिकरण्यं, पटस्य प्रतिभासनमिति मुख्यं वैयधिकरण्यम्। 2 यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथं घटः प्रतिभासते इत्याशंक्याह। (व्या० प्र०) 3 यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथं घटः प्रतिभासते इत्याशङ्क्याह। "मुख्यप्रयोगे" सति हि प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते इतिन्यायानुसरणाद् घटः प्रतिभासत इत्यत्राभेद उपचर्यते तत्र घटस्याप्रतिभासत्वं मुख्यप्रयोगाप्रतिभासत्वंनिमित्तं तद्व्यवहारः प्रयोजनमिति। 4 घटः प्रतिभासत इत्यत्र घटे ज्ञानस्योपचारो विषयिभावो निमित्तम्। 5 अत एव अत उत्तरभूतादनात्मोद्भूतस्य प्रतिभासस्यामानाधिकरण्यात्र परमार्थभूतैकत्वसिद्धिः। 6 भिन्नाधिकरणव्यवहारः। 7 मुख्ये सामानाधिकरण्ये। 8 वैयधिकरण्य व्यवहारस्य। 9 सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तेश्च। (व्या० प्र०) 10 सामानाधिकरण्यादेव। 11 प्रतिभासस्यप्रतिभासकप्रकारेण। (व्या० प्र०) 12 सर्वथा भेदे वा कि दूषणमित्युक्ते आह। 13 भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिनिमित्तत्वं। (व्या० प्र०) 14 एकस्मिन्। पटशब्दद्वयस्यैकार्थवाचकत्वं वा इति विकल्प्य दूषणान्तरयोरेकार्थवाचकत्वे भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वायोगात्। भिन्नार्थवाचकत्वे एकार्थवृत्तित्वायोगात्। (व्या० प्र०)

करवत्। [1]तथान्यापोहस्य[2] प्रतिभाससमानस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेपि प्रतिभासाद्भेदव्यवस्थितेस्तद्विषयः शब्दः कथं विधिविषय एव [3]समवतिष्ठते। [4]तथाभ्युपगमे च कथमन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवर्तकः शब्दो यतो विधिविषयः स्यादिति सूक्तम्—विधेः प्रमाणत्वे तस्यैव प्रमेयत्वकल्पनायामन्यापोहानु[5]प्रवेशो[6]न्यथान्यत्प्रमेयं वाच्यमिति।

[विधिः प्रमेयादिस्वरूपाभ्युपगमेऽपि दोषाः संभवंतीत्याह]

प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनायामपि प्रमाणमन्यद्वाच्यमिति तस्यैवोभय[7]स्वभावत्व-

---

पर्वत और समुद्र के समान समानाधिकरण नहीं है उसी प्रकार से अन्यापोह प्रतिभासमान का प्रतिभास समानाधिकरण होने पर भी प्रतिभास से वह अन्यापोह भिन्न ही सिद्ध होता है पुनः तद्विषयक शब्द विधि को ही विषय करता है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी और ऐसा स्वीकार कर लेने पर तो शब्द कहीं पर भी अन्य का परिहार करके कैसे प्रवृत्ति करेगा कि जिससे वह विधि को ही विषय करने वाला हो सके? अर्थात् अन्यापोह विषयक शब्द विधि-विषयक होता है ऐसा स्वीकार करने पर तो नैरात्म्यादि-शून्यवादी जनों का परिहार करके परब्रह्म में अथवा अविवक्षित वस्तु का परिहार करके किसी विवक्षित वस्तु में शब्द प्रवृत्ति कैसे कर सकेगा? जिससे कि वह शब्द विधि को विषय करने वाला ही होवे, अर्थात् नहीं होगा। अतएव शब्द परार्थ—अन्य के अर्थ को छोड़कर स्व अर्थ में प्रवृत्ति करता हुआ भावाभावात्मक है यही स्याद्वाद प्रक्रिया है। इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक कही है कि—विधि को प्रमाण रूप स्वीकार करके पुनः उसी में ही प्रमेय की कल्पना भी कर लेने पर अन्यापोहवाद में अनुप्रवेश हो जाता है। अन्यथा आपको "अन्य कोई प्रमेय है" ऐसा कहना चाहिये।

[वेदवाक्य का अर्थ विधि—परमब्रह्म रूप है, ऐसी मान्यता में भाट्ट ने प्रश्न उठाये थे कि आपका वह ब्रह्माद्वैतवाद प्रमाण रूप है या प्रमेय रूप इत्यादि? उसमें से विधि को प्रमाण रूप मानने से उस भाट्ट ने यहाँ तक उस विधिवादी को दूषण दिया है अब आगे उस विधि को प्रमेय रूप मानने पर दूषण दिखाते हैं।]

(२) द्वितीय पक्ष में विधि 'प्रमेय रूप है" ऐसी कल्पना के करने पर भी किसी भिन्न को प्रमाण

---

1 षट्प्रकारेण। 2 समानाधिकरणता इति सम्बन्धः। 3 कथञ्चिदभेदे सामानाधिकरण्यव्यवस्थापनद्वारेण प्रतिभासमानोन्यापोहः समानाधिकरणत्वे सत्यपि प्रतिभासाद्भिन्नो व्यवतिष्ठते, ततस्तस्मादन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषय एव कथं समवतिष्ठते? न कथमपि। 4 अन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषयो भवतीत्यंगीकारे कृते सति नैरात्म्यादिपरिहारेणाविवक्षितवस्तुपरिहारेण वा क्वचिद्ब्रह्मणि विवक्षितवस्तुनि वा शब्दः कथं प्रवर्तको यतः कुतो विधिविषयः स्यान्न कुतोपि। एवं शब्दः परार्थं परिहृत्य स्वार्थे प्रवर्तमानो भावाभावात्मको ज्ञेय इति स्याद्वादप्रक्रिया। 5 अन्यापोहवादी आह—अप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या प्रमेयत्वमित्यन्यापोहावतारः। 6 अन्यापोहस्य प्रमेयत्वकल्पनाभावे। 7 अन्यापोहवादानुप्रवेशेन।

विरोधात्—[1]कल्पनावशाद्विधेः प्रमेयप्रमाणरूपत्वेन्यापोहवादानुषङ्गस्याविशेषात् । प्रमाण-प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनाप्यनेन निरस्ता । तदनुभयरूपो विधिरिति कल्पनायां तु खर-शृङ्गादिवदवस्तुतापत्तिः—प्रमाणप्रमेयस्वभावरहितस्य विधेः स्वभावान्तरेण व्यवस्थाना-[2]योगात् । [3]प्रमात्रादेरपि प्रमेयत्वोपपत्तेः[4] । अन्यथा तत्र[5] प्रमाणवृत्तेरभावात् सर्वथा वस्तुत्वहानिः ।

[विधेः शब्दादिव्यापारस्याभ्युपगमे दोषानाह]

शब्दव्यापाररूपो विधिरिति चेत् सा शब्दभावनैव । पुरुषव्यापारः स इति चेत् सार्थ-

---

कहना पड़ेगा क्योंकि वह विधि प्रमाण प्रमेय रूप उभय स्वभाव वाली नहीं हो सकती है, विरोध आ जाता है । अर्थात् प्रमाण को माने बिना विधि—ब्रह्म को प्रमेय रूप कैसे कहोगे ? और यदि आप ब्रह्म को प्रमाण प्रमेय रूप से उभय रूप कह दोगे तब तो एक ही निरंश परब्रह्म अद्वैत रूप है पुनः वही दो रूप कैसे बन सकेगा ? कल्पना के निमित्त से विधि को प्रमेय और प्रमाण रूप से उभय रूप कहने पर तो अन्यापोहवादी होने का प्रसंग समान ही है । अर्थात् बौद्धों ने शब्दों से वाच्य अर्थ को कल्पना से ही अन्यापोह रूप माना है उसी के समान आपकी मान्यता भी कल्पना से होने से आपके यहां भी अन्यापोहवाद आ जावेगा ।

(३) तृतीय पक्ष में "विधि प्रमाण और प्रमेय से उभय रूप है" यह कल्पना भी इस उपर्युक्त विवेचन से ही निरस्त कर दी गई है ।

(४) चतुर्थ विकल्प में विधि को आप इन प्रमाण प्रमेय से रहित अनुभय रूप कल्पित करोगे तब तो खरविषाणादि के समान वह विधि अवस्तु ही हो जावेगी, क्योंकि प्रमाण और प्रमेय से रहित विधि का भिन्न किसी भी स्वभाव से रहना ही असंभव है । यदि आप कहें कि विधि प्रमाण, प्रमेय से भिन्न, प्रमाताज्ञाता एवं प्रमिति—जानने रूप क्रिया रूप से व्यवस्थित होगी सो भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाता—आत्मा आदि भी प्रमेय रूप ही हैं । अन्यथा—उन प्रमाता—आत्मा अथवा प्रमिति रूप क्रिया में प्रमाणवृत्ति का अभाव होने से सर्वथा वस्तुत्व की हानि हो जावेगी अर्थात् पुनः वे प्रमाता प्रमिति वस्तुभूत ही नहीं रह सकेंगे, क्योंकि आपके यहां तो एक परम ब्रह्म ही ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और क्रिया रूप से अभेद रूप ही है पुनः आप उसे ज्ञान, ज्ञेय रूप से नहीं मानकर यदि ज्ञाता और क्रिया रूप से मानेंगे तो प्रमाण—ज्ञान रूप न मानने से वह विधि—ब्रह्म वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

---

1 तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधादित्यादिना द्वितीयविकल्पनिराकरणेन । 2 स्वभावान्तरेण व्यवस्थानाभावः कुतो यावता प्रमात्रादिरूपेण विधेर्व्यवस्थितिर्भविष्यतीत्याहुरुवाह । 3 प्रमिति । 4 विधिवाद्याह ।—विधिः प्रमाणं प्रमेयं च मा भवतु किन्तु प्रमातृप्रमितिरूपोस्तीति चेदाहुरन्यापोहवादी ।—प्रमात्रादेरपि प्रमाणविषयत्वं घटते अन्यथा प्रमेयत्वं न घटते चेत्तदा प्रमाणव्यापारस्याभावात् प्रमात्रादिरूपेणाभ्युपगतस्य विधेर्वस्तुत्वं हीयते । 5 प्रमातरि प्रमितौ वा ।

भावना[1] स्यात्। [2]एतेनोभय[3]व्यापाररूपो विधिरिति प्रत्याख्यातम्। [4]तदनुभयव्यापाररूप स्तु[5] विधिविषय[6]स्वभावश्चेत् तस्य[7] वाक्य[8]कालेऽसन्निधानान्निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः[9]। [10]फल-[11]स्वभावश्चेत् स[12] एव दोषः—तस्यापि तदाऽसन्निधानादन्यथा[13] विधेरनवतारात्। निःस्व-भावो विधिरिति कल्पनायां तु विधिर्वक्यार्थ इति न किञ्चिद्वाक्यार्थ इत्युक्तं स्यात्।

[विधि को शब्द के व्यापार आदि रूप से ४ विकल्प रूप मानने में हानि]

(५) यह विधि को शब्द का व्यापार रूप मानोगे, तब तो वह हमारे द्वारा मान्य शब्दभावना रूप ही सिद्ध होगी।

(६) यदि पुरुष का व्यापार कहो तो वह ब्रह्म अर्थभावना रूप (पुरुष भावना) ही होवेगा।

(७) इसी कथन से उभय व्यापार रूप सातवें पक्ष का भी खंडन कर दिया गया है अर्थात् पूर्व में जैसे नियोग पक्ष का निराकरण करने में—क्रम से या युगपत्? इत्यादि अनेक विकल्प उठाये हैं वे सभी यहां पर भी समझना चाहिये।

(८) यदि उन दोनों के व्यापार से रहित अनुभय रूप कहो तब तो प्रश्न उठेंगे कि वह विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है या निःस्वभाव है? यदि विषय का स्वभाव मानो तब तो "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य के काल में असंनिहित—निकट न होने से निरालंबन शब्द-वाद (सौगत के अन्यापोहवाद) में प्रवेश हो जावेगा।

यदि फल स्वभाव मानो, तो भी अर्थ रहित फल का स्वभाव भी निरालंबन शब्दवाद ही हो जावेगा, क्योंकि वह विधि वेदवाक्य के समय विद्यमान नहीं है अन्यथा विधि का (मनन, निदिध्यासन आदि का) अवतार ही नहीं होगा। यहां फल स्वभाव से ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होना रूप अर्थ समझना चाहिये।

तथा विधि को निःस्वरूप मानने पर तो "विधि वेदवाक्य का अर्थ है" ऐसा कहने पर तो "कुछ भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं है" ऐसा ही कहा गया हो जावेगा, क्योंकि विधि तो स्वभाव से शून्य है। अर्थात् आपने ही तो विधि को स्वभाव से शून्य कह दिया है।

पुनरपि ये प्रश्न उठेंगे कि वह विधि सत् रूप है या असत् रूप, उभय रूप है या अनुभय रूप?

---

1 पुरुषभावना। 2 प्रत्येकपक्षद्वयनिराकरणेन। 3 पर्यायेण युगपद्वेत्यादिना नियोगनिराकरणे प्रोक्तं युगलमत्रापि ज्ञातव्यं वृष्टव्येत्यादिना। 4 तदुभयव्यापाररूप इति वा पाठः। 5 ब्रह्मादर्शनादि। 6 शब्दांतरव्यापारैरहितो विधिरिति चेत् सोपि विषयस्वभावो वा स्यान्निःस्वभावो वा फलस्वभावो वेति क्रमेण दूषयति। 7 विषयस्वभावस्य विधेः। 8 सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यकाले। 9 सौगतमते निरालम्बनशब्दवादोभिप्रेतः। 10 ब्रह्मस्वरूप-प्राप्तिः। (व्या० प्र०) 11 अर्थरहितः। 12 फलस्वभावस्य विधेः स एव निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः। कस्मात्? तदा वाक्यकाले विधेरसंनिधानात्। 13 मनननिदिध्यासनादिविधानस्य। (व्या० प्र०)

[विधेः सदसत्त्वविकल्पाभ्युपगमे दोषमाह]

किञ्च[1] यदि विधिः सन्नेव तदा न [2]कस्यचिद्विधेयः पुरुषस्वरूपवत्। अथासन्नेव तथापि न विधेयः खरविषाणवत्[3]। अथ पुरुषरूपतया सन् [4]दर्शनादिरूपतया त्वसन्निति विधेयः स्यात्[5] [6]तदोभयरूप[7]तापत्तिः[8]। न सन्नाप्यसन् विधिरिति चेत् तदिदं [9]व्याहतम्—सर्वथा सत्त्वप्रतिषेधे सर्वथैवासत्त्वविधिप्रसंगात्[10]—तन्निषेधे वा सर्वथा सत्त्वविधानानुषङ्गात्।

[विधि को सत् असत् आदि रूप मानने में दोषारोपण]

(१) यदि सर्वथा सत् रूप ही विधि होगी तब तो विधि किसी भी पुरुष को विधेय—करने योग्य नहीं होगी, पुरुष के स्वरूप के समान। अर्थात् "विधिः कस्यचित् मनुष्यस्य विधेयो न भवति सत्त्वात्। यः सन् स न कस्यचित् विधेयो यथा पुरुषः, संश्चायं तस्मात् न कस्यचिद् विधेयः" इत्यर्थः। विधि—ब्रह्म किसी को करने योग्य नहीं है क्योंकि वह सत् रूप ही है, जो सत् रूप है वह किसी का विधेय नहीं होता है। जैसे आत्मा सत् रूप है अतः वह किसी के लिये करने योग्य—विधेय नहीं है और यह ब्रह्म सत् रूप है इसलिये किसी को विधेय नहीं है। अर्थात् जो सर्वथा सत् रूप होता है वह किसी के करने योग्य नहीं हो सकता है।

(२) असत् ही मानो तो भी वह विधि खरविषाण के समान किसी के लिये भी विधेय नहीं होगी। अर्थात् असत् रूप होने से वह विधि किसी को विधेय—करने योग्य नहीं हो सकती। जैसे खरशृंग किसी का विधेय—करने योग्य नहीं है।

(३) यदि कहो कि पुरुष रूप से तो वह विधि सत् रूप है किंतु "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि दृश्यत्व, कर्तव्य आदि रूप से असत् रूप है इसलिये वह विधेय हो जावेगी तब तो उस विधि के उभय रूप हो जाने से द्वैत का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् स्वसिद्धांत का भी व्याघात हो जावेगा, क्योंकि वेदांतवादियों ने तो विधि को सर्वथा सत् रूप माना है असत् रूप से माना ही नहीं है। एवं सर्वथा निरंश, सन्मात्र स्वरूप ब्रह्म के दो रूप की प्राप्ति का विरोध स्पष्ट है।

(४) यह विधि न सत् रूप है न असत् रूप। ऐसा चतुर्थ पक्ष लेने पर तो विरुद्ध ही हो जाता

---

1 विधिः सन्नेव वाऽसन्नेव वा उभयरूपो वानुभयरूपो वेति विकल्पक्रमेण दूषयति। 2 विधिः पक्षः कस्यचिन्मुविधेयो न भवतीति साध्यो धर्मः—सत्त्वात्। यः सत् स न कस्यचिद्विधेयो यथा पुरुषः। संश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः (कर्तव्यः)। 3 द्वितीयविकल्पानुमानम्—विधिः पक्षः कस्यचिद्विधेयो न भवतीति साध्यः—असत्त्वात्। यदसत्तन्न कस्यचिद्विधेयं यथा खरविषाणम्। असंश्चायं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः। 4 दृष्टव्यो रेवमात्मेत्यादिदृश्यत्वकर्तव्यत्वादिना। 5 विधिरिति शेषः। 6 ततः स्वसिद्धान्तव्याघातः—विधेः सर्वथासत्त्वाभ्युपगमात्—असदूपस्य कथंचिदपि वेदान्तिनामभ्युपगमात्। 7 द्वैतापत्तिः। 8 सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रवेद्यस्य विधेः रूपद्वयप्राप्तिविरोधः। (व्या० प्र०) 9 विरुद्धम्। 10 सर्वथा असत्त्वविधेः।

सकृदुभयप्रतिषेधे तु कथञ्चित्सदसत्त्वविधानान्मतान्तरानुषङ्गात्[1] कुतो विधिरेव वाक्यार्थः ।

[विधेः प्रवर्तकाप्रवर्तकस्वभावस्वीकारे हानिः]

किञ्च विधिः प्रवर्त्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्त्तकस्वभावो वा ? प्रवर्त्तकस्वभावश्चेद्वेदान्तवादिनामिव तथागतादीनामपि प्रवर्त्तकः स्यात्[2] । [3]तेषां [4]विपर्यासान्न प्रवर्त्तक इति चेत्तत[5] एव वेदान्तवादिनामप्रवर्त्तक इत्यपि शक्येत[6] । सौगतादीनामेव विपर्यासोऽप्रवर्त्तमानानां, न पुनः प्रवर्त्तमानानां विधिवादिनामित्यप्रामाणिकमेवेष्टम्[7]—उभयेषां समानाक्षेपसमाधानत्वात् । यदि पुनरप्रवर्त्तकस्वभाव एव विधिस्तदा कथं वाक्यार्थः स्यान्नियोगवत् ।

है, सर्वथा सत्त्व का प्रतिषेध करने पर सर्वथा असत्त्व की ही विधि हो जावेगी, अथवा सर्वथा असत्त्व का निषेध करने पर सत्त्व का विधान अवश्यंभावी हो जावेगा, और एक साथ दोनों का प्रतिषेध करने से कथंचित् सत्त्व असत्त्व का विधान हो जाने से मतांतर—स्याद्वाद के आश्रय का प्रसंग आ जावेगा । पुनः विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है यह बात कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

[विधि को प्रवर्तक स्वभाव या अप्रवर्तक स्वभाव मानने में दोष]

दूसरी तरह से भी प्रश्न होगी कि विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक स्वभाव मानो तब तो वह विधि आप वेदांतवादियों के समान बौद्धादिकों के लिये भी प्रवर्तक स्वभाव हो जावेगी क्योंकि वह सर्वथा ही प्रवर्तक स्वभाव वाली है । यदि कहो कि बौद्धादिकों को प्रवर्तक नहीं होती है क्योंकि वे विपर्यास रूप—विपरीत बुद्धि वाले हैं तब तो विपर्यास होने से ही वेदांतवादियों को भी प्रवर्तक नहीं होगी, ऐसा भी हम कह सकते हैं । अर्थात् यदि विधि प्रवृत्ति कराने रूप स्वभाव वाली है तब तो आपको और बौद्धों को, दोनों को ही प्रवर्तक होवे अथवा किसी को भी प्रवर्तक न होवे । एक को प्रवर्तक और एक को अप्रवर्तक कहने से तो कथंचित्वाद आ जाता है । यदि आप कहो कि अप्रवर्तमान—प्रवृत्ति न करने वाले सौगतादिकों को ही विपर्यास है किन्तु प्रवर्तमान विधिवादियों को नहीं है । आपका यह कथन भी अप्रमाणीक ही है आप विधिवादी और सौगत दोनों के प्रति दोष और समाधान सदृश ही लागू होते हैं । अर्थात् आप वेदवाक्य का अर्थ ब्रह्म रूप करते हैं और उसे प्रवर्तक मानते हैं तब वह परमब्रह्म आप ब्रह्माद्वैतवादी एवं अन्य सौगत आदि सभी को यज्ञादि क्रियाकाण्ड में प्रवृत्ति करावे अथवा किसी को भी प्रवृत्ति न करावे । यदि आप विधि को अप्रवर्तक स्वभाव वाली मानोगे तब तो वह विधि वेदवाक्य का अर्थ कैसे हो सकेगा, नियोगवाद के समान ।

---

1 जैनमतात् (स्याद्वादात्) श्रयणात् । 2 तस्य सर्वथा प्रवर्तकत्वात् । 3 तथागतादीनात् । 4 प्रवर्तकस्वभावे विधावप्रवर्तकतया गमनं विपर्यासः । 5 विपर्यासादेव । 6 अस्तु इति शेषः । 7 इति स्याद्वादी वदति ।—उभयेषां सौगतादीनां वेदान्तवादिना चेष्टं प्रतिपादितं प्रमाणविरुद्धं भवति । कस्मात् ? सकलप्रत्यक्षस्वरूपानध्यवसायात् ।

[विधिः फलरहितः सहितो वा इत्याद्यनुपपत्तेः हानिः]

किञ्च विधिः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेन्न प्रवर्तके नियोगवदेव[1]। [2]पुरुषाद्वैते न कश्चित्[3]कुतश्चित्प्रवर्तक इति चेत् कथमप्रवर्तको विधिः सर्वथा वाक्यार्थः [4]कथ्यते।—तथा[5] नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। तथा दृष्टव्यो रेऽयमात्मेत्यादिवाक्यावात्मनि[6] दर्शनश्रवणानुमननध्यानविधाने प्रतिपत्तुरप्रवृत्तौ [7]किमर्थं-स्तद्वाक्याभ्यासः ? फलसहितो विधिरिति कल्पनायां फलार्थितयैव लोकस्य प्रवृत्तिसिद्धेर्व्यर्थं

अर्थात् आप जैसे नियोगवाद को अप्रवर्तक स्वभाव मान करके वाक्य का अर्थ नहीं मानते हो तथैव आपका परमब्रह्म भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा।

[विधि को फल रहित वा सहित मानने में दोषारोपण]

प्रकारांतर से यह भी प्रश्न होता है कि वह विधि फल रहित है या फल सहित ?

फल रहित कहो तो नियोग के समान ही प्रवर्तक नहीं होगी। अर्थात् आपके मत से नियोग फल शून्य होने से ही प्रवर्तक नहीं है अतः वेदवाक्य का अर्थ भी नहीं है।

विधिवादी—हमारे यहाँ पुरुषाद्वैतवाद में कोई भी किसी—वेदवाक्य प्रकार से प्रवर्तक है ही नहीं।

भाट्ट—तब तो सर्वथा अप्रवर्तक विधि वेदवाक्य का अर्थ है यह भी कैसे कहा जावेगा ? अन्यथा—अप्रवर्तक होते हुये नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावेगा और उस प्रकार से "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मरूप आत्मा का दर्शन, श्रवण, अनुमनन और ध्यान करने में प्रतिपत्ता—मनुष्य की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी पुनः उन वेदवाक्यों का अभ्यास भी किसलिये किया जावेगा ? अर्थात् "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्यों से परमब्रह्म रूप आत्मा का दर्शन, श्रवण, ध्यान करना आदि प्रवृत्ति रूप ही तो है पुनः विधि को फल रहित या अप्रवर्तक मानने पर तो उपर्युक्त प्रवृत्ति कैसे घटित हो सकेगी ? यदि विधि को फलसहित मानो तब तो फलार्थी होने से ही लोक की प्रवृत्ति सिद्ध है पुनः विधि को प्रवर्तक कहना नियोग के कथन के समान व्यर्थ ही हो जाता है। तथापि—अप्रवर्तक होने पर भी यदि आप विधि को वेदवाक्य का अर्थ कहोगे तब तो नियोग भी वाक्य का अर्थ क्यों नहीं होगा ? अर्थात् प्रमाण और प्रमेयादि अनेक विकल्पों के निरसन द्वारा विधि वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा सिद्ध नहीं हुआ फिर भी विधिवादी यदि हठपूर्वक विधि को वेदवाक्य का अर्थ मान ही लेवें तो नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ क्यों नहीं होगा ?

---

1 विधिः पक्षः वाक्यार्थो न भवतीति साध्यो धर्मः—अप्रवर्तकत्वान्नियोगवत्। 2 आह विधिवादी।—कथंचिद्विधिः कुतश्चित्प्रमाणात्प्रमाणाद्वैते प्रवर्तको न स्यात्। 3 वाक्यात्। (ब्या० प्र०) 4 अन्यथा। 5 अप्रवर्तकत्वेन। 6 ब्रह्मणि। 7 किंप्रयोजनकः। दृष्टव्योरेत्यादि। विधिः प्रवर्तक इति प्रतिपादनम्।

[1]विधिकथनं नियोगकथनवत्। तथापि[2] विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कुतो न भवेत्। [3]पटादिवत्[4] [5]पदार्थान्तरत्वेना[6]प्रतिभासना[7]न्नियोज्य[8]मानविषय[9]नियोक्तृधर्मत्वेन चानवस्थानाच्च नियोगो [10]वाक्यार्थ इति चेत् [11]तदितरत्रापि[12] समानम्[13]—विधेरपि पटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनम्।—विधाप्य[14]मानविषय[15]विधायक[16]धर्मत्वेनाव्यवस्थितेश्च।

विधिवादी—'नियोग' वस्त्रादि (या घटादि पाठ भेद भी है) के समान भिन्न रूप होने से प्रतिभासित नहीं होता है और नियोज्यमान पुरुष के यागादि विषय में "अग्निष्टोमेन" इत्यादि नियोक्ता के धर्म रूप से व्यवस्थित न होने से नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकता है। अर्थात् घट शब्द से जैसे पृथु बुध्नोदराकार—गोलमटोल रूप "घट" अन्य ही प्रतीति में आता है वैसे ही अग्निष्टोमादि वाक्य से अन्य रूप नियोग प्रतीति में नहीं आता है। इस रीति से अप्रवर्तक स्वभाव में भी विधि ही वाक्य का अर्थ है नियोग है ऐसा नियम है। यहाँ "घटवत्" यह दृष्टांत व्यतिरेक में है।

भाट्ट—यह बात तो आपके विधिपक्ष में भी समान ही है—विधि भी घटादि के समान भिन्न होने से प्रतिभासित नहीं होती है "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य से विधीयमान—यागादि रूप विषय, विधायक—आत्मा के धर्म रूप से व्यवस्थित न होने से वह विधि भी वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकती है।

भावार्थ—अद्वैतवादी का कहना है कि जैसे आत्मा से भिन्न कल्पित किये गये घट पटादि पदार्थ भिन्न-२ प्रतिभासित होते हैं, वैसे न तो भिन्न पदार्थ रूप से नियोग ही प्रतिभासित है, न वेदवाक्य रूप नियोग से नियुक्त हुये श्रोता पुरुष ही प्रतिभासित हैं और न यज्ञ आदि विषय का धर्म रूप नियोग ही प्रत्यक्ष है अतः "भिन्न पदार्थ रूप हेतु" से एवं "श्रोता पुरुष के यज्ञादि विषय में नियोक्ता (वेदवाक्य) के धर्म रूप" हेतु से, इन दोनों ही हेतुओं से नियोग प्रतिभासित नहीं है अतः वेदवाक्य का अर्थ नियोग नहीं हो सकता है। इस पर भाट्ट कहता है कि इसी आक्षेप का हम आपके ऊपर भी

---

1 अप्रवर्तकत्वेपि। यद्यपि प्रमाणप्रमेयाद्यनेकधा विकल्पज्ञानद्वारेण विधिर्वाक्यार्थो नास्ति तथापि विधिवादिनो ह्यद्वैतकारेण विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कथं न भवेत्? इत्यासयः। 2 व्यतिरेकदृष्टान्तः। विधिवादाह।—यथा पृथ्वाद्याकारघटादिकार्यद्रव्यं भिन्नं प्रतिभासते तथा न नियोगशब्देनोच्यमानपुरुषविषयप्रेरकधर्मरूपेण घटादिः प्रतिभासते तथा नियोग इति हेतुद्वयान्नियोगस्यानवतारान्न नियोगो वाक्यार्थो न भवति। 3 भिन्नत्वेन। 4 घटादिवत् इति पा०। यथा घटशब्दात्पृथुबुध्नोदराकाररूपो घटोऽन्यः प्रतीयते तथाग्निष्टोमादिवाक्यादन्यो नियोगः प्रतीयते इति नियामकमनसा रीत्याप्रवर्तकस्वभावेऽपि विधिरेव वाक्यार्थो न नियोगः। घटवदिति व्यतिरेकदृष्टान्तः। (ब्या० प्र०) 5 पुरुष। 6 नियोगो वाक्यार्थो न भवेत्तत्कारणात्। (ब्या० प्र०) 7 नियुज्यमान-इति पा०। (ब्या० प्र०) 8 यागादि। 9 अग्निष्टोमेत्यादि। 10 अग्निष्टोमेत्यादि। (ब्या० प्र०) 11 दूषणं। (ब्या० प्र०) 12 विधिपक्षे। 13 विधिर्न वाक्यार्थः इत्यादि। 14 अवश्यकरणीयतयाभिमन्यमान। सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यादिभाप्यमान। 15 यागादिरूप। 16 आत्मा।

[अधुना जैनमतमाश्रित्य भाट्टः विधिवादिनं दूषयति]

[1]यथैव[2] हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मे नियोगेऽ[3]नुष्ठेयता नियोगस्य सिद्धत्वाद्—अन्यथा[4] तदनुष्ठानोपरमाभावानुषङ्गात्[5]—[6]कस्यचिद्रूपस्यासिद्धस्याभावात्[7]। [8]असिद्धरूपतायां[9] वाऽनियोज्यत्वं-विरोधाद्वन्ध्यास्तनन्धयादिवत्। [10]सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे तस्यैवासिद्धरूपेण[11] वा नियोज्यतायामेकस्य[12] पुरुषस्य[13] सिद्धासिद्धरूप[14]सङ्कराद्नियोज्येतरत्वविभागासिद्धिः।[15]तद्रूपा-

---

आरोप कर सकते हैं। अर्थात् आपका परमब्रह्म भी घट पटादि के समान पुरुष से भिन्न प्रतिभासित नहीं होता है तथा विधान करने योग्य दर्शन, श्रवण, मनन आदि या दृष्टव्य विषय का धर्म, अथवा ब्रह्म को कहने वाले वेदवाक्यों के द्वारा भी विधिरूप परमब्रह्म की व्यवस्था नहीं हो सकती है अतः आपके द्वारा मान्य वेदवाक्य का 'विधि' अर्थ भी सिद्ध नहीं होता है।

[जैनमत का आश्रय लेकर भाट्ट विधिवादी पर दोषारोपण करता है]

जिस प्रकार से नियोज्य पुरुष का नियोगधर्म में अनुष्ठेयपना न होने से अकर्तव्यता है क्योंकि नियोग की सिद्धि है। अन्यथा उसके अनुष्ठान के उपरम—समाप्ति का अभाव ही हो जावेगा, क्योंकि उसका कुछ भी रूप असिद्ध नहीं है। अर्थात् यदि सिद्ध रूप नियोग की कर्तव्यता है तब तो नियोग को करने में अनवस्था का प्रसंग आता है क्योंकि उस नियोग में कोई भाग असिद्ध नहीं है।

यदि कहो कि असिद्ध रूप भी नियोग नियोज्य है तब तो वंध्या के पुत्रादि भी नियोज्य हो जावेंगे, किन्तु ऐसा तो है नहीं, लोक में विरोध देखा जाता है। सिद्ध रूप से-पुरुष रूप से नियोज्य को मानने पर अथवा उसी को असिद्ध रूप से नियोज्य कहने पर तो सर्वथा निरंश रूप एक पुरुष में सिद्ध और असिद्ध दो रूप से संकर दोष आ जावेगा। पुनः नियोज्य और अनियोज्य रूप से विभाग ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। अर्थात् नियोग का एक रूप सिद्ध है अन्य रूप असिद्ध है, सिद्ध रूप से नियोज्य मानने

---

1 एतदेव क्रमेण विवियते। 2 यतो नियोगाङ्गप्रकारेण विधिवाक्यानामर्थे भावनावादी वर्णयति। 3 अकर्तव्यता। 4 पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशंक्यावाह। (व्या० प्र०) 5 सिद्धरूपस्य नियोगस्य यदनुष्ठेयता तदा तस्य नियोगस्य करणीयानवस्थाप्रसंगः—ततस्तत्र नियोगे कश्चिदंशो असिद्धो नास्ति। 6 पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशंक्यावाह कस्यचिदिति। 7 पुरुषस्य। (व्या० प्र०) 8 असिद्धरूपोपि नियोगः नियोज्यो भवतीति चेत्तदाऽवन्ध्यास्तनन्धयादेरपि नियोज्यत्वप्रसंगः। तथा सति लोके विरोधदर्शनात्। 9 वा नियोज्यत्वविरोधात्। इति पा०। तज्जुष्टं प्रतिभाति। (व्या० प्र०) 10 पुरुषरूपतया। (व्या० प्र०) 11 अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यसिद्धरूपेण। (व्या० प्र०) 12 नियोगस्यैकं रूपं सिद्धमन्यदसिद्धं सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे सति तस्यैव नियोगस्यासिद्धरूपेण कृत्वा अनियोज्यतायां सत्यामित्येकपुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपमिश्रणादयं नियोज्योऽयमनियोज्य इति भेदो न सिद्ध्यति। अथवा तद्रूपयोरमिश्रणे सति भेदघटनायामतः सिद्धासिद्धरूपयोश्च परस्परसम्बन्धो नास्ति। कस्मात्? उपकाराकरणात्। 13 सर्वथा निरंशस्येत्यर्थः। (व्या० प्र०) 14 अभेदः। (व्या० प्र०) 15 तद्रूपासंकरे एव भेद-प्रसंगादिति वा पाठः।

सङ्करे वा[1] [2]भेदप्रसङ्गादात्मनः[3] सिद्धासिद्धरूपयोः सम्बन्धाभावोनुपकारात्। उपकारकल्पनायामात्मनस्तदुपकार्यत्वे[4] नित्यत्वहानिः। तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य[5] सर्वथोपकार्यत्वव्याघातः। असिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यतानुषङ्गः। सिद्धासिद्धरूपयोरपि[6] कथञ्चिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्था[7]नुषङ्गादित्युपालम्भः[8]।

[भावनावादिना भाट्टेन प्राग्यथा नियोगवादो निराकृतस्तथैवानुना विधिवादोपि निराक्रियते]

[9]तथा विधाप्यमानस्य पुरुषस्य धर्मे [10]विधावपि सिद्धस्य पुंसो दर्शनश्रवणानुमननध्यानवि-

---

पर वही नियोग असिद्ध रूप से अनियोज्य हो जाता है। इस प्रकार से एक पुरुष में सिद्ध, असिद्ध रूप का मिश्रण हो जाने से यह नियोज्य है और यह अनियोज्य है, ऐसा भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। अथवा उन दोनों रूपों का मिश्रण न होने पर भेद घटित हो जाने से आत्मा में परस्पर में सिद्धासिद्ध रूप संबंध नहीं रहेगा।

अथवा उन रूपों का संकर न होने पर भेद का प्रसंग आ जाने से आत्मा के सिद्ध असिद्ध रूप में संबंध का अभाव है, क्योंकि कोई भी उपकार संबंध नहीं है और यदि आप उपकार की कल्पना करोगे तो उन सिद्ध और असिद्ध के द्वारा आत्मा का उपकार मानने पर आत्मा के नित्यत्व की हानि हो जावेगी। एवं उन दोनों सिद्ध असिद्ध रूप नियोगों पर आत्मा के द्वारा उपकार मानने पर जो सिद्ध रूप है उसके तो सर्वथा उपकार्यपने का विरोध आता है। तथा असिद्ध रूप का भी उपकार मानने पर आकाश फूल आदि के भी उपकारित होने योग्य का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् आत्मा सिद्ध रूप का उपकारक है या असिद्ध रूप का? इन दो विकल्पों को उठाकर उन दोनों में दोष दिखाया है।

सिद्धासिद्ध रूप नियोग को भी कथंचित् असिद्ध रूप स्वीकार करने पर प्रकृत के-उपर्युक्त प्रश्न दूर नहीं किये जा सकेंगे, प्रश्नों की अनवस्था ही आ जावेगी।

[पूर्व में भावनावादी भाट्ट ने जैसे नियोग का खण्डन किया है उसी प्रकार से विशेषरूप से अब विधिवाद का भी खण्डन करता है]

भाट्ट—जिस प्रकार से नियोग पक्ष में दूषण आते हैं तथैव विधाप्यमान—जिसके लिये विधि की जावे अर्थात् "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इस वाक्य के द्वारा जिसके लिये यज्ञ का विधान

---

1 आत्मनः सकाशात् सिद्धासिद्धरूपयोर्भेदप्रसङ्गात्। 2 आत्मनः सकाशादसिद्धासिद्धरूपयोर्भेदप्रसंगादित्यर्थः। (व्या० प्र०) 3 ता। (व्या० प्र०) 4 ताभ्यां सिद्धासिद्धाभ्यामुपकार्यत्वे किं दूषणं स्यात्? आत्मनो नित्यत्वहानिः। 5 आत्मा सिद्धरूपस्योपकारकोऽसिद्धरूपस्य वेति विकल्पद्वयं कृत्वा निराक्रियते। (व्या० प्र०) 6 किंचित् इत्यपि पाठः प्रतिभाति। (व्या० प्र०) 7 प्रारब्धनियोगप्रश्नस्य निवृत्तिर्न भवतीति तथा किमायातम्? अनवस्थानाम दूषणं स्यात्। 8 अतः प्रभृति नियोगखण्डनप्रस्तावेन खण्डनं करोति भावनावादी। 9 यथैव ह्यित्यादिनियोगपक्षे। 10 अवश्यकरणीयदर्शनश्रवणमननादिरूपे।

धानविरोधः[1]। [2]तद्विधाने वा सर्वदा [3]तदनुपरतिप्रसक्तिः। दर्शनादिरूपेण [4]तस्यासिद्धौ [5]विधानव्याघातः कूर्मरोमादिवत्। सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधाने तस्यैवासिद्धरूपेण चाविधाने सिद्धासिद्धरूपसङ्कराद्विधाप्येतरत्वविभागासिद्धिः। तद्रूपासङ्करे वा भेद-प्रसङ्गादात्मनः[6] सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्संबन्धाभावादि दोषासञ्ज[7]नस्याविशेषः। [8]तथा विषयस्य

किया गया है ऐसे उस पुरुष के विधि (अवश्यकरणीय, दर्शन, श्रवण, मननादि) रूप धर्म में भी परमब्रह्म रूप सिद्ध पुरुष के दर्शन, श्रवण, अनुमनन, ध्यान के विधान का विरोध आता है।

अथवा उस सिद्ध पुरुष के भी यज्ञ करने का विधान मान लेने पर हमेशा उसके यज्ञ करने की उपरति नहीं हो सकेगी एवं उस विधि रूप ब्रह्म को असिद्ध मानने पर उसके दर्शन, श्रवण आदि के विधान का विरोध हो जाता है। जैसे कूर्म रोमादि है नहीं, तो उससे वस्त्रादि बनाने का विरोध ही है एवं सिद्ध रूप से विधाप्यमान—ब्रह्म का विधान करने पर और उसी का असिद्ध रूप से विधान न करने पर सिद्धासिद्ध रूप का संकर हो जाने से विधाप्यमान और अविधाप्यमान रूप विभाग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अथवा उन दोनों रूपों का संकर न मानने से भेद का प्रसंग आ जाने पर आत्मा से सिद्धासिद्ध का संबंध न हो सकना आदि दोषों का प्रसंग समान ही है।

भावार्थ—यहाँ पर भाट्ट विधिवादी को दूषण देते हुये कहते हैं कि जैसे आप विधिवादी नियोग में दूषण देते हो वैसे ही आपके यहाँ विधिवाद में भी दूषण समान ही है। अर्थात् जैसे प्रभाकर का मान्य नियोग नियोज्य-पुरुष का धर्म तथा याग लक्षण-विषय का धर्म, एवं नियोक्ता-शब्द का धर्म नहीं हो सकता है वैसे ही विधि भी विधीयमान-पुरुष का धर्म तथा विधेय-विषय का धर्म एवं विधायक-शब्द का धर्म नहीं हो सकता है। देखिये! जिस प्रकार 'नियुक्त होने योग्य पुरुष का धर्म' यदि नियोग माना जावे तो आप अद्वैतवादियों ने प्रभाकर के ऊपर "अनुष्ठान नहीं करने योग्य" आदि दोषों का आरोप किया है, मतलब नियुक्त होने योग्य पुरुष अनादिकाल से स्वतः सिद्ध है तो उस आत्मा का स्वभाव नियोग भी पूर्वकालों से सिद्ध है और यदि सिद्ध हो चुके पदार्थ का अनुष्ठान माना जावेगा तो अनुष्ठान का कभी भी अंत ही नहीं हो सकेगा, कृत का पुनः करना होते रहने से पुनः पुनः उसी किये को करते चलिये, चर्वित का चर्वण अनंत काल तक करते रहिये। अतः यही अच्छा है कि बन चुके को पुनः न बनाया जावे। नित्य पुरुष के धर्म रूप नियोग का कोई भाग असिद्ध तो है नहीं। हाँ! यदि किसी असिद्ध रूप को नियुक्त होने योग्य माना जावेगा तब तो सर्वथा असिद्ध—वंध्या-पुत्र, अश्वविषाण आदि को भी नियोज्य मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि आत्मा का धर्म नियोग किसी एक सिद्ध रूप से नियोज्य एवं किसी एक असिद्ध रूप से अनियोज्य है तब तो एक ही आत्मा

---

1 अनुष्ठेयतोपपत्तेः। (भा० प्र०) 2 तस्य सिद्धस्य पुरुषस्य करणे वा। 3 अविधानेतरत्वस्य वा। 4 विधेः। 5 भावनालक्षणस्य विषयधर्मस्य नियोज्यत्व। 6 सकाशात्। 7 अनुषङ्गस्य। 8 हे विधिवादिन्!

में दोनों का संकर हो जाने से नियोज्य और अनियोज्य रूप दो प्रकार का विभाग भी नहीं हो सकेगा। यदि सिद्ध असिद्ध, इन दोनों रूपों का आत्मा में संकर न मानों तब तो इन दोनों स्वभावों से अभिन्न एक आत्मा के भेद का प्रसंग आ जावेगा अथवा नित्य-आत्मा से ये दोनों रूप पृथक् हो जावेंगे ऐसी दशा में ये दोनों सिद्ध असिद्ध रूप आत्मा के हैं ऐसा नियामक-बताने वाला कोई संबंध आपके यहाँ है ही नहीं, क्योंकि राजा का पुरुष, गुरु का शिष्य या पुरुष का राजा, शिष्य का गुरु, यहाँ परस्पर में आज्ञोल्लिका देना, चाकरी देना, पढ़ाना, सेवा करना आदि उपकार करने से स्वामी-भृत्य संबंध, गुरु-शिष्य संबंध, राजा-प्रजा संबंध माने जाते हैं, किन्तु उपकार नहीं होने से उन सिद्ध असिद्ध रूप और कूटस्थ नित्य आत्मा का कोई षष्ठी विज्ञापक सम्बन्ध नहीं हो पाता है।

यदि उपकार की कल्पना करो तो प्रश्न यह होता है कि इन सिद्ध असिद्ध दोनों रूपों से आत्मा के ऊपर उपकार किया जाता है या आत्मा के द्वारा दो रूपों पर उपकार किया जाता है? प्रथम विकल्प मानों तो आत्मा नित्य नहीं माना जा सकेगा क्योंकि जो उपकृत होता है वह कार्य होता है और कार्य अनित्य ही होता है। यदि दूसरे विकल्पानुसार सिद्धासिद्ध रूपों पर आत्मा के द्वारा उपकार मानों तब तो जो सिद्ध रूप हो चुका है उसमें उपकार को धारण करने योग्य कोई अंश शेष नहीं है। यदि दूसरे असिद्ध रूप को भी उपकार प्राप्त करने योग्य माना जावे तब तो आकाश पुष्प आदि भी उपकार झेलने वाले हो जायेंगे। यदि कथंचित् सिद्धासिद्ध रूप कहो तो उपर्युक्त दोषों की ही अनवस्था चलती रहेगी। इस प्रकार से विधिवादी ने नियोगवादी पर दूषण दिया है अब भाट्ट इन्हीं सभी दूषणों को विधिवादी पर आरोपित करते हैं।

देखिये! विधान कराये जा रहे पुरुष का धर्म विधि है और परिपूर्णतया सिद्ध हो चुका श्रोतापुरुष भी नित्य है वह नित्य पुरुष परमब्रह्म का दर्शन श्रवण आदि कैसे कर सकेगा क्योंकि जो पहले दर्शन आदि से रहित है वह परिणामी पदार्थ ही दर्शनादि का विधान अनुष्ठान कर सकता है, नित्य कृतकृत्य नहीं है। यदि सिद्ध हो चुका पुरुष भी दर्शन, श्रवणादि का विधान करेगा तो सर्वदा ही उन दर्शन, श्रवण आदि से विराम नहीं हो सकेगा क्योंकि दो-चार बार दर्शन कर चुकने पर भी पुनः पुनः सिद्ध हो चुके पुरुष भी यदि दर्शनादि में प्रवृत्ति करते रहेंगे तो पूर्ववत् चर्वित चर्वण ही होता रहेगा। यदि आप कहें कि आत्मा का धर्म रूप जो विधि है उसका दर्शन श्रवण आदि स्वरूप असिद्ध नहीं है तब तो कछुवे के रोम के समान उस असिद्ध स्वरूप आदि से असत् रूप विधि का विधान नहीं हो सकेगा। यदि उस विधि को सिद्ध असिद्ध ऐसे दो रूप मानोगे तब तो एक ही परमब्रह्म सिद्ध रूप होने से विधान करने योग्य होगा और असिद्ध रूप से विधान के योग्य नहीं होगा तो संकर दोष आ जावेगा एवं विधान करने के योग्य-अयोग्य का विभाग नहीं हो सकेगा। तथा एक ब्रह्म में स्वरूप संकर न मानने से दोनों रूपों का आत्मा से भेद हो जावेगा एवं सर्वथा भिन्न सिद्धासिद्ध दोनों रूपों का आत्मा के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं बनेगा। यदि उपकार की कल्पना करोगे तब तो पूर्ववत् दोष आते ही रहेंगे। अतः नियोग के समान आपका ब्रह्माद्वैत भी सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ नियोगवादी

यागलक्षणस्य धर्मे नियोगे तस्याऽपरिनिष्पन्नत्वात् [1]स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमशक्यत्वस्य [2]विधावपि [3]विषयधर्मे समानत्वात्कुतो [4]विषयधर्मो विधिः ? [5]पुरुषस्यैव [6]विषयतयावभासमानस्य विषयत्वात्तस्य[7] च परिनिष्पन्नत्वान्न तद्धर्मस्य [8]विधेरसम्भव इति चेत् [9]तर्हि यजनाश्रयस्य [10]द्रव्यादेः सिद्धत्वात्तस्य[11] च विषयत्वात्कथं तद्धर्मो नियोगोपि न सिद्धयेत ? येन रूपेण विषयो विद्यते तेन तद्धर्मो नियोगोपीति, तदनुष्ठानाभावे[12] [13]विधिविषयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधेः कथमनुष्ठानम् ?

के ऊपर विधिवादी के द्वारा कटाक्षवर्षा किये जाने पर भट्ट मीमांसकों ने विधिवादी को आड़े हाथ लिया है एवं श्लोकवार्तिकालंकार में आचार्यों ने नियोगवादी की ओर से विधिवादी के ऊपर दोषारोपण किया है।

तथा हे विधिवादिन् ! यदि आप नियोगवादी को ऐसा कहें कि यागलक्षण विषय का नियोग रूप धर्म मानने पर उसके परिनिष्पन्न होने से उसके स्वरूप का अभाव ही है अतः वाक्य के द्वारा उसका निश्चय करना अशक्य है तब तो यह बात विषय के धर्म रूप विधि में भी समान है अतः विषय का (आत्मा का) धर्म विधि है यह बात कैसे सिद्ध होगी ?

विधिवादी—पुरुष ही विषय रूप से अवभासित होता है क्योंकि वह विषय है और वह पुरुष निष्पन्न है इसलिये उस पुरुष का धर्म विधि है यह कथन असंभव नहीं है।

भाट्ट—तब तो यजन—यज्ञ के आश्रयभूत द्रव्यादि सिद्ध हैं और वे विषय भी हैं। पुनः उन द्रव्यादिक का धर्म भी नियोग है यह बात भी क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगी ? क्योंकि जिस रूप से विषय रहता है उस रूप से उसका धर्म नियोग भी रहता है यदि कहो कि उस नियोग के अनुष्ठान का अभाव है तब तो विधि का विषय जिस रूप से है उस विषय के धर्म रूप विधि का भी अनुष्ठान कैसे हो सकेगा।

विधिवादी—जिस अंश—दर्शन आदि रूप से विधि नहीं है उस अंश से विधि का अनुष्ठान घटित होता है।

भाट्ट—ऐसा अनुष्ठान तो नियोग में भी समान है।

आचार्य—विधिवादी कहते हैं कि यदि नियोग को याग स्वरूप विषय का धर्म माना जाता है तो मान लीजिये, किन्तु वह यज्ञ अभी बनकर पूर्ण तो हुआ नहीं है। उपदेश सुनते समय तो उस यज्ञ का स्वरूप है ही नहीं, पुनः वेदवाक्य के द्वारा उसका निर्णय कैसे हो सकेगा ? इस पर भाट्ट कहता है

---

1 प्रत्येतुमशक्यत्वं कुत इत्युक्ते तत्र समर्थनपरं प्रथमं साधनम्। 2 पुरुषस्य। 3 अवश्यकरणीयदर्शनादौ। 4 दर्शनादि। 5 आत्मनः धर्मः। 6 विधिवादी। 7 दर्शनादिरूपेण। (व्या० प्र०) 8 पुरुषस्य। 9 अवश्यकरणीयदर्शनादेः। 10 नियोगमतमवलम्ब्य भावनावादी वदति। 11 पुरुष। रूपादि। (व्या० प्र०) 12 द्रव्यादेः। 13 तस्य नियोगस्य करणाभावे सति विधेरप्यनुष्ठानं मा भूत्। 14 पुरुष। (व्या० प्र०)

[1]येनांशेन[2] [3]नास्ति [4]तेनानुष्ठानमिति [5]चेत् [6]तन्नियोगेपि समानम्। [7]कथमसन्नियोगोनुष्ठीयते—अप्रतीयमानत्वात् खरविषाणवदिति [8]चेत्तत एव विधिरपि नानुष्ठेयः। [9]प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयतया[10] चासिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेन्नियोगोपि [11]तथास्तु। [12]नन्वनुष्ठेय[13]तयैव[14]

कि "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्य के सुनने के अवसर पर जब दर्शन श्रवण है ही नहीं तब उनका धर्म विधि भी विद्यमान नहीं है पुनः उस असद्भूत विधि का अनुभव भी वाक्य के द्वारा कैसे हो सकेगा ? अतः जैसे यज्ञ रूप विषय का धर्म नियोग सिद्ध नहीं है वैसे ही विधि भी सिद्ध नहीं है।

इस पर विधिवादी कहता है कि—हम दर्शन, श्रवण आदि को विधि का विषय नहीं मानते हैं किन्तु विषय रूप से प्रतिभासित परम ब्रह्म को ही हम विधि का विषय मानते हैं और पुरुष तो पहले से ही बना बनाया नित्य रूप सिद्ध है, इसलिये विधि को पुरुष रूप विषय का धर्म मानना ठीक ही है। इस पर पुनः भाट्ट कहता है कि तब तो नियोगवादियों के यहाँ यज्ञ, पूजन आदि के अधिकरण रूप द्रव्य, आत्मा, पात्र, स्थानादि पदार्थ भी पहले से ही सिद्ध हैं अतः उन द्रव्य आदिकों का विषय होने से नियोग भी क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगा ? पुनरपि विधिवादी आरोप उठाता है कि जिस रूप से द्रव्यादि विषय पहले से विद्यमान हैं उसी रूप से उनका धर्म नियोग भी पहले से ही मौजूद है अतः बन चुके-सिद्ध रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकेगा ?

इस पर भाट्ट कहता है कि परमब्रह्म का विषय भी जिस रूप से विद्यमान है उसी स्वरूप से उसके धर्म रूप विधि का भी सद्भाव है अतः उसका विधान भी कैसे किया जा सकेगा ? यदि आप कहें कि जिस स्वरूप से विधि अविद्यमान है उस रूप से उसका अनुष्ठान होता है तो नियोग में ऐसा ही समझिये कि जिस अंश से नियोग विषयी अविद्यमान है उसी अंश से कर्मकांडी मीमांसक उसका अनुष्ठान करते हैं।

विधिवादी—असत् रूप नियोग का अनुष्ठान कैसे किया जायेगा क्योंकि वह तो अप्रतीयमान है खर-विषाण के समान।

भाट्ट—उसी हेतु से विधि भी अनुष्ठेय नहीं हो सकेगी।

विधिवादी—वर्तमान काल में विधि प्रतीयमान होने से प्रतीत हो रही है, किन्तु दर्शन, श्रवण आदि अनुष्ठेय रूप से असिद्ध रूप है अतएव वह विधि अनुष्ठेय है। अर्थात् भविष्यत्काल में उस विधि का विधान करना योग्य है।

---

1 अथ विधिवादी ब्रवीति। 2 दर्शनादिना। (व्या० प्र०) 3 विधिर्नास्ति। 4 विधेः करणं घटते। 5 उत्तरं। (व्या० प्र०) 6 अनुष्ठानम्। 7 विधिवादी। 8 उत्तरम्। अप्रतीयमानत्वादेव। 9 विधिवादी। 10 दर्शनश्रवणादिरूपतया। 11 विधिप्रकारेण प्रतीयमानत्वादनुष्ठेयो भवतु। 12 विधिवादी भावनावादिनं प्रति। 13 कर्तव्यतया। 14 करणीयतया एव। (व्या० प्र०)

नियोगोवतिष्ठते[1], न प्रतीयमानतया तस्याः [2]सकलवस्तुसाधारणत्वात्। [3]अनुष्ठेयता च यदि प्रतिभाता कोन्यो [4]नियोगो यस्यानुष्ठितिरिति चेत् तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठामनुभवति[5], किन्तु [6]विधीयमानतया[7]। सा चेदनुभूता कोन्यो विधिर्नाम यस्य

भावनावादी—तब तो नियोग को भी ऐसा ही मानो क्या बाधा है ?

विधिवादी—अनुष्ठेय-कर्तव्य रूप से ही नियोग है किन्तु प्रतीयमान रूप से नहीं है क्योंकि वह सकल वस्तुओं में साधारण रूप से है। और प्रश्न यह होता है कि उस नियोग की अनुष्ठेयता—कर्तव्यता प्रतिभात है या अप्रतिभात ? यदि प्रतिभात है तो प्रतिभास के अंतः प्रविष्ट ही है। यदि अप्रतिभात है तब तो उसकी अवस्थिति ही नहीं है इसलिये कर्तव्यता यदि प्रतिभात है तब तो नियोग नाम की अन्य क्या चीज है कि जिसका अनुष्ठान होवे ?

भावनावादी—तब तो विधि भी प्रतीयमान रूप से व्यवस्था को प्राप्त नहीं कर सकती है किन्तु विधीयमान रूप से ही व्यवस्थित हो सकती है, क्योंकि वह भी सकल वस्तु में साधारण रूप से है। अन्यथा अन्यापोह को भी विधिरूप का प्रसंग आ जावेगा। यदि कहो कि वह अनुभूत है तो विधि अन्य और क्या चीज है कि जिसका विधान उपनिषद् वाक्य से आप वेदांती सुन लेते हैं।

भावार्थ—यदि विधिवादी कहे कि कुछ अंश रूप से असत् नियोग का अनुष्ठान कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो सत् रूप नहीं है और गगनकुसुमवत् जिसकी प्रतीति ही नहीं है उसका अनुष्ठान असंभव है। तब यह दोष तो आप अद्वैतवादी पर भी लागू हो जाता है क्योंकि आपने भी विषय के असद्भूत अंश वाली विधि का ही अनुष्ठान माना है। यदि आप कहें कि हमारे यहाँ विधि की प्रतीति हो रही है अतः उस विधिरूप ब्रह्म का स्वरूप सिद्ध है पुनः उसके अनुष्ठान में क्या बाधा है ? तब तो हम भाट्ट भी ऐसा कह सकते हैं कि प्रभाकर के यहाँ वह नियोग भी प्रतीति में आ रहा है मैं भी उसको अनुष्ठान करने योग्य मानते हैं।

इस नियोग की पुष्टि के कथन पर पुनरपि विधिवादी अपना ही पक्ष पुष्ट करते हुये कहते हैं कि नियोग अनुष्ठान करने योग्य तो है किन्तु उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है, क्योंकि केवल वह अनुष्ठेयता मात्र तो संपूर्ण वस्तुओं में सामान्य रूप से पाई ही जाती है और यदि वह अनुष्ठेयता आप प्रभाकर को प्रतिभासित हो चुकी है तब तो आपका यह कथित नियोग भी प्रतिभास के अंतरंग में प्रविष्ट हो जाने से नित्य ब्रह्म रूप ही सिद्ध हो गया समझना चाहिये। पुनः ब्रह्म से भिन्न दूसरा नियोग कुछ रहा ही नहीं कि जिससे आप उसके अनुष्ठान का विधान कर सकें और यदि आप उस

---

1 अयं नियोगो नास्य इति व्यवस्थितिर्भवति। 2 कुडुयादिस्थादिषु। 3 अनुष्ठेयता प्रतिभाता अप्रतिभाता वा ? यदि प्रतिभाता तदा प्रतिभासान्तःप्रविष्टैव। अप्रतिभाता चेत्तदा तस्यावस्थितिरपि नास्ति। 4 वाक्यात्प्रतीयमानः। (ब्या० प्र०) 5 तस्याः सकलवस्तुसाधारणत्वादिति सम्बन्धः। 6 अन्यथान्यापोहस्यापि विधित्वप्रसंगात्। (ब्या० प्र०) 7 दृष्टव्योरेयमात्मेत्यादिकर्तव्यतया।

विधानमुपनिषद्वाक्याद्[1]नुकर्ष्यते[2]। [3]ननु दृष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिकं विहितं[4] ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षेपार्हो विधिः कथमपाक्रियते[5] ? [6]किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये

नियोग को प्रतिभासित नहीं मानोगे तब तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा क्योंकि हम अद्वैतवादियों के यहाँ तो "नरः प्रतिभासते, घटः प्रतिभासते" इत्यादि रूप से मनुष्य, घट पट आदि सभी चेतन अचेतन पदार्थों को ब्रह्म स्वरूप बनाकर ब्रह्माद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये आकाश के समान विशाल उदर वाला सबसे सुन्दर "प्रतिभासमानत्वात्" हेतु मौजूद है जो कि सभी पदार्थों को बिना श्रम के ब्रह्म स्वरूप बना देता है तथाहि, 'सर्वेऽपि चेतनाचेतनात्मकपदार्थाः प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः संति, प्रतिभासमानत्वात् प्रतिभासस्वरूपवत्" अर्थात् सभी चेतन अचेतन पदार्थ प्रतिभास रूप परम ब्रह्म के अंतः प्रविष्ट हैं, क्योंकि वे प्रतिभासित हो रहे हैं जैसे कि प्रतिभास—ब्रह्म का स्वरूप उस ब्रह्म के ही अंतः प्रविष्ट है। इस कारण से नियोग भी अनुष्ठान करने योग्य होकर प्रतिभासित हो चुका है और जो प्रतिभासित हो जाता है उसकी वर्तमान काल में प्रतीति नहीं होती है अतः यदि आप ब्रह्माद्वैतवादी नहीं बनना चाहते हैं तब तो आप नियोग को अप्रतीयमान ही रहने दीजिए। इस पर भाट्ट अपने भाई नियोगवादी को सहारा देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार से आप की विधि का भी तो वर्तमान काल में अनुभव नहीं आ रहा है किन्तु वह वर्तमान में विधीयमान-विधान किए जाने रूप से ही आगे आती है क्योंकि वह विधीयमानता भी तो सभी पदार्थों में साधारण रूप से पाई जाती है और जब विधि की विधीयमानता का अनुभव हो चुका है तो फिर उससे अन्य कौन सा अंश विधि नाम का शेष रह गया है कि जिसका "दृष्टव्योरेयमात्मा" इत्यादि वाक्यों से विधान कराया जा सके इसलिये विधि भी अप्रतीयमान है ऐसा मान लेना चाहिये अन्यथा उसका विधान नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार से भाट्ट ने विधिवादी पर दोषारोपण किया है। यहाँ पर अनुष्ठेयता भविष्यत्कालीन है, प्रतीयमानता वर्तमान कालीन है एवं प्रतिभासित्व भूतकाल का वाचक है इस प्रकार से कालों का व्यतिकर (भेद) दिखलाते हुए विद्वानों का अच्छा संघर्ष हो रहा है।

विधिवादी—"दृष्टव्यादि" वाक्यों से आत्मदर्शनादि अवश्यकरणीय कहे गए हैं क्योंकि 'मम इदं कर्तव्यं' यह मुझे करने योग्य है इस प्रकार से प्रतीति होती है अतः विधि प्रतिक्षेप—निषेध के योग्य नहीं है पुनः नियोगवादी प्रभाकर उसका निराकरण कैसे करते हैं ?

भाट्ट—तो क्या विधि की प्रतीति के समय अग्निहोत्रादि वाक्य से यज्ञादि के विषय में 'मैं नियुक्त हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं आती है कि जिससे नियोग का खंडन आप करते हैं। अर्थात् आप नियोग का खंडन भी नहीं कर सकेंगे।

---

1 वेदान्तवादिना। 2 उपकर्ष्यते इति पा०। (ब्या० प्र०) 3 विधिवादी। 4 अवश्यकरणीयम्। 5 प्रभाकरेण। 6 विधेः प्रतीतिकाले।

नियुक्तोऽहमिति प्रतीतिर्न विद्यते येन नियोगः प्रतिक्षिप्यते ? सा प्रतीतिरप्रमाणमिति चेत् विधिप्रतीतिः कथमप्रमाणं न स्यात् ? विधिप्रतीतेः पुरुषदोषरहितवेदवचनेन जनितत्वादिति चेत्तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाणं मा भूत्—सर्वथाप्यविशेषात्[1]। तथापि नियोगस्य विषयधर्मत्वासम्भवे विधेरपि तद्धर्मत्व न सम्भवः। [2]शब्दस्य[3] [4]विधायकस्य धर्मो विधिरित्यपि न निश्चेतुं शक्यम्[5]—नियोगस्यापि नियोक्तृशब्दधर्मत्वप्रतिघाताभावा-

---

विधिवादी—वह प्रतीति अप्रमाण है।

भाट्ट—पुनः विधि की प्रतीति भी अप्रमाण क्यों नहीं हो जावे ?

विधिवादी—विधि की प्रतीति तो पुरुष के दोष से रहित अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होती है अतः प्रमाण है।

भाट्ट—उसी हेतु से ही नियोग की प्रतीति भी अप्रमाण मत होवे, सर्वथा भी दोनों में समानता है अर्थात् विधि की प्रतीति और नियोग की प्रतीति दोनों भी अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होती है अतः दोनों ही प्रमाण हो सकती हैं दोनों में कोई अंतर नहीं है फिर भी यदि आप कहें कि नियोग विषय का धर्म नहीं है तो विधि भी विषय का धर्म नहीं है।

भावार्थ—विधिवादी कहता है कि दृष्टव्य, मन्तव्य, सोहं इत्यादि वाक्यों से पुरुष को आत्म-दर्शनादि की विधि हो चुकी है अतः उसका खंडन नहीं किया जा सकता है इस पर भाट्ट कहता है कि अग्निहोत्र, विश्वजित् आदि यज्ञों के कहने वाले वाक्यों से "मैं यज्ञादि विषयों में नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रतीति को आप अप्रमाण नहीं कह सकते हैं यदि आप विधिवादी कहें कि राग द्वेष अज्ञानादि दोषों से रहित अनादि, अनिधन वेदवाक्यों से उत्पन्न हुई विधि प्रमाणभूत है तब तो अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही तो प्रभाकर नियोग को प्रमाण मानता है। यहाँ तक तो नियुक्त होने योग्य पुरुष को नियोग कहना या यज्ञ स्वरूप पुरुष के धर्म को नियोग कहने में आप विधिवादी जो बाधा देते हैं आपके यहाँ भी विधि कराने योग्य—पुरुष को विधि कहने में या विधेय के धर्म को विधि-ब्रह्मरूप करने में वे ही बाधायें समान रूप से आ जाती हैं अतः नियोग और विधि में यहाँ तक संपूर्ण अंशों में सदृश दोषारोपण किया गया है।

विधिवादी—शब्द—विधायक का धर्म विधि है।

भाट्ट—यह निश्चय करना भी शक्य नहीं है अन्यथा नियोग भी नियोक्ता शब्द का धर्म हो जावेगा उसका आप अभाव नहीं कर सकेंगे शब्द तो सिद्ध रूप हैं पुनः उनका धर्म नियोग असिद्ध कैसे रहेगा कि जिससे यह वेदवाक्य से अनुष्ठेय है ऐसा प्रतिपादन किया जा सके। ऐसा भी नहीं मानना

---

1 विधिप्रतीतिर्नियोग प्रतीत्योर्द्वयोरपि पुरुषदोषरहितवेदवचनजनितत्वेन कृत्वा सर्वथापि विशेषाभावात्। 2 दृष्ट-व्योरेवमात्मेत्यादिकस्य। (स्या० प्र०) 3 विधिलक्षणधर्मप्रतिपादकस्य। 4 विधिवादाह।—विधातीति विधायको दृष्ट-व्योरेवमात्मेत्यादिवाक्यरूपः शब्दस्तस्य धर्मो विधिरपि विधायक इति। 5 अन्यथा।

नुषक्तेः। शब्दस्य [1]सिद्धरूपत्वात्तद्धर्मो नियोगः कथमसिद्धो येनासौ [2]सम्पाद्यते [3]कस्यचिदित्यपि न मन्तव्यम्[4]---विधिसम्पादनविरोधात्—तस्यापि[5] सिद्धोपनिषद्वाक्यधर्मत्वाविशेषात्। [6]प्रसिद्धस्यापि[7] सम्पादने पुनःपुनस्तत्सम्पादनप्रवृत्त्यनुपरमात्[8] कथमुपनिषद्वाक्यस्य प्रमाणता—तदपूर्वार्थताविरहात्स्मृतिवत्[9]। तस्य वा प्रमाणत्वे नियोगवाक्यं प्रमाणमस्तु—विशेषाभावात्।

चाहिए क्योंकि विधि में भी ऐसा प्रतिपादन करना सिद्ध है वह विधि का संपादन भी प्रसिद्ध उपनिषद्वाक्य का धर्म है दोनों जगह कोई अन्तर नहीं है। प्रसिद्ध—निष्पन्न को भी संपादित करने में पुनः पुनः उसके संपादन की प्रवृत्ति का विराम-अभाव ही नहीं होगा पुनः उपनिषद्वाक्य में प्रमाणता कैसे आवेगी क्योंकि वह अपूर्वार्थपने से रहित है जैसे कि स्मृति अपूर्वार्थ का प्रतिपादन नहीं करती है अथवा उसको प्रमाण मानोगे तो नियोग वाक्य को भी प्रमाण मानो कोई अंतर नहीं है।

भावार्थ—अब तीसरे प्रकार से विधायक शब्द के धर्म को विधि मानने पर नियोजक शब्द के धर्म को भी नियोग कहना पड़ेगा इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि वाक्यों के द्वारा विधायक शब्द के धर्म को विधि कहने पर तो "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्यों के द्वारा नियोक्ता शब्दों के धर्म को भी नियोग मानना पड़ेगा। इस पर विधिवादी यों कहता है कि शब्द को कूटस्थ नित्य मानने वाले मीमांसकों के भाई आप प्राभाकरों के यहाँ शब्द का परिपूर्ण रूप सिद्ध है अतः उस शब्द का धर्म नियोग असिद्ध कैसे रहेगा कि जिससे उस नियोग को कर्मकांड वाक्यों के द्वारा कोई भी श्रोता संपादित कर सके। इस पर भाट्ट का कहना है कि आप विधिवादी के यहाँ भी अनादि काल से परिपूर्ण सिद्ध वैदिक उपनिषद् वाक्यों का धर्म विधि है इस मान्यता में भी वेदवाक्य का धर्म विधि भी नित्य ही ठहरा। यदि सर्व अंशों में परिपूर्ण रूप से सिद्ध हो चुके पदार्थ का भी संपादन करना माना जावेगा तो पुनः सिद्ध हो चुके का भी अनुष्ठान किया जावेगा तो कभी भी अनुष्ठान का अन्त ही नहीं हो सकेगा। इस कारण स्मृति के समान अपूर्व अर्थ के ग्राही न होने से आप्त प्रतिपादक वैदिक उपनिषद् वचनों को प्रमाणता नहीं आ सकती है। यहाँ पर स्मृति का दृष्टांत नियोगवादी की अपेक्षा से दिया गया है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धांत में स्मृति को अपूर्वार्थग्राही मानकर प्रमाणीक माना है यदि फिर भी विधिवादी गृहीत के ग्राहक उन उपनिषद् वचनों को प्रमाण मानेंगे तो नियोग वाक्य भी प्रमाण हो जावेंगे।

---

1 शब्दस्यनिहोत्रं जुहुयादित्यादिः सिद्धरूपः शब्दधर्म एव नियोगः कथमसिद्धो यतो यागादिः कर्तव्यः स्यात्। 2 वेदवाक्येनानुष्ठेयो भवतीति प्रतिपाद्यते। 3 नुः। (ब्या० प्र०) 4 अन्यथा। (ब्या० प्र०) 5 विधिसम्पादनस्य। 6 ज्ञातस्यापि। 7 निष्पन्नस्यापि। (ब्या० प्र०) 8 अनुपरमाभ्युपगमे। (ब्या० प्र०) 9 वेदस्य उप समीपे निषदनमुपनिषत् तस्य वाक्यमुपनिषद्वाक्यं यतः प्रमाणं न भवतीति साध्यो धर्मः तस्यापूर्वार्थताविरहात्। यथा स्मृतिः। यथा स्मृतेरपूर्वार्थताप्रतिपादनं नास्ति श्रुत्यनुसारित्वात् तथेत्यर्थः।

[विधेर्ग्राहकं वाक्यमप्रधानतया विधिं विषयीकरोति प्रधानतया वा ? इति विकल्पोभयं दूषयति]

किञ्च तद्विधिविषयं वाक्यं गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाणं स्यात् ? यदि गुणभावेन तदाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादिरपि [1]तदस्तु[2]—गुणभावेन[3] विधिविषयत्वस्य भावात्—[4]तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भावनाप्राधान्येनोपगमात्—प्राभाकरैश्च नियोगगोचरत्वस्य प्रधानत्वाङ्गीकरणात्[5]। तौ च भावनानियोगौ नासद्विषयौ[6] प्रवर्तेते प्रतीयेते वा सर्वथाप्यसतोः प्रतीतौ प्रवृत्तौ वा शशविषाणादेरपि तदनुषक्तेः[7]। [8]सद्रूपतया[9] च तयोर्विधि-[10]नान्तरीयकत्वसिद्धेः सिध्यं गुणभावेन विधिविषयत्वं वाक्यस्य[11]। इति नाप्रमाणतापत्तिर्येन कर्मकाण्डस्य पारमार्थिकता न भवेत्। [12]प्रधानभावेन विधिविषयं चोदनावाक्यं प्रमाणमिति

[विधि को ग्रहण करने वाले वाक्य अप्रधान रूप से विधि को ग्रहण करते हैं या प्रधान रूप से ? दोनों विकल्पों का निराकरण।]

दूसरी बात यह है कि उस विधि को विषय करने वाले वाक्य गौण भाव से विधि को ग्रहण करने में प्रमाण हैं या प्रधान भाव से ? यदि प्रथम पक्ष लेवो तो "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्य भी उस नियोग भावना रूप हो जावें क्योंकि विधि का विषय गौण रूप से है। विधि में हम भाट्टों ने भावना को प्रधानता से स्वीकार किया है, और प्राभाकरों ने नियोग का विषय प्रधान माना है वे भावना और नियोग असत् के विषय नहीं हैं न असत् रूप से प्रतीत ही हैं, क्योंकि सर्वथा भी असत् की प्रतीति मान लेने पर शशविषाणादि की प्रतीति और उसमें प्रवृत्ति होने लगेगी। सत् रूप से वह भावना और नियोग विधि से भिन्न नहीं हैं इसलिये वेदवाक्य विधि को गौण रूप से विषय करते हैं यह बात सिद्ध हो गई। अतः अप्रमाणिकता का प्रसंग नहीं आता है जिससे कि कर्मकांड (क्रियाकांड) को पारमार्थिकपना न होवे अर्थात् कर्मकाण्ड पारमार्थिक ही सिद्ध हो जाते हैं यदि आप कहें कि हम द्वितीय पक्ष ले करके वेदवाक्य को प्रधानभाव से विधि को विषय करने वाला मानते हैं इसलिये वे प्रमाण हैं। यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि विधि को सत्यरूप मान लेवेंगे तब तो द्वैत का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् श्रोतव्य और श्रोता आदि के भेद से विधायक और विधेय से भी भेद होने से द्वैत हो जावेगा और यदि उस विधि को असत्य मानेंगे तब तो वह प्रधान नहीं हो सकेगी। तथाहि "विधि प्रधानाभाव का अनुभव नहीं करती है क्योंकि वह असत्य है जो जो असत्य

---

1 नियोगभावनासित्वम्। 2 विधौ प्रधानत्वमस्तु। (ब्या० प्र०) 3 नियोगस्योपचारेण विधिविषयत्वघटनात्। 4 विधौ। 5 प्रधानताङ्गीकरणात्। इति पा०। (ब्या० प्र०) 6 असतो च तौ विषयौ च। 7 सर्वथाप्यविद्यमानस्य शशकस्य शृङ्गगगनकुसुमवन्ध्यास्तनन्धयादेरपि तयोः प्रतीतिप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। 8 सद्रूपस्य वस्तुत्वस्य प्रतिपादनात्। (ब्या० प्र०) 9 भावनानियोगयोर्नान्तरीयकत्वं (न विच्छेदकत्वमविनाभावित्वं वा) तस्य सिद्धेर्घटनात्। 10 अस्तित्व। अविनाभाव। (ब्या० प्र०) 11 अग्निहोत्रादेः। (ब्या० प्र०) 12 वेदवाक्यं मुख्यं विधिरपि मुख्य इति चेत्—तथा—सति द्वैताभावात्। * वर्त्तते इत्यपि पुस्तकान्तरे।

चायुक्तम्—विधेः[1] [2]सत्यत्वे द्वैतावतारात्[3]। तदसत्यत्वे प्राधान्यायोगात्। तथा[4] हि। यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावमनुभवति। यथा [5]तदविद्याविलासः। तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन [6]तद्विषयत्वोपपत्तिः। स्यान्मतम्:—न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूपं

है वह-वह प्रधानभाव का अनुभव नहीं करता जैसे उसकी अविद्या का विलास" और उसी प्रकार से विधि असत्य है इसलिये प्रधानभाव से वह विधि वेदवाक्य का विषय नहीं है।

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि ब्रह्मरूप विधि को विषय करने वाला वाक्य गौण रूप से विधि को जानता हुआ प्रमाण समझा जाता है या प्रधानभाव से विधि का प्रतिपादन करता हुआ प्रमाण समझा जाता है? यदि गौण रूप से विधि को कहने वाला वाक्य प्रमाण हो जावे तब तो प्रभाकरों के यहाँ "स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र पूजन द्वारा यज्ञ को करे" इत्यादि रूप से कर्मकांड के प्रतिपादक वचन भी प्रमाणिक हो जावेंगे क्योंकि इन अग्निहोत्रादि वाक्यों का अर्थ भी गौण रूप से विधि को विषय कर रहा है। इन कर्मकांड वाक्यों में प्रभाकरों ने नियोग अर्थ प्रधान माना है तथा भट्ट ने भावना अर्थ प्रधान माना है एवं प्रभाकर और भट्ट के द्वारा मान्य नियोग और भावना रूप अर्थ अभाव रूप नहीं हैं अथवा स्वकर्तव्य के द्वारा ये दोनों भावना और नियोग असत् पदार्थ की प्रतीति कराते हों ऐसा भी नहीं है, अतः यह बात सिद्ध हो जाती है कि ये भावना और नियोग सत् रूप से (सत्सामान्य की अपेक्षा से) विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखते हैं इसलिये प्रभाकरों के द्वारा मान्य अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, विश्वजित्, अश्वमेध आदि वाक्य प्रमाणभूत ही सिद्ध हो जाते हैं अतः गौण रूप से विधि को कहने वाले इन प्रभाकरों के कर्मकांड वाक्य भी आप अद्वैतवादियों को प्रमाण मानने पड़ेंगे। यदि आप विधिवादी इन दोषों को दूर करने के लिये प्रधान रूप से विधि को विषय करने वाले वाक्य को प्रमाण मानो तब तो वाक्य का अर्थ विधि है ऐसा परमार्थ कथन मान लेने पर एक विधि और दूसरा ब्रह्म इस प्रकार से द्वैतवाद आ जाता है और उस "श्रोतव्य, दृष्टव्य" आदि रूप विधि को असत्य कहोगे तो विधि को प्रधानता नहीं रहेगी क्योंकि जो असत्य है वह प्रधान नहीं हो सकता है अतः यह विधि प्रधान रूप से भी वाक्य का अर्थ सिद्ध नहीं होती है।

विधिवादी—आपने विधि के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझा ही नहीं है क्योंकि वह विधि ही व्यवस्थित है। प्रतिभास मात्र से पृथक् वह विधि घटादि के समान कार्यरूप से प्रतीति में नहीं आती है और वचनादि के समान प्रेरक रूप से भी वह जानी नहीं जाती है क्योंकि कर्म और करण साधन रूप से उस विधि की प्रतीति के मानने पर तो कार्यता और प्रेरकता प्रत्यय युक्त है अन्यथा नहीं

---

1 शब्दप्रत्ययविषय आत्मा विधिः। (ब्या० प्र०) 2 उपचरितत्वाभावे। 3 श्रोतव्यश्रोतृत्वादिभेदेन विधायकतया विशेषतया च। 4 अत्र विधिविषयं वाक्यं प्रधानभावेन विधौ प्रमाणमस्तीति यदुक्तं तत्खण्डनार्थं भावनादौ नियोगमतमाश्रित्याह।—"विधिः प्रधानभावं नानुभवति—असत्यत्वात्। यो यो ऽसत्य इत्यादि"। 5 सा प्रतिज्ञा। (ब्या० प्र०) 6 वाक्यस्य। (ब्या० प्र०)

[1]अवता[2] [3]तस्यैव[4] [5]मतो व्यवस्थितत्वात्। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग् विधिः कार्यतया न प्रतीयते घटादिवत्[6] प्रेरकतया च नाध्यवसीयते वचनादिवत्[7]। कर्मकरणसाधनतया हि [8]तत्प्रतीतौ कार्यतप्रेरकता[9]प्रत्ययो युक्तो [10]नान्यथा।

[वेदांतवादी पुनरपि ब्रह्माद्वैतवादं समर्थयति]

किंतर्हि ? दृष्टव्यो ऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तर[11]विलक्षणेन[12] प्रेरितोऽहमिति जातसंकेतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति। स एव विधिरित्युच्यते। [13]तस्य च ज्ञानं[14] विषयतया[15] [16]सम्बन्धमधितिष्ठतीति प्रधानभावविभावना[17] विशेर्न[18] विहन्यते—[19]तथाविधवेदवाक्यादात्मन[20] एव विधायकतया[21] प्रतिभासनात्। तद्दर्शनश्रवणानुमननध्यानरूपस्य[22] विधीयमानतयानुभवात्। तथा[23] च स्वयमात्माऽऽत्मानं

अर्थात् कर्म और करण रूप साधन के अभाव में विधि का ज्ञान मानने पर कार्यता और प्रेरकता प्रत्यय युक्त नहीं है।

[यहाँ विधिवादी पुनरपि ब्रह्माद्वैतवाद का समर्थन करते हैं।]

शंका—पुनः वह विधि किस रूप है ?

विधिवादी—सो हम बताते हैं। "दृष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि शब्दों के सुनने से अवस्थांतर से विलक्षण—अप्रेरितावस्था से विलक्षण—अदृष्टव्यादि से विलक्षण रूप से "मैं प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय और आकार से संहित होकर स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वही विधि है इस प्रकार से कहा जाता है। इस विधि का ज्ञान विषय रूप से संबंध को प्राप्त कर लेता है इसलिये विधि का प्रधान भाव मानना विरुद्ध नहीं है अर्थात् दर्शन, मनन आदि विधीयमान रूप से विधि-ब्रह्म से संबंध को प्राप्त होते हैं। 'वृक्ष की शाखा के समान' अभेद अर्थ में षष्ठी होती है किन्तु ब्रह्म रूप से एकत्व ही है। वह ब्रह्म ही विषयी है और वही विषय है।

---

1 प्रभाकरेण। 2 (वेदात्पाद्) नियोगमात्रावलम्बिना भट्टेन तथा। 3 तस्यैवमभ्युपस्थितत्वात्। इति पा०। (ब्या० प्र०) 4 विधेः। 5 अवश्यत्वप्रकारेण। (ब्या० प्र०) 6 यथा घटादिः कार्यतया पृथक् प्रतीयते तथा विधिः प्रतिभासनमात्रात् पृथङ्न प्रतीयते। 7 यथा प्रेरकतया वचनमध्यवसीयते तथा विधिर्न। 8 विधि। 9 कार्यता-प्रेरकता (विधेः) न युक्तेत्येव पाठः। 10 कर्मकरणसाधनाभावे विधिपरिज्ञाने कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो न। 11 दर्शनादिरूपेण। (ब्या० प्र०) 12 अप्रेरितावस्थाविलक्षणेन। अदृष्टव्यादिविलक्षणेन। 13 विधेः। 14 दर्शनादिकं विधीयमानतया विधेः संबंधमधितिष्ठतीति यावद् वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठी विधिनैकत्वमेवेत्यर्थः। (ब्या० प्र०) 15 स एव विषयी स एव विषयः। दृश्यत्वदृक्त्वाभ्यां। (ब्या० प्र०) 16 दर्शनादिकं विधीयमानतया विधेः सम्बन्धमधितिष्ठतीति यावत्। वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठीविधिना एकत्वमेवेत्यर्थः। 17 निश्चयः। (ब्या० प्र०) 18 विधेर्मुख्यसंव्यवहारस्य न विरुद्ध्यते। 19 संबंधमधितिष्ठतीत्येतस्य समर्थनात्। (ब्या० प्र०) 20 वेदवाक्यादात्मन एव न तद्दर्शयति। वेदवाक्यं ज्ञानमेव तस्मादात्मनो अभेदः कारकाद्भेदव्यवस्थात्मनोरभेद एवेति।' 21 दृष्टत्वविधया। (ब्या० प्र०) 22 आत्मस्वरूपस्य। (ब्या० प्र०) 23 विधायकविधीयमानयोरभेदे।

द्रष्टुं श्रोतुमनुमन्तुं ध्यातुं वा प्रवर्त्तते। तथा प्रवृत्त्यसम्भवे [1]ह्यात्मनः प्रेरितोऽहमित्यव[2]-गतिरप्रामाणिकी[3] स्यात्। ततो नासत्यो विधिर्येन प्रधानता तस्य विरुध्यते। नापि सत्यत्वे द्वैतसिद्धिः—आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण [4]तदभावात्—तस्यैकस्यैव तथा[5] प्रतिभासनादिति।

[भाट्टो नियोगपक्षमाश्रित्य पुनरपि विधिवादिनं दूषयति]

[6]तदप्यसत्यम्—नियोगादि[7]वाक्यार्थस्यापि निश्चयात्मकतया प्रतीयमानत्वात्। तथा हि।—नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिव दृष्टव्योऽरेयमात्मेत्यादिवचनादपि प्रतीयते एव। नियुक्तोऽहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो [8]योगः [9]प्रतिभाति—[10]मनागप्ययोगाशङ्कानवतारादवश्यकर्त्तव्यतासम्प्रत्ययात्[11]। कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणादस्य[12] प्रवृत्तिरुपपद्यते—[13]मेघध्व-

---

देखने योग्य और दर्शन करने वाले से उसमें भेद नहीं है। अतः यह विधि मुख्य ही सिद्ध हो जाती है पुनः उस प्रकार के विधिरूप वेदवाक्य से आत्मा ही विधायक रूप से प्रतिभासित होता है एवं उसका दर्शन, श्रवण, अनुमनन और ध्यान रूप आत्मस्वरूप ही विधीयमान रूप से अनुभव में आता है। उस प्रकार से विधायक-आत्मा और विधीयमान-दर्शन श्रवण आदि कार्य में अभेद के हो जाने पर स्वयं आत्मा ही आत्मा को देखने, सुनने, अनुमनन करने अथवा ध्यान करने के लिये प्रवृत्त होता है उस प्रकार की प्रवृत्ति के संभव न होने पर "मैं प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार का आत्मा का ज्ञान अप्रमाणिक हो जावेगा इसलिये विधि असत्य नहीं है कि जिससे उसकी प्रधानता विरुद्ध हो जावे। एवं सत्यरूप मानने पर द्वैत की सिद्धि भी नहीं होती है क्योंकि आत्मा के स्वरूप को छोड़कर अन्य कोई विधि असंभव ही है। वह एक ही विधि विधायक और विधेय रूप से प्रतिभासित होती है।

[यहाँ भावनावादी भाट्ट पुनरपि नियोगपक्ष का आश्रय लेकर विधिवादी को दूषण देता है]

भाट्ट—यह आपका कथन भी असत् है क्योंकि नियोग और भावना भी वेदवाक्य के अर्थ हैं वे भी निश्चयात्मक रूप से प्रतीति में आ रहे हैं। तथाहि—अग्निहोत्रादि वाक्य के समान ही "दृष्टव्यो-रेऽयमात्मा" इत्यादि वचन से भी नियोग प्रतीति में आ रहा है।

"मैं इन वाक्यों से नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार से निरवशेष योग रूप नियोग ही प्रतिभासित होता है क्योंकि किंचित् भी अयोग की आशंका की गुंजाइश ही नहीं है। अवश्यकर्तव्यता का ही ज्ञान हो रहा है एवं वही स्वीकार की गई है। अन्यथा उन वाक्यों के सुनने से ही इस मनुष्य की प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? यदि आप कर्तव्यता के ज्ञान का अभाव होने पर भी उस वाक्य के सुनने से प्रवृत्ति होना मानोगे तब तो मेघ के शब्दादिकों से भी प्रवृत्ति का प्रसंग हो जाना चाहिये।

---

1 तात्। (ब्या० प्र०) 2 प्रमितिः। 3 प्रामाणिका स्यात्। इति पा०। (ब्या० प्र०) 4 विधेरभावात्। 5 विधाय-कतया विधेयतया च। 6 भाट्टः। 7 आदिशब्देन भावना। 8 दर्शनमननरागात्मसम्बन्धः। 9 यतः। (ब्या० प्र०) 10 असंबंध। (ब्या० प्र०) 11 अभ्युपगमात्। (ब्या० प्र०) 12 नुः। 13 अन्यथा। कर्तव्यतासम्प्रत्ययाभावेपि तद्वाक्यश्रवणात्प्रवृत्तिरुपपद्यते चेत्।

न्या[1]देरपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

भावार्थ—जैसे घट पटादि पदार्थ भिन्न प्रतिभासित होते हैं उस प्रकार से प्रतिभासमात्र परमब्रह्म से भिन्न कार्य रूप से विधि का अनुभव नहीं होता है एवं वचन, चेष्टा आदि के समान प्रेरक रूप—करणरूप से भी वह विधि नहीं जानी जाती है। कर्म साधन में "विधीयते यः सः विधिः" जो विधान किया जावे वह विधि है एवं "विधीयतेऽनेन स विधिः" जिसके द्वारा विधान किया जावे वह विधि है, इस प्रकार से करण साधन है। निरुक्ति के अनुसार कर्म साधन में कार्यता प्रत्यय के द्वारा एवं करण साधन में प्रेरकता प्रत्यय के द्वारा विधि का अनुभव नहीं आता है। यदि कोई कहे कि विधि का क्या स्वरूप है? तो हम अद्वैतवादियों का कहना है कि "अरे संसारी जीव! यह आत्मा दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य है और ध्यान करने योग्य है" "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। "ब्रह्मविदाप्नोति परं" "नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानामि अहमस्मि इति नो इवेमानि भूतानि" इत्यादि शब्दों के सुनने से अन्य अवस्थाओं से विलक्षण होकर उत्पन्न हुई चेष्टा रूप आकार से मैं प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकार से स्वयं आत्मा ही प्रतिभासित होता है और वह आत्मा ही "विधि" इस शब्द के द्वारा कहा जाता है, अर्थात् विधि का ज्ञान, विधि में ज्ञान ये सब अभेद होने से विधि स्वरूप ब्रह्म ही है। अतः विधि को प्रधान रूप से वाक्य का अर्थ कहने से इन विधिवाचक (विधायक) वाक्यों से आत्मा का ही विधान हो जाता है और उस आत्मा के दर्शन, श्रवण आदि से विधि ही कर्मरूप हो जाती है। पुनः स्वयं आत्मा ही अपने को देखने के लिये, सुनने के लिये, अनुमनन करने के लिये एवं ध्यान करने के लिये प्रवृत्ति करता है। आत्मा ही वेदवाक्य है, कर्ता, कर्म, क्रिया भी स्वयं आत्मा ही है अतएव "मैं स्वयं आत्मा से प्रेरित हुआ हूँ" ऐसा अनुभव हो रहा है क्योंकि विधायक, विधीयमान और भाव विधि रूप से वह परमब्रह्म ही प्रतिभासित हो रहा है एवं आत्मस्वरूप के अतिरिक्त उस परमब्रह्म का अभाव ही है अतएव यह विधि सत्य ही है इत्यादि रूप से विधिवादी ने अपना पक्ष रखा है।

अब भाट्ट प्रभाकर का मत पुष्ट करते हुये उसका निराकरण करते हैं अर्थात् अव्यक्त रूप से प्रभाकर के द्वारा विधिवाद का खंडन कराते हैं। भाट्टों का कहना है कि—आप विधिवादी के कथनानुसार वाक्य के अर्थ नियोग, भावना आदि भी अनुभव में आ रहे हैं। जैसे "अग्निष्टोमेन यजेत" आदि शब्दों से नियोग प्रतीत हो रहा है वैसे ही "दृष्टव्योरेऽयमात्मा" इत्यादि शब्दों के द्वारा भी "मैं इस वाक्य के द्वारा नियुक्त—प्रेरित हुआ हूँ" इस प्रकार से परिपूर्ण रूप से योग हो जाना उसमें लीन हो जाना ही तो नियोग है जो कि इस वाक्य से भी प्रतिभासित हो रहा है क्योंकि इस वाक्य से भी अवश्य कर्तव्यता का ज्ञान हो जाने से किंचित् मात्र भी शंका नहीं रह जाती है और यदि आप "दृष्टव्योरे" इत्यादि वाक्यों से पूर्ण योग-लीनता-प्रेरित अवस्था नहीं मानोगे तो इन वाक्यों के सुनने से श्रोता मनुष्यों की उस ब्रह्म के विषय में दर्शन, श्रवण, मनन, ध्यान आदि की प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी? यदि "इति कर्तव्यता" यह मेरा करने योग्य कार्य है इस रूप नियोग ज्ञान के बिना ही चाहे

---

1 का (पञ्चमी)।

[विधिप्रतिषेधकवाक्यमन्यार्थस्यापोहं करोति न वेति विकल्प्य दूषयति]

किञ्च शब्दाद् द्रष्टव्योरेयमात्मेत्यादे[1]रात्मदृष्टव्यतादिविधि[2]स्तदऽदृष्ट[3]व्यतादि[4]व्यवच्छेदरहितो[5] यदीष्यते तदा न [6]कस्यचित्प्रवृत्ति[7]हेतुः[8]—[9]प्रतिनियतविषय[10]विधिनान्तरीयकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः। तस्य चातद्विषय[11]परिहाराविनाभावित्वात् कटः कर्तव्य इति यवत्। न हि कटे कर्तव्यताविधिरत[12]द्व्यवच्छेदमन्तरेण व्यवहारमार्गमवतारयितुं शक्यः। [13]परपरिहारसहितो विधिः शब्दार्थ इति चेत्[14] तर्हि [15]विधिप्रतिषेधात्मकः[16] शब्दार्थ

जिस शब्द से प्रवृत्ति होना मान लिया जावेगा तो मेघ की गर्जना, समुद्र की पूत्कार आदि शब्दों से भी श्रोताओं की प्रवृत्ति होने लगेगी किन्तु ऐसा तो किसी ने भी नहीं माना है। मेघ की गर्जना सुनकर कोई भी मनुष्य परमब्रह्म के दर्शन, श्रवण आदि का अर्थ करके उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है।

[विधि को कहने वाले शास्त्र अन्य अर्थ का निषेध करते हैं या नहीं ? ये दो विकल्प उठाकर दोष देते हैं]

दूसरी बात यह है कि "दृष्टव्योरेयमात्मा" इत्यादि शब्द से आत्मा को देखने योग्य आदि की विधि तो होती है किन्तु यदि आप उस विधि को—आत्मा को नहीं देखने योग्य आदि रूप के व्यवच्छेद—निराकरण से रहित मानते हैं तब तो यह विधि किसी को भी प्रवृत्ति में हेतु नहीं हो सकेगी अर्थात् अन्य का परिहार करके किसी भी विषय में वह प्रवृत्ति का निमित्त नहीं है। क्योंकि प्रतिनियत विषय की विधि की अविनाभाव होने से ही प्रेक्षावान् प्रवृत्ति करते हैं और वह अप्रतिनियत रूप—अतत् विषय के परिहार के साथ अविनाभावी है जैसे चटाई बनाना चाहिये, चटाई में जो कर्तव्यता विधि है वह पट कर्तव्यता आदि अतत् विषय का परिहार किये बिना व्यवहार मार्ग में नहीं आती है। यदि आप कहें कि पर के परिहार से सहित ही विधि वेदवाक्य—शब्द का अर्थ है। तब तो विधि प्रतिषेधात्मक ही शब्द का अर्थ सिद्ध हो गया पुनः विधिरूप एकांतवाद की प्रतिष्ठा-व्यवस्था कहाँ रही जैसे कि सर्वथा प्रतिषेध—अन्यापोहरूप एकांत की व्यवस्था नहीं बनती है।

भावार्थ—यहाँ भाट्ट विधिवादी से प्रश्न करता है कि "दृष्टव्यो" इत्यादि शब्द से आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन आदि रूप जो विधि है वह विधि आत्मा की अदर्शन, अश्रवणादि अवस्थाओं का निषेध नहीं करते हुये आत्मा के दर्शन आदि रूप से होती है या आत्मा के अदर्शनादि का परिहार करते हुए भी होती है ? यदि आप कहें कि यह विधि तो आत्मा के दर्शन, मनन आदि रूप से ही होती है अन्य

---

1 इत्। (ब्या० प्र०) 2 विधानं। (ब्या० प्र०) 3 अश्रोतव्यतादि। 4 परिहारः। (ब्या० प्र०) 5 वेदान्तिनां त्वया। 6 नुः। (ब्या० प्र०) 7 आत्मदृष्टव्यतादौ। 8 अन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवृत्तिनिबंधनत्वाभावात्। (ब्या० प्र०) 9 विधयो ह्यनेके संति एकं एकं विषयं प्रति प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरतद्विषयपरिहारविनाभूता दर्शनश्रवणादिव्यवच्छेदाभावे विद्यमाने प्रवृत्तिरिति भावः। (ब्या० प्र०) 10 दर्शनः। (ब्या० प्र०) 11 अप्रतिनियतविषय। 12 पटकर्तव्यतादिपरिहारं विना। अकटकर्तव्यतानिराकरणं विना। 13 विधिवादी वदति। 14 भाट्टः। 15 अस्तित्व। 16 इष्टः। (ब्या० प्र०)

इति कुतो विध्येकान्तवादस्य प्रतिष्ठा प्रतिषेधैकान्तवादवत्[1] । स्यान्मतम्[2] ।—परपरिहारस्य[3] गुणीभूतत्वाद्विधेरेव प्रवृत्यङ्गत्वेन[4] प्राधान्याद्विधिः शब्दार्थ इति । [6]कथमिदानीं[7] शुद्धकार्यादि[8]रूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात् ?—कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवृत्त्यङ्गतया प्रधानत्वोपपत्तेः—[9]नियोज्यादेस्तत्रापि[10] गुणीभावात् । तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिनां प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात् तदितरस्य सतोपि गुणभावाव्यवसायाद्युक्तो नियोगः शब्दार्थः ।

अदर्शन आदि का परिहार नहीं करती है तब तो यह विधि किसी भी श्रोता की प्रवृत्ति में हेतु नहीं बन सकेगी क्योंकि हिताहित को जानने वाले विद्वानों की प्रवृत्तियाँ प्रतिनियत विषय की विधि के साथ अविनाभाव संबंध रखती हैं जैसे घट की विधि यदि अघटों की व्यावृत्ति करेगी तब तो बुद्धिमान् नियत घट को लाने की प्रवृत्ति करेंगे अन्यथा शयन, रुदन, अध्ययन आदि जो भी कार्य कर रहे हैं उनको ही करते हुए कृतकृत्य हो जावेंगे उनको घट लाने या बनाने का कार्य आवश्यक ही नहीं रहेगा क्योंकि पर का परिहार तो नहीं किया गया है। जब इसने अपने से भिन्न अन्य का निषेध नहीं किया तब आत्मा के दर्शन, मनन के समान आत्मा के अदर्शन, अश्रवण, अध्ययन आदि में भी प्रवृत्ति कराने वाली हो जावेगी, मतलब दर्शन, श्रवण आदि में प्रवृत्ति नहीं होगी। जैसे किसी ने कहा कि आपको चटाई बनाना चाहिये यदि इस चटाई की कर्तव्य विधि में वस्त्र के बनाने रूप कर्तव्य का निषेध नहीं है तब तो वह श्रोता मनुष्य या तो चटाई वस्त्र, मकान आदि सभी कुछ बनाने लग जावेगा अथवा कुछ भी नहीं करेगा क्योंकि "कटः कर्तव्यः" यह, वाक्य जब अन्य का निषेध नहीं करता है तब उस श्रोता के सिर पर सभी काम आ पड़ेंगे। यदि दूसरा पक्ष लेकर आप कहें कि "दृष्टव्यो रे" इत्यादि वाक्य आत्मा के अदर्शन, अश्रवण आदि का निषेध करने वाले हैं तब तो आपने वेदवाक्य का अर्थ विधिप्रतिषेधात्मक रूप से उभय रूप ही मान लिया है पुनः आपका विधि-अस्तित्व रूप ही एकांतवाद कहाँ रहा ? अतएव जैसे शब्द का अर्थ अन्यापोह मात्र है ऐसा बौद्धों का कथन सिद्ध नहीं होता है वैसे ही आपका विधि रूप एकांत भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

विधिवादी—पर का परिहार रूप अन्यापोह गौण रूप है विधि ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान है इसलिये विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है।

भाट्ट—इस प्रकार से प्रधानता का आश्रय लेकर विधि को वेदवाक्य का अर्थ करते समय शुद्ध कार्यादि रूप ग्यारह प्रकार के नियोग की व्यवस्था क्यों नहीं हो जावेगी ? क्योंकि शुद्ध कार्य ही प्रवृत्ति का अंग होने से प्रधान रूप होता है, नियोज्यादि—पुरुषादि वहाँ शुद्ध कार्य रूप नियोग—वाक्य में भी गौण हैं। उसी प्रकार से प्रेरणादि स्वभाव नियोगवादियों के यहाँ प्रेरणादि में प्रधानता का

---

1 यथा सर्वथा प्रतिषेधैकान्त (अन्यापोह) वादस्य प्रतिष्ठा नास्ति । 2 विधिवादी । 3 अन्यापोहस्य । 4 हेतुत्वेन । 5 परपरिहारस्य यथागुणीभूतत्वं तथा विधेरपि भविष्यतीत्याशंक्य योजनीयमिदं सूत्रं । (ब्या० प्र०) 6 भाट्टः । 7 प्राधान्यमाश्रित्य विधेः शब्दार्थनिरूपणावसरे । 8 शुद्धकार्यादिकादशप्रकार । 9 पुरुषादेः । 10 शुद्धकार्यरूपे नियोगे । वाक्ये ।

[1]शुद्धकार्यप्रेरणादिषु[2] [3]स्वाभिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावात्। [4]तदन्यतरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेर्न[5]कस्यापि[6] शब्दार्थत्वमिति चेत् [7]तर्हि पुरुषाद्वैतवादाश्रयवशाद्विधेः प्रधानत्वेपि तथागतमताश्रयणादप्रधानताघटनात् सोपि न प्रतिष्ठामापद्येत विप्रतिपत्तिसद्भावाविशेषात्[8]।

अभिप्राय होने से विद्यमान उससे भिन्न में गौण भाव का निश्चय होने से नियोग को वेदवाक्य का अर्थ कहना युक्त ही है।

विधिवादी—शुद्धकार्य, प्रेरणादिकों में स्व-प्रभाकर के अभिप्राय से किसी को प्रधान कर देने पर भी पर के—हमारे अभिप्राय से प्रधानता का अभाव है। उन दोनों प्रधान और अप्रधान में से किसी एक शुद्धकार्यादि नियोग स्वभाव की भी व्यवस्थिति न होने से प्रधान या अप्रधान रूप कोई भी एक प्रेरणादि नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकेगा।

[यहाँ भावनावादी भाट्ट सौगत मत का अवलंबन लेकर विधिवाद को दूषित करते हैं]

भाट्ट—तब तो आप—पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय के निमित्त से विधि को प्रधान मानने पर भी बौद्ध मत का आश्रय लेने से तो विधि की अप्रधानता ही घटित होती है अतः वह विधि भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होगी क्योंकि विधिवादी और सौगत दोनों में विवाद का सद्भाव होने से समानता ही है।

भावार्थ—विधिवादियों का यह मन्तव्य है कि यद्यपि पर पदार्थों का परिहार करना शब्द का अर्थ है, किन्तु वह पर का परिहार गौण है। प्रधान रूप से तो विधि ही प्रवृत्ति का हेतु है क्योंकि पर पदार्थ अनंत हैं, अनंत जन्मों तक भी उनका निषेध शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता है। हाँ! कर्तव्य कार्य की विधि कर देने से नियुक्त पुरुष की तत्काल वहाँ प्रवृत्ति हो जाती है अतः शब्द का प्रधान अर्थ विधि ही है। इस पर भाट्ट कहता है कि पुनः आप अद्वैतवादीजन प्रभाकर द्वारामान्य शुद्धकार्य, शुद्ध प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग की भी व्यवस्था क्यों नहीं मान लेते हो क्योंकि प्रवृत्ति कराने का मुख्य अंग होने से शुद्ध कार्य ही प्रधान हो जावेगा और पुरुष, शब्द, फल आदि के विद्यमान होते हुये भी उनका अर्थ गौण मान लिया जावेगा। तथैव शुद्ध प्रेरणा, कार्य सहित प्रेरणा आदि स्वरूप नियोग भी प्रभाकरों के यहाँ प्रधान हैं और उनसे भिन्न, पुरुष, फल आदि के मौजूद होते हुये भी उनको गौणरूप से शब्द के द्वारा जाना जाता है। अतः नियोग को शब्द का अर्थ मानना ठीक ही है। इस पर विधिवादी कहते हैं कि शुद्धकार्य, शुद्धप्रेरणा आदि में प्रभाकरों के अपने अभिप्राय से किसी एक को प्रधानता होते हुये भी भट्ट, वेदांती, बौद्ध आदिकों के अभिप्राय से प्रधानता नहीं मानी गई है

---

1 विधिवादी। 2 नियोगेषु। (ब्या० प्र०) 3 प्रभाकराभिप्रायात्। 4 अत्र विधिवादी वदति।—तयोः प्रधानत्वाप्रधानत्वयोरन्यतरस्यापि शुद्धकार्यादिनियोगस्य। 5 प्रेरणादिनियोगस्य प्रधानस्याप्रधानस्य वा। 6 शुद्धकार्यादिनियोगस्य प्रधानभूतस्य। (ब्या० प्र०) 7 भावनावादी सौगतमतमवलम्ब्य विधिवादिनमाह। 8 विधिवादिसौगतयोर्विवादसद्भावेन विशेषाभावात्।

[विधिरेव वाक्यस्यार्थः सर्वत्र प्रधानमिति मन्यमाने दोषः]

स्यान्मतिरेषा ते[1] विधेरेव [2]सर्वत्र प्रधानता—प्रवृत्यङ्गत्वोपपत्तेः[3]। न पुनः प्रतिषेधस्य सर्वथा [4]प्रवृत्यङ्ग[5]तानुपपत्तेः। [6]क्वचित्प्रवर्त्तितुकामो हि [7]सर्वस्तद्विधि[8]मन्वेषते [9]तत्र पररूपप्रतिषेधान्वेषणे[10] परिनिष्ठा[11]नुपपत्तेः—[12]पर[13]रूपाणामानन्त्यात् [14]क्वचि[15]त्प्रतिषेद्धुमशक्तेश्च[16]। [17]सद्धि पररूपं न [18]तावत्स्वयमप्रतिपद्य[19] क्रमशः प्रतिषेद्धुं शक्यम्—प्रतिषेधस्य[20] निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। नापि प्रतिपद्य[21]—तत्प्रतिपत्तेरपि [22]पररूपप्रतिषेधापेक्षत्वात्—[23]तस्यापि

अतः शब्द के उन प्रधान, अप्रधान दोनों अर्थों में से किसी एक स्वभाव रूप भी नियोग सिद्ध नहीं हो सकता है अतः एक भी शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है। ऐसा कहने पर तो आप पुरुषाद्वैतवादी के अभिप्राय से विधि अर्थ को प्रधानता होते हुये भी बौद्ध के मत से विधि को अप्रधानता घटित हो जाती है अतः यह विधि भी अपनी प्रतिष्ठा को कैसे रख सकेगी क्योंकि कई दार्शनिकों की ओर से विवादों के उपस्थित हो जाने पर विधि और नियोग दोनों में समाधान और निषेध में कोई अंतर नहीं दीखता है अतएव या तो आप विधिवादी विधि और नियोग इन दोनों को ही वेदवाक्य का अर्थ मान लीजिये या तो एक को भी न मानिये पक्षपात करने में कोई सार नहीं है। आगे इसी का और भी स्पष्टीकरण ग्रंथकार स्वयं करते हैं।

[वाक्य का अर्थ विधि ही है वही सर्वत्र प्रधान है ऐसा मानने में दोष]

विधिवादी—हमारे यहाँ विधि ही सर्वत्र-वेदवाक्य में प्रधान है क्योंकि वही प्रवृत्ति का अंग है किन्तु प्रतिषेध प्रवृत्ति का अंग नहीं है अतः वह प्रधान भी नहीं है। कहीं जलादि में प्रवृत्ति करने की इच्छा करते हुये सभी पुरुष विधि—जलादि के अस्तित्व को ही खोजते हैं वहाँ जलादि में पर रूप के प्रतिषेध की अन्वेषणा के होने पर परिसमाप्ति नहीं होती है क्योंकि पर रूप तो अनंत हैं उनका कहीं जलादि में प्रतिषेध करना अशक्य ही है अर्थात् विवक्षित वस्तु में पर रूप के अभाव का विचार करने पर कहीं भी परिसमाप्ति होना संभव नहीं है क्योंकि पर रूप तो अनंत हैं अतएव उनका किसी भी वस्तु में प्रतिषेध करना शक्य नहीं हो सकता है।

[हम आपसे प्रश्न करते हैं कि जो आप पर रूप का निषेध करते हैं वह क्रम से करते हैं या युगपत् ? क्रम से है कहो तो भी वहाँ पररूप को जान करके उसका निषेध करते हैं या बिना जाने ही ?]

---

1 विधिवादिनः। 2 वाक्ये। 3 प्रवृत्यंगतोपपत्तेः इति पाठः। (ब्या० प्र०) 4 सर्वथा प्रवृत्यङ्गत्वानुपपत्तेरिति वा पाठः। 5 कारणता। 6 जलादौ। 7 जनः। तत्-जलं। (ब्या० प्र०) 8 जलादेरस्तित्वम्। 9 जलादौ। 10 सति। 11 परिसमाप्ति। 12 परिनिष्ठानुपपत्तिः कुतः ? 13 अनिरूपाणाम्। 14 जलादौ। 15 जलादौ पररूपाणां प्रतिषेद्धुमशक्तेश्च। (ब्या० प्र०) 16 तत्र विवक्षिते वस्तुनि पररूपाभावविचारणे परिसमाप्तिर्न सम्भवति। कस्मात् ? पररूपाण्यनन्तानि अतः सर्वत्रिवस्तुनि प्रतिषेधः कर्तुं न शक्यते यत इति हेतुद्वयम्। 17 विधिवादी पृच्छति।—हे सौगतमतावलम्बिन् भावनावादिन् ! त्वया सत्पररूपं प्रतिषिध्यते तत्क्रमतो युगपद्वा ? क्रमशश्चेत्तदा तत्रापि पररूपं तदनिश्चित्य निश्चित्य वा प्रतिषिध्यते ? इति विकल्पयेव विधिवादी ब्रूयात्। 18 स्वरूपेण। (ब्या० प्र०) 19 अज्ञात्वा। (ब्या० प्र०) 20 अन्यथा। (ब्या० प्र०) 21 पररूपं ज्ञात्वा स्वयं क्रमेण निवारयितुं न शक्यते। कस्मात् ? तस्य पररूपस्य निश्चितेरन्यत्परपररूपप्रतिषेधापेक्षत्वात्। 22 अपरापररूपस्य। (ब्या० प्र०) 23 पररूपस्यापि।

च प्रतिपन्नस्यैव [1]प्रतिषेधेऽनवस्यानुषङ्गात् । युगपत्सकलपररूपप्रतिषेधे परस्पराश्रयानुषङ्गात् । सिद्धे सकलपररूपप्रतिषेधे [2]प्रतिपित्सि[3]तविधिसिद्धि[4]स्तत्सिद्धौ च [5]तत्परिहारेण[6] तत्प्रतिपत्तिपूर्वकसकलपररूपप्रतिषेधसिद्धिरिति ।

[सर्वथा विधिरेव प्रवृत्त्यंगं नास्तीति प्रतिपादयन् भाट्टो विधिवादं परिहरति]

[7]तदेतदनालोचिताभिधानम्—मण्डनमिश्रस्य[8] । सर्वथा विधेरपि प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः । सर्वो हीष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तितुमना जनोनिष्टपरिहारं [9]तत्रान्वेषते—अन्यथानिष्टेपि प्रवृत्तौ समोहितस्याघातप्रसक्तेः[10] । अनिष्टप्रतिषेधश्च प्रत्यक्षादिवत्[11] कुतश्चिद्वाक्यादपि शक्यः

यदि आप कहें कि परस्प को स्वयं बिना जाने ही उसका प्रतिषेध करते हैं ऐसा कहना तो शक्य नहीं है अन्यथा प्रतिषेध विषयशून्य—निर्विषयक हो जावेगा । यदि आप कहो कि हम पर रूप को जान करके उसका क्रम से निवारण करते हैं तो भी पर रूप का निश्चय—ज्ञान होने पर भी अन्य परस्प के प्रतिक्षेप—निषेध की अपेक्षा रहेगी ही और उस अन्य परस्प को भी जानकर उसका निषेध करने पर तो अनवस्था का प्रसंग आ ही जावेगा ।

यदि कहो कि एक साथ सभी पर रूप का प्रतिषेध करते हैं तब तो परस्पराश्रय दोष का प्रसंग आ जावेगा । सकल परस्प का प्रतिषेध सिद्ध होने पर प्रतिपित्सित—जानने योग्य का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा एवं जानने योग्य विधि का सद्भाव सिद्ध होने पर उसका परिहार करके उसकी प्रतिपत्ति—ज्ञान पूर्वक सकल परस्प के प्रतिषेध की सिद्धि होगी ।

[सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति में हेतु नहीं है ऐसा कहते हुए भाट्ट विधिवाद का परिहार करते हैं]

भाट्ट—आप मंडनमिश्र (विधिवादी) का यह सब कथन अविचारित ही है क्योंकि सर्वथा विधि भी प्रवृत्ति का अंग नहीं हो सकती है । इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति करने की इच्छा रखने वाले सभी जन वहाँ इष्ट में अनिष्ट का परिहार खोजते ही हैं, अन्यथा—यदि ऐसा न मानो तो अनिष्ट में भी प्रवृत्ति के हो जाने पर सभी के हित-इष्ट के व्याघात का प्रसंग आ जावेगा एवं प्रत्यक्षादि के समान अनिष्ट का प्रतिषेध भी किन्हीं वेदवाक्यों से जानना शक्य है क्योंकि केवल विधि का ज्ञान ही अन्य के प्रतिषेध—निषेध की प्रतिपत्ति—ज्ञान रूप है अर्थात् केवलभूतल का ज्ञान होने से ही घट के अभाव का

---

1 प्रतिषेधेनानवस्थाप्रसङ्गादिति पाठान्तरम् । 2 प्रतिपत्तुमिष्ट । (ब्या० प्र०) 3 सद्भाव । 4 प्रतिपित्सितविधिसिद्धौ । 5 प्रतिपित्सितवस्तुनिराकरणेन तत्परिज्ञानपूर्वकसकलान्यरूपनिषेधसिद्धिः । 6 सकल परस्पेषु विधिर्नास्तीति विधिपरिहारस्तेन । (ब्या० प्र०) 7 भावनावादी भाट्टः । 8 विधिवादिनः । 9 इष्टे । 10 अनिष्टप्रतिषेधो ह्यातुमनसश्चो नन्विष्टव्याघातप्रसंगाद्याह । (ब्या० प्र०) 11 प्रत्यक्षादेरिव ।

प्रतिपत्तुम्[1]—केवलविधिप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्—केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटाभावप्रतिपत्तिसिद्धेः। न ह्ययं प्रतिपत्ता [2]किञ्चिदुपलभमानः पररूपैः [3]सङ्कीर्णमुपलभते[4]—यतः प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिषेधः [5]साध्यते। न[6] च सर्वथा तैरसङ्कीर्णमेव[7]—[8]सदाद्यात्मनापि तदसङ्करे [9]तस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। [10]परस्मात्कथञ्चिद्व्यावृत्त्यव्यावृत्त्यात्मकं[11] च कुतश्चित्प्रमा[12]णादुपलभमानोयौं [13]परव्यावृत्तिद्वारेण वा प्रवर्त्तते [14]विधि[15] द्वारेण वेति। विधेरिवान्यापोह[16]स्यापि प्रवृत्यङ्गत्वोपपत्तेर्न विधेरेव प्राधान्यम्—[17]विधात्रेव प्रत्यक्षमुपनिषद्वाक्यं चेति नियमस्यासम्भवात्—[18]अन्यथा [19]ततो विद्यावदविद्याविधानानुषङ्गात्[20]।

ज्ञान सिद्ध है। यह जानने वाला पुरुष कुछ जलादि वस्तु को प्राप्त करता हुआ पररूप से संकीर्ण—सहित वस्तु को प्राप्त नहीं करता है कि जिससे भिन्न प्रमाण से उसका प्रतिषेध सिद्ध किया जावे अर्थात् केवल भूतलादि को जानता हुआ अथवा देखता हुआ मनुष्य पररूप घटादिकों से सहित उसको नहीं देखता है कि जिससे अन्य प्रमाण से पररूप का प्रतिषेध सिद्ध किया जावे मतलब स्वयं ही पररूप का प्रतिषेध हो जाता है।

[इस पर किसी की शंका यह है कि हे स्याद्वादिन्! शुद्ध भूतल घटादि पररूप से सर्वथा असंकीर्ण—रहित ही रहेगा। इस पर आचार्य कहते हैं कि]—

सर्वथा घटादिकों से रहित ही हो ऐसा एकांत नहीं है, अन्यथा सत्त्व, प्रमेयत्व, वस्तुत्व आदि से भी उसका संकर न मानने पर तो वे (भूतलादि) भी असत् रूप हो जावेंगे। पररूप से कथंचित् व्यावृत्ति अव्यावृत्ति स्वरूप वस्तु को किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्राप्त करता हुआ प्रयोजनार्थी मनुष्य पर की व्यावृत्ति रूप से अथवा विधि रूप से प्रवृत्ति करता है अर्थात् जलादि में "यह मरीचिका नहीं है" अथवा "जल है" इस प्रकार से प्रवृत्ति करता है इसलिए विधि के समान ही अन्यापोह—प्रतिषेध भी प्रवृत्ति का अंग सिद्ध हो गया है अतः विधि ही प्रधान नहीं है, क्योंकि विधाता—ब्रह्मा ही प्रत्यक्ष

---

1 कुतः। (ब्या० प्र०) 2 जलादिकम्। 3 सहितम्। 4 पश्यति। (ब्या० प्र०) 5 किञ्चिदेकदेशभूतलादिकं जानन् पश्यन् वायं प्रमाता पुमान् पररूपैर्घटादिकैः सङ्कुलं न पश्यति यतः कुतोन्यस्मात्प्रमाणात्पररूपप्रतिषेधः साध्यते? अपि तु न कुतोपि। 6 पर आह।—तर्हि हे स्याद्वादिन्! शुद्धभूतलंघटादिपररूपैः सर्वथाऽसङ्कीर्णमेवेति पृष्टे स्याद्वादी वदति।—नैवम्। कस्मात्? सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वादिना कृत्वा भूतलस्य पररूपैः सहाऽभेदने सति भूतलस्याप्यसत्त्वमायाति यतः। 7 अन्यथा। (ब्या० प्र०) 8 अन्यथा। 9 जलादिवस्तुनि सत्तायाः अभावो जायते यतः। (ब्या० प्र०) 10 दृष्टेतरात्। परस्मात्। 11 व्यावृत्ताव्यावृत्तात्मकं इति पा०। परस्मैर्व्यावृत्तं सदात्मनाऽव्यावृत्तं च। (ब्या० प्र०) 12 प्रत्यक्षात्। 13 इदं मरीचिकादिकं न जलमीति। (ब्या० प्र०) 14 इदं जलं भवतीति। (ब्या० प्र०) 15 सदात्मना। 16 प्रतिषेधस्यापि। 17 (प्रथमान्तम्) आत्मविधात् प्रत्यक्षं न निषेद्धुं विपश्चितः। नैकत्वे नियमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रसाध्यते इति विधिवादिप्रतिपादित वाक्यस्यार्थस्य नियमस्यासम्भवात्। 18 अन्यथा, नियमः सम्भवति चेत्तदा ततो विधातुः सकाशादविद्याविधानकनुषज्यते। 19 प्रत्यक्षादुपनिषद्वाक्याद्वा। 20 विद्याऽकलेवोपनिषद्वाक्यं यतः। (ब्या० प्र०)

सो[1]यमविद्या[2]विवेकि[3]सन्मात्रं [4]कुतश्चित्प्रतीयन्नेव न निषेधप्रत्यक्षमन्यद्[5]देवेति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः[6] ? कथं वा प्रत्यक्षादेर्निषेद्धृत्वाभावं प्रतीयात्[7] ? [8]यतस्तत्प्रतिपत्तिः—तस्यैवाभावविषयत्वसिद्धेः[9]। [10]प्रत्यक्षादेर्विधातृत्वप्रतिपत्तिरेव निषेद्धृत्वाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्तर्हि सिद्धं भावाभावविषयत्वं [11]तस्येति न [12]परोदितो विधिर्वाक्यार्थः सिद्ध्यति। नियोगस्यैव वाक्यार्थत्वोपपत्तेः प्रभाकरमतसिद्धिः।

और उपनिषद् वाक्य हैं ऐसा नियम करना असंभव है, अन्यथा उस प्रत्यक्ष अथवा उपनिषद् वाक्य से विद्या के समान अविद्या का भी विधान हो जावेगा। तथा च आप विधिवादी अविद्या का परिहार करके सन्मात्र को किसी प्रमाण से प्रतीतिगत करते हैं एवं प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है, अथवा अन्य उपनिषद्वाक्य निषेध करने वाले नहीं हैं ऐसा कहते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? क्योंकि अन्य का निषेध करके ही आप विधि में प्रवृत्त हैं। अथवा प्रत्यक्षादि से निषेध करने वाले के अभाव को कैसे प्रतीत करेंगे ? अर्थात् प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है यह वचन विरुद्ध है, क्योंकि जो विधि का ज्ञान है वही अभाव को विषय करने वाला है, मतलब जिस प्रमाण से विधि का ज्ञान होता है उसी से ही प्रतिषेध का ज्ञान सिद्ध है। इसलिये "प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है" ये आपके वचन विरुद्ध ही हैं।

विधिवादी—प्रत्यक्षादि से विधाता का ज्ञान होना ही निषेद्धृत्व के अभाव का ज्ञान है।

भाट्ट—ऐसा कहो तब तो यह बात सिद्ध हो गई कि प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय भावाभावात्मक है इसलिये वेदांतवादी के द्वारा कही गयी विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है यह कथन सिद्ध नहीं हो सकता है। एवं नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ सिद्ध हो जाने से नियोगवादी प्रभाकर के मत की सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—विधिवादी का कहना है कि प्रधान रूप से वेदवाक्य का अर्थ विधि ही है और वही प्रवृत्ति का अंग है किन्तु किसी भी शब्द का अर्थ निषेध नहीं है जैसे किसी को जल में स्नान करने को या उसे पीने की इच्छा है तो वह जल चाहता है और 'जल' इस शब्द के सुनने से जल को ही खोजता है। यदि वह व्यक्ति जल में पररूप का निषेध करने लगे तो पररूप तो अनंत हैं "यह जल है" इस

---

1 स्याद्वाद्याह।-सोयं विधिवादी अविद्यापृथग्भूतं सन्मात्रं कुतश्चित्प्रमाणाज्जानन्नेव निषेद्धृ प्रत्यक्षं नान्यत् (विद्यामेव प्रत्यक्षं न) इति ब्रुवन् कथं स्वस्थः स्यात् ? अपि तु न। अविद्याया विवेकः पृथग्भावः अविवेकः सोस्यास्तीत्यविद्याविवेकि तच्च तत्सन्मात्रं चाविद्याविवेकिसन्मात्रम्। अविद्यायाः सन्मात्रे शून्यस्वभित्यनेन प्रतिषेधः प्रतीयते। 2 विवेकेन इति पा०। व्यावृत्त्या। (ब्या० प्र०) 3 अविद्याविवेकेन (अविद्यापरिहारेण) सन्मात्रमिति पाठः स्वपुस्तकीयः। 4 प्रमाणात्। 5 उपनिषद्वाक्यम्। अन्यदेति क्वपाठः। 6 अन्यव्यावृत्तिरूपेण सन्मात्रे प्रवृत्तः। (ब्या० प्र०) 7 ततश्च न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति वचो विरुध्येत। 8 यस्मात् प्रमाणादिद्विप्रतिपत्तिस्तस्मादेव प्रतिषेधप्रतिपत्तिः सिद्ध्यति। 9 ततश्च न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति वाचो विरुद्धयेत्। (ब्या० प्र०) 10 विधिवादी। 11 प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य। 12 वेदांतवादि। (ब्या० प्र०)

शब्द में यह पुस्तक नहीं है, चौकी नहीं है इत्यादि रूप से निषेध करते-करते सारा जीवन ही समाप्त हो जायेगा किंतु पररूप का अभाव नहीं हो सकेगा।

पुनरपि विधिवादी सौगत से प्रश्न करता है कि आप पररूप का निषेध करते हुए क्रम-क्रम से उस जल में एक-एक वस्तु का निषेध करते हैं या एक साथ ? यदि क्रम-क्रम से कहें तो भी उन अनंतरूपों को समझकर उनका निषेध करते हैं या बिना समझे ? यदि बिना जाने ही उन पररूपों का निषेध करेंगे तो निषेध का विषय क्या रहेगा ? शून्यमात्र ही तो रहेगा। यदि जानकर निषेध करना कहो तो भी एक-एक को जान-जानकर उनका निषेध करने में कहीं पर भी अंत न आने से अनवस्था ही आ जावेगी। यदि आप कहें कि हम एक साथ ही सभी पररूपों का निषेध कर देंगे तब तो परस्पराश्रयदोष आ जावेगा, पहले सभी पररूपों का प्रतिषेध हो जावेगा पुनः जानने योग्य जल का ज्ञान हो सकेगा और जब जल का सद्भाव सिद्ध हो जावेगा तब अनंत पररूपों का प्रतिषेध एक साथ ही सिद्ध होगा। अतः शब्द का अर्थ प्रतिषेध (अन्यापोह) नहीं है विधि ही है ऐसा सत्ताद्वैतवादी ने अपना पक्ष रखा है।

इस पर भाट्ट का कहना है कि सर्वथा विधि ही प्रवृत्ति का हेतु नहीं है क्योंकि इष्ट जल में स्नान आदि की इच्छा रखने वाले मनुष्य वहाँ इष्ट जल में अनिष्ट अग्नि आदि का परिहार खोजते ही हैं। अन्यथा अनिष्ट अग्नि आदि में भी प्रवृत्ति हो जाने से किसी को भी अपने इष्ट की सिद्धि हो नहीं हो सकेगी अतएव विधि के समान निषेध भी शब्द का अर्थ है और प्रवृत्ति का हेतु है। यदि आप कहें कि "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेधृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते" ॥ अर्थ—विद्वान् लोग प्रत्यक्ष को विधायक—विधि को विषय करने वाला मानते हैं, किन्तु निषेधक—प्रतिषेध को विषय करने वाला नहीं मानते हैं। इसलिये एकत्व के समर्थन में जो आगम है, वह प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता है। यदि ऐसा ही एकांत मानोगे तो आपके यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा उपनिषद्वाक्य भी जैसे अपना विधान करते हैं वैसे ही अविद्या का या अन्य सांख्य, सौगत, जैन के सिद्धान्त का भी विधान ही कर देंगे न कि निषेध। पुनः वेदवाक्य का अर्थ अविद्या का परिहार करके मात्र सन्मात्र परमब्रह्मरूप ही है ऐसा आप कैसे कह सकोगे ? एवं 'प्रत्यक्ष निषेध करने वाला नहीं है' इस वाक्य के द्वारा आप निषेध का भी निषेध कैसे करेंगे ? यदि आप कहें कि प्रत्यक्ष से की गई परमब्रह्म की विधि ही तो अन्य पदार्थों का अभाव है। तब तो जैनधर्म के अनुसार आपके प्रत्यक्षादि प्रमाण भावाभावात्मक ही सिद्ध हो जाते हैं पुनः एकांत से वेदवाक्य का अर्थ विधि ही है यह बात सिद्ध नहीं होती है। भाट्ट कहता है कि इसलिये आप नियोग को ही प्रमाण मान लीजिये ऐसे प्रभाकर का अभी तक पक्ष रखा है। अब प्रभाकर सामने आता है तब उसको बुद्धू बनाकर भाट्ट अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुये भावनावाद को पुष्ट करते हैं।

विधिवाद के खंडन का सारांश

भाट्ट—आप कहें कि विधि ही वेदवाक्य का अर्थ है तो आपके विधिवाद में भी हम प्रश्न करेंगे कि—विधि प्रमाण है या प्रमेय, उभयरूप है या अनुभय रूप, शब्दव्यापार रूप है या पुरुष व्यापाररूप, उभयव्यापाररूप है या अनुभय व्यापाररूप है ? यदि आप विधि को प्रमाण कहेंगे तो आप ब्रह्माद्वैतवादियों के यहाँ अन्य प्रमेय और क्या होगा ? यदि आप विधि के स्वरूप को ही प्रमेय कहो तो सर्वथा निरंश, सन्मात्र देह वाली विधि प्रमाण और प्रमेय ऐसे दो रूप वाली कैसे होगी ? एवं प्रमाण प्रमेय को कल्पित कहने पर तो आप बौद्ध ही हो जावोगे, क्योंकि बौद्ध भी प्रमाण और प्रमेय दोनों को कल्पित—अन्यापोह रूप अर्थ से मानता है किन्तु अन्यापोह को वस्तु का कथन करने वाला नहीं मानता है एवं कल्पित उपनिषद्वाक्य से या हेतु से परब्रह्म का ज्ञान कैसे होगा ? यदि इन्हें वास्तविक कहोगे तो द्वैत आ जावेगा। दूसरी बात यह है कि ये उपनिषद्वाक्य अचित्स्वभाव हैं या चित्स्वभाव ? यदि अचित्स्वभाव कहो तो ब्रह्म से भिन्न अचेतन रूप होने से द्वैत हो गया। यदि चित्स्वभाव कहो तो प्रतिपादक—गुरु के चित्स्वभाव है या प्रतिपाद्य—शिष्य के अथवा दोनों के ? यदि गुरु का कहो तो शिष्य को ज्ञान नहीं होगा। यदि शिष्य का कहो तो गुरु को ज्ञान नहीं होगा, यदि दोनों का चित्स्वभाव मानों तो प्रश्न करने वाले अनेक मनुष्यों को ज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि ये आगम वाक्य और हेतु सभी के चित्स्वभाव हैं तो यह गुरु है, यह शिष्य है, ये प्राश्निक हैं इत्यादि भेद नहीं हो सकेंगे। यदि इन भेदों को अविद्या से मानों तो अविद्या गुरु में ही गुरु का बोध न कराकर शिष्य में गुरु का एवं गुरु में शिष्य का भी ज्ञान करा देगी, क्योंकि वह तो अविद्या ही है और वह एक ही है, सभी में अभिन्न रूप से समान काल में रहती है एवं अविद्या को अविद्या से कल्पित कहने पर तो विद्या ही सिद्ध हो गई अतः सभी में संकर दोष हो जावेगा, यदि आगमादि को ब्रह्म से भिन्न ही मानोगे तो बाह्य वस्तु के सिद्ध हो जाने से अद्वैतवाद समाप्त हो जावेगा।

यदि विधि को प्रमेय रूप मानो तो किसी भिन्न प्रमाण को मानना ही होगा पुनः द्वैत आ जावेगा। यदि उभयरूप कहो तो भी विरोध ही है। अनुभयरूप मानने पर तो खरविषाण के समान अवस्तु ही हो जावेगी। यदि पांचवां विकल्प लेवो तो भाट्ट के मत में प्रवेश होगा तथैव छठे में भी वही बात है। उभय के व्यापार से कहो, तो क्रम से या युगपत् ? इन दो विकल्पों से दोष आते हैं। एवं अनुभय व्यापाररूप विधि को कहो तो ये ही प्रश्न मौजूद हैं कि विधि विषय का स्वभाव है या फल का स्वभाव है अथवा निस्स्वभाव ? विषय का स्वभाव कहो तो निरालंबवाद में प्रवेश हो जाता है। तथैव फल का स्वभाव कहने पर भी वाक्य के काल में स्वर्गादि फल असंनिहित होने से निरालंबवाद ही आता है। निःस्वभाव कहो तो "वेदवाक्य का कुछ भी अर्थ नहीं है" ऐसा हो जाता है।

पुनरपि यह विधि सत् रूप है या असत् रूप, उभयरूप है या अनुभयरूप ? सत्रूप कहो तो किसी को भी विधेय नहीं होगी, पुरुष के समान। असत् कहो तो खरविषाण के समान हो जावेगी। उभयरूप कहो कि "दृष्टव्योरेयआत्मा" इत्यादि से असत्रूप है और पुरुषरूप से सत्रूप है तब तो द्वैत हो जावेगा। चतुर्थ पक्ष में सत् का निषेध होने से असत् की विधि होगी अथवा सर्वथा दोनों का निषेध होने से "कथंचित् सत्त्वासत्त्व" की विधि होगी तो जैनमत में प्रविष्ट हो जावोगे।

तथैव यह विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव ? यदि प्रवर्तक कहो तो बौद्धादिकों को भी विधि प्रवर्तक हो जावेगी। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो वेदवाक्य का अर्थ वह कैसे हो सकेगी ?

इसी प्रकार यह विधि फल रहित है या फल सहित ? फल रहित कहो तो नियोग के समान प्रवर्तक नहीं होगी। पुनः वेदवाक्यों का अभ्यास भी क्यों किया जावेगा ? फल सहित कहो तो फलार्थी-जनों की प्रवृत्ति स्वतः सिद्ध है, पुनः विधि के अर्थ से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अतएव जिस प्रकार से वेदवाक्य का अर्थ नियोग करने में अनेक दूषण आते हैं तथैव विधि अर्थ मानने में अनेक दूषण आते हैं। यदि आप विधि अर्थ को प्रमाण कहोगे तो नियोग को भी प्रमाण मानना होगा। अतएव हमारे द्वारा मान्य "भावना" ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा भाट्ट का कथन है उसका भी जैनाचार्य खंडन करेंगे।

[अधुनापर्यंतं भावनावादी भाट्टो नियोगवादं मीमांसकं चाश्रित्य विधिवादमदूषयत् अतःप्रभृति स्वपक्षं भावनावादं पोषयति]

[1]स [2]एव वाक्यार्थोऽस्त्वित्ययुक्तम्—[3]धात्व[4]र्थनियोगस्य [5]परोपवर्णितस्वरूपस्य वाक्यार्थतया प्रतीत्यभावात्–[6]सर्वत्र भावनाया[7] एव वाक्यार्थत्वप्रतीतेः। सा हि द्विधा; शब्दभावनार्थभावना च।

"शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव[8] लिङादयः[9]। [10]इयं [11]त्वन्यैव [12]सर्वार्था [13]सर्वाख्यातेषु [14]विद्यते"॥

इति वचनात्। तत्र शब्दभावना[15] शब्दव्यापारः[16]। [17]शब्देन हि पुरुषव्यापारो [18]भाव्यते, पुरुषव्यापारेण [19]धात्वर्थो[20], धात्वर्थेन [21]फलमिति।

[यहाँ तक भावनावादी भाट्ट ने नियोगवादी प्रभाकर के मत का अवलंबन लेकर एवं सौगत मत का भी आश्रय करके विधिवादी-वेदांती को दूषण दिया है अब स्वयं अपना पक्ष पुष्ट करता है।]

प्रभाकर—अतः आपके ही कथनानुसार हमारे द्वारा मान्य यह नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ हो जावे यही ठीक है। बाधा क्या है?

भावनावादी भाट्ट—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि धातु के अर्थ के समान आप प्रभाकर द्वारा वर्णित स्वरूप वाला नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है ऐसी प्रतीति नहीं आती है क्योंकि सर्वत्र—नियोग एवं विधि आदि के प्रतिपादक वैदिक एवं लौकिक वाक्यों में भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है। उस भावना के दो भेद हैं—(१) शब्दभावना (२) अर्थभावना। कहा भी है—

श्लोकार्थ—लिङ् लोट् आदि लकार अर्थभावना से भिन्न शब्दभावना और आत्मभावना को कहते हैं क्योंकि यह अर्थभावना सर्वार्थ—सभी लकारों के अर्थों का प्रतिपादन करने वाली है अतः सभी आख्यातों में विद्यमान है॥

उसमें शब्दव्यापार को शब्दभावना कहते हैं "अग्निष्टोमेन" इत्यादि शब्द के द्वारा पुरुष का व्यापार उत्पन्न किया जाता है। पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है तथा उस धातु के अर्थ से फल की सिद्धि होती है।

---

1 नियोगः। प्राभाकरः। 2 अतः। 3 अत्र भावनावादी वदति।—इति नियोगवादिवचोऽयुक्तम्—विधिवादवत्परोदितनियोगस्याप्यप्रमाणत्वात्। 4 सम्बन्धं धात्वर्थेन विधिः। 5 प्रभाकरः। 6 नियोगविध्यादिस्वरूपप्रतिपादके वैदिके लौकिके च वाक्ये। 7 तेन (वाक्येन) कृतिषु (प्राणक्रियासु) कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः (इष्टप्राप्तेः)। प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः। 8 अर्थभावनातो भिन्नाम्। 9 लिङ्लोट्लक्ष्याः कर्तारः। 10 अर्थभावना। करोति धात्वर्थलक्षणा वक्ष्यमाणेयं सर्वार्थप्रतिपादिनी भावना अन्यापूर्वोक्तायाः शब्दभावनातो भिन्ना। कुतः? सर्वाख्यातेषु विद्यमानत्वात्। 11 शब्दभावनातः। (व्या० प्र०) 12 सर्वोर्थो यजनादिर्यस्याः सा। 13 लिङादिषु। (व्या० प्र०) 14 यतः। (व्या० प्र०) 15 उत्पादकत्वं पुरुषव्यापारस्य। (व्या० प्र०) 16 प्रेरणात्मकं। (व्या० प्र०) 17 अग्निष्टोमेत्यादिना। 18 उत्पाद्यते। 19 धात्वर्था इति पा०। (व्या० प्र०) 20 यथा शब्दव्यापारः। 21 धात्वर्थस्य।

भावार्थ—भाट्टों के यहाँ शब्दभावना और अर्थभावना ये दो प्रकार की भावनाएँ मानी गई हैं। उनके ग्रन्थों में कथन है कि लिङ् लोट् और तव्य ये प्रत्यय शब्दभावना और अर्थभावना को ही कहते हैं। संपूर्ण अर्थों में व्याप्त "करोत्यर्थ" रूप अर्थभावना तो संपूर्ण तिङन्त से आख्यात—दशों लकारों में विद्यमान है। यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न ही है। इन दोनों भावनाओं में शब्द-भावना तो शब्द के व्यापार रूप है क्योंकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष व्यापार के द्वारा "यज्" "पच्" आदि धातुओं का अर्थ भावनारूप किया जाता है। तथा धातु के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टों का मत है, किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है क्योंकि शब्द का व्यापार शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है। "स्वर्ग की इच्छा रखने वाला पुरुष अग्निष्टोम वाक्य से यज्ञ को करे" इस प्रकार के शब्द से उस शब्द का व्यापार रूप यज्ञ प्रतिभासित नहीं होता है। वही शब्द अपने ही व्यापार का प्रतिपादक भला कैसे हो सकेगा ? एक ही शब्द स्वयं प्रतिपाद्य और प्रतिपादक इन दोनों रूप हो यह बात विरुद्ध है। वेदवाक्य के उच्चारण के समय प्रतिपादक शब्द का स्वरूप तो पहले से ही सिद्ध है और भविष्य में होने योग्य प्रतिपाद्य विषय का स्वरूप तो उस काल में असिद्ध है। अतएव अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि की भावना कराने वाले वाक्यों से अनुष्ठाता पुरुष का यज्ञ में प्रवृत्ति कराने रूप व्यापार कैसे भावित किया जावेगा तथा पुरुष के व्यापार से यज्ञ करने रूप धातु का अर्थ भी कैसे भावित किया जावेगा ? तथैव धातु के अर्थ से चिरकाल में होने वाला स्वर्ग नाम का फल कैसे भावनायुक्त किया जावेगा कि जिससे आप भाट्ट के कथनानुसार भावना करने योग्य, भावना करने वाला तथा भावना का कारण इन तीन रूप से तीन अंशों से परिपूर्ण होती हुई भावना का विचार किया जा सके अथवा तीन अंश वाली भावना आत्मा में विशेषतया भायी जा सके ? अतः शब्दभावना वाक्य का अर्थ नहीं है। यदि पुरुष का व्यापार भावना है तब तो पुरुष यज्ञादि के द्वारा स्वर्ग को भावित करता है, किन्तु इस प्रकार यज्ञ से भावित किया गया फल तो शब्द का अर्थ नहीं है। क्योंकि शब्द के बोलते समय स्वर्ग सन्निहित नहीं है। शब्द सुनने के पश्चात् न जाने कितने दिन बाद यज्ञ किया जावेगा और बहुत दिन पीछे मरने के बाद कदाचित् स्वर्ग मिल सकेगा अतः अनेक दूषणों से दूषित होने से 'भावना' वेदवाक्य का अर्थ नहीं है।

इस प्रकार से पुरुष के व्यापार में शब्द व्यापार के समान और धातु के अर्थ में पुरुष व्यापार के समान फल में जो धातु का अर्थ है वह भावना हो, ऐसा प्रसंग नहीं आता है। अर्थात् पुरुष के व्यापार में शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का जो व्यापार है वह भावना है। उसी प्रकार से फल में धात्वर्थ भावना नहीं है अन्यथा वह शुद्ध धात्वर्थ सन्मात्ररूप होने से विधि—ब्रह्माद्वैत रूप हो जावेगा किन्तु ऐसा है नहीं।

न [1]चैवं पुरुष[2]व्यापारे [3]शब्दव्यापार[4]वद्भावार्थे च पुरुषव्यापारवत् फले धात्वर्थो भावनानुषज्यते[5]—[6]तस्य [7]शुद्धस्य सन्मात्ररूपतया विधिरूपत्वप्रसङ्गात्। तदुक्तम्।—

"[8]सत्ताद्यं [9]भावलिङ्गं [10]स्यादसंपृक्तं तु कारकैः[11]। धात्वर्थः[12] केवलः[13] शुद्धो[14] भाव इत्यभिधीयते॥ [15]तां [16]प्रातिपदिकार्थाश्च धात्वर्थं च प्रचक्षते। सा सत्ता सा महाञ्जात्मा [17]यामङ्गुस्त्वातलादयः॥"

इति च [18]प्रतिक्षिप्तश्च[19]चैवंविधो विधिवादो नियोगवादिनैवेति नास्माक[20]मत्रादरः

[अर्थात् वह भावार्थ सत्तारूप है या यजनादि रूप है अथवा क्रियारूप है ? इत्यादि रूप से भाट्ट तीन विकल्प करके अन्य से दूषण दिलाते हैं।]

यदि भावार्थ को शुद्ध सन्मात्र मानो तो वह विधिरूप ही सिद्ध होगा। कहा भी है—

श्लोकार्थ—जो कारकों के संपर्क से रहित सन्मात्र, भावलिंग है एवं केवल—भिन्न अर्थ से रहित शुद्ध (अपने अन्तर्गत विशेषों से रहित) भाव है वह भावार्थ कहलाता है॥१॥

श्लोकार्थ—ज्ञानीजन प्रातिपदिक अर्थ को और धातु के अर्थ को सत्ता कहते हैं तथा वह सत्ता ही महान् आत्मा (परब्रह्म) स्वरूप है। उस सत्ता को ही "त्व और तल्" आदि प्रत्यय द्योतित करते हैं॥२॥

प्रातिपदिक शब्द का अर्थ—पाणिनि व्याकरण में धातु और प्रत्यय से रहित अर्थवान् शब्द को "प्रातिपदिक" कहते हैं एवं कातंत्रव्याकरण में "धातु विभक्तिवर्जमर्थवल्लिंगं" सूत्र से उसे लिंग संज्ञा है एवं जैनेन्द्र व्याकरण में इसे "सुप्" संज्ञा दी है।

इस प्रकार के विधिवाद का नियोगवादी के द्वारा निरसन कर दिया गया है अतः हम भावनावादी भाट्टों को इस विधिवाद के निराकरण करने में विशेष आदर नहीं है। यदि आप कहें कि सन्मात्र से भिन्न यजनादि रूप ही भावार्थ है तब तो वह भी प्रत्यय के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि वाक्य से प्रतीति में नहीं आता है प्रत्युत प्रत्यय सहित ही वह धातु का अर्थ उस वाक्य से जाना जाता है। अर्थात् प्रत्ययार्थ विशेषणभूत का ही उससे ज्ञान होता है।

---

1 भावार्थस्य यजनक्रियात्मकत्वप्रकारेण। 2 कर्तृस्थके पुरुषव्यापारः इति प्रथमान्तेन पाठः। 3 स्वेन क्रियमाणे पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा शब्दभावना। (व्या० प्र०) 4 यथा शब्दव्यापारः। 5 पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा भावार्थे पुरुषव्यापारो भावना तथा फले धात्वर्थो भावना न। 6 भावार्थस्य। 7 स हि भावार्थः सन्मात्ररूपो वा यजनादिरूपो वा क्रियारूपो वेति विकल्पत्रयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयति भाट्टः। 8 भाव इति लिङ्गम्। 9 विधिव्यापकं। (व्या० प्र०) 10 सतः। (व्या० प्र०) 11 यागादिविशेषणरहितः। (व्या० प्र०) 12 अर्थान्तररहितः। 13 स्वान्तर्वर्तिविशेषरहितः। 14 सत्ताम्। 15 विधित्वादिरहितानामर्थः। (व्या० प्र०) 16 अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमिति पाणिनिसूत्रेण सम्यक् संज्ञा। 17 परब्रह्म। 18 शुद्धभावार्थस्य। (व्या० प्र०) 19 एवं नियोगवादिना भावार्थशब्दार्थादः प्रतिक्षिप्तः तथा विधिवादः प्रतिक्षिप्तः। 20 भावनावादिनां विधिवादनिराकरणे।

तरामादरः। [1]अथ[2] [3]ततोन्यो[4] धात्वर्थः[5] सोपि न [6]प्रत्ययार्थशून्यः [7]कुतश्चिद्वाक्यात्प्रतीयते—[8]तङ्[9]पार्श्वेरेव तस्य ततः सम्प्रत्ययात्। [10]प्रत्ययार्थस्तत्र[11] प्रतिभासमानोपि न प्रधानं [12]कर्मादिवदन्य[13]त्रापि भावादिति चेत् [14]तर्हि धात्वर्थो यजनादिः प्रधानं मा भूत् [15]प्रत्ययान्तरेपि[16] भावात् प्रकृत[17]प्रत्ययापायेपीति समानं पश्यामः[18]। [19]यदि पुनः [20]क्रिया सकलव्यापिनी-धात्वर्थः—सर्वधातुषु भावात् तदा सैव [21]भावना किं नेष्यते—[22]सर्वार्थेषु सद्भावात्। यथैव हि जुहुयाज्जुहोतु हौतव्यमिति लिङादयः[23] क्रिया हवनावच्छिन्ना[24] प्रतिपादयन्ति तथा सर्वाख्यात-

---

विधिवादी—प्रत्यय का अर्थ उस धातु के अर्थ में प्रतिभासित होता हुआ भी प्रधान नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय का अर्थ कर्म करण आदि के समान अन्यत्र—धात्वंतर (भिन्न धातुओं) में भी विद्यमान है।

भाट्ट—तब तो धातु का अर्थ यजन आदि भी प्रधान नहीं होवे क्योंकि प्रकृत प्रत्यय (लिङ् लोट् तव्य) के अभाव में भी प्रत्ययांतर में विद्यमान है। इस प्रकार से हम भावनावादी और आप विधिवादी दोनों के प्रति दूषण समान ही दीखते हैं।

यदि पुनः सकल व्यापिनी क्रिया धातु का अर्थ है क्योंकि सभी धातुओं में विद्यमान है तो उसी को ही भावना-पुरुषभावना रूप क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हो, क्योंकि वह क्रिया सभी यजनादि लक्षण अर्थों में मौजूद है। अर्थात् भावनावादी कहता है कि हे विधिवादिन्! आपके द्वारा स्वीकृत सन्मात्र—सत्तामात्र परम ब्रह्म ही धातु का अर्थ नहीं है क्योंकि सकलव्यापिनी—सभी धातुओं में व्याप्त "करोति" इस अर्थ के लक्षण वाली क्रिया संभव है ऐसा "करोति" क्रिया लक्षण धात्वर्थ यदि आप स्वीकार कर लेते हो तब तो हम लोग भी उसी सर्वव्यापिनी क्रिया को "भावना-पुरुषभावना रूप" क्यों नहीं स्वीकार करेंगे अपितु करेंगे ही। क्योंकि सभी अर्थों में और सभी आख्यातों में वह क्रिया संभव है।

---

1 योगाचारः। (ब्या० प्र०) 2 द्वितीयविकल्पः (भाट्टः)। 3 भावनावादाह—हे विधिवादिन् एवं किं तवाभिप्रायः। ततः सन्मात्रादन्य एव धात्वर्थः इति तदा—सोपि धात्वर्थः प्रत्ययार्थरहितो न दृश्यते। 4 यजनादिः। 5 यजनादिः। (ब्या० प्र०) 6 लिङादर्थः करोत्यर्थव्याप्तः। 7 अग्निहोत्रादेः। 8 प्रत्ययसहितस्यैव तस्य धात्वर्थस्य ततो वाक्यात्प्रत्ययो भवति। 9 स प्रत्ययार्थो उपाधिविशेषेण यस्य स तथोक्तस्तस्य तदुपाधेः प्रत्ययार्थविशेषेण भूतस्य सम्प्रत्ययात्। 10 प्रभाकरः। विधिवादाह। 11 धात्वर्थे। 12 कर्मकरणादेर्यथान्यत्र भावो विद्यते। 13 धात्वन्तरे। 14 भाट्टः। 15 धात्वर्थान्तरे। 16 लडादौ। (ब्या० प्र०) 17 लिङ्लोट्तव्य। 18 एवं भावनावादिनः हे विधिवादिन् तव मम च तुल्यं दूषणं पश्यामः। 19 (तृतीयो विकल्पः) भावनावादी प्राहः।—हे विधिवादिन् भवदभ्युपगतः सन्मात्रस्वभावद्वात्कर्मो न। यदि पुनः सकलव्यापिनी करोत्यर्थलक्षणा क्रिया सर्वधातुषु सन्मात्राद्धात्वर्थस्तथाभ्युपगम्यते तदा-स्माभिः सैव सर्वव्यापिनी क्रिया भावना किं नेष्यते। अपि त्वभ्युपगम्यते। कुतः? सर्वार्थेषु सर्वाख्यातेषु च तस्याः सद्भावात्। 20 यजनाराधनादिक्रिया। 21 पुरुषभावना। 22 यजनादिलक्षणेषु लक्षणेषु च। 23 लोट् तव्य। (ब्या० प्र०) 24 हवनविशिष्टाम्।

[1]प्रत्यया अपि—पचति पपाच पक्ष्यतीति पचनावच्छिन्नायाः क्रियाया एव प्रतिपत्तेः। [2]पाकं करोति चकार करिष्यतीति[3]। [4]तथा च लिङादिप्रत्ययप्रत्याय्यः[5] करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इत्यायातम्। [6]स च [7]भावनास्वभाव[8] एवेति न [9]शात्वर्य एव वाक्यार्थतया प्रतीयते। [10]नापि कार्यादिरूपो[11] नियोगः।

जिस प्रकार से "जुहुयात्, जुहोतु, होतव्य" (हवन करना चाहिये) इस प्रकार के लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय हवन से विशिष्ट क्रिया को प्रतिपादित करते हैं उसी प्रकार से सर्वविख्यात प्रत्यय—लट् लकारादि भी प्रतिपादित करते हैं क्योंकि "पचति, पपाच, पक्ष्यति" इस प्रकार से पचन से अविच्छिन्न —व्याप्त क्रिया ही जानी जाती है। उस क्रिया से वह पाक को करता है, किया था और करेगा इत्यादि ज्ञान होता है। इस प्रकार से क्रिया को भावना मान लेने पर लिङादि प्रत्यय से जानने योग्य 'करोति' का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ होता है यह बात सिद्ध हो जाती है और वह आत्मा शुद्ध भावना स्वभाव ही है इसलिये यह तीन प्रकार का शात्वर्थ ही वाक्यार्थ-वेद के अर्थ रूप से प्रतीति में नहीं आता है और न कार्यादिरूप नियोग ही वेद के अर्थ रूप से प्रतीति में आता है।

विशेषार्थ—वेदवाक्यों में विधिलिङ् लोट् और तव्य प्रत्यय पाये जाते हैं यथा "अग्निष्टोमेन यजेत्"। इस "यजेत" क्रियारूप पद में विधिलिङ् है तथैव यजताम् और यष्टव्यं में लोट् और तव्य प्रत्यय हैं। व्याकरण के नियम के अनुसार मूल में दो तरह के शब्द होते हैं प्रकृति और धातु। पुरुष या धर्म शब्द प्रकृतिरूप हैं और भू, पच्, पठि आदि धातु कहलाते हैं। कातंत्रव्याकरण में "धातुविभक्ति-वर्जयमर्थवल्लिंगं" इस सूत्र के अनुसार धातु और विभक्ति से रहित अर्थवान् पुरुष, धर्म आदि शब्दों को लिंग संज्ञा है। सिद्धांतकौमुदी में इसकी प्रातिपदिक संज्ञा है और जैनेन्द्र व्याकरण में इसी को नृत संज्ञा है। इस नृत संज्ञक शुद्ध प्रकृति रूप शब्दों से विभक्ति सु औ जस् अम् आदि आकर इस एक पुरुष शब्द को ही एकवचन, द्विवचन, बहुवचन एवं कर्ता कर्म करण आदि रूप सिद्ध कर देती हैं। जैसे 'पुरुषः' का अर्थ एक पुरुष है तो "पुरुषौ" का अर्थ दो पुरुष हो जाता है तथा "पुरुषं" का अर्थ "पुरुष को" हुआ, तो "पुरुषेण" का अर्थ "पुरुष के द्वारा" हो जाता है। अतः प्रकृति और विभक्ति अर्थात् प्रत्यय मिलकर ही अर्थ को प्रकट करते हैं। उसी प्रकार से तिङन्त में भी 'भू, कृ' आदि धातु हैं इनसे दश लकार से संबंधित मि, वस्, मस् आदि विभक्तियाँ आती हैं एवं कृदंत प्रकरण के अनुसार 'तव्य तृच्' आदि प्रत्यय भी आते हैं तभी इनका अर्थ स्पष्ट होता है। शुद्ध प्रकृति या धातु में यदि प्रत्यय के द्वारा विकार उत्पन्न न होवे तो वे ज्यों के त्यों पड़े रहेंगे उन शुद्ध प्रकृति या धातु से कोई भी वाक्य रचना नहीं बनेगी। हाँ! उनमें प्रत्यय के लग जाने पर विकार के उत्पन्न हो जाने से वे अनेक अर्थों को प्रकट करने लग जाते हैं। जैसे 'जिन यजेत्', "धर्ममाश्रयामि, अहं गच्छामि" आदि वाक्य रचना एक-एक पदों के मिलाने से ही बनी है और "सुप्तिङन्तं पदं" इस सूत्र के अनुसार सुप् आदि विभक्तियाँ

---

1 लक्षणम्। 2 केन प्रकारेण प्रतिपत्तिरित्युक्ते आह। 3 अनेन। (ब्या० प्र०) 4 क्रियाया एव भावनात्वे च। 5 ज्ञाप्यः। (ब्या० प्र०) 6 आत्मा। 7 शुद्धभावना। 8 पुरुष। (ब्या० प्र०) 9 त्रिविधोपि शात्वर्यः। 10 भाट्टः। 11 वाक्यार्थतया न प्रतीयते।

एवं मिबादि (तिबादि) प्रत्ययों के लगने से ही अन्तों की पद संज्ञा होती है और पदों के समुदाय को वाक्य संज्ञा होती है। अब यहाँ विचार इस बात का करना है कि 'यजेत' पद में जो लिङ् प्रत्यय पड़ा है उसका क्या अर्थ है। प्रभाकर तो शुद्ध मात्र प्रत्यय के अर्थ को ही नियोग कहते हैं उनका कहना है कि "अग्निष्टोमेन यजेत्" वाक्य सुनकर "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन" इस प्रकार मैं इस वाक्य के द्वारा यज्ञ कर्म में नियुक्त हो जाता हूँ। विधिवादी कहते हैं कि शुद्ध यज् धातु का जो अर्थ है वह सत्तामात्र है, वही विधि अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है। अर्थात् इस 'यजेत' पद में जो धातु का अर्थ है उसी धात्वर्थ को यह वाक्य कहता है।

भावनावादी कहता है कि यह उपर्युक्त वाक्य न केवल धातु अर्थ को ही कहता है और न ही केवल प्रत्यय के अर्थ को ही कहता है किन्तु इसमें जो "यज्ञ को करे" इस रूप से करोति क्रिया का अर्थ है वही भावना है। अतः 'यजेत' यह वाक्य, भावना अर्थ को ही कहता है। उनके ग्रंथों में कथन है कि—लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय मात्र प्रत्यय के अर्थ रूप अर्थभावना से भिन्न ही शब्दभावना और आत्मभावना को कहते हैं। हाँ! संपूर्ण अर्थों में व्याप्त हो रही "करोत्यर्थ" रूप अर्थभावना से भिन्न ही है जो कि भवति, पचति, यजति आदि संपूर्ण तिङन्त-आख्यात दशों लकारों में विद्यमान है यह अर्थभावना शब्दभावना से भिन्न है। इन दोनों भावनाओं में शब्दभावना तो शब्द का व्यापार स्वरूप है क्योंकि शब्द के द्वारा ही पुरुष का व्यापार भावित किया जाता है और पुरुष के व्यापार से यज्, पच् आदि धातु का अर्थ भावित किया जाता है तथा धातुओं के अर्थ से फल भावित किया जाता है यह शब्दभावनावादी भाट्टों का मत है। इस भाट्ट के धात्वर्थ के विषय में तीन विकल्प उठाकर दूषण दिखाये हैं। यथा—

यह धात्वर्थ शुद्ध सन्मात्र रूप है, यजनादि रूप है, या क्रिया रूप है? यदि धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र अर्थ ही मानों तब तो वह विधि रूप है क्योंकि जो कर्ता, कर्म आदि कारकों से रहित, भिन्न अर्थों से रहित, अपने अन्तर्गत विशेषों से रहित केवल भावमात्र है वही धात्वर्थ है उस सत्ता को और प्रातिपदिक अर्थ—अर्थवान् शब्द को ही धात्वर्थ कहते हैं। वह सत्ता ही महान् आत्मा है परमब्रह्म स्वरूप है। त्व, तल् और अण् आदि प्रत्यय उसको प्रकट करते हैं जैसे ब्राह्मणता, ब्राह्मणत्व, पांडित्य आदि सब भाववाची हैं। त्व, तल् यज् आदि प्रत्ययों से प्रकट हो रहे हैं। इस प्रकार से यदि प्रथम पक्ष रूप से धात्वर्थ को शुद्ध सन्मात्र मानों तो विधिवाद हो आ जाता है जो कि हम भाट्टों को इष्ट नहीं है। यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि सन्मात्र से भिन्न यजनादि रूप धात्वर्थ है तब तो वह प्रत्ययों के अर्थ से शून्य होने से किसी अग्निहोत्रादि वाक्य से प्रतीति में नहीं आ रहा है प्रत्युत् वाक्य के द्वारा प्रत्यय से सहित ही धातु का अर्थ प्रतीति में आता है।

इस बीच में विधिवादी बोल पड़ता है कि भले ही यज् धातु के अर्थ में लिङ् प्रत्यय का अर्थ प्रतिभासित हो रहा हो किन्तु वह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नहीं है क्योंकि वह प्रत्यय का अर्थ भिन्न-भिन्न अनेकों धातुओं में भी पाया जाता है, अतः धात्वर्थ ही प्रधान है। इस पर पुनः भाट्ट कहता है कि हम इससे विपरीत भी कह सकते हैं कि यज्, पच् आदि धातु का अर्थ भी प्रधान नहीं है क्योंकि प्रकरण प्राप्त लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्ययों के अतिरिक्त भी लट्, लिट्, लृट् आदि अनेकों भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में आपका यज्, पच् आदि धातु का अर्थ विद्यमान है। अर्थात् जैसे यजेत् यजता आदि में विधिलिङ् लोट् प्रत्यय का अर्थ है यज्ञ करना चाहिये, यज्ञ करो। किन्तु यह प्रत्यय का अर्थ प्रधान नहीं है, मात्र यज्ञ रूप धातु का भाव अर्थ ही प्रधान है, तब यज् धातु भी लिङादि प्रत्ययों के अतिरिक्त यजति, इयाज, यष्टा आदि के लट्, लिट्, लृट् आदि भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में पाया जाता है जिसका अर्थ—यज्ञ को करता है, यज्ञ किया था, यज्ञ करने वाला आदि हो जाता है। यह यज् धातु भी अनेकों प्रत्ययों में चली जाती है अतः धातु के प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानो क्योंकि अनेकों प्रत्ययों में धातुएँ व्याप्त रहती हैं। विधिवादी कहता है कि धातु का अर्थ तो सम्पूर्ण ही लिङ्, लिट्, लुट् आदि प्रत्ययों में मांला में डाले हुये सूत्र के समान ओत-प्रोत है अतः धातु अर्थ प्रधान है इस पर भाट्ट कहता है कि इस प्रकार से तो सम्पूर्ण यजि, पचि, भू, कृ आदि धातुओं के अर्थों में पीछे-पीछे चलता हुआ प्रत्यय का अर्थ भी तो अन्वय रूप हो रहा है अतः प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान मानना चाहिये। यदि आप अद्वैतवादी यों कहें कि विशेष-विशेष रूप प्रत्यय का अर्थ तो सभी धातुओं के अर्थों में अन्वय रूप नहीं है जैसे एक विवक्षित तिप् या तस् विभक्ति (प्रत्यय) का अर्थ सभी सिप्, वस्, लुट्, क्त, क्तवतु आदि प्रत्यय वाले धातु के अर्थों में अन्वय रूप नहीं है। इस पर हम भाट्टों का भी यही कथन है कि विशेष रूप से एक यज् धातु का अर्थ भी पच्, गम् आदि धातुओं के साथ लगे हुये प्रत्ययों के अर्थों में ओत-प्रोत हो करके कहाँ रहता है। हाँ! सामान्य रूप से धातु का अर्थ सम्पूर्ण प्रत्ययों के अर्थों में अन्वित है। इसलिये आप धातु के अर्थ को प्रधान कहेंगे तो हम प्रत्ययों के अर्थ को प्रधान कहने लगेंगे यह प्रश्नोत्तरमाला दोनों मान्यताओं में समान ही है अतएव वेदवाक्य का अर्थ "शुद्ध धात्वर्थ रूप सन्मात्र है" यह कथन भी गलत है एवं वेदवाक्य का अर्थ "धातु के प्रत्यय के अर्थ रूप ही है" यह भी गलत है। हाँ! यदि आप तृतीय पक्ष लेते हो कि धातु का अर्थ क्रियारूप है तब तो ठीक ही है क्योंकि "करोति" अर्थ लक्षण वाली क्रिया सभी धातुओं में विद्यमान है। ऐसा करोति क्रिया लक्षण धात्वर्थ यदि आप मान लेवें तब तो हमारे भावनावाद का ही पोषण हो जाता है क्योंकि सभी अर्थों में और सभी लकारों में वह करोति क्रिया व्याप्त है, वही तो भावना है। जैसे जुहोतु, जुहुयात्, होतव्य से लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय हवन से विशिष्ट क्रिया को बतलाते हैं उसी प्रकार से सभी लट्, लिट् आदि लकार भी बतलाते हैं। जैसे "डांग करोति, चकार, करिष्यति" ये क्रियायें भी अथवा "पचति, पाकं करोति" आदि क्रियायें भी सर्वत्र करोति अर्थ को ही बतलाती हैं। पकाता है, पाक को करता है। यजति, यागं करोति यजता है, यज्ञ को करता है इत्यादि में करोति क्रिया ही प्रधान है यही वेदवाक्य का अर्थ है। ऐसे भावनावादी ने अपना पक्ष पुष्ट किया है।

[शब्दव्यापारकरण शब्दभावनैव नियोग इति प्रभाकरेण मन्यमाने सति भाट्टः तन्निराकरोति]

[1]ननु [2]शब्दव्यापाररूपो नियोगः प्रतीयत[3] एव। शब्दो हि स्वव्यापारस्य पुरुषव्यापारकरण[4]लक्षणस्य प्रतिपादको[5], न पुनः कारकः शब्दादुच्चरिताभियुक्तोऽहमनेनेति[6] प्रतिपत्तृणां प्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तेरिति[7] चेत् [8]तर्हि [9]भावनैव नियोग इति शब्दान्तरेणोक्ता स्यात्। तदुक्तम्।—

शब्दादुच्चरितादात्मा[10] नियुक्तो गम्यते नरैः[11]। भावनातः[12] परः को[13]ऽत्र नियोगः परिकल्प्यताम्॥ इति।

[गृहीतसंकेतः शब्दोऽर्थं प्रत्यायति अगृहीतसंकेतोवास्य विचारः क्रियते]

[14]स्यान्मतम्।—यदि शब्दव्यापारो भावना कथमगृहीतसङ्केतो[15] नैव[16] गच्छति

["शब्दव्यापाररूप शब्दभावना ही नियोग है" ऐसा प्रभाकर के द्वारा मानने पर भाट्ट कहता है कि आपने भावना को ही नियोग नाम अब दिया है वास्तव में भावना ही प्रतीति में आती है।]

प्रभाकर—अग्निहोत्रादि शब्द का व्यापार रूप नियोग ही वेदवाक्य के अर्थरूप से प्रतीति में आता है; क्योंकि शब्द पुरुषव्यापारकरण लक्षण (कार्यरूप व्यापार के प्रति साधकतम कारण) अपने व्यापार का प्रतिपादक है—"ऐसा करो" इस प्रकार से शब्द ही प्रापक है किन्तु कारक नहीं है। अन्यथा उच्चारण किये गये शब्द से "मैं इस शब्द से नियुक्त हुआ हूँ" इस प्रकार से श्रोता पुरुषों को ज्ञान नहीं हो सकेगा। अन्यथा—शब्दोच्चारण के अभाव में "नियुक्तोऽहमनेन" इस प्रकार की प्रतिपत्ता—ज्ञाताओं को अनुपपत्ति—प्रतीति नहीं होती है। यह "अन्यथानुपपत्ति" का स्पष्टीकरण है।

भाट्ट—तब तो भावना ही नियोग है उसी को आपने शब्दान्तर—"शब्दभावना" इस भिन्न शब्द से कह दिया है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—उच्चारण किये गये शब्द से आत्मा नियुक्त है ऐसा मनुष्यों के द्वारा जाना जाता है इसलिए शब्दभावना से भिन्न कोई नियोग है ऐसी कल्पना क्यों करना? अर्थात् नहीं करना चाहिये।

[संकेत ग्रहण किये हुए शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं या बिना संकेत ग्रहण किये हुए ही शब्द अर्थ का ज्ञान कराते हैं? इस पर विचार किया जा रहा है]

सौगत—यदि शब्द के व्यापाररूप भावना है तब तो संकेत को ग्रहण न करने वाला पुरुष

---

1 प्रभाकरः। 2 अग्निहोत्रादि। 3 वाक्यार्थतया। 4 कृतिरूपव्यापारं प्रति साधकतमत्वलक्षणमस्येति। 5 प्रापकं। एवं सर्वत्रेति। 6 शब्देन। 7 अन्यथा शब्दोच्चारणाभावे नियुक्तोऽहमनेनेति प्रतिपत्तृणां प्रतिपत्तिर्नोपपद्यते। 8 भाट्टः। 9 शब्दभावना। 10 स्वरूपम्। 11 अतः। (ब्या० प्र०) 12 शब्दभावनातः। 13 न कोपीत्यर्थः। 14 सुगतस्य। 15 प्रेरणा। 16 गमयत्यर्थतीति पाठान्तरम्।

नियुक्तोऽहमनेनेति स्वभावतस्तस्य[1] नियोजकत्वात्। सङ्केतग्रहण[2]स्यानुपयोगित्वादिति [3]तदप्यसमीचीनमेव—सङ्केतस्य[4] तथाज्ञप्तौ[5] सहकारित्वात्[6]—सामग्री जनिका नैकं [7]कारणमिति प्रसिद्धेः। [8]ननु च सङ्केतसामग्री[9] न [10]प्रेरणे भावनायां[11] वा व्याप्रियते—[12]अर्थवेदने तस्याः प्रवृत्तेः[13]—[14]अर्थप्रतीतौ[15]पुरुषस्य [16]स्वयमेव [17]तत्र तदर्थितया [18]प्रवृत्तेः। [19]इदं कुर्विति[20]

"नियुक्तोऽहमनेन" इस प्रकार से क्यों नहीं जानता क्योंकि आपके मत से शब्द तो स्वभाव से ही नियोजक है। अतः संकेत का ग्रहण करना अनुपयोगी ही है।

भट्ट—आप बौद्धों का जो यह कथन है वह भी समीचीन नहीं है। "इस शब्द का यह अर्थ है" ऐसा संकेत उस प्रकार के ज्ञान में सहकारी कारण है अर्थात् संकेत को ग्रहण करने की शब्द में योग्यता नहीं है क्योंकि संकेत को ग्रहण करने वाला ज्ञान है न कि शब्द। सामग्री कार्य की जनक होती है तथा कोई भी कार्य एक कारण जन्य नहीं है यह बात प्रसिद्ध है।

बौद्ध—संकेत लक्षण सामग्री प्रेरणा में-नियोग में अथवा भावना-शब्द और पुरुषरूप भावना में व्यापार नहीं करती है किन्तु अर्थसंवेदन—अर्थ के ज्ञान में उस संकेत सामग्री की प्रवृत्ति है अर्थात् सामग्री अर्थ के ज्ञान में ही प्रवृत्ति करती है किन्तु स्थिर, स्थूल, साधारण आकार रूप बाह्य पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं करती है। यदि संकेत लक्षण सामग्री अर्थ ज्ञान में व्यापार न करे तब तो पुरुष की अर्थ में प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी, किन्तु जल का ज्ञान होने पर पुरुष उसमें स्नानादि की प्रवृत्ति करता है ऐसा देखा जाता है। अर्थ की प्रतीति होने पर पुरुष स्वयमेव-नियोग और भावना से निरपेक्ष रूप ही उस अर्थ में तदर्थी रूप से प्रवृत्ति करता है क्योंकि संकेत सामग्री से अर्थ का परिज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति घटित होती है। "इदं कुरु" इस प्रकार से प्रेषण और अध्येषण रूप लिङ् अर्थ की ही प्रतीति होती है। यदि उसकी प्रतीति न मानो तो नियुक्तत्व का ज्ञान नहीं होगा और

---

1 शब्दस्य यतः स्वभावेन नियोजकत्वम्। 2 कथमेवमध्याहारः। 3 तस्मादकुशल भट्टः प्राह। 4 अस्य शब्दस्यायमर्थ इति सङ्केतः। 5 सङ्केतग्रहणे शब्दस्यायोग्यत्वात् सङ्केतग्राहकं ज्ञानं न तु शब्दः। 6 एवंकृतः। (व्या० प्र०) 7 कार्यस्य। 8 बौद्धः। 9 सङ्केतलक्षणा सामग्री। 10 प्रेरणायामिति वा पाठः। नियोगे। 11 तत्प्रयरूपायाम्। 12 यदिसङ्केतसामग्री न तत्र व्याप्रियते तदा पुरुषस्य कथमर्थे प्रवृत्तिरित्युक्ते आह। 13 अर्थसंवेदने सामान्यात्मनः प्रवृत्तिर्न तु स्थिरस्थूलसाधारणाकारे बाह्यार्थे। (व्या० प्र०) 14 संकेतसामग्री यदि न तत्र व्याप्रियेत पुरुषस्यार्थे प्रवृत्तिः कथमित्युक्ते आह। (व्या० प्र०) 15 सत्याम्। 16 नियोगभावनानिरपेक्षतया। 17 अर्थे। 18 सङ्केतसामग्र्या अर्थपरिज्ञाने सति प्रवृत्तिघटनात्। 19 किञ्च भावना हि प्रेषणाध्येषणारूपा। सा च प्रयोक्तव्यप्रयोजकद्वयी विना तयोश्च वाच्यमानप्रतीतिकत्वेनाऽसत्त्वात्कुतः सा भावना? यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकामः। किञ्च प्रेषणाध्येषणयोरपि बहिरर्थैकमतया न ताभ्यां प्रतीतिरस्ति बुद्धाकारपरत्वेनार्थस्य ज्ञेयत्वाच्च-तस्मात्कर्थं तद्रूपा भावना शब्दाभिधेयो यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकामः इदं कुर्वित्याद्यारभ्य प्रज्ञाकर इति-पर्यन्तं प्राह। 20 अनेन प्रकारेण। (व्या० प्र०)

[1]प्रेषणाद्ध्येषणयोरेव[2] हि प्रतीतिः—[3]तदप्रतीतौ [4]नियुक्तत्वाप्रतिपत्तेः। नियुक्तत्वं च नाम [5]कार्ये व्यापारितत्वम्[6]। कार्ये [7]व्यापृततामवस्थां प्रतिपद्य[8] नियोजको[9] नियुङ्क्ते[10]। सा च तस्य[11] भाविन्यवस्था न स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं शक्या। स्वरूपसाक्षात्करणे हि[12] सर्वं तदैव[13] सिद्धमिति न नियोगः[14] स्यात्सफलः। ततः प्रयोजको[15] बाध्यमानप्रतीतिक एव। तदुक्तम्।—

यथा प्रयोजकस्तत्र[16] बाध्यमानप्रतीतिकः। [17]प्रयोज्योपि [18]तथैव [19]स्याच्छब्दो [20]बुद्ध्यर्थबाधकः॥

यथैव हि [21]प्रयोजकस्य शब्दस्य प्रयोज्येन पुरुषेण [22]स्वव्यापारशून्यमात्मानं प्रतीयता प्रयोजकत्व-

---

नियोज्य-पुरुष का कार्य में व्यापार कराना ही नियुक्तत्व है। कार्य में व्यापृत-प्रवृत्त हुई अवस्था को जान करके नियोजक-शब्द नियुक्त करता है और वह उस नियोजक की भाविनी-भविष्य में होने वाली अवस्था है उसका स्वरूप से साक्षात्कार करना शक्य नहीं है। क्योंकि स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने पर तो सभी उस काल में ही सिद्ध हो जावेंगे। अर्थात् "अग्निष्टोम" इत्यादि वाक्यों से यज्ञादि का करना और स्वर्ग को प्राप्त कराने के लिए निमित्तभूत पुण्य का उपार्जन ये सब कार्य उस काल में निष्पन्न ही हैं; पुनः नियोग का मानना सफल नहीं हो सकेगा इसलिये प्रयोजक बाध्यमान प्रतीति वाला ही है। यहाँ नियोग शब्द से प्रेरणा रूप भावना ग्रहण करना चाहिये। कहा भी है—

श्लोकार्थ—जिस प्रकार से भावीकार्य से व्यापृत अवस्था वाले नियोज्य में बाध्यमान प्रतीति-वाला प्रयोजक है उसी प्रकार से प्रयोज्य-पुरुष भी बाध्यमान प्रतीतिक-काल्पनिक ही है क्योंकि शब्द बुद्धि से परिकल्पित ही अर्थ का वाचक है॥

जिस प्रकार से प्रयोजक (प्रेरक) शब्द में यागविषयक स्वव्यापार से शून्य आत्मा का निश्चय कराते हुए प्रयोज्य पुरुष के द्वारा प्रयोजकत्व की प्रतीति बाध्यमान होती हुई निरालंबन है उसी प्रकार से प्रयोज्यत्व प्रतीति भी बाध्यमान होती हुई निरालंबन है तथा यज्ञसम्बन्ध स्वव्यापार में अप्रविष्ट आत्मा का निश्चय न कराते हुए प्रयोज्य पुरुष के द्वारा ही वह बाधित हो जाती है। अथवा टिप्पणी

---

1 निरर्थयोः। 2 सत्कारपूर्वकव्यापार। (ब्या० प्र०) 3 कर्मणिस्वरूपं। (ब्या० प्र०) 4 सत्वर्थस्य। (ब्या० प्र०) 5 नियोज्यस्य। (ब्या० प्र०)6नियोज्यस्य। 7 व्यापृतामवस्थामिति पाठः। 8 आत्मना स्वीकृत्य। 9 शब्दव्यापारा-परपर्यायप्रेरणादिरूपः शब्दः। 10 अर्थं नियोज्यं। (ब्या० प्र०) 11 नियोजकस्य। 12 व्यापृता वस्तुकार्यं चेति। (ब्या० प्र०) 13 अग्निष्टोमेन यागादिकरणं स्वर्गप्रापणनिमित्तपुण्योपार्जनं च सर्वं निष्पन्नमेव तस्मिन्नेव काले। 14 स्वव्यापारे अविशिष्टं सहितमित्यर्थः। नियोगे शब्देनात्र प्रेरणारूपभावना ग्राह्या। (ब्या० प्र०) 15 शब्द-व्यापारापरपर्यायः प्रेरणादिरूपः शब्दः। (ब्या० प्र०) 16 भाविकार्यव्यापृतत्वादिति नियोज्ये। (ब्या० प्र०) 17 पुरुषः। 18 काल्पनिकः। 19 किन्तु शब्दात् प्रेषणादिप्रतीतिरपि न युक्ता। कुत इत्याह। 20 बुद्धिपरि कल्पितो यतः। 21 प्रेरकस्य। 22 यागविषयं। स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतीयतेति पाठान्तरम्।

प्रतीतिर्भाव्यमाना[1] निरालम्बना तथा प्रयोज्यत्वप्रतीतिरपि[2] तेन[3] स्वव्यापारे[4] विश्रान्तात्मा-नमप्रतीयता[5] भाव्यते[6]। भवतात् सा[7] प्रतीतिरिति च न युक्तम्[8]—सर्वं[9] हि शब्दार्थव्यापन-स्वात्[11]। सोपि हि शब्दो मुखपर्यन्तम्[10] व्याप्नोति। एवं [12]यथा प्रतिपादितम्[13] [14]अथवा प्रतिप-त्रभिति—द्वयोरपि प्रतिपादकप्रतिपाद्ययोरध्यवसायात्। पौरुषेयत्वमात्रे[15] तावत्प्रतिप-त्तस्य तु वक्तुरय[16]मभिप्रायो भवतु मा वाभूदिति [17]प्रतिपत्ताध्यवस्यति। अपौरुषेयेवापि [18]शब्दादेवयमर्थो मया प्रतिपत्तव्य[19] भवतु मा वा भूदिति[20] वक्तृव्यापारविषयो[21] योर्थः पौरुषेयत्वस्य यो वा बुद्धौ प्रकाशतेर्थः अपौरुषेयत्वाभिमतशब्दस्य, तत्र[22] प्रामाण्यं न

के आधार से ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं कि 'तथा यत्र सकल स्वव्यापार में अप्रविष्ट इस आत्मा का निश्चय कराते हुये पुरुष के द्वारा वह प्रतीति वाछित ही है।'

यदि आप कहें कि वह प्रतीति शब्द से ही होती है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि वह शब्द बुद्धि से कल्पित अर्थ को व्याप्त—ग्रहण करता है वह शब्द की बुद्धि के अर्थ का ही व्यापन करता है। इस प्रकार से मैंने प्रतिपादित किया है और इस प्रकार मैंने समझा है क्योंकि प्रतिपादक—गुरु और प्रतिपाद्य—शिष्य इन दोनों का अध्यवसाय—ज्ञान होता है अर्थात् मैंने यह प्रतिपादन किया, इस प्रकार गुरु में तथा मैंने समझा; इस प्रकार शिष्य में, ऐसा इन दोनों में प्रतिपादक-प्रतिपाद्य सम्बन्ध ज्ञान होता है।

प्रतिपत्ता—श्रोता ऐसा निश्चय करता है कि पौरुषेय शब्द से ही "मैंने इस प्रकार से जाना है" इस वक्ता—गुरु का यह अभिप्राय हो या न हो। इसी प्रकार से अपौरुषेय वेद वाक्यों से भी "इस प्रकार से मैंने यह अर्थ जाना है इस अपौरुषेय शब्द का यह अर्थ है" ऐसा प्रतिपत्ता—श्रोता समझता है। ऐसा श्रोता के व्यापार का विषयभूत जो अर्थ पौरुषेय शब्द का श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होता है और इसी प्रकार से अपौरुषेय रूप से स्वीकृत शब्द का जो अर्थ बुद्धि में प्रकाशित होता है उसमें यह शब्द व्यापार ही प्रमाण है किन्तु वाक्यार्थ ज्ञान निमित्तक प्रमाणता नहीं है इसलिए विधि में आप्त वाक्य ही वेदवाक्य का अर्थ है किन्तु भावना वह वेदवाक्य का अर्थ नहीं है।

यहाँ तक प्रभाकर मीमांसा ने कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ पर श्रोताओं का ऐसा आशय है कि भाट्ट शब्द के व्यापार को भावना कहते हैं और प्रभाकर को शुद्ध करने के लिये इसी भावना को नियोग कह रहे हैं वे कहते हैं कि भावना से भिन्न

---

1 सती। 2 शब्दमात्रात् इतो निरालम्बनेति शेषः। 3 पुंसा। 4 स्वव्यापारे अविष्टं वाक्यजन्यं व्यापारेऽप्रविष्टं शिष्यं। (ब्या० प्र०) 5 वाक्यार्थं प्रतीयता इति पा०। (ब्या० प्र०) 6 प्रयोज्येन। 7 वैदकवाक्येभ्यो: शब्देभ्यो। 8 इत्यो वक्ति मीमांसा:—यो वाक्यिनी प्रतीतिः शब्दव्यापारे होते है यह युक्तियुक्त नहीं है। 9 शब्दस्य। 10 बुद्धिकल्पेन कल्पितं। (ब्या० प्र०) 11 व्यापनशीलत्वात् इति पा०। (ब्या० प्र०) 12 शब्दव्यापारस्थलमुपसंहरति। (ब्या० प्र०) 13 मुख्यं। 14 विधिना। 15 पुरोः। 16 वृद्धस्यायं। 17 श्रोता। 18 वेदवाक्यात्। 19 श्रोतव्यो। 20 प्रतिपत्ताध्यवस्यतीति शब्दस्य:। 21 प्रतिपत्तव्यापारविषयो। वक्तृव्यापारो विषयो। 22 बुद्धावर्थे।

पुनर्बाह्यार्थेऽप्रत्यक्षविज्ञानम्[1]। तदुक्तम् ।—

अनुमानादारतिरयो बोधो [2]मुख्यो मतस्ततो। [3]प्रत्यक्षमेव सव्यक्षं मानसं [4]विकल्पनम् ॥

इति वचनात्। ततो विवक्षातस्त एवार्थो वाक्यस्य, न पुनर्भविवेति प्रज्ञाकरः[5]।

[शब्दश्रवणमात्रेणापि बाह्यपदार्थस्य ज्ञानं भवति]

[6]सोपि न परीक्षकः—[7]प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतीतिसिद्धेः[8]। यथैव हि प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तुप्रणिधान[9]सामग्रीसव्यपेक्षात्प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिस्तथा शब्दे तत्सामग्रीसापेक्षादेव शब्दश्रव-

---

नियोग नाम की कोई चीज ही नहीं है इस पर हमारा ऐसा कथन है कि "अग्निष्टोमेन यजेत" वाक्य से संकेत को न समझने वाला कोई बालक या मूर्ख पुरुष भी यज्ञकार्य में नियुक्त हो जावे क्योंकि वेद तो स्वभाव से ही नियोजक-प्रेरक है।

इस पर भाट्ट ने उत्तर दिया कि इस शब्द का यह अर्थ है कि पुरुषोच्चारण—बोल-चाल की घट कहना, वाचक के वर्णों के समूह को पुस्तक कहना इत्यादि संकेत के अनुसार ही अर्थ होता है अतः शब्द में संकेत को ग्रहण करने की योग्यता नहीं है क्योंकि संकेत को ग्रहण करने वाली आत्मा है। अतः वेदवाक्य के द्वारा यज्ञ का संकेत ज्ञान में सहकारी कारण है। इस पर फिर कोई कहता है कि संकेत शब्दोच्चारण और पुरुषस्मरण में व्यापार नहीं करता है वह संकेत अर्थ ज्ञान में व्यापार करता है और पदार्थ इस अर्थ का ज्ञान होने से ही वह पुरुष उसादि में प्रवृत्ति करता है। तात्पर्य यह है कि शब्द, विवक्षा में कारण हुए अर्थ को कहते हैं। कोई ने यही बात अपने शब्दों में कही है कि वक्तापुरुष के व्यापार का विषयभूत जो अर्थ श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित हो रहा है उसी अर्थ को कहने में शब्द प्रमाणीक है किन्तु वास्तविक अर्थ-तत्त्व को कारण मानकर शब्द की प्रमाणता का कोई खास कारण नहीं है। वक्ता की बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से जाना हुआ जैसे कोई विषय श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित हो गया तो उस अंश में शब्द प्रमाण है बाह्य अर्थ हो या न हो कोई आवश्यक नहीं है।

[प्रत्यक्ष के समान शब्द से भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है।]

भाट्ट—ऐसा कहने वाले आप प्रज्ञाकर बौद्ध भी परीक्षक नहीं है। प्रत्यक्ष के समान ही शब्द से बाह्य पदार्थ की प्रतीति होना सिद्ध है।

जिस प्रकार से प्रत्यक्ष के कारण रूप इन्द्रियाँ मन, आलोक और बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से

---

1. बाह्यार्थेऽप्रत्यक्षविज्ञानम्। 2 मौढ्यतो। 3 प्रत्यक्षप्रत्यक्षेषु विकल्पनानां मानसं प्रमाणम्। 4 कल्पनम्। 5 प्रज्ञाकरः। 6 सौगतः। 7 सर्वे मुख्यो व्यवहारः। 8 [illegible] 9 सन्निधानादिः इति पा०। (आ० प्र०) 10 एकाग्रता। (आ० प्र०)

ब्दार्थे[1]प्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा—अन्यथा[2] ततो बहिरर्थे[3] प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात्। न चार्थे[4]वेदनादेवार्थे पुरुषस्यार्थिनः स्वयमेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्तक इत्येव वक्तुं युक्तम्—[5]प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्—तदर्थेपि[6] [7]सर्वस्याभि[8]लाषादेव प्रवृत्तेः। [9]परम्परया प्रत्यक्षादिप्रवर्त्तकमिति चेत् तथा[10] वचनमपि प्रवर्त्तकमस्तु—विशेषाभावात्[11]। यथा च प्रत्यक्षस्य सलिलादिरर्थः—तस्य तत्र प्रतीतेस्तथा वाक्यस्य भावना प्रेरणा वा तस्यैव[12] तत्र[13] प्रतीतेरबाध्यमानत्वात्।

प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ का ज्ञान होता है तथैव संकेत सामग्री की अपेक्षा रखने वाले शब्द से ही शब्द के विषयभूत अर्थ का ज्ञान होता है और यह ज्ञान सकल जनों में सुप्रसिद्ध है। अन्यथा—यदि आप शब्द से बहिरंग घट पटादि पदार्थों का ज्ञान न मानो तब तो उन शब्दों से बाह्य पदार्थ का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति और उनकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी और जहाँ पर बाह्य पदार्थ में प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है वही शब्द का अर्थ है ऐसा समझना।

भावार्थ—शब्द से बाह्य पदार्थ का ज्ञान न मानने पर तो जलादि शब्द से बाह्य पदार्थ जलादि में प्यासे पुरुष को जलादि का परिज्ञान होना, उसके पास जाना, स्नान करना, पीना, लाना आदि रूप प्रवृत्ति और प्राप्ति कुछ भी नहीं हो सकेगी।

पदार्थ का ज्ञान होने से ही उस पदार्थ में, उसके इच्छुक जनों की स्वयमेव प्रवृत्ति हो जाती है इसलिये शब्द अप्रवर्तक ही हैं ऐसा कहना भी शक्य नहीं है। अन्यथा प्रत्यक्ष आदि भी इस प्रकार से अप्रवर्तक ही जावेंगे। क्योंकि प्रत्यक्ष के विषयभूत अर्थ में भी सभी मनुष्यों को शब्द से ही प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि आप कहो कि परम्परा से—प्रत्यक्ष से अर्थ का ज्ञान होता है उस अर्थ के ज्ञान से अभिलाषा होती है पुनः अभिलाषा से प्रवृत्ति होती है अतः परम्परा से प्रत्यक्षादि प्रवर्तक हैं।

ऐसा मानने पर तो उसी प्रकार से वचनों को भी परंपरा से प्रवर्तक मान लो दोनों में कोई अंतर नहीं है। अर्थात् शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है उस ज्ञान से अभिलाषा होती है और उस

---

1 शब्दविषयार्थे। 2 शब्दाद् घटादिबाह्यपदार्थप्रतिपत्तिर्न भवति चेत्तदा ततः शब्दाद्बहिरर्थे जलादौ पिपासितादेः पुंसो जलादि परिज्ञानं, तत्समीपे गमनं, स्नानपानानयनादिरूपा तत्प्राप्तिश्च न घटते। 3 यत्र हि प्रतीतिप्रवृत्तिप्राप्तयः समधिगम्यंते स शब्दार्थ इति वचनात्। (ब्या० प्र०) 4 संवेदना इति पा०। (ब्या० प्र०) 5 अन्यथा। 6 प्रत्यक्षार्थे। 7 सुः। 8 शब्दात्। अभिलाषादिति च क्वचित्पाठः। 9 प्रत्यक्षादर्थप्रतिपत्तिस्ततोभिलाषस्ततः प्रवृत्तिरिति। 10 वादुः। 11 शब्दार्थप्रतिपत्तिस्ततोऽभिलाषस्ततः प्रवृत्तिरिति। (ब्या० प्र०) 12 भावनाप्रेरणारूपस्यार्थस्य। 13 भावनाप्रेरणयोः।

[वचनेन कार्यस्य साक्षात्कारो भवति न वेति विचारः]

[1]नन्विदं कुर्विति वचनात्कार्ये[2] व्यापारितत्वं पुरुषस्य नियुक्तत्वम्। न च कार्ये [3]व्याप्-लतावस्था भाविनी तेन[4] साक्षात्कर्तुं शक्या—[5]तत्साक्षात्करणे नियोगस्याफलत्वप्रसङ्गात्। ततो बाध्यमानैव [6]तत्प्रतीतिरिति। [7]तदेतदसमञ्जसमालक्ष्यते—[8]अन्यत्रापि समानत्वात्।

अभिलाषा से प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार से प्रत्यक्ष के जलादि पदार्थ विषय हैं उसकी वहाँ प्रतीति होती है उसी प्रकार के वेदवाक्य का भावना अथवा प्रेरणा अर्थ है उन भावना अथवा प्रेरणा रूप अर्थ की ही वहाँ उनमें प्रतीति होती है इसमें भी बाधा नहीं है।

विशेषार्थ—भाट्ट ने कहा कि आप प्रज्ञाकर बौद्ध प्रज्ञाकर न होकर प्रज्ञाशून्य ही हैं क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान से बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो रहा है वैसे ही शब्दों से बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो रहा है। जिस प्रकार से पुरुष के उपयोग रूप अंतरंग सामग्री और इन्द्रिय के सन्निकट पदार्थ आदि रूप बहिरंग सामग्री से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वैसे ही संकेत सामग्री से ही शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। यदि शब्द से, बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होवेगा तब तो जल शब्द से जल का ज्ञान, उसमें प्रवृत्ति करना, उसे लाना, प्यास बुझाना, स्नान आदि करना कैसे हो सकेगा? अतः शब्द से बाह्य पदार्थों का ज्ञान मानना उचित है। एवं यदि बिना संकेत ग्रहण किये गए ही शब्द वस्तु का ज्ञान करा देंगे तब तो बिना संकेत के मनुष्य, तिर्यंच या बालक अथवा गूंगे भी कठिन शास्त्रों का अर्थ समझ जावेंगे। विद्यालयों में पाठकों की आवश्यकता नहीं रहेगी। अतएव "इस शब्द का यह अर्थ है" जल शब्द से वाच्य वस्तु जल एवं अग्नि शब्द से वाच्य उष्ण अग्नि है। इन प्रकारों को संकेत कहते हैं। परीक्षामुख में भी कहा है कि "सहजयोग्यता संकेतवशाद्वि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्ति हेतवः ॥९६॥ यथा मेर्वादय संति" ॥९७॥ अर्थों में वाच्य रूप तथा शब्दों में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है, जिसमें संकेत हो जाने से ही शब्दादिक पदार्थों के ज्ञान में हेतु हो जाते हैं। जैसे सुमेरु आदि हैं ऐसा मेरु शब्द के कहने या सुनने मात्र से ही जंबूद्वीप के मध्य स्थित सुमेरु का ज्ञान हो जाता है क्योंकि शिष्य को मेरु का संकेत मालूम था उसी प्रकार से सर्वत्र ही शब्द से अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतएव शब्द सर्वथा प्रवृत्ति कराने वाले नहीं हैं ऐसा एकांत यक्त है।

[शब्द से कार्य का साक्षात्कार होता है या नहीं इस पर विचार]

सौगत—"इदं कुरु" इस वचन से याग लक्षण कार्य में पुरुष का व्यापार होना ही नियुक्तत्व है। एवं कार्य में होने वाली व्यापार की अवस्था उस नियोज्य-पुरुष के द्वारा साक्षात् नहीं की जा

---

1 सौगतः। 2 यागलक्षणे। 3 व्यापृतावस्था इति पा० । (ब्या० प्र०) 4 नियोज्येन। (ब्या० प्र०) 5 भावना-प्रेरणालक्षणार्थस्य। 6 व्यापृतत्व। 7 भट्टः। 8 प्रत्यक्षादावपि बाध्यमानप्रतीतित्वस्य समानत्वात्।

प्रत्यक्षस्य हि प्रवर्तकत्वं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वमुच्यते। प्रवृत्तिविषयश्चार्थ[1]क्रियाकारी सलिलादिः। सा च [2]तस्यार्थक्रियाकारिता भाविनी न साधनावभासिना[3] वेदनेन[4] साक्षात्कर्तुं शक्या[5]। [6]तत्साक्षात्करणे प्रवृत्तिवैफल्यात्। ततोऽध्यक्षस्य प्रवर्तकत्वं बाध्यमानप्रतीतिकं [7]कथमेवेति न शक्यं वक्तुम्[8]। [9]यदि पुनरर्थक्रियाकारिताऽनागतापि साधनावभासिनि [10]वेदने प्रतिभातैव—[11]एकत्वाध्यवसायात्[12] तदा शब्दादपि पुरुषस्य कार्यख्यापत्तिः[13]। [14]सत एव प्रतिभातैवेति किं नानुमन्यते[15]। [16]तथा सतिबुद्ध्यारूढोऽर्थः शब्दस्य स्यादिति [17]चेत्तथापि[18] प्रत्यक्षस्य

सकती है यदि भावना अथवा प्रेरणा लक्षण अर्थ को साक्षात् करना मानोगे तब तो नियोग ही निष्फल हो जावेगा। इसलिए यह प्रतीति बाधित ही है।

भाट्ट—यह आपका कथन असमञ्जस ही मालूम पड़ता है क्योंकि अन्यत्र-प्रत्यक्षादि में भी यह बाध्यमान प्रतीति समान ही है इसका कारण यह है कि प्रवृत्ति के विषय को दिखलाना ही तो प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व कहा गया है। एवं प्रवृत्ति के विषय जलादि हैं जो कि स्नान, पानादि रूप से अर्थक्रियाकारी हैं और वह जलादि की अर्थक्रियाकारिता भाविनी-भविष्यत् में होने वाली है। स्नानपान आदि क्रिया के साधन जलादि हैं, वे साधन जिस ज्ञान में झलकते हैं वह ज्ञान साधनावभासी है वह भाविनी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा साक्षात् नहीं की जा सकती है। यदि आप भाविनी अर्थक्रियाकारिता को साक्षात् करना मानोगे तब तो उसमें प्रवृत्ति ही निष्फल हो जावेगी, इसलिए प्रत्यक्ष का प्रवर्तकत्व बाधित प्रतीति वाला कैसे है? ऐसा भी आपको कहना शक्य नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष भी बाधित प्रतीति वाला ही है।

सौगत—अनागत—भविष्य में होने वाली भी अर्थक्रियाकारिता साधनावभासी प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभासित ही होती है क्योंकि भाविनी-अर्थक्रियाकारित्व और प्रत्यक्ष इन दोनों में एकत्व का ज्ञान हो रहा है अर्थात् दृश्य और प्राप्य में एकत्व का अध्यवसाय होता है। यहाँ दृश्य कहने से जल

---

1 स्नानपानादि। 2 सलिलादेः। 3 दृश्यं—सलिलं। स्नानपानादिक्रियायाः साधनं जलादिः। (ब्या० प्र०) 4 प्रत्यक्षेण। 5 पुरुषस्य। (ब्या० प्र०) 6 भाविन्यर्थक्रियाकारितायाः प्रत्यक्षीकरणे सति। 7 अवश्यबाध्यप्रतीतिकमेव इति शक्यं वक्तुं। इति पा०। (ब्या० प्र०) 8 कुतः? यतो बाध्यमानप्रतीतिकमेवेति। 9 हे सौगत! त्वमेवं वक्तुं। 10 प्रत्यक्षे। 11 दृश्यप्राप्ययोः। दृश्यभिन्नपुरुषे जले प्राप्यभिन्नत्वमर्थक्रिया, तयोरेकत्वाध्यवसायात्। दृश्ये जले भाविन्यर्थक्रियायाः सद्भावात्। (ब्या० प्र०) 12 भाविन्यर्थक्रियाकारितप्रत्यक्षयोरैक्याकारत्वात् 13 अनागततरं। 14 पुरुषेणाप्तुताक्षत्वयोरेकत्वाध्यवसायादेव। 15 अर्थादिमः सौगतैः। 16 भाट्टः। 17 भाट्टः। 18 तथापि इति पा०। (ब्या० प्र०)

बुद्ध्यध्यवसितोर्थः किम्न भवति[1] । ततो[2] निरालम्बनमेव प्रत्यक्षं न[3] स्यात् । [4]परमार्थतः प्रत्यक्षमपि न प्रवर्त्तकम् स्वरूपस्य [5]स्वतो गतेः संवेदनाद्वैतस्य वा सिद्धिरिति चेत् [6]पुरुषाद्वैतस्य

समझना और प्राप्य कहने से अर्थक्रिया लेना इन दोनों में एकत्व का अध्यवसाय है। अतएव दृश्य जल में भविष्य में होने वाली अर्थक्रिया—स्नान पानादि का सद्भाव है।

भाट्ट—यदि आप सौगत ऐसा कहते हैं तब तो शब्द से भी पुरुष का अनागत कार्य—व्यापार उसी एकत्व ज्ञान रूप हेतु से प्रतिभासित ही होता है ऐसा भी आप क्यों नहीं मान लेते हो ?

यदि आप कहें कि वैसा होने पर बुद्धि से आरूढ़ अर्थ शब्द का विषय होता है तब तो उसी प्रकार से आपके यहाँ भी प्रत्यक्ष का भी अर्थ बुद्धि से अध्यवसित पदार्थ क्यों नहीं हो जावे क्या बाधा है ? क्योंकि स्नान पान आदि क्रियायें तो आगामी ही हैं पुनः प्रत्यक्ष भी निरालंबन ही क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् प्रत्यक्ष भी निरालंबन रूप ही हो जावेगा।

भावार्थ—बौद्ध कहता है कि "इदं कुरु" यह करो इस वचन से यज्ञ में पुरुष की प्रवृत्ति होना ही नियुक्त होना है एवं यज्ञ कार्य में होने वाली प्रवृत्ति उस वचन से साक्षात् नहीं की जा सकती है यदि भावना या प्रेरणा लक्षण अर्थ का साक्षात्कार करना मानोगे तब तो नियोग का फल क्या रहेगा ? इस पर भाट्ट ने कहा कि ऐसी बाधा तो प्रत्यक्षादि ज्ञान में भी आ सकती है क्योंकि प्रवृत्ति के विषयभूत जलादि को दिखाना ही प्रत्यक्ष का प्रवर्तकपना है और जलादि की अर्थक्रिया—उसमें स्नान पान आदि करना वह तो कार्य और फल भविष्य में होता है। अर्थक्रिया के साधनभूत जल को बतलाने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान उस भविष्य की स्नान पान आदि अर्थक्रिया को साक्षात् नहीं करता है यदि बौद्ध कहें कि भविष्य में होने वाली अर्थक्रिया—कार्य प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक रहा है क्योंकि भविष्य के कार्यरूप अर्थक्रिया और प्रत्यक्ष इन दोनों में एकात्व दिख रहा है। तब तो आप बौद्ध ऐसा भी मान लो कि शब्द के द्वारा भविष्य में होने वाला यज्ञ कार्य उस शब्द में झलक रहा है शब्द के बोलने पर प्रतीति में आ रहा है। यदि आप कहें कि ज्ञान में प्रतिभासित अर्थ ही शब्द का विषय है तब तो ज्ञान में झलकते पदार्थ ही प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं ऐसा भी मानों पुनः प्रत्यक्ष ज्ञान निरालंबन हो गया अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय कुछ भी पदार्थ नहीं रहा, "मात्र ज्ञान में ही पदार्थ झलक रहे हैं कुछ बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं" ऐसी विज्ञानाद्वैत की मान्यता ही सिद्ध हो जावेगी।

बौद्ध—परमार्थ से प्रत्यक्ष भी प्रवर्तक नहीं है क्योंकि "स्वरूपस्य स्वतो गतेः" ज्ञान की स्वयं ही प्रवृत्ति हो जाती है अथवा संवेदनाद्वैत की स्वयं ही सिद्धि मानी गयी है।

---

1 स्नानपानादि क्रिया भविष्यति यतः। (ब्या० प्र०) 2 यतो इति पा०। (ब्या० प्र०) 3 कुतो न स्यात् ? अपि तु स्यादेव। 4 बौद्धः। 5 ज्ञानस्य स्वस्मादेव प्रवृत्तिर्न तु बहिरर्थात्। 6 भाट्टः।

कुतो न सिद्धिः ? तस्य नित्यसर्वगतस्यैकस्य[1] [2]संवित्त्यभावाविति चेत् क्षणिकनिरंशस्यैकस्य संविदिः किं कस्यचित्कदाचिदस्ति ? यतस्तत्सिद्धिरेव स्यात् । [3]ततः पुरुषाद्वैतवत्संवेदनाद्वैतस्य सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्तेः[4]भेदवादे[5] च प्रत्यक्षस्य [6]प्रवर्तकत्वायोगाद्भिन्नाभिन्नात्मकं[7] वस्तु[8] प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्[9] [10]विरोधादेर्चित्रज्ञानेनोत्सारितत्वात् । [11]भेदस्याभेदस्य[12] वा [13]सांवृतत्वे सर्वथार्थक्रियाविरोधात् । तथा[14] च शब्दात्कार्यव्यापृततायां[15] व्यक्तिरूपेण

भाट्ट—ऐसा कहो तो पुरुषाद्वैत की सिद्धि भी क्यों नहीं हो जावेगी ?

बौद्ध—उस नित्य, सर्वगत, एक स्वरूप परम पुरुष का ज्ञान ही नहीं होता है।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो क्षणिक, निरंश, एक ज्ञानाद्वैत रूप का संवेदन—ज्ञान किसी को कदाचित् हुआ है क्या ? जिससे कि उसकी ही सिद्धि हो सके अर्थात् वह संवेदनाद्वैत भी असिद्ध ही है।

इसलिए पुरुषाद्वैत के समान संवेदनाद्वैत की व्यवस्था करना सर्वथा अशक्य है एवं सर्वथा भेदवाद में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति का अभाव है क्योंकि प्रवर्तकत्व का अर्थ ही अपने विषय को दिखला देना है। अतः आप सौगत को भिन्नाभिन्नात्मक ही वस्तु प्रतीति में आती हुई माननी चाहिये। अर्थात् भिन्नाभिन्नात्मक वस्तु को मानने का कथन भाट्ट जैनमत का आश्रय लेकर कह रहा है।

दृश्य और प्राप्य रूप आकार से भेद और वस्तु रूप से अभेद मानना चाहिए और उसमें विरोध आदि दोषों का उत्सारण-निवारण चित्र ज्ञान के दृष्टांत से कर ही दिया है अर्थात् एक ही वस्तु भिन्न रूप भी है और अभिन्न रूप भी है इस मान्यता में तो परस्पर विरोध है इत्यादि, इन दोषों का परिहार चित्र ज्ञान को एकानेक सिद्ध करके पहले ही कर दिया है। दृश्य—देखने योग्य जल और प्राप्य—स्नान पानादि से प्रवृत्ति योग्य अर्थ में सर्वथा भेद मानने पर तो हे सौगत ! पूर्व का जल ज्ञान और उत्तर में स्नान, पान आदि प्रवृत्ति रूप ज्ञान में सर्वथा भेद प्रतिपादन करने पर तो पुनः प्रत्यक्ष अपनी प्रवृत्ति के विषय का उपदर्शक—बतलाने वाला भी नहीं हो सकेगा। अतः कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद रूप वाली वस्तु ही स्वीकार करना उचित है।

---

1 तत्प्रतीतिर्नास्ति यतः। (ब्या० प्र०) 2 प्रतीतिः। 3 स एव भाट्टः प्राह्। (ब्या० प्र०) 4 दृश्यप्राप्ययोर्वयोः सर्वथा भेदे। 5 हे सौगत पूर्वजलज्ञानोत्तरस्नानपानप्रवृत्तिज्ञानयोः सर्वथा भेदप्रतिपादने तावत्प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकं न स्यात्। 6 प्रवर्तकत्वं नाम स्वविषयोपदर्शकत्वं। (ब्या० प्र०) 7 दृश्यप्राप्याकारेण भेदो वस्तुत्वेनाभेदः। (ब्या० प्र०) 8 जलादि। (ब्या० प्र०) 9 भवद्भिः सौगतैः। 10 विरोधादेर्दोषस्य चित्रज्ञानदृष्टान्तेन निराकृतत्वात्। 11 क्षणिकस्य। 12 नित्यस्य। 13 काल्पनिकत्वे सति (असत्यत्वे) द्रव्यवादी सांख्यो भेदं संकल्पितं मनुते। पर्यायवादी बौद्धोऽभेदं संकल्पितं मनुते। एवमुभयोः कल्पितत्वे वस्तुनः सर्वथापि नार्थक्रिया घटते। 14 भेदाभेदात्मकत्वेन वस्तुनः प्रतीतिसिद्धत्वे च। (ब्या० प्र०) 15 अवस्थायाः। (ब्या० प्र०)

भाविन्या अपि शक्तिरूपेण पुरुषस्य सतः[1] कथञ्चिदभिन्नाया [2]शब्दज्ञाने तदैव[3] प्रतिभासनेपि न नियोगो निष्फलः स्यात् [4]प्रत्यक्षतः सलिलादौ प्रवृत्तिवत्। [5]तत्र हि सलिलादेरर्थक्रिया-[6]योग्यताप्रतिभासनेपि व्यक्तयर्थक्रियानुभवाभावात्तदर्थप्रवर्त्तनं प्रतिपत्तुः[7] सफलतामियर्त्ति नान्यथा[8]। [9]एवं शब्दादात्मनः[10] [11]कार्यव्यापृततायोग्यताप्रतिपत्तावपि [12]व्यक्तकार्यव्यापृततानुभवाभावात् [13]पुरुषस्य [14]नियोगः सफलतामियात्—तथा [15]प्रतीतेरेव चाध्यक्षत्वसिद्धेः। [16]ततो

सर्वथा भेद रूप क्षणिक वस्तु को अथवा सर्वथा अभेद रूप नित्य वस्तु को सांवृत-काल्पनिक मानने पर उसमें सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध आता है। अर्थात् द्रव्यवादी सांख्य भेद को कल्पित मानता है और पर्यायवादी बौद्ध अभेद को कल्पित कहता है। इन दोनों को कल्पित रूप मानने पर वस्तु में सर्वथा ही अर्थक्रिया घटित नहीं होती है और भेदाभेदात्मक रूप से वस्तु की सिद्धि हो जाने पर उसी प्रकार वह अर्थ क्रिया शब्द से कार्य में व्यापृत है। व्यक्ति रूप से भाविनी-भविष्य में होने वाली होते हुए भी शक्ति रूप से विद्यमान पुरुष से कथंचित् अभिन्न ही है। वह अर्थक्रिया (यज्ञ) शब्द ज्ञान में "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादि शब्दोच्चारण के काल में प्रतिभासित होने पर भी नियोग निष्फल नहीं हो सकता है, जैसे प्रत्यक्ष से जलादि में प्रवृत्ति निष्फल नहीं है उसी प्रकार शब्द से नियोग भी निष्फल नहीं है।

उस प्रत्यक्ष में जलादि की अर्थक्रिया की योग्यता—सामर्थ्य का प्रतिभास न होने पर भी व्यक्ति रूप अर्थक्रिया का अनुभव नहीं है अतएव उस व्यक्ति रूप अर्थक्रिया की प्रवृत्ति के लिये उस विषय में प्रवृत्त होना मनुष्य का सफलीभूत ही रहता है अन्यथा—प्रवृत्ति के बिना अर्थक्रिया का अनुभव नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रत्यक्ष से जल देखा, उस समय उस जल में स्नान पान आदि की योग्यता है यह बात शक्ति रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान में झलक गयी पुनः स्पष्टतया स्नान पान आदि अर्थ-क्रिया तो आगे होती है अतः स्नान पानादि की प्रवृत्ति के लिये उस प्रत्यक्ष ज्ञान से गृहीत जल में स्नानादि से प्रवृत्ति करता है क्योंकि प्रवृत्ति किये बिना अर्थक्रिया का अनुभव नहीं होता है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान सफलीभूत है।

इसी प्रकार शब्द से पुरुष की याग लक्षण कार्य-व्यापार की योग्यता के ज्ञात होने पर भी व्यक्तप्रकट रूप याग लक्षण कार्य रूप व्यापार का अनुभव नहीं होने से पुरुष का नियोग सफल ही है क्योंकि उस प्रकार से प्रतीति भी होती है और वह प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है अतः जैसे प्रत्यक्ष से बाह्य

---

1 स्वतः इति पाठान्तरम्। 2 शब्दज्ञाने इति पा०। (म्या० प्र०) 3 स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिवाक्योच्चारण-काले। 4 यथा प्रत्यक्षाज्जलादौ प्रवृत्तिर्निष्फला न स्यात्तथा शब्दान्नियोगो निष्फलो न स्यात्। 5 प्रत्यक्षे। 6 सामर्थ्य। 7 तदर्थं प्रवर्तनं। (म्या० प्र०) 8 प्रवर्तनमन्तरेणार्थक्रियानुभवो न स्यात्। व्यक्तार्थक्रियानुभवे सति अर्थक्रियार्थं प्रवर्तनं पुरुषस्य सफलतां न प्राप्नोति। 9 प्रत्यक्षप्रकारेण (भाट्ट)। 10 पुरुषस्य। 11 यागलक्षण। 12 यागलक्षण। 13 पुरुषस्य तथा नियोगः इति पा०। (म्या० प्र०) 14 कर्तृभूतः। 15 प्रतीतेरेवाऽबाध्यत्व-सिद्धेरिति पाठान्तरम्। 16 प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतिपत्तिसिद्धिर्यतः प्रयोज्यप्रयोजकप्रतीतिभ्यं सत्या प्रतिपत्तिर्यतः।

न विवक्षारूढ एव शब्दस्यार्थः प्रमाणबलादवलम्बितुं युक्तः सन्मात्रविधिवत् ।

[कारकभेदेन क्रियायाः भेदाभेदविचारः]

[1]यदप्युक्तम् ।—नियोगो यदि शब्दभावनारूपो वाक्यार्थस्तथा सति देवदत्तः [2]पचेदिति कर्तुरनभिधाना[3]त्कर्तृकरणयो[4]स्तृतीयेति [5]तृतीया प्राप्नोति[6]। कर्तुरभिधाने [7]स्वनभिहिताधिकारात्तिङैव[8] चोक्तत्वान्न[9] [10]भवतीति । [11]तदप्ययुक्तं[12]—[13]भावनाविशेषणत्वेन

पदार्थों को प्रतीति होती है उसके समान ही शब्द से वाच्य अर्थ का ज्ञान सिद्ध है क्योंकि प्रयोज्य और प्रयोजक-पुरुष एवं शब्द की प्रतीति सत्य ही है इसलिए विवक्षा में आरूढ ज्ञान में प्रतिभासित होना ही शब्द का अर्थ है ऐसा प्रमाण के बल से अवलंबन-स्वीकार करना युक्त नहीं है जैसे कि वेदवाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि है यह कथन ठीक नहीं है।

भावार्थ—जब भाट्ट ने प्रत्यक्ष के विषय को निरालंब—शून्य सिद्ध किया तब तो विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध को अवकाश मिल गया और उसने कहा कि वास्तव में प्रत्यक्ष भी प्रवर्तक नहीं है क्योंकि "स्वरूप का ज्ञान स्वयं ही होता है" अतएव बाह्य पदार्थ कोई चीज ही नहीं है केवल ज्ञानमात्र ही तत्त्व है। इस पर भाट्ट ने कहा कि फिर आप वेदांतियों के ब्रह्माद्वैत को भी मानों। यदि कहो नित्य, एक परम पुरुष दिखता नहीं है तब क्या निरंश, क्षणिक एक रूप ज्ञान किसी को दिखता है? अतः सौगत के द्वारा मान्य सर्वथा भेदवाद भी गलत ही है। मतलब दृश्य-जल और प्राप्य-पीने के लिए जल का ग्रहण आदि रूप भविष्यत् में होने वाली अर्थक्रिया ये दोनों यदि सर्वथा भिन्न हैं फिर जो शब्द से जल को सुनकर जल को देखेगा वही मनुष्य उस जल को पीने, खाने या उसमें नहाने की प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा। अतः यह स्नानपानादि अर्थक्रिया शब्द से यद्यपि कार्य रूप व्यापार में है, व्यक्त-स्पष्ट रूप से भविष्य में होने वाली है फिर भी शक्ति रूप से पुरुष से अभिन्न है और शब्द के ज्ञान में झलक रही है फिर भी नियोग निष्फल नहीं है।

[कारकों के भेद से क्रिया में भेदाभेद का विचार]

और जो आपने कहा है कि शब्द भावना रूप नियोग वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा होने पर तो "देवदत्तः पचेत्" इस प्रकार से कर्ता का कथन नहीं होने से अप्रधान कर्ता और करण में तृतीया होती है इस कथन से तृतीया विभक्ति प्राप्त होती है एवं कर्ता का कथन करने में अभिहित का अधिकार

---

1 भाट्टो वदति। (प्रज्ञाकरेण स्वग्रन्थे) 2 शब्दभावनारूपस्य नियोगस्य। (ब्या० प्र०) 3 देवदत्तः पचेदिति वाक्यं यदि शब्दभावना रूपं नियोगं प्रतिपादयति तदा कर्तारं न प्रतिपादयति नियोगप्रतिपादनपरत्वात्तस्याः। (ब्या० प्र०) 4 अप्रधानयोः। 5 विभक्तिः। 6 अनभिहिताधिकारात्तृतीया भवति अभिहिते कर्तरि तृतीया न भवति विरोधात्वात्। (ब्या० प्र०) 7 अनभिहिते कर्तरि। (ब्या० प्र०) 8 पचेदिति। (ब्या० प्र०) 9 कर्तुः। 10 तृतीया। 11 भाट्टः। 12 नियोगस्य तच्छेषत्वात्प्रधानत्वादवाक्यार्थत्वमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणास्य मुख्यवृत्त्याभावात्वा चैत्याभावं मन्यानस्तत्रोत्तरोत्तरपरिहरन्मुख्यवृत्त्या वाक्यार्थभूतार्थभावनामानेव तं परिहरन्नाह। उत्तरोत्तरम् उत्पाद्यनुपगात्। (ब्या० प्र०) 13 अर्थभावना।

कर्तुः प्रतिपादनात्। [1]भावना हि करोत्यर्थः। [2]स च देवदत्तकर्तृकः प्रतिभाति। पचेत् देवदत्तः पाकं कुर्यादिति पाकावच्छिन्नायाः करणक्रियाया देवदत्तकर्तृकायाः प्रतीतेः—[3]सकृदेव विशेषणविशेष्ययोः प्रतिभासाविरोधात् नीलोत्पलादिवत्। [4]ततो नेदं प्रज्ञाकरवचश्चारु।

"[5]क्रमप्रतीतेरेवं[6] स्यात् प्रथमं भावनागतिः। तत्सामर्थ्यात्पुनः[7]: पश्चाच्च[8]: कर्त्ता प्रतीयते[9] ॥"

इति यदभ्यधायि[10] [11]द्विवचन[12]बहुवचने च [13]प्राप्नुतः—एकत्वाद्व्यापारस्य[14]। [15]अथ [16]कारक-

---

न होने से लिङ् के द्वारा ही कर्ता को कह देने से तृतीया नहीं होती है अर्थात् "देवदत्तः पचेत्" देवदत्त पकाता है यह वाक्य यदि शब्द भावना रूप नियोग का प्रतिपादन करता है तब कर्ता अनुक्त है। "पचेत्" पकाता है यह क्रिया कर्ता का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि यह क्रिया नियोग के प्रतिपादन करने में तत्पर है एवं अभिहित अधिकार के न होने से तृतीया होती है किन्तु कर्ता के अभिहित-कथन कर देने पर तृतीया नहीं होती है क्योंकि तिङ् प्रत्यय के द्वारा ही कथन हो चुका है।

यह सब आपका कथन भी अयुक्त ही है। अर्थ भावना रूप विशेषण से कर्ता का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि "करोत्यर्थः" ही भावना का लक्षण है और करोति क्रिया का अर्थ देवदत्त कर्ता रूप प्रतिभासित होता है।

"पचेत् देवदत्तः=पाकं कुर्यात्" इस प्रकार से पाक से अवच्छिन्न देवदत्त कर्तृक, करण, क्रिया की प्रतीति हो रही है क्योंकि युगपत् ही विशेष्य का प्रतिभास विरुद्ध नहीं है जैसे कि नीलोत्पल में नील विशेषण और कमल विशेष्य एक साथ ही अनुभव में आते हैं। इसलिए आप प्रज्ञाकर बौद्ध के ये कथन चारु—सुन्दर नहीं हैं अर्थात् विशेषण और विशेष्य की युगपत प्रतीति होती है कहा भी है—

श्लोकार्थ—इस प्रकार क्रम से प्रतीति होने से पहले भावना का ज्ञान होता है पुनः उसकी सामर्थ्य से कर्ता और भावना में विशेषण विशेष्य भाव के प्रकार से पश्चात्—बाद में कर्ता प्रतीति में आता है।

ऐसा जो आप सौगत ने कहा है कि क्रिया लक्षण भावना में द्विवचन और बहुवचन नहीं प्राप्त होता है क्योंकि भाट्ट की स्वीकृति अनुसार व्यापार एक है यह आप सौगत का कथन भी असत्य ही है।

---

1 भावनायाः हि लक्षणमिष्टमुक्तो वाक्षु। 2 करोत्यर्थः। 3 यदि भावनाविशेषणत्वेन कर्त्ता तथापि तदोः क्रमप्रतीतिसम्भवेन पूर्वकर्तुः प्रतिभासानन्तरतृतीया प्राप्नोतीत्याशङ्क्याहसकृदेवेत्यादिग्रन्थः। 4 यद्यो यदिति।—यत एवं तत इत्यध्याहारकारिकर्त्री वाक्यमार्थं सौगतवचनं मनोज्ञं न स्यात्। 5 क्रमप्रतीतिरेवं स्यादिति उपपत्तिवाक्यः। 6 कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण। (व्या० प्र०) 7 कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण। स्युरेवंपुनरेवेत्यवधारणवाचकः इति वचनात्। 8 पश्चात्। (व्या० प्र०) 9 भावनाविशेषणप्रकारेण। (व्या० प्र०) 10 यद्यो यदिति।—अथवापि सौगतेन एवम्प्रकारमभिहितमर्थं सम्बन्धः। 11 क्रियालक्षणभावना। 12 पचेतां। (व्या० प्र०) 13 च न प्राप्नुतः इति पा०। तच्छब्दं प्रतिभाति। (व्या० प्र०) 14 पुनस्तर्हि क्रियाविशेषणप्रकारस्य भाट्टस्वीकृतव्यापारैक्यप्रकारेण। (व्या० प्र०) 15 यदि। (व्या० प्र०) 16 कर्त्तादि। (व्या० प्र०)

भेदात् [1]स्वव्यापारभेदो भविष्यति [2]क्रियते कटो [3]देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिति महदसमञ्जस[4] स्यात् । तथा हि :—

एकत्वात्कर्मणः[5] प्राप्तं क्रियैकत्वं तथा भिदः[6] । [7]कर्तृ[8]भेदादितीत्थं[9] च किं [10]कर्तव्यं विचक्षणैः ॥इति॥

[11]तदप्यसत्यम्—[12]प्रतीतिविरोधात् । प्रतीयते हि धात्वर्थस्य भेदादेकत्वमं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामास्यते[13] । स च धात्वर्थो न नियोगः—नियोगस्य[14] प्रत्ययार्थत्वात्[15] । [16]स च [17]धात्वर्थातिरिक्तः कर्तृसाध्यः । [18]तस्य कर्तृभेदाद्भेद इति । [19]ततः कटं कुरुत[20] इति द्विवचनम् । धात्वर्थस्तु शुद्धो न कारकभेदाद्भेदी[21] ।

यदि कहो कि कारक के भेद से अपने व्यापार में भेद हो जावेगा तब तो देवदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा कट (चटाई) किया जाता है यह कथन भी बहुत ही असमंजस युक्त हो जावेगा । तथाहि—

श्लोकार्थ—कट लक्षण कर्म का एक रूप है अतः क्रिया में एकत्व प्राप्त हुआ है क्योंकि कर्ता में भेद देखा जाता है अतः कर्ता के निमित्त से क्रिया भी दो प्रकार की हो जाती है । इस प्रकार से क्रिया में भी एकत्व अनेकत्व प्रकार हो जाने से भेद हो जाता है तो विचक्षण पुरुष क्या कर सकते हैं ? अर्थात् वे कुछ भी नहीं कर सकते हैं ॥

इस प्रकार का आप बौद्धों का कथन भी असत्य है क्योंकि प्रत्यक्ष से प्रतीति में विरोध आता है "देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां आस्यते" ऐसे भाव वाक्य में धात्वर्थ के अभेद से एकवचन ही प्रतीति में आता है और वह धातु का अर्थ नियोग नहीं है क्योंकि नियोग तो प्रत्यय का अर्थ है वह धात्वर्थ से भिन्न है और वह पुरुष का व्यापार धात्वर्थ क्रिया से अतिरिक्त—भिन्न कर्ता से साध्य है । उस प्रत्यय के अर्थ में कर्ता के भेद से भेद होता है । इसलिए "कटं कुरुतः" इसमें द्विवचन होता है किन्तु भाव रूप—शुद्ध धात्वर्थ, कारक के भेद से भेद रूप नहीं होता है ।

विशेषार्थ—व्याकरण में जिसमें प्रत्यय (विभक्ति) लगकर क्रिया बन जाती है उन्हें धातु कहते हैं जैसे भू पच् आदि । वे धातु दो प्रकार की होती हैं सकर्मक और अकर्मक ।

---

1. व्यापारभेदो इति पा० । (व्या० प्र०) 2 तहि । 3 उदाहरणम् । 4 कारकभेदे क्रियावचनभेदो न जायेत । (व्या० प्र०) 5 कटलक्षणस्य । 6 भेदात् । 7 तथाभिदा, कर्तृभेद इतीत्थं चेति पाठान्तरम् । कर्तृभेदेनैवं क्रियाया द्वैविध्यं जातम् । 8 क्रियाया एकत्वानेकत्वप्रकारेण । 9 कर्तृभेद इत्थीयं इति पा० । (व्या० प्र०) 10 न किमपि (काकुः) । 11 सदुः (सौगतोत्तमसत्यम्) । 12 प्रत्यक्ष । 13 भावे । 14 लक्षणक्रियाकर्मस्य । (व्या० प्र०) 15 प्रत्ययार्थो धात्वर्थाद्भिन्नः । 16 पुरुषव्यापारः । 17 क्रियातः । 18 प्रत्ययार्थस्य । 19 कर्तृसाध्यप्रत्ययत्वात् (भाट्टः) । 20 देवदत्तयज्ञदत्तौ । 21 भावरूपोधात्वर्थः ।

श्लोक—क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं, व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षां।
सकर्मकं तं सुधियो वदंति,, शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात् ॥१॥

सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः।
शात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥२॥

अर्थ—जो कर्तापद से युक्त क्रियापद "क्या" इस प्रकार के कर्म की अपेक्षा रखते हैं विद्वान् जन उन क्रियापदों को सकर्मक कहते हैं एवं उनसे बची हुई धातुयें अकर्मक कही जाती हैं। ॥१॥

जो सन्मात्र रूप भावलिङ्ग है, कारकों के सम्बन्ध से रहित है, केवल शुद्ध शात्वर्थ है उसे भाव वाची कहते हैं ॥२॥

यहाँ ये धातु लज्जा, सत्ता, स्थिति, जागरण, वृद्धि, क्षय, भय, जीवन, मरण, शयन, क्रीडा, रुचि और दीप्ति अर्थ वाले धातु अकर्मक कहलाते हैं क्योंकि इनमें कर्म की अपेक्षा नहीं है। इन सकर्मक और अकर्मक धातुओं में विभक्ति के लग जाने से ये तिङन्त अथवा भिङन्त कहलाते हैं एवं दस प्रकार से लकारों से प्रयुक्त किए जाते हैं। सकर्मक क्रियायें भी कर्तरि प्रयोग और कर्मणि प्रयोग से दो प्रकार की मानी गयी हैं एवं अकर्मक क्रियायें कर्तृ र प्रयोग और भाव प्रयोग के भेद से दो प्रकार की होती हैं सकर्मक क्रियाओं के कर्तरि प्रयोग के उदाहरण—

अहं जिनालयं गच्छामि—मैं जिनालय को जाता हूँ।

आवां अष्टसहस्रीमध्येव:—हम दो जने अष्टसहस्री का अध्ययन करते हैं।

सर्वे जिनपूजां कुर्वंति—सभी जिन पूजा करते हैं।

देवदत्तः ओदनं पचति—देवदत्त भात को पकाता है।

इन वाक्यों में आने वाला, पढ़ने वाला और पकाने वाला कर्ता प्रधान—स्वतंत्र है अतः इन वाक्यों को कर्तरि प्रयोग कहते हैं। इन वाक्यों में कर्ता के अनुसार एकवचन, द्विवचन, और बहु-वचन रूप क्रिया हो जाती हैं। अकर्मक धातुओं के कर्तरि प्रयोग के उदाहरण—

सः शेते—वह सोता है। जंबूद्वीपे सूर्यौ प्रकाशेते—जम्बूद्वीप में दो सूर्य चमकते हैं। वृक्षाः वर्धंते—अनेक वृक्ष बढ़ते हैं।

इन अकर्मक धातुओं में कर्म है ही नहीं, अतः क्रिया का सभी भार कर्ता पर ही है। सोने वाले, प्रकाशित होने वाले एवं बढ़ने वाले कर्ता सर्वतः प्रधान हैं अतः ये वाक्य अकर्मक कर्तृ प्रयोग हैं इनमें भी कर्ता के अनुसार ही क्रिया एकवचन, द्विवचन, बहुवचन रूप हो जाती है।

सकर्मक धातुओं से कर्मणि प्रयोग के उदाहरण—

देवदत्तेन अष्टसहस्री पठ्यते—देवदत्त के द्वारा अष्टसहस्री पढ़ी जाती है।

मया व्याकरणं पठ्यते—मेरे द्वारा व्याकरण पढ़ी जाती है।

युवाभ्यां जिनपूजा क्रियते—तुम दोनों के द्वारा जिन पूजा की जाती है।

अस्माभिः गुरुः सेव्यते – हम सभी के द्वारा गुरु की सेवा की जाती है।

देवदत्तेन कटो क्रियते—देवदत्त के द्वारा चटाई बनाई जाती है।

मया न्यायव्याकरणसिद्धांतशास्त्राणि पठ्यंते—मेरे द्वारा न्याय, व्याकरण और सिद्धांत शास्त्र पढ़े जाते हैं।

इन वाक्यों के प्रयोग में कर्म प्रधान है और कर्त्ता अप्रधान है अतः कर्त्ता में तृतीया हो जाती है और कर्म में प्रथमा ही रहती है। तथा कर्म के एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के अनुसार ही क्रिया में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन हो जाते हैं।

अकर्मक क्रियाओं के भाव प्रयोग के उदाहरण—

देवदत्तेन शय्यते—देवदत्त के द्वारा सोया जाता है।

आवाभ्यां आस्यते—हम दोनों के द्वारा बैठा जाता है।

जंतुभिः जन्यते— बहुत से प्राणियों के द्वारा जन्म लिया जाता है।

इन अकर्मक धातुओं के भाव प्रयोग में कर्त्ता में तृतीया होती है एवं भाव के अर्थ में धात्वर्थ क्रिया में एकवचन ही रहता है। इन वाक्यों के प्रयोग में कर्त्ता अप्रधान है और धात्वर्थ क्रिया ही प्रधान है क्योंकि यहाँ कर्म का अभाव है।

यहाँ पर भाट्ट का ऐसा कहना है कि प्रभाकर बौद्ध ने अपने ग्रन्थों में जो ऐसा कहा है कि यदि शब्दभावना रूप नियोग ही वेदवाक्य का अर्थ है—"देवदत्त पकाता है" ऐसा वाक्य यदि शब्दभावना रूप नियोग का ही प्रतिपादन करता है तब कर्त्ता अनुक्त—नहीं कहा जाता है। "पकाता है" यह क्रिया अपने कर्त्ता का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि वह क्रिया तो नियोग अर्थ का प्रतिपादन करती है और जब कर्त्ता अप्रधान है तब यहाँ पर कर्त्ता में तृतीया होनी चाहिए थी किन्तु यहाँ कर्त्ता का कथन होने से तृतीया नहीं हुई है।

इस पर भाट्ट का कहना है कि यह सब आपका कथन अयुक्त है क्योंकि हमने अर्थभावना रूप विशेषण के द्वारा कर्त्ता का प्रतिपादन कर ही दिया है एवं करोति क्रिया का जो अर्थ है वही भावना है वह भावना देवदत्त कर्त्ता रूप से ही प्रतिभासित होती है। अर्थभावना तो विशेषण है और कर्त्ता देवदत्त विशेष्य है एवं विशेषण विशेष्य का ज्ञान एक साथ होता है क्रम से नहीं होता है इसलिए कारक के भेद से उसके व्यापार रूप क्रिया में भेद ही होवे ऐसा एकांत नहीं है।

"देवदत्त और यज्ञदत्त इन दोनों के द्वारा एक चटाई बनाई जाती है" इसमें कर्मणि प्रयोग में कर्त्ता अप्रधान होने से उसमें तृतीया का द्विवचन है किन्तु कर्म रूप चटाई प्रधान है और उसमें एक वचन होने से "क्रियते" क्रिया में एकवचन ही है।

इसलिए कर्मणि प्रयोग में कर्म के अनुसार ही क्रिया होती है तथा इसी का कर्त्तरि प्रयोग करने पर देवदत्तयज्ञदत्तौ कटं कुरुतः—देवदत्त और यज्ञदत्त चटाई को बनाते हैं यहाँ कर्त्ता की प्रधानता से क्रिया

[सत्यभावनारूपनियोऽर्थभावनाया विशेषणमस्य विचारः]

स्यादाकूतम्[1] ।—

सम्बन्धाश्रयि[2] तद्भेदो[3] 'धात्वर्थस्याप्यसौ[5] भवेत्[6] । सोपि [7]निर्वर्त्य [8]एवेति [9]तद्भेदेनैव भिद्यताम् ॥

[10]अस्माकं तु :—

[11]विवक्षापरतन्त्रत्वाद्भेदाभेद[12] व्यवस्थितेः । [13]सामिधानात्कारकस्य[14] सर्वमे[15]तत्समञ्जसम् ॥

में भी द्विवचन हो जाते हैं।

किन्तु बौद्ध का यदि ऐसा कहना है कि कर्त्ता के भेद से क्रिया में भेद होवे ही होवे सो ठीक नहीं है। क्योंकि अकर्मक धातु से कर्त्ता में भेद होने पर भी धात्वर्थ शुद्ध क्रिया में एकवचन ही रहता है एवं प्रत्यय का अर्थ नियोग माना गया है अतः धातु का अर्थ नियोग नहीं है और धात्वर्थ शुद्ध है कारक के भेद से भी उसमें भेद नहीं होता है उसमें केवल सर्वत्र एकवचन का ही प्रयोग होता है ऐसा समझना चाहिये।

[सत्यभावना रूप नियोग अर्थभावना का विशेषण है इस पर विचार]

श्लोकार्थ—योगाचार बौद्ध कहता है कि—यदि सम्बन्ध से उस प्रत्यय रूप नियोग में कर्त्ता सम्बन्धी कारक के भेद से भेद है तो पुनः "आस्यते" इस सत्ता रूप धात्वर्थ में भी प्रत्यय भेद होवे। वह भी पुरुष के द्वारा ही निर्वर्त्य—निष्पाद्य है उस कारक—कर्त्ता के भेद से ही उसमें भेद हो जावे॥

अर्थात् "जिनदत्तगुरुदत्तयज्ञदत्तैरास्यते" जिनदत्त, गुरुदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा बैठा जाता है। इस भाव रूप क्रिया में एकवचन ही होता है किन्तु अर्थ के भेद से भाव रूप धातु के अर्थ में भेद नहीं होता है। इस प्रकार से जो आरोप है कि यदि कारक के भेद से प्रत्यय में भेद है तो यहाँ भी आस्यते क्रिया में बहुवचन होना चाहिए किन्तु हम लोगों के यहाँ तो—

श्लोकार्थ—विवक्षा—कल्पना के आधीन होने से कारक व्यापार में भेदाभेद की व्यवस्था है। इस प्रकार के कथन से कारक में-प्रत्यय रूप नियोग में भेद और अभेद होते हैं इसलिए एकवचनादिक सभी समंजस—ठीक ही हैं॥

भाव में उत्पन्न हुई लकार नाम की क्रिया कर्त्ता और कर्म से भेद रूप से ही विवक्षित की गई है अब वह क्रिया लकार इत्यादि प्रत्यय से कही जाती है तब वह कर्त्ता नहीं है तब कर्त्ता के अप्रधान

---

1 योगाचारस्य। 2 तस्य प्रत्ययरूपनियोगस्य। 3 कर्तृसम्बन्धात्कारकभेदाश्रयि प्रत्ययभेदस्तदा। 4 सत्याख्यस्य आस्यते इत्यस्य। 5 प्रत्ययभेदः। 6 भावरूपस्य देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तैरास्यते एतदेकमेव भवति नार्थभेदात् भाव-रूपस्य धात्वर्थस्य भेदः। (अ० प्र०) 7 पुरुषेण निष्पाद्यः। 8 हेतोः। 9 कारक। कर्तृ। प्रत्यय। 10 योगा-चाराणाम् (सौगतानाम्)। 11 कल्पना। 12 व्यापारस्य कारकस्य। 13 वक्षणकारेण। 14 प्रत्ययरूपनियोगस्य भेदाभेदौ भवतः। 15 एकवचनादिकम्।

[1]क्रिया[2] हि कर्तुः [3]कर्मणश्च भेदेन हि विवक्ष्यते [4]सा यदा [5]लकारेणाभिधीयते, न कर्त्ता तदा [6]कर्त्तरि तृतीया भवति। यदा कर्त्ताभिधीयते तदा प्रथमार्थत्वात्प्रथमा भवति। [7]क्रियते महात्मना, करोति महात्मेति, [8]तदेतदपि पक्षपातमात्रम् सौगतस्य। भेदाभेदयोर्वस्तुरूपयोः प्रतीतिसिद्धत्वेन तद्विवक्षावशात् तथा व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वोपपत्तेः। [9]ततो युक्ता शब्दव्यापाररूपा शब्दभावना, पुरुषव्यापाररूपाऽर्थभावना च। तत्र हि कर्तृव्यापारस्तिङा[10] प्रतिपाद्यते। [11]स एव च भावना[12]। [13]तथा चाह।—भावार्थाः[14] [15]कर्मशब्दाः। भावनं भावो [16]ण्यन्ताद्घञ्प्रत्ययः। तथा च सति भावनैवासौ। भावना च[17] कर्तृव्यापारः स[18] चोदितः[19] [20]स्वव्यापारे प्रवर्त्तते[21] इति। [22]नियोज्यस्य[23] च [24]तच्छेषत्वादप्रधानत्वा-

---

में तृतीया होती है जब कर्त्ता कहा जाता है तब प्रथमार्थ का अर्थ होने से प्रथमा होती है जैसे क्रियते महात्मना—महात्मा के द्वारा किया जाता है इसमें भाव में क्रिया होने से कर्त्ता में भेद है क्योंकि कर्त्ता महात्मा यहाँ स्वाधीन नहीं है। "करोति महात्मा"—महात्मा करता है। यहाँ प्रथमान्त कर्त्ता है। यहाँ कर्त्ता प्रधान है।

भाट्ट—यह आपका कथन भी पक्षपात मात्र ही है आप सौगत के यहाँ तो वस्तुरूप—वास्तविक भेद और अभेद की प्रतीति सिद्ध होने से उसकी विवक्षा के निमित्त से उस प्रकार का व्यवहार पारमार्थिक हो जावेगा और उस प्रकार से "करोत्यर्थे" देवदत्त कर्तृक होता है अतः शब्द व्यापार रूप ही शब्द भावना युक्त है एवं पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना भी युक्त है। वहाँ ही कर्त्ता का व्यापार तिङ् प्रत्यय—आख्यात से प्रतिपादित किया जाता है और वह कर्त्ता का व्यापार ही अर्थ भावना है। इसी को कहते हैं—कर्म शब्द, भाव अर्थ वाले हैं। अर्थात् क्रियावाचक शब्द भी भाव अर्थ वाले हैं। भावनं भावो ण्यंत-प्रेरणार्थक से घञ् प्रत्यय हुआ है और उस प्रकार से व्युत्पत्ति करने पर वह भावना ही है और भावना ही कर्त्ता का व्यापार है अर्थात् भाव्यनिष्ठ जो भावक का व्यापार है वही भावना है। वह पुरुष "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" इत्यादि वेदवाक्य से प्रेरित होता हुआ याग लक्षण अपने

---

1 भावे संयुज्यमाना सकारादिविशेषा। 2 क्रिया इति पा०। (ब्या० प्र०) 3 का (षष्ठ्यर्थे)। 4 क्रिया। 5 त्यादिप्रत्ययेन। 6 अप्रधाने। 7 भावे क्रियायाः कर्तुः सकाशादयं भेदः। 8 भाट्टः। 9 देवदत्तकर्तृकः करोत्यर्थो भवति यतः। 10 आख्यातेन। 11 कर्तृव्यापारः। 12 अर्थभावना। 13 कर्तृव्यापारस्य भावनात्वेन। 14 भाव एव अर्थो येषां ते। 15 कर्मशब्दा (क्रियावाचकाः) इत्यत्र कर्मशब्दा एव भावार्था इत्येवकारो द्रष्टव्यः। 16 प्रत्ययस्य इतिति पाठान्तरम्। 17 भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावना। (ब्या० प्र०) 18 स पुरुषोऽग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवेदवाक्येन प्रेरितः सन्। 19 शब्दभावनया प्रेरितः। (ब्या० प्र०) 20 याने। 21 पुरुषः। 22 शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य। शब्दभावनाया अप्रधानत्वं यद्याप्यंगीकृतं यौगलेन वाक्यार्थत्वं भवतु प्रधानत्वं अर्थभावनाया एव वाक्यार्थत्वं तर्हि कर्तुस्तृतीया प्राप्नोतीति शंकामपि निराकरोति। (ब्या० प्र०) 23 नियोगस्येति पाठान्तरम्। नियोगशब्देन शब्दभावना। (शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य)। 24 अर्थभावनाया विशेषणत्वात्।

[1]वाक्यार्थत्वम्[2]। नियोगविशिष्टत्वाच्च भावनायास्तया[3] प्रतिपादने [4]नियमेन प्रवर्त्तते। [5]कथं चासौ कर्त्ता स्वव्यापारं प्रतीयन्नेव प्रवर्त्तते। [6]अन्यथा स्वव्यापारे एव न [7]चोदितो भवेत्।

व्यापार में प्रवृत्त होता है। और नियोग तत् शेष होने से अप्रधान है अतः वह वेदवाक्य का अर्थ नहीं है। अर्थात् नियोग शब्द से शब्द भावना लेना यह शब्द भावना अर्थ भावना का विशेषण है वह अप्रधान होने से मुख्यतया वेदवाक्य का अर्थ नहीं हो सकती है। "इदं कुरु" इस प्रकार से भावना नियोग से विशिष्ट है ऐसा प्रतिपादन करने से नियम से प्रवृत्त होता है अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव परस्पर में अविनाभावी है।

यदि प्रेरित किया जाने पर भी प्रवृत्त नहीं होता है ऐसा मानों तो यह कर्त्ता अपने व्यापार का अनुभव करता हुआ ही कैसे प्रवृत्ति करेगा अन्यथा—यदि स्वव्यापार की प्रतीति न मानो तो अपने व्यापार में भी वह पुरुष प्रेरित नहीं हो सकेगा।

भावार्थ—प्रभाकर नियोग को प्रत्यय (विभक्ति) के अर्थ रूप ही मानता है अतः "देवदत्त-यज्ञदत्तौ कटं कुरुतः" देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों चटाई को बनाते हैं। इसमें कारक के भेद से प्रत्यय "कुरुतः" क्रिया में भेद हो गया है इसी प्रकार से "आस्यते" यह सत्ता रूप भावार्थ क्रिया है किसी ने कहा कि "देवदत्तजिनदत्तयज्ञदत्तैः आस्यते" देवदत्त, जिनदत्त और यज्ञदत्त के द्वारा बैठा जाता है।

इस वाक्य में भी कारक तीन पुरुष हैं और बैठने रूप क्रिया का तीनों से सम्बन्ध है अतः यहाँ भी कारक के भेद से क्रिया के प्रत्यय में भेद होना चाहिये—एकवचन रूप क्रिया न होकर बहुवचन होना चाहिए क्योंकि यह बैठक रूप क्रिया भी तो पुरुष के द्वारा ही निष्पाद्य—करने योग्य है। हम योगाचार बौद्धों के यहाँ तो ये दोष नहीं आते हैं क्योंकि हम लोग विवक्षा के निमित्त से ही कारक के व्यापार रूप क्रिया में भेद और अभेद की कल्पना करते हैं। इस पर भाट्ट ने उत्तर दिया कि आप बौद्धों का कथन श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि वास्तविक रूप से भेद और अभेद का व्यवहार नहीं है यदि मानोगे तब तो भेद और अभेद की विवक्षा से उस प्रकार का भेद-अभेद रूप व्यवहार भी सत्य ही मानना पड़ेगा। "पुनः करोति" क्रिया का अर्थ देवदत्तकर्तृक ही है, वही शब्द का व्यापार है. उसे ही तो हम शब्द भावना कहते हैं और कर्त्ता रूप पुरुष के व्यापार को अर्थ भावना कहते हैं क्योंकि पुरुष ही "अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्ग कामः" ऐसे वाक्य से प्रेरित होता हुआ यज्ञ करने रूप अपने व्यापार में प्रवृत्ति करता है। अतः नियोग ही शब्द भावना है जो कि पुरुष के व्यापार रूप अर्थ भावना का विशेषण है अतः

---

1 मुख्यत्वेनेति शेषः। गुणवृत्त्या चेदस्ति तर्हि कथम् 7 2 स चोदितः कथं स्वव्यापारे प्रवर्तत इति। (व्या० प्र०)
3 इदं कुर्विति नियोगनिष्ठत्वेन। 5 विशेषणविशेष्यसमानकालीयकत्वादिति भावः। 4 प्रेर्यमाणोपि न प्रवर्त्तते चेत्।
6 स्वव्यापाराप्रतीयमानत्वे। 7 पुरुषः।

[वेदवाक्येन यज्ञकार्ये प्रवर्तमानः पुरुषः स्वर्गादि फलमपश्यन् कथं प्रवर्तेत इति शंकायां भाट्टस्य प्रत्युत्तरं]

[1]स्यान्मतम् ।—

व्यापार[2] एव मम [3]किमवश्यमिति मन्यते । फलं विनैव नैवं[4] चेत् तत्फलाधिगमः [5]कुतः ॥इति ॥

[6]तदप्यसमीक्षिताभिधानम्—अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवेदवाक्यसामर्थ्यादेव पुरुषेण [7]तदा मम एष व्यापार इति प्रत्येतुं शक्यत्वात् । ममेदं[8] कर्तव्यमिति फलमपश्यन् कथं [9]प्रत्येतीति चेत् प्रत्यक्षतः[10] कथं प्रत्येति ? [11]फलयोग्यतायाः प्रतीतेरिति चेद्वाक्यादपि [12]तत एव तथा प्रत्येतु । [13]फलस्यातीन्द्रियत्वात्कथं तद्योग्यता

शब्द भावना अप्रधान है अर्थ भावना प्रधान है इस प्रकार से हमने वेदवाक्य का अर्थ भावना किया है कि नियोग से विशिष्ट है और विशेषण विशेष्य भाव परस्पर में अविनाभावी हैं अतएव वेदवाक्य से प्रेरित होने पर पुरुष अपने यज्ञ रूप व्यापार में प्रवृत्ति करता है यह अर्थ हुआ ।

[वेदवाक्य से यज्ञकार्य में प्रवृत्त हुआ पुरुष स्वर्ग रूप फल को देखे बिना कैसे प्रवृत्त होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर]

भाट्ट—श्लोकार्थ—पुनः यह व्यापार मेरा अवश्य करणीय है इस प्रकार से ही कैसे मानता है अर्थात् वेद के द्वारा कहा गया यागादि लक्षण व्यापार अवश्य ही मेरा है यह बात पुरुष स्वर्गादि फल को देखे बिना जानता है या फल को देखकर के ? यदि वाक्य के उच्चारण काल में स्वर्गादि फल का अभाव है तो मेरा व्यापार है यह बात कैसे मानता है ?

यदि फल को देखे बिना नहीं मानता है तो ज्ञान और प्रवृत्ति की सफलता कैसे होगी ?

जैन—यह आपका कथन भी अविचारित ही है । क्योंकि "अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्ग कामः" इत्यादि वेदवाक्य की सामर्थ्य से तो पुरुष के द्वारा उस वाक्य के उच्चारण काल में यह मेरा व्यापार है ऐसा निश्चय करना शक्य है ।

सौगत—यह मेरा कर्तव्य है इस प्रकार से फल को (स्वर्ग को) नहीं देखते हुए पुरुष कैसे निश्चय करेगा ?

भाट्ट—ऐसा कहो तो आप सौगत भी फल के बिना (स्नान पान आदि फल को देखे बिना) प्रत्यक्ष प्रमाण से यह "जल" है इस प्रकार से कैसे जानते हो क्योंकि स्नानादि फल तो वहां भी प्रत्यक्ष ज्ञान में देखा नहीं जाता है ।

---

1 सौगतस्य । 2 वेदेनोक्तो यागादिलक्षणो व्यापारोऽवश्यं ममेवं स्वर्गादिफलं विना पुरुषोऽवैति न वा । 3 वाक्योच्चारणकाले फलाभावेऽवश्यमेवं व्यापारः कथं मन्यते । 4 फलं विनापि मन्यते चेत् । 5 प्राप्तिश्चरणविरुद्ध । 6 भाट्टः । 7 वाक्योच्चारणकाले । 8 सौगतः । 9 स्नानपानादिफलमपश्यन् । (ब्या० प्र०) 10 भट्टो वदति । सौगतं फलं विना प्रत्यक्षप्रमाणादिदं जलमिति कथं जानाति स्नानादिफलमपश्यन् भवान् कथं प्रत्येति । 11 सौगतः । (स्नानपानादि) । 12 फलयोग्यतायाः प्रतीतेरेव । 13 फलस्य स्वर्गादेः ।

स्वव्यापारस्य [1]कर्त्रा प्रतीयते इति चेत् [2]प्रत्यक्षविषयस्य कथम् ? प्रतिपत्तुरभ्याससामर्थ्यात्प्रत्यक्षस्य [3]विषये फलयोग्यतानिश्चय इति चेत् [4]तत एव च [5]कर्तुः [6]स्वव्यापारे [7]तद्योग्यतानिश्चयोस्तु—सर्वथा विशेषाभावात् ।

[बौद्धो यैवं काल्पनिकं वक्ति, किंतु भाट्टो वास्तविकं मन्यते]

[8]यदप्यवादि प्रज्ञाकरेण

सौगत—फल की योग्यता अनुभव में आती है ।

भाट्ट—पुनः वेदवाक्य से भी उसी प्रकार से—फल की योग्यता के अनुभव से ज्ञात हो जावे क्या बाधा है ?

सौगत—स्वर्गादि फल तो अतीन्द्रिय हैं—इन्द्रियों से नहीं जाने जाते हैं अतः अपने यागादि लक्षण व्यापार की यह योग्यता है इस प्रकार से यजकर्ता को कैसे अनुभव आयेगा ?

भाट्ट—प्रत्यक्ष के विषय की योग्यता का अनुभव कैसे आता है अर्थात् प्रत्यक्ष से जलादि को देख लेने पर तत्क्षण ही इस जल में स्नान पान आदि की योग्यता है सभी को ऐसा कैसे मालूम होता है ?

बौद्ध—जानने वाले के अभ्यास की सामर्थ्य से प्रत्यक्ष के विषय जलादि में फल-स्नान-पानादि की योग्यता का निश्चय हो जाता है ।

भाट्ट—उसी प्रकार से शांतिक, पौष्टिक आचरण रूप फल के अभ्यास से यजकर्ता को याग लक्षण अपने व्यापार में उस फल की योग्यता का निश्चय हो जावे, दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।

भावार्थ—बौद्ध ने भाट्ट के सामने यह समस्या रखी है कि जिस समय "अग्निष्टोमेन यजेत" ऐसा वेदवाक्य सुना और उसका अर्थ यह समझा कि यज्ञ रूप कार्य मेरा अवश्य करणीय कर्तव्य है, क्या उस समय उस समझने वाले पुरुष को उस यज्ञ के फल स्वर्गादि दीखते हैं ? यदि नहीं दिखते हैं तो फल को देखे बिना, समझे बिना वह पुरुष यज्ञ को करने में प्रवृत्ति कैसे करेगा ?

और यदि करेगा तो भी उसकी यज्ञ क्रिया की सफलता भी कैसे मानी जावेगी ? इस पर भाट्ट ने बौद्धों को समझाया है कि भाई ! आप बौद्ध भी तो प्रत्यक्ष से जब जल को देखते हो तो क्या उस जल का स्नान पान आदि फल आपको दिख रहा है ? यदि फल के नहीं दीखने पर भी आप उस फल की योग्यता का अनुभव करके प्रत्यक्ष से हुए जल के ज्ञान को सत्य मानते हो और उसमें प्रवृत्ति करते-कराते हो तब तो हमारे वेद वाक्यों से भी यज्ञ कार्य में प्रवृत्ति मान लो क्योंकि उसका फल स्वर्ग है, इस प्रकार से फल की योग्यता वेदवाक्य के श्रवण के समय अनुभव में आ जाती है जैसे कि जल को प्रत्यक्ष से देखने से उस जल से प्यास बुझाना, स्नान करके स्वच्छ-शुद्ध होना आदि रूप फल

---

1 यजकर्त्रा । 2 (भट्टः) तर्हि प्रत्यक्षस्य सलिलादेः पुरुषेण स्वव्यापारस्य स्नानपानादिक्रियायोग्यता कथं निश्चीयते ? 3 जलादौ । 4 शान्तिकपौष्टिकलक्षणफलाभ्यासात् । (ऐहिकामुष्मिकेपि) । 5 यजकर्तुः । 6 यागलक्षणे । 7 फलयोग्यतानिश्चयः । 8 भट्ट आह ।—यद्यपि वक्ष्यमाणमवादि प्रज्ञाकरेण । (तदपि न परीक्षाक्षममिति सम्बन्धः) ।

"यजते पचतीत्यत्र भावना[1] न प्रतीयते। [2]यज्यादेर्व्यतिरेकेण[3] तस्या वाक्यार्थता कुतः ?
पाकं करोति यागं च यदि भेदः प्रतीयते। एवं सत्यनवस्था स्यादसमञ्जसताकरी"[4] ॥

[5]करोति यागं स्वव्यापारं निष्पादयति यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयति [6]व्यपदेशा एते [7]यथाकथञ्चिद्भेदपरिकल्पनपुरस्सराः[8]। [9]नैतेभ्योऽस्ति [10]पदार्थतत्त्व[11]व्यवस्थेति। शिलापुत्र-[12]कस्य शरीरमिति भेदव्यवहारो भेदमन्तरेणापि दृश्यते।

"यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते। ततः [13]परापुनर्भूता करोतीति न हि क्रिया॥
यज्ञि क्रिया च [14]द्रव्यस्य [15]विशेषणपरा न हि[16]। [17]सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः ॥इति॥"

तदपि न परीक्षाक्षमम्।

की योग्यता अनुभव में आ रही है। अतः पुरुष के द्वारा किया गया यज्ञ स्वर्गादि फल सहित है निष्फल नहीं है।

[बौद्ध भेद को काल्पनिक सिद्ध करना चाहता है किन्तु भाट्ट भेद को वास्तविक मान रहा है]

प्रभाकर बौद्ध—श्लोकार्थ—यजते, पचति इसमें भावना का अनुभव नहीं आता है क्योंकि यजादि अर्थ के अतिरिक्त उस भावना की वाक्यार्थता कैसे होगी ? ॥१॥

श्लोकार्थ—यदि "पाकं करोति", "यागं करोति" पकाता है, यज्ञ करता है ऐसा भेद प्रतीति में आता है ऐसा मानोगे तब तो असमंजसता को करने वाली अनवस्था आ जावेगी ॥२॥

याग को करता है, अपने यजरूप व्यापार को निष्पन्न करता है, याग की निष्पत्ति को बनाता है ये शब्द यथाकथंचित्-प्रकृति प्रत्ययादि भेद बिना भी भेद की कल्पना पूर्वक होते हैं। इन व्यपदेशों से भी पदार्थ-तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती है क्योंकि शिला पुत्रक-केतु का यह शरीर है ऐसे भेद का व्यवहार बिना भेद के भी देखा जाता है।

श्लोकार्थ—"जिस प्रकार से द्विज—ब्राह्मण का व्यापार याग—यज्ञ है ऐसा कहा जाता है पुनः उससे भिन्न करोति यह क्रिया नहीं देखी जाती है" ॥१॥

श्लोकार्थ—"यजि क्रिया—यज्ञ की क्रिया द्रव्य—पुरुष के विशेषण से भिन्न नहीं है क्योंकि

---

1 करोतीत्यर्थः। (ब्या० प्र०) 2 पचन। यज्ञादेरर्थस्य इति वा पाठः क्वचित् लभ्यते। (ब्या० प्र०) 3 अतिरेको नामाऽधिक्यम्। 4 दिशत। (ब्या० प्र०) 5 कथमनवस्थेत्याशङ्क्याह। 6 अवस्थाः। 7 प्रकृतिप्रत्ययादिभेदमन्तरेणापि। 8 वर्तन्ते इति शेषः। 9 व्यपदेशेभ्यः। 10 यदि यागं करोतीत्यत्र भावनाख्यपदार्थतत्त्वव्यवस्था तथा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यत्रापि भावनान्तराणां व्यवस्था भविष्यतीति भावः। (यजते यागं करोतीति भेदव्यवहारे सत्यपि तदभिधेयतत्त्व (भावनाख्य) स्य कथं भेदेऽनवस्था न स्यादित्याशङ्क्याहुः) । 11 यजते यागं करोतीत्यत्राभेदेपि भेदस्त्वया दर्शितो यजनार्थस्त्वेक एवेत्यभेद दर्शयन्नाह। 12 केतोः। 13 यागात्। यागस्य व्यापाररूपस्वाततो भिन्ना करोतीति क्रिया न दृश्यते इति भावः। 14 पुरुषस्य। 15 विशेषणात्। 16 देवदत्ततया भावनात्। 17 केन कृत्वा प्रापणमित्याह सामानाधिकरण्येति।

"यजतेयजतीत्यत्र भावनायाः[1] प्रतीतितः[2]। यजाद्यर्थातिरेकेण युक्ता वाक्यार्थता ततः॥
पाकं करोति यागं चेत्येवं भेदेऽवभासिते। काऽनवस्था मतेतत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम्[3]"॥

यजते यागं करोतीति हि यथा [4]प्रतिपत्तिस्तथा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यपि सैव प्रतिपत्तिः—स्वव्यापारशब्देन यागस्याभिधानात्—निष्पादयतीत्यनेन तु करोतीति प्रतीतेः। यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयतीति नार्थभेदः। यागनिष्पत्तिं निर्वर्त्तयतीत्यत्रापि यागनिष्पत्तिर्याग एव। निर्वर्त्तनं करणमेव। ततो यागं करोतीति प्रतीतं स्यात्। [5]ततो नैते व्यपदेशा[6] यथाकथञ्चिद्भेदपरिकल्पनपुरस्सराः—प्रतीयमानकरोत्यर्थविषयत्वात्। यागं करोति विदधात्येवमादिव्यपदेशवत्। ततो युक्तैवैतेभ्यः[7] पदार्थतत्त्वव्यवस्था अनवस्थानवतारात्[8]।

समानाधिकरण होने से देवदत्त रूप से भान होता है" ॥२॥ अर्थात् देवदत्त के द्वारा ही वह क्रिया प्राप्त की जाती है।

भाट्ट—यह सब आप प्रज्ञाकर बौद्ध का कथन भी परीक्षा को सहन करने में समर्थ नहीं है क्योंकि—

श्लोकार्थ—"यजते, पचति" यहाँ पर भावना की प्रतीति होने से यजादि अर्थ से अतिरिक्त—भिन्न वाक्यार्थता युक्त है।

श्लोकार्थ—पाकं करोति, यागं च, इस प्रकार से भेद के अवभासित होने पर उस प्रतीति का अनुसरण—अनुभव करने वालों को अनवस्था कैसे आयेगी? जिस प्रकार से "यजते पाकं करोति" यज करता है, पाक को करता है इत्यादि ज्ञान होता है उसी प्रकार से अपने व्यापार को निष्पादित करता है इस प्रकार से भी उसी का ज्ञान होता है, क्योंकि "स्व व्यापार" शब्द से यज का कथन किया जाता है और "निष्पादयति" इस शब्द से करोति इस क्रिया की प्रतीति होती है। यागं करोति, स्वव्यापारं निष्पादयति—यज्ञ को करता है, अपने व्यापार को निष्पादित करता है इसमें अर्थ भेद नहीं है।

"यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयति" इसमें भी याग निष्पत्ति का अर्थ याग ही है और निर्वर्त्तन का अर्थ करना ही है। इसलिए इसमें यागं करोति ऐसा ज्ञान होता है अतः इनमें एकार्थता होने से ये व्यपदेश-शब्द यथा कथंचित्—अर्थ भेद के बिना भेद की कल्पना पुरस्सर-पूर्वक होते हैं क्योंकि प्रतीति में आते हुए करोत्यर्थ के विषय हैं। जैसे यागं करोति, विदधाति, इत्यादि व्यपदेश-शब्द भेद के बिना ही होते हैं इसलिए "यागं करोति, स्वव्यापारं निष्पादयति, यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयति" इन वचन व्यवहारों से पदार्थ-तत्त्व-भावनातत्त्व की वास्तविक व्यवस्था होती है। अनवस्था दोष नहीं आता है अर्थात् ये सभी वचन भेद, "करोति" क्रिया रूप अर्थ भावना की ही व्यवस्था करते हैं।

---

1 करोति क्रियारूपायाः। (ब्या० प्र०) 2 प्रतीतिरस्ति यतः। (ब्या० प्र०) 3 व्यपदेशानाम्। 4 प्रतीतिस्तथा इति पा०। (ब्या० प्र०) 5 एकार्थता यतः। 6 अर्थ बिना। 7 यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयति यागं निर्वर्त्तयतीत्येतेभ्यो वाग्व्यवहारेभ्यः (भट्टः संविद्द्वैतवादिनं प्रत्याह)। 8 एते व्यपदेशभेदाः सर्वेपि करोतिक्रियारूपार्थभावनामेव व्यवस्थापयन्ति—अर्थभेदेनाऽनवस्थाभावादिति भावः।

[पुनरपि बौद्धो भेदकल्पनायामनवस्थां दर्शयति भाट्टश्च निराकरोति]

[1]अथ यजते यागं करोति यागक्रियां करोतीत्येवमनवस्थोच्यते[2] [3]तर्हि स्वरूपं[4] संवेदयते स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यप्यनवस्था[5] स्यात्। अथ स्वरूपं संवेदयते इत्यनेनैव स्वरूपसंवेदनप्रतिपत्तेः स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यादि निरर्थकत्वादयुक्तं [6]तर्हि यागं करोतीत्यनेनैव [7]यागावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्तेर्यागक्रियां करोतीत्यादिवचनमनर्थकमेव [8]व्यवच्छेद्याभावात्[9]। यजते इत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतीतेर्यागं करोतीत्यपि वचनमनर्थकमिति चेत्सत्यं[10] यदि तद्वचनादेव तथा प्रत्येति। यस्तु न प्रत्येति तं प्रति विशेषणविशेष्यभेदकथनपरत्वात् तथाभिधानस्य नानर्थक्यम्। शिलापुत्रकस्य[11] शरीरं राहोः शिर इत्यादिभेदव्यवहारा अपि न कथञ्चिद्भेदमन्तरेण

[पुनरपि बौद्ध भेद कल्पना के मानने में अनवस्था दोष देता है, भाट्ट उसका परिहार करता है]

प्रभाकर बौद्ध—"यजते, यागं करोति, यागक्रियां करोति", इस प्रकार से अनवस्था दोष आता ही है।

भाट्ट—तब तो आपके यहाँ "स्वरूपं संवेदयते"—स्वरूप का संवेदन करता है। स्वरूपसंवेदनं संवेदयते-स्वरूप संवेदन का संवेदन करता है। इस कथन में भी अनवस्था हो जावेगी। यदि आप कहें कि "स्वरूपं वेदयते" इस कथन से ही स्वरूप संवेदन का ज्ञान हो जाने से "स्वरूपसंवेदनं संवेदयते" इत्यादि वाक्य निरर्थक हैं अतः अयुक्त हैं। तब तो "यागं करोति" इस वाक्य से ही यागावच्छिन्न क्रिया—यज्ञ से सहित क्रिया का ज्ञान हो जाने से "यागक्रियां करोति" इत्यादि वचन अनर्थक ही हैं, क्योंकि परिहार करने योग्य का अभाव है।

बौद्ध—पुनः "यजते" इस पद से ही यागावच्छिन्न—यज्ञ से सहित क्रिया की प्रतीति होने से "यागं करोति" यह वचन भी अनर्थक हो जावेगा ?

भाट्ट—आपका कहना सत्य है यदि उस 'यजते', वचन से ही वैसा ज्ञान हो जाता है तो वे 'यागं करोति' वचन व्यर्थ ही हैं किन्तु जो उतने मात्र से नहीं समझता है उसके लिए विशेषण, विशेष्य भेद को कहने वाले वाक्य प्रयुक्त किये जाते हैं इसलिए वैसा कथन अनर्थक नहीं है यह शिलापुत्रक का शरीर है, यह राहु का शिर है इत्यादि भेद व्यवहार भी कथंचित् भेद के बिना नहीं होते हैं अन्यथा इन्हें गौणपने का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् कथंचित् भेद के बिना भी यदि भेद व्यवहार प्रवृत्त होते हैं तब तो भेद व्यवहार गौण हो जावेंगे, किन्तु इनको औपचारिक-गौण तो माना नहीं है क्योंकि भेद वास्तविक है इसका आगे ही वर्णन किया है।

---

1 प्रभाकरः। 2 यदि त्वया सौगतेनेति शेषः। 3 भट्टः। 4 कर्तृ। 5 सौगतस्येति शेषः। 6 भट्टः। 7 विशिष्ट। (व्या० प्र०) 8 परिहार्य। 9 विशेषितुं योग्यस्य। (व्या० प्र०) 10 भट्टः। 11 बौद्धः शास्त्र। (व्या० प्र०)

प्रवर्तन्ते—[1]गौणत्वप्रसङ्गात्[2]। शिलापुत्रकस्य, राहोरित्युच्यमाने हि किमिह[3] सन्देहः। तद्व्यवच्छित्तये शरीरं, शिर इत्यभिधानमन्यस्य कार्यादेर्व्यवच्छेदकमुपपन्नम्[4]। तस्मिंश्च[5] सति कस्येति संशयः स्यात्। तद्व्यपोहनाय शिलापुत्रकस्य राहोरित्यभिधानं श्रेयः—अवस्थातद्वतोः[6] [7]कथञ्चिद्भेदात्। शरीरं हि शिलापुत्रकस्यावस्था [8]अवयवोपचयलक्षणावस्थान्तर[9]व्यावृत्ता। शिलापुत्रकः पुनरवस्थाता[10]—[11]खण्डाद्यवस्थान्तरेष्वपि प्रतीतेः। एतेन राहुरवस्थाता शिरोवस्थायाः [12]व्यात्[13]।

[अवस्थांतरेणावस्थावान् कश्चिन्नास्ति इति बौद्धेन मन्यमाने भाट्टः प्रत्युत्तरयति]

[14]सांवृतोऽवस्थाता—अवस्थान्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेन्न—[15]उभयाभावात्। अवस्था-

---

शिलापुत्रक का, राहु का, इतना कहने पर 'क्या' इस प्रकार का सन्देह हो जाता है और उस संदेह की व्यवच्छित्ति-दूर करने के लिए शरीर, शिर, इस प्रकार का उत्तर रूप कथन होता है, अतः अन्य कार्यादि का व्यवच्छेदक होना सुघटित है अर्थात् अन्य योग का व्यवच्छेद न करने पर संदेह बना ही रहता है और शरीर एवं शिर के कहने पर "किसके हैं" ऐसा संशय होता है। उस संशय को दूर करने के लिए शिलापुत्रक का, राहु का, ऐसा कथन करना भी श्रेयस्कर है क्योंकि अवस्था और अवस्थावान्-शरीर और शरीरवान् में कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है। शरीरवान् तो एक जीव विशेष है और शरीर पुद्गल की पर्याय है, बहुत ही अंतर है। शरीर यह शिलापुत्रक की अवस्था है और वह अवयवों के उपचय-परिपूर्णता लक्षण वाला है एवं अवस्थांतर से व्यावृत्त है—ऊर्ध्व स्थिति खण्ड आदि भिन्न-भिन्न अवस्था से रहित है किन्तु शिलापुत्रक स्थितिमान् है और खण्डादि अवस्थान्तरों—भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भी प्रतीत होता है।

इसी कथन से राहु अवस्थावान् है शिर अवस्था है ऐसा कथन सिद्ध हो गया। अर्थात् राहु अवयवी है और शिर आदि उसके अवयव हैं।

[अवस्था को छोड़कर अवस्थावान् कोई जीव नहीं है ऐसी बौद्ध की मान्यता पर भाट्ट के द्वारा समाधान]

बौद्ध—अवस्थावान्-स्थितिमान् काल्पनिक है क्योंकि अवस्था को छोड़कर उसकी उपलब्धि नहीं होती है।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना, अन्यथा अवस्था और अवस्थावान् इन दोनों का ही अभाव हो

---

1 कथञ्चिद्भेदमन्तरेणापि भेदव्यवहाराः प्रवर्तन्ते चेत्तदा भेदव्यवहाराणां गौणत्वं स्यात्। 2 औपचारिकं भेदानष्टम्—तात्त्विकभेदस्यानन्तरं निरूपितत्वात्। 3 किमिति सन्देह इति पाठान्तरम्। 4 अन्ययोगव्यवच्छेदाभावे सन्देहनिवृत्तिर्न स्यात्। 5 शरीरे शिरसि चोच्यमाने सति। 6 शरीरशरीरवतोः। 7 अवस्थापेक्षया। 8 खण्डित्वसम्पूर्णता। 9 ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि। 10 स्थितिमान्। 11 ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि। 12 व्याख्यात इत्यपि पाठः। 13 व्याख्यातः इति पा०। (व्या० प्र०) 14 (बौद्धः) कल्पितः। 15 अवस्थावस्थावतोः।

तुरसत्त्वे सांवृतत्वे वावस्थायाः सत्त्वाऽसांवृतत्वविरोधात् [1]खपुष्पसौरभवत् कृत्रिमफणिफटादिवच्च । [2]ततो वस्तुस्वभावाश्रय[3] एव यागं करोतीति [4]व्यपदेशः—सत्यप्रतीतिकत्वात् । संविदमनुभवतीत्यादि व्यपदेशवत्[5] ।

तथा[6] द्विजस्य व्यापारो यज्ञ इत्यभिधीयते । ततः परा च निर्बाधा करोतीति क्रियेष्यते ॥
यद्वि क्रियापि [7]भावस्याऽ[8]विशेषाद्यज्ञ[9] [10]हि । [11]सामानाधिकरण्येन[12] देवदत्ततथा[13] गतेः ॥

[करोतिक्रिया सामान्यं यज्ञादिक्रिया विशेषाः तयोः सामान्यविशेषयोः भेदोऽस्ति इति भाट्टेनोच्यमाने बौद्धो दोषानारोपयति]

द्विजो हि व्यापृतेतरावस्थानुयायी[14] [15]स [16]एवायमित्येकत्वप्रत्यवमर्षवशान्निश्चितात्मा[17]

जावेगा । अर्थात् स्थितिमान् का अभाव मान लेने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर अवस्था का भी सत्त्व, वास्तविकत्व विरुद्ध हो जावेगा । जैसे आकाश पुष्प का अभाव कहने पर अथवा उसे काल्पनिक मान लेने पर उसकी सुगन्धि का सत्त्व और वास्तविकत्व विरुद्ध है मतलब न आकाश पुष्प ही है न सुगन्धि ही है । एवं कृत्रिम फणि के फटाटोप के समान व्यर्थ है । अर्थात् जैसे कागज या मिट्टी का बनाया हुआ सर्प फण को उठाकर खड़ा नहीं सकता है वैसे ही स्थितिमान् वस्तु को काल्पनिक कहने पर उसके अवयव आदि भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे । इसलिए 'यागं करोति' यह व्यपदेश वस्तु स्वभाव का ही आश्रय लेने वाला है क्योंकि सत्य प्रतीति आ रही है अर्थात् यागकृति—यज्ञक्रिया लक्षण पदार्थ अपने स्वरूप के आश्रित ही है, भावना लक्षण जो वस्तु है वह स्वभावाश्रित ही है अर्थ शून्य नहीं है । जैसे "संविदं अनुभवति"—ज्ञान का अनुभव करता है इत्यादि कथन पाये जाते हैं । और दूसरी बात यह है कि—

श्लोकार्थ—द्विज—ब्राह्मण का व्यापार यज्ञ है ऐसा कहा जाता है । और उससे भिन्न बाधा-रहित "करोति" यह क्रिया स्वीकार की गई है ।

श्लोकार्थ—यदि क्रिया भी द्विज लक्षण भाव (पुरुष) से अभेद रूप होने से भिन्न है अथवा यज्ञ क्रिया भी द्विज-पुरुष से भिन्न होने से भिन्न ही है । ऐसा भी अर्थ टिप्पणी के आधार से होता है क्योंकि देवदत्त के साथ ज्ञान का समानाधिकरण है, सर्वथा ऐक्यरूप समानाधिकरण नहीं है ॥

---

1 अपुष्पस्यासत्त्वे सांवृतत्वे च सौरभस्य सत्त्वमसांवृतत्वं च विरुद्ध्यते यथा । 2 सिक्थपुञ्जकस्य शरीरमित्यादि व्यवहारः कथञ्चिद्भेदमन्तरेण घटते यतः । 3 यागकृतिलक्षणः पदार्थः आत्मस्वरूपाश्रय एव । 4 भावनालक्षणं यद्वस्तु तत्स्वभावाश्रयमित्युक्तेर्व्यर्थशून्यत्वं नेत्यर्थः । 5 कर्तृकर्मक्रियालक्षणवस्तु । यथा एकस्य संवेदनस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं । (ब्या० प्र०) 6 किञ्च । 7 भावस्य विशेषात् इति पा० । विशेषाद्—भेदात् । (ब्या० प्र०) 8 द्विजलक्षणस्य द्रव्यस्य । 9 अभेदात् । 10 यद्वि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा नहीति च पाठः । 11 सर्वथा ऐक्ये सामानाधिकरण्यं नास्ति यतः । (ब्या० प्र०) 12 सहार्थे तृतीया । 13 यो द्विजः पूर्वं यागं कुर्वन् स्थितः स एवायं यागमकृत्वा स्थित इति । (ब्या० प्र०) 14 व्यापृतावस्थाव्यापी । (ब्या० प्र०) 15 अव्यापृतावस्थाव्यापी । (ब्या० प्र०) 16 इत्यभिज्ञान ।

परमार्थात्सन्नेकः[1]। यागस्तु तद्व्यापारः प्रागभूत्त्वा भवन् पुनरप[2]गच्छन्ननित्यतामात्मसात्कुर्वन् भेदप्रत्ययविषयस्ततोऽपर[3] एव—[4]कथञ्चिद्विरुद्ध[5]धर्माध्यासात्[6]। [7]तथा [8]यागेतरव्यापारव्यापिनी[9] करोतीति [10]क्रियानुस्यूतप्रत्ययवेद्या [11]तद्विपरीतात्मनो यागादर्थान्तरभूता सर्वथाप्यप्रतिक्षेपा[12]र्हानुभूयते—[13]यजते यागं करोति देवदत्त इति [14]समानाधिकरणतया देवदत्तेन[15]सहावगतेः। [16]सर्वथा तदैक्ये तद्विरोधात् पटतत्स्वात्मवत्। [17]किं करोति देवदत्तः ?

[करोति क्रिया सामान्य रूप है और यजनपचनादि क्रियायें विशेष रूप हैं। इनमें भेद है, ऐसा भाट्ट के कहने पर बौद्ध के द्वारा बोध आरोपित किये जाते हैं]

यहाँ द्विज, व्यापार और अव्यापार दोनों ही अवस्था का अनुयायी—"यह वही है" इस प्रकार से एकत्व के प्रत्यवमर्ष–प्रत्यभिज्ञान से निश्चित स्वरूप वाला है और यह द्विज परमार्थ से सत् रूप एक है अर्थात् जो ब्राह्मण पहले यज्ञ को करते हुए स्थित था यह वही यज्ञ को न करते हुए स्थित है।" किन्तु याग उसका व्यापार है वह प्राग्—पहले नहीं होकर वर्तमान में होता हुआ पुनः नष्ट होता हुआ अनित्यपने को आत्मसात् करता हुआ भेद के ज्ञान का विषय है इसलिए उस द्विजपुरुष से यह याग लक्षण व्यापार भिन्न ही है क्योंकि कथंचित्–उत्पाद विनाश की अपेक्षा से विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है।

तथा द्विज से याग लक्षण भिन्न है एवं याग और पचन व्यापार में व्याप्त होकर रहने वाली "करोति" यह क्रिया अनुस्यूतप्रत्यय—अन्वय रूप ज्ञान से वेद्य है—यजन पचन आदि में करोति के अर्थ का सद्भाव होने से अनुगत प्रत्यय से जानी जाती है और करोति क्रिया से विपरीत स्वरूप याग से अर्थान्तरभूत–भिन्न सर्वथा भी तिरस्करण नहीं करने योग्य यह करोति क्रिया अनुभव में आती है। "यजते, यागं करोति देवदत्तः" इस प्रकार से देवदत्त के साथ याग का समानाधिकरण है। यदि सर्वथा इन दोनों में एकत्व मानोगे तो उसमें विरोध आ जावेगा क्योंकि जैसे वस्त्र और उसके स्वरूप में एकता है वैसी यहाँ नहीं है किसी ने कहा—किं करोति देवदत्तः ! इस प्रश्न के होने पर "यजते पचति" इस प्रकार से निश्चित हो जाने पर भी यज्यादिकों में संदेह देखा जाता है। तथाहि—

---

1 परमार्थः सन्नेकः इति पाठान्तरम्। 2 गच्छन्। 3 द्विजात्तद्व्यापारो यागरूपो भिन्न एव। 4 उत्पादविनाशापेक्षया। 5 द्विजात्। 6 अनित्यत्वलक्षणश्च। 7 द्विजादपसक्षणक्रिया भिन्ना यथा। 8 पचन। 9 अन्वयव्यतिरेकभेदात् कथंचिद् भेदः। (व्या० प्र०) 10 यजनपचनादौ करोत्यर्थसद्भावेनानुगतप्रत्ययवेद्या। 11 करोत्यर्थविपरीतात्मकाद्यजनात् करोतीति क्रियायाश्चान्तरभूतास्ति। 12 अनिराकरणीया। 13 यागस्तु तद्व्यापारस्ततो देवदत्तादपर एवेति करोतीति क्रिया यागादर्थान्तरभूतेत्यनेनाक्षरोक्तसाध्यादेर्ये व्याकृतं यजते यागं करोति देवदत्तः यजतिपचतीत्यादिना च साधनदूषणमुपदर्शयन् यजते इत्याह। 14 देवदत्तस्य करोतेश्च समानाधिकरणता। 15 यागस्य। 16 यो बौद्ध। तयोः करोतीतिक्रिययागयोः देवदत्तेन सह सर्वथैकत्वे तत्सामानाधिकरण्यं विरुद्ध्येत यथा पटतत्स्वरूपयोः सर्वथैक्ये सामानाधिकरण्यं विरुद्ध्यते (न तु कथञ्चिदैक्ये)। 17 यागमन्या क्रियेति साधनदूषणेन स्थापयति।

यजति पचतीति प्रश्नोत्तरदर्शनात् करोतीति निश्चितेपि यज्यादिषु [1]सन्देहाच्च। तथा हि।—[2]यस्मिन्निश्चीयमानेपि यन्न निश्चीयते ततः कथञ्चिदन्यत्। यथान्यदेहे निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमाना बुद्धिः। करोतीति निश्चीयमानेप्यनिश्चीयमानश्च यज्यादिरिति। [3]स्यान्मतम्।—

करोत्यर्थयज्यार्थौ[4] यदि तत्त्वतः। अन्यत्तन्निश्चयेनान्यत्र [5]कथने दुर्घटः[6] क्रमः[7] ॥

न हि करोतीति क्रियातो विशिष्टायां यज्यादिक्रियायां सन्देहे [8]ततोन्यत्र करोत्यर्थे निश्चिते प्रश्नः श्रेयान्—[9]अनिश्चिते एव प्रश्नस्य साधीयस्त्वात्। ततः करोत्यर्थयज्यादि-

---

जिसके निश्चित हो जाने पर भी जो निश्चित नहीं किया जाता है वह उससे कथंचित् भिन्न है, जैसे अन्य का शरीर निश्चित हो जाने पर भी उसकी बुद्धि निश्चित नहीं है। "करोति" इस क्रिया के निश्चित हो जाने पर भी यज्यादिक निश्चित नहीं होते हैं इसलिए करोति क्रिया से यजनादिक क्रियायें भिन्न ही हैं।

बौद्ध—श्लोकार्थ—"करोति" क्रिया का अर्थ और यजनादि क्रिया का अर्थ ये दोनों यदि वास्तव में भिन्न-भिन्न हैं तब तो एक के संदिग्ध होने से दूसरे का कथन करने में क्रम दुर्घट हो जावेगा॥

करोति इस क्रिया से भिन्न यज्यादि क्रिया के अन्वय—करोति अर्थ के निश्चित हो जाने पर प्रश्न श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि सामान्य की अपेक्षा से अनिश्चित में ही प्रश्न करना श्रेयस्कर है। इसलिए करोति क्रिया के अर्थ में और यज्यादि क्रिया के अर्थ में तादात्म्य ही मानना चाहिए। यही कारण प्रश्नोत्तर देखे जाते हैं करोति अर्थ और यज्यादि अर्थ यदि वास्तव में सामान्य-विशेष होने से भिन्न हैं तब तो अब यज्यादि अर्थ संदिग्ध होगा तब करोति क्रिया के अर्थ का कथन करने में यह क्रम नहीं बन सकेगा। एवं किसी ने प्रश्न किया कि गौ कैसी है? उत्तर मिला कि सफेद है। इस उदाहरण ऐसा समझना कि तादात्म्य में ही प्रश्नोत्तर देखे जाते हैं।

[वैनयक का आश्रय लेकर भाट्ट उत्तर देता है]

भाट्ट—आपका यह कथन भी सुघटित नहीं है क्योंकि करोति क्रिया का अर्थ सामान्य रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं तथा सामान्य और विशेष में कथंचित्—सामान्य की अपेक्षा से अभेद स्वीकार किया गया है।

---

1 समानाधिकरणत्वाविशेषः। 2 यज्यादिः करोत्यर्थाद्भिन्नः—तस्मिन्निश्चीयमानेपि तस्मादनिश्चीयमानत्वात् 3 बौद्ध आह। करोत्यर्थयज्यार्थयोः सामान्यविशेषौ तत्स्वरूपेण यदि भिन्नौ तदान्यो यज्यादेरर्थः संदिग्धः सन्यस्य करोत्यर्थस्य कथने क्रमोत्तरे तदार्थं क्रमो दुर्घटः। 4 करोत्यर्थयज्यार्थौ इति पा०। (ब्या० प्र०) 5 प्रश्ने। (ब्या० प्र०) 6 अन्यच्च हेयदृते निश्चिते प्रश्नदृते श्रेयस्त्वमिति:। (ब्या० प्र०) 7 प्रश्नोत्तरक्रमः। (ब्या० प्र०) 8 यज्यादिक्रियातः। 9 सामान्यापेक्षयाऽनिश्चितेर्थे।

र्थयोस्तादात्म्यमेषितव्यम्—[1]तत्रैव प्रश्नोत्तरदर्शनादिति । [2]तदेतदनुपपन्नम्—करोत्यर्थस्य सामान्यरूपत्वात्—तद्विशेषरूपत्वाच्च यज्यादेः । सामान्यविशेषयोश्च [3]कथञ्चिद्भेदोपगमात् । [4]सन्दिग्धस्यैव [5]कथनात् । प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वाघटनात्[6] । [7]तदभेदैकान्ते एव तस्य दुर्घटत्वात् । स्यादाकूतं ते[8] ।—

[9]न सामान्यं विशेषेण बिना [10]किञ्चित्प्रतीयते[11] । सामान्यमाक्षिप्य[12] बाधस्य[13] न हि[14] बाधाऽप्रतीतितः ॥

[15]केवलसामान्यप्रतीतौ हि विशेषांशे सन्देह [16]इत्ययुक्तम्—[17]तस्याऽप्रतीतत्वात् । [18]घटप्रतीतौ हिमवदादिवत्[19] । [20]अथ [21]सामान्येन विशेष[22] आक्षिप्यते । तथा [23]सति सोपि

संदिग्ध—यज्यादि अर्थ में ही प्रश्न देखे जाते हैं। अतः प्रश्नोत्तर का क्रम दुर्घट नहीं होता है। अर्थात् सामान्य विशेष में कथंचित् सामान्य की अपेक्षा से अभेद के स्वीकार करने से एकतर-दो में से एक रूप के संदिग्ध का कथन होने से प्रश्नोत्तर का क्रम बन जाता है उन सामान्य विशेष में सर्वथा-एकांत से अभेद स्वीकार करने पर ही वह क्रम दुर्घट है।

बौद्ध (प्रज्ञाकर)—श्लोकार्थ—"विशेष के बिना सामान्य कुछ भी प्रतीति में नहीं आता है विशेष युक्त ही प्रतीति में आता है। एवं जो सामान्य से स्वीकृत की गई है उसकी निश्चय से अप्रतीति नहीं होती है।" केवल सामान्य की प्रतीति के हो जाने पर विशेषांश में संदेह होता है आप भाट्ट के यहाँ जो ऐसा कथन है वह अयुक्त है क्योंकि वह विशेष प्रतीति नहीं होता है जैसे घट की प्रतीति में हिमवन् आदि प्रतीत नहीं होते हैं।

भाट्ट—सामान्य (करोति) अर्थ से विशेष (यज्यादि) अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। उस सामान्य के प्रतीत होने पर वह विशेष भी प्रतीत होता ही है अतः संशय कैसे हो सकेगा? क्योंकि प्रतीत को छोड़ कर और अन्य कोई स्वीकृति है ही क्या?

वह सामान्य—करोति अर्थ से प्रतीत ही है किन्तु विशेष—यज्यादि अर्थ रूप से नहीं है क्योंकि वह विशेष सामान्य रूप से ही जान लिया जाता है।

बौद्ध—वह सामान्य ही आक्षेपक—आपक—बतलाने वाला हो और वही आक्षेप्य—आप्य—

---

1 गौः कीदृशीति प्रश्ने शुक्लेति उत्तरमुपलब्धम्। (ब्या० प्र०) 2 आह भट्टः।—सामान्यविशेषयोरेकान्तेनाभेदस्य सर्वथैक्यमित्येतस्यो बौद्धस्य प्रमाणविरुद्धम्। 3 सामान्यापेक्षया। (ब्या० प्र०) 4 यज्यादेरर्थस्य। 5 प्रश्नात्। 6 सामान्यविशेषयोः कथञ्चित्तादात्म्यापेक्षया अभेदोपगमादेकतरस्य सन्दिग्धस्य कथनात् प्रश्नोत्तरक्रमो घटते। 7 तयोः सामान्यविशेषयोः सर्वथाऽभेदे सत्येव तस्य प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वं स्यात्। 8 प्रज्ञाकरस्य। 9 भट्टेन यदि सामान्यविशेषयोः कथञ्चिद्भेदोऽनुपगम्यते तदा न सामान्यमित्यादि। 10 ततः कथं विशेषे संदेहः। (ब्या० प्र०) 11 विशेषयुक्तमेव प्रतीयते इत्यर्थः। 12 सामान्येन स्वीक्रियमाणस्य (आप्यमानस्य)। 13 विशेषस्य प्रतीतस्य। (ब्या० प्र०) 14 निश्चयेन। 15 कारिकायाः पूर्वार्धस्य दुरूहत्वादुत्तरार्द्धं व्याचष्टे। 16 भट्टकथनम्। 17 विशेषस्य। 18 सामान्यविशेषयोः सर्वथा भेदविवक्षायां सत्यां। (ब्या० प्र०) 19 संदेहः स्यान्न तथा। (ब्या० प्र०) 20 भट्टः। 21 करोत्यर्थेन। 22 यज्यादेर्थः। 23 (बौद्धः) सामान्ये प्रतीते सति।

प्रतीत एवेति कथं संशयः ? न हि प्रतीतत्वादपर [1]आक्षेपः । अथ प्रतीत एवासौ [2]सामान्येन न तु [3]विशेषेण—तस्य सामान्यरूपेणाक्षेपात्[4] । [5]ननु तदेव सामान्यमाक्षेपकं[6] तदेवाक्षेप्यमिति कथमेतत् ? न च सामान्यादपरं सामान्यमाक्षेप्यम् । [7]तथा सति ततोप्यपरं ततोप्यपरमित्यनवस्था[8] । [9]ननु सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषा[10]प्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयो युक्त [11]एव, न[12] त्वनुपलम्भादभाव[13] एव[14] युक्तः [15]सामान्येनानुपलम्भप्रमाणवादिनः[16] । [17]अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भादभावे[18] नानुपलब्धिमात्रात् [19]तथा[20]नुपलब्धेरेव[21] संशयः [22]व्यर्थमेतत्सामान्यप्रत्यक्षादिति । यदि सामान्यप्रत्यक्षतायामप्युपलब्धि[23]लक्षणप्राप्तानुपलब्धिर्न[24] [25]स्यात् । [26]स्यात्संशयः[27] । [28]अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरेव न सम्भवति सामान्यप्रत्यक्षतायाम् ।

बतलाने योग्य हो यह कैसे हो सकेगा ? एवं सामान्य से भिन्न कोई सामान्य आक्षेप्य है नहीं । यदि अपर सामान्य मानोगे तो उससे भी भिन्न अपर सामान्य पुनः उससे भी भिन्न अपर सामान्य इत्यादि रूप से अनवस्था आ जावेगी ।

भाट्ट—सामान्य का प्रत्यक्ष होने से तथा विशेष का प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति के होने से संशय होना युक्त ही है किन्तु अनुपलंभ होने से अभाव ही है ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि हम भाट्ट सामान्य अनुपलंभ प्रमाणवादी हैं । अर्थात् दृश्यानुपलंभ और अदृश्यानुपलंभ के विभाग बिना अनुपलम्भमात्र से अभाव कहना ठीक नहीं है ।

उपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तु का अनुपलब्धि से अभाव होता है अनुपलब्धिमात्र से नहीं ।

प्रभाकर—उस प्रकार से अनुपलब्धि से अभाव होता है इसलिए "सामान्यप्रत्यक्षात्" यह कथन व्यर्थ है । यदि सामान्य की प्रत्यक्षता हो जाने पर उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि नहीं होवे तब तो संशय हो सकता है ।

भाट्ट—सामान्य की प्रत्यक्षता में तो उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि ही संभव नहीं है ।

---

1 स्वीकारः । 2 करोत्यर्थेन । 3 यज्ञदत्तार्थेन । 4 परिज्ञानात् । 5 बौद्धः । 6 आपकम् । 7 अपरस्मिन् सामान्ये सति । 8 विशेषं विना सामान्यं न प्रतीयते सामान्ये विशेषस्याक्षेपात् तर्हि विशेषः प्रतीयते एवेत्यादि संवपरावर्तः । (ब्या० प्र०) 9 भाट्टः । 10 अदर्शनात् । (ब्या० प्र०) 11 दृश्यमानानुपलम्भाद्दृश्यमानानुपलम्भविकल्पद्वयं परिहृत्य सामान्यमेवानुपलम्भप्रमाणं यो भवति तस्यानुपलम्भादभाव एव घटते, न तु संशयः । 12 तन्वनुपलंभात् इति पा० । प्रभाकरः । (ब्या० प्र०) 13 विशेषस्य । (ब्या० प्र०) 14 न तु संशयः । (ब्या० प्र०) 15 दृश्यादृश्यानुपलंभविभागं विना । (ब्या० प्र०) 16 भाट्टस्य । 17 भाट्टः प्राह । 18 अभावो इति पा० । (ब्या० प्र०) 19 तथा सत्यप्यनुपलब्धेरेव इति पा० । (ब्या० प्र०) 20 उत्तरमाह प्रभाकरः । 21 अनुपलब्धिमात्रादेव । 22 यतस्ततः । 23 यज्ञादि । 24 किन्त्वनुपलब्धिमात्रं स्यात् । 25 तर्हि । 26 नास्ति च तथा तत्त्वस्य भाव एवेति भावः । 27 तथाऽनुपलब्धिलक्षणरूपायाः विशाचादीनामनुपलब्धेः संशयो युक्तः । 28 भाट्टः ।

एवं [1]तर्हि सैवानुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः संशयहेतुरिति प्राप्तं; विशेषस्मृतेरिति च [2]व्यर्थम्। न हि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापरः संशयः—[3]उभयांशावलम्बिस्मृतिरूपत्वात्संशयस्य। दृश्यते च कन्याकुब्जादिषु[4] सामान्यप्रत्यक्षताव्यतिरेणापि[5] प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयः। [6]तस्मात्करोतीति[7] तदेव [8]यज्यादिकमनियमेन प्रतीयमानं [9]सामान्यतो [10]दृष्टानुमानात्सामान्यम्।

[बौद्धेनारोपितसंशयदोषो भाट्टेन निराक्रियते]

तदेतदपि प्रज्ञापराधविजृम्भितं प्रज्ञाकरस्य—करोत्यर्थसामान्यस्याध्यवसाये[11] यज्याद्यर्थविशेषानवगतावेव [12]तत्संशयोपगमात्। न च सामान्येध्यवसिते ततोन्यत्र—विशेषेनध्यवसिते[13]

बौद्ध—यदि ऐसा है तो वही अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलब्धि संशय का हेतु है यह बात सिद्ध हो गई है पुनः "विशेष की स्मृति होने से" यह कथन व्यर्थ ही है।

विशेष स्मृति को छोड़कर संशय नाम की और कोई चीज ही नहीं है। क्योंकि संशय तो "यजति, पचति" उभय अंश का अवलंबन करने वाली जो स्मृति है उस रूप है। कान्यकुब्जादि ब्राह्मणों में सामान्य प्रत्यक्षता के बिना भी प्रथमतर के स्मरण से ही संशय होता है। इसलिए करोति इस प्रकार का कथन है वही यज्यादि विशेष रूप है और अनियम से—बिना नियम के प्रतीत होता हुआ सामान्य (एक रूप से) दृष्टानुमान से सामान्य है।

[बौद्ध के द्वारा आरोपित संशय दोष का भाट्ट के द्वारा निराकरण किया जाता है।]

भाट्ट—यह सब आप प्रज्ञाकर का कथन भी प्रज्ञा के अपराध से विजृंभित ही है। क्योंकि करोति क्रिया के अर्थ सामान्य का निश्चय हो जाने पर एवं यज्यादि अर्थ विशेष का ज्ञान न होने पर ही विशेष में संशय घटित होता है। सामान्य के निश्चित होने पर और उससे अन्यत्र विशेष का निश्चय न होने पर संशय होता है ऐसा मानने से तो अतिप्रसंग दोष आ जावेगा क्योंकि सामान्य और विशेष में कथंचित् अभेद स्वीकार किया गया है। किन्तु हिमवन पर्वत एवं घटादिकों में तो परस्पर अत्यंत भेद देखा जाता है।

---

1 पूर्वोक्तानुपलब्धिमात्ररूपा। (ब्या० प्र०) 2 तर्हि वैयर्थ्यं भवतु का नो हानिरित्युक्ते आह। 3 यजतिपचति। 4 नागरेषु कान्यकुब्जादिषु इति क्वचित्पाठः। 5 सामान्ये संशयस्याभ्यतिरेको न स्तः। अनुपलब्धिमात्रे स्तः। ततश्च सामान्यप्रत्यक्षादिति विशेषणं व्यर्थम्। 6 संशयो न घटते यतः। 7 उल्लेखनम्। 8 विशेषरूपं न तु करोतीति क्रियारूपम्। 9 एकत्वेन। 10 दृष्ट इति भावप्रधानोयं निर्देशः। ततश्च सामान्यतो दृष्टात् सामान्यरूपेण दृश्यमानत्वाल्लिङ्गाज्जातमनुमानं तस्माद्यज्यादिकं सामान्यम्—तथैव दृश्यमानत्वात्। यद्यथा दृश्यते ततथैव भवति यथा नीलं नीलतया। इत्यनुमानम्। (भट्टः) यज्यादिकं सामान्यं न भवति—तद्व्यतिरिक्तकरोतिसामान्यासम्बन्धात्। सत्त्वसामान्यासम्बन्धे घटादिवत्। इत्युक्ते सौगतः प्राह।—यज्यादिकं स्वव्यतिरिक्तकरोतिसामान्यासम्बन्धेपि सामान्यं भवति परापरसामान्येषु सामान्यान्तराभावेपि सामान्यं सामान्यमिति प्रतीतिलक्षणानुमानसद्भावादिति भावः। 11 निश्चये। 12 विशेषे संशयो घटते। 13 विशेषेऽप्रवसिते इति वा क्वचित् पाठः। (ब्या० प्र०)

संशीतावतिप्रसङ्गः—सामान्यविशेषयोः [1]कथञ्चिदभेदात् ।—हिमवद्घटादीनां तु परस्परमत्यन्तभेदात् । [2]एकत्र निश्चयेपि [3]नामवगततदन्यतमे[4] संशीतिर्यतोतिप्रसङ्गः स्यात् । नापि सामान्येनाक्षिप्ते[5] [6]तद्विशेषसंशयो[7]पगमोस्ति[8] [9]यतस्तदाक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषो[10]पक्षेपः[11] । न [12]चैवमनभिमततद्विशेषेष्वविशेषेण संशयोनुषङ्गी—स्मरणविषये एव विशेषेनेकत्र[13] [14]संशयप्रतीतेः ।

[संशयलक्षणस्य विचारः]

सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशय इति वचनात् । सामान्ये ह्युपलभ्यमाने [15]तदविनाभाविनो विशेषस्यानुपलम्भेपि नाभावः सिद्धयति—तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गात्[16] । तदुक्तम् ।—

एकत्र—घट का निश्चय होने पर भी हिमवत् पर्वत आदि के नहीं जानने पर संशय नहीं हो सकता है कि जिससे अति प्रसंग दोष आ सके अर्थात् नहीं आ सकता है । एवं सामान्य से स्वीकृत में उस विशेष का संशय भी नहीं है, कि जिससे उस आक्षेप पक्ष में निक्षिप्त दोषों का प्रसंग हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है । मतलब हमारे स्वीकार किये गये पक्ष में दिये गये दोषों का प्रसंग नहीं हो सकता है और इस प्रकार से अनभिमत उन विशेषों में सामान्य रूप से संशय का प्रसंग नहीं है क्योंकि स्मरण के विषयभूत अनेक विशेष में ही संशय होता है । अर्थात् विवक्षित वस्तु में सामान्य के साथ अविनाभावी बहुत से विशेषों के होने पर एक स्मरण के विषयभूत विशेष में संशय घटित होता है अनभिमत अविवक्षित वस्तु के उन विशेषों में संशय नहीं होता है ।

[संशय के लक्षण का विचार]

क्योंकि "सामान्य का प्रत्यक्ष होने से और विशेष का प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति के होने से संशय होता है" ऐसा हमने कहा है । सामान्य के उपलभ्यमान होने पर उस सामान्य से अविनाभावी विशेष की अनुपलब्धि में भी अभाव सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उस विशेष के अभाव में तो सामान्य के भी अभाव का प्रसंग आ जावेगा । कहा भी है—

श्लोकार्थ—निर्विशेष सामान्य खरगोश की सींग के समान है और सामान्य रहित विशेष भी उसी प्रकार से—उस विषाण के समान ही है । इस प्रकार से विशेष में अदृश्यानुपलब्धि के होने ही

---

1 क्रियान्वयलक्षणसामान्यरूपेण । 2 घटे । 3 हिमवदादौ । 4 तदन्यतमसंशीतिः इति पा० । (ब्या० प्र०) 5 आते । (ब्या० प्र०) 6 तद्विशेषे इति पा० । (ब्या० प्र०) 7 सामान्यरूप । विशेषभावे इत्यर्थः । (ब्या० प्र०) 8 कथंचिदभिन्ने । (ब्या० प्र०) 9 यतः विशेषस्य । (ब्या० प्र०) 10 अनवस्थादि प्राप्तिः । (ब्या० प्र०) 11 अपि तु न । 12 सामान्येनाक्षिप्ते तद्विशेषे संशयानुषक्तप्रकारेण । विवक्षितविशेषप्रकारेण । अविवक्षितं । (ब्या० प्र०) 13 विशेषे अनेकत्र । (ब्या० प्र०) 14 विवक्षितवस्तुसामान्याविनाभाविविशेषेषु बहुषु सत्स्वेकस्मिन् स्मरणयोग्ये विशेषे संशयो घटते । अनभिमतस्याविवक्षितस्य वस्तुनस्तेषु विशेषे संशयो नास्ति । 15 सामान्य । 16 विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावप्रसङ्गात् ।

निर्विशेषे हि सामान्ये प्रमाणस्याविषयत्वतः । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥

[1]न [2]चैवं विशेषेऽदृश्यानुपलब्धेरेव संशयः—स्मृतिनिरपेक्षत्वप्रसङ्गात् । विशेषस्मृतिरेव संशय इति चेन्न—साध्यसाधनव्याप्तिस्मृतेरपि संशयत्वप्रसङ्गात् । सर्वसाधनानां [3]संशयितसाध्यव्याप्तिकत्वापत्तेस्तत्स्मृतेरचलितत्वात् संशयत्वमिति चेत्तर्हि चलिता [4]प्रतीतिः संशयः । सा [5]चोभयविशेषस्मृत्युत्तरकालभाविनी—[7]तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । न [8]पुनर्विशेषस्मृति-

---

संशय है ऐसा भी नहीं कहना, अन्यथा—वह स्मृति से निरपेक्ष हो जावेगा ।

विशेषार्थ—यहाँ पर भाट्ट ने संशय का लक्षण किया है कि "सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से, और विशेष धर्म के प्रत्यक्ष न होने से एवं विशेष की स्मृति होने से संशय होता है ।" एवं जैनाचार्यों के संशय का लक्षण इस प्रकार है "विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशयः" अथवा स्थाणुर्वा पुरुषोवेति । स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य च कोटरत्वादेः पाण्यादेः साधकप्रमाणाभावाच्चानेककोटिपरामर्शित्वं ज्ञानस्य । अर्थात् विरुद्ध "अनेक पक्षों के अवलंबन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं" । जैसे —यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष ? यहाँ स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव पुरुषत्व और पुरुषत्वाभाव इन चार अथवा स्थाणुत्व और पुरुषत्व इन दो पक्षों का अवगाहन होता है । प्रायः संध्या आदि के समय मंद प्रकाश होने के कारण दूर से मात्र स्थाणु और पुरुष दोनों में सामान्य रूप से रहने वाले ऊँचाई आदि साधारण धर्मों के देखने से और स्थाणुपने टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषपने सिर पैर आदि विशेष धर्मों के साधक प्रमाणों का अभाव होने से नाना कोटियों का अवलंबन करने वाला यह संशय ज्ञान होता है । सदृशत्व वस्तुमात्र ज्ञान को संशय कहते हैं, यह ऐसा है या ऐसा ? इत्यादि । यहाँ पर भाट्ट द्वारा मान्य लक्षण की प्रायः निस्सारता बतलाई है । इस पर बौद्ध की अनेक कल्पनायें हैं "विशेष की अदृश्यानुपलब्धिरूप बाधक के संशय होता है" का विशेष की स्मृति से संशय होता है इत्यादि मान्यतायें ठीक नहीं हैं ।

शंका—विशेष की स्मृति होनी ही संशय है ।

भाट्ट—ऐसा भी नहीं कहना । अन्यथा साध्य साधन की व्याप्ति का स्मरण भी संशय हो जावेगा । पुनः सभी हेतुओं को संशयित साध्य से व्याप्त मानना होगा । यदि आप कहें कि उन हेतुओं की स्मृति अचलित है अतः उनसे संशय नहीं होता है तब तो चलित प्रतिपत्ति ही संशय है यह बात सिद्ध हो गई । और यह चलित प्रतीति रूप (अवाय और पक्षत रूप उभय) विशेष स्मृति के उत्तर काल में

---

1 (भट्टः) विशेषाणामनुपलम्भसहायाद्विशेषस्मरणेन । 2 एवं विशेषे सामान्याविनाभाविनि सति अदृश्यानुपलब्धेः सकाशात्संशयो न भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धेरेव संशयः । अदृश्यानुपलब्धौ स्मृतेर्निरपेक्षत्वं भवति किन्तु दृश्यानुपलब्धौ सापेक्षा स्मृतिः । 3 संशयिता संशयप्राप्ता साध्ये व्याप्तियेषां तानि संशयितसाध्यव्याप्तिकानि तेषां भाव इत्यादि । 4 अनिश्चिता । 5 प्रतिपत्तिरिति पाठान्तरम् । 6 अवायपक्षतयोः । (ब्या० प्र०) 7 संशयस्य । 8 तर्हि चलिता प्रतिपत्तिः संशयो न पुनर्विशेषे स्मृतिरेवेति संक्षेपो द्रष्टव्यः । (ब्या०प्र०)

रेव[1] सामान्योपलब्धिवत्। तदुभयांशावलम्बिनी स्मृतिः संशीतिरित्यपि [2]फल्गुप्रायम्—[3]तदविचलनेपि संशीति प्रसङ्गात्। [4]सामान्याप्रत्यक्षतायामपि कन्याकुब्जादिषु प्रथमतरमेव [5]स्मरणात् संशयदर्शनान्न सामान्योपलम्भः संशयहेतुरिति चेन्न—असिद्धत्वात्। तत्रापि हि [6]प्रासादादिसन्निवेशविशेषविषयः[7] संशयः कन्याकुब्जनगरसामान्योपलम्भन [8]पुरस्सर एव—[9]सर्वथानुपलम्भे संशयविरोधात् सर्वथोपलम्भवत्[10]। योपि [11]तद्भावाभावविषयः[12]संशयः सोपि नगरादिसामान्योपलम्भपूर्वक एव। नगरादिकं सामान्यतस्तावत्प्रसिद्धम्। कन्याकुब्जादि नामकं तु [13]तदस्ति किं वा नास्तीत्युभयांशावलम्बिनः प्रत्ययस्योत्पत्तेर्न च नगरत्वं[14] नाम न किञ्चिदिति वक्तुं शक्यम्—

होती है क्योंकि उसका अन्वय व्यतिरेक माना गया है। किन्तु सामान्य की उपलब्धि के समान विशेष की स्मृति ही संशय नहीं है।

उन उभय अंशों का अवलंबन लेने वाली स्मृति संशय है यह आप बौद्ध का कथन भी फल्गु प्रायः है क्योंकि ऐसा मानने पर तो साध्य-साधन रूप उभय अंशावलंबी निश्चल भूत में भी—अविचलन में भी संशय का प्रसंग आ जावेगा।

बौद्ध—सामान्य की प्रत्यक्षता के न होने पर भी कान्यकुब्जादिकों में प्रथमतर ही स्मरण होने से संशय देखा जाता है अतः सामान्य का प्रत्यक्ष होना संशय में हेतु है यह कथन ठीक नहीं है।

जैन—नहीं। क्योंकि आपका यह कथन असिद्ध है। वहाँ पर भी प्रासादादि रचना विशेष को विषय करने वाला संशय है और वह कन्याकुब्ज नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है। क्योंकि सामान्य रूप से भी विशेष की अनुपलब्धि होने पर अर्थात् सर्वथा अनुपलब्धि होने पर संशय का विरोध है सर्वथा उपलब्धि के समान।

जो भी सामान्य के भाव और विशेष के अभाव रूप—सामान्याभाव का विषयभूत संशय है वह नगरादि सामान्य की उपलब्धि पूर्वक ही है। सामान्य से नगरादि तो प्रसिद्ध ही है किन्तु कान्यकुब्जादि नाम वाले हैं या नहीं? इस प्रकार से उभयांशावलंबी ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु नगर का नाम कुछ नहीं है ऐसा कहना तो शक्य नहीं है। प्रत्यासत्ति विशेष होने से प्रासादादि के समूह को ही नगर कह दिया जाता है। वहाँ "नगरं नगरं" इत्यादि रूप से अनुस्यूत ज्ञान का हेतु होने से नगर सामान्य सिद्ध

---

1 संशय इति शेषः। 2 बौद्धोक्तम्। 3 साध्यसाधनेत्युभयांशाविचलनेपि (निश्चलभूतेपि)। 4 बौद्धः। 5 विशेष। (ब्या० प्र०) 6 रचनाविशेष। 7 स्वस्तिक सर्वतोभद्रादि। (ब्या० प्र०) 8 पूर्वक एव। 9 सामान्यस्यैवापि विशेषस्यानुपलम्भे। 10 सामान्यविशेषप्रकारेण। (ब्या० प्र०) 11 सामान्यस्य भावः विशेषस्याभावस्तयोर्विषयः। संशयः। 12 कन्याकुब्जादिनगरम्। कन्याकुब्जादि नगरम् भवति न वा। (ब्या० प्र०) 13 भवति। (ब्या० प्र०) 14 नगरं इति पा०। (ब्या० प्र०)

प्रत्यासत्तिविशेषस्य[1] प्रासादादिसमूहस्य नगरत्वोपवर्णनात्। [2]तत्रानुस्यूतप्रत्ययहेतोर्नगरत्व-सामान्यस्य सिद्धेस्तदुपलम्भपूर्वकस्तद्विशेषे[3] संशयो न विरुध्यत एव। ततः करोत्यर्थसामान्यो-पलम्भात्तद्विशेष[4]यज्यादेर्थस्यानुपलब्धेरनेक[5]विशेषस्मरणाच्च[6] युक्तस्तत्र [7]सन्देहः। न हि तदेव यज्यादिकमनियमेन[8] [9]करोतीत्युपलब्धुं शक्यम्। [10]करोत्यर्थसामान्यासम्भवे[11] सत्त्व-सामान्यासम्भवे घटादिकमिवास्तीत्यनियमेन[12] [13]पराऽपरसामान्येषु[14] पुनः सामान्यमित्यनिय-मेनोपलम्भो गौण एव—सामान्येषु सामान्यान्तरासम्भवात्। तत्सम्भवे वानवस्थाप्रसङ्गात्। न चैवं[15] [16]सर्वत्र सामान्यमन्तरेणेवानियतप्रत्ययो[17] गौण इति वक्तुं [18]शक्यम्—[19]मुख्या-भावे गौणास्यानुपपत्तेः। [20]विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः [21]सामान्याकारो मुख्यः [22]स्वलक्षणेषु

है। उस नगर सामान्य की उपलब्धि पूर्वक उन महलादि विशेष में संशय उत्पन्न होना है यह बात विरुद्ध नहीं है।

इसलिए करोति क्रिया के अर्थ सामान्य की उपलब्धि होने से यजति पचति रूप विशेष यज्यादि अर्थ की अनुपलब्धि होने से एवं यजते, पचति इत्यादि अनेक विशेषों का स्मरण होने से यहाँ संदेह होना युक्त ही है। क्योंकि वे ही यज्यादिक क्रियायें बिना विभ्रम से करोति इस क्रिया के अर्थ को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है।

बौद्ध—करोति क्रिया का अर्थ सामान्य न होने पर सत्त्व सामान्य के असंभव में वह घटादि के समान है। इस प्रकार के अनियम से पर सामान्य—महासत्ता और अपर सामान्य—यजति पचति इत्यादि उस विशेष भाव रूप विशेष सत्ता है। पुनः सामान्य है इस प्रकार की उपलब्धि गौण ही है क्योंकि सामान्य में भिन्न सामान्य असंभव है। अथवा यदि सामान्य में भी सामान्यांतर मानो तो अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा।

शब्दाद्वैत—इस प्रकार से परापर सामान्यों में सामान्य की उपलब्धि को गौणता से सभी वस्तुओं में सामान्य के बिना ही अनियत—सामान्य प्रत्यय गौण है ऐसा आप बौद्धों का कहना शक्य नहीं है। क्योंकि मुख्य सामान्य के अभाव में गौण हो ही नहीं सकता है।

1 आदिः। संयुक्तसंयोगात्पीयस्त्वलक्षण। (अष्टा० प्र०) 2 नगरं नगरत्वेति। 3 प्रासादादौ। 4 यजति यजतीत्यादि। 5 यजते पचतीत्यादि। (अष्टा० प्र०) 6 नगरेऽनुगतज्ञानकारणात्। 7 तस्मादित्युपसंहारवाक्यं विराकुर्वन्नाह शाङ्करः। 8 अभेदेन सामान्येन। 9 करोत्यर्थेन। 10 सौगतः। 11 पूर्वपक्षानुपपत्ते हेतुविरुद्धः प्रतिभासः। हेतुर्घटितं विशेषणं। (अष्टा० प्र०) 12 सामान्येन। (अष्टा० प्र०) 13 ननु परापरेषु सामान्येषु परं सामान्यं महासत्ता अपरं करोति पचति यजतीत्यादि तद्विशेषस्वभाव एव तदभावेपि (सामान्यभावे) इदं सामान्यमिदं सामान्यमिति सामान्यान्तरेणापि सामान्यमुपलब्धुं शक्यत एवेत्युक्ते वाह। 14 बौद्धादिप्रायमनूद्य दूषयति। (अष्टा० प्र०)। 15 परापरसामान्येषु सामान्योपलम्भस्य गौणत्वप्रकारेण। 16 वस्तुषु। 17 सामान्यप्रत्ययः। 18 हे सौगत! 19 मुख्यसामान्यस्य। 20 सौगतः। 21 अन्यापोहो बहिरर्थः (सत्याकार इति पाठान्तरम्)। 22 अनुगतविकेषु।

पुनरारोप्यमाणो गौण इति [1]चित्र-विशेषाकारस्यापि[2] [3]तत्र गौणत्वप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुम्-प्रत्यक्षबुद्धौ[4] प्रतिभासमानो विशेषाकारो [5]मुख्यो, बहिः स्वलक्षणेषु स एवाध्यारोप्यमाणो गौण इति। नन्वेवमपि[6] ज्ञानविशेषाः [7]परमार्थतः सन्तः सिद्धाः ? बहिरर्थविशेषास्तु न वास्तवा इति [8]विज्ञानवादिमतमायाते [9]तर्हि[10]—विज्ञानसामान्यं वस्तुभूतं न बहिरर्थसामान्यमिति [11]सामान्यविशेषात्मकं विज्ञानं परमार्थसदायातं [12]न [13]क्षणिकविज्ञानस्वलक्षणैकादि-

---

सौगत—विकल्प बुद्धि में प्रतिभास मान सामान्याकार—(अन्यापोह वाच्यार्थ) मुख्य है पुनः अनुक्षणिक रूप स्वलक्षणों में आरोपित किया गया सामान्य गौण है।

जैन—ऐसा नहीं कहना। अन्यथा—उन अक्षु-क्षणिकों में विशेषाकार—स्वलक्षण गौण हो जावेगा। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष बुद्धि-निर्विकल्प ज्ञान में प्रतिभास मान विशेषाकार मुख्य है, क्योंकि वह निर्विकल्प ज्ञान का ही विशेषाकार है बाह्य पदार्थ का नहीं है, बाह्य स्वलक्षणों में "यह वही है" ऐसा अध्यारोपित किया गया आकार गौण है।

सौत्रान्तिक बौद्ध—इस प्रकार से भी सामान्य और विशेष का बाह्य में सत्व न होने से ज्ञान विशेष परमार्थ सत् सिद्ध है किन्तु बाह्य अर्थ विशेष वास्तविक नहीं है।

इस प्रकार से विज्ञानवादियों का मत आ जाता है जो हमें इष्ट नहीं है।

जैन—तब तो विज्ञान सामान्य ही वास्तविक है किन्तु बाह्य अर्थ सामान्य वस्तु भूत नहीं है इस प्रकार से सामान्य विशेष ज्ञान ही पारमार्थिक सत् है किन्तु क्षणिकविज्ञान स्वलक्षणवादी सौत्रान्तिक का मत सिद्ध नहीं होता है क्योंकि ज्ञान में पूर्व में सामान्य को स्वतः स्वीकार किया है। विकल्प बुद्धि में प्रतिभास मान सामान्याकार मुख्य है इसलिए परमार्थसत् है यह बात सिद्ध हो जाती है—क्योंकि विकल्प ज्ञान में सामान्य का आकार स्वीकृत किया है निर्विकल्प में नहीं माना है अतः कोई दोष नहीं है ऐसा भी नहीं मानना, विकल्प ज्ञान के स्वरूप में निर्विकल्प रूप से बाह्य सामान्याकार भी मुख्यत्व रूप से स्वीकृत किया गया होने से परमार्थ से सामान्य विशेषात्मक ज्ञान सिद्ध हो गया इसलिए अन्तर्बाह्य वस्तु के सिद्ध न होने से सौत्रांतिक का मत सिद्ध नहीं होता है।

सौगत—विकल्प ज्ञान में भी होने वाले सामान्याकार—घट पटादि आकार वास्तविक नहीं हैं

---

1 बाह्यः। 2 स्वलक्षणलक्षणस्य। 3 अनुक्षणिकेषु। 4 निर्विकल्पकज्ञाने। 5 निर्विकल्पज्ञानस्यैव विशेषाकारो न तु बहिरर्थस्य। 6 (सौत्रान्तिकः) सामान्यविशेषयोर्बहिरवस्तुप्रकारेण। 7 परमार्थसन्त इति पाठान्तरम्। 8 योगाचारमतम्। 9 बाह्यः। 10 सौत्रान्तिकमतमाशंक्य भट्टेनोच्यते। (ब्या० प्र०) 11 आगे पूर्वं सामान्यस्य स्वयमभ्युपगतत्वात् विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः सामान्याकारो मुख्य इति परमार्थसदायातम्—विकल्पज्ञाने सामान्याकारस्याभ्युपगमात् निर्विकल्पके तदनभ्युपगमादरोप इति न मन्तव्यम्—विकल्पज्ञानस्य स्वरूपे निर्विकल्पकत्वेन बहिः सामान्याकारस्यापि मुख्यत्वाभ्युपगमेन परमार्थतः सामान्यविशेषात्मनो ज्ञानस्य समायातत्वात्। 12 सौत्रान्तिकस्य। 13 स्वलक्षण। (ब्या० प्र०)

मतम्[1]। [2]विकल्पविज्ञानेपि न वास्तवः [3]सामान्याकारः—तस्याऽनाद्यविद्योपपादितत्वात्। संवेदनस्वरूपस्यैवासाधारणस्य[4] परमार्थसत्त्वादिति [5]चेन्न—विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात्। संवेदनेपि नासाधारणाकारः पारमार्थिकः—तस्यानाद्यविद्योदयनिबन्धनत्वात् [6]संवेदनसामान्यस्यैव वास्तवत्वादिति [7]वदतोऽन्यस्यापि निवारयितुमशक्यत्वात्[8]। [9]न वस्तुभूतं संवित्सामान्यम्[10]—[11]वृत्तिविकल्पान[12]वस्थादिदोषानुषङ्गाद् बहिरर्थसामान्यवत्[13] इति चेत्तर्हि[14] न संविद्विशेषः परमार्थः सन्—[15]विचार्यमाणा[16]योगाद्बहिरर्थविशेष[17]वदित्यप्यन्यो ब्रूयात्[18]। तथा च [19]सत्याऽऽश्रयासिद्धो हेतुरित्युभयत्र[20] समानं दूषणम्। साध्य [21]साधनविकलं

क्योंकि वे सामान्याकार अनादि अविद्या से उपकल्पित हैं। किन्तु असाधारण संवेदन स्वरूप ही परमार्थ सत् है।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि इससे विपरीत कल्पित करना भी शक्य है। संवेदन में भी असाधारणाकार पारमार्थिक नहीं हैं वे अनादि अविद्या के निमित्त से ही हैं, अतः संवेदन सामान्य निर्विकल्प ज्ञान ही वास्तविक है ऐसा कहने वाले हम भाट्ट का भी आप सौगत निवारण नहीं कर सकते हैं।

सौगत—संवित् (ज्ञान) सामान्य वस्तुभूत नहीं है। क्योंकि वृत्ति, विकल्प अनवस्था आदि अनेक दोषों का प्रसंग आता है। जैसे कि बाह्यार्थ सामान्य को स्वीकार करने पर अनेक दोष आते हैं।

भाट्ट—तब तो संवित् विशेष भी परमार्थ सत् सिद्ध नहीं होगा क्योंकि विचार करने पर बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव ही सिद्ध होगा। इस प्रकार से संवित्सामान्यवादी भी कह सकते हैं और ऐसा कहने पर तो आपका हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता है। इस प्रकार से संवित्सामान्य और संवित्विशेष दोनों में दूषण समान ही है। और हमारा जो "बहिरर्थवत्" दृष्टांत है वह साधन शून्य है ऐसा भी आप नहीं कह सकते हैं क्योंकि वह भी समान ही है।

---

1 सौगतस्यैवमिदम्। 2 सौगतः प्राह। 3 घटपटाद्याकारः। 4 विशेषस्य। (ब्रा० प्र०) 5 भाट्टः। 6 निर्विकल्पज्ञानं। 7 भाट्टस्य। 8 सौगतेनेति शेषः। 9 सौगतः। 10 इति। (ब्रा० प्र०) 11 एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्याने द्वितीयपरिच्छेदे विचारयिष्यते। 12 सामान्यस्य व्यक्तिरहितस्यैवेदं वस्तु। (ब्रा० प्र०) 13 घटादि। (ब्रा० प्र०) 14 भाट्टः। 15 तदा। (ब्रा० प्र०) 16 अवस्तुत्वेन वा कार्यमित्यादिकारिकाव्याख्याने तृतीयपरिच्छेदे विचारयिष्यमाणत्वात्। 17 यथास्माभिः बहिरर्थः परमार्थसन्न इति। (ब्रा० प्र०) 18 संवित्सामान्यवादी भाट्टः। 19 संवित्सामान्यं प्रमाणसिद्धमसिद्धं वा? प्रमाणसिद्धं चेत्—वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात्। अप्रमाणसिद्धं चेत्तर्हि आश्रयासिद्धो हेतुः। एवं संविद्विशेषः प्रमाणसिद्धोऽप्रमाणसिद्धोवेत्यपि द्रष्टव्यम्। 20 संवित्सामान्यसंविद्विशेषयोः। 21 सौगत आह—हे भट्ट बहिरर्थविशेषवदिति स्वयोक्तो दृष्टान्तः साध्यसाधनविकल इति। भट्टो ब्रवीति—इत्यपि सौगतेन न भणितव्यं—तथापि बहिरर्थसामान्यवदिति दृष्टान्ते तुल्यदूषणत्वात्।

निदर्शनमित्यपि न चोद्यम्—समानत्वात् । [1]संवित्स्वलक्षणा[2]द्वैतोपगमात्[3] सिद्धसाधनमिति[4] चेत् [5]संवित्सामान्याद्वैतोपगमात्परस्यापि[6] सिद्धसाधनं कुतो न भवेत् ? [7]संवित्सामान्याद्वैतं प्रतीतिविरुद्धम्—विशेषसंविदभावे जातुचिदसंवेदनादिति चेत् [8]संवित्स्वलक्षणाद्वैतमपि तर्हि प्रतीतिविरुद्धमेव—संवित्सामान्यसंवेदनाभावे तद्विशेषसंवेदनस्य [9]सकृदप्यभावात् । सर्वविशेषसमाप्तीनां समानत्वात् । [10]ततो [11]निर्बाधप्रतीतिबलाद्भेदव्यवस्थायां सामान्यव्यवस्था-ऽस्तु[12] सुघटैव[13] । [14]अन्तःसंवेदनेषु तद्वद्बहिरर्थेषु च सामान्यविशेषव्यवस्थोररीकर्तुं[15] युक्तानिर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात् । एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं धर्मकीर्तिना—

[16]*अतद्रूपपरावृत्त[17]वस्तुमात्रप्रवेदनात् । सामान्यविषयं प्रोक्तं [18]लिङ्गं [19]भेदाप्रतिक्षिप्तेः ॥इति॥

सौगत—संवित् स्वलक्षण—विशेष अद्वैत को स्वीकार करने से माध्यमिक के प्रति सिद्ध साधन ही है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो संवित् सामान्य को स्वीकार करने वाले संवित् सामान्यवादी भाट्ट को भी सिद्ध साधन क्यों नहीं हो जावेगा ।

सौगत—संवित् सामान्याद्वैत तो प्रतीति से विरुद्ध है क्योंकि विशेष संवेदन के अभाव में कदाचित् भी संवेदन नहीं होता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तब तो संवित् स्वलक्षणाद्वैत भी तो प्रतीति से विरुद्ध ही है क्योंकि संवित् सामान्य के संवेदन का अभाव होने पर तो संवित् विशेष का संवेदन सर्वथा-एक बार भी संभव नहीं है अर्थात् ज्ञान सामान्य का अनुभव न होने पर ज्ञान विशेष का भी अनुभव नहीं हो सकता है । अतः आप दोनों संवेदन वादी के यहाँ आक्षेप और समाधान दोनों समान ही हैं । इसलिए सामान्य के अभाव में विशेष का भी अभाव हो जाता है अतः निर्बाध प्रतीति के बल से भेद व्यवस्था-विशेषावस्था के सिद्ध हो जाने पर सामान्य व्यवस्था भी घटित हो ही जाती है अर्थात् जैसे भेद व्यवस्था में विशेष प्रतिभासित होता है वैसे ही अंतः संवेदन में सामान्य आधारित होता है ।

अतः अंतः—संवेदन में और उसी के समान बाह्य पदार्थों में सामान्य विशेष व्यवस्था स्वीकार करना आप सौगत को युक्त ही है क्योंकि निर्बाध प्रतीति से सिद्ध होना दोनों जगह समान है ।

इसी कथन से उसका भी निरसन हो जाता है जो कि धर्मकीर्ति आचार्य ने कहा है कि—

श्लोकार्थ—"अतद्रूप से परावृत्त—अन्य रूप से व्यावृत्त वस्तुमात्र का प्रवेदन होने से सामान्य विषयक ही अनुमान कहा गया है क्योंकि अनुमान से भेद का ग्रहण नहीं होता" ॥

---

1 सौगतः । (ब्या० प्र०) 2 विशेष । (ब्या० प्र०) 3 माध्यमकैकान्तपक्षपातात् (मध्यमकशिक्षामनुपपन्नात्) । (ब्या० प्र०) 4 माध्यमिकं प्रति । (ब्या० प्र०) 5 भाट्टः । (ब्या० प्र०) 6 विज्ञप्तिवादिनो भट्टस्य । (ब्या० प्र०) 7 सौगतः । (ब्या० प्र०) 8 भाट्टः । (ब्या० प्र०) 9 सर्वथा । (ब्या० प्र०) 10 भाट्टः (सामान्याभावे विशेषस्याप्यभावो यतः) । (ब्या० प्र०) 11 विशेषावस्थायाम् । (ब्या० प्र०) 12 सामान्यव्यवस्था तु इति पाठान्तरम् । (ब्या० प्र०) 13 प्रतिभासते विशेषो भेदव्यवस्थायां तथा तथान्तःसंवेदने सामान्यमाभासते । (ब्या० प्र०) 14 बाह्य इति पाठान्तरम् । (ब्या० प्र०) 15 सौगतैः । (ब्या० प्र०) 16 अन्यरूपेण । (ब्या० प्र०) 17 अन्यापोह । (ब्या० प्र०) 18 लिङ्गजनितत्वाल्लिङ्गमनुमानम् । (ब्या० प्र०) 19 भेदस्याभिस्वलक्षणस्यानुमानेनाग्रहणात् । (ब्या० प्र०)

[1]तद्रूपानुवृत्तस्य[2] वस्तुमात्रस्य निर्विकल्पबोधाधिकरणस्य[3] [4]सिद्धेर्भेदमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वात्[5]—सर्वदा बहिरन्तश्च[6] भेदाभेदात्मनो[7] वस्तुनः प्रतिभासनात् ।

[भेदाभेदो विवक्षावशवर्तिनी इति बौद्धस्य मान्यताया निराकरणं]

[8]न चैतौ भेदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्तिनौ—[9]सर्वत्र तत्संकरप्रसङ्गात्[10] [11]येनात्मना[12] भेदव्यवस्था तेनैवाभेदव्यवस्थितिः स्यात्—तद्विवक्षाया[13] निरङ्कुशत्वात् । [14]पूर्ववासना[15]प्रतिनियमाद्विवक्षायाः प्रतिनियमसिद्धेर्न तद्वशाद्भेदाभेदव्यवस्थितौ संकरप्रसङ्ग इति चेत्[16]कुतस्त[17]द्वासनाप्रतिनियमः ? [18]प्रबोधकप्रत्ययप्रतिनियमादिति चेन्न—[19]तदनियमे तदनियमप्रसङ्गात् । पूर्वस्ववासनाप्रतिनियमात्प्रकृतवासनाप्रतिनियम इति चेन्न—[20]तस्याः संविदव्यभिचारे [21]वस्तु-

---

अतएव तद्रूप से अनुवृत्त—युक्त वस्तु मात्र निर्विकल्प ज्ञान से अधिरूढ है—सामान्य-विशेष विषयक ही सिद्ध है किंतु सामान्य निरपेक्ष विशेष रूप भेद मात्र वस्तु व्यवस्थित नहीं है । क्योंकि सर्वदा बाह्य घटादि और अंतर्ज्ञान रूप बाह्याभ्यंतर वस्तु भेदाभेदात्मक-सामान्य विशेषात्मक ही प्रतिभासित होती है ।

[भेद और अभेद को विवक्षा के आश्रित मानने रूप बौद्ध की मान्यता का निराकरण]

ये दोनों भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती भी नहीं हैं । अन्यथा-सर्वत्र संकर दोष आ जावेगा । अर्थात् जिस स्वरूप से भेद व्यवस्था है उसी स्वरूप से अभेद व्यवस्था भी हो, जावेगी क्योंकि वह विवक्षा तो निरङ्कुश है अतः भेदाभेद विवक्षा के वशवर्ती नहीं हैं ।

सौगत—पूर्व की वासना के प्रतिनियम से विवक्षा का प्रतिनियम सिद्ध है अतः उसके निमित्त से भेदाभेद की व्यवस्था में संकर दोष का प्रसंग नहीं आता है ।

भाट्ट—यदि ऐसा कहो तो उस वासना का प्रतिनियम किस प्रकार से है ?

सौगत—प्रबोधक-निर्विकल्प ज्ञान के प्रतिनियम से उस वासना का प्रतिनियम सिद्ध है ।

भाट्ट—ऐसा नहीं कहना । अन्यथा उस प्रबोधक प्रत्यय में पूर्व वासना का प्रतिनियम न करने पर प्रबोधक प्रत्यय का भी प्रतिनियम नहीं बन सकेगा ।

सौगत—पूर्व स्ववासना के प्रतिनियम से प्रकृत वासना का प्रतिनियम बन जाता है ।

---

1 नन्वभेद एव नास्ति ततो भेदाभेदात्मकं कुत इत्यालक्ष्यायां स्याद्वादमार्गस्थित्य भट्टो वदति । 2 मुक्तस्य । 3 सामान्यविशेषरूपस्य विषयस्य । 4 बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति । (व्या० प्र०) 5 सामान्यनिरपेक्षस्य विशेषस्य । 6 बहिर्घटादिरन्तर्वस्तुज्ञानम् । 7 सामान्यविशेषात्मकस्य । 8 सौगत आह अभेदवद्भेदोपि विवक्षावशवर्त्येव—सर्वविकल्पातीतत्वादस्येति । 9 सर्व (तृतीया) 10 कर्म । (व्या० प्र०) 11 स्वरूपेण । (व्या० प्र०) 12 कथं तमाह । 13 द्वैतवाह्यार्थाभावात् । (व्या० प्र०) 14 सौगतः । 15 संस्कार । (व्या० प्र०) 16 भाट्टः । 17 पूर्व । 18 प्रकट निर्विकल्पकज्ञान । 19 प्रबोधकाख्ये पूर्ववासनाया अनियमे प्रबोधकप्रत्ययस्यानियमप्रसङ्गात् । 20 निर्विकल्पकज्ञानेन सह तस्या वासनाया व्यभिचारोऽव्यभिचारो वेति विकल्पद्वयं करोति भाट्टः । 21 वासनायाः वस्तुत्वं नाङ्गीकरोषि । (व्या० प्र०)

[1]स्वभावतापत्तेः । कदाचित्तद्व्यभिचारे[2] भेदाभेदव्यवस्थितेरपि[3] व्यभिचारप्रसक्तेः कुतो न तत्सङ्करप्रसक्तिः ? सुदूरमपि गत्वा [4]वस्तुस्वभावावलम्बनादेव तत्परिहारमिच्छता वस्तुस्वभावावेव [5]भेदाभेदौ [6]परेणाभ्युपगन्तव्यौ । [7]ततो यदन्वितं [8]साधारणं वस्तुस्वरूपं तदेव सामान्यं सिद्धम् । न पुनरन्यापोहमात्रं[9] [10]विकल्पबुद्धिपरिनिष्ठितम्—यतः कस्येति—सामान्यं यज्यादिविशेषस्यापि वास्तवं न भवेत् । तदुपलम्भेपि च विशेषे सन्देहेनुपलभ्यमानेपि स्मृतिविषये न [11]स्यात् ।

[बुद्धिभेदमंतरेण पदार्थस्य भेदव्यवस्था न भवतीति बौद्धमान्यतया निराकरणं]

[12]ननु च स्थाणुपुरुष[13]विविक्तमपरमूर्ध्वतासामान्यं यज्यादिविशेष[14]व्यतिरिक्तं च

आद्य—नहीं ! हम ऐसा प्रश्न करेंगे कि निर्विकल्प ज्ञान के साथ वह वासना व्यभिचरित है या नहीं ? यदि उस वासना को निर्विकल्प ज्ञान से व्यभिचारित नहीं कहोगे तब तो वह वस्तु का स्वभाव हो जावेगी । अर्थात् जो जिससे अभिन्न है वह उस स्वरूप है इस तरह वासना को वस्तु स्वभाव मान लेने पर बौद्धमत का व्याघात हो जावेगा । यदि कदाचित् ज्ञान के साथ उस वासना को व्यभिचार-भिन्न मानोगे, तब तो भेदाभेद की व्यवस्था से भी व्यभिचार का प्रसंग आ जावेगा पुनः उनमें संकर दोष कैसे नहीं आवेगा ?

बहुत दूर जाकर भी वस्तु स्वभाव का अवलंबन लेकर ही उन दोषों का परिहार करने की इच्छा रखते हुए आप सौगत को भेदाभेद—विशेष सामान्य इन दोनों को वस्तु का स्वभाव ही स्वीकार करना चाहिये । इसलिए जो अन्वित रूप है, सभी वस्तुओं में साधारण वस्तु का स्वरूप है वही सामान्य है यह बात सिद्ध हो गयी । किन्तु अन्यापोह मात्र अवस्तु विकल्प बुद्धि से परिनिष्ठित नहीं है कि जिससे "करोति" यह सामान्य पद यज्यादि विशेष में व्यापी और वास्तविक न हो सके, अर्थात् वास्तविक ही सिद्ध होता है और जिससे कि उस विशेष के उपलब्ध होने पर भी एवं स्मृति के विषय की उपलब्धि न होने पर भी संदेह न हो सके, अर्थात् संदेह होगा ही होगा ।

[बुद्धि भेद के बिना पदार्थ में भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती है इस बौद्ध की मान्यता का निराकरण किया जाता है]

सौगत—स्थाणु और पुरुष के विशेष से रहित अपर ऊर्ध्वता-सामान्य और यज्यादि विशेष से भिन्न करोति सामान्य वास्तविक नहीं है क्योंकि बुद्धि से अभेद होता है अर्थात् सामान्य को ग्रहण

---

1 यदस्माद्भिन्नं तत्तदात्मकम् । वस्तुस्वभावा वासना यदि तर्हि बौद्धमतव्याघातः वस्तुस्वभावतापत्तेर्बौद्धमतवत् । 2 निश्चयै । 3 एकत्वमेकत्वमनेकत्वम् । 4 बाह्य । (ब्या० प्र०) 5 विशेषसामान्ये । 6 सौगतेन । 7 बाह्यवस्तुस्वभावावलम्बनादेव—सङ्करपरिहारो यतः । 8 सकलसदर्थेषु साधारणम् । 9 अवस्तुमात्रम् । 10 सामान्यं नेति विकल्पबुद्धिपरिगृहीतम् । 11 सकोलत्या वाच्यम् । 12 सौगतः । 13 विशेषौ । 14 भिन्नम् ।

[1]करोतिसामान्यं न वास्तवमस्ति–[2]बुद्ध्यभेदात्। न हि बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेद-व्यवस्थितिः—[3]अतिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

न [4]भेदाद्विन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः[5]। [6]बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता ॥इति॥

तदेतदसदेव[7]—[8]सामान्यभेदयोर्बुद्धिभेदस्य सिद्धत्वात्। सामान्यबुद्धिर्हि तावदनुगताकारा[9] विशेषबुद्धिः [10]पुनर्व्यावृत्ताकारानुभूयते ? दूरादूर्ध्वतासामान्यमेव च प्रतिभाति न स्थाणु-पुरुषविशेषौ—तत्र सन्देहात्[11]। तद्विशेषपरिहारेण प्रतिभासनमेव [12]सामान्यस्य [13]ततो व्यतिरेकावभासनम्—एतावन्मात्रलक्षणत्वात्तद्व्यतिरेकस्य यदप्युक्तम्[14]—

[15]ताभ्यां [16]तद्व्यतिरेकश्चेत् किम्[17] दूरेऽवभासनम्। दूरेऽवभासमानस्य[18] सन्निधानेति[19]भासनम्।

करने वाली "करोति" क्रिया और विशेष को ग्रहण करने वाली "यजयादि" क्रिया है, इस प्रकार की बुद्धि का अभाव है। और बुद्धि में भेद के बिना पदार्थ के भेद की व्यवस्था नहीं हो सकती है। अन्यथा—अति प्रसंग दोष आ जावेगा। अर्थात् एक घट ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जावेगा अथवा एक घट ज्ञान से सभी घटों की प्रतीति का प्रसंग आ जावेगा। कहा भी है—

श्लोकार्थ—भेद से भिन्न अन्य कोई सामान्य नहीं है क्योंकि बुद्धि से अभेद है। एवं बुद्धाकार के भेद से ही पदार्थ का भेद देखा जाता है। अर्थात् यह बुद्धि सामान्य को ग्रहण करने वाली है एवं यह विशेष को ग्रहण करने वाली है इस प्रकार से बुद्धि में भेद का अभाव है।

भाट्ट—आपका यह सब कथन असत् रूप ही है। क्योंकि सामान्य और विशेष में बुद्धि का भेद सिद्ध ही है। "इदं सत् इदं सत्" इस प्रकार के अनुगताकार को सामान्य ज्ञान कहते हैं। एवं "इदं न इदं न" इस प्रकार से व्यावृत्ताकार को विशेष ज्ञान कहते हैं ये दोनों ज्ञान अनुभव सिद्ध हैं, दूर से ऊर्ध्वता सामान्य ही प्रतिभासित किन्तु स्थाणु और पुरुष विशेष प्रतिभासित नहीं होते हैं क्योंकि वहाँ संदेह देखा जाता है। और विशेष का परिहार करके सामान्य का प्रतिभासन ही उस सामान्य से व्यतिरेक का अवभासन है और इतना मात्र ही उस व्यतिरेक का लक्षण है जो कि आपके यहाँ धर्मकीर्ति ने कहा है—

श्लोकार्थ—स्थाणु और पुरुष में जो भेद है वही व्यतिरेक है यदि ऐसा कहो तो निकट में अवभासन क्यों नहीं होता है क्योंकि दूर में अवभासित सामान्य का सन्निधान होने पर विशेष रूप

---

1 करोति सामान्यग्राहिका यजयादिर्विशेषग्राहिकेति प्रकारेण बुद्ध्यभावात्। 2 विशेषग्राहिका सामान्यग्राहिकेति अनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात्। (ब्या० प्र०) 3 एकेन घटज्ञानेनान्येषां ज्ञानं स्यात्। अथवा एकेन घटज्ञानेन सर्वेषां घटानां प्रतीतिप्रसङ्गात्। 4 विशेषात्। (ब्या० प्र०) 5 इदं सामान्यग्राहिकेयं विशेषग्राहिकेत्यनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात्। 6 स्वरूपस्य। (ब्या० प्र०) 7 भाट्टः। 8 सामान्यविशेषयोः (द्वि०) (सप्तमी)। 9 इदं सदिदं सदिति। 10 नेदं नेदमिति। 11 दूरादूर्ध्वतासामान्यस्यैव प्रतिभासनं भवतु। एतावता तस्मात्ततो (विशेषात्) व्यतिरेकाव-भासनं कुत इत्याह। 12 व्यतिरेकस्य। 13 सामान्यात्। 14 धर्मकीर्तिना। 15 स्थाणुपुरुषाभ्याम्। 16 भेदः। 17 किमासन्ने इति पा०। (ब्या० प्र०) 18 सामान्यस्य। 19 विशेषतया प्रतिभासनम्।

इत्येतदप्ययुक्तं[1]—विशेषेपि समानत्वात् । सोपि हि यदि [2]सामान्याद्व्यतिरिक्तस्तदा दूरे वस्तुनः स्वरूपे [3]सामान्ये प्रतिभासमाने किन्न प्रतिभासते ? न ह्यिन्द्रधनुषि नीले[4] रूपे प्रतिपन्ने कांसति[5] पीतादिरूपं दूरान्न प्रतिचकास्ति । [6]अथ निकटदेशसामग्रीविशेषप्रतिभासस्य जनिका न दूरदेशवर्तिनां प्रतिपत्तृणामिति न विशेषप्रतिभासनं[7], [8]तर्हि [9]सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री काचिन्निकटदेशवर्तिनां नास्ति । ततो न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधिः । अस्ति[10] च निकटे सामान्यस्य[11] प्रतिभासनं स्पष्टं विशेषप्रतिभासनवत् । यादृशं तु दूरे तस्यास्पष्टं प्रतिभासनं तादृशं न निकटे विशेषप्रतिभासनवदेव विशेषो[12] हि यथा दूरादस्पष्टः प्रतिभाति न तथा [13]सन्निधाने—[14]स्वसामग्र्यभावात्[15] । [16]अत एव च न

से प्रतिभासन होता है। यह आपका कथन भी विशेष में समान ही है अतः अयुक्त है।

वह भी यदि ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य से भिन्न है तब तो दूर में वस्तु का स्वरूप प्रतिभासित होने पर वह (विशेष) प्रतिभासित क्यों नहीं होता है ? इन्द्र धनुष में सामान्य नील रूप के प्रतिभासित होने पर पीतादि रूप दूर से प्रतिभासित नहीं होते हैं ऐसा तो है नहीं।

सौगत—निकट देशरूप सामग्री विशेष प्रतिभास को उत्पन्न करती है किन्तु दूरदेशवर्ती पुरुषों को विशेष प्रतिभास उत्पन्न नहीं करती है इसलिए विशेष का प्रतिभास नहीं होता है।

भाट्ट—तब तो ऊर्ध्वता लक्षण सामान्य प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली कोई दूरदेशवर्ती सामग्री निकट देशवर्ती जनों को नहीं है। इसलिये निकट में उसका प्रतिभास नहीं होता है। इस प्रकार से समान ही समाधान है। एवं निकट में ऊर्ध्वताकार सामान्य का प्रतिभासन स्पष्ट देखा जाता है जैसे कि विशेष का प्रतिभासन स्पष्ट है।

किन्तु दूर में जैसा उसका अस्पष्ट प्रतिभासन है वैसा निकट में नहीं है, विशेष प्रतिभासन के समान। और जिस प्रकार से विशेष दूर से अस्पष्ट प्रतिभासित होता है उस प्रकार से निकट में नहीं होता है किन्तु स्पष्ट ही प्रतिभासित होता है क्योंकि अपने अस्पष्ट प्रतिभासन की सामग्री का अभाव है।

---

1 भाट्टः। 2 ऊर्ध्वतालक्षणात्। 3 ऊर्ध्वताकारे। (ब्या० प्र०) 4 सामान्ये। 5 इति। (ब्या० प्र०) 6 सौगतः। 7 प्रतिभासः इति पा०। (ब्या० प्र०) 8 भाट्टः। 9 ऊर्ध्वतालक्षणस्य। 10 किं च। (ब्या० प्र०) 11 ऊर्ध्वताकारस्य। 12 अथ विशेषो हि प्रतिनियतदेशत्वादि हाहो न तु स्थाणुपुरुषादिरन्यथा संशयोत्पत्तिरित्यादिना वक्ष्यमाणत्वाच्च। (ब्या० प्र०) 13 किन्तु स्पष्ट एव। 14 स्वस्यास्पष्टप्रतिभासनस्य। 15 सामान्यवद्विशेषेऽस्पष्टप्रतिभासनमेव को दोष इत्युक्ते आह। 16 सामान्यविशेषयोर्दूरादस्पष्टतया प्रतिभासनादेव।

सामान्यस्य प्रतिभासने विशेषेष्वप्रतिभासमानेष्व[1]स्पष्टप्रतिभास[2]व्यवहारः[3]—प्रतिभासमानरूपे[4] एव सामान्ये[5] विशेषे वा अस्पष्टव्यवहारदर्शनात्। न ह्यप्रतिभासितान्य[6]प्रतिभासिता वा [7]कस्यचिदस्पष्टप्रतिभासिता[8]। किं तर्हि ?

[स्पष्टास्पष्टव्यवहारौ ज्ञानस्य धर्मौ स्तः न च पदार्थस्य। स्पष्टज्ञानवच्च अस्पष्टज्ञानमपि सत्यमेव]

कुतश्चि[9]द्दृष्टा[10]दृष्टकारणकलापादस्पष्टज्ञानस्योत्पत्तिरर्थेष्व[11]स्पष्टता[12]—विषयिधर्मस्य विषयेषूपचारात्। संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः स्पष्टतावत्। [13]तस्या विषयधर्मत्वे [14]सर्वदा [15]तथाप्रतिभासप्रसङ्गात् [16]कुतः प्रतिभास[17]परावृत्तिः [18]स्यात् ? न [19]चास्पष्टं संवेदनं निर्विषयमेव—[20]संवादकत्वात् [21]स्पष्टसंवेदनवत्। [22]क्वचिद्विसंवाददर्शनात् सर्वत्र विसंवादे—स्पष्ट-

---

अतएव सामान्य और विशेष का दूर से अस्पष्ट प्रतिभासन होने से ही सामान्य का प्रतिभास होने पर और विशेषों के प्रतिभासित न होने पर अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार नहीं है, क्योंकि प्रतिभासमान स्वरूप सामान्य अथवा विशेष ज्ञान में ही अस्पष्ट व्यवहार देखा जाता है। सामान्य और विशेष में से किसी एक की अप्रतिभासिता अथवा अन्य की प्रतिभासिता किसी सामान्य अथवा विशेष की अस्पष्ट प्रतिभासिता नहीं है।

शंका—तो क्या है ?

[स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञान के धर्म हैं पदार्थ के नहीं। एवं स्पष्ट ज्ञान के समान अस्पष्ट ज्ञान भी प्रमाण है]

समाधान—किसी दृष्ट कारण-देशकालादि और अदृष्ट कारण-मति ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष रूप कारण कलाप से अर्थ में-पदार्थ में अस्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होना ही अस्पष्टता है क्योंकि विषयी धर्म का विषयों में उपचार किया जाता है। अतः अस्पष्टता संवेदन – ज्ञान का ही धर्म है जैसे कि स्पष्टता संवेदन का धर्म है।

और उस अस्पष्टता को विषय का धर्म मानने पर तो सर्वदा अन्धकार अवस्था में भी तथा—उद्योत अवस्था के समान प्रतिभास का प्रसंग आ जावेगा। एवं स्पष्टता ही सर्वथा वस्तु का धर्म है ऐसा स्वीकार करने पर पुनः प्रतिभास की परावृत्ति कैसे हो सकेगी ?

---

1 सर्वथा। 2 नैयायिकोक्तः। (ब्या० प्र०) 3 सर्वदा। 4 प्रतिभासमानस्वरूपे। इति पा०। (ब्या० प्र०) 5 सामान्यज्ञाने विशेषज्ञाने वा। 6 सामान्यविशेषयोर्मध्ये एकस्य। 7 सामान्यस्य विशेषस्य वा। 8 अस्पष्टस्पष्टप्रतिभासिताभेदेपि ज्ञानाश्रिते स्तो न तु वस्त्वाश्रिते। 9 दृष्टाकारणं देशकालादि अदृष्टं कारणं मतिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। 10 दृष्ट—चक्षुरादि। अदृष्ट—पुण्यपापादि। (ब्या० प्र०) 11 भवति। 12 विषयप्रतिभासनं सूक्ष्मवस्त्वाश्रितवस्तुवत्। (ब्या० प्र०) 13 अस्पष्टतायाः। 14 अन्धकारावस्थायामपि। 15 उद्द्योतावस्थावदिव। 16 वस्तुनः स्पष्टताधर्मस्य सर्वदा प्रतिभासस्वीकारे पुनरुक्तमाह। 17 निवृत्तिः। (ब्या० प्र०) 18 बौद्धाभिप्रायमनूद्य दूषयति। 19 (भाट्टः) सविकल्पकम्। 20 सत्यत्वात्। 21 निर्विकल्पकवत्। 22 अस्पष्टज्ञाने।

संवेदनेपि तत्प्रसङ्गात् । [1]ततो [2]नैतत्साधु—

बुद्धिरेवंतदाकारा[3] [4]तत इत्यपदिश्यते [5]यदा । तदास्पष्टप्रतीभासव्यवहारो जगन्मतः ॥

इति—[6]चन्द्रद्वयादिप्रतिभासे[7] तद्व्यवहारप्रसक्तेः । [8]न च मीमांसकानां सामान्यं विशेषेभ्यो[9] भिन्नमेव वाऽभिन्नमेव[10] वा—तस्य [11]कथञ्चित्ततो भिन्नाभिन्नात्मनः प्रतीतेः । प्रमाणसिद्धे च सामान्यविशेषात्मनिजात्यन्तरे वस्तुनि तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकत्वोपपत्तेर्न काचिद्बुद्धिरविशेषाकारा[12] सर्वथास्ति, नाप्यसामान्याकारा सर्वदोभयाकारायास्तस्याः प्रतीतेः । न चार्थाकारा[13] बुद्धिः—तस्या निराकारत्वात् तत्र[14] प्रतिभासमानस्याकारस्यार्थधर्मत्वात् । न[15] च[16] निराकारत्वे संवेदनस्य [17]प्रतिकर्मव्यवस्था ततो विरुध्यते—

एवं अस्पष्ट संवेदन—सविकल्पज्ञान निर्विषयक ही है ऐसा भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि स्पष्ट संवेदन—निर्विकल्प संवेदन के समान यह अस्पष्ट संवेदन भी संवादक है—सत्य है।

यदि अस्पष्ट प्रतिभास (अविशदज्ञान) में कहीं पर विसंवाद दिख जाने से सर्वत्र विसंवाद स्वीकार करोगे तब तो स्पष्ट संवेदन में भी वही प्रसंग आ जावेगा। अतः अस्पष्ट संवेदन भी विषय को ग्रहण करने वाला है निर्विषयक नहीं है यह बात सिद्ध हो गई। अतएव आपका यह कथन भी सम्यक् नहीं है कि—

श्लोकार्थ—अतदाकार (अस्वलक्षणाकार, अविशेषाकार, बहिःस्वलक्षणाकार) बुद्धि ही जब स्वलक्षण अर्थ से उत्पन्न होती है तभी जगन्मान्य अस्पष्ट प्रतिभास व्यवहार होता है। इस प्रकार से तो तैमिरिक रोग वाले के चन्द्रद्वयादि के प्रतिभास में वह व्यवहार हो जावेगा।

मीमांसकों के यहाँ स्थाणु पुरुषादि विशेषों से सामान्य सर्वथा भिन्न ही हो अथवा अभिन्न ही हो, ऐसा तो है नहीं क्योंकि वह सामान्य उन विशेषों से कथंचित् भिन्नाभिन्नात्मक रूप से ही प्रतीति में आ रहा है।

इस प्रकार से सामान्य विशेषात्मक, जात्यंतर वस्तु की प्रमाण से सिद्धि हो जाने पर उसको ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाता है। अतः विशेषाकार से व्यावृत्त अविशेषाकार का अभाव है।

---

1 अस्पष्टसंवेदनं सविकल्पं यतः। 2 वक्ष्यमाणम्। 3 अस्वलक्षणाकारा, अविशेषाकारा, बहिःस्वलक्षणाकारा। 4 स्वलक्षणलक्षणार्थात्। 5 यदा तु प्रतिभासते तदेत्यादि पाठान्तरम्। 6 एकस्मिन्नभस्तलादुत्पन्ना अतदाकारा चंद्रद्वयाकाररूपा बुद्धिरस्पष्टप्रतिभासा भवतु। न च तथास्ति। (ब्या० प्र०) 7 सातैमिरिकस्य। 8 तर्हि भवतां मीमांसकानां भेदाभेदे सतीदं दूषणं समानं तत्र किम्? इति प्रश्ने आह। 9 स्थाणुपुरुषादिभ्यः। 10 अत एवास्पष्टस्य लक्षणं निर्विकल्पलक्षणं दूषणं न। 11 अस्वलक्षणविवेचनं। (ब्या० प्र०) 12 विशेषाकाराद्व्यावृत्ताविशेषाकारा। 13 सीमान्युपलक्षणादुपसंहिता न भवतीत्यर्थः। 14 विषये। बुद्धेर्निराकारत्वे तर्हि अस्वलक्षणाकारः कथं प्रतिभासते इत्युक्ते आह। 15 हे सौगत। 16 बौद्धाभिप्रायमपूर्व दूषयति। (ब्या० प्र०) 17 प्रतिनियतविषयः। (ब्या० प्र०)

प्रतिनियत [1]सामग्रीवशात्[2] प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकतया [3]तस्योत्पत्तेः प्रतिकर्मव्यवस्थासिद्धेः[4] साकारज्ञानवादिनामपि[5] तथाभ्युपगमस्यावश्यम्भावित्वात् । [7]अन्यथा सकलसमानाकार-[8] व्यवस्थापकत्वा[9]नापत्तेः [10]संवेदनस्य [11]तदसिद्धेः । [12]ततोऽसामान्याकारा बुद्धिः सामान्यावभासिनी [13]कुतश्चिदस्पष्टा कस्मिंश्चिद्वस्तुन्यविशेषाकारा[14] च विशेषावभासिनीति दूरे सामान्यस्य प्रतिभासोऽस्पष्टः स्याद्विशेषस्य च [15]कस्यचित्—[16]सकलविशेषरहितस्य सामान्यस्य प्रतिभासासंभवात् । [17]न चोर्ध्वतासामान्ये विशेषे च [18]प्रतिनियतदेशत्वादौ प्रति-

---

एवं अर्थाकार—सौगताभ्युपगत सादृश्य सहित ज्ञान भी नहीं है क्योंकि ज्ञान को हमने निराकार माना है तथा उक्त विषय में प्रतिभासमान आकार पदार्थ के धर्म है। हम यदि ज्ञान को निराकार मानते हैं तो प्रतिकर्म व्यवस्था सिद्ध हो जावेगी ऐसा भी आप सौगत नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत पदार्थ को ग्रहण करने रूप से वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः प्रतिकर्म की व्यवस्था सिद्ध है। साकारज्ञानवादी सौगांतिक के यहां भी उस प्रकार से ज्ञान को निराकार रूप स्वीकार करना अवश्यंभावी है। अर्थात् बौद्ध ज्ञान को पदार्थ से उत्पन्न होने वाला मानते हैं एवं पदार्थ के आकार को धारण करके ही वह ज्ञान पदार्थ को जानता है ऐसा कहते हैं किन्तु आचार्य इस तदुत्पत्ति और तदाकारता का खण्डन कर देते हैं। अन्यथा प्रतिनियत सामग्री के निमित्त से प्रतिनियत व्यवच्छेदक का अभाव मानने पर सम्पूर्ण नील पीतादिज्ञानों में तुल्याकार प्राप्त हो जाता है। अतः सकल समानाकार की व्यवस्था कर देने की आपत्ति आ जावेगी पुनः संवेदन में वह प्रति कर्म व्यवस्था असिद्ध हो जावेगी।

इसलिए असामान्याकार ज्ञान सामान्यावभासी किसी दृष्टादृष्ट कारण समूह से अस्पष्ट है और किसी वस्तु में अविशेषाकार—सामान्याकार ज्ञानविशेषावभासी किसी दृष्टादृष्ट कारण कलाप से अस्पष्ट है। इस प्रकार से दूर में सामान्य का प्रतिभास अस्पष्ट है और किसी विशेष का प्रतिभास भी अस्पष्ट है क्योंकि सकल विशेष से रहित सामान्य प्रतिभासित ही नहीं होता है।

---

1 अदृष्टादि । (ब्या० प्र०) 2 बौद्धः । 3 बाह्यकतया । 4 ता । (ब्या० प्र०) 5 सौत्रान्तिकस्यात् । 6 प्रतिनियतसामग्रीवशात्प्रतिनियतव्यवच्छेदकस्य ज्ञानस्याङ्गीकारस्य । 7 प्रतिनियतसामग्रीवशात् प्रतिनियतव्यवच्छेदकस्यासत्वे सकलनीलपीतादिनिर्भासानां तुल्याकारत्वमापद्यते संवेदनस्य (विवक्षितनीलाकारवदेवनीलाकारग्रहणप्रसक्तेः)। 8 ज्ञानस्य समस्तसदृशघटनां । (ब्या० प्र०) 9 तथोक्तीकारे निराकरोति बौद्धः । (ब्या० प्र०) 10 व्यवस्थापकत्वापत्तेरिति पाठान्तरम् । 11 प्रतिकर्मव्यवस्थाभावस्य सिद्धिर्न स्यात् । 12 योग्यताकारात्प्रतिनियतार्थव्यवस्था यतः । 13 दृष्टादृष्टकारणकलापात् । 14 सामान्याकारा । 15 पुरुषस्य । (ब्या० प्र०) 16 कोपि विशेषो दूरे न प्रतिभासते इत्युक्ते आह । 17 सौगताभिप्रायमनूद्याह । 18 स्थाणुपुरुषोचितदेशः । आदिशब्दात्प्रकाशान्धकारकलुषदेशाश्च गृह्यन्ते ।

भासमाने स्थाणुपुरुषविशेषयोः सन्देहानुपपत्तिः—तयोरप्रतिभासनात्। [1]तत्प्रतिभासनसामग्र्यभावादनुस्मरणे[2] सति सन्देहघटनात्। [3]तदुत्पचति यजतीत्यादिक्रियाविशेषाप्रतिभासने करोतीतिक्रियासामान्यस्य प्रतिनियतदेशादिरूपस्य[4] प्रतिभासने युक्तः सन्देहः किं करोतीति। [5]तथा प्रश्ने च पचति यजते इत्यादि प्रतिवचनं न दुर्घटम्—[6]कथञ्चित्पृष्टस्यैव प्रतिपादनात्। एवं यजनादिक्रियाविशेषाणां साधारणरूपा करोतीति क्रिया [7]कथञ्चित्ततो[8] [9]व्यतिरेकेणोपलभ्यमाना [10]कर्तृव्यापाररूपार्थभावना विभाव्यते[11] एवशब्दव्यापाररूपशब्दभावनावत्

ऊर्ध्वता सामान्य और विशेष में प्रतिनियत देश आदि के प्रतिभासमान होने पर अर्थात् स्थाणु पुरुषोचित देश में प्रकाश और अंधकार से कलुषित समय में उन सामान्य और विशेष दोनों के दिखने पर स्थाणु और पुरुष विशेष में संदेह नहीं होवे, ऐसा नहीं है क्योंकि वे दोनों प्रतिभासित नहीं होते हैं। अतः उस प्रतिभासन की सामग्री-देश की निकटता का अभाव होने से और अनुस्मरण के होने पर संदेह हो जाता है। उसी प्रकार से—"सामान्य के प्रत्यक्ष से तथा विशेष के अप्रत्यक्ष से और विशेष की स्मृति होने से संदेह होना युक्ति युक्त ही है" इस लक्षण के सिद्ध हो जाने से "पचति यजति" इत्यादि क्रिया विशेष के प्रतिभासित न होने पर "करोति" इस प्रकार की प्रतिनियत देशादि रूप क्रिया सामान्य के प्रतिभासित होने पर "किं करोति" ऐसा संदेह होना युक्त ही है। एवं "किं करोति" ऐसे प्रश्न के होने पर "पचति यजते" इत्यादि प्रत्युत्तर दुर्घट नहीं हैं, क्योंकि कथंचित् पूछा गया पुरुष ही उत्तर देता है।

इस प्रकार से यजनादि क्रिया विशेषों में साधारणरूप "करोति" यह क्रिया कथंचित्—लक्षण विवेचन रूप से उन यजनादि क्रिया विशेषों से भिन्न ही उपलब्ध होती हुई "करोति" अर्थ लक्षण वाली कर्ता के व्यापार रूप है, एवं उस क्रिया को ही अर्थ भावना कहते हैं क्योंकि वह शब्द व्यापार-रूप शब्दभावना के समान सकल बाधाओं से रहित है ऐसा निर्णय सिद्ध है।

और वही वेदवाक्य का अर्थ है किंतु अन्यापोहादि के समान नियोग वेदवाक्य का अर्थ नहीं है। इसलिए हम भावनावादी भाट्टों का संप्रदाय ही संवादक सिद्ध होता है यह निश्चित हो गया। क्योंकि सत्यरूप कार्य और भावनालक्षण अर्थ में वेदवाक्य प्रमाण है उसी प्रकार से स्वरूप (विधि) में वे प्रमाण नहीं हैं अर्थात् लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय से युक्त वेदवाक्य भावना अर्थ में ही प्रमाण है विधिवाद अर्थ में प्रमाण नहीं हैं कारण वहाँ बाधा का सद्भाव है। इस प्रकार से सभी वेदांतवाद का निराकरण कर देने से हम भाट्टों के यहाँ कोई भी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती है।

---

1 देशनैकट्यम्। 2 अत्र कथं तयोः अप्रतिभासने संदेह इत्याह। (व्या० प्र०) 3 सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च सन्देहो युक्त इत्युक्तवत्। 4 विशेषानिरूपितस्य। आदिशब्देनातिप्रकाशान्धकारः। 5 किं करोतीति। 6 पृष्ट एव पुमानुत्तरं प्रतिपादयतीत्यर्थः। 7 लक्ष्यविवेचनत्वेन। 8 यजनादिक्रियाविशेषेभ्यो भिन्नत्वेन। 9 भेदेन। (व्या० प्र०) 10 करोत्यर्थलक्षणा। 11 निश्चीयते एव। (व्या० प्र०)

सकलबाधकरहितत्वनिर्णयात्। सैव च [1]वाक्यार्थो न पुनर्नियोगोऽन्यापोहादिवत्। इति [2]भट्टसम्प्रदाय एव संवादकः सिद्धः। [3]कार्ये [4]कार्ये चोदनायाः[5] प्रामाण्यं तत एव न [6]स्वरूपे—तत्र बाधकसद्भावात्। सर्ववेदान्तवाद[7]निराकरणाच्च भट्टस्य कश्चिदपि प्रतिघात इति [8]कपिवत्।

[अतएव जैनाचार्यः भाट्टस्य भावनावादमपि निराकुर्वन्ति]

अत्र प्रतिविधीयते[9]। यत्तावदुक्तं[10], शब्दव्यापारः शब्दभावनेति। तत्र शब्दात्तद्व्यापारोऽर्थान्तरभूतोऽर्थान्तरभूतो वा स्यात्?

[शब्दात् शब्दव्यापारस्याभिन्नत्वे दोष प्रतिपादनं]

यद्यनर्थान्तरभूतस्तदा कथमभिधेयः? शब्दस्य स्वात्मवत्। न[11] ह्येकस्यानंशस्य[12] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो युक्तः? संवेद्यसंवेदकभाववत्। [13]स्वेष्ट[14] विपर्ययेण तद्भावापत्तेः—[15]प्रति[16]नियम[17]हेत्वभावात्। [18]तद्भेदपरिकल्पनया प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावे [19]तस्य [20]सांवृतत्वप्रस-

---

यहाँ तक भावनावादी भाट्ट के अन्य विधिवादी का खण्डन करके अपना पक्ष पुष्ट किया है।

[अब यहाँ से जैनाचार्य भावनावादी भाट्ट का खण्डन करते हैं]

जैन—जो आप भाट्टों ने कहा है कि "शब्द व्यापार ही शब्द भावना है" उसमें हम आपसे प्रश्न करते हैं कि शब्द का व्यापार शब्द से अभिन्न है या भिन्न?

[शब्द से शब्द के व्यापार को अभिन्न मानने में दोष]

यदि अभिन्न है तो वाच्य कैसे होगा? जैसे कि शब्द का स्वरूप वाच्य नहीं है। क्योंकि एक अनंश-अंश कल्पना रहित में प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भाव युक्त नहीं है, जैसे कि एक निरंश ज्ञान में संवेद्य और संवेदक भाव मानना युक्त नहीं है। यदि अनंश में भी प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव मानोगे तब तो आपके इष्ट से विपरीत भी कहा जा सकेगा अर्थात् आपने शब्द को प्रतिपादक और उसके स्वरूप को प्रतिपाद्य माना है, उससे विपरीत शब्द को प्रतिपाद्य भी कह सकेंगे क्योंकि इस विषय में प्रतिनियत हेतु का अभाव है। यदि शब्द में अंश की कल्पना करके प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव मानोगे तो वह शब्द संवृत्ति रूप—कल्पित ही हो जावेगा।

---

1 स्फोटादि। 2 अन्वय। (ब्या० प्र०) 3 सत्यकार्ये। 4 भावनालक्षणे। 5 लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययपुरुषस्य चोदनाशब्दस्य वाक्यस्य। (ब्या० प्र०) 6 विधौ। 7 विधिरूपे। (ब्या० प्र०) 8 भट्टमतानुसारी। 9 जैनेन। 10 हे भट्ट त्वया। 11 व्यापारः शब्दस्यार्थो न भवति—तद्धेदेनार्थान्तरत्वात् तत्स्वात्मवत्। अत्राशङ्का—नन्वभेदस्य स्वात्मा अभ्यधिक्षेपो भवतु। को दोषः? तथा सति तन्निरवशेषैकात्मिकत्वं हेतोरिष्यते नाह नहीति। 12 शब्दस्य आत्मापेक्षया निरंशस्य। 13 एकानंशस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वं चेत्। 14 भट्टस्य स्वेष्टं शब्दस्य प्रतिपादकत्वंस्वरूपस्य प्रतिपाद्यत्वमिति। तद्विपरीतेनशब्दस्य प्रतिपाद्यत्वेन। 15 कुतः। 16 एकानंशे नियमाभावात्। (ब्या० प्र०) 17 शब्दः प्रतिपादकः स्वरूपं प्रतिपाद्यमिति प्रतिनियमहेतोरभावात्। 18 शब्दस्य सांशत्वपरिकल्पनया। 19 शब्दस्य। 20 कल्पितत्व।

ज्ञात्। [1]स्वरूपमपि शब्दः[2] श्रोत्रेण गमयति[3] 'बहिरर्थवत्'[5] स्वव्यापारेण। [6]ततस्तस्य[7] प्रतिपादक इति चेत्[8]—रूपादीनामपि स्वरूपप्रतिपादकत्वमसङ्गात्[9]। [10]तेपि हि स्वं स्वं स्वभावं [11]चक्षुरादिभिर्गमयन्ति—[12]चक्षुरादीनां स्वतन्त्रेण [13]तत्र प्रवर्तनात्[14] तदप्रयोज्यत्वात् तेषां च रूपादीनां निमित्तभावेन [15]प्रयोजकत्वात् स्वप्रमापीयानाम्[16] कारीषाग्न्यादिवत्। [17]अथ रूपादयः प्रकाश्या एव ततोऽर्थान्तरभूतानां चक्षुरादीनां प्रकाशकादीनां सद्भावादिति मतम्। तर्हि[18] शब्दस्वरूपं प्रकाश्यमस्तु—ततोऽन्यस्य श्रोत्रस्य प्रकाशकस्य भावात्।

जैन—शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्र-कर्णेन्द्रिय से बता देता है जैसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थों को बताता है। इसलिए वह स्वरूप का प्रतिपादक भी है अर्थात् यह शब्द स्वरूप की अपेक्षा से प्रतिपाद्य बन जाता है और बाह्य अर्थ की अपेक्षा से प्रतिपादक बन जाता है। एवं जैसे शब्द स्वव्यापार से बाह्य पदार्थ का ज्ञान कराता है वैसे ही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से पुरुष के स्वरूप को बतला देता है वह भी कैसे? ऐसा प्रश्न होने पर बतलाते हैं कि पुरुष शब्द के स्वरूप को प्राप्त करता है। और श्रोत्रेन्द्रिय उस पुरुष को प्रेरित करती है पुनः शब्द उस श्रोत्रेन्द्रिय को प्रेरित करता है। इस प्रकार से गम् धातु से प्रेरणार्थ में णिच् प्रत्यय होकर "गमयति" बनता है। जिसका ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

जैन—ऐसा नहीं कहना। अन्यथा रूपादि भी अपने स्वरूप के प्रतिपादक हो जावेंगे, पुनः वे रूपादि भी भावना बन जावेंगे। वे रूपादि भी अपने-अपने स्वभाव को चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा पुरुष को बतला देते हैं क्योंकि वे चक्षु आदि इन्द्रियां स्वतंत्र रूप से उन रूपादि विषयों में प्रवृत्ति करती हैं। वे रूपादि अप्रयोज्य हैं और चक्षु आदि—निमित्त मात्र से प्रयोजक हैं जैसे कि स्वयं पढ़ने वालों को कारीषादि (कंडे) की अग्नि निमित्त मात्र से प्रयोजक है मुख्य रूप से नहीं।

शंका—वे रूपादि प्रकाश्य—प्रकाशित होने योग्य ही हैं क्योंकि उनसे भिन्न चक्षु आदि इन्द्रियां प्रकाशक रूप से विद्यमान हैं।

जैन—उसी प्रकार से शब्द का स्वरूप भी प्रकाश्य ही होवे क्योंकि उनसे भिन्न श्रोत्रेन्द्रियां प्रकाशक विद्यमान हैं।

---

1 भाट्टः। 2 स्वरूपमपेक्ष्य प्रतिपाद्यत्वं बहिरर्थमपेक्ष्य प्रतिपादकत्वं शब्दस्येति भावः। (ब्या० प्र०) 3 यथा। तथा शब्दः श्रोत्रेण पुरुषं स्वरूपं गमयति इत्यपि कथमिति चेत् शब्दस्वरूपं प्रपद्यते पुरुषस्तं पुरुषं श्रोत्रं प्रयुंक्ते तच्च श्रोत्रं शब्दः प्रेरयति इति णिच् प्रत्ययेन प्रकारेण। पुनः। (ब्या० प्र०) 4 कर्म बहिरर्थं यथा श्रोत्रेण गमयति। (ब्या० प्र०) 5 यथा शब्दः स्वव्यापारेण बहिरर्थं गमयति। 6 शब्दः श्रोत्रेण स्वरूपं गमयति यतः। 7 स्वरूपस्य। 8 जैनः। 9 ततो रूपादिर्भावना स्यात्। 10 रूपादयः। 11 पुरुषस्य। 12 एतदेव भावयति। 13 रूपज्ञापनाय। 14 ते रूपादयः प्रयोज्यव्यापचक्षुरादयः प्रयोजकाः निमित्तमात्रकृतं तत्रप्रयोज्यत्वं, न तु मुख्यवृत्त्या। 15 स्वरूपज्ञापनं प्रति। 16 प्रमीयानादीनां इति पा०। स्वयं अध्ययनं कुर्वताम्। (ब्या० प्र०) 17 भाट्टः। 18 जैनः।

[1]सत्यमेतदिन्द्रिय[2]बुद्धेर्विषयाकारमनुभवन् प्रकाश्य एव शब्दो रूपादिवत्। प्रतिपादकस्तु स्वरूपे शाब्दीं बुद्धिमुपजनयन्नभिधीयते इति [3]चेन्न—तत्र वाच्यवाचकभावसम्बन्धाभावात्[4]। तस्य द्विष्ठत्वेनैकत्रानवस्थितेः[5]।

[शब्दात् शब्दव्यापारस्य भिन्ने सम्बन्धीने दोषानाह]

यदि पुनरर्थान्तरभूत[6] एव शब्दात्तद्व्यापार इति मतं [7]तदा स शब्देन[8] प्रतिपाद्यमानो[9]

भाट्ट—आपका कहना सत्य है। श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान में विषय भाव का अनुभव करते हुए रूपादि के समान शब्द प्रकाश्य ही है। किन्तु ये शब्द स्वरूप में शाब्दिक ज्ञान को उत्पन्न करते हुए प्रतिपादक भी कहे जाते हैं।

जैन—ऐसा नहीं कहना। यहाँ पर तो वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का अभाव है। क्योंकि वाच्य-वाचक भावरूप सम्बन्ध द्विष्ठ (दो में स्थित) होने से वह एकत्र-अनंश रूप शब्द में नहीं रह सकता है अर्थात् आपने शब्द को तो अंश रहित माना है पुनः उसमें वाच्य-वाचक रूप दो भाव कैसे घटेंगे।

आचार्य—भाट्ट का कहना है कि शब्द अपने स्वरूप को श्रोत्रेन्द्रिय के ज्ञान में अर्पण कर देता है। अतः वह शब्द अपने शब्द भावना के स्वरूप का प्रतिपादक हो जाता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि तब तो रूप, रस, गंध और स्पर्श भी अपने-अपने स्वरूपों के प्रतिपादक ही बनेंगे क्योंकि वे रूप रसादि भी अपनी-अपनी चक्षु, रसना, घ्राण और स्पर्शन इन्द्रियों के ज्ञान में अपने स्वरूप का समर्पण करते ही हैं अर्थात् ये रूपरसादि भी चक्षु रसना आदि इन्द्रियों के विषय हैं जैसे कि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। इस पर भाट्ट कहता है कि शब्द अपने वाच्य अर्थ के प्रतिपादक हैं इसलिये वे शब्द अपने स्वरूप के प्रतिपादक हैं। किन्तु रूप-रसादि वैसे नहीं हैं वे तो चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा प्रकाशित होने योग्य हैं और वे चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप रसादि से भिन्न प्रकाशक हैं। आचार्य कहते हैं कि आप भाट्टों का यह कहना अयुक्त ही है क्योंकि शब्द अपने वाच्य का प्रतिपादक रूप स्वयं ही प्रसिद्ध नहीं है। अन्यथा घर के द्वारा उपदेश देना, व्याख्यान करना, अर्थ का संकलनादि आदि व्यर्थ हो जावेंगे। क्योंकि "मेरा यह इतिपाद अर्थ है" ऐसा वे शब्द श्रोताओं को स्वयं तो कहते नहीं हैं। यदि शब्द स्वयं ही कह देंगे तो मूर्ख, बालक आदि भी कठिन-कठिन आगमों के अर्थों को स्वयं ही समझ जावेंगे। विद्यालयों में अध्यापकों की कोई भी आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु ऐसा तो है नहीं।

---

1 भाट्टः। 2 श्रोत्रेन्द्रियस्य। 3 जैनः। 4 निरंशत्वात्। (ब्या० प्र०) 5 अनंशरूपे शब्दे। 6 भिन्नरूपः। 7 (जैनः) यथा च घटेनस्य कुटादस्य घटस्य कुटस्य शब्दोच्चारणेऽन्यान्यव्यापारेणोत्पत्तिनिरूपणेन भवत्। 8 शब्दः। (ब्या० प्र०) 9 यदि शब्दस्यार्थः शब्देनोत्पाद्यमानस्तदा शब्देन पुनरन्यशब्दो जन्यते इति क्रमो विरंस्यते। (ब्या० प्र०)

[1]व्यापारान्तरेण प्रतिपाद्यते चेत्तर्हि[2] [3]तद्भाव्यः स्यात्। तद् व्यापारान्तरं तु भावनानुषज्यते। [4]तदपि यदि शब्दादर्थान्तरं तदा तद्भाव्यं व्यापारान्तरेण स्यात्। तत्तु भावनेत्यपरापरभाव्यभावनापरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः।

[भाट्टः शब्दात्तस्य व्यापारं भिन्नमिन्नं मन्यते तथापि दोषानुद्भावयति जैनाचार्याः]

[5]अथ [6]शब्दात्तद्व्यापारः कथञ्चिदनर्थान्तरम् [7]विष्वग्भावेनानुपलभ्यमानत्वात् [8]कुण्डादेर्बदरादिवत्। कथञ्चिदर्थान्तरं च विरुद्धधर्माध्यासात्—[9]तदनुत्पादे[10]ऽप्युत्पादात्तदविनाशेऽपि[11] च विनाशादाकाशादन्धकारवदिति[12] मतम्। [13]तदाप्युभय[14]दोषानुषङ्गः। [15]स्यान्मतम्—

[शब्द से शब्द के व्यापार को भिन्न मानने में दोष]

यदि पुनः द्वितीय पक्ष लेवें कि शब्द से शब्द का व्यापार भिन्न ही है तब तो वह शब्द के द्वारा प्रतिपाद्यमान व्यापार कारणभूत—व्यापारान्तर से यदि प्रतिपादित किया जाता है तब तो उस शब्द व्यापार से पुरुष का व्यापार संभव हो सकता है। किंतु वह व्यापारांतर ही भावना कहलायेगा। और यदि उस व्यापारांतर को भी शब्द से भिन्न मानों तब तो वह भी अन्य व्यापार से ही भाव्य होगा, पुनः वह भी भावना कहलायेगा इस प्रकार अपरा पर भाव्य-भावना की कल्पना करते रहने से अनवस्था दोष आ जावेगा।

[भाट्ट शब्द से उसके व्यापार को भिन्न और अभिन्न दोनों रूप मानता है तब भी जैनाचार्य दोषारोपण करते हैं]

भाट्ट—शब्द से उसका व्यापार कथंचित् अभिन्न है क्योंकि विष्वग्भाव—पृथक्भाव से उस व्यापार की उपलब्धि नहीं होती है। जैसे कुंडादि से बदरी फल (बेर) पृथक् रूप से उपलब्ध हो रहे हैं अतः वे कथंचित् कुंडादि से अभिन्न नहीं हैं। एवं शब्द से शब्द का व्यापार कथंचित् भिन्न है क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास देखा जाता है। उस शब्द के उत्पन्न न होने पर भी उसका पृथक् उत्पाद देखा जाता है एवं उस शब्द के विनष्ट न होने पर भी उस व्यापार का विनाश देखा जाता है। जैसे आकाश के उत्पन्न एवं विनष्ट न होने पर भी अन्धकार उत्पन्न होता हुआ और नष्ट होता हुआ देखा जाता है।

जैन—आपकी ऐसी मान्यता में भी उभय पक्ष में दिये गये सभी दोष आ जाते हैं। क्योंकि आप स्याद्वादी नहीं हैं, आप अपेक्षाकृत कथंचित् का अर्थ नहीं समझते हैं।

आचार्य—भाट्ट ने शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहा है। इस पर आचार्य ने प्रश्न किया

1 कारक मुखेन। 2 जैनः। 3 शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते इत्युक्तं पूर्वं तथा तद्भाव्यत्वं। 4 व्यापारान्तरम्। 5 भाट्टः। 6 शब्दात्। 7 पृथग्भावेन। 8 व्यतिरेकदृष्टान्तः। अत्र कथञ्चिदनर्थान्तरत्वं न भवति तत्र विष्वग्भावेनोपलभ्यमानत्वं भवति। यथा कुण्डादेर्बदरादिः। 9 शब्द। 10 पृथक्। 11 शब्द व्यापारस्य। 12 अन्धकारादिवत् इति पा०। (व्या० प्र०) 13 जैनः। 14 अनवस्तरावस्तिरोक्तदोषः स्यात्। 15 भट्टस्य।

अग्निष्टोमादिवाक्यमुपलभ्यमानं[1] पुरुषव्यापारस्य [2]साधकमिदमित्यनुभवाद्वाक्यस्य एव तद्व्यापारो भावना वाक्यस्य विषयता [4]समञ्जति—तथा प्रतीतेः। अन्यथा[5] [6]सर्वत्र विषयविषयिभावसंभावनाविरोधात्।

[भाट्टो वदति यद् जैनैर्मान्यं ज्ञानमपि स्वव्यापारात् भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्नं वेति त्रिषु पक्षेषु दोषावतारः]

संवेदनमपि[7] हि [8]भवतां [9]स्वव्यापारं विषयी [10]कुर्वन् तदनर्थान्तरभूतमर्थान्तरभूतं

कि शब्द से उस शब्द का व्यापार अभिन्न है या भिन्न ?

शब्द से उसके व्यापार को अभिन्न मानने में आचार्य ने दोष दिया है कि आप भाट्ट के यहाँ शब्द अंश कल्पना से रहित है पुनः उनमें वाच्य वाचक सम्बन्ध कैसे बनेगा ? यदि शब्द में अंश की कल्पना करके वाच्य-वाचक भाव मानों तो भी अंश कल्पना के काल्पनिक होने से शब्द और उसका अर्थ भी कल्पित ही रहेगा।

यदि शब्द से उसके व्यापार को भिन्न मानोगे तो भी वह शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया गया शब्द का व्यापार उस शब्द से भिन्न होने से यह उस शब्द का व्यापार है ऐसा कैसे कहा जावेगा। एवं यदि वह शब्द का व्यापार भिन्न व्यापार से प्रतिपादित किया जावेगा तो अनवस्था आ जावेगी। इस पर भाट्ट ने शब्द से उसके व्यापार को भिन्नाभिन्न मान लिया। तब आचार्य ने कहा कि दोनों ही पक्ष में दिए गए दोष पुनः आपके ऊपर एक साथ आ जावेंगे क्योंकि आप अपेक्षा कृत भिन्नाभिन्न की व्यवस्था नहीं समझते हैं और यदि अपेक्षा को समझ लेंगे तब तो स्याद्वादी के पक्ष में शामिल हो जावेंगे फिर एकान्तवादी नहीं रहेंगे।

भाट्ट—उपलब्ध होते हुए अग्निष्टोमादि वाक्य पुरुष व्यापार के साधक हैं इस प्रकार से अनुभव आता है अतः शब्द में स्थित ही शब्द का व्यापार भावना है और वही शब्द भावना वेदवाक्य के विषयपने को प्राप्त करती है क्योंकि वैसा ही अनुभव आ रहा है। अन्यथा—ऐसा न मानो तो सर्वत्र ज्ञान और अर्थ में विषय-विषयिभाव की संभावना ही विरुद्ध हो जावेगी। एवं जैसे आपने हमारे से प्रश्न किए हैं वैसे ही हम आप जैनियों से भी प्रश्न करेंगे कि—

[भाट्ट कहता है कि आप जैनों के द्वारा मान्य ज्ञान भी अपने व्यापार से भिन्न है या अभिन्न या भिन्नाभिन्न है ? इन तीनों पक्षों में दोषावतार]

आपके यहाँ ज्ञान भी अपने स्वार्थग्रहण लक्षण व्यापार को विषयभूत करता हुआ उस ज्ञान से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है या अभिन्न स्वभाव को अथवा कथंचित् उभय स्वभाव को जानता

---

1 पुरुषमात्रम्। 2 भावकमिति पाठान्तरम्। 3 उच्चैर्नीचैः। (ब्या० प्र०) 4 प्राप्नोति। 5 भावनायां वाक्यविषयत्वाभावे। 6 ज्ञानार्थयोः। 7 यथास्माकं (भाट्टानां) विकल्पेन पृष्टं तथास्माभिरपि पृच्छ्यते जैनैः। 8 जैनानाम्। 9 स्वार्थग्रहणलक्षणम्। 10 स्वीकुर्वन्। (ब्या० प्र०)

वा कथञ्चिदुभयस्वभावं वा [1]संवेदयेत्—तत्रान्तराभावात् । प्रथमपक्षे न संवेद्यसंवेदकभावः—संवेदनतद्व्यापारयोः सर्वथानर्थान्तरत्वाद्भाव्यतद्भावनयोः[2] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाववत् । द्वितीयपक्षेपि न तयोस्तद्भावः—[3]अनवस्थानुषङ्गात्तद्वत् । तृतीयपक्षे तु तदुभयदोषप्रसक्तेस्तद्वदेव कुतः संवेद्यसंवेदकभावः सिध्येत् [4]अथ स्वार्थसंवेदन[5]व्यापारविशिष्टं संवेदनमबाधमनुभूयमानं विकल्पशतेनाप्यसत्यनिराकरणं[6] संवेद्यसंवेदकभावं साधयतीत्यभिधाने[7] [8]परस्यापि शब्दः स्वव्यापारविशिष्टः पुरुषव्यापारं[9] [10]भावयतीत्यबाधप्रतीतिसद्भावाद्भाव्यव्यापारो भावना [11]भाव्यस्य विषयो व्यवतिष्ठते एवेति ।

है ? एवं इन तीन विकल्पों को छोड़कर और तो कोई गति उस ज्ञान की नहीं है । यदि पहला पक्ष लेवो तो संवेद्य—संवेदक भाव उस ज्ञान में नहीं बनेगा, क्योंकि आपने तो ज्ञान और उसके व्यापार में सर्वथा अभेद मान लिया है जैसे कि हमारे यहाँ शब्द और उसके व्यापार में सर्वथा अभेद मानने पर प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नहीं हो सकता है ।

दूसरे पक्ष में भी उन दोनों का सद्भाव संभव ही है पूर्ववत् अनवस्था का प्रसंग आ जाता है, अर्थात् यदि ज्ञान से ज्ञान का व्यापार भिन्न ही है तब वह ज्ञान का व्यापार ज्ञान से अनुभव किया जाता हुआ व्यापारांतर से बाधा जावेगा तो व्यापारांतर भाव्य होगा और वह व्यापारांतर भी ज्ञान से भिन्न होगा तो वह भी भिन्न-व्यापार से भाव्य होगा ऐसे अनवस्था आ जावेगी ।

तृतीय पक्ष में भी उन दोनों पक्षों में दिये गये दोष आ ही जावेंगे पुनः उसी प्रकार से संवेद्य—संवेदक भाव—ज्ञेय-ज्ञान भाव कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

यदि आप जैन ऐसा कहें कि—

"स्वार्थसंवेदन व्यापार से विशिष्ट, अनुभूयमान ज्ञान बाधा रहित है, सैकड़ों विकल्पों के द्वारा उसका निराकरण करना शक्य नहीं है अतः वह ज्ञान संवेद्य संवेदक भाव को सिद्ध कर देता है ।" ऐसा आपके द्वारा मानने पर तो हम भाट्टों का भी शब्द अपने व्यापार से विशिष्ट होता हुआ भावनात्मक पुरुष व्यापार को भावित करता है । इस प्रकार से बाधा रहित प्रतीति का सद्भाव होने से शब्द का व्यापार ही भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अतः वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है यह बात व्यवस्थित ही है ।

---

1 स्वार्थग्रहणलक्षणम् । 2 ज्ञेयस्तुग्रहणलक्षणो व्यापारः । 3 यदि पुनरर्थान्तरभूत एव संवेदनात्संवेदनव्यापार इति मतं तदा स संवेदनव्यापारः संवेदनेन संवेद्यमानो व्यापारान्तरेण संवेद्यते चेत्तर्हि व्यापारान्तरभाव्यः स्यात् । व्यापारान्तरं तु यदि संवेदनादर्थान्तरं तदा तद्व्यापारान्तरं व्यापारान्तरेण भाव्यमिति सत्यमनवस्था । 4 भट्टो वदति । 5 एव । (व्या० प्र०) 6 सत् । (व्या० प्र०) 7 जैनैः । 8 भाट्टस्य । 9 भावनालक्षणम् । 10 (प्रेरयति) स्वपरव्यवसायिज्ञानातीन्द्रियशक्तिः करणकर्ता । 11 शब्दः पुरुषव्यापारं भावयतीत्यादि वचनम् ।

[भाट्टेनारोपितान् दोषान् जैनाचार्यः निराकुर्वंति]

[1]तदनुपपन्नम्—[2]वैषम्यात्[3]। संवेदनेन हि[4] [5]संवेद्यमानः [6]स्वात्मार्थो वा [8]तस्य विषयो न पुनः संवेदकः स्वात्मा [9]तत्संवेद्यत्वेऽस्य[10] [11]संवेदनस्यात्मनः[12] [13]संवेदकत्वोपपत्ते-[14]राकाङ्क्षा[15]परिक्षयादनवस्थानवतारात्[16]। [17]वाक्येन[18] तु भाव्यमानः[19] पुरुषव्यापारो न तस्य

[भाट्ट के द्वारा दिये गये दोषों का जैनाचार्य निराकरण करते हैं]

जैन—यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टांत और दार्ष्टांत में विषमता है। ज्ञान के द्वारा संवेद्यमान—जानने योग्य स्वपरग्राहक अतीन्द्रियकरण शक्ति रूप स्वात्मा अथवा पदार्थ उस वाक्य के विषय हैं किन्तु संवेदक स्वात्मा उसका विषय नहीं है। यदि स्वात्मा को भी संवेद्य रूप मान लेवोगे तो अन्य संवेदन के स्वरूप को संवेदकपना आ जावेगा पुनः अवांतर व्यापार की आकांक्षा का परिक्षय-अभाव होने से अनवस्था नहीं आवेगी।

विशेषार्थ—जैनाचार्यों ने "शब्द से उस शब्द का व्यापार भिन्न है या अभिन्न ?" इत्यादि विकल्प उठाकर भाट्टों पर दोषारोपण किया था। तो भाट्ट भी उसी पद्धति से जैनाचार्य के प्रति दोषारोपण करते हुए कहता है कि आप जैनों के यहाँ ज्ञान स्वपर को जानने वाला प्रसिद्ध है पुनः वह ज्ञान अपने स्वरूप को जानता है तब वह ज्ञान अपने से अभिन्न अपने स्वरूप को जानता है या अपने से भिन्नाभिन्न अपने स्वरूप को जानता है ?

इन तीन विकल्पों के सिवा चौथा विकल्प संभव ही नहीं है। यदि ज्ञान अपने से अभिन्न स्वरूप को जानता है तो वह ज्ञान ज्ञेय—जानने योग्य और ज्ञायक—जानने वाला इन दोनों रूप कैसे हो सकेगा क्योंकि ज्ञान और उसका स्वरूप सर्वथा अभिन्न रूप ही है। अब दूसरा भिन्न पक्ष लेवोगे तो अनवस्था आ जावेगी। एवं तृतीय पक्ष में दोनों पक्षों के दोष आ जाते हैं। यदि आप जैन कहें कि

1 जैनः। 2 दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः। 3 वैषम्यं कथमिति। 4 यतः। (ब्या० प्र०) 5 स्वात्मा तु न संवेदकः किन्तु संवेद्य एव। 6 स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा स्वात्मा। 7 पदार्थः। (ब्या० प्र०) 8 तस्य वाक्यस्य। 9 स्वात्मनः। 10 ज्ञानस्यैवं। 11 विषयत्वप्रसङ्गे सति। 12 स्वरूपस्य। 13 नैव ज्ञायेत करणं तेनैव ज्ञानस्य संवेदकत्वोपपत्तेः। स्वोन्मुखप्रकाशस्वरूपव्यापारस्वभावता परिक्षयप्रसक्तेश्च नास्ति। यौगादीनां परोक्षं मीमांसकस्य करणं ज्ञानं तथा जैनाभासमतीकरात्। (ब्या० प्र०) 14 स्वार्थोन्मुखप्रकाशस्वरूपव्यापारस्य। (ब्या० प्र०) 15 अवान्तरव्यापारस्याकाङ्क्षा यावित तावो अनवस्था। 16 संवेद्यमानः स्वात्मार्थो वा तस्य विषय इति तदेव वाक्यं। (ब्या० प्र०) 17 अन्यसंवेद्यं ज्ञानस्यं स्वरूपं परिच्छिनत्ति। अतोऽन्यसंवेदनं संवेदकं स्वात्मा तु संवेद्य इत्यायातम्। 18 वाक्यव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते तथाभूतेन पुरुषव्यापार एव वाक्यस्य विषयः न तु भाव्यव्यापारः तस्य करणत्वात् क्रियोपकाराईत्वं वाक्यस्य व्यापारो विषयः न तु पुरुषव्यापार इति करणात्। (ब्या० प्र०) 19 उत्पाद्यमानः।

विषयः। [1]स्वव्यापारस्तु [2]भावकत्वलक्षणो भावनाख्यो [3]विषयीभ्युपगम्यते इति मनागपि न [4]साम्यम्—तथाप्रतीत्यभावाच्च[5]। न हि कश्चिद्वाक्यश्रवणमात्रेण[6] प्रत्येति [7]स्वव्यापारोनेन[8] वाक्येन मम प्रतिपादित[9] इति। किं तर्हि ? [10]आत्मादिविशिष्टोर्थः [11]क्रियाख्योनेन[12]

हमारे यहाँ ज्ञान स्वपर को जानने वाला अनुभव से सिद्ध है अतः सैकड़ों विकल्पों से उसमें दोषारोपण करना शक्य नहीं है। तब तो हम भाट्टों के यहाँ भी शब्द अपने व्यापार से सहित होता हुआ पुरुष के यज्ञ रूप व्यापार को भावित कराता है। इसमें भी बाधा रहित अनुभव आ रहा है अतः शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है और वह पुरुष के व्यापार को करा देती है इत्यादि। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! हमारे ज्ञान में भिन्न, अभिन्न आदि रूप से दोष नहीं आते हैं क्योंकि हम अपेक्षा से ज्ञान को उसके जानने रूप व्यापार से भिन्न भी मानते हैं और अभिन्न भी मानते हैं। हमारे यहाँ ज्ञान शब्द व्याकरण से व्युत्पत्ति अर्थ में तीन प्रकार से सिद्ध होता है। यथा—कर्तरि प्रयोग में "जानातीति ज्ञानं आत्मा"। जो जानता है वह ज्ञान है इस अर्थ में ज्ञान और आत्मा अभिन्न—एक रूप हो जाते हैं "ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं"। इस करण साधन में जिसके द्वारा जाना जावे वह ज्ञान है ऐसा अर्थ करने से ज्ञान और आत्मा में करण और कर्ता की अपेक्षा से कथंचित् भेद भी हो जाता है। एवं "ज्ञप्तिमात्र वा ज्ञानं"। कहने से जानना मात्र क्रिया ही ज्ञान है ऐसा सिद्ध हो जाता है। यहाँ पर ज्ञान को करण रूप से विवक्षित कर लेने से आपके द्वारा आरोपित दोषों का उन्मूलन हो जाता है। ज्ञान के द्वारा स्व और पर का ज्ञान होता है। मतलब 'स्व' शब्द से यहाँ ज्ञान रूप करण शक्ति से सहित आत्मा, और पर शब्द से सभी जीव-अजीव आदि पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। जब ज्ञान स्वपर को जानने वाला है तब वह ज्ञान संवेद्य—जानने योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञान तो जानने वाला सिद्ध है। अतः ज्ञान करण शक्ति रूप से संवेद्य नहीं है किन्तु संवेदक है अतः हमारे यहाँ ज्ञान कथंचित् अपने से अभिन्न स्वभाव वाली आत्मा को जानता है। कथंचित् कर्ता करण में भेद की विवक्षा से अपने से भिन्न अपने स्वभाव को जानता है एवं क्रम से भिन्नाभिन्न की विवक्षा करने से सप्तभंगी के तृतीय भंग रूप—कथंचित्—भिन्न-भिन्न रूप अपने आत्म स्वभाव को जानता है।

वाक्य के द्वारा भाव्यमान—उत्पन्न कराया गया पुरुष का व्यापार उसका विषय नहीं है। किन्तु स्वव्यापार भावक-लक्षण उस शब्द का भावना-नाम का विषय है ऐसा आपने स्वीकार किया है इसलिए किंचित् भी उदाहरण में साम्य नहीं है। कारण उस प्रकार की प्रतीति नहीं आ रही है। कोई भी मनुष्य "अग्निष्टोमेन यजेत" इत्यादि शब्द के सुनने मात्र से ही इस प्रकार से नहीं समझता है कि "इस वाक्य ने मेरा व्यापार प्रतिपादित किया है" इत्यादि।

---

1 तर्हि भाट्टाभिहितविषयः क इत्युच्यते भाट्टः। 2 उत्पादकत्वसंज्ञकः। 3 तस्य वाक्यस्य। 4 वैषम्यादित्यनेन संबंधः। (ब्या० प्र०) 5 न केवलं वैषम्यात्। (ब्या० प्र०) 6 अग्निष्टोमेन यजेतेत्यादि। 7 पुरुषव्यापारः। 8 वाक्यस्य। (ब्या० प्र०) 9 प्रकाशित। (ब्या० प्र०) 10 आदिशब्दात् सुखादयो। 11 यजेत जानातीत्यादि। 12 अनेन वाक्येन।

प्रकाशित इति प्रतीतिः—सर्वेण वाक्येन क्रियाया एव कर्मादिविशेषणविशिष्टायाः प्रकाशनात्। देवदत्त गामभ्याज [1]शुक्लां [2]दण्डेनेत्यादिवत्। [3]सैवाभ्याजनादिव्यवच्छिन्ना[4] क्रिया भावना अभ्याज अभ्याजत कुविति प्रतीतिरिति चेत्[5]—तस्याः पुरुषस्थत्वेन सम्प्रत्ययाच्छब्दात्म[6]भावनारूपत्वायोगात्। [7]तथा च कथमिदमवतिष्ठते—"शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव[8] लिङादय" इति।

[शब्दभावना का निराकरण करके अब यहाँ से आचार्य अर्थभावना का निराकरण करते हैं]

[9]यदप्युक्तम्—अर्थभावना पुरुषव्यापारलक्षणा[10] वाक्यार्थ इति तदप्ययुक्तम्—नियो-

---

शंका—यो शब्द क्या प्रतिपादित करता है ?

जैन—जाति आदि से विशिष्ट अर्थ "यजेत" इत्यादि क्रिया नाम से इस वाक्य के द्वारा प्रकाशित किया गया है ऐसा अनुभव आता है क्योंकि सभी वाक्य कर्मादि विशिष्ट से विशेषण क्रिया को ही प्रकाशित करते हैं। जैसे "हे देवदत्त ! इस श्वेत गाय को बंदे के द्वारा भगाओ" इत्यादि वाक्य जाति, गुण, द्रव्य से विशिष्ट ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—उसी।

भाट्ट—वही अभ्याजन आदि से सुविच्छिन्न क्रिया ही तो भावना है क्योंकि "अभ्याज, अभ्याजत कुरु"—भगाओ, भगाते हो क्रिया करो इस प्रकार से प्रतीति आ रही है।

जैन—नहीं। वह प्रतीति तो पुरुष में स्थित रूप से जानी जाती है। शब्दभावना और अर्थभावना रूप से नहीं जानी जाती है। और उस प्रकार से यह बात भी कैसे व्यवस्थित होगी कि "विद्वानों ने शब्दभावना और आत्मभावना को अर्थभावना से भिन्न ही कहते हैं" अर्थात् यह कथन ठीक नहीं है।

[शब्दभावना का निराकरण करके अब यहाँ से आचार्य अर्थभावना का निराकरण करते हैं]

जैनाचार्य—और जो आपने कहा है कि "पुरुष व्यापार लक्षण अर्थभावना वेदवाक्य का अर्थ है" यह कथन भी अयुक्त है, अन्यथा नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावेगा क्योंकि "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन यागादौ" मैं इस वेद वाक्य के द्वारा यजादि कर्म में नियुक्त हुआ हूँ। इस प्रकार से आत्मा को अनुभव हो रहा है।

भाट्ट—इस प्रकार से शब्द व्यापार रूप से शब्दभावना ही सिद्ध होती है अतः ऐसा शब्दभावना रूप नियोग हमें इष्ट है हमने तो शुद्ध कार्यादिरूप ही नियोग का निराकरण किया है।

---

1 शुभः। 2 दण्डम्। 3 भाट्टः। 4 विशिष्टः। (ब्या० प्र०) 5 जैनः। 6 स्वरूप। (ब्या० प्र०) 7 विद्वांसोनां शब्दव्यापारविषयलक्षणायै इति। 8 अर्थभावनातः। 9 इदानीमर्थभावना निराकर्तुमुपक्रमते। 10 देवदत्तः करोतीत्यादिलक्षणा।

गस्य वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् । नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन यागं कुर्वाविति प्रतिपत्तुः प्रतीतेः । [1]इष्टस्ताहशो नियोगो [2]भावनास्वभावः [3]शुद्धकार्यादिरूपस्त्वेव नियोगस्य निराकरणादिति [4]चेन्न तस्यापि प्रधानभावार्पितस्य[5] करोत्यर्थादिविशेषवतस्[6] वाक्यार्थत्वोपपत्तेः । निरपेक्षस्य[7] तु करोत्यर्थस्यापि वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः । न च करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इति युक्तम्—[8]सज्या-दयर्थस्यापि वाक्यार्थतयानुभवात् ।

[भाट्टाः करोति सामान्यक्रियामेव वाक्यस्यार्थं मन्यते, किंतु जैनाचार्याः भवति क्रियां सामान्यरूपां सर्वव्यापिनीं मत्वा वेदवाक्यस्यं कुर्वन्ति] ।

[9]करोतिसामान्यस्य[10]सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वम्-नित्याः[11] शब्दार्थसम्बन्धा इति वचनात् । न पुनर्यज्यादिक्रियाविशेषास्तेषामनित्यत्वाच्छ[12]ब्दा[13]र्थत्वाऽने-

---

जैन—ऐसा नहीं कहना । क्योंकि "करोति इस अर्थ वाले विशेषण से विशिष्ट, प्रधान भाव से विवक्षित वह नियोग भी वेदवाक्य का अर्थ हो जाता है किन्तु निरपेक्ष करोति क्रिया का अर्थ भी वेद-वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता है एवं "करोति" अर्थ ही वेद वाक्य का अर्थ है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यज्यादि अर्थ भी वेदवाक्य के अर्थपने से अनुभव में आते हैं ।

[भाट्ट ने करोति क्रिया को सामान्य मानकर उसे ही वेदवाक्य का अर्थ माना है । उस पर जैनाचार्य "भवति" क्रिया को सर्वव्यापी मानकर उसे वेद का अर्थ सिद्ध करते हैं]

भाट्ट—सकल यज्यादि क्रिया विशेष में व्यापी "करोति" सामान्य नित्य है अतः वह शब्द का अर्थ है । क्योंकि "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः" ऐसा वचन देखा जाता है किन्तु यज्यादि क्रिया विशेष वेद के अर्थ नहीं हैं क्योंकि वे अनित्य हैं वे वेदवाक्य के अर्थ घटित नहीं होते हैं ।

जैन—ऐसा नहीं कहना—क्योंकि सकल कृत्यादि क्रिया विशेषों में व्यापी यज्यादिक्रिया-सामान्य नित्य है वह भी वेदवाक्य का अर्थ हो सकता है इसमें कोई विरोध नहीं है ।

भाट्ट—सभी क्रियाओं में व्यापी होने से "करोति" सामान्य ही शब्द का अर्थ है न कि यज्यादि विशेष ।

जैन—यदि ऐसा मानते हो तो भवन-क्रिया-रूप "सत्ता-सामान्य" भी सब—वेदवाक्य का अर्थ हो जावे क्या बाधा है ? करोति क्रिया में भी उसका सद्भाव है । क्योंकि महाक्रिया में सामान्य-

---

1 भाट्ट आह "नो जैन" । 2 अस्यव्यापार इत्युक्ते अस्यवार्थस्यैवेति भावनास्वभावः । 3 यागलक्षण । (व्या० प्र०) 4 जैनः । 5 विवक्षितस्य । 6 वाक्यस्य । 7 विशेषवतः । (व्या० प्र०) 8 वचनात् । (व्या० प्र०) 9 भाट्टो वदति । 10 सूत्रकारस्य महर्षिणः सूत्राणां सानुतंत्राणां भाष्याणां च प्रणेतृणिः । तथाहि—विषयप्रयोजनसम्बन्धसमनुबोध्य तेन यद्यते यानि सूत्राणि तानि सानुतंत्राणि तेषां । (व्या० प्र०) 11 "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तद्व्याख्यातारं महर्षिणः सूत्राणां सानुतंत्राणां भाष्याणां च प्रणेतृणिः" । 12 वाक्यार्थता । 13 शब्दार्थत्वाघटनात् इति पा० । (व्या० प्र०)

[1]दनात्। इति चेन्न[2]—[3]भव्यादिक्रियासामान्यस्य[4] सकलभव्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वाविरोधात्, [5]सर्वक्रियाव्यापित्वात्करोतिसामान्यं शब्दार्थ इति चेत्तर्हि[6] सत्तासामान्यं[7] [8]शब्दार्थोस्तु, करीतावपि तस्य सद्भावात्। [9]महाक्रियासामान्य[10]व्यवस्थितिरूपत्वात्[11]। यथैव हि पचति पाकं करोति, यजते यागं करोतीति प्रतीतिस्तथा पचति पाचको भवति, यजते याजको भवति, करोतीति कारको भवतीत्यपि प्रत्ययोस्ति। ततः करोतीत[12]-रार्थव्यापित्वाद्भव[13]त्यर्थस्यैव शब्दार्थत्व[14] युक्तमुत्पश्यामः[15]।

[निष्क्रियवस्तुनि अपि भवत्यर्थो विद्यतेऽतः क्रियास्वभावो नास्तीति भाट्टेनोच्यमाने जैनाचार्या विराकुर्वन्ति]

स्यान्मतं "निव्यापारेषु[16] वस्तुषु भवत्यर्थस्य प्रतीतेर्न क्रियास्वभावत्वं, [17]निष्क्रियेषु गुणादिषु [18]भवनाभावप्रसङ्गात्" इति चेन्न, करीत्यर्थेपि समानत्वात्। [19]परिस्पन्दात्मक-

---

व्यवस्थित रूप ही है। अर्थात् सत्ता-सामान्य सर्वत्र व्यवस्थित ही रहता है।

जिस प्रकार से "पचति—पाकं करोति, यजते—यागं करोति" यह प्रतीति आ रही है उसी प्रकार से "पचति, पाचको भवति, यजते, याजको भवति, करोतीति कारको भवति" यह ज्ञान भी हो रहा है। इसलिये "भवति" यह क्रिया इतर पचन आदि अर्थ में भी व्यापी होने से हम जैन "भवति" इस क्रिया के अर्थ को ही वेदे-भाट्ट का अर्थ युक्त समझते हैं किन्तु 'करोति' अर्थ को नहीं।

[निष्क्रिय वस्तु में भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है अतः यह क्रिया स्वभाव नहीं है ऐसी भाट्ट की मान्यता का निराकरण]

भाट्ट—निर्व्यापार—निष्क्रिय—वस्तु में भी भवति क्रिया का अर्थ देखा जाता है इसलिए यह क्रिया स्वभाव नहीं है अन्यथा निष्क्रिय गुणादिकों में सत्त्व के अभाव का प्रसंग आ जावेगा।

जैन—ऐसा भी नहीं कहना। क्योंकि यह बात तो करोति क्रिया के अर्थ में भी समान ही है। देखिये! परिस्पंदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान है "तिष्ठति, स्थानं करोति," ठहरता है, स्थान करता है। ऐसी प्रतीति आती है और दूसरी बात यह भी है कि गुणादिकों में करोति अर्थ का अभाव होने पर सर्वदा उनमें कारकपने का भी अभाव हो जावेगा पुनः वे गुणादि अवस्तु हो जावेंगे। इसीलिए यह करोत्यर्थ भी व्यापक है क्योंकि विद्यमान वस्तु में उसका सद्भाव है। अन्यथा वह कारक न होने से अवस्तु हो जावेगा पुनः उसका सत्त्व नहीं रहेगा। एवं महासत्ता रूप भवन क्रिया है इत्यादि रूप से व्यवहार भी देखा

---

1 अघटनात्। 2 जैनः। 3 भवतिक्रियासामान्यस्य। (ब्या० प्र०) 4 करोत्यर्थविशेषस्य। 5 भाट्टः। 6 जैनः। 7 भवनक्रिया। 8 भवत्यर्थः। 9 महाक्रिया सत्तालक्षणा तस्य सामान्यं तदेव रूपं यस्याः करोतिक्रियायाः। 10 महाक्रिया सामान्यरूपत्वात्। (ब्या० प्र०) 11 सत्ताक्रियासामान्यस्य। 12 इतरः=पचनादिः। 13 न पुनः करोत्यर्थस्य। 14 भवत्यर्थवत्। 15 इति जैनाः। 16 निष्क्रिये। 17 अन्यथा। 18 वस्तुत्वं विनश्यत्यगुणादीनामभाव आपादितः। 19 [यतः तस्मात्] क्रिया द्विविधा परिस्पन्दात्मिका (चलनात्मिका) भावरूपा च।

व्यापाररहितेपि करोत्यर्थस्य भावात्, तिष्ठति स्थानं करोतीति प्रतीतेः, गुणादिषु [1]च करोत्यर्थाभावे सर्वथा [2]कारकत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः। [3]सत एव करोत्यर्थो व्यापकः, [4]सति सर्वत्र भावात्। अन्यथा[5] तस्याकारकत्वेनावस्तुत्वात् सत्त्वविरोधात्। [6]भवनक्रियेत्या[7]दिव्यवहारदर्शनाच्च[8] सत्ता करोत्यर्थविशेषणमेव। करोत्यर्थस्यैव सर्वत्र प्राधान्यद्वाक्यार्थत्वम्। इति चेन्न[9], [10]तस्य नित्यस्यैकस्यानंशस्य सर्वगतस्य सर्वथा विचार्यमाणस्यासम्भवात्।

जाता है। इसलिए 'सत्ता' करोति क्रिया के अर्थ का विशेषण ही है।

भावार्थ—भाट्ट का कहना है कि "करोति—करता है" इस क्रिया का अर्थ सभी क्रियाओं में व्याप्त है। अतः यह करोति क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है। जैसे—यजते, यागं करोति, गच्छति गमनं करोति इत्यादि। यज्ञ करता है, यज्ञ को करता है, जाता है गमन को करता है, यह करने रूप क्रिया सर्वत्र व्याप्त होने से ही नित्य है और यही वेदवाक्य का अर्थ है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार से तो भू धातु सत्ता अर्थ में है और अस् धातु भी सत्ता अर्थ में है "भवति, अस्ति" क्रियायें तो वास्तव में सर्वत्र व्याप्त हैं। "यजते, याजको भवति, पचति, पाचको भवति"। यज्ञ करता है याजक होता है, पकाता है पाचक होता है। इत्यादि रूप से भू धातु की भवति क्रिया को भी सर्वत्र व्याप्त होने से वेदवाक्य का अर्थ मान लो क्योंकि यह भवति क्रिया तो करोति में भी व्याप्त है जैसे—करोति, कारको भवति। तब भाट्ट ने कहा कि यह 'भवति' निष्क्रिय वस्तु गुण आदि में भी पाई जाती है यथा "आकाशोऽस्ति, रूपादयः संति।" आकाश है, रूपादि हैं इत्यादि। अतः यह वेदवाक्य का अर्थ नहीं होगी क्योंकि वेदवाक्य का अर्थ तो यज्ञ को करने की क्रिया रूप है। इस पर जैनाचार्य पुनरपि कहते हैं कि इस प्रकार से तो परिस्पंदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ पाया जाता है जैसे—तिष्ठति, स्थानं करोति। ठहरता है स्थान करता है इन अकर्मक धातुओं में भी करोति क्रिया कही गई। इसलिए सर्वव्यापी महा सत्ता रूप भवति क्रिया ही वेदवाक्य का अर्थ हो जावे। तब उसने कहा कि यह "भवति" क्रिया तो "करोति" क्रिया के अर्थ का विशेषण है। अतः करोति क्रिया ही विशेष्य रूप होने से एवं सर्वत्र प्रधान रूप होने से वेदवाक्य का अर्थ है। इस पर और भी आगे ऊहापोह चलता है।

भाट्ट—करोति क्रिया का अर्थ ही सर्वत्र प्रधान होने से वेदवाक्य का अर्थ है।

जैन—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि आपके द्वारा मान्य वह करोति क्रिया सामान्य, नित्य, एक, अनंश और सर्वगत है इस पर विचार करने से सर्वथा ही वह करोति सामान्य, असंभव ही है अर्थात् भाट्ट करोति क्रिया को सामान्य, नित्य, एक, निरंश और सर्वगत मानते हैं आगे क्रमशः इन मान्यताओं का खण्डन किया गया है।

---

1 किञ्च। 2 किया कुर्वंति कारकं। (ब्या० प्र०) 3 पर एव। 4 विद्यमाने वस्तुनि। 5 असति सर्वत्रभावे। 6 महासत्ता। 7 करण। (ब्या० प्र०) 8 हेत्वन्तरमिदम्। 9 जैन आह। 10 करोत्सिामान्यस्य।

[करोत्यर्थसामान्यं नित्यमस्ति इति भाट्टेन मन्यमाने जैनाचार्यस्तस्य निराकरणं कुर्वंति]

[1]नित्यं करोत्यर्थसामान्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्छब्दवदिति [2]चेन्न, हेतोर्विरुद्धत्वात्, कथञ्चिन्नित्यस्येष्ट[3]विरुद्धस्य साधनात्, सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात्, तदेवेदमिति पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिन्येकत्र[4] प्रत्ययस्योत्पत्तेः, [5]पौर्वापर्यरहितस्य[6] [7]पूर्वापरप्रत्यय[8]विषयत्वासम्भवात्। [9]धर्मवित्[10] पूर्वापरभूतौ, न धर्मसामान्यमिति चेत् [11]कथं तदेवेद[12]मित्यभेदप्रतीतिः[13]? पूर्वापरस्वरूपयोरतीतवर्तमानयोस्तत्त्यतीतपरामर्शिना स्मरणेनेदमिति वर्त्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयीक्रियमाणयोः परस्परं [14]भेदात्। [15]करोतिसामान्यादेकस्मात्तयोः कथञ्चि-

---

[करोति क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है ऐसा भाट्ट के द्वारा कहने पर जैनाचार्य उसका निराकरण करते हैं]

भाट्ट—'करोति' क्रिया का अर्थ सामान्य और नित्य है क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है शब्द के समान।

जैन—नहीं। आपका हेतु विरुद्ध है यह "प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्" हेतु आपके इष्ट सर्वथा नित्य से विरुद्ध कथंचित् नित्य को सिद्ध करता है क्योंकि सर्वथा नित्य का प्रत्यभिज्ञान होना ही असंभव है। "तदेवेदं" यह वही है इस प्रकार से पूर्वोत्तर पर्याय में व्यापी एक वस्तु में यह प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, एवं पौर्वापर्य से रहित वस्तु पूर्वापर ज्ञान-प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं हो सकती है।

भाट्ट—पूर्व और अपर ये दो धर्म ही हैं, धर्मी सामान्य नहीं है।

जैन—यदि ऐसा कहो तो "तदेवेदं" यह अभेद प्रतीति कैसे होती है? अर्थात् जिस सामान्य को मैंने यजनादि में प्राप्त किया था वही पचनादि में करोति अर्थ का सामान्य है क्योंकि 'तत्' इस प्रकार से अतीत के परामर्शी स्मरण से और 'इदं' इस प्रकार से वर्तमानोल्लेखी प्रत्यक्ष से विषय किए गये अतीत और वर्तमान पूर्वापर स्वरूप में परस्पर में भेद है इसलिए इस प्रत्यभिज्ञान में अभेद प्रतीति नहीं है।

भाट्ट—एक करोति सामान्य से उन पूर्वापर में कथंचित् भेदाभेद की प्रतीति आती है। अथवा कथंचित् भेद से अभेद की प्रतीति आती है ऐसा भी टिप्पणीकार का कहना है।

---

1 (भाट्ट आह) घटादौ व्यभिचारनिवृत्तेर्हि "सर्वथा" पदं ग्राह्यम्। 2 जैनः। 3 भाट्टमते करोत्यर्थस्य सामान्यं सर्वथा नित्यमिति। 4 वस्तुनि। 5 क्रमभेव पूर्वापरीभूतं सार्थं ग्रहणाकृष्यायाह। 6 अर्थस्य। (व्या० प्र०) 7 स्मरणप्रत्यक्ष। (व्या० प्र०) 8 प्रत्ययो ज्ञानम्। 9 भाट्टः। 10 पूर्वापरप्रत्ययहेतू। (व्या० प्र०) 11 जैनः। 12 तदेव यया यजनादावुपलब्धं तदेव पचनादौ करोत्यर्थस्य सामान्यम्। 13 पूर्वापरभूतधर्मयोः। ईदृ डिः। (व्या० प्र०) 14 ततो नाभेदप्रतीतिः। 15 भाट्टः।

द्भेदा[1]भेदप्रतीतिरिति चेत् [2]सिद्धं तस्यकथञ्चिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्मव्यतिरेकात्[3]। [4]न ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तमनित्यस्वात्मवत्[5], सर्वथा नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च। तदनित्यं सामान्यं, [6]विशेषादेशाच्छब्दवत्। तत एवानेकं तद्वत्।

[करोति क्रिया एकास्तीति भाट्टो ब्रूते तस्य परिहारः]

[7]करोतीति [8]स्वप्रत्ययाविशेषादेकं करोतिसामान्यं सदिति स्वप्रत्ययाविशेषादेकसत्तासामान्यवदिति चेन्न, सर्वथा स्वप्रत्ययाविशेषस्य[9]सिद्धत्वात्[10]। प्रतिकरोत्यर्थं[11]व्यक्ति करोतीति=प्रत्ययस्य[12] विशेषात्[13]प्रतिसद्घटक्ति सदितिप्रत्ययवत्। तद्घटक्तिविषयो विशेषप्रत्यय[14]

जैन—यदि ऐसा कहो तो उस प्रत्यभिज्ञान को कथंचित्—अनित्यत्व सिद्ध ही हो गया। क्योंकि वह अनित्य रूप अपने धर्म से अभिन्न है। और अनित्य से अभिन्न होकर नित्य ही है ऐसा कहना युक्त नहीं है, अनित्य के स्वरूप के समान। क्योंकि सर्वथा नित्य में क्रम अथवा युगपत् से अर्थ क्रिया का विरोध है।

इसलिए वह सामान्य अनित्य है क्योंकि उसमें विशेषादेश—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भेद का कथन होता है, शब्द के समान। और उसी प्रकार से शब्द के समान वह सामान्य अनेक भी है।

[करोति क्रिया एक है ऐसा भाट्ट कहता है उसका परिहार]

भाट्ट—"करोति" इस प्रकार से स्वप्रत्यय-अपने ज्ञान से समान होने से करोति सामान्य एक है जैसे "सत्" इस अपने ज्ञान सामान्य से सत्ता सामान्य एक है।

जैन—नहीं सर्वथा स्वप्रत्यय से समानता असिद्ध है अर्थात् पर्यायार्थिक नय से भेद का कथन भी देखा जाता है। करोति अर्थ के व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति को—'प्रतिकरोति अर्थव्यक्ति' कहते हैं अर्थात् करोति अर्थ के व्यक्ति व्यक्ति के प्रति करता है। इस प्रकार से ज्ञान विशेष होने से (घटकरण पट करणादि ज्ञान) भेद हैं जैसे 'सत्' 'सत्' इस प्रकार से व्यक्ति—व्यक्ति के प्रति सत् ज्ञान में भेद देखा जाता है।

भाट्ट—उन व्यक्ति को विषय करने वाला तो विशेष ज्ञान है।

जैन—ऐसा कहो तो यदि वे घटपटादि रूप व्यक्तियाँ—भिन्न-२ वस्तुएं करोति सामान्य से सर्वथा भिन्न प्रतिपादित की गई हैं तब तो आप मीमांसक यौगमत में प्रवेश कर जावेंगे। यदि आप कहो कि वे व्यक्तियाँ करोति सामान्य से कथंचित् अभिन्न हैं तब तो सामान्य विशेष ज्ञान को विषय

---

1 भेदादभेद प्रतीतिः इति पा०। (ब्या० प्र०) 2 जैनः। 3 अव्यतिरेकः अभेदः। 4 सिद्धेश्च नैकान्तिकत्वे सत्यादि जैनः। 5 स्वस्वरूपवत्। (ब्या० प्र०) 6 पर्यायार्थिकनयात्भेदकथनात्। 7 घटं करोति पटं करोतीत्यादौ। 8 अभेदात्। (ब्या० प्र०) 9 हेतोः। 10 पर्यायार्थिकनयेन भेदस्यापि कथनात्। 11 करोत्यर्थस्य व्यक्ति प्रतीति प्रतिकरोत्यर्थव्यक्ति। 12 घटकरणपटकरणादिप्रत्ययस्य। 13 भेदात्। 14 घटकरणं पटकरणमिति।

इति चेत्तर्हि[1] ता व्यक्तय:[2] [3]सामान्यात्सर्वथा यदि भिन्ना: प्रतिपाद्यन्ते तदा यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य। [4]अथ कथञ्चिदभिन्नास्तदा[5] सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वं विशेषप्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्य: कथञ्चिदभिन्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वोपपत्तेर्विशेषस्वात्मवत्। ततोऽनेकमेव[6] करोतिसामान्यं सत्तासामान्यवत्।

[करोति क्रियानंशेति मन्यमाने दोषमाह]

नाप्यनंश[7], कथञ्चित्सांशत्वप्रतीते: सांशेभ्यो[8] [9]विशेषेभ्योनर्थान्तरभूतस्य[10] सांशत्वोपपत्तेस्तत्स्वात्मवत्।

[तत्सामान्यं सर्वगतमिति मन्यमाने दोषमाहुराचार्या:]

[11]तथा न सर्वगतं तत्सामान्यं, व्यक्तयन्तरालेनुपलभ्यमानत्वात्। [12]तत्रानभिव्यक्तत्वात्तस्या-

---

करता है यह बात सिद्ध हो गई।

क्योंकि विशेष ज्ञान के विषय भूत विशेषों से कथंचित् अभिन्न सामान्य ही विशेषज्ञान का विषय हो सकता है जैसे कि विशेष का स्वरूप कथंचित् अभिन्न होने से विशेषज्ञान का विषय है। इसलिए करोति सामान्य अनेक ही है सत्ता सामान्य के समान। अर्थात् जितने विशेष हैं उतने ही सामान्य हैं न कि एकसामान्य।

[करोति सामान्य निरंश है ऐसा भाट्ट का कहना है उसका जैनाचार्य परिहार करते हैं]

यह करोति सामान्य अनंश भी नहीं है क्योंकि कथंचित् अंशसहित ही प्रतीति में आ रहा है। अंशसहित—अवयवसहित घट पटादि विशेषभेद लक्षणों से अभिन्न सामान्य अंशसहित देखा जाता है जैसे कि उसका स्वरूप।

[यह सामान्य सर्वगत है ऐसा कहने पर जैनाचार्य दूषण दिखलाते हैं]

उसी प्रकार से यह सामान्य—सर्वगत भी नहीं है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में उपलब्ध नहीं होता है।

भावार्थ—यह भाट्ट करोति क्रिया सामान्य को महासत्ता रूप मानता है और कहता है कि यह करोति क्रिया नित्य है, एक है, निरंश है और सर्वव्यापी है इन चारों विशेषणों का जैनाचार्य ने क्रम-क्रम से निराकरण किया है। पहले भाट्ट ने करोति क्रिया को नित्य सिद्ध करने के लिए "प्रत्यभिज्ञान होता है" ऐसा हेतु दिया है। उस पर जैनाचार्य ने कहा कि यह "प्रत्यभिज्ञायमान" हेतु कथंचित् नित्य को सिद्ध करता है, सर्वथा नित्य को नहीं। क्योंकि 'तदेवेदं" यह वही है इस प्रकार पूर्व

---

1 जैन:। 2 घटपटादिरूपा:। 3 करोतिसामान्यात्। 4 भाट्ट:। 5 सामान्यात्। 6 यावन्तो विशेषास्तावन्ति सामान्यानि न त्वेकमित्यर्थ:। 7 करोतिसामान्यम्। 8 सावयवेभ्यो घटपटादिभ्य:। 9 भेदलक्षणेभ्य:। 10 सामान्यस्य। 11 जैन:। 12 भाट्ट:।

नुपलम्भ इति चेत्तत[1] एव व्यक्तिस्वात्मनोपि[2] तत्रानुपलम्भोस्तु। तस्य तत्र सद्भावावेदकप्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत् सामान्यस्यापि [3]विशेषाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भोस्तु, व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् प्रत्यक्षतस्तथा[4]ननुभवात् खरविषा-

---

के स्मरण और वर्तमान के प्रत्यक्ष इन दोनों के जोड़ रूप में यह प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है जैसे—जिस करोति क्रिया सामान्य के अर्थ को मैंने यजन आदि क्रिया में पूर्व में देखा था वही इस समय पचन आदि क्रिया में करोति अर्थ पाया जा रहा है। यह प्रत्यभिज्ञान कथंचित् नित्यानित्य वस्तु में ही होता है क्योंकि सर्वथा नित्य में क्रम से या युगपद् अर्थ क्रिया का ही अभाव है। पुनः भाट्ट कहता है कि "करोति" इस प्रकार का ज्ञान सभी जगह समान है अतः यह करोति क्रिया सामान्य एक है जैसे—सत् अपने सत् रूप सामान्य ज्ञान से सत्ता सामान्य एक ही है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे यहाँ "सत् सामान्य" भी व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति अनन्त भेद रूप है।

जैन सिद्धांत में सत्ता को अनन्त पर्यायात्मक माना है। उसी प्रकार से करोति क्रिया भी व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति भेद रूप है, जैसे—यागं करोति, पाकं करोति, गमनं करोति। इन सभी करोति क्रियाओं में भिन्न-भिन्न पुरुष की अपेक्षा से भेद स्पष्ट है जो यज्ञ करता है वह पकाता नहीं है और वह गमन नहीं कर रहा है इन तीनों क्रियाओं को करने वाले तीन व्यक्ति पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं। अतः करोति सामान्य अनेक रूप ही है। उसी प्रकार से वह करोति सामान्य अंश रहित भी नहीं है क्योंकि घट पटादि अवयव सहित पदार्थों में वह करोति सामान्य पाया जाता है तथैव करोति सामान्य सर्वगत भी नहीं है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में विद्यता ही नहीं है। इस प्रकार से जैनाचार्य ने करोति सामान्य को अनित्य, अनेक, अंश सहित और असर्वगत सिद्ध कर दिया है।

भाट्ट—उस अंतराल में वह करोति सामान्य अभिव्यक्त नहीं है इसलिए उसकी अंतराल में उपलब्धि नहीं है।

जैन—उसी हेतु से व्यक्ति का स्वरूप भी वहाँ अंतराल में अनुपलब्ध हो जावे पुनः व्यक्तियों को भी सर्वगत मान लो क्या बाधा है? किन्तु आप तो ऐसा मानने को तैयार नहीं हैं।

भाट्ट—व्यक्ति विशेष के सद्भाव को अंतराल में सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है अतः उसकी अंतराल में अनुपलब्धि है।

जैन—यदि ऐसा मानो तो सामान्य के भी सद्भाव का आवेदक कोई प्रमाण न होने से उसका

---

1 जैनः। 2 तस्यापि व्यक्तेरात्मनोपि सर्वगतत्वं समायातम्। न च तथा स्वीक्रियते। 3 सद्भावावेदकप्रमाणाभावस्य। (व्या० प्र०) 4 व्यक्त्यन्तराले तत्स्वरूपेण।

णादिवत्। [1]व्यक्त्यन्तरालेस्ति सामान्यं, [2]युगपद्भिन्नदेश[3]स्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वाद्वंशादि[4]-वदित्यनुमानात्तत्र तत्सद्भावसिद्धिरिति [5]चेन्न, हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्[6]। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं यथा स्थूणादिषु [7]वंशादिरिति प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधार[8]-वृत्तित्वे सत्येकत्वं[9] तस्य[10] सिध्यत् स्वाधारान्तरालेस्तित्वं साधयेत्, प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य भेदाद्विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत्। [11]यथैव हि [12]काचिद्घटादिलक्षणोपलभ्यमाना [13]व्यक्त्यन्तरादिभिन्ना[14] विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणाम-दर्शनाल्किञ्चित्केन[15]चित्समानमवसीयते[16] इति निर्बाधमेव, तेनायं समानः सोनेन समान इति

भी अंतराल में असत्त्व होने से ही अनुपलब्धि होवे क्या बाधा है ? क्योंकि व्यक्ति के अंतराल में उस सामान्य के भी सद्भाव का आवेदक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष से व्यक्ति के अंतराल में सत्स्वरूप का अनुभव नहीं आता है जैसे कि खर विषाणादि का कहीं पर अनुभव नहीं आता है।

भाट्ट—व्यक्ति विशेष के अंतराल में भी सामान्य रहता है। क्योंकि युगपत् भिन्न देश और स्वाधार में रहने में एक रूप है, बांसादि के समान"। इस अनुमान से वहाँ उस सामान्य का सद्भाव सिद्ध है।

जैन—नहीं। आपका हेतु प्रतिवादी को असिद्ध है। क्योंकि भिन्न-भिन्न देश के विशेषों में सामान्य एक है जैसे "स्थूणादि में बांसादि"। ऐसा प्रतीति में नहीं आता है कि जिससे युगपत् भिन्न देश एवं स्वाधार वृत्तित्व के होने पर उस सामान्य में एकत्व हेतु सिद्ध होता हुआ अपने आधार के अंतराल में अस्तित्व को सिद्ध कर सके। अर्थात् नहीं कर सकता है। प्रतिव्यक्ति (विशेष-विशेष के प्रति) सदृश परिणाम लक्षण सामान्य भिन्न-भिन्न है जैसे विसदृश परिणाम लक्षण विशेष प्रत्येक भिन्न-भिन्न वस्तु में भिन्न-भिन्न है।

जिस प्रकार से कोई घट पटादि लक्षण विशेष उपलब्ध होता हुआ व्यक्त्यंतर-मुकुटलक्षणादि विशेष से भिन्न होता हुआ विसदृश परिणाम के देखने से निश्चित होता है उसी प्रकार से सदृश परिणाम के देखे जाने से कोई वस्तु किसी वस्तु के समान निश्चित की जाती है यह बात बाधा रहित सिद्ध ही है "यह उसके समान है, वह इसके समान है" इस प्रकार से समान ज्ञान देखा जाता है।

---

1 भाट्टः। 2 सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेस्ति—एकत्वादित्येवास्तु इत्युक्ते देवदत्तेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं स्वाधार-वृत्तित्वविशेषणम्। तथा प्येकविष्टरोपविष्टेन सेनैव व्यभिचारो मा भूदिति भिन्नदेशविशेषणम्। तथापि क्रमेणाने-कालसंस्थानेन तेन व्यभिचारः स्यात्। तत्परिहारार्थं युगपद्विशेषणं कृतमनुमानेस्मिन्। 3 भिन्नदेशत्वाभावो स्वाधारस्य। 4 स्थूणादिषु वंशादिवदित्यर्थः। 5 जैनः। 6 सामान्यस्यैकत्वं नाङ्गीक्रियते जैनैः। 7 प्रतीयते यथा। 8 तथापि क्रमवर्तिनस्था वृत्तिमता देवदत्तेन व्यभिचारस्ततो युगपदिति विशेषणं। (व्या० प्र०) 9 हेतुः। 10 सामान्यस्य। 11 एतदेव भावयति। 12 घटपटादिलक्षणा। 13 मुकुटादिलक्षणात्। 14 भिन्ना। 15 वस्तु। 16 निश्चीयते।

समानप्रत्ययात् । [1]ननु पूर्वमनभ्यस्तव्यक्तयस्य[2]स्यैकव्यक्तिदर्शने समानप्रत्ययः कस्मान्न भवति ? तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्तत्रापि विशिष्टप्रतीतिः[3] कस्मान्न भवति ? वैसादृश्यस्य[4] भावात् । [5]परापेक्षत्वाद्विशिष्टप्रतीतेरिति चेत्तत एव [6]तत्र समानप्रत्ययोऽपि[7] मा भूत् । न हि स परापेक्षो न भवति, परापेक्षामन्तरेण [8]क्वचित्कदाचिदप्यभावाद् [9]द्वित्वादिप्रत्ययवद्दूरत्वादिप्रत्ययवद्वा । द्विविधो हि वस्तुधर्मः परापेक्षः परानपेक्षश्च [10]वर्णादिवत् स्थौल्यादिवच्च । [11]ननु च [12]सादृश्ये सामान्ये स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं शबलं[13] दृष्ट्वा धवलं पश्यतो घटेतेति [14]चेदेकत्वोपचारादिति ब्रूमः[15] ।

भाट्ट—पूर्व में जिसने भिन्न-भिन्न विशेष का अनुभव नहीं किया है उस पुरुष को एक विशेष के देखने के समान प्रत्यय क्यों नहीं होगा ? क्योंकि वहाँ पर सदृश परिणाम देखा जाता है ।

जैन— यदि ऐसा कहो तो आपको भी एक विशेष के देखने में विशेष प्रतीति क्यों नहीं होती है ? क्योंकि भिन्न प्रतीति रूप विशेष में वैसादृश्य परिणाम भी देखे जाते हैं ।

भाट्ट—वह भिन्न प्रतीति पर की अपेक्षा रखती है ।

जैन—उसी प्रकार से वहाँ-एक विशेष के देखने में समान ज्ञान भी मत होवे । अर्थात् यह उसके समान है एवं वह इसके समान है इसमें भी तो पर की अपेक्षा है और वह परापेक्ष नहीं है ऐसा तो आप कह नहीं सकते । पर की अपेक्षा के बिना कहीं पर किसी काल में भी वह सामान्य हो नहीं सकेगा जैसे— द्वित्वादि ज्ञान अथवा दूरत्वादि ज्ञान पर की अपेक्षा के बिना हो नहीं सकते हैं । अर्थात् द्वित्वादि ज्ञान एकत्वादि से निष्ठ हैं अतः पर की अपेक्षा के बिना नहीं होते हैं एवं दूरत्व आदि ज्ञान भी निकट की अपेक्षा के बिना नहीं होते हैं ।

वस्तु का धर्म दो प्रकार का है पर की अपेक्षा रखने वाला और पर की अपेक्षा नहीं रखने वाला । जैसे वर्णादि-श्वेत पीतादि पर की अपेक्षा नहीं रखते हैं एवं स्थूलता, सूक्ष्मतादि एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं ।

भाट्ट—सादृश्य सामान्य में "यह वही गौ है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह ज्ञान शबल-चितकबरी गाय को देख कर श्वेत गाय को देखते हुए मनुष्य को "यह वही गौ है" ऐसा ज्ञान कैसे होगा ?

---

1 भाट्टः । 2 पुंसः । 3 एकव्यक्तिदर्शने । 4 विशिष्टप्रतीतौ विशेषे । 5 भाट्टः । 6 एकव्यक्तिदर्शने । 7 अनेन देवदत्तेन समानोऽयं जिनदत्तो, जिनदत्तेन समानो देवदत्तो वैसदृश्यापि परापेक्षत्वं यतः । 8 व्याप्तौ । (व्या० प्र०) 9 द्वित्वादिप्रत्ययः एकत्वादिनिष्ठां परापेक्षां विना नोपपद्यते । 10 श्वेतपीतादिवत् । 11 भाट्टः । 12 सादृश्यसामान्ये गोत्वे । 13 शबलं गां दृष्ट्वा धवलं गां पश्यतः पुंसः स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं घटते ? 14 शबलेन सदृशो धवल इत्येकत्वोपचारात् । 15 जैनाः ।

{ एकत्वं द्विधा मुख्यमुपचरितं चेति विवेचक स्वीकरणं दूषयन्ति वैशेषिकाः }

द्विविधं ह्येकत्वं मुख्यमुपचरितं चेति। मुख्यमात्मादिद्रव्ये[1]। सादृश्ये तूपचरितमिति। मुख्ये [2]तु तत्रैकत्वे [3]तेन 'समानमेतन्मिति प्रत्ययः कथमुपपद्येत' ? 'तयोरेक[4]सामान्ययोगादिति [5]चेन्न—[6]सामान्यवन्तावेताविति[7]प्रत्ययप्रसङ्गात्[8]। अभेदोपचारे[9] तु सामान्यतद्वतोः [10]सामान्यमिति[11]प्रत्ययः स्यात्। न [12]चैवं तत्समानमेतन्मिति। यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरिति यथा, यष्टिपुरुषयोरभेदोपचारात्[13]। [14]कृष्णत्वे गवि सत्यसत्यवयवसहिते गोसादृश्यस्य सामान्यस्य भावादगोऽप्यजातिप्रसङ्ग इति [15]चेन्न, [16]सत्यसत्यव्यवहारहेतोः[17] सादृश्यस्य [18]तत्राभावात् तद्भावे तस्य सत्यत्वप्रसङ्गात्। [19]आवलबादिभिः[20] स्थापनागवादेः[21] सादृश्यमात्रं तु

जैन—इसमें भी एकत्व का उपचार होने से "यह वही है" ऐसा ज्ञान होजाता है अर्थात् सदृश के समूह सदृश गाय है इस प्रकार से एकत्व का उपचार ही समझ है। एकत्व के दो भेद हैं—मुख्य और उपचरित।

आत्मा आदि द्रव्यों में तो मुख्य एकत्व होता है जैसे कि जो आत्मा नरक पर्याय में था वह वही आत्मा मनुष्य पर्याय में दिख रहा है। जो बालक बचपन में था वही इस जवानी और बुढ़ापे में है इत्यादि में मुख्य एकत्व जानना है। और सादृश्य वस्तु में उपचरित एकत्व होता है जैसे कि गाढ़ने के बाद पुनः उत्पन्न हुये गवय और बैल। किन्तु वहाँ मुख्य गोत्व लक्षण एकत्व में उस गौ के समान यह गौ है ऐसा ज्ञान कैसे हो सकेगा ?

बौद्ध—उस श्वेत और चितकबरे में गोत्व लक्षण एक सामान्य का योग होने से वहाँ वैसा ज्ञान होता है।

जैन—ऐसा नहीं कहना। अन्यथा ये दोनों सामान्यवान् हैं ऐसा ज्ञान हो जावेगा। पुनः यह उसके समान है ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा और अभेदोपचार के स्वीकार करने पर तो सामान्य और सामान्यवान् में "यह सामान्य है" ऐसा ज्ञान हो जावेगा। किन्तु यह उसके समान-सदृश है ऐसा नहीं हो सकेगा। जैसे यष्टि से सहचरित पुरुष को यष्टि कह देते हैं क्योंकि वहाँ यष्टि और पुरुष में अभेद का उपचार किया गया है। किन्तु यह पुरुष यष्टि के समान है ऐसा ज्ञान तो नहीं होता है।

---

1 यो नारकपर्यायः स एवायं मनुष्यपर्याय आत्मा। (ब्या० प्र०) 2 मुख्ये गोत्वलक्षणे इत्यर्थः। तत्र = सत्यसत्यवतोः। 3 यथा। 4 सदृशपरिणामेन भवेत्। (ब्या० प्र०) 5 स एवायं प्रत्ययो यतात् यतः। (ब्या० प्र०) 6 परः (सत्यसत्यवतोः)। 7 एकं गोत्वमितिवर्णः। 8 जैन आह। 9 यथा ही पुरुषो एकदण्डयोगादेकदण्डवानिति। (ब्या० प्र०) 10 न तु तेन समानोयमिति प्रत्ययः स्यात्। 11 (जैनः प्राह) बलाद्दीक्षितवाक्ये। 12 सत्यसत्यवतोः। (ब्या० प्र०) 13 न प्रत्ययः इति पा०। (ब्या० प्र०) 14 न यद्वत् समानः पुरुष इति प्रत्ययो भवति। 15 परः। 16 जैनः। 17 चैतन्यरोहणादेः। 18 सत्यसत्यव्यवहारहेतोः इति वा क्वचित् पाठः। (ब्या० प्र०) 19 मूलके। 20 भावः सत्यः। 21 सत्सादृश्यविशिष्टं वस्तु गवयोऽभिधीयते। यद्वा। (ब्या० प्र०) 22 शाबले वा चितकबरे काल्पादौ पतिभेदेतरम्। गोऽसित्यभेदतोऽन स्थापना वा विधीयते॥

[1]गवादिमात्रव्यवहारकारणं तदेकजातित्व[2]निबन्धनमनुरुध्यते[3] एव सत्त्वादिसादृश्यवत्।

भाट्ट—वास्तविक गवय के सदृश मिट्टी की गाय में गोत्व सादृश्य—सामान्य मौजूद है वहाँ भी गोत्व जाति का प्रसंग आ जावेगा।

जैन—ऐसा नहीं कहना। क्योंकि वास्तविक गवय व्यवहार का हेतु सादृश्य सामान्य वहाँ—मिट्टी की गाय में नहीं है यदि वह वहाँ है तो उसे सत्य मानना पड़ेगा। स्थापना रूप गो आदि में भाव—वास्तविक गो आदि के द्वारा जो सादृश्य भाव सामान्य है वह लांगूल पुंछ, ककुद विषाणादि रूप, गवादिमात्र से व्यवहार का कारण है इसलिए उसमें एक जातित्व कारण जैनियों ने माना ही है जैसे सत्त्वादि सामान्य।

आचार्य—भाट्ट "करोति सामान्य" को सर्वगत मानता है, किन्तु आचार्य उसकी मान्यता का निराकरण करते हुए कहते हैं कि जो विशेष—व्यक्ति रूप संख्यातों क्रियायें हैं जैसे—भुंक्ते, भुनक्ति, गच्छति, यजते, पचति आदि। खाता है, भोगता है, जाता है, यज्ञ करता है, पकाता है इत्यादि क्रियाओं में करोति, सामान्य व्याप्त है। आप भाट्ट की मान्यता के अनुसार "करता है" यह करोति-सामान्य तो नित्य है और यज्ञ करता है इत्यादि विशेष क्रियायें अनित्य हैं अब अनित्य क्रियायें नष्ट होती हैं या उत्पन्न होती हैं तब यह "करता है" यह सामान्य उनके साथ विनष्ट या उत्पन्न होता है या नहीं? एवं गच्छति, पचति आदि क्रियाओं के अंतराल में भी करोतिसामान्य विद्यता नहीं है जैसे कि आप उसे सर्वगत मानकर अंतराल में भी उसका अस्तित्व मान रहे हैं। इस पर भाट्ट ने कहा कि वह अन्तरालों में अप्रगट है। तब जैनाचार्य ने कहा कि वैसे ही भिन्न-भिन्न क्रियाओं का भी अंतरालों में अप्रगट रूप से अस्तित्व मानकर उन विशेषों को भी सर्वगत मान लो क्या बाधा है? तब भाट्ट ने कहा कि विशेषों को सर्वगत मानकर उन्हें अंतरालों में सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। इस पर जैनाचार्यों ने पूछा कि करोतिसामान्य को अंतरालों में सिद्ध करने वाला प्रमाण भी कहाँ है? इस प्रश्न पर तुरन्त ही उस भाट्ट ने अनुमान प्रमाण को उपस्थित कर दिया। यह 'करोतिसामान्य' गमन करता है, भोजन करता है, यज्ञ करता है, इत्यादि विशेषों में भी व्याप्त है और इनके अंतरालों में भी व्याप्त है, क्योंकि एक साथ यह करोति सामान्य भिन्न-भिन्न देश में और अपने आधार में 'करता है' इस प्रकार से एक रूप ही है, जैसे कि स्थूण आदि में बांसादि। इस अनुमान से "करोतिसामान्य" सर्वत्र व्याप्त है। इस पर जैनाचार्य बोले कि आपका हेतु हम जैनों को असिद्ध है। क्योंकि भिन्न-भिन्न क्रियाओं के प्रति होता हुआ सदृश परिणाम रूप सामान्य पृथक्-पृथक् है जैसे कि विसदृश परिणाम लक्षण विशेष सभी के भिन्न-भिन्न ही हैं। देखिये! जैसे "यजते" क्रिया से भिन्न गच्छति क्रिया का विशेष है वैसे ही दोनों क्रियाओं का करोति सामान्य यद्यपि सदृश परिणाम वाला है फिर भी भिन्न-

1 लाङ्गूलककुदविषाणादिरूपेण। 2 तेन भावगवादिनैका जातिर्यस्य स्थापनागवादेस्तस्य भावस्तदेकजातित्वम् तस्य निबन्धनम्। 3 (जैनैरनुरुध्यते) भावगव्यपि मृन्मयेन सह सत्त्वसादृश्यं दर्शयति। (आ० प्र०)

ततो न मीमांसकाभ्युप[1]गतस्वभावं करोतिसामान्यमुपपद्यते [2]यत्सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिकर्तृव्यापाररूपभावनाख्यां प्रतिपद्यमानं वाक्येन[3] विषयीक्रियेत[4]। प्रतिनियतक्रियागतस्य[5] तु करोतिसामान्यस्य शब्दविषयत्वे[6] यज्यादिसामान्यस्य[7] कथं [8]तद्विनिवार्येत; येन [9]तदपि वाक्यार्थो न स्यात्। तदेवं भावना वाक्यार्थसम्प्रदायो न श्रेयान्, बाधकसद्भावाच्च[10] योगादिवाक्यार्थसम्प्रदायवत्।

मिल्न हो है। इस पर भाट्ट ने कहा कि विसदृश परिणाम तो पर की अपेक्षा रखता है किन्तु सदृश परिणाम रूप सामान्य पर की अपेक्षा नहीं रखता है। आचार्य कहते हैं कि सदृश परिणाम भी पर की अपेक्षा के बिना असम्भव है। सदृश शब्द के कहते ही 'यह इसके सदृश है' इस प्रकार से बिना अपेक्षा के सदृश परिणाम भी कहाँ रहा ?

आगे चलकर जैनाचार्य ने एकत्व के दो भेद कर दिये हैं एक मुख्य दूसरा उपचरित। यह वही आत्मा है जो नरक पर्याय, देव पर्याय आदि में थी, यह एकत्व मुख्य है। एवं जैसे चितकबरी गाय में गोत्व सामान्य है वैसे ही श्वेत गाय में भी है यह उपचरित एकत्व है। इस प्रकार से करोतिसामान्य को सर्वगत मानने में अनेक दोष आ जाते हैं।

इसलिए मीमांसक के द्वारा स्वीकृत यह 'करोतिसामान्य' नित्य, निरंश, एक और सर्वगत स्वभाव रूप हो नहीं सकता है, जो कि संपूर्ण यज्यादि क्रिया विशेषों में व्यापी कर्ता के व्यापार रूप 'भावना' इस नाम को प्राप्त करते हुए वेदवाक्य के द्वारा विषय किया जा सके। अर्थात् ऐसी भावना वेदवाक्य का विषय नहीं हो सकता प्रतिनियत क्रिया में रहने वाले करोतिसामान्य को शब्द का विषय मानने पर तो यज्यादि सामान्य को भी आप शब्द का विषय क्यों नहीं मानते हैं—उसका निवारण क्यों करते हैं, जिससे कि वह यजन सामान्य भी वेदवाक्य का अर्थ न हो सके। अर्थात् है ही है। इसलिए 'भावना' वेदवाक्य का अर्थ है ऐसा भावनावादी भाट्ट का संप्रदाय श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि नियोग, विधि आदि रूप से वेदवाक्य का अर्थ करने पर जैसे बाधायें आती हैं वैसे ही इस भावनावाद में भी अनेक बाधायें आ जाती हैं।

विशेषार्थ—जगत के संपूर्ण पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते हैं। और ऐसे ही पदार्थों को प्रमाण जानता है। प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है इस बात को सिद्ध करने के लिए समर्थ हेतु उपस्थित है।

"अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।।२।।

"यह वही है" ऐसे ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं "यह वह नहीं है" ऐसे ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं।

---

1 नित्यनिरंशैकसर्वगतस्वभावम्। 2 पतिति काकुः। 3 वेदवाक्येन। 4 वाक्यार्थः कथं स्यात्। (व्या० प्र०) 5 करोतिक्रियाविशेषगतस्य स्वव्यक्तिसर्वगतस्येत्यर्थः। 6 वाक्यार्थत्वे। (व्या० प्र०) 7 देवयजनगुरुयजनविवजनसामान्यस्य। 8 शब्दविषयत्वम् (वाक्यार्थत्वमित्यर्थः)। 9 यजनसामान्यम्। 10 विधि। (व्या० प्र०)

प्रत्येक वस्तु अनुवृत्त ज्ञान और व्यावृत्त ज्ञान के विषयभूत है। एवं पदार्थ के पूर्व आकार का विनाश उत्तर आकार का प्रादुर्भाव इन दोनों अवस्थाओं में अभिन्न रूप से स्थिति का रहना, इन तीनों सहित अवस्था विशेष को परिणाम कहते हैं। इस परिणमन स्वभाव से ही वस्तु में अर्थ क्रिया होती है अतः प्रत्येक वस्तु में सत् आदि रूप से समानता के होने से अनुवृत्त ज्ञान एवं विसदृशता के होने से व्यावृत्त ज्ञान पाया जाता है। अनुवृत्त ज्ञान को सामान्य एवं व्यावृत्त ज्ञान को विशेष कहते हैं। उस सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक् सामान्य, ऊर्ध्वता सामान्य। "सदृक् परिणामस्तिर्यक्खंडमुण्डादिषु गोत्ववत्।" समान परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं जैसे डाबी, चित्तकबरी, धौंरी, मुण्डी आदि सभी गायों में गोत्व सामान्य विद्यमान है। "परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।" पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं जैसे—स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में मिट्टी व्याप्त रहती है, यहाँ मिट्टी रूप द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है। सत्ता महा सत्ता और अवांतर सत्ता के भेद से भी सत् सामान्य के २ भेद हैं।

"सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥ पंचास्तिकाय गाथा ॥८॥

अर्थ—सत्ता एक है, वह सब पदार्थों में वर्तमान है, विश्व रूप है, अनन्त पर्याय वाली है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है और अपने प्रतिपक्षी से सहित है।

इस प्रकार से समस्त पदार्थों में रहने वाली सत्ता को महा सत्ता कहते हैं और प्रत्येक वस्तु की पृथक्-पृथक् सत्ता अवांतर सत्ता कहलाती है। मतलब यह है कि जब हम सत्तासामान्य को व्यापक दृष्टिकोण से देखते हैं तब सभी पदार्थ सत् रूप ही प्रतीत होते हैं वही महा सत्ता है। जब प्रतिनियत वस्तु के अस्तित्व को देखती है तब यह सत्ता अवांतर सत्ता कहलाती है,

विशेष के भी दो भेद हैं—"पर्यायव्यतिरेकभेदात्॥"

पर्याय और व्यतिरेक।

पर्याय विशेष का लक्षण—

"एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत्" ॥८॥

अर्थ—एक ही द्रव्य में क्रम से होने से परिणामों को पर्याय कहते हैं। जैसे कि आत्मा में हर्ष और विषाद आदि परिणाम। व्यतिरेक का लक्षण—

"अर्थांतरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्" ॥९॥

अर्थ—एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं जैसे कि गो से महिष में एक विलक्षण—भिन्न ही परिणमन देखा जाता है।

यहाँ तक जैनों की मान्यता रखी गयी है अब इन सामान्य और विशेष में जो अन्य मतावलंबी बौद्ध, नैयायिक और मीमांसक (भाट्ट) विसंवाद करते हैं उन पर विचार किया जा रहा है।

बौद्ध वस्तु में सामान्य धर्म को नहीं मानते हैं उनका कहना है कि सामान्य और विशेष दोनों

एक ही इन्द्रिय से जाने जाते हैं अतः इनमें अभेद है। सामान्य काल्पनिक—संवृत्ति सत्य है, अनुमानगम्य विषय है, आरोपित धर्म मात्र है और विशेष वास्तविक है, निर्विकल्प बुद्धि में झलकता है, वह क्षणवर्ती पर्यायमात्र है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यदि एक इन्द्रिय से गम्य होने से सामान्य और विशेष में अभेद मानोगे तब तो वायु और आतप भी एक स्पर्शन इन्द्रिय से गम्य हैं इन्हें भी एक ही मानो। देखो! दूर से वस्तु का सामान्य धर्म ही झलकता है। किसी पुरुष या स्थाणु विशेष को दूर से देखने पर उसकी ऊँचाई मात्र से सामान्य ही झलकता है। विशेष रूप कान कोटर आदि या सिर, हाथ, पैर आदि नहीं झलकते हैं। वैसे ही निकट में भी "यह भी गो है, यह भी गो है"। इस प्रकार से ५० गायों में भी एक गोत्व सामान्य विद्यमान रहता है। सभी गायों में या सभी पुस्तकों में गोत्व या पुस्तकत्व सामान्य रूप से जो अन्वय ज्ञान है वह सामान्य के बिना नहीं हो सकता है। उसी प्रकार से यह राजवार्तिक है, श्लोकवार्तिक का अष्टसहस्री नहीं है, यह व्यावृत्त ज्ञान भी विशेष धर्म को माने बिना असंभव है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में विशेष मात्र झलकता है यह बात प्रतीति विरुद्ध है। क्योंकि न निर्विकल्प ज्ञान ही सिद्ध है और न एक क्षणवर्ती पर्याय रूप आप बौद्धों का माना हुआ विशेष ही सिद्ध है। किन्तु सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही ज्ञान का विषय है।

वैशेषिकों के द्वारा मान्य सामान्य नित्य एवं सर्वगत है तथा निरंश है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि पहली बात तो यह है कि सर्वथा नित्य सामान्य में अर्थक्रिया असंभव है। दूसरी बात यह है कि यदि सामान्य सर्वगत है तो व्यक्ति-व्यक्ति—विशेष-विशेष में पृथक्-पृथक् कैसे रहेगा? वह सामान्य तो उन अंतरालों में भी दीखना चाहिए। तथा यदि वह सामान्य एक है तो एक गो के मर जाने पर उसका गोत्व सामान्य कहाँ जावेगा, क्या नष्ट हो जावेगा? अनेक शक्तियाँ मा जावेंगी। यदि सामान्य सर्वगत है तो अकेला ही सर्वत्र अन्वय रूप अपना ज्ञान करावेगा अथवा व्यक्ति रूप सहित होकर करावेगा? यदि अकेला ही करावेगा तो व्यक्तियों के अंतराल में भी "गो है, गो है" ऐसा अनुगत ज्ञान होना चाहिए। यदि व्यक्ति सहित सामान्य, अन्वय ज्ञान करावेगा तब तो सभी व्यक्तियों को जान लेने पर उनका ज्ञान करावेगा या बिना जाने ही? यदि जान कर कहो तो असंभव है क्योंकि असर्वज्ञ जनों को संपूर्ण अनंत विशेषों का ज्ञान होना शक्य ही नहीं है। यदि बिना जाने कहो तो एक व्यक्ति को जानते ही उसमें "यह गाय है, यह गाय है" ऐसा अन्वय होना चाहिये किन्तु होता नहीं है। अब गोत्व एक है तब एक गाय में तो हो और बीच में न होकर दूर खड़ी हुई दूसरी गाय में भी हो, इस प्रकार अनेकों गायों में अंतरालों को छोड़कर यह गोत्व सामान्य होवे फिर भी एक ही माना जावे यह बात असंभव है। अतः एक अकेला सामान्य सर्वगत है निष्क्रिय है। पुनः एक को छोड़कर जब दूसरे में जावे तब तो पहली को सामान्य रहित हो जानेगी तथा वह सामान्य निष्क्रिय न होकर क्रियाशील हो जावेगा। इसलिए वैशेषिक का सामान्य एक, सर्वगत, नित्य और निष्क्रिय रूप सिद्ध नहीं होता है।

मीमांसक भाट्ट सामान्य-विशेष में सर्वथा तादात्म्य मानते हैं किन्तु यह मान्यता भी असंभव

है यदि दोनों का सर्वथा तादात्म्य होगा तब तो एक विशेष रूप व्यक्ति के नष्ट होने पर सामान्य भी नष्ट हो जावेगा पुनः वह सामान्य असाधारण नहीं रहेगा। आप भाट्ट भी नैयायिक के समान ही सामान्य को एक, निरंश, नित्य और सर्वगत स्वीकार करते हो तब तो सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि आपका निरंश सामान्य कहीं जा नहीं सकता। पहले के पकड़े हुए विशेष अंश को छोड़ता नहीं, कहीं से आता नहीं, पहले से रहता नहीं, ऐसा विचित्र सामान्य क्या वस्तु है? समझ में नहीं आता है। यहाँ मध्य में ही उद्योतकर नामक आचार्य कहते हैं कि गायों में गोत्व ज्ञान गोपिंड से न होकर किसी भिन्न ही नित्य, सर्वगत सामान्य से होता है। यह गोत्वादि सामान्य गायों से भिन्न ही है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि यह मान्यता बिल्कुल गलत है देखो! अनेक गायों में गोत्व सामान्य ज्ञान सदृश परिणाम निमित्तक ही है। वह गायों से भिन्न नहीं है क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों ही धर्म वस्तु में ही पाये जाते हैं। वृक्षों में वृक्षत्व सामान्य है वह अनंत वृक्षों में व्याप्त है एवं आम, नीम, अशोक आदि विशेष धर्म हैं वे विशेष धर्म एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को पृथक् करा देते हैं अन्यथा अशोक की छाल लेकर औषधि बनाने वाला व्यक्ति आम की छाल को ले आवेगा, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः सामान्य विशेष एक तादात्म्य रूप भी नहीं हैं। इसका और विशेष स्पष्टीकरण "प्रमेयकमल मार्तंड" से समझ लेना चाहिये। निष्कर्ष यह निकला कि भाट्टों के द्वारा मान्य "करोतिसामान्य" अनित्य, अनेक, असर्वगत और सांश—अवयवों से सहित है। जैसे कि यजन, पचन आदि विशेष उसी भाट्ट के द्वारा मान्य अनित्य, अनेक, असर्वगत, अंश सहित हैं उसी प्रकार से करोति सामान्य भी एक आदि रूप सिद्ध न होने से वेदवाक्य का अर्थ नहीं है। जिसको आप भावनावाद के नाम से स्वीकार करते हैं वह आपका सिद्धांत सिद्ध नहीं होता है।

भावनावाद के खण्डन का सारांश

भावनावादी भाट्ट कहते हैं कि सर्वत्र भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है भावना के २ भेद हैं-शब्द भावना और अर्थ भावना। शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहते हैं "अग्निष्टोमेन" इत्यादि के द्वारा पुरुष का व्यापार होता है। उस पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है और उससे फल होता है अर्थात् पुरुष के व्यापार में शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का व्यापार है वही भावना है, धातु का शुद्ध अर्थ भावना नहीं है अन्यथा विधि ही अर्थ हो जावेगा।

क्योंकि "धात्वर्थः केवलः शुद्धो भावः इत्यभिधीयते" सत्ता को धातु अर्थ कहने पर वह सत्ता ही परब्रह्म स्वरूप है नियोगवादी ने इस विधिवाद का खण्डन कर ही दिया है अतः वह सन्मात्र अर्थ प्रतीति में नहीं आता है। किन्तु सकलव्यापिनी "करोति" क्रिया सकर्मक वाली क्रिया सभी धातुओं में संभव है वही सर्वव्यापिनी क्रिया भावना है "पचति, पपाच, पक्ष्यति" इन क्रियाओं में भी 'पाकं करोति' इत्यादि अर्थ ही व्याप्त है अतः "करोति" क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है। वह "करोति" क्रिया का अर्थ सामान्य रूप है और यजनादि उसके विशेष रूप हैं यह सामान्य क्रिया कर्ता

के व्यापार रूप है इसे ही अर्थ भावना कहते हैं, शब्द का व्यापार भावना है वह पुरुष के व्यापार को कराती है अतः वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि—यदि शब्द का व्यापार ही शब्द भावना है तो शब्द से उसका व्यापार भिन्न है या अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो वाच्य कैसे होगा ? एक अनंश में वाच्य-वाचक भाव संभव नहीं है यदि कहो कि शब्द अपने स्वरूप को भी श्रोत्रेन्द्रिय से बता देता है जैसे कि वह अपने व्यापार से बाह्य पदार्थ को बताता है तब तो रूपादि भी अपने विषय को बताने वाले होने से भावना बन जावेंगे।

यदि शब्द से उसका व्यापार भिन्न मानों तो शब्द के साथ उसका सम्बन्ध कैसे होगा ? एवं पुरुष व्यापार लक्षण अर्थ भावना भी मानना ठीक नहीं है अन्यथा "नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन" इस प्रकार से नियोग वेदवाक्य का अर्थ सिद्ध हो जावेगा वह भी पुरुष के व्यापार रूप है। यदि आप कहो "सकल यज्यादि क्रिया विशेष" में व्यापी "करोति" सामान्य नित्य है वही शब्द का अर्थ है। क्योंकि "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः" ऐसा वाक्य पाया जाता है किन्तु यज्यादि क्रिया विशेष वेद के अर्थ नहीं हैं क्योंकि वे अनित्य हैं। यदि ऐसा कहो तब तो प्रकृत क्रिया रूप सत्ता सामान्य भी वेदवाक्य का अर्थ हो जावे क्योंकि वह तो करोति क्रिया में भी व्यापक है वह महा क्रिया सामान्य है क्योंकि "पचति, पाचको भवति" इत्यादि से भवति क्रिया ही सर्वव्यापक है।

भाट्ट—निर्व्यापार, निष्क्रिय वस्तु में भी 'भवति' क्रिया का अर्थ देखा जाता है इसलिए वह क्रिया स्वभाव नहीं है, अन्यथा निष्क्रिय शुद्धादिकों में सत्त्व का अभाव हो जावेगा।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि परिस्पंदात्मक व्यापार से रहित में भी करोति क्रिया का अर्थ विद्यमान है 'तिष्ठति, स्थानं करोति' ऐसी प्रतीति आती है अतः करोति क्रिया सामान्य, नित्य, निरंश, एक और सर्वगत है यह बात असंभव है, आप कहें कि 'करोतिसामान्य' नित्य है क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान देखा जाता है। किन्तु यह प्रत्यभिज्ञान हेतु तो कथंचित् नित्य को ही सिद्ध करता है सर्वथा नित्य को नहीं, एवं करोतिसामान्य एक न होकर अनेक है क्योंकि वह 'करोति' अर्थ व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति व्याप्त होने से अनेक है। अनंश भी नहीं है क्योंकि अंश सहित रूप प्रतीति है तथा सर्वगत भी नहीं है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के अंतरालों में दिखता नहीं है। अतः आप भाट्ट के द्वारा स्वीकृत नित्य, निरंश, एक सर्वगत स्वभाव रूप 'करोतिसामान्य' हो नहीं सकता जो कि सम्पूर्ण यज्यादि क्रियाओं में व्यापी कर्ता के व्यापार रूप 'भावना' इस नाम को प्राप्त कर सके और वेदवाक्य का अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है। अतः भावनावादी को मान्यता भी श्रेयस्कर नहीं है।

卐——卐

विशेष सूचना

पृष्ठ २५ से १७१ तक नियोगवाद, विधिवाद एवं भावनावाद का विषय अतीव क्लिष्ट एवं गौरव होते हुए भी भावार्थ-विशेषार्थ के द्वारा सरल बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया।

अब आगे पृष्ठ १७३ से अपौरुषेय वेद खंडन, चार्वाक मत खंडन आदि का सरल एवं मधुर प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है।

[अथवर्तं जैनाचार्यैर्मीमांसकादयो निराकृतोऽनुना वेदस्यापौरुषेयत्वं निराक्रियते]

इति [1]श्रुति[2]सम्प्रदायावलम्बिनां मतेऽस्त एव[3] न कश्चित्सर्वज्ञ इत्ययुक्तं, श्रुतेरविशेषाद्[4]प्रमा[5]णतापत्तेः। इति सूक्तं "[6]यथैव हि सुगतादयः परस्परविरुद्धक्षणिकनित्याद्येकान्तसमयाभिधायिनः सर्वे न सर्वदर्शिन इति न कश्चित्सर्वज्ञस्तथा श्रुतयोपि [7]परस्परविरुद्धकार्यार्थि[8]स्वरूपा[9]दयार्थाभिधायिन्यः सर्वा न प्रमाणभूताः"। [10]इति न काचिदपि श्रुतिः प्रमाणं स्यात्। न हि कार्येऽर्थे श्रुतिरपौरुषेयी[11], न पुनः [12]स्वरूपे, येनापौरुषेयत्वात्तदन्यतर-[13]श्रुतिजनितमेव ज्ञानं प्रमाणं दोषवर्जितैः [14]कारणैर्जनितत्वादुपपद्येत। [15]बाध[16]वर्जितत्वं[17] तु [18]नैकत्राप्यस्ति हिंसाद्यभिधायिनः "श्वेतमजमालभेत[19] भूतिकामः[20]" [21]इत्यादेः[22] "सधनं

[जैनाचार्य वेद को अपौरुषेय एवं प्रमाण मानने का खण्डन करते हैं]

मीमांसक—इस प्रकार से श्रुति—वेद संप्रदाय का अवलंबन लेने वालों के मत—सिद्धांतों में इसीलिए सर्वज्ञ नहीं है अर्थात् तीर्थंकरत्व लक्षण हेतु सुगत आदिकों में चला जाने से अनैकांतिक है इस कारण ही कोई सर्वज्ञ नहीं है।

जैन—यह आप मीमांसक का कथन सर्वथा ही अयुक्त है क्योंकि वेद भी परस्पर विरुद्ध अर्थ को कहने वाले होने से अप्रमाण ही हैं।* इसलिए बिल्कुल ठीक ही कहा है कि—

"जिस प्रकार से सुगत आदि परस्पर विरुद्ध क्षणिक, नित्यादि एकांत समय—मत को कहने वाले हैं अतः वे सभी सर्वदर्शी —सर्वज्ञ नहीं है इसलिए कोई सर्वज्ञ नहीं है। उसी प्रकार से वेद भी परस्पर विरुद्ध कार्य स्वरूप—नियोग, विधि आदि अर्थ को कहने वाले होने से वे भी सभी प्रमाणभूत नहीं है।"

इसलिए कोई भी वेद प्रमाणीक नहीं हैं। उसी का और भी स्पष्टीकरण करते हैं।

'कार्य अर्थ में श्रुति अपौरुषेय है, किन्तु ब्रह्म स्वरूप में नहीं है' ऐसा भी आप नहीं कह सकते कि जिससे "अपौरुषेय होने से" इस हेतु से किसी एक वेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही दोषों से रहित कारणों से अपौरुषेय वेदवाक्यों से उत्पन्न होने से प्रमाण हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता है। हिंसादि का कथन करने वाले वेदवाक्यों में से किसी एक वेदवाक्य में भी "बाधा से रहितपना रूप हेतु" नहीं है। "श्वेतमजमालभेत भूतिकामः" विभूति की इच्छा करता हुआ मनुष्य श्वेत बकरे को मारे "इत्यादि

1 इतः कारिकार्धमाहुराचार्याः। 2 वेद। (ब्या० प्र०) 3 तीर्थकरत्वलक्षणस्य साधनस्य सुगतादिभिरनैकांतिकत्वं यतः। (ब्या० प्र०) 4 मीमांसकेनोक्तम्। 5 परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वेन। 6 सूक्तं भावयति। 7 परस्परविरुद्धकार्यस्वरूपाद्यर्था-इति पा०। (ब्या० प्र०) 8 स्वरूपो नियोगः। 9 आदिना विध्यादिग्रहः। 10 हेतोः। 11 अपौरुषेयवाक्यैः। 12 ब्रह्मस्वरूपे। 13 प्रतिपादक। (ब्या० प्र०) 14 अपौरुषेयवाक्यैः। (ब्या० प्र०) 15 तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतं। (ब्या० प्र०) 16 तदेव दर्शयति। 17 श्रुतेः। 18 वर्तते (कार्येऽस्वरूपे वा)। 19 इत्यादि। (ब्या० प्र०) 20 ऐश्वर्यं। (ब्या० प्र०) 21 वाक्यस्य। 22 अपौरुषेयवाक्यस्य। (ब्या० प्र०)

हन्यात्[1]" इत्यादेरिव[2] धर्मे [3]प्रमाणत्वानुपपत्तेः, [4]पुरुषाद्वैताभिधायिसत्त्व "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

वेदवाक्य" "सधनं हन्यात्" धन सहित को मारे। इत्यादि वचन के समान ही होने से धर्म में प्रमाण नहीं हैं। अर्थात् "सधनं हन्यात्" यह खारपटिक जनों का सिद्धांत है वह प्रमाण नहीं है इसका विशेष विवरण श्लोकवार्तिकालंकार में है।

विशेषार्थ—अन्य लोगों के प्रमाण का लक्षण है कि—"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतं॥"

इस प्रमाण के लक्षण में "बाधा से रहित होना" "अदुष्टकारणों से उत्पन्न होना" आदि जो हेतु दिये गये हैं वे घटित नहीं होते हैं। ऐसा श्लोक वार्तिक ग्रंथ प्रथम खण्ड पेज ११४ में कहा है। यथा "खरपट मत" के शास्त्रों में लिखा है कि स्वर्ग का प्रलोभन देकर जीवित ही धनवान् को मार डालना चाहिए। एतदर्थ काशीकरवट, गंगा प्रवाह, सतीदाह आदि कुत्सित क्रियायें उनके मत में प्रकृष्ट मानी गई हैं। किन्तु हम और आप मीमांसक लोग उक्त खरपट के शास्त्रों को रागी, द्वेषी अज्ञानी वक्ता रूप दुष्टकारणों से जन्य मानते हैं अतः वे अप्रमाण हैं। "नाग्निहोत्रं स्वर्गं साधनं हिंसा हेतुत्वात् साधनवधवत्। सधनवधो वा न स्वर्गासाधनस्तत एव अग्निहोत्रवत्।" आप मीमांसक के यहाँ अग्नि होत्र-यज्ञ स्वर्ग का साधन नहीं है क्योंकि हिंसा का हेतु है जैसे कि खारपटिक मत में धनवान् का वध कर देना स्वर्ग का हेतु माना गया है। अथवा धनसहित का वध स्वर्ग को देने वाला नहीं है क्योंकि वह हिंसा का हेतु है जैसे कि अग्नि होत्र-यज्ञ। जैनाचार्य के इस कथन पर मीमांसक कहता है कि "विधिपूर्वकस्य पश्वादिवधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात् असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य खारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वं मा भूदिति सधनवधात् स्वर्गो भवतीति वचनं प्रमाणमस्तु"। अर्थात् क्रियाकाण्ड विधान करने वाले शास्त्रों में लिखी गई वैदिक विधि के अनुसार किया गया पशुओं का वध तो शास्त्रोक्त क्रियाओं का ही अनुष्ठान है वह लौकिक हिंसा का कारण होकर पाप को पैदा करने वाला नहीं है अतः आप जैनों का "हिंसाहेतुत्वात्" हेतु असिद्ध है हमारे अग्निहोत्र रूप पक्ष में नहीं जाता है। यदि मीमांसक का ऐसा कहना है तो इस पर पुनः जैन कहते हैं कि खरपट मतानुसारियों ने धनवान् को विधिवत् मार डालने का विधान भी शास्त्रोक्त क्रिया का अनुष्ठान माना है अतः विधिवत् धनी का मार डालना भी हिंसा का हेतु न होवे और पुनः सधनवध के प्रतिपादक शास्त्र भी आप मीमांसकों को प्रमाणीक मानना चाहिए।

अनेक पुरुषों का ऐसा भी कहना है कि संसार में प्रायः धनवान पुरुष ही अधिक अनर्थ करते हैं हिंसा झूठ आदि पाप, जुआ, मांस आदि दुर्व्यसन करते हैं, विधवा अनाथ, दीन गरीब आदि को दुःखी करते हैं, धन के मद में अंधे होकर अनेकों कुकृत्य कर डालते हैं अतः उनके मार देने से लोक

---

1 लौकिकवाक्यस्य। (ब्या० प्र०) 2 खारपटिकमित्यस्यायं प्रसंगः श्लोकवार्तिकालंकारे दृष्टव्यः। (ब्या० प्र०) 3 कार्यमें दूषण। (ब्या० प्र०) 4 [जैनो नैकशापि बाधवर्जितत्वं प्रदर्शयितुं हेत्वन्तरमाह]।

इत्यादेः[1] "सर्वं [2]प्रधानमेव" इत्यादेरिव स्वविषये प्रमाणत्वायोगात्। [3]अपूर्वार्थत्वं[4] पुनः

के अनेक पापाचार दूर हो जावेंगे एवं सज्जनों के बचे रहने से वात्सल्य प्रेम आदि बढ़ेंगे अतः धनिकों का वध भी कर्त्तव्य रूप है जैसे कि होम में पशुओं को हवन करना कर्त्तव्य रूप है इन दोनों में कोई अंतर नहीं है। इस पर पुनः मीमांसक कहता है कि वेद में लिखी हुई हिंसा को करने से या युद्ध में मरने से अवश्य ही स्वर्ग मिलता है, किन्तु शरपट के यहाँ कही गई हिंसा से स्वर्ग नहीं मिलता है। आचार्य कहते हैं इस प्रकार से आपके कहने में कोई प्रमाण नहीं है, दोनों ही समान रूप से हिंसा के कारण हैं अतः या तो दोनों ही प्रमाण होंगे, अथवा दोनों के ही कथन अप्रमाण हो जावेंगे। इस पर पुनः मीमांसक कहता है कि कल्याण की इच्छा करने वालों के द्वारा यज्ञ किये जाते हैं अतः वे यज्ञ श्रेयस्कर हैं किंतु सघनवध उससे विपरीत होने से श्रेयस्कर नहीं है। एवं 'यज्ञ' धर्म शब्द से कहा जाता है जो यज्ञ करता है वह "धार्मिक" कहलाता है। आचार्य कहते हैं आपका यज्ञ भी सुगत जैन आदिकों के द्वारा अधर्म शब्द से भी कहा जाता है। एवं सघनवध भी शारपटिक और हिंसक जनों के द्वारा धर्म कहा जाता है। एवं लोक संहितपना दोनों में भी समान है अतः सघनवध और अग्नि होत्र दोनों ही समान हैं। बाध वर्जित हेतु से रहित हैं, अतः अप्रमाण हैं। ऐसा समझना चाहिए। इसका विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिकालंकार प्रथम पुस्तक में देखिये।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में अमृतचंद सूरि ने भी कहा है कि—

"धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयितां।
झटिति घटस्फटमोक्षं श्रद्धेयं नैव शारपटिकानां ॥८८॥

अर्थ—थोड़े से धन के प्यासे और शिष्यों को विश्वास करने के लिए दिखलाने वाले शीघ्र ही घड़े के फूटने से चिड़ियों के मोक्ष के समान मोक्ष का श्रद्धान नहीं करना चाहिये। करवे के रंग के कपड़े पहनने वाले एक प्रकार के सन्यासी शारपटिक हैं वे लोग घट के फूटने से चिड़ियों के उड़ जाने के समान ही शरीर के छूट जाने को ही मोक्ष कहते हैं। अतएव इन लोगों ने सघनवध आदि कारणों से शरीर के नष्ट हो जाने से सुख की प्राप्ति मान ली है ऐसा मालूम पड़ता है।

और पुरुषाद्वैत को कहने वाले "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य "सर्वं प्रधानमेव" इत्यादि के समान ही अपने विषय को बतलाने में प्रमाण नहीं हैं। अर्थात् जैसे सांख्य कहता है कि सभी जगत प्रधान रूप है वैसे ही वेदवाक्य कहते हैं कि सभी जगत परम ब्रह्म रूप ही है जैसे आप सांख्य के कथन को अप्रमाणोक कहते हो तथैव आपके वेद वचन भी अप्रमाणोक ही हो जाते हैं।

---

1 संप्रत्ययस्य। (ब्या० प्र०) 2 साङ्ख्यमते सर्वं प्रधानमेव। 3 अपूर्वार्थत्वाभिधानम्। 4 वर्णादौ परब्रह्मादौ प्रत्यक्षादिकं न प्रवर्तते अतएव श्रुतेरनधिगतार्थाधिगंतृत्वं। अद्वैतप्रतिपादितं। (ब्या० प्र०)

विशेषार्थ—सांख्य ने मूल में दो तत्त्व माने हैं एक प्रकृति दूसरा पुरुष। प्रकृति को ये अचेतन या जड़ मानते हैं और पुरुष को चेतन। प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है। (सृष्टि से लेकर प्रलय काल तक स्थिर रहने वाली बुद्धि को महान् कहते हैं) महान् से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से सोलह गण पैदा होते हैं (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, वचन, हस्त, पाद पायु—मल द्वार और उपस्थ—मूत्रद्वार ये पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये पांच तन्मात्रायें ये सोलह गण कहलाते हैं) इन सोलह गण के अन्तर्गत जो पांच तन्मात्रायें हैं उनसे पंचभूत उत्पन्न होते हैं।

अर्थात् शब्द से आकाश उत्पन्न होता है अतः उसमें एक शब्द गुण पाया जाता है। शब्द सहित स्पर्श से वायु उत्पन्न होती है अतः वायु में शब्द और स्पर्श पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श से सहित रूप से अग्नि उत्पन्न होती है अतः उस अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श और रूप से सहित रस से जल बनता है। अतः जल में ये चारों गुण पाये जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप और रस से सहित गंध से पृथिवी उत्पन्न होती है अतः पृथ्वी में ये पाँचों गुण पाये जाते हैं। प्रकृति से लेकर पंचभूत तक ये २४ तत्त्व अचेतन हैं एवं एक पुरुष तत्त्व चेतन है। प्रकृति इस संपूर्ण सृष्टि को करने वाली है और पुरुष उसका भोक्ता है। इस प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान भी है। सृष्टि के प्रारम्भ काल में प्रधान अपने भीतर से ही सारे संसार को उत्पन्न करता है और प्रलय काल में सारे संसार को अपने भीतर ही प्रलय रूप से समाविष्ट कर लेता है। यह प्रधान स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होता है अतः अजन्मा है। इसका मूल स्वरूप किसी के दृष्टिगोचर नहीं है अतः यह अव्यक्त है और इसके कार्य दृष्टिगोचर होते हैं अतः इसे ही व्यक्त भी कहते हैं। पुरुष को छोड़कर शेष समस्त तत्त्वों को (विश्व को) उत्पन्न करने में यह प्रमुख कारण है अतएव यह प्रधान कहलाता है। पुरुष इससे विपरीत स्वभाव वाला है सत्त्व, रज, तम आदि तीन गुणों से रहित है, अन्य-प्रधान को विषय करने वाला चेतन है, प्रधान तो एक है, किन्तु पुरुष अनेक हैं।

प्रधान अचेतन है, सामान्य है। पुरुष चेतन है, कूटस्थ नित्य है, चेतना गुण का अनुभव करने वाला है, ज्ञान से शून्य है, ज्ञान तो प्रधान का धर्म है। जब तक पुरुष के साथ प्रधान का संसर्ग है तभी तक वह पुरुष ज्ञानी दीखता है।

कार्यों के एक रूप अन्वय देखे जाने से तथा महत् आदि भेदों का परिणाम पाये जाने से उन कार्यों का एक प्रधान कारण से उत्पन्न होना सिद्ध है जैसे घट, घटी, सराव, उदञ्चन आदि में मिट्टी एक अन्वय रूप से मौजूद है उसी प्रकार से महान् अहंकार आदि कार्यों में—सारे सृष्टि रूप जगत में एक प्रधान का ही अन्वय पाया जाता है अतः यह सारा जगत प्रधानात्मक ही है। सांख्य ने उत्पाद और विनाश को भी नहीं माना है क्योंकि यह कूटस्थ नित्यैकान्तवादी है। उसका कहना है कि वस्तु में जो उत्पाद, विनाश दिखता है वह केवल आविर्भाव, तिरोभाव रूप है न कोई वस्तु नष्ट हुई है,

सर्वस्याः श्रुतेरविशिष्टं, [1]प्रमाणान्तराप्रतिपन्ने धर्मादौ परब्रह्मादौ प्रवृत्तेः ।

न उत्पन्न हुई है, मृत्पिंड से घड़ा नहीं बना है किन्तु मिट्टी में घड़ा सदैव विद्यमान था कुम्हार चाक आदि व्यञ्जक कारणों से मिट्टी में घट प्रकट हो गया है, पहले मिट्टी में तिरोभूत था। अतएव यह सांख्य प्रागभाव, ध्वंसाभाव को भी नहीं मानता है जिसका आगे कारिका १०वीं ११वीं में अच्छा निराकरण किया गया है। अतः यहाँ जैनाचार्यों का यही कथन है कि जैसे आप "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" कहते हो वैसे ही सांख्य सारे विश्व को प्रधानात्मक कहते हैं पुनः आप उनके भी सिद्धांत को प्रमाण क्यों नहीं मानते हैं ? आप जिन-जिन हेतुओं से उनके प्रधान तत्त्व को दूषित करेंगे हम जैन भी उन्हीं-उन्हीं हेतुओं से आपके ब्रह्मवाद को भी दूषित कर देंगे। यदि आप आगम प्रमाण से अपनी मान्यता सिद्ध करेंगे तो वे सांख्य भी अपने आगम को प्रमाण मानकर अपनी मान्यता पुष्ट करेंगे। अतः या तो आप और सांख्य इन दोनों के वचन भी प्रमाणिक माने जाने चाहियें या तो दोनों के वचनों को अप्रमाणिक कहना चाहिए क्योंकि और तो कोई उपाय है नहीं।

मीमांसक—पुनः सभी वेद अपूर्वार्थ को ही विषय करते हैं अतः समान हैं प्रमाणांतर से नहीं जाने गये धर्मादि और पर-ब्रह्मादि में उनकी प्रवृत्ति है। अर्थात् धर्म अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को और परम-ब्रह्म को अन्य प्रमाण नहीं बता सकते हैं वे वेदवाक्य ही इनका ज्ञान कराते हैं अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों की धर्मादि में एवं ब्रह्म आदि में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसीलिए वे वेद "अनधिगत"—पूर्व में नहीं जाने गये अर्थ का ज्ञान कराने वाले होने से प्रमाण हैं क्योंकि भाट्ट ने प्रमाण का लक्षण यही माना है।

विशेषार्थ—"अनधिगततत्त्वाधूरार्थनिश्चायकं प्रमाणं" (न्यायदीपिका पृ० १२३) इस प्रकार से भाट्टों ने प्रमाण का लक्षण माना है वे कहते हैं कि यह लक्षण मीमांसक के एक भेद रूप हम भाट्टों के यहाँ अपौरुषेय वेद में पाया जाता है क्योंकि धर्माधर्म और परब्रह्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण नहीं बता सकते हैं किन्तु ये वेद उनको भी बता देते हैं अतः हमारे वेद पूर्व में नहीं जाने गये अपूर्वार्थ को ही विषय करने वाले हैं और ये वेद अपौरुषेय होने से प्रमाण हैं। ऐसा सर्वज्ञ का अभाव करने वाले मीमांसक स्वीकार करते हैं। इस कथन पर जैनाचार्यों ने इस भाट्ट द्वारा मान्य प्रमाण के लक्षण का न्यायदीपिका में सुन्दर खण्डन किया है आचार्य कहते हैं कि आप भाट्ट—मीमांसकों का यह प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है क्योंकि आपके द्वारा ही प्रमाण रूप से मान्य धारावाहिक ज्ञान अपूर्वार्थ वाही नहीं है। "यह घट है, यह घट है, यह घट है" इत्यादि रूप से जाने हुए को जानते बैठना धारावाहिक ज्ञान का लक्षण है। भाट्ट कहता है कि धारावाहिकज्ञान भी आगे-आगे क्षण से सहित अर्थ को ही विषय करते हैं अतः अपूर्वार्थ विषयक

1 प्रत्यक्षादे। (न्या० प्र०)

[कानिचित् वेदवाक्यानि स्वयं स्वस्यार्थं न प्रतिपादयंत्यतः वेदस्य प्रामाण्यं न सिद्धयति]

[1]न च काचिच्छ्रुतिः[2] स्वयं स्वार्थं प्रतिपादयत्यन्य[3]व्यवच्छेदेन कार्ये एवार्थे[4] अहं प्रमाणं न स्वरूपे; स्वरूपे एव वा न कार्येऽर्थे सर्वथेत्यविशेषः सिद्धः[5] । [6]ननु[7] च "पदानि[8]

ही हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि क्षण अत्यन्त सूक्ष्म हैं उनको लक्षित करना—जानना संभव नहीं है अतः धारावाहिकज्ञानों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है।

[कोई भी वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः वेद की प्रमाणता सिद्ध नहीं होती है]

जैन—कोई वेद चाहे विधि अर्थ ग्राही हों चाहे नियोग या भावना अर्थ ग्राही हों वे वेद स्वयं अन्य का व्यवच्छेद करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

"कार्य-नियोग" अर्थ में ही मैं—वेद प्रमाण है स्वरूप में नहीं, अथवा स्वरूप अर्थ में ही मैं प्रमाण हूँ कार्य अर्थ में सर्वथा नहीं। इस प्रकार से वेद वाक्य स्वयं अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतः सभी की मान्यता में वे अविशेष-समान रूप से सिद्ध हैं।

विशेषार्थ—वेद के अपौरुषेयत्व के खण्डन में प्रमेयरत्न माला में भी बहुत ही सरल एवं सुन्दर विवेचन है। "प्रवाहनित्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वं" मीमांसकों ने प्रवाह की नित्यता से वेद को अपौरुषेय माना है। इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि आप मीमांसक सभी शब्दों को अनादि नित्य मानते हो या कुछ वेद विशिष्ट शब्दों को ही अनादि नित्य मानते हो यदि सभी को अनादि नित्य कहो तो जो शब्द लौकिक हैं वे ही वैदिक हैं, पुनः वेद ही अपौरुषेय हैं, लौकिक या कृत्रिम शास्त्रादि के शब्द अपौरुषेय नहीं हैं यह आपने कैसे कहा? आप तो अपनी मान्यतानुसार संसार के सभी सच्चे झूठे जैन, बौद्ध आदि शास्त्रों को अपौरुषेय मानकर सच्चे कहो। यदि आप यह पक्ष न लेकर विशिष्ट आनुपूर्वी से आये हुये विशिष्ट वैदिक शब्दों को ही अनादि नित्य कहो, तब तो हम पुनः प्रश्न करते हैं कि जिन शब्दों का अर्थ जान लिया है उनको अनादिता है या जिनका अर्थ नहीं जाना है उनको? इसमें यदि दूसरा पक्ष लेवो तब तो आपको अज्ञान रूप अप्रमाणता ही रही। यदि प्रथम पक्ष लेवो, तब हम पुनः प्रश्न करते हैं कि उन वेदों के व्याकरण करने वाले अल्पज्ञ हैं या सर्वज्ञ? सर्वज्ञ रूप दूसरा पक्ष तो आपको अनिष्ट ही है एवं अल्पज्ञ को वेद का व्याख्याता मानने से तो अन्यथा विपरीत अर्थ की भी संभावना हो सकती है।

अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदंति न। कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिदूषिताः॥

अर्थ—"मेरा यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है" इस प्रकार से शब्द तो स्वयं बोलते नहीं हैं। शब्दों का यह अर्थ तो पुरुषों के द्वारा ही कल्पित किया जाता है। और पुरुष रागादि दोषों से दूषित

1 परामिशायं निराकरोति जैनः। 2 विधिग्राहिणी नियोगग्राहिणी वा। 3 स्वरूप। (ब्या० प्र०) 4 श्रुतिः। 5 श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्तेरित्यत्र भाष्येऽविशेषपदं व्याकरोति। (ब्या० प्र०) 6 मीमांसकः। 7 श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनं युक्तमित्याह परः। यथा घटशब्दः पटस्य व्यवच्छेदेन पृथुबुध्नोदराकारे घटस्वरूपे प्रवर्तते तथा वेदवाक्यमिति शंकामनूद्य वदति। (ब्या० प्र०) 8 पचति भवतीत्यादीनि। (ब्या० प्र०)

तावल्लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि तेष्वेव वेदे, [1]तेषामध्या[2]हारादिभिर[3]न्यस्यापरिकल्पनीयत्वादपरिभाषितव्यत्वाच्च[4]। सति [5]सम्भवे लौकिकपदार्थज्ञश्च विद्वानश्रुतपूर्वं काव्यादिवाक्यार्थमवबुध्य-

---

होते हैं अतः वे रागद्वेष के वशीभूत होकर अन्यथा भी अर्थ कर सकते हैं।।

दूसरी बात यह है कि अल्पज्ञ पुरुष के द्वारा व्याख्यात किये गये अर्थ विशेष से "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यस्य श्वादेच्छ्वमांसम् इत्यपि वाक्यार्थः किं न स्यात्।

(प्रमेयरत्नमाला पृ० २२०)

टिप्पणी—अग्निं हंतीति अग्निहा श्वा तस्यात्रं मांसं जुहुयात्खादेत्। अथवा अगति गच्छति इत्यग्निःस्वा, हूयतेऽद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं मांसं। अग्नेर्होत्रमित्यग्निहोत्रं स्वमांसं तज्जुहुयात् खादेत् स्वर्गकामः पुमान् द्विजः।

अर्थ—'स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरुष अग्निहोत्र करे—हवन करे" इस वाक्य का अर्थ "कुत्ते का मांस खावे" ऐसा भी अर्थ क्यों न संभव मान लिया जावे?

अल्पज्ञ पुरुष रागादि के वशीभूत होकर उक्त वेदवाक्य का ऐसा अर्थ कर सकता है कि अग्नि को जो हने वह 'अग्निहा" अर्थात् कुत्ता है, उसका 'अत्र' जो मांस उसे 'जुहुयात्' अर्थात् खावे। अथवा "अगति गच्छति" इस निरुक्ति के अनुसार जो चले उसे 'अग्नि' अर्थात् कुत्ता कहते हैं। "हूयते अद्यते खाद्यते यत्तत् होत्रं" इस निरुक्ति के अनुसार 'होत्र' का अर्थ मांस है। अग्नि अर्थात् कुत्ते के मांस को खावे, इस प्रकार भी वही अर्थ निकल आता है। किन्तु ऐसा अर्थ आपको भी मान्य नहीं होगा, अतः अल्पज्ञ व्याख्याता का मानना ठीक नहीं है। थोड़ी देर के लिए आप वेद का अर्थ अनादिकाल से चली आ रही व्याख्यान परंपरा द्वारा आया हुआ मान भी लेवें, तो भी किसी वक्ता के द्वारा गुरु से गृहीत अर्थ का विस्मरण हो जाने से या वचन बोलने की चतुराई न होने से अथवा दुष्ट अभिप्राय से गलत अर्थ का प्रतिपादन भी हो सकता है। आजकल भी ऐसे लोग देखे जाते हैं जो ज्योतिष आदि शास्त्रों के रहस्य को अच्छी तरह जान करके भी दुष्ट अभिप्राय से गलत बता देते हैं या प्रतिपादन की शैली न होने से अथवा कितने ही व्याख्याता वाक्यार्थ का सम्बन्ध भूल जाने से उल्टा सुल्टा अर्थ भी कर देते हैं। अतः वेद अपौरुषेय होने से प्रमाण नहीं है।

---

1 वेदगतपदानाम्। 2 प्रकरण—"प्रस्तावादथवौचित्यादेकस्यैवार्थस्य निर्णयः। सर्वेऽर्थाः प्रतीयंते न शब्दादेव केवलात्।" प्रस्तावे—भोजनप्रस्तावे सैंधवमानीयतामित्युक्ते लवणमेव न तु सिंधुदेशोद्भवः। औचित्ये—मातंगगामिनी गच्छतीत्युक्ते हस्तिनी न तु चांडालः। देशे—अयोध्यायां रामलक्ष्मणौ इत्युक्ते दशरथसुतौ न तु शुकसारसौ। काले—रात्रौ पतंगो भ्रमतीत्युक्ते खद्योत एव न तु सूर्यः। (न्या० प्र०) 3 आदिना प्रकरणादिग्रहः। 4 गच्छकावबतुरो गुरुजा इत्यादि-पठितपरिभाषावद्व्यवहारकालात्पूर्वमस्य शब्दस्यायमर्थ इति सङ्केतस्योत्तरकालं व्यवहारनिमित्तस्य कारणं परिभाषणं तस्याविषयत्वाच्चेत्यर्थः। 5 येष्वर्थेषु लौकिकपदानां सम्भवस्तेष्वेवार्थेषु वैदिकपदानां सम्भवे सति।

मानो दृष्टः। [1]तद्वच्छ्रुतिवाक्यार्थमपि कश्चित्स्वयमेवाश्रुतपूर्वमवबोद्धुमर्हतीति युक्तं श्रुतेः स्वयमेवान्यस्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनम्'' इति कश्चित्[2] सोपि न परीक्षाचतुरः, सर्वस्याः श्रुतेस्तथा[3]भावाविशेषात्। [4]न च भावनैव नियोग एव वा लौकिकवाक्यस्यार्थः शक्यः [5]प्रतिष्ठापयितुं, येन वैदिकवाक्यस्यापि स इत्यार्थः स्यात्। नापि सन्मात्रविधिरेव कस्यचिद् वाक्यस्यार्थः शक्यप्रतिष्ठो, येन श्रुतिवाक्यस्यापि स एवार्थोऽन्ययोगव्यवच्छेदेन स्यात्, [6]तत्रानेकबाधकोपन्यासात्। ततः सुगतादिवच्छ्रुतयोपि न प्रमाणमित्यायातम्।

मीमांसक—लोक में जिन अर्थों में पद प्रसिद्ध हैं उन्हीं अर्थों में ही वे पद वेद में हैं। उन वेदगत पदों का अध्याहारादि-प्रकरण आदि से अर्थ परिकल्पित नहीं किया जा सकता है और न वे परिभावितव्य ही हैं अर्थात् वेदवाक्य परिभावना के विषय नहीं हैं। जिन अर्थों में लौकिक पदों का अर्थ संभव है उन्हीं अर्थों में वैदिक पदों के अर्थ भी संभव हैं जिस प्रकार से लौकिक पद के अर्थ को जानने वाला विद्वान् अश्रुतपूर्व काव्यादि शब्दों के अर्थ को समझता हुआ देखा जाता है। उसी प्रकार से कोई मनुष्य स्वयं ही अश्रुतपूर्व वेदवाक्य के अर्थ को भी समझने में समर्थ हो सकता है। इसलिए वेद स्वयमेव अन्य का व्यवच्छेद करके अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं यह कथन युक्त ही है।

जैन—ऐसा कहने वाले आप मीमांसक भी मीमांसा-परीक्षा करने में कुशल नहीं हैं। क्योंकि सभी वेदों में तथाभाव-लौकिक वाक्यार्थ के अनुसार अर्थ का प्रतिपादन करना समान ही है। लौकिक वाक्य का अर्थ भावना ही है अथवा नियोग ही है, ऐसा अर्थ व्यवस्थापित करना शक्य नहीं है कि जिससे वैदिक वाक्य का भी वही अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है एवं किसी वेदवाक्य का अर्थ सन्मात्र विधि ही है ऐसा भी कहना शक्य नहीं है कि जिससे वैदिक वाक्य का भी अन्य का व्यवच्छेद करके वही अर्थ हो सके अर्थात् नहीं हो सकता क्योंकि उन वेदवाक्यों में तो अनेक बाधायें दी गई हैं। इसलिये सुगत आदि के समान वेद भी प्रमाण नहीं हैं यह बात सिद्ध हो गई।

विशेषार्थ—श्लोकवार्तिक में इस अपौरुषेय वेद के खण्डन में विशेष रूप से विचार किया गया है। मीमांसक ने अनादिनिधन अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होना माना है वे सर्वज्ञ को तो मानते नहीं हैं। इस पर जैनाचार्य ने प्रश्न किया कि तुम्हारे वेदवाक्यों का व्याख्याता रागी है या वीतरागी? तब उन्होंने बताया कि हमारे वेद के अर्थ के व्याख्यान करने वाले मनु, याज्ञवल्क, व्यास आदि ऋषियों को उस वेद के अर्थ का पूर्ण ज्ञान था अतः उनको वेद के विषय में रागद्वेष का अभाव था। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! यदि आप भूल में सर्वज्ञ मान लेवें तब तो ठीक

---

1 लौकिकाव्यादिवाक्यार्थमिव। 2 मीमांसकः। 3 लौकिकवाक्यार्थानुसारेणार्थस्य प्रतिपादकत्वभावाविशेषात्। 4 एतदेव भावयति जैनः। 5 घटसम्बन्धस्य यथा घटादौ न तथा भावनानियोगादौ। (ब्या० प्र०) 6 सर्वश्रुतिषु।

है अन्यथा तो अन्धपरंपरा न्याय ही मान्य होगा है। इस अंध परम्परा से तो वेद के अर्थ का निर्णय होना बनता नहीं है। एक अंधे ने दूसरे अंधे का हाथ पकड़ा, दूसरे ने तीसरे का, तीसरे ने चौथे का इत्यादि रूप से करोड़ों भी अंधों की पंक्ति लगा दी जावे तो क्या सबको दीखने लग जावेगा? हां! उन पंक्तियों में यदि एक प्रधान चक्षुष्मान्-आंख सहित व्यक्ति को जोड़ दीजिए तो वह सबको भी इच्छित स्थान पर पहुंचा सकता है। तथैव मूल में आप सब एक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मान लीजिए। उसी सर्वज्ञ की मान्यता से उनके वचनों से भी सभी छद्मस्थों को आज तक भी अर्थ का निर्णय हो जावेगा। किन्तु मीमांसक सर्वज्ञ को न मानकर केवल अपने वेद को ही प्रामाणिक सिद्ध करने में लगा हुआ है। उसका कहना है कि व्याकरण, कोष और व्यवहार आदि से शब्दों का वाच्य अर्थ जाना जाता है जो विद्वान् पुरुष व्याकरण, न्याय आदि के अभ्यास से लोक में बोले जाने वाले घट, पट, आत्मा आदि पदों के अर्थ का निश्चय कर लेते हैं। उसी के समान-लौकिक पदों के अर्थ के समान ही वेदों में भी "अग्निमीडे पुरोहितं यजेत" आदि पद पाये जाते हैं। अतः वेद के पदों का अर्थ भी व्युत्पन्न विद्वान् को अपने आप ही हो जावेगा और पदों के अर्थ का निश्चय कर लेने पर वाक्य के अर्थ का निश्चय भी हो जावेगा। जैसे कि कोई विद्वान् चन्द्रप्रभ, गद्यचिंतामणि आदि काव्य ग्रन्थों के पढ़ लेने पर अद्भुतपूर्व-महापुराण, धर्मशर्माभ्युदय आदि काव्यों का अर्थ स्वयं कर लेता है या अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों को गुरु मुख से पढ़ लेने पर न्यायकुमुदचंद्रोदय, प्रमेयकमलमार्तंड आदि न्यायग्रन्थों का अर्थ भी स्वयमेव समझकर समझा सकता है या गणित के नियमों को जानकर नवीन-नवीन गणित के प्रश्नों का उत्तर झट दे देता है। इसी तरह से व्याकरण आदि के विशेषज्ञान से वेद का अर्थ भी समझ लिया जावेगा, अतः अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिए सर्वज्ञ की कोई आवश्यकता भी नहीं है और वेद के अर्थ का निश्चय करने में सर्वथा वीतरागी की भी आवश्यकता नहीं है और हमारे यहां अंध परंपरा भी नहीं है।

लोक में आजकल हम लोगों से बोले हुए पद और वेद में लिखे हुए पद यद्यपि एक ही हैं। किन्तु उन पदों के अनेक अर्थ भी व्यवस्थित हो सकते हैं। अतः एक अर्थ को छोड़कर दूसरे इष्ट अर्थ में ही कारण बताकर उसकी व्याख्या करनी चाहिए, अन्य अर्थ में नहीं, इस प्रकार शब्दों के अर्थ का निश्चय करना अशक्य है।

टिप्पणीकार श्री लघुसमंतभद्र स्वामी ने भी कहा है कि प्रकरण आदि से अनेक अर्थ देखे जाते हैं—

"प्रस्तावाद्यर्थौचित्याद्देश-काल-विभागतः। शब्दैरर्थाः प्रतीयंते न शब्दादेव केवलात्" ॥

अर्थ—प्रकरण से अथवा उचितरूप से या देश और काल के विभाग से शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध किया जाता है, किन्तु केवल शब्द मात्र से ही अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रकरण से—भोजन के समय किसी ने कहा कि—"सैंधवमानीयता" सैंधव लाओ तो सैंधव शब्द से यहां नमक ही लाया जाता है, किन्तु सिन्ध देशीय घोड़ा नहीं लाया जाता है।

औचित्य अर्थ में—"मातंगगामिनी गच्छति" मातंग गामिनी जाती है इतना कहने पर हस्तिनी जा रही है यह अर्थ होता है न कि चांडाल की स्त्री।

वेग के प्रसंग में—"अयोध्यायां रामलक्ष्मणौ" ऐसा कहने पर दशरथ के पुत्र ही समझा जाता है न कि शुक और सारस पक्षी। अर्थात् राम लक्ष्मण का अर्थ शुक, सारस भी होता है किन्तु 'अयोध्या में' ऐसा वेग शब्द का प्रयोग करने पर शुक सारस नहीं समझा जाता है।

काल अर्थ में—"रात्रौ पतंगो भ्रमति" रात्रि में पतंग भ्रमण करता है। इतना कहने पर रात्रि शब्द काल वाची होने से पतंग का अर्थ खद्योत ही करना चाहिये न कि सूर्य। यद्यपि पतंग का अर्थ सूर्य है फिर भी रात्रि में सूर्य नहीं रहता है। इत्यादि रूप से प्रकरण से भी शब्द से अर्थ का निश्चय किया जाता है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं-कहीं प्रकरण से भी अनेक प्रकार के अर्थ उपयोगी दीखते हैं जैसे कोई राजकुमार सज्जीभूत होकर बाहर जाने के लिए तैयार बैठा है और ककड़ी खा रहा है ऐसी दशा में "सैंधव लाओ" कहने पर सैंधव शब्द के उस समय घोड़ा और नमक दोनों ही अर्थ प्रकरण प्राप्त हैं। 'द्विसंधान' काव्य में एक साथ ही प्रत्येक शब्द के पांडव और रामचन्द्र के चरित्र पर घटित होने वाले दो दो अर्थ किये गये हैं। अतः अल्पज्ञ, लौकिक विद्वान्, प्रकरण आदि के द्वारा अनेक अर्थों को प्रतिपादन करने वाले वेद के शब्दों को ठीक, ठीक एक ही अर्थ में व्यवस्था नहीं कर सकेंगे और यदि एक ही अर्थ व्यवस्थित होता तो यह प्रभाकर, भाट्ट और ब्रह्माद्वैतवादी जनों का इतना विसंवाद भी क्यों होता ? देखो ! कोई तो कामधेनु के समान उन वेदवाक्यों से कर्मकाण्ड अर्थ निकालते हैं, कोई चार्वाक "अम्भाद्वै पुरुषः" आदि श्रुतियों से अपना जड़वाद पुष्ट करतेहैं, कोई अद्वैतवादी उन मंत्रों से ब्रह्मवाद सिद्ध करते हैं। आप मीमांसक भी नियोग और भावना रूप अर्थ में परस्पर में विवाद कर रहे हैं। यदि वेद का अर्थ पहले से ही निर्णीत होता तो इतने हिंसापोषक या हिंसा के निषेधक तथा केवल जड़वाद या केवल आत्मवाद रूप विरुद्ध व्याख्यानों के द्वारा परस्पर में झगड़े क्यों देखे जाते हैं ? यदि आप कहें कि वेद के अर्थों को जानने वालों का ज्ञान मंद है अतः झगड़े देखे जाते हैं किन्तु प्रतिभाशाली मनु आदि ऋषि एक ही अर्थ करते हैं वे सातिशय प्रज्ञाशाली हैं। वेदों के अर्थों को स्मरण रखने की पूर्ण रूप से विशेषता उनमें है। पुनः जैन प्रश्न करते हैं कि उन मनु, याज्ञवल्क आदि ऋषियों की बुद्धि में विशेषता कैसे आई है ? तब मीमांसक ने कहा कि उन ऋषियों ने पूर्व जन्म में श्रुत का अभ्यास किया है। तब प्रश्न यह होता है कि इन मनु आदिकों ने पूर्व जन्म में श्रुत का अभ्यास स्वयं किया है या गुरु की सहायता से ? यदि स्वतः कहो तो सभी ही पूर्व जन्म में स्वतः वेद का अभ्यास कर सकते हैं। यदि गुरु से कहो तो गुरु कौन है ? चतुर्मुख ब्रह्मा को कहो तो भी ब्रह्मा को भी अनादि कालीन वेदों का ज्ञान कैसे हुआ ? क्योंकि आप ब्रह्मा को भी अनादि कालीन सर्वज्ञ नहीं मानते हैं। फिर भी मीमांसक बोलता ही जाता है कि यद्यपि वेद एक है किन्तु उसकी हजारों शाखायें हैं, स्वर्ग में ब्रह्मा बहुत दिनों तक वेद को पढ़ते हैं फिर वहाँ से अवतार लेकर वे मनुष्य लोक

[अतएवात् चार्वाकः सर्वज्ञस्याभावं साधयति तस्य निराकरणं]

[1]तथेष्टत्वाददोष [2]इत्येकेषामप्रमाणिकेष्टिः[3]*। [4]न कश्चित्तीर्थंकरः प्रमाणं, नापि [5]समयो वेदोत्थो [6]वा [7]तर्कः, [8]परस्परविरोधात्।

में मनु आदि ऋषियों के लिए वेद का प्रकाशन करते हैं फिर ब्रह्मा स्वर्ग को चले जाते हैं और वहाँ हजारों वर्ष तक वेद का स्मरण, चिंतन, अभ्यास करते रहते हैं। पुनः स्वर्ग से उतर कर मर्त्य लोक में आकर उन्हीं मनु आदि ऋषियों को वेद के ज्ञान का प्रकाशन करते हैं और वे मनु आदि ऋषीश्वर उस समय में अनेक जीवों को वेद का ज्ञान करा देते हैं। इस प्रकार से ब्रह्मा और मनु आदि की परंपरा भी अनादि काल से चली आ रही है। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आपका कथन "वदतो व्याघातः" नाम के दोष से दूषित है। जैसे कोई पुरुष जोर-जोर से कहे कि "मैं मौनव्रती हूँ" यह वचन स्व वचन बाधित है। क्योंकि आप मीमांसकों ने सभी ही पुरुषों को अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान से रहित ही माना है। ब्रह्मा, मनु, बृहस्पति, जैमिनी आदि को भी सूक्ष्म परमाणु, आकाश, पुण्य-पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कहना शक्य नहीं है। पुनः ब्रह्मा ने भी स्वर्ग में क्या पढ़ा, किससे पढ़ा ? इत्यादि प्रश्न उठते ही चले जावेंगे।

एक किंवदंती है कि "ढेंकी स्वर्ग में चली जाये तो भी धान ही कूटेगी ?" अतः तुम्हारा कथन सिद्ध नहीं हो पाता है कि वेद "अपौरुषेय" होने से प्रमाण है।

वेद की प्रमाणता के खण्डन का सारांश

सुगत आदि सभी परस्पर में विरुद्ध अर्थ का कथन करने वाले होने से सभी सर्वदर्शी, सर्वज्ञ नहीं हैं अतः कोई भी सर्वज्ञ नहीं है ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि आपके अपौरुषेय वेद भी प्रमाण नहीं है जैसे आपने "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" कहा है वैसे ही सांख्य ने कहा है कि "प्रधानमेव सर्वं" सभी जगत प्रधान रूप है। तथा कोई भी वेद चाहे विधि अर्थ ग्राही हों चाहे नियोग एवं भावना अर्थ ग्राही हों वे स्वयं अन्य का परिहार करके अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं "नियोग अर्थ में ही मैं प्रमाण हूँ, विधि में नहीं या भावना में ही मैं प्रमाण हूँ नियोग में नहीं" इत्यादि एवं कोई भी मनुष्य अभूतपूर्व-पहले नहीं सुने हुए वेदवाक्य के अर्थ को समझने में समर्थ नहीं हो सकता है अतः सुगत आदि के समान आपके वेद भी अप्रमाण ही हैं। क्योंकि परस्पर में विरोधी हैं।

[चार्वाक सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करना चाहता है उसका निराकरण]

चार्वाक—हमें वैसा ही इष्ट है अतः कोई दोष नहीं है। अर्थात् कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, यही बात हमें इष्ट है इस मान्यता में तो कोई भी दोष नहीं है।

---

1 इतश्चार्वाकमतप्रसङ्गः। 2 प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिच्छन्ति एके चार्वाकास्तेषाम्। 3 प्रमाणरहिता। 4 मूलं व्याकरोति। (ब्या० प्र०) 5 आगमः। (ब्या० प्र०) 6 सुगतादिः। (ब्या० प्र०) 7 तर्कोनुमानम्। 8 सर्वथा नित्यत्वानित्यत्वादिसमर्थनार्थं सौगतकापिलादिप्रयुक्तानुमानानां परस्परविरोधात्तर्कस्य परस्परविरोधः।

[1]"सर्वोऽप्रसिद्धः [2]धूर्तो [3]विप्रलब्धा [4]नको [5]मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
[6]धर्मस्य तत्त्वं [7]निहितं गुहायां [8]महाजनो [9]येन गतः स पन्थाः" ॥ इति वचनात्

कश्चिद्[9] देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिर्भवेत् [10]संवादकः, प्रत्यक्षसिद्धपृथिव्यादितत्त्वोपदेशात्। इति[11] प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति ये तेषां लौकायतिकानामिष्टिरप्रमाणिकैव, प्रत्यक्षतस्तद्[12]व्यवस्थापनासम्भवात् । **न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्त[13]राभावविषयम् अतिप्रसङ्गात्*** । [14]सर्वज्ञस्य हि मुनेः प्रमाणान्तरस्य च वेदाद्यागमस्यानुमानस्य च तर्काख्यस्याभावं यदि [15]किञ्चिद्[16] व्यवस्थापयेत्, [17]तत्राप्रवर्त्तमानत्वात्, तदा[18]पुरुषान्तरादिप्रत्यक्षान्तराणामप्यभावं

जैन—यह आपकी मान्यता भी प्रमाण रहित ही है। •

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा वचन है कि—

कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं है, न कोई आगम है, न वेद है, अथवा न कोई तर्क-अनुमान ही प्रमाण है। बस ! हम एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करते हैं। क्योंकि तीर्थंकर आदि सब में परस्पर में विरोध देखा जाता है क्योंकि कहा भी है—

श्लोकार्थ—तर्क—अनुमान अव्यवस्थित है, शास्त्र नाना अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, सुगत, कपिल अथवा जिन कोई एक भी भगवान-तीर्थंकर नहीं हैं कि जिनके वचन प्रमाण हो सकें। इसलिए धर्म का स्वरूप गुफा में रखा हुआ है जिस मार्ग से महापुरुष गये हुए हैं वही मार्ग है ।।

अतः कोई देवता रूप बृहस्पति गुरु ही संवादक-प्रमाण भूत हो सकता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है। अतः हम चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं। टिप्पणी में ऐसा भी पाठ है कि कोई अदेवता रूप-असर्वज्ञ रूप बृहस्पति नामक गुरु हैं वही प्रमाणभूत है इत्यादि।

जैन—इस प्रकार से आप एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही स्वीकार करते हैं अतः आप "लौकायतिक" इस सार्थक नाम वाले हैं किन्तु आपकी मान्यता भी अप्रमाणीक ही है। क्योंकि प्रत्यक्ष से आपके सिद्धान्त की भी व्यवस्था करना सम्भव नहीं है।

आपका वह प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ एवं प्रमाणांतर के अभाव को विषय करने वाला नहीं है, अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा।*

---

1 अव्यवस्थितः। 2 नानार्थप्रतिपादकत्वेन। 3 नास्ति मुनिः इति पा०। (ब्या० प्र०) 4 सुगतः कपिलो जिनो वा। 5 तत्त्वम्। 6 अप्रयोजकत्वात्। (ब्या० प्र०) 7 गोपनादि। (ब्या० प्र०) 8 पन्थाः। 9 कश्चिद्देवतारूपो इति पा०। अदेवताकथः—असर्वज्ञताकथ इत्यर्थो भवति। (ब्या० प्र०) 10 प्रमाणभूतः। 11 इतो जैन आह। 12 सर्वज्ञाविपरीतार्थाभावस्य प्रमाणस्य। 13 नादिः (सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभावः)। 14 अतिप्रसङ्गमेव विवृणोति। 15 किञ्चित् प्रत्यक्षं व्यवस्थापयेत् इति पा०। (ब्या० प्र०) 16 चार्वाकाभिमतम्। 17 प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभावं व्यवस्थापयति—तत्राप्रवर्त्तमानत्वात्। यद्यत्राप्रवर्त्तमानं तत्तस्याभावं व्यवस्थापयति खरविषाणादिवत्। 18 देशान्तरकालान्तरवर्त्ती पुरुषोऽत्र नास्ति।

तदेव गमयेत् तद्विषयाणां च [1]क्षमादीनाम्। इत्यतिप्रसङ्गः स्वयमिष्टस्य बृहस्पत्यादिप्रत्यक्षस्यापि [2]विषयस्याभावसिद्धेः।

[चार्वाकः कथयति अस्मदीयबृहस्पतिगुरोः प्रत्यक्षं स्वस्य पृथिव्यादिचतुष्टयस्य ज्ञानं कारयति इति मान्यतायां जैनानां प्रत्युत्तरं वर्तते]

[3]अथ प्रत्यक्षान्तरं स्वयमात्मानं[4] व्यवस्थापयति पृथिव्यादिस्वविषयं च, तत्र प्रवर्तनात्। अतो न तदभावप्रसङ्ग इति मतं [5]तर्हि सर्वज्ञोपि स्वसंवेदनादात्मानं स्वर्गापूर्वादिविषयं[6] च व्यवस्थापयतीति कथं तदभावसिद्धिः[7]? [8]प्रमाणान्तरस्य च तद्वचनस्य [9]हेतुवाद-

---

सर्वज्ञ-श्रुति और प्रमाणांतर अर्थात् वेदादि आगम, अनुमान एवं तर्क इनके अभाव को यदि कोई प्रत्यक्ष व्यवस्थापित करे तो वहाँ उन विषयों में उस प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं है। अन्यथा पुरुषांतरादि—देशांतर, कालांतरवर्ती पुरुषों के प्रत्यक्षांतर के अभाव को वही प्रत्यक्ष बतला देगा और उनके विषय पृथ्वी आदि विषयों को भी वही प्रत्यक्ष बतला देगा।

पुनः स्वयं इष्ट बृहस्पति आदि के प्रत्यक्ष के भी स्वविषय का अभाव सिद्ध हो जाने से अति प्रसंग आ जावेगा।

[चार्वाक कहता है कि हमारे बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व और पृथ्वी आदि चतुष्टय को बतलाता है। अतः सर्वज्ञ कोई नहीं है—इस पर जैनाचार्य का उत्तर]

चार्वाक—प्रत्यक्षांतर—बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वयं अपने स्वरूप को और पृथ्वी आदि स्वविषयों को व्यवस्थापित करता है क्योंकि वह उन विषयों में प्रवृत्ति करता है। इसलिये उस प्रत्यक्ष के अभाव का प्रसंग नहीं आता है।

जैन—सर्वज्ञ भगवान भी स्वसंवेदन से अपने को एवं स्वर्गादि, अपूर्व—धर्माधर्मादि विषयों को व्यवस्थापित करता है इसलिये उस सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है?

एवं वही सर्वज्ञ, प्रमाणांतर—तर्क, उसके वचन हेतुवाद रूप—अनुमान रूप तथा अहेतुवाद रूप—आगम प्रमाण की व्यवस्था कर देता है। इसलिये भिन्न प्रमाणों का अभाव भी कैसे सिद्ध होगा?

चार्वाक—आपका सर्वज्ञ स्वपर का व्यवस्थापक है इस विषय को सिद्ध करने के लिये कौन सा प्रमाण है?

जैन—पुनः आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानने वाले चार्वाक के यहाँ भी प्रत्यक्षांतर-बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्वपर को विषय करने वाला है इसमें भी क्या प्रमाण है?

चार्वाक—इस प्रकार से प्रसिद्धि है अर्थात् बृहस्पति का प्रत्यक्ष स्व पर को ग्रहण करने वाला

---

1 बृहस्पतिप्रत्यक्षान्तरगोचराणाम्। 2 स्वविषयस्य इति पा०। स्वविषयस्येति वा प्रतिभाति। (आ० प्र०) 3 चार्वाकः। 4 स्वयं स्वस्वरूपम्। 5 जैनः। 6 अपूर्वं धर्माधर्मादि। 7 तस्य सर्वज्ञस्य। 8 सकलपस्य। 9 हेतुवादरूपस्यानुमानस्येत्यर्थः। अहेतुवादरूपस्य आगमस्येत्यर्थः।

रूपस्याहेतुवादरूपस्य[1] च स एव व्यवस्थापकः स्यादिति [2]कुतस्तदभावसिद्धिः ? [3]सर्वज्ञः स्वपरव्यवस्थापकोस्तीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत् [4]स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः[5] प्रत्यक्षान्तरं[6] स्वपरविषयमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? [7]तथा प्रसिद्धिरन्यत्रापीति न प्रत्यक्षं तदभावावेदकम्, [8]अतिप्रसङ्गस्य दुष्परिहारत्वात् । [9]नानुमानम्, असिद्धेः* । [10]प्रत्यक्षमेकमेव[11] प्रमाणम्[12], [13]अगौणत्वात्प्रमाणस्य[14] अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः । [15]सामान्ये सिद्धसाधनाद्[16] विशेषेनुगमाभावात् [17]सर्वत्र विरुद्धाद्व्यभिचारिणः[18] संभवात् । इति स्वयमनुमानं निराकुर्वन्ननुमानादेव सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावं व्यवस्थापयतीति कथमनुन्मत्तः ? प्रतिपत्तुः[19] प्रसिद्धं हि प्रमाणं

है इस प्रकार से हमारे यहाँ गुरु परम्परा से प्रख्याति है ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो अन्यत्र-हमारे यहाँ भी सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में भी ऐसी गुरु परम्परा से प्रसिद्धि है । इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण उस सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला नहीं है । अन्यथा-अतिप्रसंग का परिहार करना कठिन हो जावेगा । एवं अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है क्योंकि आपके यहाँ असिद्ध है अर्थात् आपने अनुमान प्रमाण को माना ही नहीं है * ।

आपने कहा है कि "प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं" अतः वही प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य है पुनः अनुमान से इस प्रत्यक्ष के विषय भूत अर्थ का निश्चय कैसे होगा ? अर्थात् होना दुर्लभ ही है । हे चार्वाक ! आपने तो अनुमान का निराकरण करने के लिये कहा है कि—"अनुमान सामान्य को सिद्ध करता है या विशेष को ?" यदि सामान्य को कहो तो सिद्ध साधन ही है क्योंकि व्याप्ति के निश्चय के काल में ही सामान्य सिद्ध हो चुका है ।

एवं दूसरा पक्ष लेवो तो विशेष पर्वतादि साध्य में "जहाँ धूम है वहाँ पर्वताग्नि है" ऐसा अनुगम-अन्वय ज्ञान नहीं है अतः सभी जगह अनुमान में विरुद्धादि दोष आते हैं ।

इस प्रकार से आप स्वयं अनुमान का निराकरण करते हुए भी अनुमान से ही सर्वज्ञ और

---

1 तर्कशास्त्रस्य, परमाणुरूपस्य । (व्या० प्र०) 2 प्रमाणान्तराभावसिद्धिः । 3 चार्वाकः । 4 जैनः । 5 चार्वाकस्य । 6 बृहस्पतिप्रत्यक्षम् । 7 चार्वाको वदति—बृहस्पतिप्रत्यक्षं स्वपरग्राहकमित्यस्माकं गुरुपरम्परया प्रख्यातिरस्तीति चेत्तवान्यत्रापि सर्वज्ञप्रत्यक्षेप्येवं भवतु । 8 अन्यथा । 9 चार्वाक आह—अहमनुमानेन सर्वज्ञाभावं साधये । पर आह—भवन्मतेनुमानं नास्ति सिद्धेरघटनात् । 10 चार्वाकः । 11 ननु अनुमानाद्यसिद्धावपि सर्वज्ञाभावो भविष्यतीत्याशंक्य कथमनुन्मत्त इत्याचार्यस्य मीमांसा । (व्या० प्र०) 12 "प्रमाणं तर्हि गौणत्वात्" इत्यादि पाठान्तरम् । 13 अमुख्या (अनुमानतः) मुख्यप्रत्यक्षप्रमाणस्यार्थनिश्चयो दुर्लभः । 14 प्रत्यक्षस्य । 15 हे चार्वाक अनुमाननिराकरणार्थं त्वमेवं वदसि । एवं किम् ? अनुमानं सामान्यं साधयति विशेषं वा ? सामान्यं चेत्सामान्ये सिद्धसाधनादित्यादि । 16 व्याप्तिनिश्चयकाले एव सामान्यस्य सिद्धत्वात् । विशेषे पर्वतादौ साध्ये यत्र धूमस्तत्र पर्वताग्निरित्यनुगमाभावः । 17 अनुमाने । 18 विरुद्धस्येत्यर्थः हेतोरित्यर्थः । 19 चार्वाकस्य ।

स्वप्रमेयस्य निश्चायेकं, नाप्रसिद्धम्, [1]अतिप्रसङ्गादेव ।

अनुमान, तर्क आदि भिन्न प्रमाणों के अभाव को व्यवस्थापित करते हैं इसलिये आप अनुन्मत्त कैसे हैं ? अर्थात् आप उन्मत्त सदृश ही हैं।

क्योंकि जानने वाले प्रतिपत्ता के यहाँ प्रसिद्ध ही प्रमाण अपने प्रमेय का निश्चय कराता है किन्तु अप्रसिद्ध प्रमाण नहीं कराता है अन्यथा अति प्रसंग आ जाता है अर्थात् खरविषाणादि भी प्रमेय की व्यवस्था करने लग जावेंगे।

भावार्थ—चार्वाक पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप भूत चतुष्टय को मानता है और इन्हीं के संयोग से चैतन्य स्वरूप आत्मा का प्रादुर्भाव भी मान लेता है और जीव के मरने के बाद उस चैतन्य की भी समाप्ति कहता है। आत्मा नाम के तत्त्व को वह चार्वाक नहीं मानता है अतएव ईश्वर के अस्तित्व को भी वह स्वीकार नहीं करता है। तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय अनुमान, आगम एवं तर्क नाम के प्रमाण भी उसके सिद्धान्त में नहीं हैं, न सर्वज्ञ का अस्तित्व ही है क्योंकि आत्म तत्त्व को माने बिना सर्वज्ञ को मानना तो कथमपि संभव नहीं है जैसे बाँस के बिना बाँसुरी नहीं बजती है। इन नास्तिक वादी चार्वाक जनों को जो कुछ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से दिखता है वही विद्यमान है इन्द्रिय ज्ञान से परे जो वस्तुएँ हैं वे सब अप्रमाण हैं। क्या पता—यदि चार्वाक के घर में बालक जन्मे और उसके पिता या पितामह का बाहर में ही मरण हो जावे तब वह बालक शायद बड़ा होकर अपने पिता और पितामह आदि के अस्तित्व को भी नहीं मानेगा। इतना सब कुछ होने पर भी वह चार्वाक एक बृहस्पति नाम के अपने गुरु को मान रहा है जबकि वे गुरु भी हम और आपको इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो रहे हैं। अतः जैनाचार्यों ने उस चार्वाक से यह प्रश्न किया कि भाई ! तुम किस प्रकार से बृहस्पति गुरु देव का अस्तित्व मानते हो और किस प्रमाण से सर्वज्ञ, अनुमान, तर्क और आगम तथा आत्म तत्त्व का अभाव सिद्ध करते हो ? क्योंकि तुम्हारा मान्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो न बृहस्पति को देख सकता है और न अनुमानादि के या सर्वज्ञ के अभाव को ही कर सकता है कारण जब वस्तु—घट एक बार प्रत्यक्ष दीखे और पुनः न दीखे तब हम या आप "उस घट का अभाव है" ऐसा कह सकते हैं। अतः तुम चार्वाक तो प्रत्यक्ष प्रमाण से इन बातों को अभाव रूप कैसे कहोगे और अपने गुरु के अस्तित्व को भी कैसे मानोगे ? तब उसने कहा कि हम गुरु के अस्तित्व को तो गुरु परम्परा से ही मान लेते हैं। बस ! आचार्य ने कह दिया कि ऐसे ही परंपरा से हमारे द्वारा मान्य सर्वज्ञ भी आप क्यों नहीं मान लेते हो क्योंकि हमारे यहाँ भी परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रामाणिक मानी गयी है। दूसरी बात यह है कि आप चार्वाक अनुमान, तर्क आदि प्रमाण को माने बिना केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ के अभाव को कैसे कहेंगे ? क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो सभी पुरुष न देखे जा सकते हैं न जाने जा सकते हैं पुनः सभी पुरुषों

---

1 खरविषाणादिकं व्यवस्थापयेदप्रसिद्धानुमानमित्यर्थः।

[चार्वाकको दूषणं ददद्भिर्भवद्भिर्यानुमानेन स्वप्रत्यक्षप्रमाणमंतरेण सर्वज्ञस्य विश्वप्रमाणानां च अभावं साधयामीति मान्यतायां जैनाः प्रतिबोधयंति]

[1]परप्रसिद्धमनुमानं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावग्राहकमिति चेत् तत् [2]परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा ? यदि[3] प्रमाणतः सिद्धं नाऽनात्मसिद्धं नाम,* परस्येवात्मनोपि[3] वादिनः सिद्धत्वात् [4]प्रमाणसिद्धस्य [5]सर्वेषामविप्रतिपत्तिविषयत्वाद्[6], अन्यथातिप्रसङ्गात्, [7]प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणसिद्धस्य विप्रतिपत्तिविषयत्वापत्तेरनात्मसिद्धत्वप्रसङ्गात्[8]। ततो यत्परस्य[9] प्रमाणतः सिद्धं तच्चार्वाकस्यात्मसिद्धम्। यथा प्रत्यक्षम्। प्रमाणसिद्धं च परस्यानुमानम्।

में "विश्व में कोई भी सर्वज्ञ नहीं है" यह कहना सर्वथा असम्भव है। एवं अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ के अभाव को कहते हुए भी आप चार्वाक अनुमान प्रमाण को मानने को तैयार नहीं हैं तो शायद आप उन्मत्त-पागल ही हो रहे हैं ऐसा मालूम पड़ता है क्योंकि जिस प्रमाण से आप अपने जिस नास्तित्व सिद्धान्त की व्यवस्था करते हैं उस अनुमान को तो आपको पहले मानना पड़ेगा। असत्यभाषी--झूठे व्यक्ति की साक्षी से किसी को अपराधी—झूठा साबित करना अशक्य ही है।

[चार्वाक कहता है कि हम आप लोगों के द्वारा मान्य अनुमान को लेकर उससे सर्वज्ञ को और प्रत्यक्ष के सिवाय विश्व सभी प्रमाणों का अभाव सिद्ध कर देते हैं। इस पर जैनाचार्य उसे समझाते हैं।]

चार्वाक—आप जैनादि के यहाँ जो प्रसिद्ध अनुमान है वही सर्वज्ञ और प्रमाणांतरों के अभाव को ग्रहण करने वाला है।

जैन—यदि ऐसा है कि वह अनुमान प्रमाण जैनादिकों के यहाँ प्रसिद्ध है तो प्रश्न यह होता है कि अनुमान उसको प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के बिना सिद्ध है ? "यदि प्रमाण से सिद्ध है तो वह अनात्म सिद्ध नहीं है" पर के समान आप चार्वाक वादी को भी स्वयं सिद्ध है क्योंकि जो प्रमाण से सिद्ध है वह सभी के संवाद का विषय है अर्थात् उस प्रमाण से सिद्ध में किसी को भी विसंवाद नहीं हो सकता है। अन्यथा अति प्रसंग आ जावेगा। यदि प्रमाण से सिद्ध प्रत्यक्ष भी विसंवाद का विषय हो जावे तो वह अनात्म सिद्ध हो जावेगा, अर्थात् आत्म सिद्ध चार्वाक के द्वारा मान्य प्रत्यक्ष भी असिद्ध हो जावेगा।

इसलिए जो पर—हम जैनादिकों को प्रमाण से सिद्ध है वह चार्वाक को भी आत्म सिद्ध है। जैसे प्रत्यक्ष और पर का अनुमान प्रमाण सिद्ध है इसलिये अनात्म सिद्ध नहीं है। अन्यथा-प्रमाण के बिना हम जैनादि को भी सिद्ध नहीं होगा"। क्योंकि अति प्रसंग ही आता है। तथाहि।

"जो प्रमाण के बिना सिद्ध है वह पर—हम जैनादिकों को भी सिद्ध नहीं है जैसे उसका

---

1 चार्वाक आह—जैनादिप्रसिद्धम्। 2 जैनादेः। 3 चार्वाकस्यापि। 4 कुतः ? यतः। 5 वादिप्रतिवादिनां। (ब्या० प्र०) 6 यथा प्रत्यक्षम्। 7 अतिप्रसङ्गं विवृणोति। 8 आत्मसिद्धस्य चार्वाकस्वीकृतस्य प्रत्यक्षस्याप्यसिद्धत्वं घटेतेत्यर्थः। 9 जैनादेः।

तस्माज्ञानात्सिद्धम् । [1]अन्यथा परस्यापि[2] न सिद्ध्येत्,* अतिप्रसङ्गादेव । तथा हि ।— यद् प्रमाणमन्तरेण सिद्धं तत्परस्यापि न सिद्धम् । यथा तदनभिमततत्त्वम् । प्रमाणमन्तरेण सिद्धं च परस्यानुमानम् । [3]तन्न सिद्धं [4]स्वयमनभिमततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्[5] ।

[चार्वाकः इन्द्रियप्रत्यक्षेण सर्वं सर्वज्ञाभावं कथं साधयेत् ? अस्य विचारः क्रियते ।]

[6]तदिदमे स्वयमेकेन प्रमाणेन[7] सर्वं सर्वज्ञरहितं पुरुषसमूहं संविदन्त इत्यात्मानं[8] निरस्यन्तोऽभिव्याहतमेवेदम्,[9]* अतिप्रसङ्गादेव । [10]स्वयमनिष्टं ह्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमेवं[11]स्यात्, [12]इन्द्रियप्रत्यक्षेण

अनभिमत तत्त्व । और पर का अनुमान, प्रमाण के बिना सिद्ध है इसलिए सिद्ध नहीं है अन्यथा स्वयं को अनभिमत तत्त्व की सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् चार्वाक के लिये अनभिमत तत्त्व अनुमान और पर लोकादि हैं उनकी भी सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा ।

भावार्थ—यहाँ चार्वाक ने कहा कि हम स्वयं अनुमान तो मानते नहीं हैं किन्तु बौद्ध, वैशेषिक आदिकों ने तो अनुमान प्रमाण माना ही है हम उन्हीं के अनुमान को उनसे लेकर अस्त्र बनाकर उन्हीं लोगों के मान्य अनुमान, तर्क, आगम आदि प्रमाणों को और सर्वज्ञ, ईश्वर, कपिल, बुद्ध के अस्तित्व को खण्डशायी कर देते हैं अतः हमारे ऊपर कोई दोषारोपण नहीं कर सकता है । तब जैनों ने प्रश्न किया कि भाई ! आप हम लोगों के द्वारा स्वीकृत अनुमान को ही लेकर यदि सर्वज्ञ आदि का अभाव कर रहे हो तब यह तो बताओ कि वह अनुमान हम और आप लोगों को प्रमाणीक है या नहीं ? यदि प्रमाणीक है तब तो प्रमाणीक वस्तु जैसे हमें प्रमाणीक है वैसे तुम्हें भी उसे प्रमाणीक ही मानना पड़ेगा क्योंकि मिश्री को मिश्री अमृत को अमृत जैसे हम कहते हैं वैसे ही आप भी तो कहते हैं और आपको भी उसका मधुर ही स्वाद आता है । यदि आप कहें कि यह अनुमान प्रमाण के बिना ही सिद्ध है अर्थात् अप्रमाणीक है तब तो हम लोग भी उसे प्रमाण की कोटि में कैसे रखेंगे और आप हमारे द्वारा मान्य समझ कर उसे लेकर उसी से सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेंगे ? अतः भाई ! यदि आप स्वयं अनुमान को स्वीकार न करते हुए भी उस अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव करते हैं तब तो आपको परलोक, आत्मतत्त्व, सर्वज्ञ आदि भी यद्यपि इष्ट नहीं है तो भी अनुमान के समान इन्हें भी मान लेना चाहिए पुनः आप नास्तिकवादी नहीं रहेंगे आस्तिकवादी ही बन जावेंगे ।

[चार्वाक इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सभी अनंत सर्वज्ञ का अभाव कैसे करेगा ? इस पर विचार किया जाता है]

इस प्रकार से ये चार्वाक स्वयं एक इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सभी पुरुष समूह को सर्वज्ञ रहित समझते हुए—जानते हुए ही अपना—इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाणवादी के स्वरूप का ही निरसन

---

1 प्रमाणमन्तरेण । 2 जैनस्य । 3 तस्मात् । (व्या० प्र०) 4 अन्यथा । 5 चार्वाकेणाभिमतं तत्त्वमनुमानं परलोकादिरूपं तस्य सिद्धिप्रसङ्गात् । 6 चार्वाकाः । 7 इन्द्रियप्रत्यक्षेण । 8 इन्द्रियप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिस्वरूपम् । 9 विरुद्धं । (व्या० प्र०) 10 स्वयमस्वीकृतमनभिप्रेतं वा । 11 चार्वाकाणाम् । 12 अन्यथा ।

सर्वज्ञरहितस्य पुरुषसमूहस्य [1]संवेदनानुपपत्तेः [2]प्रमाणान्तराभावस्येव प्रमाणान्तरमन्तरेण। इति सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञत्वाभावं प्रत्यक्षतः संविदन् स्वयं सर्वज्ञः स्यात्। तथा सति व्याहृतमेतत् [3]सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाववचनं चार्वाकस्य। प्रत्यक्षैकप्रमाणैषणं[4] वा व्याहत-

---

कर देते हैं इसलिए यह सिद्धान्त विरुद्ध ही है * एवं अति प्रसंग दोष आ जाता है। क्योंकि स्वयं अनिष्ट-अस्वीकृत अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान ही पुनः आप चार्वाक लोगों को हो जावेगा।

अन्यथा—इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा तो 'सभी पुरुष सर्वज्ञ रहित हैं' यह ज्ञान हो नहीं सकता है, जैसे प्रमाणांतर-तर्क, अनुमान, आगम आदि के बिना प्रमाणांतर के अभाव का भी ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के बिना मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हो नहीं सकता है।

इस प्रकार से सर्वत्र—सभी जगह, सर्वदा—सभी काल में सभी के सर्वज्ञपने के अभाव को प्रत्यक्ष से जानते हुए वे चार्वाक स्वयं ही सर्वज्ञ हो जावेंगे। पुनः ऐसा होने पर सर्वज्ञ और भिन्न प्रमाणों के अभाव को कहने वाले आप चार्वाक के वचन विरुद्ध ही हो जाते हैं।

आक्षेप—जैनाचार्य चार्वाक से प्रश्न करते हैं कि—आप चार्वाक महोदय! सारे विश्व के सभी पुरुषों को इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ रहित सिद्ध करते हैं या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से? अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो आप मानते ही नहीं। एवं इन्द्रिय प्रत्यक्ष से कहो तो आप और हम सभी का इन्द्रिय प्रत्यक्ष विश्व के सभी पुरुषों को देखने में समर्थ ही नहीं है और यदि जबरदस्ती समर्थ मानो तब तो पहले आप अपने प्रत्यक्ष से सारे विश्व के कोने-कोने को देखकर सारे पुरुषों के ज्ञान को प्रत्यक्ष करके आओ और निर्णय देवो कि यहाँ विश्व भर में कहीं पर कोई भी सर्वज्ञ नहीं है। और तब सारे विश्व को देख लेने से एवं जान लेने से आप ही तो सर्वज्ञ बन गये पुनः आप सर्वज्ञ का अभाव कैसे कह रहे हैं। अपने आप अपने अस्तित्व को समाप्त करना, अपने आप अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना तो आपको उचित नहीं है। इसी प्रकार से आपका इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान, आगम, तर्क परलोकादि को भी नहीं जान सकता है पुनः उन सबको जाने बिना उनका अभाव भी कैसे कर सकेगा? यदि आप कहें कि जो वस्तु प्रत्यक्ष गम्य नहीं है उसीका हम अभाव करते हैं तब तो आपके बाबा, पड़दादा आदि पुराने पुरुष (पुरखाजन) दिखते तो हैं नहीं उनका भी अभाव मानना पड़ेगा। और आप, बाबा की परंपरा माने बिना आप की उत्पत्ति भी कैसे हो सकेगी? अतः सर्वज्ञ भगवान्, अनुमान, तर्क, आगम आदि प्रमाण एवं परलोकादि का अस्तित्व आपको प्रेम से मान लेना चाहिये और अपनी एवं सभी की आत्मा के अस्तित्व को भी मान लेना चाहिये। बस! आप आस्तिकवादी बन जावेंगे झगड़ा समाप्त हो जावेगा।

अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसी इच्छा भी आपकी विरुद्ध ही है क्योंकि देश, कालवर्ती

---

1 संवेदनं ज्ञानम्। 2 अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण विना इन्द्रियप्रत्यक्षेणैव प्रमाणान्तराभावस्य संवेदनानुपपत्तिर्यथा। 3 ताद्दिः। 4 पालनम्।

मस्य देशकालनरान्तरप्रत्यक्षाणां स्वयं प्रत्यक्षतः प्रामाण्यस्य साधने सर्वसाक्षात्कारित्वप्रसंगात्, संवादकत्वादिलिङ्गजनितानुमानात्तत्साधने अनुमानप्रामाण्यसिद्धिप्रसक्तेः[1], परस्य[2] प्रसिद्धेनानुमानेन तत्प्रमाणताव्यवस्थापने [3]स्वस्यापि तत्सिद्धेरनिवार्यत्वात्। अन्यथा[4] परस्यापि तदप्रसिद्धेः कुतः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणं न [5]पुनरन्यदिति व्यवस्था स्यात् ?

नरान्तर-भिन्न देश कालवर्ती मनुष्यों के प्रत्यक्ष को स्वयं प्रत्यक्ष से प्रमाणभूत सिद्ध करने पर सभी को साक्षात्कार करने का प्रसंग आ ही जाता है। संवादक आदि हेतु से उत्पन्न अनुमान से उनको सिद्ध करने पर अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का प्रसंग आ जाता है।

हम जैनादिकों के यहाँ प्रसिद्ध अनुमान से उनको प्रमाण व्यवस्थापित करने में आप चार्वाक भी अनुमान को प्रमाणता की सिद्धि का निवारण नहीं कर सकते हैं अन्यथा हम जैनादिकों के यहाँ भी उसकी प्रसिद्धि न होने से प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, किन्तु अन्य कोई प्रमाण नहीं है यह व्यवस्था भी कैसे हो सकेगी ? अर्थात् कुछ भी व्यवस्था नहीं बनेगी।

चार्वाक मत के खण्डन का सारांश

चार्वाक—हमारे यहाँ ऐसा कथन है कि कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं है, न कोई आगम है, न वेद है अथवा न कोई तर्क, अनुमान आदि ही प्रमाण हैं। बस ! एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है कहा भी है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथाः॥

अतः एक देवता रूप बृहस्पति-गुरु ही प्रमाणभूत हैं क्योंकि वही प्रत्यक्ष से सिद्ध पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय का उपदेश देता है।

जैन—आपका यह कथन भी अप्रमाणीक ही है क्योंकि आपका प्रत्यक्ष सर्वज्ञ के अभाव को तथा अन्य आगम, अनुमान आदि के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता है। तथा आप स्वप्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण मानते हैं अतः आपके यहाँ स्वपर को ग्रहण करने वाला बृहस्पति-गुरु का ज्ञान प्रत्यक्ष है इसमें क्या प्रमाण है ? यदि आप कहो कि यह गुरु परंपरा से सिद्ध है तो हमारा भी सिद्धान्त गुरु परंपरा से सिद्ध है क्या बाधा है ? तथा अनुमान को तो आपने माना ही नहीं है जो कि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध कर सके। आप कहें कि जैनादिकों के प्रसिद्ध अनुमान से हम सर्वज्ञादि का अभाव करेंगे तो यह बताओ कि प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण से असिद्ध ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो सभी के संवाद का विषय होगा क्योंकि प्रमाण से सिद्ध है अतः आप चार्वाक को भी प्रमाण मानना होगा। हम जैनादिकों को प्रमाण से सिद्ध आप चार्वाक को भी प्रमाणीक मानना होगा। यदि प्रमाण से असिद्ध कहो तो हम जैनादिकों को भी सिद्ध नहीं रहा। तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सभी पुरुष सर्वज्ञ रहित हैं यह ज्ञान तो हो नहीं सकता यदि आप चार्वाक "सर्वज्ञ सभी

---

1 प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी व्याहतः। (व्या० प्र०) 2 जैनादेः। 3 चार्वाकस्यापि। 4 (प्रमाणमन्तरेण प्रसिद्धेरनुमाने सति जैनादेरपि। तत्प्रसिद्धिर्न स्यात् ततः)। 5 अतीन्द्रियप्रत्यक्षानुमानादिकं। (व्या० प्र०)

[1]तथेष्टत्वाददोष [2]इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः० । एके हि तत्त्वोपप्लववादिनः सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं [3]चोपप्लुतमेवेच्छन्ति । तेषां प्रमाणरहितैव तथेष्टिः [4]सर्वमनुपप्लुतमेवेतीष्टेर्न[5] विशिष्यते[6] । न[7] खलु प्रत्यक्षं [8]सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयम्, अतिप्रसंगात् । नानुमानम्, असिद्धेः । [9]सर्वं हि [10]प्रत्यक्षमनुमेयमत्यन्तपरोक्षं[11] च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषाः । तेषामभावं [12]स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वा कथं व्यवस्थापयेद्यतस्तद्विषयं स्यात् ? तथा[13] सति सर्वं प्रमाणं

काल में कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है" ऐसा कहेंगे तो आप स्वयं ही सर्वज्ञ बैठे, काल और पुरुष को जानने वाले होने से सर्वज्ञ हो गये क्योंकि "सर्वं जानातीति सर्वज्ञः" अतएव आप चार्वाक सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

[तत्त्वोपप्लववादी का कहना]

जो शून्यवादी ऐसा कहते हैं कि ऐसा हो हमें इष्ट है अर्थात् हम कुछ भी प्रमाणादि नहीं मानते हैं इसीलिये कोई दोष नहीं है यह उनकी मान्यता भी अप्रमाणिक ही है।*

तत्त्वोपप्लववादी—सभी प्रत्यक्षादी प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व उपप्लुत—अभाव रूप ही हैं ऐसा हम स्वीकार करते हैं।

जैन—आपकी यह मान्यता प्रमाण से रहित ही है। "सभी तत्त्व उपप्लुत हैं" इस प्रकार की मान्यता "सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही हैं" इस मान्यता से विशिष्ट भिन्न नहीं है। जिस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी का "सभी तत्त्व उपप्लुत ही हैं" यह तत्त्व वचन मात्र से सिद्ध है उसी प्रकार से अन्य अतत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों का "सभी तत्त्व अनुपप्लुत ही हैं" यह तत्त्व भी वचन मात्र से सिद्ध ही है क्योंकि प्रमाणता या अप्रमाणता दोनों जगह समान ही है।

प्रत्यक्ष प्रमाण तो सर्वज्ञ और प्रमाणांतर के अभाव को विषय नहीं करता है, अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा।

अनुमान भी विषय नहीं करता क्योंकि वह असिद्ध है। 'सभी—प्रत्यक्ष, अनुमेय और अत्यंतपरोक्ष वस्तु को जो जानते हैं वे सर्वज्ञ अर्थात् भिन्न प्रमाण कहलाते हैं वे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण विषय हैं अतएव प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण विषय करता है, अनुमेय को अनुमान एवं अत्यंत

---

1 प्रत्यक्षानुमानयोर्निराकरणेन। (ब्या० प्र०) 2 एवं शून्यमिच्छतीत्येकेषांसौगतानामेकेषाम् (सांख्यादिप्रायेण चैतो ह्यते)। 3 वादिनं। (ब्या० प्र०) 4 सांख्याम्युपगतं। (ब्या० प्र०) 5 इत्यपि वक्तुं सम्यक्त्वान्न विशिष्यते। यदा हि तत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमुपप्लुतमेवेति वचनमात्रात् सिद्धं तथान्येषामतत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमनुपप्लुतमेवेत्यपि वचनमात्रात् सिद्धं भवतु—अप्रामाण्यस्योभयत्र समानत्वात्। 6 यतः। इत्यपि वक्तुंसम्यक्त्वात्। (ब्या० प्र०) 7 तत्त्वोपप्लववादिनं प्रति वदति तव सर्वं शून्यं केन प्रमाणेन सिद्धं न तावत् प्रत्यक्षात् शून्यानुमानतदुरकारणीकारात्। (ब्या० प्र०) 8 सर्वज्ञानि च तानि प्रमाणान्तराणि तेषामभावः। 9 प्रत्यक्षानुमानयोरविद्यमानयोरपि किमिति सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयत्वमुच्यते। देशकालान्तरान्तर। (ब्या० प्र०) 10 प्रत्यक्षविषयम्। 11 स्वर्गादि। (ब्या० प्र०) 12 (स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वेति कर्तृपदम्)। 13 (अतिप्रसङ्गादिति) शून्यपक्षं व्यावर्तयति तदभावविषयत्वे इति।

सर्वस्य[1] स्वेष्टतत्त्वविषयं[2] भवेदिति कुतस्तत्त्वोपप्लवः ?

[परैर्मान्यिन प्रमाणेन सर्वस्य तत्त्वस्याभावं करोति तत्त्वोपप्लववादी तस्य निराकरणं]

[3]परस्य सिद्धं प्रमाणं तदभावविषयमिति चेत्[4] तत् [5]परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाण-

---

परोक्ष को आगम प्रमाण विषय करता है अतः ये तीनों प्रमाण सर्वज्ञ कहलाते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण अपने प्रत्यक्षभूत विषय को पूर्णतया जानता है, अनुमान प्रमाण अपने अनुमेय विषय को पूर्णतया विषय करता है एवं आगम प्रमाण अत्यंत परोक्ष श्रुतज्ञान के विषय को पूर्णतया विषय करता है। अपने-अपने विषय में ये पूर्णतया ज्ञान कर लेते हैं अतएव ये तीनों प्रमाण यहाँ सर्वज्ञ कह दिये गये हैं। "सर्वं हि प्रत्यक्षमनुमेयमत्यंतपरोक्षं च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानी प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाण-विशेषाः"।

आप शून्यवादियों के यहाँ स्वयं ही असिद्ध, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण इन तीनों प्रमाणों के अभाव को कैसे व्यवस्थापित करेंगे कि जिससे वे उस अभाव को विषय कर सकें ? अर्थात् नहीं कर सकते हैं। अतएव कोई भी प्रमाण जब अभाव को विषय ही नहीं कर सकता है तब वह प्रमाण तत्त्वों के अभाव को कैसे कर सकेगा ?

इस प्रकार से मानने पर सभी प्रमाण सभी जैनादि के अपने-अपने इष्ट तत्त्व को विषय करने वाले हो जावेंगे पुनः तत्त्व का उपप्लव कैसे हो सकेगा ?

विशेषार्थ—इस अष्टसहस्री ग्रंथ में आचार्य श्री विद्यानन्द महोदय ने तत्त्वोपप्लववादी का खंडन विशेष रूप में किया है। इसी प्रकार इन्होंने श्री श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में भी इसका खंडन किया है। स्थूल रूप से तो शून्यवाद और तत्त्वोपप्लववाद समान ही मालूम पड़ते हैं, किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर दोनों में कुछ अंतर झलकता है। इसी बात को स्वयं विद्यानन्द स्वामी ने श्लोक-वार्तिक में प्रकट किया है। यथा—पदार्थों को सर्वथा नहीं मानना, विचार के पीछे-पीछे सबको शून्य कहते जाना शून्यवाद है और विचार से पहले व्यवहार रूप से सत्य मानकर विचार होने पर प्रमाण, प्रमेय आदि सभी पदार्थों को स्वीकार न करना तत्त्वोपप्लववाद है।

यह तत्त्वोपप्लववादी स्वयं स्वसंवेदन को भी प्रमाण स्वरूप से इष्ट होने का निर्णय नहीं करता है, तत्त्वों का समूल चूल अभाव कहने वाला उपप्लववादी एक तत्त्व को भी इष्ट नहीं करता है। केवल दूसरों के माने हुये तत्त्वों में कुप्रश्न उठाकर उनके खंडन करने में ही तत्पर रहता है। स्वयं अपनी गांठ का मत कुछ भी नहीं रखता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि अपने प्रमाण का कुछ भी निर्णय किये बिना दूसरे वादियों के तत्त्वों का खंडन करने के लिये केवल प्रश्नों की भरमार या आक्षेप उठाना भी तो नहीं बन सकेगा। जिसके यहाँ स्वयं कोई भी इष्ट तत्त्व निर्णीत नहीं किया गया है उसको कहीं भी संशय करना नहीं बन सकता है। भू भवन में जन्म लेकर वहीं पाला गया मनुष्य तो ठूंठ या पुरुष का अथवा चांदी या सीप का संशय नहीं कर पाता है।

---

1 जैनादेः। (ब्या० प्र०) 2 स्वकीयस्वकीयमतानुसारितत्त्वग्राहकम्। (ब्या० प्र०) 3 आह तत्त्वोपप्लववादी। (ब्या० प्र०) 4 जैनः। (ब्या० प्र०) 5 जैनस्य। (ब्या० प्र०)

मन्तरेण वा ? यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, प्रमाणसिद्धस्य नानात्मनां वादि-प्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेषात् । [1]अन्यथा परस्यापि[2] न सिद्धयेत्, प्रमाणमन्तरेण सिद्धस्यासिद्धत्वाविशेषात् । तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं[3] सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं[4] निरस्यन्तीति [5]व्याहतमेतत्—तथा[6] तत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात् ।

[उपप्लववादी तत्त्ववादिनं दूषयति]

[7]ननु चानुपप्लुततत्त्ववादिनोपि[8] [9]प्रमाणतत्त्वं च प्रमेयतत्त्वं प्रमाणतः सिद्धयेत् प्रमाण-

---

[तत्त्वोपप्लववादी जैनादिकों के द्वारा मान्य प्रमाण को लेकर उन्हीं के तत्त्वों का अभाव सिद्ध कर रहा है, उसका निराकरण]

तत्त्वोपप्लववादी—पर—जैनादि के यहाँ सिद्ध प्रमाण से हम उन सभी वस्तुओं के अभाव को विषय कर लेंगे ।

जैन—यदि ऐसा कहो तो वे पर के यहाँ सिद्ध प्रमाण, प्रमाण से सिद्ध हैं या प्रमाण के बिना ही सिद्ध हैं ?

यदि प्रमाण से सिद्ध हैं तब तो नाना आत्माओं को सिद्ध हैं, क्योंकि जो प्रमाण से सिद्ध है वह नाना आत्माओं को-वादी, प्रतिवादी सभी को ही सिद्ध है, कोई अंतर नहीं है । नानात्म शब्द से 'सभी जनों को' ऐसा अर्थ कर सकते हैं अथवा "अनात्म सिद्ध नहीं है" मतलब सभी आत्माओं को सिद्ध है । अन्यथा यदि कहो प्रमाण बिना प्रमाण के ही सिद्ध हैं तब तो वह जैन के यहाँ भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि जो प्रमाण के बिना सिद्ध है वह असिद्ध के समान ही है । उसे जैनादि भी कैसे मानेंगे ?

इस प्रकार से आप तत्त्वोपप्लववादी स्वयं किसी भी एक प्रमाण से अथवा स्व प्रसिद्धि मात्र से सकल तत्त्वों को बतलाने—जानने वाले प्रमाणों से रहित सभी पुरुषों के समूह को जानते हुए स्वयं अपने आपका ही खंडन कर देते हैं, इसलिये यह कथन व्याहत—विरुद्ध ही है । अर्थात् "सभी पुरुषों का समुदाय सभी तत्त्वों के ग्राहक प्रमाण से रहित है" इस प्रकार से जिसके द्वारा जान लिया गया वही तो प्रमाण है अतएव उसका भी खण्डन करता हुआ अपना ही विघात कर लेता है ।

और यदि आप प्रमाण को स्वीकार करें तब तो तत्त्वोपप्लववादी ही नहीं रहेंगे, किन्तु प्रमाण को मान लेने से आस्तिकवादी ही हो जावेंगे ।

[उपप्लववादी तत्त्ववादियों को बोध दे रहे हैं]

तत्त्वोपप्लववादी—अनुपप्लुत तत्त्ववादी आप जैनादिकों का भी प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्व

---

1 प्रमाणं प्रमाणमन्तरेणसिद्धं चेत् । 2 जैनस्य । 3 भेद । (व्या० प्र०) 4 पुरुषसमूहः सकलतत्त्वविरहितः इत्येवं येनावबुद्धं तदेव प्रमाणम् अत एवात्मानं निरस्यन्तीति । 5 विरुद्धं । (व्या० प्र०) 6 प्रमाणास्वीकारे । 7 तत्त्वोपप्लववादी प्राह । 8 जैनादेः । 9 "प्रमाणत्वं प्रमेयत्वम्" इति पाठान्तरम् ।

मन्तरेण वा ? प्रमाणतत्त्वेस्तदपि प्रमाणान्तरतः सिद्धयेदित्यनवस्थानात्कुतः प्रमाणतत्त्व-व्यवस्था ? यदि पुनः प्रथमं प्रमाणं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते तदेतरेतराश्रयणान्नैकस्यापि व्यवस्था । [1]स्वतः प्रमाणस्य प्रामाण्यव्यवस्थितेरयमदोष इति चेन्न—सर्वप्रवादिनां तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । कुतश्चित्प्रमाणात्तद्विप्रतिपत्तिनिराकरणे तत्रापि प्रमाणान्तराद् विप्रतिपत्तिनिराकरणेन भाव्यमित्यनवस्थानमप्रतिहतप्रसरमेव । [2]परस्परं विप्रतिपत्तिनिराकरणे चान्योन्यसंश्रयणं दुरुत्तरम् । प्रमाणमन्तरेण तु प्रमाणादितत्त्वं यदि सिद्धयेत्तदा तदुपप्लवव्यवस्थापि तथा दुःशक्या निराकर्तुम् । [3]स्यान्मतम्[4] ।

प्रमाण से सिद्ध है या प्रमाण के बिना सिद्ध है ? यदि कहो कि प्रमाण से सिद्ध है तब तो वह प्रमाण भी प्रमाणांतर से सिद्ध होगा इस प्रकार से अनवस्था के आ जाने से प्रमाणतत्त्व की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ?

यदि आप कहें कि प्रथम प्रमाण द्वितीय प्रमाण का व्यवस्थापक होगा और द्वितीय प्रमाण प्रथम की व्यवस्था कर देगा तब तो इतरेतराश्रय दोष आ जाने से एक की भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अर्थात् प्रमाण ज्ञान सच्चा है इसको बतलाने वाला दूसरा प्रमाण आया और वह दूसरा भी सच्चा है इस बात को बतलाने वाला तीसरा इत्यादि से अनवस्था होती है और यदि दूसरे ने पहले को सच्चा सिद्ध किया एवं दूसरे को पहले ने सच्चा कहा तब तो भाई ! दोनों मित्र एक दूसरे को सच्चा कह रहे हैं, किन्तु ये दोनों सच बोलते हैं यह बात हम कैसे मान लेवें ? यदि आप कहें कि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः ही व्यवस्थित है अतः कोई दोष नहीं है, किन्तु आप ऐसा भी नहीं कहना अन्यथा सभी प्रवादियों को भी विसंवाद का अभाव हो जावेगा अर्थात् सभी के सभी इष्ट तत्त्व स्वतः ही सिद्ध हो जावेंगे।

यदि आप कहें कि किसी एक प्रमाण से उस विसंवाद को दूर करेंगे तो वहाँ भी प्रमाणांतर से विसंवाद को दूर करने के लिये भी प्रमाण चाहिये इस तरह से अनवस्था का प्रसार बिना रोक टोक के ही हो जाता है।

एवं प्रथम का द्वितीय से और द्वितीय का प्रथम प्रमाण से विसंवाद दूर करना मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, उसका निवारण भी आप नहीं कर सकते हैं।

और यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण के बिना प्रमाणादि तत्त्व सिद्ध होते हैं, तब तो तत्त्वोपप्लव की व्यवस्था का निराकरण करना भी शक्य नहीं है वह प्रमाण के बिना सिद्ध है ऐसा हम मानते हैं।

---

1 (जैनपक्षमुपपाद्य तत्त्वोपप्लववादी इति चेत्तत्त्वमेव खण्डयति)। 2 प्रथमं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येष्यते। 3 परः मीमांसकादीनामभिप्रायमनूद्य दूषयति। (ब्या० प्र०) 4 जैनादेः।

"विचारोत्तरकालं प्रमाणादितत्त्वव्यवस्थितिः। विचारस्तु [1]यथाकथञ्चित्क्रियमाणो [2]नोपालम्भार्हः—सर्वथा[3] वचनाभावप्रसङ्गात्" इति। [4]एवं तर्हि तत्त्वोपप्लववादिनामपि विचारादुत्तरकालं तत्त्वोपप्लवव्यवस्था तथैवास्तु सर्वथा विशेषाभावात्।

[तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्यवादिनां प्रमाणतत्त्वं दूषयति]

एवं च[5] तत्र [6]प्रमाणतत्त्वमेव तावद्विचार्यते[7]। —कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम्? [8]किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्वेन[9], [10]प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा[11] वा?

[प्रथमस्य निर्दोषकारणजन्यत्व हेतोर्निराकरणं]

[12]यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन तदा सैव कारकाणामदुष्टता कुतोवसीयते? न

यदि आप जैन ऐसा कहें कि "विचार के अनन्तर—उत्तरकाल में प्रमाणादि तत्त्व की व्यवस्था है और यथा कथंचित् प्रमाण से अथवा प्रमाण के बिना हम लोगों के द्वारा स्वीकृत तत्त्व व्यवस्था उलाहना के योग्य नहीं है। अन्यथा सर्वथा वचनों के अभाव का ही प्रसंग आ जावेगा।" ऐसा कहने पर तो हम तत्त्वोपप्लववादी जनों के यहाँ भी विचार से उत्तरकाल में तत्त्वोपप्लव व्यवस्था उसी प्रकार से हो जावे सर्वथा दोनों में कोई अंतर नहीं है। अर्थात् जब हम विचार करते हैं तब प्रमाणादि तत्त्व हमें दिखाई देने लगते हैं ऐसा जैनादिकों की तरफ स्वयं तत्त्वोपप्लववादी ने समाधान किया है और पुनः उसमें दोषारोपण करने लगा कि इस प्रकार से तो हमारे यहाँ भी विचार करने के अनन्तर तत्त्वों का अभाव दिख रहा है उसे ही मान लीजिये क्या बाधा है?

[अब तत्त्वोपप्लववादी आस्तिक्य वादियों के प्रमाण तत्त्व को दूषित करने की चेष्टा करता है]

तत्त्वोपप्लववादी—इस प्रकार से अब आपके प्रमाण तत्त्व का विचार किया जाता है। हम आप जैन लोगों से प्रश्न करते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे सिद्ध है? अदुष्टकारक संदोह के द्वारा उत्पन्न होने से, बाधा रहित होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अन्यथा और किसी प्रकार से?

[निर्दोष कारणजन्यत्व हेतु का खण्डन]

यदि निर्दोष चक्षु आदि की निर्मलता आदि कारक समूह के द्वारा प्रमाण में प्रमाणता उत्पन्न होती है, ऐसा आप कहो तब तो आपने उन कारकों की निर्दोषता कैसे जानी है, प्रत्यक्ष से या अनुमान से?

प्रत्यक्ष से तो आप कह नहीं सकते क्योंकि नेत्रों की निर्मलतादि ज्ञान के कारण अतीन्द्रिय हैं।

---

1 प्रमाणेन प्रमाणमन्तरेण वा। 2 जैनादिकृतः। 3 अन्यथा। 4 तत्त्वोपप्लववादी। 5 च प्रमाणतत्त्वं इति पा०। (ब्या० प्र०) 6 च प्रमेयतत्त्वं। (ब्या० प्र०) 7 प्रमेयतत्त्वं च तिष्ठतु। 8 अदोषः चक्षुरादिनैर्मल्यम्। 9 एतत्पर्यन्तं विकल्पद्वयमिदं मीमांसकापेक्षया। 10 अयं तृतीयविकल्पो नैयायिकमतापेक्षया। 11 अन्यथा—अविसंवादकत्वेनेत्ययं चतुर्थो विकल्पः सौगतमतापेक्षया। 12 तत्त्वोपप्लववादिमतमाशङ्क्य जैनः प्राह।

तावत्प्रत्यक्षान्नयन[1]कुशलादेः[2] संवेदनकारणस्यातीन्द्रियस्यादुष्टतायाः प्रत्यक्षीकर्तुमशक्तेः। नानुमानात्, [3]तदविनाभाविलिङ्गाभावात्। विज्ञानं[4] तत्कार्यं लिङ्गमिति चेत्[5], [6]विज्ञान-

---

वह प्रत्यक्ष ज्ञान उनकी निर्दोषता को प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है। अनुमान से भी वह निर्दोषता ग्रहण नहीं की जाती है क्योंकि उसके अविनाभावी लिंग का अभाव है अर्थात् इंद्रियों से जिसे देख नहीं सकते उसका इसके साथ सम्बन्ध है इत्यादि कैसे निर्णय करेंगे और हेतु किसे बनायेंगे ?

विशेषार्थ—तत्त्वोपप्लववादी स्वयं कुछ तो मानता नहीं है फिर भी बैठे-बैठे जैन, मीमांसक आदि तत्त्ववादियों से कुतर्क कर रहा है। इसी बात को श्लोकवार्तिक ग्रंथ में श्री विद्यानन्द स्वामी ने अच्छी तरह से बतलाकर है। यथा—"कथमस्यभिचारित्वं वेदनस्य निश्चीयते ? किमदुष्टकारकसंदोहोत्पादत्वेन बाधारहितत्वेन प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वेति प्रमाणतत्त्वे पर्यनुयोगाः संशयपूर्वकास्तदभावे तदसंभवात्, किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्यादेः पर्यनुयोगवत्। संशयश्च तस्य कदाचित् क्वचिन्निर्णयपूर्वकः स्थाण्वादिसंशयवत्। तत्र यस्य क्वचित् कदाचिददुष्टकारकसंदोहोत्पादत्वादिना प्रमाणत्वनिर्णयो नास्त्येव तस्य कथं तत्पूर्वकः संशयः, तदभावे कुतः पर्यनुयोगाः प्रवर्तेरन्निति न परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पतेः सूत्राणि स्युः।"

उपप्लववादी जब अंतरंग बहिरंग प्रमाण, प्रमेयतत्त्वों को मानने वाले जैन, मीमांसक, नैयायिक आदि के प्रति उपाय, उपेयतत्त्वों का खंडन करने के लिए इस प्रकार से कुप्रश्न उठाते हैं कि आप जैनादि अव्यभिचारी (मिथ्याज्ञान से भिन्न सच्चे) ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। पुनः वह बतलाइये कि इस ज्ञान की सच्चाई का निर्णय आप लोग कैसे करते हैं ? क्या निर्दोष कारणों के समुदाय से ज्ञान बनाया गया है, इस कारण प्रमाण है या बाधाओं से रहित है अतः प्रमाण है ? अथवा जिसको जाने, उसमें प्रवृत्ति करे और उसी ज्ञेय रूप फल को प्राप्त करे या उस ज्ञान का सहायक दूसरा ज्ञान पैदा कर ले, इस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से वह ज्ञान प्रमाण है ? अथवा दूसरे प्रकारों से अविसंवादी आदि रूप से वह प्रमाण है ? आखिर प्रमाण की प्रमाणता का निश्चय आप लोग इन चार कारणों के सिवा तो कर नहीं सकते हैं अतः बतलाइये क्या बात है ?

इन चार प्रश्नों में प्रथम के दो प्रश्न तो मीमांसक के प्रति हैं क्योंकि मीमांसक ही इन दो बातों से प्रमाण को प्रमाणता मानता है अतः इसी मीमांसक और उपप्लववादी के कुछ देर तक प्रश्नोत्तर चलते रहेंगे।

---

1. चक्षुरिन्द्रियरूप। द्रष्टुः। पुंस्यादेः। (ब्या० प्र०) 2 कौशल्यं नैर्मल्यम्। 3 अदुष्टकारक। (ब्या० प्र०) 4 मीमांसकः। 5 तत्त्वोपप्लववादिमतमाशंक्य जैनः प्राह। 6 शुक्तिकायां रजतज्ञानं कार्येलिङ्गं कारणदुष्टता साधयतीति व्यभिचारः। (ब्या० प्र०)

तीसरा प्रश्न नैयायिकों की मान्यता को लक्ष्य में रखकर किया गया है। एवं चौथा प्रश्न बौद्धों पर लागू हो जाता है। क्रमशः इन सभी पर विचार विमर्श करके उत्तर देने वाले वे लोग स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं। उपप्लववादी सभी की बात को समाप्त कर देता है। तब जैनाचार्य इन चारों प्रश्नों को महत्त्व न देकर अपना पक्ष रख देते हैं। अर्थात् ! यहाँ पर तो आचार्य मुख्य रूप से इसी बात को बता रहे हैं कि आप उपप्लववादी के ये सभी प्रश्न उठाना संशय पूर्वक ही हो सकते हैं क्योंकि संशय के बिना ये प्रश्न उठाना ही असंभव है। जैसे कि यह स्थाणु है या पुरुष ? और जहाँ कहीं भी किसी पदार्थ का आश्रय लेकर किसी को संशय होता है उस पदार्थ में पहले कभी न कभी किसी स्थल पर निर्णय अवश्य ही कर लिया गया है। जिस मनुष्य ने कहीं भी स्थाणु और पुरुष का ठीक-ठीक पूर्व में निश्चय कर लिया है वही मनुष्य कदाचित् सायंकाल के समय दूसरे ठूंठ को देखकर उसमें मनुष्य की ऊँचाई आदि के साधारण धर्मों को देखकर और विशेष धर्मों को न देखकर प्रस्तुत स्मरण करके संशय कर लेता है। मतलब यह है कि जिसको कहीं भी कभी संशय होगा उसे किसी का पहले निर्णय अवश्य होना चाहिये और आप शून्यवादी या उपप्लववादी तो कुछ भी प्रमाण आदि का निर्णय ही नहीं मान रहे हैं पुनः यह प्रमाण निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है या बाधा रहित है इत्यादि रूप से हम लोगों के प्रति आपको संशय उठाने का भी क्या अधिकार है ? मतलब पूर्व में अपने कुछ तत्त्व या निर्णय को माने बिना आप संशय भी नहीं कर सकते हैं। बस ! इतना ही कहते चलिये कि "प्रमाण नहीं है, प्रमाण नहीं है" इत्यादि।

इस प्रकार दूसरे आस्तिकों के इष्ट किये गये प्रमाण, प्रमेय को खंडन करने के लिये बृहस्पति के सूत्र दूसरे मतों के ऊपर कुप्रश्न करने के लिये तत्पर नहीं हो सकते हैं। यहाँ संभवतः बृहस्पति ने चार्वाक दर्शन का पोषण करके पीछे से सर्व तत्त्वों का उपप्लव स्वीकार किया है ऐसा मालूम पड़ता है एवं जब प्रमाण, प्रमेयतत्त्व, प्रश्न करना, संशय करना आदि व्यवस्थायें आपके यहाँ असंभव हैं तब तो यों ही पोल चलती जावेगी, सभी लोग अपने-अपने मतों को पुष्ट करते हुये मनमानी करते रहेंगे। पुनः आप यह भी नहीं कह सकेंगे कि सारा जगत् शून्य रूप है और देखिये !

"शून्योपप्लववादेऽपि नानेकांताद्विना स्थितिः।
स्वयं क्वचिदशून्यस्य स्वीकृतेरनुषप्लुते ॥१४७॥
शून्यतायां हि शून्यत्वं यातुश्चिन्नोपगम्यते।
तथोपप्लवनं तस्योपप्लवेऽपीतरत्र तत् ॥१४८॥ [श्लोकवार्तिक]

अर्थ—शून्यवाद और उपप्लववाद का सिद्ध करना बिना अनेकांत के नहीं हो सकता है क्योंकि स्वयं के शून्यवाद का समर्थन और अशून्यवाद—आस्तिकवाद का खंडन तो आप करेंगे ही करेंगे। बस ! स्वपक्षसाधन और परपक्ष दूषण यही तो अनेकांत है और अनेकांत है क्या ? दूसरी बात और है कि आप अपने शून्य तत्त्व को अशून्य-सत्य मानेंगे ही नहीं अन्यथा शून्य का शून्य होकर

सामान्यस्य तदव्यभिचारित्वाभावात्[1]। [2]प्रमाणभूतं [3]विज्ञानं तल्लिङ्गमिति चेत् [4]कुतस्तस्य प्रमाणभूततावसायः ? [5]तददुष्टकारणारब्धत्वादिति चेत् सोयमन्योन्याश्रयः। सिद्धे विज्ञानस्य प्रमाणभूतत्वे निर्दोषकारणारब्धत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च प्रमाणभूतत्वसिद्धिरिति। [6]किञ्च

तो क्या बचेगा ? सोचिये ! भाई ! यदि आप शून्यवाद को अशून्य न कहकर शून्य कह देंगे तब तो सभी तत्त्व व्यवस्था सच्ची हो जावेगी।

और शून्यवाद को अशून्य कहेंगे तो अनेकांत होकर भी कुछ तत्त्व व्यवस्था बन जाने से सर्वथा शून्यवाद नहीं रहेगा। वैसे ही उपप्लव को उपप्लव रहित मानने से ही आपकी इष्ट सिद्धि होगी अन्यथा उपप्लववाद का प्रलय होकर सभी तत्त्व सच्चे सिद्ध हो जावेंगे।

देखिये ! यदि झूठ बोलना झूठ सिद्ध हो जावे तो सत्यता का निषेध हो जाता है। शत्रु का शत्रु अपना मित्र ही सिद्ध होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि इस उपप्लववादी का कर्त्तव्य जैन, मीमांसक आदिकों से प्रश्न करने का नहीं था फिर भी वह कर रहा है क्योंकि "उलटा चोर कोतवाल को डाँटे" इस लोकोक्ति के अनुसार वह धृष्ट है। अच्छा ! अब प्रश्नोत्तर के ढंग को पढ़ते चलिये।

मीमांसक—विज्ञान उसका कार्य है यही हेतु है। बस ! हेतु से अनुमान बन जावेगा और अनुमान से हम कारणों की निर्दोषता जान लेते हैं।

तत्त्वोपप्लववादी—नहीं ! विज्ञान सामान्य उससे अव्यभिचारी नहीं है अर्थात् सुक्तिका में रजत—ज्ञान कार्य लिंग है वह कारण के दोष को सिद्ध करता है अतः व्यभिचारी है क्योंकि जो विज्ञान सामान्य है वह दुष्टता—सदोष ज्ञान में भी पाया जाता है।

मीमांसक—प्रमाणभूत विज्ञान उसका हेतु है सदोष ज्ञान नहीं।

तत्त्वोपप्लववादी—वह विज्ञान प्रमाणभूत है यह निश्चय किससे होगा ? यदि कहो निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से यह विज्ञान प्रमाण है ऐसा निश्चय होता है तब तो अन्योन्याश्रयदोष आ जाता है। विज्ञान के प्रमाणभूत सिद्ध हो जाने पर यह निर्दोष कारणों से उत्पन्न हुआ है यह बात सिद्ध होगी और निर्दोष कारणों से उत्पत्ति की सिद्ध होने पर ज्ञान प्रमाणभूत सिद्धि होगा। अतएव एक दूसरे के आश्रित होने से दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

दूसरी बात यह है कि चक्षु आदि कारणों को गुण और दोषों का आश्रय स्वीकार करने पर

---

1 शुक्तिकायां रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं कारणदुष्टतां साधयतीति व्यभिचारी, यतो विज्ञानसामान्यं दुष्टतायामपि वर्तते। 2 मीमांसकः। 3 विशेषः। (ब्या० प्र०) 4 तत्त्वोपप्लववादी। 5 अदुष्टकारकारब्धत्वात् इति पा०। (ब्या० प्र०) 6 दूषणान्तरं तत्त्वोपप्लववादी (शून्यवादी) आह।

चक्षुरादिकारणानां गुणदोषाश्रयत्वे[1] तदुपजनितसंवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तिर्न स्यात् गुण-दोषाश्रयपुरुषवचनजनितवेदनवत् । गुणाश्रयतयैव[2] तन्निश्चये तदुत्थविज्ञाने [3]दोषाशङ्कानिवृत्तौ पुंसोपि कस्यचिद्गुणाश्रयत्वेनैव निर्णये तद्वचनजनितवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तेः[4] किमपौरुषेय-शब्दसमर्थनायासेन[5] ? अथ[6] पुरुषस्य गुणाधिकरणत्वमेवासकृन्निश्चयं, परचेतोवृत्तीनां [7]दुरन्वयत्वात् तद्व्यापारादेः साङ्कर्यदर्शनात्, निर्गुणस्यापि[8]गुणवत इव[9] व्यापारादिसंभवादुप-वर्ण्यते [10]तर्हि चक्षुरादीनामप्यतीन्द्रियत्वात्तत्कार्यसाङ्कर्योपलब्धेः कुतो [11]गुणाश्रयत्वनियमनिश्चयः

उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशंका निवृत्त नहीं हो सकेगी जैसे गुण और दोष के आश्रित पुरुषों के वचन से उत्पन्न हुये ज्ञान में शंका की निवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् किसी पुरुष में गुण और दोष दोनों ही हैं पुनः उसके वचन निर्दोष हैं यह बात कैसे बनेगी ? उसके वचनों में दोषों की शंका बनी ही रहेगी।

यदि आप चक्षु आदि में गुणों का ही निश्चय मानोगे तो उससे उत्पन्न हुये विज्ञान में दोष की आशंका निकल जावेगी और तब किसी पुरुष के भी गुणों का आश्रय निश्चित होने पर उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में दोषों की आशंका नहीं रहेगी पुनः आप मीमांसक को अपौरुषेय शब्द—वेद के समर्थन के प्रयास से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

मीमांसक—पुरुष को गुणों का आधार निश्चित करना अशक्य है पर के मन की प्रवृत्तियों को जानना बहुत ही कठिन है उनके कार्य तथा व्यापारादि में संकर देखा जाता है। निर्गुणी में भी गुणवानों के समान व्यापारादि संभव हैं ऐसा कहा जाता है। अर्थात् पुरुष गुणों का आधार है उसमें गुण ही पाये जाते हैं यह कहना ठीक नहीं है। किसी निर्दोष पुरुष के व्यवहार सदोष पुरुष के समान दिख जाते हैं और किसी सदोष पुरुष के भी व्यवहार निर्दोष पुरुष के समान दिखते हैं पुनः पुरुष को भी गुणी निश्चित करना असंभव ही है।

शून्यवादी (तत्त्वोपप्लववादी)—तब तो चक्षु आदि भी अतींद्रिय हैं। उनके भी कार्य में संकर दोष उपलब्ध होने से चक्षु आदि इंद्रियों में गुणों के आश्रितत्व नियम का निश्चय करना कैसे शक्य होगा ? किसी अपौरुषेय भी ग्रहोपरागादि को शुक्ल वस्त्रादि में पीत ज्ञान का हेतु मानना उपलक्षण है। अपौरुषेय वेद में भी मिथ्या ज्ञानरूप हेतु की संभावना करने पर आप याज्ञिक—मीमांसकों को उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय निःशंक रूप से कैसे होगा ? इसलिये निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से किसी प्रमाण को प्रमाणता है यह कहना शक्य नहीं है अर्थात् यदि आप ऐसा कहें कि

---

1 अङ्गीक्रियते। 2 तो मीमांसक चक्षुरादीनां गुणाश्रयतयैव। 3 अंगीक्रियमाणायां सत्यां। (ब्या० प्र०) 4 हेतोः। (ब्या० प्र०) 5 मीमांसकस्य। 6 मीमांसकः। 7 दुरन्विगमत्वात्। 8 कुतः ? यतः। 9 व्याहारं। (ब्या० प्र०) 10 तत्त्वोपप्लववादी। 11 चक्षुरादीनाम्।

शक्यः कर्तुम् ? [1]कस्यचिदपौरुषेयस्यापि च ग्रहोपरागादेः[2] शुक्लवस्त्रादौ पीतज्ञानहेतोरुपलक्षणाद्[3]दस्यापौरुषेयस्यापि मिथ्याज्ञानहेतुत्वसंभावनायां कथमिव[4] निःशङ्कं याज्ञिकानां तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयः ? ततो नादुष्टकारकजन्यत्वेन कस्यचित्प्रमाणता ।

वेद अपौरुषेय हैं अतः प्रमाण हैं तब तो ग्रहोपरागादि (चंद्रमा के परिवेष आदि) भी बिना पुरुष कृत अपौरुषेय ही हैं किंतु उन उपरागादि के निमित्त से श्वेतवस्त्रादि में पीत का ज्ञान हो जाता है अतः अपौरुषेयवेद में भी मिथ्याज्ञान की संभावना हो सकती है।

विशेषार्थ—मीमांसक ज्ञान की प्रमाणता—सचाई का निर्णय कई कारणों से मानता है। निर्दोष कारणों से उत्पन्न होना और बाधा का न होना। यहाँ पर इन दो बातों पर तत्त्वोपप्लववादी ने बड़ी आपत्ति उठाई है। श्लोकवार्तिकालंकार में भी प्रभाकर ने इसी विषय में स्पष्टीकरण किया है। तथाहि—

अदुष्टकारणारब्धमित्येतच्च विशेषणम् ।
प्रमाणस्य न साफल्यं प्रमारूपव्यभिचारतः ॥७७॥

मीमांसक—मीमांसक ने प्रमाण के लक्षण में "निर्दोष कारणों से उत्पन्न होना" यह विशेषण दिया है, वह विशेषण उसके प्रमाण को निर्दोष सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकता है। जो ज्ञान दुष्ट कारणों से उत्पन्न होता है उसके द्वारा स्व और अर्थ का निर्णय होना ही असंभव है, अतः विद्यानंद स्वामी प्रमाण का लक्षण "स्वार्थव्यवसायात्मकं" स्व, अर्थ का निश्चायक इतना ही पर्याप्त मानते हैं, किन्तु मीमांसकों का कथन है कि—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥"

अर्थात्—जो अपूर्व अर्थ को ग्रहण करने वाला है, निश्चित है, बाधा से रहित है, निर्दोष कारणों से जन्य है और लोक सम्मत है वही प्रमाण है।

इस प्रकार की मान्यता के कहने पर तो श्री विद्यानंद स्वामी स्वयं श्लोकवार्तिक में इन सभी विशेषणों को सदोष सिद्ध करते हुये अपने सम्यग्ज्ञान के लक्षण को निर्दोष सिद्ध करते हैं।

"तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता ।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद् विशेषणम् ॥७८॥
गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति ।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥७९॥"

अर्थ—स्व और अर्थ को निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है इस प्रकार से इतने ही लक्षण से

---

1 अपौरुषेयत्वाददुष्टकारणं वेदवाक्यम् । तथापि तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयो भविष्यतीत्याशंक्याहाह । 2 विग्रहो इति पा० । विग्रहो—पुद्गल, उपरागो—ग्रहो राहुकृतो विग्रहो पूर्णिम वादः । (व्या० प्र०) 3 प्रतीतेः । (व्या० प्र०) 4 वाक्यालंकारे । (व्या० प्र०)

सभी प्रयोजन सिद्ध होजाते हैं। अन्य—सर्वथा अपूर्व अर्थ का ग्राहक होना, बाधा से रहित होना, लोक सम्मत होना, निर्दोषकारणों से अन्य होना इत्यादि विशेषण व्यर्थ ही हैं। जो ज्ञान गृहीत अथवा अगृहीत भी अपना और अर्थ का यदि निश्चय करता है तो वह ज्ञान लोक में और शास्त्रों में भी प्रमाणपने को नहीं छोड़ता है।

यहाँ इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये कि आचार्य विद्यानंद महोदय "अपूर्वार्थ" विशेषण को महत्व न देकर केवल 'स्वार्थ' विशेषण को ही महत्त्व दे रहे हैं, फिर भी स्वयं आचार्य ने इसी ग्रंथ में स्थान-स्थान पर केवलज्ञान को भी अपूर्वार्थग्राही सिद्ध कर दिया है।

किसी ने कहा कि केवलज्ञान गृहीतग्राही होने से अप्रमाण है तब आचार्य ने कहा कि नहीं सभी ज्ञान सुनयों की अपेक्षा से अपूर्वार्थग्राही हैं और भी देखिये—

"तत्रापि केवलज्ञानं नाप्रमाणं प्रसज्यते।
ज्ञानावरणविश्लेषात्तस्यापूर्वार्थतास्थितेः ॥६०॥

प्रादुर्भूतिक्षणादूर्ध्वं परिणामित्वविच्युतिः।
केवलस्यैककल्पित्वादिति चोद्यं न युक्तिमत् ॥६१॥

परापरेण कालेन संबंधात्परिणामि च।
संबंधिपरिणामित्वे ज्ञातृत्वे नैकमेव हि ॥

अर्थ—अपूर्वार्थ को जानने वाले उन ज्ञानों में केवलज्ञान अप्रमाण नहीं है क्योंकि ज्ञानावरण के पूर्ण क्षय से विवक्षित काल में उत्पन्न हुये सादि और अनंतकाल तक स्थित रहने वाले उस केवलज्ञान को अपूर्वार्थ का ग्राहक होना सिद्ध है। मतलब विशेषणों की अत्यल्प पराकृति हो जाने से उनको जानने वाले ज्ञान अपूर्वार्थ ग्राहक हो जाते हैं। थोड़ा विचार तो करो कि संसार में अपूर्व अर्थ कौन समझ जाते हैं? सभी द्रव्य पूर्वार्थ ही हैं, किंतु फिर भी सौन्दर्य, अधिक धनवत्ता, रूपवत्ता, प्रतिभा, विलक्षण तपश्चर्या, अद्भुत शक्ति, विशेष चमत्कार आदि धर्मों को धारण कर लेने से वे यथार्थ अपूर्वार्थ मान लिये जाते हैं। सूक्ष्म विचार करने पर तो अत्यंत छोटे अंश को भी नवीनता धारण करने पर पदार्थ को अपूर्वार्थता आ जाती है। जितनी यहाँ अपूर्वार्थ संभवती है उस पर संतोष करना चाहिये। अन्यथा, भक्ष्य, अभक्ष्य विचार, पतिव्रतापन, अघौर्य आदिक लोक व्यवहार सभी समाप्त हो जावेंगे। कोई कुतर्क कर रहा है कि "केवलज्ञान अपनी उत्पत्ति क्षण के अनन्तर परिणामी नहीं होता है ज्यों का त्यों रहता है क्योंकि त्रिकाल त्रिलोकवर्ती संपूर्ण पदार्थों को एक साथ जानकर पुनः एक रूप ही बना रहता है अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणामित्व लक्षण वहाँ अघटित है पुनः अपूर्वार्थ-ग्राही कैसे रहा? आचार्य कहते हैं कि यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि उत्तर-उत्तरवर्ती काल के साथ संबंध हो जाने से उत्पाद और व्ययरूप परिणाम घटित हो जाते हैं। केवलज्ञान की पूर्व समय-

[द्वितीयस्य बाधारहितत्वहेतोः खंडनं]

नापि बाधानुत्पत्त्या, [1]मिथ्याज्ञानेपि [2]स्वकारणवैकल्या[3]द्बाधकस्यानुत्पत्तिसंभवात्[4]

वर्ती पर्याय का नाश हो जाता है और उत्तरकाल में नवीन पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार से संबंध विशिष्ट और परिणाम सहित होने से भी केवलज्ञानी आत्मा रूप से एक है यही ध्रुवता है एवं परिणमनशील ज्ञेय द्रव्यों के परिणमन से भी ज्ञान परिणामी होता है अतः अपूर्वार्थग्राही सिद्ध है।

एवं आचार्य श्री माणिक्यनंदी ने "परीक्षामुख सूत्र" में कहा है कि 'अपूर्वार्थ' विशेषण भी निष्फल नहीं है क्योंकि धारावाहिक ज्ञानों से अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पाती है अतः धारावाहिक ज्ञान की व्यावृत्ति करना ही उसका फल है। यों तो वह विशेषण केवल स्वरूप के निरूपण करने में तत्पर है फिर भी परस्पर विरोध दोष नहीं है।

यहाँ पर "निर्दोष कारणजन्यत्व" का निरसकरण करते हैं। यदि ज्ञान के उत्पादक कारणों की निर्दोषता अन्य ज्ञान से जानी जाती है तब तो उस अन्य ज्ञान की निर्दोषता भी अन्य ज्ञान से जानी जावेगी पुनः यही धारा असंख्य ज्ञानों तक चलते-चलते बहुत बड़ी अनवस्था आकाश पर्यंत फैल जावेगी। यदि आप मीमांसक प्रथम ज्ञान के उत्पादक कारणों की निर्दोषता द्वितीय ज्ञान से जानेंगे और द्वितीय ज्ञान की निर्दोषता प्रथम ज्ञान से जानेंगे तब तो अन्योन्याश्रय दोष तैयार खड़ा है। अतः ज्ञान के उत्पादक चक्षु आदि इंद्रियों की निर्दोषता—निर्मलता आदि को न कोई प्रत्यक्ष (इंद्रिय-प्रत्यक्ष) से जान सकते हैं न अनुमान ज्ञान से।

दूसरी बात यह है कि अनेक भ्रांत ज्ञानों को उत्पन्न करने वाले कारणों को भी लोग निर्दोष समझ बैठे हैं। इसीलिये अनुमान से भी इस प्रकार संपूर्ण ज्ञानों की निर्दोषकारणों से उत्पत्ति होना नहीं जान सकते हैं क्योंकि उस अनुमान की भी निर्दोष कारणों से उत्पत्ति हुई है इस बात को भी जानना कठिन है। व्याप्ति ज्ञान की निर्दोषता का ज्ञान तो और भी कठिन है। चक्षु आदिक अतींद्रिय इंद्रियों की निर्दोषता जानना कठिन है। बाहर से किसी की निर्दोष चक्षु भी सदोष सदृश दीखती है और दूषित भी चक्षु निर्दोष सदृश दिख जाती है।

बौद्धादि भिन्न २ दार्शनिक सत्त्व हेतु से पदार्थों को क्षणिक, नित्य आदि सिद्ध करते हैं और जैनाचार्य इसी सत्त्व हेतु से सभी पदार्थों को "नित्यानित्य" सिद्ध कर देते हैं क्योंकि जैनों ने सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य माना है। तथा कामधेनु के समान इच्छित अर्थ को कहने वाले वेदवाक्यों से ब्रह्मवादी अद्वैत को, कर्मकांडी क्रियाकांड को, हिंसा पोषकजन यज्ञ को आदि २ रूप से अनेक विद्वानों ने अपने २ मत पुष्ट कर लिये हैं। ये सभी अपने २ आगम ज्ञान के कारणों को निर्दोष मान बैठे हैं। अतः प्रत्यक्ष अनुमान, आगम ज्ञान के कारणों की निर्दोषता को समझना कठिन समस्या है।

---

1 मरीचिकायां जलज्ञाने। 2 तद्देशोपसर्पणं स्वकारणं बाधककारणमित्यर्थः। 3 बाधस्य इति पा०। (ब्या० प्र०) 4 नेदं अनुमिति।

प्रमाणत्वप्रसक्तेः। अथ[1] [2]यथार्थग्रहणनिबन्धना बाधानुत्पत्तिरप्रमाणाऽसंभविनी प्रमाणत्वसाधिनीति मतं, [3]कुतस्तस्याः[4] सत्यार्थग्रहणनिबन्धनत्वनिश्चयः ? [5]संवेदः प्रमाणत्वनिश्चयादिति चेत् [6]परस्पराश्रयः सति प्रमाणत्वनिश्चये संवेदनस्य यथार्थग्रहणनिबन्धनबाधानुत्पत्तिनिर्णयस्तस्मिंश्च सति प्रमाणत्वनिश्चय इति। [7]अन्यतः प्रमाणत्वनिश्चये किमेतया बाधानुत्पत्त्या ? [8]न च बाधानुत्पत्तेर्यथार्थग्रहणनिबन्धनत्वं स्वत एव निश्चीयते, [9]सन्देहाभावप्रसङ्गात्। दृश्यते च सन्देहः, किं [10]यथार्थग्रहणाद्वोत्र[11] बाधानुत्पत्तिराहोस्वि-

---

पुनः यदि आप प्रश्न करें कि आप जैन प्रमाण की प्रमाणता कैसे मानते हैं तो इस पर ग्रंथकार स्वयं आगे समाधान करेंगे कि प्रमाण की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः है और अनभ्यास दशा में पर से होती है।

[बाधा रहितत्व हेतु का खंडन]

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि "बाधा की उत्पत्ति न होने से प्रमाण में प्रमाणता आती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। मरीचिका में जल रूप मिथ्याज्ञान में भी अपने बाधक कारणों की विकलता-न्यूनता होने से "यह जल नहीं है" इस प्रकार से बाधक की उत्पत्ति असंभव होने से प्रमाणता का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् जैसे किसी ने दूर चमकती हुई बालू का ढेर देखा और वहाँ जाकर स्नान, पान आदि के लिये पानी का निर्णय नहीं किया अपने काम में लग गया। उसे बाधा की उत्पत्ति तो नहीं हुई कि "यह जल नहीं है" पुनः यह मिथ्याज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा किन्तु ऐसी बात तो है नहीं।

मीमांसक—यथार्थ को ग्रहण करने में कारणभूत अप्रमाण में असंभवि अर्थात् प्रमाण में संभव रूप बाधा का उत्पन्न न होना ही प्रमाणता को सिद्ध करता है।

शून्यवादी—यदि ऐसा आपका मत है तब तो वह बाधा की अनुत्पत्ति सत्यार्थ को ग्रहण करने में कारणभूत है यह निश्चय भी कैसे होगा ?

मीमांसक—ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय होने से हो जावेगा।

शून्यवादी—ऐसा मानने पर तो परस्पराश्रय दोष आता है प्रमाणता का निश्चय होने पर ज्ञान में यथार्थ ग्रहण निमित्तक बाधा की उत्पत्ति नहीं है ऐसा निर्णय होगा और बाधा की उत्पत्ति नहीं है इस बात का निश्चय हो जाने पर प्रमाणता का निश्चय होगा। इस प्रकार से दोनों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि अन्य प्रमाणांतर से प्रमाणता का निश्चय होना कहो तो पुनः इस बाधा की अनुत्पत्ति से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात् आपने बाधा की उत्पत्ति न होना इसी से ज्ञान को वास्त-

---

1 मीमांसकः। 2 ननु स्वकारणसकलत्वनिबंधना। (ब्या० प्र०) 3 तत्त्वोपप्लववादी। 4 तदीति चेत्। 5 मीमांसकः। 6 तत्त्वोपप्लववादी। 7 प्रमाणान्तरात्। 8 मीमांसकाभिप्रायं निराकुर्वन्नाह तत्त्वोपप्लववादी। 9 अन्यथा। 10 अन्यथा। न चैवं। (ब्या० प्र०) 11 नः अस्माकम्।

त्स्व[1]कारणवैकल्यादित्युभयसंस्पर्शिप्रत्ययोत्पत्तेः। [2]क्वचिद्दूरे मरीचिकायां जलज्ञाने स्वकारणवैकल्याद्बाधकप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसिद्धेरभ्यासदेशे[3] तत्कारणसाकल्याद्बाधकज्ञानोत्पादात्।

[अर्थज्ञानानंतरमेव बाधानुत्पत्तिः ज्ञानस्य प्रमाणतां व्यवस्थापयति सर्वदा वा ?]

[4]किञ्चार्थसंवेदनानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिस्तत्प्रामाण्यं व्यवस्थापयेत् सर्वदा वा ? न तावत्प्रथम-

---

विक माना है। अब ज्ञान में यथार्थता को ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नहीं है इस बात का निर्णय आप अन्य प्रमाण से मान रहे हैं। पुनः ज्ञान वास्तविक है इस बात को आप अन्य प्रमाण से ही क्यों न मान लीजिये, तब तो बाधा की अनुत्पत्ति हेतु से क्या कार्य सिद्ध होगा ? अर्थात् इससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा क्योंकि बाधा की उत्पत्ति न होने से यथार्थ ग्रहण निर्बाधत्व स्वतः ही निश्चित नहीं होता है। अन्यथा संदेह का ही अभाव हो जावेगा, किन्तु संदेह तो देखा जाता है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

हम लोगों को इस विषय में यथार्थ ग्रहण करने से क्या बाधा की उत्पत्ति नहीं है ? अथवा अपने बाधक कारणों की विकलता से बाधा की उत्पत्ति नहीं है ? इस प्रकार से उभय संस्पर्शि—संशय ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। कहीं दूर स्थान पर मरीचिका में जल ज्ञान के होने पर अपने बाधक कारणों की विकलता से बाधक ज्ञान की उत्पत्ति न होना प्रसिद्ध है और समीप देश में अपने बाधक कारणों की सकलता—पूर्णता होने से बाधक ज्ञान उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। जैसे किसी ने दूर से चमकती रेत को देखकर उसे जल समझ लिया किंतु वहाँ से पानी मंगाने का, स्नान आदि करने का उसे प्रसंग नहीं आया अतः उसमें बाधक कारण न मिलने से उस मिथ्याज्ञान में भी बाधा नहीं आती है और कोई मनुष्य निकट के तालाब के एक तरफ सूखी हुई चमकती रेत देख कर उसमें पानी भरने के लिये चल पड़ा, गया तो लज्जित होकर वापस आया, खिन्न होकर सोचने लगा कि मेरा जल ज्ञान गलत निकल गया। अतः इस व्यक्ति को निकट में बाधा के उत्पन्न हो जाने से जल ज्ञान में सचाई नहीं रही अतः हम लोगों को "बाधा की अनुत्पत्ति" में संशय बना ही रहता है।

[बाधा की अनुत्पत्ति पदार्थ के ज्ञान के अनंतर ही ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करती है या हमेशा ही ? पुनरपि तत्त्वोपप्लववादी दूसरी तरह से प्रश्न कर रहे हैं]

दूसरी बात यह है कि अर्थ ज्ञान के अनंतर ही बाधा का न होना उस ज्ञान को प्रमाणता को व्यवस्थापित करता है अथवा सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति का न होना ? प्रथम विकल्प तो संभव नहीं है क्योंकि किसी मिथ्याज्ञान में भी अनंतर ही बाधा की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। किसी ने सीप को चाँदी समझा और तत्काल ही उसे गलाने, जेवर आदि बनाने का प्रसंग नहीं आया तो भी इस मिथ्याज्ञान को सच्चा नहीं माना जाता है।

---

1 तद्देशोपसर्पणरूपबाधककारणत्व। 2 स्वकारणवैकल्यावस्थानं प्रसज्यते। (ब्या० प्र०) 3 समीपे। 4 तत्त्वोपप्लववादी।

विकल्पः संभवति, मिथ्याज्ञानेपि क्वचिदनंतरं बाधानुत्पत्तिदर्शनात्। सर्वदा बाधानुत्पत्तेः संविदि प्रामाण्यनिश्चयश्चेन्न[1], [2]तस्याः प्रत्येतुमशक्यत्वात्, संवत्सरादि[3] विकल्पेनापि [4]बाधोत्पत्तिदर्शनात्। चिरतरकालं बाधस्यानुत्पत्तावपि स्वकारणवैकल्यात् कालान्तरेप्यसौ[5] नोत्पत्स्यते इति कुतो [6]निश्चयनीयः[7] ? क्वचित्तु मिथ्याज्ञाने [8]तज्जन्मन्यपि बाधा नोपजायते, [9]स्वहेतुवैकल्यात्। न [10]चैतावता [11]तत्प्रामाण्यम्।

यदि दूसरा विकल्प लेवो कि सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति न होने से ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय होता है तब तो यह कथन भी ठीक नहीं है। सर्वदा ही बाधा की उत्पत्ति का नहीं होना यह समझना ही अशक्य है। संवत्सर-वर्ष आदिकों के भेद से भी बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है। बहुत काल तक बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी अपने कारणों की विकलता होने से कालांतर में भी वह "बाधा का न होना" नहीं हो सकेगा—बाधा न होना असंभव है। यह बात भी आप मीमांसक किस प्रमाण से निश्चित करेंगे ? अर्थात् सीप में चांदी का ज्ञान हो गया और यह कल्पना बहुत दिनों तक बनी रही। यह सीप है इस प्रकार की प्रतीति कराने वाला कारण नहीं मिल सका तो बाधा की उत्पत्ति नहीं भी होती है और बाधक कारण मिलने पर बाधा उत्पन्न हो भी जाती है। कहीं पर मिथ्याज्ञान में तो उस जन्म में भी बाधा उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि अपने हेतु की विकलता है। अर्थात् बाधक कारण नहीं भी मिलते हैं। एतावन्मात्र से—हमेशा बाधा की उत्पत्ति न होने मात्र से वह अर्थ ज्ञान प्रमाण हो जावे ऐसी बात भी नहीं है।

[एक देश में स्थित मनुष्य के ज्ञान में बाधा की अनुत्पत्ति प्रमाणता का हेतु है या सर्वत्र बाधा की उत्पत्ति न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

दूसरी तरह से पुनः हम प्रश्न करते हैं कि किसी देश में स्थित ज्ञाता—मनुष्य को बाधा की उत्पत्ति न होना अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण है ? या सभी स्थान में रहने वाले पुरुषों की बाधानुत्पत्ति अर्थ ज्ञान में प्रमाणता का कारण है ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है अन्यथा किसी मिथ्याज्ञान को भी प्रमाण मानना पड़ेगा।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है कहीं दूर में ठहरे हुए पुरुष को बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी समीप में बाधा की उत्पत्ति देखी जाती है। सर्वत्र स्थित सभी देशों में रहने वालों को बाधा की उत्पत्ति नहीं है इसमें संदेह है क्योंकि समीप में बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी दूर में बाधा की उत्पत्ति संभव है।

---

1 तस्योपप्लवबाधी। 2 बाधानुत्पत्तेः। 3 भेदेन। 4 स्वकारणवैकल्यात्। शुक्तिकायां रजतज्ञाने। (ब्या० प्र०) 5 बाधानुत्पत्तिः। 6 तस्योपप्लवबाधी मीमांसकं प्रत्याह—हे मीमांसक त्वया कुतः प्रमाणान्निश्चयनीयो द्वितीयोपि विकल्पः ?। 7 असर्वविदेदं प्रत्येतुमशक्यमिति भावः। (ब्या० प्र०) 8 विवक्षितभवे। (ब्या० प्र०) 9 हेतुः बाधकारणम्। 10 सर्वदा बाधानुत्पत्त्या। 11 अर्थवेदनस्य।

[एकस्मिन् देशे स्थितस्य मनुष्यस्य ज्ञाने बाधानुत्पत्तिः प्रामाण्यहेतुः सर्वेषं वा ?]

किञ्च क्वचिद्देशे स्थितस्य बाधानुत्पत्तिः प्रतिपत्तुः [1]सर्वत्र वार्थसंविदि प्रामाण्यहेतुः ? न तावत्प्रथमः पक्षः—[2]कस्यचिन्मिथ्याववोधस्यापि [3]प्रमाणत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः, कस्यचिद्दूरे स्थितस्य [4]बाधानुत्पत्तावपि समीपे बाधोत्पत्तिप्रतीतेः सर्वत्र स्थितस्य बाधानुत्पत्तिसन्देहात् । समीपे [5]बाधानुत्पत्तावपि दूरे बाधोत्पत्तिसंभावनाच्च ।

[कस्यचित् मनुष्यस्य बाधानुत्पत्तिः सर्वस्य वा ?]

किञ्च [6]कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः सर्वस्य वा ? न तावत्कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः[7] संविदि

दूसरा प्रश्न यह है कि—

[किसी को बाधा का उत्पन्न न होना ज्ञान में प्रमाणता का हेतु है या सभी को बाधा का न होना प्रमाणता का हेतु है ?]

किसी को बाधा की उत्पत्ति नहीं है या सभी को ? किसी को बाधा की उत्पत्ति नहीं है यह बात ज्ञान में प्रमाणता का हेतु नहीं हो सकती है क्योंकि विपर्यय ज्ञान में भी यह बात मौजूद है। मरीचिकादि के जलज्ञान में देशान्तर के गमन आदि से बाधा की उत्पत्ति न होने पर भी प्रमाणता का अभाव है।

यदि दूसरा विकल्प लेवो कि सभी को बाधा की उत्पत्ति का न होना ही अर्थज्ञान में प्रमाणता का हेतु है यह पक्ष भी ठीक नहीं है "सभी को बाधा की उत्पत्ति नहीं है" इस बात को अल्पज्ञ जनों के द्वारा जानना शक्य नहीं है अथवा शक्य मानों तो जो जानेगा वही मनुष्य सर्वज्ञ हो जावेगा। पुनः सभी के सर्वज्ञ हो जाने से "यह असर्वज्ञ (अल्पज्ञ) है।" यह व्यवहार ही समाप्त हो जावेगा क्योंकि सभी देश, कालवर्ती पुरुष की अपेक्षा से बाधकाभाव के निर्णय को सर्वज्ञ के साथ अन्यथानुपपत्ति है। इसलिये बाधा से रहित होने से ज्ञान प्रमाण है यह कथन ठीक नहीं है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने मीमांसक से प्रश्न किया कि आप ज्ञान को सत्य कैसे मानते हैं ? तब मीमांसक ने कहा कि ज्ञान में बाधा की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिए उस ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध है। तब तत्त्वोपप्लववादी अनेकों प्रश्न उठा रहा है। पहले उसने कहा कि मिथ्याज्ञान में भी कभी-कभी बाधा की उत्पत्ति नहीं होती है तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो जावेगा ? देखिये ! कोई मनुष्य सीप को चाँदी समझकर उसे तिजोरी में रख देता है बहुत दिनों तक उसे चाँदी ही मान रहा है तो क्या यह ज्ञान प्रमाण है ? यदि कहो कि बाधा का न होना—मतलब जैसे को तैसा ग्रहण करना, तब तो यह बात भी आप कैसे समझेंगे ?

यदि कहो ज्ञान में प्रमाणता है इस बात के निश्चय से हम समझ लेंगे कि यह सत्यार्थ को

---

1 दूरे समीपे च स्थितस्य प्रतिपत्तुर्बाधानुत्पत्तिः। 2 पुंसः। 3 बाधककारणवैकल्यात्। 4 मरीचिकायां। (ब्या० प्र०) 5 आसन्नतैमिरिकस्य। (ब्या० प्र०) 6 संविदि प्रामाण्यहेतुः। (ब्या० प्र०) 7 संविदि प्रामाण्यहेतुः। (ब्या० प्र०)

प्रामाण्यहेतुः, [1]विपर्ययेपि भावात्। मरीचिकादौ तोयज्ञाने [2]देशान्तरगमनादिना बाधानुत्पत्तावपि प्रमाणत्वाभावात्। सर्वस्य[3] बाधानुत्पत्तिरर्थसंवेदने प्रामाण्यकारणमिति चेन्न, तस्याः किञ्चिज्ज्ञैर्ज्ञातुमशक्तेः, शक्तौ वा तस्य सर्वज्ञत्वापत्तेरसर्वज्ञव्यवहाराभावप्रसङ्गात्[4] [5]सर्वदेशकालपुरुषापेक्षया[6] बाधकाभावनिर्णयस्यान्यथानुपपत्तेः[7]। इति न बाधारहितत्वेन संवेदनस्य प्रामाण्यम।

ग्रहण करने वाला है तो भी ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय, बाधा के न होने से है और बाधा का न होना ज्ञान की प्रमाणता से है मतलब अन्योन्याश्रय दोष आ गया। यदि ज्ञान की प्रमाणता बाधा के उत्पन्न होने से है और बाधा का न होना सत्यार्थ ग्रहण से है पुनः सत्यार्थ ग्रहण का निर्णय अन्य प्रमाण से है तब तो अनवस्था, चक्रक दोष आते ही रहेंगे।

प्रश्न ऐसा भी होता है कि चाँदी को चाँदी और सीप को सीप रूप से ग्रहण करने से बाधा की उत्पत्ति नहीं है अथवा बाधक कारण नहीं मिलने से बाधा नहीं है ?

यह चाँदीको चाँदी ही समझ रहा है यह निर्णय भी कौन देवे ? यदि कहो बाधक कारण नहीं मिले हैं तब तो किसी ने सीप को चाँदी मानकर बहुत दिनों तक पेटी में रख रखा, उसका उपयोग करने का अवसर नहीं मिला, बाधक कारण नहीं बने फिर भी वह ज्ञान प्रमाणीक नहीं है।

ऐसा भी प्रश्न होता है कि किसी पदार्थ को देखते ही जो ज्ञान होता है उसमें उसी क्षण बाधा उत्पन्न नहीं हुई इसलिये प्रमाणीक है या उसमें कभी भी बाधा उत्पन्न होगी ही नहीं इसलिए प्रमाणीक है ?

इस पर समाधान यह है कि किसी ने पुरुष को कुछ अंधेरे में ठूंठ समझा, उसी क्षण या कुछ क्षण तक उसे उस ज्ञान में बाधा नहीं दिखी तो क्या यह ज्ञान सच्चा माना जावेगा ? अथवा किसी ने अपने शरीर और कुटुम्बियों को जीवन भर अपना मान रखा है तो क्या यह ज्ञान सच्चा है ?

दूसरी बात यह भी है कि कभी भी बाधा उत्पन्न नहीं होगी यह निर्णय कौन देवे ? हो सकता है कुछ दिन बाद उसे पुत्र की स्वार्थपरता देखकर वैराग्य हो जावे अतः मिथ्याज्ञान में कभी बाधा की उत्पत्ति हो भी जाती है और कभी नहीं भी होती है। कभी किसी को मिथ्याज्ञान में जन्म भर बाधा उत्पन्न ही नहीं होती है। सीप को चाँदी ही समझता रहता है, किन्तु इतने मात्र से—बाधा के न होने मात्र से वह ज्ञान प्रमाणीक नहीं है ?

पुनः प्रश्न होता है कि कलकत्ते आदि किसी एक देश में रहने वाले मनुष्य को उस ज्ञान में बाधा नहीं है या सर्वत्र दिल्ली, बम्बई आदि में भी रहने वाले को उस ज्ञान में बाधा नहीं है ? इसका भी बड़ा मजेदार ही उत्तर है। कलकत्ते के मनुष्य ने सीप को चाँदी समझा उसमें उसे बाधा नहीं

---

1 मिथ्याज्ञाने। (ब्या० प्र०) 2 मरीचिकादेशतोऽन्यदेशांतरं। (ब्या० प्र०) 3 द्वितीयविकल्पः। 4 सर्वे सर्वज्ञा भवेयुरिति। 5 निराकृतहेतूनां संग्रहो दर्शितः। (ब्या० प्र०) 6 पुरुषापेक्षबाधकाः इति पा०। (ब्या० प्र०) 7 सर्वज्ञमन्तरेण। (ब्या० प्र०)

[तृतीयेन प्रवृत्तिसामर्थ्यहेतुना आगमस्य प्रमाणत्वनिराकरणम्]

[1]नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येन, [2]अनवस्थाप्रसक्तेः। [3]प्रवृत्तिसामर्थ्यं हि [4]फलेनाभिसम्बन्धः [5]सजातीयज्ञानोत्पत्तिर्वा ? [7]यदि फलेनाभिसम्बन्धः सोवगतोनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? न तावदनवगतः, अतिप्रसङ्गात्[8]। सोवगतश्चेत् [9]तत एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एव, परस्पराश्रयानुषङ्गात्[10] सति फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमे[11] [12]तस्य प्रमाणा-

---

नहीं दिखी तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो गया ? अथवा सर्वज्ञ भ्रमरहित मनुष्य ने या बहुत से जनों ने सीप को चाँदी नाना और सच्चाविर्णय नहीं कर सके, कुछ दिन बाधा नहीं आई, तो क्या वह ज्ञान प्रमाण हो गया ?

पुनरपि प्रश्न होता है कि एक व्यक्ति को किसी ज्ञान में बाधा नहीं आई, तो क्या इतने मात्र से वह ज्ञान प्रमाण हो गया या सभी को उसमें बाधा नहीं आई ?

यदि एक व्यक्ति के संबंध में बात है तो वही सीप में चाँदी के विपर्यय ज्ञान में उसे बाधा नहीं दिखी तो क्या वह ज्ञान प्रमाण है ? यदि सभी को बाधा नहीं है ऐसा कहो तब तो आप मीमांसक पहले सर्वज्ञ बनो, सारे विश्व में सभी को देखो, फिर निर्णय दो। यदि आपको यह बात स्वीकार नहीं है तब तो आप अल्पज्ञ "सभी को इस ज्ञान में बाधा नहीं है" ऐसा निर्णय कैसे करोगे ? इस प्रकार से "बाधा की उत्पत्ति न होने से" ज्ञान में प्रमाणता आती है यह बात प्रमाण की कोटि में नहीं उतरती है इस प्रकार से उत्पत्तिवादी के मुख से जैनाचार्यों ने मीमांसक का खंडन कराया है।

अब जैनाचार्य इस बात का निश्चय कराते हैं कि जहाँ पर "स्वार्थ निश्चायक ज्ञान" है वहाँ पर कोई भी बाधा नहीं आती है, वही ज्ञान प्रमाण है और जहाँ स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान का अभाव नहीं है वहाँ पर बाधायें नहीं होते हुए भी ज्ञान प्रमाण नहीं है अप्रमाण ही है। इसलिये ज्ञान की प्रमाणता को बाधानुत्पत्ति से मानना ठीक नहीं है।

[नैयायिक प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान की प्रमाणता बताते हैं उसका खंडन]

यदि आप नैयायिक तीसरा पक्ष मान्य करें कि प्रवृत्ति की सामर्थ्य से प्रमाण में प्रमाणता है सो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनवस्था का प्रसंग आता है। अच्छा आप यह तो बताइये कि वह प्रवृत्ति की सामर्थ्य है क्या ? फल (स्नानपानादि रूप) से अभिसंबंध होना या पुरुष को तदात्मीय ज्ञान की उत्पत्ति का होना ?

यदि फल से अभिसंबंध कहो तो वह अवगत—जानी गई होकर ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती

---

1 प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति नैयायिकेनोक्ते। [2] प्रत्याह उत्पत्तिवादी। 2 फलज्ञानजनकत्वेन उदस्यनवस्था। 3 उत्पत्तिवादी कश्चिद् प्रति पृच्छति। 4 सामर्थ्य पुनरस्याः 'फलेनाभिसम्बन्ध' इति पाठान्तरम्। 5 स्नानपानादिना। 6 पुंसः। 7 उत्पत्तिवादी। 8 सर्वेषां सुखादिसंवेदनेनाभिसम्बन्धप्रसङ्गात्। 9 विवक्षितात्। (ब्या० प्र०) 10 अवस्थानुषङ्गात् इति पा०। (ब्या० प्र०) 11 प्रमाणस्य। (ब्या० प्र०) 12 विज्ञानस्य।

त्यनिश्चयात् तस्मिंश्च सति [1]तेन [2]तदवगमात्। अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति [3]चेत्तदन्यत्प्रमाणं कुतः; प्रामाण्यव्यवस्थामाप्स्यति[4] ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति [5]चेत् तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेदित्यादि पुनरावर्त्तत इति [6]चक्रकप्रसङ्गः। [7]एतेन[8] सजातीयज्ञानोत्पत्तिः प्रवृत्तिसामर्थ्यं संवित्प्रामाण्यस्यागमकं प्रतिपादितं, सजातीयज्ञानस्य प्रथमज्ञानात्प्रामाण्यनिश्चये परस्पराश्रयणस्याविशेषात्, [9]प्रमाणान्तरात्तत्प्रमाण्यनिर्णयेनवस्थानुषङ्गात्।

है या अनवगत—नहीं जानी गई को ? अनवगत (अज्ञात) तो आप कह नहीं सकते अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा अर्थात् पर्वतादि पर धूम को नहीं देखकर भी अग्नि का निश्चय हो जावेगा।

यदि कहो कि जो फल से अभिसंबंधित-जाना हुआ होकर ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करता है तो वह उसी प्रमाण से अवगत-ज्ञात है या अन्य प्रमाण से ? उसी से ज्ञात तो आप कह नहीं सकते अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जावेगा। फल से अभिसंबंध का ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होगा और उसमें प्रमाणता का निश्चय होने से उस ज्ञान से फल के अभिसंबंध का निश्चय होगा। दूसरा पक्ष लेवो कि अन्य प्रमाण से वह जाना गया है तो वह अन्य प्रमाण भी किस प्रमाण से प्रमाणता को प्राप्त करता है ? यदि आप कहें कि प्रवृत्ति की सामर्थ्य से, तो पुनः वह प्रवृत्ति की सामर्थ्य भी यदि फल से अभिसंबंधित है तो वह अवगत होकर ज्ञान की प्रमाणता को कराती है या अनवगत-अज्ञात रहकर ? इत्यादि रूप से पुनः-पुनः उन प्रश्नों की आवृत्ति होने से चक्रक दोष का प्रसंग आता है।

दो बार की आवृत्ति को परस्पराश्रय दोष एवं तीन बार की आवृत्ति को चक्रक दोष कहते हैं।

इसी उक्त कथन से "सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति रूप प्रवृत्ति की सामर्थ्य ज्ञान की प्रमाणता को बतलाती है" इस कथन का भी निराकरण कर दिया है क्योंकि सजातीय ज्ञान में प्रथम ज्ञान से प्रमाणता का निश्चय मानने पर परस्पराश्रयदोष समान ही है। तथा उस सजातीय ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय करने पर अनवस्था का प्रसंग दुर्निवार है।

---

1 विज्ञानेन। 2 फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमात्। 3 चेत्तदा तदन्यत्प्रमाणं इति पा०। (ब्या० प्र०) 4 प्राप्नोति। 5 चेत्तत्प्रवृत्ति इति पा०। (ब्या० प्र०) 6 चक्रकं विवृणोति।—तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदा सोवगतोनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? पक्षद्वयेऽपि तदेवमावर्तमानं चक्रकं। सोवगतश्चेत्तत एवं प्रमाणात्प्रमाणतो वा ? न तावत्तत एवं परस्पराश्रयानुषङ्गात्। अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति चेत्तदन्यत्प्रमाणं कुतः प्रामाण्यव्यवस्थामाप्स्यति ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत्तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोऽनवगतो वा संविदाकारेण कारकसाकल्यज्ञानं चक्रकं भूयः भवति। 7 फलाभिसम्बन्धतज्ज्ञप्रवृत्तिसामर्थ्यनिराकरणद्वारेण इत्यन्तं। (ब्या० प्र०) 8 प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य फलेनाभिसम्बन्धस्य निराकरणद्वारेण। 9 तच्च सजातीयज्ञानं।

[प्रवृत्तिशब्दस्य कोऽर्थ इति तत्त्वोपप्लववादी नैयायिकं पृच्छति]

[1]प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुः प्रमेयदेशोपसर्पणं प्रमेयस्य प्रतिपत्तौ स्वादप्रतिपत्तौ वा ? न तावदप्रतिपत्तौ, [2]सर्वत्र सर्वस्य[3] प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । [4]तत्प्रतिपत्तौ [5]वेल्लिश्चितप्रामाण्यात्[6] संवेदनात्तत्प्रतिपत्तिरनिश्चितप्रामाण्याद्वा ? प्रथमपक्षे परस्पराश्रयणमेव, सति प्रवर्तकस्य[7] संवेदनस्य प्रामाण्यनिश्चये ततः प्रमेयप्रतिपत्तिः, सत्यां च प्रमेयप्रतिपत्तौ प्रवृत्तेः सामर्थ्यात्तत्प्रामाण्यनिश्चयात् । [8]प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ प्रथमसंवेदनस्य वैयर्थ्यं, स एव च [9]पर्यनुयोगोपक्षस्यापतिकरः । [10]द्वितीयपक्षे तु प्रामाण्यनिश्चयानर्थक्यं, स्वयमनिश्चितप्रामाण्यादेव संवेदनात्प्रमेयप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसिद्धेः । [11]संशयात्प्रवृत्तिदर्शनाददोष इति चेत् [12]किमर्थोऽयमादरो

[प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी नैयायिक से प्रश्न करता है ।]

अच्छा ! आप यह तो बतलाइये कि प्रवृत्ति शब्द का अर्थ क्या है ?

नैयायिक—ज्ञाता मनुष्य का प्रमेय-जानने योग्य देश को प्राप्त करना प्रवृत्ति है ।

तत्त्वोपप्लववादी—तब तो यह ज्ञाता की प्रवृत्ति प्रमेय का ज्ञान होने पर प्रमेय देश को प्राप्त करती है या प्रमेय का ज्ञान नहीं होने पर ?

द्वितीय पक्ष लेवो तो सभी प्रमेयों (जानने योग्य पदार्थों) में सभी की प्रवृत्ति हो जावेगी । यदि प्रथम पक्ष लेवो कि प्रवृत्ति प्रमेय को जानकर उसमें प्रवृत्ति करती है तो प्रमाणभूत संवेदन से—सच्चे ज्ञान से उस प्रमेय का ज्ञान हुआ या अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से ?

प्रथम पक्ष में तो परस्पराश्रय ही है । प्रवर्तक ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होने पर उससे प्रमेय का ज्ञान होगा और प्रमेय का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उसकी प्रमाणता का निश्चय होगा । अतएव दोनों में से एक भी सिद्ध नहीं होंगे ।

यदि आप नैयायिक प्रमाणांतर से उसका ज्ञान मानें तो प्रथम ज्ञान व्यर्थ ही हो जावेगा एवं वे ही पूर्वोक्त प्रश्न उठते रहने से अनवस्था आ जावेगी । द्वितीय पक्ष लेवो कि अनिश्चित है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से निश्चय होता है तो प्रमाणता का निश्चय करना ही व्यर्थ हो जावेगा क्योंकि आपने स्वयं अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से ही प्रमेय ज्ञान में प्रवृत्ति स्वीकार कर ली है ।

नैयायिक—संशय ज्ञान से भी तो प्रवृत्ति देखी जाती है अतः कोई दोष नहीं है ।

शून्यवादी—पुनः किसलिये यहाँ प्रमाण की परीक्षा करना है, जबकि सच्चे और झूठे-संशयादि

---

1 तत्त्वोपप्लववादी इतः परं प्रवृत्ति विचारयति । 2 प्रमेये । 3 सर्वत्र स्थितस्य पुंसः । (ब्या० प्र०) 4 नैयायिकः । 5 तत्त्वोपप्लववादी । 6 सतः । (ब्या० प्र०) 7 प्रवृत्तिहेतुत्वात् । (ब्या० प्र०) 8 को नैयायिक । 9 प्रमाणान्तरस्यापि । प्रमाणेऽप्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रवृत्तिरूपं प्रतिपत्तुरित्यादिग्रन्थावतारः । 10 अनिश्चित प्रामाण्यादिति । 11 नैयायिकः । 12 तत्त्वोपप्लववादी ।

प्रमाणपरीक्षणम् ? [1]लोकवृत्तानुवादार्थमिति[2] चेत्तर्हि[3] लोकवृत्तं[4] [5]कुतो निर्विवादं प्रसिद्धं यस्यानुवादार्थं प्रमाणशास्त्रप्रणयनम् ? न तावत्स्वतः[6] एव, [7]प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ[8] प्रवृत्ति-सामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति[9] परतः [10]प्रामाण्यानुवादविरोधात् । [11]स्वतः प्रसिद्धं हि[12] प्रमाण-प्रमेयरूपं लोकवृत्तं तथैवानुवदितुं [13]युक्तं [14]नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । [15]यथानुमतेस्तथापि-स्तथैव[16] लोकवृत्तं प्रसिद्धं [17]स्वत इति चेन्न, स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमित्य[18]न्यैर्लोक-वृत्तस्यानुवादे[19]तथैव प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । [20]स मिथ्यानुवाद इति चेत् तत्रापि[21] मिथ्या-नुवादः कुतो न भवेत् ? [22]तथा लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वादिति चेत् [23]परोऽप्येवं ब्रूयात् ।-[24]तथैव

उसी ज्ञान प्रवृत्ति करा देते हैं।

नैयायिक—लोक की प्रवृत्ति को सार्थक करने के लिये ही प्रमाण की परीक्षा है। मतलब प्रवृत्ति तो सच्चे और झूठे-संशयादि, सभी ज्ञानों से होती रहती है फिर भी लोक व्यवहार के लिये प्रमाण की परीक्षा की जाती है।

मूलवादी—तब तो प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार भी किस प्रकार से निर्विवाद सिद्ध है जिसका अनुवाद—जिसको सार्थक करने के लिये प्रमाण शास्त्र की रचना की जावे। यदि आप कहें कि स्वतः है तो यह कथन तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि प्रमाण से अर्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अर्थवान् प्रमाण है इस प्रकार सिद्ध हो जाने से तो आपके सिद्धान्तानुसार ज्ञान में पर से प्रमाणता का मानना विरुद्ध हो जावेगा, क्योंकि स्वरूप से स्वतः ही प्रसिद्ध प्रमाण और प्रमेय के स्वरूप लोक व्यवहार को उसी प्रकार से आपके प्रमाण शास्त्र में कहना युक्त है अन्यथा पर से प्रमाणता कहना युक्त नहीं होगा, क्योंकि अति प्रसंग आ जाता है।

नैयायिक—जिस प्रकार से (पर से प्रमाणता प्रकार से) हम लोग कहते हैं उसी प्रकार से ही लोक-व्यवहार प्रसिद्ध है स्वतः नहीं है।

मूलवादी—ऐसा नहीं कहना अन्यथा स्वतः ही सभी प्रमाणों में प्रमाणता आती है। इस प्रकार से अन्य मीमांसक आदि ने जो लोक व्यवहार स्वीकार किया है उसी प्रकार से उसको भी सिद्धि

---

1 नैयायिकः। 2 सार्थकम्। 3 तत्सोपप्लववादी। 4 प्रमाणप्रमेयरूपो व्यवहारो लोकवृत्तम्। 5 स्वतो वा परतो वा। 6 स्वरूपतः। 7 प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमित्यनेन प्रकारेण नैयायिकप्रसिद्धं परतः प्रामाण्यापादकं वचनं। (व्या० प्र०) 8 सत्यां। (व्या० प्र०) 9 निश्चितप्रामाण्यं। (व्या० प्र०) 10 नैयायिकस्य। (व्या० प्र०) 11 तत्सोपप्लववादी। 12 परतः प्रामाण्यानुवादविरोधं विधुनोति तत्सोपप्लववादी। 13 सर्वदीये प्रमाणशास्त्रे। 14 परतः प्रकारेण। 15 नैयायिकः। 16 परतः प्रकारेण। 17 "स्वतः" इति भाति। 18 मीमांसकैः। 19 सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यमिति प्रसिद्धिप्रसङ्गात्। 20 स्वतोनुवादः। 21 नैयायिकस्य। 22 नैयायिकः। परतः प्रामाण्यप्रकारेण। 23 मीमांसकः। 24 परपरिकल्पितप्रकारेण। (व्या० प्र०)

लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वे तथानुवादस्य सत्यत्वं, तत्सत्यत्वाच्च तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्व-मितीतरेतराश्रयत्वमप्युभयोः[1] समानम्। [2]तथा [3]लोकवृत्तान्तरस्य[4] प्रसिद्धौ पुनरन-वस्था दुर्निवारैव। इति न प्रवृत्तिसामर्थ्यात्संविदः प्रामाण्यनिश्चयानुवादो[5] युक्तः। ततो न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यं व्यवतिष्ठते।

का प्रसंग आ जावेगा।

नैयायिक—प्रमाणों की प्रमाणता स्वतः मानना मिथ्या है।

शून्यवादी—आप नैयायिक की मान्यता (प्रमाणों की प्रमाणता पर से मानना) भी मिथ्या क्यों नहीं हो जावे?

नैयायिक—नहीं! क्योंकि पर से ही प्रमाण में प्रमाणता आती है यह लोक व्यवहार प्रसिद्ध है।

शून्यवादी—तब तो मीमांसक भी इसी प्रकार से कह सकता है कि स्वतः ही प्रमाण की प्रमाणता प्रसिद्ध है। इस प्रकार से आप दोनों—नैयायिक और मीमांसक समान ही हैं। दोनों ही अपनी-अपनी बात को सत्य कह रहे हैं। पुनः पर से या स्वतः प्रमाण की प्रमाणता रूप से प्रमाण-प्रमेय रूप लोक व्यवहार के प्रसिद्ध हो जाने पर उसका वैसा ही कथन करना सत्य होगा और उसका वैसा ही कथन करना सत्य सिद्ध होने से उस प्रकार का प्रमाण-प्रमेय रूप लोक व्यवहार सिद्ध होगा। इस प्रकार से इतरेतराश्रय दोष तो नैयायिक और मीमांसक दोनों के यहाँ समान ही है।

यदि आप दूसरा पक्ष लेवो कि प्रमाण-प्रमेय रूप लोक व्यवहार पर से निर्विवाद प्रसिद्ध है तब तो यह लोक व्यवहार अन्य लोक व्यवहार से सिद्ध होगा पुनः उसका कथन अन्य लोक व्यवहार से, इस प्रकार अनवस्था दुर्निवार ही है। इसलिये प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय सिद्ध नहीं हो सकता अतः प्रवृत्ति सामर्थ्य से प्रमाणता की व्यवस्था कथमपि शक्य नहीं है।

भावार्थ—नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान की प्रमाणता को प्रवृत्ति की सामर्थ्य से मानते हैं। उनका कहना है कि "प्रमाणतोऽर्थप्रतीतौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणं" अर्थात् ज्ञान से जलादि अर्थ को जानकर उसमें स्नान, पान, अवगाहन आदि रूप से प्रवृत्ति हो जाने की सामर्थ्य से प्रमाण ज्ञान अर्थवान्—प्रयोजनभूत प्रमाणीक है, किन्तु यहाँ तत्त्वोपप्लववादी उसकी इस मान्यता में अनेक दोष दिखाता है। नैयायिक का अभिप्राय है कि 'तालाब में जल है' इस प्रकार से ज्ञान हुआ अब यह ज्ञान सच्चा है या नहीं, इसका निर्णय कौन देवे? उस तालाब के जल में प्रवृत्ति की सामर्थ्य है या नहीं अर्थात् स्नान पानादि क्रियायें हो सकती हैं या नहीं? यदि हो सकती हैं तब तो उस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ही यह जलज्ञान सच्चा सिद्ध हुआ है अन्यथा नहीं, यदि उस जल में स्नानादि क्रियायें नहीं

---

1 नैयायिकमीमांसकयोः। (ब्या० प्र०) 2 परतः प्रामाण्यप्रकारेण (द्वितीयविकल्पः)। (ब्या० प्र०) 3 अन्यस्मात्लोक-वृत्तात्तस्य। प्रकृतलोकवृत्तस्य। (ब्या० प्र०) 4 अनुवादस्य। (ब्या० प्र०) 5 अनुकथनम्। (ब्या० प्र०)

हो सकती है मतलब वहाँ जल न होकर चमकता हुआ बालू का ढेर है अतः यह ज्ञान झूठा सिद्ध है। इस प्रकार से यह नैयायिक प्रमाण की प्रमाणता को सर्वथा पर से ही मानता है।

इस विषय में जैनाचार्यों का तो इतना ही अभिप्राय है कि अभ्यस्त दशा में जलादि पदार्थों के ज्ञान की प्रमाणता स्वतः होती है और अनभ्यस्त दशा में पर से होती है।

यहाँ पर जैनाचार्यों ने तत्त्वोपप्लववादी के मुख से नैयायिक की मान्यता का खंडन कराया है। पहले प्रश्न यह हुआ है कि यह प्रवृत्ति की सामर्थ्य है क्या ? जल के ज्ञान में स्नान पानादि रूप फल से संबंधित होना या जल ज्ञान में सजातीय ज्ञान का होना ?

यदि स्नानादि रूप फल से संबंध होने को प्रवृत्ति की सामर्थ्य कहो तब तो वह जल ज्ञान से फल का सम्बन्ध जाना गया है या नहीं ? यदि अज्ञात कहो तो प्रवृत्ति होना असंभव है। यदि कहो कि फल से सम्बन्धित प्रवृत्ति की सामर्थ्य ज्ञात रूप होकर ज्ञान की प्रमाणता में हेतु है तब तो वह प्रवृत्ति की सामर्थ्य किस ज्ञान से जानी गई है ? उसी ज्ञान से कहो तो अन्योन्याश्रय आवेगा और अन्य ज्ञान से कहो तो अनवस्था। यदि सजातीय ज्ञान का उत्पन्न होना प्रवृत्ति की सामर्थ्य है अर्थात् जलज्ञान की दृढ़ता को बतलाने के लिये जलज्ञान के समान दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति हो जाना सामर्थ्य है तब तो इसमें भी अनवस्था दोष आ जाता है क्योंकि सजातीयज्ञान रूप प्रवृत्ति सामर्थ्य की प्रमाणता अन्य सजातीय ज्ञान से होगी, पुनः उसकी प्रमाणता अन्य से, क्योंकि जब तक प्रवृत्ति सामर्थ्य के विज्ञान में प्रमाणता का निर्णय न होगा तब तक उस प्रवृत्ति की सामर्थ्य से प्रथम ज्ञान की प्रमाणता भी सिद्ध नहीं होगी और अन्य ज्ञानों से प्रवृत्ति सामर्थ्य के ज्ञान में प्रमाणता मानने पर अनवस्था तैयार खड़ी है।

पुनरपि यह प्रश्न होता है कि प्रवृत्ति शब्द का क्या अर्थ है ? तब नैयायिक ने कहा कि मनुष्य जानने योग्य—जल के स्थान को प्राप्त कर लेवे इसका नाम प्रवृत्ति है, तब यह भी प्रश्न उठता है कि मनुष्य उस प्रमेय (जलाशय स्नानादि) को जानकर वहाँ जाता है या बिना जाने ? यदि बिना जाने कहो तब तो सभी के लिये सभी स्थान को प्राप्त करना प्रवृत्ति हो जावेगी। यदि जानकर कहो तो भी उस मनुष्य ने प्रामाणिक ज्ञान से उस प्रवृत्ति के प्रमेय—जल को जाना है या अप्रमाणीक ज्ञान से ? प्रथम पक्ष में अन्योन्याश्रय है। पहले ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध हो तब उससे जल का ज्ञान होगा और जल का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्ति की सामर्थ्य से उस ज्ञान की प्रमाणता होगी और अन्य ज्ञान में प्रवृत्ति के ज्ञान को प्रमाणता मानने पर तो अनवस्था आ ही जाती है और अप्रमाणीक ज्ञान से जलादि प्रमेय ज्ञान में प्रवृत्ति मानने पर तो ज्ञान को प्रमाणीक सिद्ध करना व्यर्थ ही है, तब नैयायिक ने यह बात भी मंजूर कर ली है उसने कहा कि हम संशयज्ञान से भी प्रवृत्ति मानते हैं। केवल प्रमाण प्रमेय रूप लोक व्यवहार बताने के लिये प्रमाणता का विचार करते हैं। इसी बात को श्लोकवार्तिक में भी कहा है यथा—

"अविज्ञातप्रमाणत्वात् प्रवृत्तिश्चेद् वृथा भवेत्।
प्रामाण्यवेदनं वृत्ते क्षीरे नक्तंदृष्टिवत् ॥१२०॥
अर्थसंशयतो वृत्तिरनेनैव निवारिता।
अनर्थसंशयाद्वापि निवृत्तिर्विदुषामिव ॥१२१॥"

[सौगतः अविसंवादित्वेन ज्ञानस्य प्रमाणतां मन्यते तस्य निराकरणं]

[1]नाप्यविसंवादित्वेन, [2]तदविसंवादस्यार्थक्रियास्थिति[3]लक्षणस्यानवगतस्य[4] प्रामाण्यव्यवस्था—हेतुत्वायोगात्। तस्यावगतस्य तद्धेतुत्वे [5]कुतस्तदवगमस्य प्रामाण्यम् ? संवादान्तरा-

अर्थ—नहीं जानी गई है प्रमाणता जिसकी ऐसे ज्ञान से यदि प्रवृत्ति होना माना जावे तो सर्वत्र प्रमाणता का निश्चय होना व्यर्थ है जैसे कि बालक का मुंडन कराकर फिर नक्षत्र पूछना व्यर्थ है। यदि नैयायिक कहे कि संशय ज्ञानों से भी प्रवृत्ति देखी जाती है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यदि संशयज्ञान से ही प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाण ज्ञान को कौन खोजेगा ? अतः जैसे अनर्थ के संशय (संभावना) से भी विद्वानों की अनुचित कार्यों से निवृत्ति हो जाती है वैसे ही इष्ट अर्थ के संशय से पदार्थों में प्रवृत्ति हो जानी चाहिए किन्तु ऐसा तो है नहीं। प्रेक्षापूर्वकारी—समझदार पुरुष संशय से प्रवृत्ति नहीं करते हैं। और तो क्या घास खोदने वाला मनुष्य भी विचार कर अपने इष्ट कार्य में प्रवृत्ति करता है। अतः संशय आदि ज्ञान प्रवृत्ति को कराने वाले नहीं हैं, किन्तु नैयायिक की ऐसी विचारधारा है कि परलोकार्थ नित्य नैमित्तिककर्म, दीक्षा, तपश्चर्या आदि क्रियाओं के अनुष्ठान करने में निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति होती है और महायात्रा, संघ चलाना, विवाह, प्रतिष्ठादि कार्यों में अनिश्चित प्रमाणता वाले संदेह ज्ञान से प्रवृत्ति होती है। यद्यपि लौकिक और पारलौकिक दोनों ही कार्यों में क्लेश की बहुलता और धन का खर्च समान है तो भी प्रामाणिक ज्ञान और अप्रमाणीक ज्ञान की अपेक्षा अन्तर है। नैयायिक की इस मान्यता में भी आचार्यों ने यही समझाया है कि परलोकार्थ निश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से प्रवृत्ति मानने में तो अन्योन्याश्रय दोष आता है और अनिश्चित प्रमाणता वाले ज्ञान से लौकिक कार्यों में प्रवृत्ति हो जाने पर तो ज्ञानों में प्रमाणता का ढूंढना ही व्यर्थ हो जाता है। संसार में जीव दो प्रकार के होते हैं। विचार कर प्रवृत्ति करने वाले पुरुष प्रेक्षावान्—बुद्धिमान् कहलाते हैं और बिना विचारे प्रवृत्ति करने वाले पुरुष अप्रेक्षावान्—मूर्ख कहलाते हैं। इसलिए प्रमाणीक सच्चे ज्ञान की अपेक्षा, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानों में अंतर है ये ज्ञान मिथ्या कहलाते हैं इसका विशेष विवरण श्लोकवार्तिक से देखना चाहिये।

नैयायिक और मीमांसक के प्रमाणतत्त्व का विचार करके अब तत्त्वोपप्लववादी सौगत के प्रमाण तत्त्व का विचार करता है।

[सौगत अविसंवादित्व होने से ज्ञान की प्रमाणता मानता है उसका खंडन]

प्रारंभ में प्रमाणतत्त्व की विचारणा में चार प्रश्नों में अंतिम प्रश्न है कि क्या अन्यथा-अवि-

---

1 मीमांसकनैयायिकयोर्मतस्य प्रमाणतत्त्वं विचार्येदानीं सौगतप्रमाणतत्त्वं विचारयन्ति ग्रन्थकृतः। 2 यतः (कर्मधारयः) 3 अर्थक्रियासद्भावलक्षणस्य। 4 प्रमाणस्वरूपेण। (व्या० प्र०) 5 अविसंवादावगमस्य। (व्या० प्र०)

दिति चेन्न, तदवगमस्यापि संवादान्तरप्रामाण्यनिर्णयेनवस्थाप्रसङ्गात् । [1]अर्थक्रियास्थिति-[2]लक्षणाविसंवादज्ञानस्याभ्यासदशायां स्वतः प्रामाण्यसिद्धेरदोषः ।

[अभ्यासदशायां अविसंवादज्ञानस्य प्रमाणता स्वतः सिद्धयति इति बौद्धः मन्यते तस्य निराकरणं]

[3]कोयमभ्यासो नाम ? भूयः संवेदने[4] संवादानुभवमिति चेत् [5]तज्जातीयेऽतज्जातीये[6] वा ? तत्रातज्जातीये[7] न तावदेकत्र[8] संवेदने भूयः संवादानुभवनं संभवति [9]क्षणिकवादिनः ।

संवादी रूप से प्रमाण की प्रमाणता मानी जाती है। तो उस पक्ष को बौद्ध के द्वारा स्वीकार कर लेने पर तत्त्वोपप्लववादी कहते हैं कि यह मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि अर्थक्रिया का सद्भाव लक्षण (अर्थक्रिया को करने में समर्थ) जो अविसंवाद है वह ज्ञान की प्रमाणता को व्यवस्थापित करने में हेतु नहीं हो सकता है क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह अर्थक्रिया लक्षण अविसंवाद अज्ञात रूप—नहीं जाना गया रूप है या ज्ञात—जाना गया रूप है ? यदि कहो कि अविसंवाद नहीं जाना गया है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध नहीं कर सकेगा।

यदि कहो कि वह अविसंवाद अवगत (ज्ञात) होकर प्रमाणता की व्यवस्था में कारण है तब तो यह बताओ कि उस अवगत अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता किससे है ? यदि कहो भिन्न संवाद से है तब तो उस अवगम (अविसंवादज्ञान) की भी भिन्न संवाद से प्रमाणता निश्चित होने से अनवस्था आ जाती है।

बौद्ध—अर्थ क्रिया के सद्भाव रूप अविसंवाद ज्ञान की अभ्यास दशा में स्वतः प्रमाणता सिद्ध है अतः कोई दोष नहीं है।

[अभ्यास दशा में अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता स्वतः सिद्ध है इस प्रकार से बौद्ध मानता है उसका निराकरण]

शून्यवादी—तब तो आप बौद्धों के यहाँ यह अभ्यास क्या बला है ? यदि आप कहें कि ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव होना अभ्यास है तब तो वह संवाद तज्जातीय सत्यरूप सामान्य ज्ञान में होता है या अतज्जातीय रूप विशेष में ? उसमें अतज्जातीय ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव मानने पर तो स्वलक्षण रूप एक क्षणवर्ती एक संवेदन में पुनः पुनः संवाद का अनुभव संभव ही नहीं है क्योंकि आप क्षणिक वादियों के यहाँ तो ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है अर्थात् आपके यहाँ एक क्षणवर्ती पर्याय को स्वलक्षण विशेष कहा है उसे जानकर ज्ञान उसी क्षण में समाप्त हो जाता है, क्योंकि वह वस्तु ही क्षणिक है पुनः उसमें बार-बार अनुभव कैसे बनेगा ?

बौद्ध—संतान की अपेक्षा से पुनः-पुनः अनुभव संभव है। अर्थात् बौद्ध वासना-संस्कार को सन्तान कहता है और वासना की अपेक्षा से तो पुनः-पुनः अनुभव शक्य है।

शून्यवादी—ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि आपने तो स्वयं ही सन्तान को अवस्तु माना है अतः

---

1 बौद्धः। 2 अर्थक्रियास्थितिलक्षणश्चासावविसंवादश्च। (ब्या० प्र०) 3 तत्त्वोपप्लववादी। 4 आयमाने। (ब्या० प्र०) 5 सदृशरूपे सामान्यरूपे। 6 विसदृशरूपे। 7 संवेदने। 8 स्वलक्षणे। 9 उत्पद्यविनष्टत्वात्।

[1]संतानापेक्षया[2] संभवतीति चेन्न, संतानस्यावस्तुत्वादपेक्षानुपपत्तेः। वस्तुत्वे वा तस्यापि क्षणिकत्वसिद्धेः कुतस्तदपेक्षया सोभ्यासः ? [3]सन्तानस्याक्षणिकत्वे वा यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति न सिद्धयेत्[4]। [5]तज्जातीये भूयः [6]संवादानुभवनमिति [7]चेन्न, [8]जातिनिराकरणवादिनः[9] [10]क्वचित्तज्जातीयत्वानुपपत्तेः। [11]अन्यापोहलक्षणया जात्या [12]क्वचित्तज्जातीयत्वमुपपन्नमेवेति [13]चेन्न, अन्यापोहस्यावस्तुरूपत्वात्, तस्य वस्तुरूपत्वे वा [14]जातित्वविरोधात् स्वलक्षणस्यासाधारणस्य[15] वस्तुत्वोपगमात्[16]। तदेवं[17] सामान्यतः प्रमाणलक्षणानुपपत्तौ विशेषेणापि प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपपत्तेर्न प्रमाणतत्त्वं विचार्यमाणं व्यवतिष्ठते। तदव्यवस्थितौ

उसकी (काल्पनिक की) अपेक्षा ठीक नहीं है अथवा उस सन्तान को वास्तविक मान भी लेवें तो वह संतान भी क्षणिक रूप ही सिद्ध हो जावेगी।

पुनः उस सन्तान की अपेक्षा से यह अभ्यास कैसे हो सकेगा अथवा यदि आप संतान को नित्य मान लेवें तो "यत् सत्तत् सर्वं क्षणिकं" यह प्रतिज्ञा वाक्य कैसे सिद्ध होगा ?

बौद्ध—तज्जातीयज्ञान में पुनः पुनः सत्यरूप संवाद का अनुभव होता है।

शून्यवादी—ऐसा नहीं कहना। आप जातिसामान्य का निराकरण करने वाले हैं अर्थात् अन्वय रूप द्रव्य का निषेध करने वाले हैं अतः आपके यहाँ कहीं पर भी अन्वय रूप से जातीय—सामान्य सिद्ध नहीं हो सकता है।

बौद्ध—अन्यापोह लक्षण जाति से किसी स्थिर, स्थूल आदि वस्तु में जातीयत्व बन ही जाता है।

शून्यवादी—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अन्यापोह तो अवस्तु है अथवा उसको वस्तु रूप मान लेने पर जाति का विरोध हो जावेगा क्योंकि आपने असाधारण—विशेषरूप स्वलक्षण को ही वस्तु रूप माना है।

भावार्थ—बौद्ध के यहाँ प्रमाण का लक्षण है "अविसंवादिज्ञानं प्रमाणं" उसी प्रकार से बौद्ध ने ज्ञान की प्रमाणता को अविसंवादी होने से सिद्ध किया है और अविसंवाद का अर्थ है अर्थक्रिया का सद्भाव। जैसे जल की अर्थक्रिया स्नानपानादि है। न्यायदीपिका में भी बौद्धों के द्वारा प्रमाण ज्ञान को अविसंवादी मानने में दोषारोपण किया गया है यथा "जो ज्ञान विसंवाद रहित है वह प्रमाण है"

---

1 बौद्धः। 2 अपरामृष्टभेदानां पूर्वोत्तरक्षणानां भेदेन संतानः। (अ० प०) 3 हे बौद्ध। 4 संतानेनानेकांतिकत्वमिति भावः। (अ० प०) 5 बौद्धः। संवेदने। 6 सत्यरूपस्य संवादस्य। 7 तत्त्वोपप्लववादी। 8 सामान्यनिराकरणवादिनः। 9 अन्वयरूपव्यतिरेकव्यावृत्तिरूपस्य सौगतस्य क्वचिद्वस्तुनि अन्वयरूपता नोपपद्यते। 10 घटत्वपटत्वादिरूपेण। 11 बौद्धः। 12 स्थिरस्थूलवस्तुनि। 13 तत्त्वोपप्लववादी। 14 (जातिविरोधादिति पाठान्तरम्)। 15 विशेषस्य। 16 तथा सौगतस्य मते। 17 पूर्वोक्तविकल्पचतुष्टयप्रकारेण।

बौद्ध की इस मान्यता में असंभव दोष आता है क्योंकि बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं उनके यहाँ न्यायबिंदु में कहा है "द्विविधं सम्यग्ज्ञानं, प्रत्यक्षमनुमानञ्च" [न्याय बिन्दु पृ० १०] उसमें प्रत्यक्ष में तो अविसंवादीपना संभव नहीं है क्योंकि वह निर्विकल्प होने से अपने विषय का निश्चायक नहीं है अतः संशयादि रूप समारोप का निराकरण नहीं कर सकता है और न उसके मान्य अनुमान में अविसंवादीपना संभव है। उनके मतानुसार वह अनुमान भी अवास्तविक सामान्य को विषय करने वाला है इस तरह से बौद्धों के प्रमाण का लक्षण असंभव दोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नहीं है।

यहाँ तत्त्वोपप्लववादी यह प्रश्न कर सकता है कि जो अर्थक्रिया रूप अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता में कारण है वह अविसंवाद तुम्हें ज्ञात है या नहीं ? यदि वह अविसंवाद अज्ञात रूप है तब तो वह ज्ञान की प्रमाणता को कैसे बतलायेगा ? यदि कहो वह ज्ञात रूप है तो भी उस जाने गये अविसंवाद ज्ञान की प्रमाणता किससे है ? यदि भिन्न संवादक ज्ञान से कहो तब तो अनवस्था आ जाती है। बौद्ध कहता है कि अर्थक्रियारूप जलज्ञान में स्नान, अवगाहन आदि का जो ज्ञान है वह अविसंवाद ज्ञान है और अभ्यास दशा में इसकी प्रमाणता स्वतः सिद्ध है तब तो प्रश्न यह हो जाता है कि अभ्यास का लक्षण आप बौद्ध क्या करते हैं ? यदि कहो कि ज्ञान में पुनः पुनः संवाद का अनुभव होना अभ्यास है तो इस मान्यता में भी अनेकों दोष आ जाते हैं क्योंकि प्रश्न ये होंगे कि वह पुनः पुनः अनुभव ज्ञान सामान्यज्ञान में हो रहा है या स्वलक्षणभूत एक क्षणवर्ती विशेष में ?

प्रथम पक्ष में तो आपके द्वारा मान्य सामान्य अवास्तविक है उसमें पुनः पुनः अनुभव मानना अवास्तविक ही होगा। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो भी एकक्षणवर्ती पर्याय के ज्ञान में बार-बार क्या अनुभव आयेगा ? यदि आवेगा तो वह ज्ञान स्थिर—नित्य हो जावेगा क्षणिक नहीं रहेगा। श्लोकवार्तिक में भी इसका खंडन किया है। "निश्चय करने की शक्ति को उत्पन्न न करते हुए ही अर्थ का अनुभव प्रमाण है क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान में अभ्यास की पटुता है" इस प्रकार से बौद्ध के कहने पर आचार्य कहते हैं कि इस मान्यता से तुम्हारी "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इस नियम में विरोध आता है। अर्थात् निर्विकल्पज्ञान जिस विषय में इस निश्चय रूप सविकल्प बुद्धि को उत्पन्न करा देगा उस ही विषय में यह निर्विकल्प ज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा। जैसे कि घट का प्रत्यक्ष हो जाने पर पीछे से उसके रूप, स्पर्श आदि में निश्चय ज्ञान उत्पन्न हो गया है अतः रूप और स्पर्श को जानने में निर्विकल्पज्ञान प्रमाण माना गया है किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तुभूत क्षणिकत्व को जान लेने पर भी पीछे से क्षणिकपने का निश्चय नहीं हुआ है अतः क्षणिक को जानने में प्रत्यक्ष की प्रमाणता नहीं है और यदि निश्चय को उत्पन्न नहीं करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रमाण मान लिया जावे तो "यत्रैव जनयेदेनां" इस ग्रंथ से विरोध आ जावेगा। "कश्चायमभ्यासो नाम ? पुनः पुनरनुभवस्य भाव इति चेत् क्षणक्षयादौ तत्प्रमाणत्वापत्तिस्तत्र सर्वदा सर्वार्थेषु सर्वज्ञस्य भावात् परमाभ्याससिद्धेः"। हम बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि आपके द्वारा मान्य अभ्यास क्या चीज है ? विद्यार्थी कई बार बोल-बोल कर घोषणा

कुतः प्रमेयतत्त्वव्यवस्थेति विचारात्तत्त्वोपप्लवव्यवस्थितिः ।

[अधुना जैनाचार्याः तत्त्वोपप्लववादं निरस्य स्वमतेन प्रमाणस्य प्रमाणतां साधयंति]

इत्येतदपि [1]सर्वमसारं, तत्त्वोपप्लवस्यापि [2]विचार्यमाणस्यैवमव्यवस्थितेरनुपप्लुत[3]तत्त्वसिद्धिनिराकरणायोगात्[4] । अथ[5] "तत्त्वोपप्लवः[6] सर्वथा न विचार्यः, तस्योपप्लुतत्वादेव[7] [8]विचारासहत्वादन्यथानुपप्लुततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्[9] । केवलं[10] तत्त्ववादिभिरभ्युपगतस्य प्रमाण-

---

करते हुए पाठ याद करते हैं, मल्ल व्यायाम का अभ्यास करते हैं । इसी प्रकार आपके प्रत्यक्षज्ञान का अभ्यास क्या है ? यदि पुनः पुनः प्रत्यक्ष रूप अनुभव की उत्पत्ति हो जाना तो क्षणिकत्व आदि में यह निर्विकल्पज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा क्योंकि संपूर्ण अर्थों में तदात्मक ही रहे उस क्षणिक रूप विषय में निर्विकल्पज्ञान सदा होते रहते हैं । स्वलक्षणों से क्षणिकपन अभिन्न है । अतः क्षणिकत्व में तो बहुत बढ़िया अभ्यास सिद्ध हो रहा है किन्तु आप बौद्धों को तो ऐसा इष्ट नहीं है ।

अंत में निष्कर्ष यह निकला है कि बौद्ध के यहाँ प्रमाण की प्रमाणता को अविसंवादीपने से स्वीकार करना ठीक नहीं है ।

बौद्ध लोग प्रमाण की प्रमाणता स्वतः मानते हैं, नैयायिक प्रमाण की प्रमाणता पर से मानते हैं । मीमांसक उत्पत्ति और निश्चय दोनों ही अवस्थाओं में प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता पर से मानते हैं । सांख्य प्रमाणता को पर से और अप्रमाणता को स्वतः मानते हैं । इन विभिन्न मतावलंबियों का आचार्यों ने अन्यत्र प्रमेयरत्नमाला आदि में विशेषरूप से खंडन किया है और इस बात को सिद्ध कर दिया है कि ज्ञान में प्रमाणता की उत्पत्ति तो पर से ही होती है किन्तु प्रमाण में प्रमाणता का निश्चय तो अभ्यास दशा में स्वतः होता है एवं अनभ्यास दशा में पर से होता है ऐसा समझना चाहिये ।

उपर्युक्त प्रकार से चारों प्रश्नों के उत्तर असिद्ध हो जाने पर तो सामान्य से प्रमाण का लक्षण सिद्ध न होने पर विशेष रूप से भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकते हैं अतः विचार करने पर प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था करना कथमपि शक्य नहीं है और प्रमाण तत्त्व की व्यवस्था न होने पर प्रमेय तत्त्व की व्यवस्था भी कैसे हो सकेगी क्योंकि प्रमाण के अभाव में प्रमेय कहाँ रहेगा ? इसलिये विचार करने पर तो सभी तत्त्वों का उपप्लव—प्रलय ही हो जाता है इस प्रकार से तत्त्वोपप्लववादी ने अपना पूर्वपक्ष रखा है अब आचार्य उसका खंडन करते हैं ।

[अब जैनाचार्य तत्त्वोपप्लववाद का खंडन करके अपने मत में मान्य ज्ञान की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं]

जैन—आप शून्यवादी का यह सभी कथन असार (शून्यवत्) ही है । आपका तत्त्वोपप्लववाद भी विचार करने पर व्यवस्थित नहीं हो सकता है इसलिये आप अनुपप्लुत अबाधिततत्त्व की सिद्धि का निराकरण नहीं कर सकते हैं ।

---

1 जैनो वक्ति । 2 वक्ष्यमाणप्रकारेण । 3 उपप्लुतो बाधितः । 4 तत्त्वोपप्लववादिनः । 5 परः । 6 शून्यवादः । 7 अभावरूपत्वादेव । 8 तत्त्वोपप्लवलक्षणं । तत्त्वसम्बन्धस्यैव प्रतिषेधमिमं न तु अनुपप्लुतसम्बन्धस्य । (ब्या० प्र०) 9 भो जैन । 10 तथापि विचारासहत्वे तत्त्वोपप्लवसिद्धिः कथमिति जैनेनोक्ते स वाह ।

प्रमेयतत्त्वस्य विचाराक्षमत्वात्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः" इति मतं तदपि[1] फल्गुप्रायं, [2]यथातत्त्वमविचारितत्वात्[3]। न ह्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन[4] संवेदनस्य प्रमाणत्वं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, [5]बाधारहितत्वमात्रेण वा। नापि [6]प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा[7] [8]वा, प्रतिपादितदोषोपनिपातात्। किं तर्हि? [9]सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेन। [10]न चेदं स्वार्थव्यवसायात्मनो ज्ञानस्य [11]दुरवबोधम्।

[प्रमाणस्य प्रामाण्यमभ्यस्तविषये स्वतोऽनभ्यस्तविषये परतः इति मन्यमानोऽनवस्था परस्पराश्रयो वा न संभवति]

[12]सकलदेशकालपुरुषापेक्षया[13] सुष्ठु निश्चितमसम्भवद्बाधकत्वं हि प्रमाणस्याभ्यस्तविषये

शून्यवादी—हमारा तत्त्वोपप्लव सर्वथा विचार करने योग्य नहीं है क्योंकि उपप्लुत—बाधित—अभावरूप होने से ही परीक्षा को सहन करने में असमर्थ है अन्यथा अनुपप्लुत—सद्भाव रूप तत्त्व की सिद्धि का प्रसंग आ जावेगा। केवल तत्त्ववादी—आप जैनों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण और प्रमेयतत्त्व विचार—परीक्षा को सहन नहीं कर सकता है अतः हमारे द्वारा मान्य तत्त्वोपप्लववाद ही सिद्ध होता है।

जैन—आप शून्यवादी का यह कथन फल्गुप्राय—व्यर्थ ही है क्योंकि यथातत्त्व—तत्त्व के अनुरूप आपने परीक्षा नहीं की है। हम स्याद्वादी जन ज्ञान की प्रमाणता का विचार उपर्युक्त चार विकल्पों से नहीं मानते हैं। अर्थात् अदुष्ट कारक संदोह से उत्पन्न होने से, बाधा रहित मात्र से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अविसंवादित्वादि प्रकार से हम जैन ज्ञान की प्रमाणता नहीं मानते हैं। अतः आपके द्वारा प्रतिपादित दोषों के प्रसंग हमारे यहाँ नहीं आते हैं।

शून्यवादी—तो फिर आप जैन किस तरह से ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध करते हैं।

जैन—हम जैन सुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप से प्रमाण की प्रमाणता व्यवस्थापित करते हैं क्योंकि स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को इस प्रमाण से जानना कठिन नहीं है।

[प्रमाण की प्रमाणता अभ्यस्त दशा में स्वतः एवं अनभ्यस्त दशा में पर से है ऐसी मान्यता में अनवस्था अथवा परस्पराश्रय दोष नहीं आता है।]

कारण कि संपूर्ण देश काल के पुरुषों की अपेक्षा से प्रमाण का "सुष्ठु निश्चितमसंभवद्बाधकत्व" अभ्यस्त विषय में स्वतः ही निश्चित किया जाता है। जैसे स्वरूप का निश्चय स्वतः ही होता है और अनभ्यस्त विषय में पर से प्रमाणता आती है इस प्रकार से अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि स्वार्थव्यवसायात्मकत्व ही सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व है अर्थात् स्व-

---

1 आह जैनः। 2 तत्त्वमनतिक्रम्येत्युक्ते किं तत्त्वमुल्लङ्घ्य विचारितमित्यर्थः। 3 अविचारितत्वमेव दर्शयति। 4 मीमांसकाभ्युपगतेन। (व्या० प्र०) 5 न बाधा इति पा०। (व्या० प्र०) 6 नैयायिकाभ्युपगतेन। (व्या० प्र०) 7 अविसंवादित्वादिना। 8 अविसंवादित्वेन वा किमिति न प्रतिपादितं प्रमाणनिर्णये प्रतिपादितत्वात्। अन्यथा वा कथनं। (व्या० प्र०) 9 प्रामाण्यस्य प्रमाण्यं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते इति शेषः। 10 जैनः परामिप्रायं निराकरोति। 11 किन्तु सुघटमेवेत्यर्थः। 12 ईप्। (व्या० प्र०) 13 वर्तमान। (व्या० प्र०)

स्वत एवावसीयते स्वरूपवत्[1]। अनभ्यासविषये तु परत इति नानवस्थेतरेतराश्रयदोषोपनिपातः। स्वार्थव्यवसा[2]यात्मकत्वतो हि सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वम्। तच्चाभ्यासदशायां न परतः प्रमाणात्साध्यते, येनानवस्था स्यात्, परस्पराश्रयो वा, तस्य स्वत एव सिद्धत्वात्। तथानभ्यासदशायामपि परतः[3] स्वयंसिद्धप्रामाण्याद्वेदनात् पूर्वस्य [4]तथाभावसिद्धेः कुतोऽनवस्थादिदोषावकाशः ?

[नित्यानित्यात्मकत्वात्किमपि अभ्यासानभ्यासौ उभौ अपि संभवतः]

[5]क्वचिदभ्यासानभ्यासौ[6] तु [7]प्रतिपत्तुरदृष्ट[8]विशेषवशाद्देशकालादिविशेषवशाच्च[9] भवन्तौ [10]सम्मतीतरवेव, [11]यथावरणक्षयोपशमसमात्मनः सकृदसकृद्वा स्वार्थसंवेदनेऽभ्यासो-

---

वसायात्मक पद से संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय का व्यवच्छेद हो जाता है और वह अभ्यास दशा में पर प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जाता है कि जिससे अनवस्था आ सके अथवा परस्पराश्रय दोष आ सके अर्थात् ये दोनों दोष नहीं आ सकते हैं क्योंकि वह असंभवद्बाधकत्व स्वतः ही सिद्ध है उसी प्रकार से अनभ्यास दशा में भी स्वयं सिद्ध प्रमाणता वाले ज्ञानरूप अन्य प्रमाण से पूर्व की तथाभाव—प्रमाणता सिद्ध है पुनः अनवस्था आदि दोषों को अवकाश कैसे मिल सकता है ? अर्थात् पर से प्रमाणता में वहाँ पर प्रमाण स्वतः प्रमाणांतर रूप है अतः उसके लिये तृतीय की आवश्यकता न होने से अनवस्था असंभव ही है।

[कथंचित् नित्यानित्यात्मक आत्मा में अभ्यास-अनभ्यास दोनों ही संभव हैं।]

किसी विषय में अभ्यास और अनभ्यास ज्ञाता—पुरुष के अदृष्ट विशेष—क्षयोपशम विशेष के निमित्त से और देश, कालादि की विशेषता से विद्यमान रूप प्रतीति में आ रहे हैं। अर्थात् ज्ञान में पुनः पुनः संचार का अनुभव होना अभ्यास है और न होना अनभ्यास है। ये दोनों दृष्ट—देश, कालादि और अदृष्ट—भाग्य के निमित्त की विचित्रता से प्राणियों में देखे जाते हैं।

[अभ्यास और अनभ्यास का लक्षण]

आत्मा के स्वार्थ संवेदन में अपने-अपने आवरणों का क्षयोपशम एकबार या पुनः-पुनः होना अभ्यास कहलाता है। अथवा स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानावरण कर्म के उदय से ज्ञान के नहीं होने पर अथवा एक बार ज्ञान के होने पर या पुनः-पुनः ज्ञान के होने पर भी अनभ्यास देखा जाता है। अर्थात् मतिज्ञान में जो चौथा भेद है उसका नाम धारणा है, उस धारणा से संस्कार बने रहते हैं, शीघ्र विस्मरण नहीं होता है उसी का नाम अभ्यास है। एवं एकेन्द्रिय आदि जीवों के ज्ञानावरण कर्म का

---

1 प्रमाण। (ब्या० प्र०) 2 व्यवसायात्मकत्वघटेन संशयविपर्ययानध्यवसायव्यवच्छेदः। 3 अन्यप्रमाणात्। 4 प्रामाण्यसिद्धेः। 5 विषये। 6 ज्ञाने मुहुः संचारानुभवलक्षणोऽभ्यासः तदभावोऽनभ्यासः। दृष्टादृष्टनिमित्तत्वात् वैचित्र्यादिह देहिनाम् (आयते क्वचिदभ्यासोऽनभ्यासो वा कर्मवशात्। 7 दृष्टादृष्टनिमित्तत्वात् वैचित्र्यादिह देहिनां। आयते क्वचिदभ्यासोऽभ्यासो वा कर्मवशात्। (ब्या० प्र०) 8 अदृष्टः पुण्यादिसंज्ञितो भाग्यविशेषः। 9 आद्यात्। (ब्या० प्र०) 10 बहुशानुभवविषयत्वं नीलादिविषयः। 11 क्षयादिविशेषवत्।

पपत्तेः । [1]स्वार्थव्यवसायावरणोदये[2] बाऽसंवेदने सुनिश्चितासंभवी वा संवेदनस्योत्पत्तेमि बाध्यभ्यासघटनात् । [3]पूर्वापरं [4]स्वभावत्यागोपादानाऽन्वितस्वभावस्थितिलक्षणत्वेनात्मनः[5] [6]परिणामिनोऽभ्यासानभ्यासाविरोधात् । सर्वथा क्षणिकस्य नित्यस्य वा [7]प्रतिपत्तुस्तदनुपपत्तेरभीष्टत्वात्[8] । [9]भवेदिदं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वं संवेदनस्य कथमसर्वज्ञो ज्ञातुं समर्थ इति चेत् [10]सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वं संवेदनमसुनिश्चितासम्भवद्बाधकमित्यप्यसकलज्ञः कथं जानीयात् ?

उदय विशेषरूप से देखा जाता है अतः ये ज्ञान शून्य के संवृत्त मालूम पड़ते हैं, तथैव किसी को एक बार ज्ञान होना मतलब अवग्रह, ईहा, अवाय तक ज्ञान हो गया, धारणा नहीं बनी या बार-बार ज्ञान होने पर भी धारणा नहीं बनने से संस्कार दृढ़ नहीं हो सकते हैं इसी का नाम अनभ्यास है।

तथा हम आत्मा को सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं अतः एक ही आत्मा में अभ्यास और अनभ्यास दोनों ही संभव हैं। पूर्व स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान उन दोनों में अन्वित-स्वभाव की स्थिति इन तीन लक्षणों से नित्यानित्य रूप-परिणमन शील आत्मा में अभ्यास और अनभ्यास विरुद्ध नहीं हैं—अविरोध रूप से सिद्ध हैं। सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक रूप आत्म में ये अभ्यास, अनभ्यास दोनों ही असंभव हैं ऐसा हमें अभीष्ट ही है क्योंकि सर्वथा नित्य या क्षणिक में अनभ्यासात्मक ज्ञान का परिहार करके अभ्यासात्मक ज्ञान को प्राप्त करने में विरोध ही है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी ने आस्तिक्य वादियों के प्रमाणतत्त्व की परीक्षा करने के लिये चार प्रश्न रखे थे कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे है निर्दोष कारणों से जन्य होने से ? इत्यादि। इन प्रश्नों को उठाकर उसने स्वयं सभी को दूषित कर दिया तब जैनाचार्य कहते हैं कि यदि हम इन कारणों से प्रमाण की प्रमाणता मानें तो ये उपर्युक्त दोष आवेंगे किंतु हम तो प्रमाण की प्रमाणता में अन्य ही कारण मानते हैं। वह अन्य कारण क्या है ? तब आचार्य ने कहा कि "जिसमें बाधा का न होना सुनिश्चित है ऐसे "सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व" से हम प्रमाण की प्रमाणता मानते हैं एवं प्रमाण का लक्षण विद्यानंद स्वामी ने "स्वार्थव्यवसायात्मक" किया है, जिसका अर्थ है स्व और अर्थ को निश्चय कराने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। आचार्य अभ्यस्त-परिचित दशा में ज्ञान की प्रमाणता स्वतः मानते हैं एवं अनभ्यस्त—अपरिचित दशा में पर से मानते हैं। आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने पर अभ्यास और अनभ्यास बन नहीं सकते हैं, एवं सर्वथा नित्य मान्यता में भी अभ्यास, अनभ्यास असंभव है क्योंकि एक अवस्था का त्याग करके दूसरी अवस्था को ग्रहण करना सर्वथा नित्य अथवा

---

1 पूर्वस्मैव हेत्वन्तरम् । 2 व्यवसायो ज्ञानं, तस्य । 3 ननु भो जैन नित्यस्यात्मनोऽभ्यासानभ्यासौ कथं स्यातामित्युक्ते जैनः प्राह । 4 पूर्वापरस्वभाव इति पा. । (ब्या० प्र०) 5 द्वि० द्वि:। (ब्या० प्र०) 6 बहः । (ब्या० प्र०) 7 नित्यानित्यैकरूपस्य । 8 आत्मनः । 9 जैनस्य (अनभ्यासात्मकज्ञानपरिहारेणाभ्यासात्मकज्ञानप्राप्तिविरोधात् क्षणिकस्य नित्यस्य वा) 10 तत्त्वोपप्लववादी । 11 जैनः ।

[तत्त्वोपप्लववादी संशय करके प्रमाण का प्रलय करना चाहता है उसका निराकरण]

तत[1] एव संशयोस्त्विति चेत् सोपि[2] तथाभावेतरविषयः सर्वस्य[3] सर्वदा सर्वत्रेति[4] कथमसर्वज्ञः[5] शक्तोवबोद्धुम् ? स्वसंवेदने [6]तथावबोधात्सर्वत्र[7] तथावबोध इति चेत् [8]तह्य-नुमानमायातं, विवादाध्यासितं संवेदनं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धं, संवेदन-त्वादस्मत्संवेदनवदिति । [9]तच्च [10]यदि सुनिश्चितासंभवद्बाधकं सिद्धं तदा तेनैव साधनस्य व्यभिचारः । [11]अथ न तथा सिद्धं, [12]कथं साध्यसिद्धिनिबन्धनम् ? अतिप्रसङ्गात् । स्वसंवेदनं च प्रतिपत्तुः [13]किञ्चित् क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकं [14]किञ्चित्तद्विपरीतं

सर्वथा क्षणिक में असंभव है।

शून्यवादी—असर्वज्ञ मनुष्य ज्ञान के इस सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व को जानने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

जैन—यदि आप ऐसा कहो तो, सभी जगह सर्वदा सभी जीवों का सभी ज्ञान सुनिश्चितासंभवद्बाधक नहीं है इस बात को भी असर्वज्ञ—अल्पज्ञ कैसे जान सकेंगे ?

[तत्त्वोपप्लववादी संशय को करके प्रमाण का प्रलय करना चाहता है उसका निराकरण]

शून्यवादी—इसीलिये दोनों में संशय होने से दोनों के ही पक्ष असिद्ध हैं।

जैन—तथाभाव-बाधा से रहित और अतथाभाव—बाधा से सहित को विषय करने वाला संशय सभी जीव को, सर्व काल में सर्वत्र है इस बात को भी अल्पज्ञ कैसे जान सकेगा ?

शून्यवादी—स्वसंवेदन में सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व और असुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व के द्वारा संदिग्ध प्रकार से सर्वत्र वैसा ही ज्ञान होता है।

जैन—तब तो अनुमान ही आ गया। "विवाद की कोटि में आया हुआ संवेदन सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व और इतर के द्वारा संदिग्ध है क्योंकि संवेदन है जैसे हम अल्पज्ञ लोगों का संवेदन।" और वह यदि सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व सिद्ध है तब तो उसी से ही हेतु व्यभिचरित हो जाता है। यदि वैसा नहीं है अर्थात् सुनिश्चितासंभवद्बाधक सिद्ध नहीं है तब तो साध्य की सिद्धि में कारण ही हो जाता है, अन्यथा अतिप्रसंग आ जाता है।

और प्रतिपत्ता का कोई स्वसंवेदन ज्ञान क्वचित् कदाचित् सुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप से

---

1 (तत्त्वोपप्लववादी) उभयपक्षासिद्धेः । 2 जैनः आह । 3 ज्ञानस्य । (ब्या० प्र०) 4 विषये । (ब्या० प्र०) 5 तत्त्वोपप्लववादीति: । 6 सुनिश्चितासम्भवद्बाधकेतराभ्यां संदिग्धप्रकारेण । 7 ज्ञाने । (ब्या० प्र०) 8 जैनः प्राह । 9 जैनः । 10 संवेदनमसर्वज्ञैः सिद्धमसिद्धं वा ? यदि सिद्धं तदा तेनैव संदिग्धं न शक्यते अतः कारणस्य व्यभिचारः । अथ न सिद्धं तदा स्वसंवेदनसिद्धं साधनमेवास्तम् । कथमित्युच्यते साधनं साध्यं साधयति तथाप्रसङ्गात् इति भावः । 11 असुनिश्चितासम्भवद्बाधकं चेदित्यर्थः । 12 तर्हीति शेषः । 13 क्वचित् । 14 असुनिश्चितासंभवद्बाधकम् ।

प्रसिद्ध न वा ? यदि न [1]प्रसिद्धं, कथं सन्देहः[2] ? [3]क्वचिदप्रसिद्धोभय[4]विशेषस्य[5] [6]तत्सामान्य[7] दर्शनेनैव तत्परामर्शिप्रत्ययस्य सन्देहस्यासम्भवाद्भूभवनसंवर्द्धितोत्थितमात्रस्य तादृशः स्थाणु-पुरुषविषयसन्देहवत्[8] । [9]यदि [10]पुनस्तदुभयं प्रसिद्धं [11]तदा स्वतः परतो वा ? अभ्यासदशायां स्वतोनभ्यासदशायां परत एवेति चेत् सिद्धमकलङ्कशासनं, [12]सर्वस्य संवेदनस्य [13]स्यात्स्वतः स्यात्परतः[14] प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यवस्थानात्, [15]अन्यथा [16]क्वचिदुभयवस्थानुपपत्तेः ।

प्रसिद्ध है अथवा किंचित् उससे विपरीत-असुनिश्चितासंभवद्बाधक रूप से प्रसिद्ध नहीं है क्या ? यदि प्रसिद्ध नहीं है तो संदेह कैसे होगा ? जिसको किसी वस्तु में उभय-स्थाणु और पुरुष दोनों की विशेषता अप्रसिद्ध है उसे उनके सामान्य को देखने से ही उसको परामर्श करने वाला संदेह ज्ञान असंभव है जैसे भूभवन संवर्द्धित—तलघर में पलकर बड़ा हुआ पुरुष उससे निकलते मात्र ही उस प्रकार के स्थाणु और पुरुष उभय विषय को देखकर संशय नहीं कर सकता है।

यदि आप शून्यवादी कहें कि स्थाणु और पुरुष दोनों ही प्रसिद्ध हैं। तब तो हम आप से पूछते हैं कि वे दोनों स्वतः प्रसिद्ध हैं या पर से ? यदि आप कहें कि अभ्यास दशा में स्वतः प्रसिद्ध है और अनभ्यास दशा में पर से प्रसिद्ध हैं तब तो अकलंकशासन—निर्दोष शासन सिद्ध हो गया अथवा अकलंक देव का न्याय शासन सिद्ध हो गया। सभी ज्ञान में कथंचित् स्वतः और कथंचित् पर से प्रामाण्य और अप्रामाण्य की व्यवस्था मानी गई है। अन्यथा केवल स्वतः अथवा केवल पर से व्यवस्था करना अशक्य है।—

आचार्य—तत्त्वोपप्लववादी का कहना है कि साधारण अल्पज्ञ मनुष्य यह कैसे समझेंगे कि यह ज्ञान निश्चित रूप से बाधा रहित है। तब जैनाचार्यों ने कहा कि भाई अल्पज्ञजन इस बात को भी कैसे जानेंगे कि सभी का ज्ञान बाधा से रहित है यह बात अनिश्चित है। बस ! उपप्लववादी को मौका मिला उसने कहा इसलिये ज्ञान में सर्वत्र संदेह देखा जाने से ही हम ज्ञान तत्त्व का प्रलय कह रहे हैं। तब आचार्य ने कहा कि सभी को सर्वत्र ज्ञान में संदेह ही है यह बात भी अल्पज्ञ कैसे जान सकते हैं ? फिर दूसरी बात यह है कि जिस विषय में जिसको संदेह होता है उस विषय का पहले कभी उसे निश्चय अवश्य ही होना चाहिए या जैसे पहले जिसने ठूंठ और मनुष्य को देखा है वही

---

1 सति । (ब्या० प्र०) 2 संदेहानुपपत्तिं दर्शयति । (ब्या० प्र०) 3 आगे । (ब्या० प्र०) 4 क्वचिदवस्तुनि । अज्ञातस्थाणुपुरुषत्वयोः । 5 यतः । (ब्या० प्र०) 6 पुनः । (ब्या० प्र०) 7 तत्सामान्यादर्शनेन इत्र इति पाठान्तरम् । सामान्यादर्शनेनैव विशेषोपलम्भे इति सन्देहस्यानुपपत्तिर्वक्ष्यमाणा तथा सङ्गतेति । अत्राह वृद्धाम्लेच्छादिति न मन्तव्यं, भूभवनेत्यादिनौकिकोदाहरणप्रदर्शनात् । 8 तावतो नरस्य यथा एव सन्देहो नोपैति । 9 तत्त्वोपप्लववादी । 10 स्थाणुपुरुषत्वे । 11 जैन । 12 अकलंकशासनसिद्धिं प्रदर्शयति । (ब्या० प्र०) 13 कथञ्चित्स्वतोपरतःप्रकारेणा-भ्यासदशायामपेक्षतेत्यर्थः । 14 अनभ्यासदशायामपेक्षया । (ब्या० प्र०) 15 केवलं स्वत एव परत एव वेति स्वीकारे । 16 आगे । (ब्या० प्र०)

[उपप्लववादी कश्चित् तत्त्वनिर्णयमनाधित्य परस्य तत्त्वस्य कथमुपप्लवं करोति संदेहो वा कथं भिद्यते ?]

एतेन तत्त्वोपप्लववादिनः किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन बाधकानुत्पत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा [1]वेत्यादिविकल्पसन्दोहहेतुकप्रश्नानुपपत्तिः[2] प्रकाशिता, [3]स्वयमन्यत्रान्यदा [4]कथञ्चिदप्रतिपन्नतद्विकल्पस्य[5] पुनः [6]क्वचित्तत्परामर्शिसंशयप्रत्ययायोगात् । [7]क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादिविशेषप्रतिपत्तौ तु [8]कुतस्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः ? [9]पराभ्युपगमात्तत्प्रतिपत्तेरदोष इति चेत् स [10]तर्हि पराभ्युपगमो यदि प्रमाणतस्तत्प्रतिपन्नः [11]स्वयं तदा कथं [12]प्रमाणप्रमेयतत्त्वोपप्लवः ? पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ तत्रापि पराभ्युपगमान्तरमन्यस्मात् [13]पराभ्युपगमान्तरात्प्रतिपत्तव्यमित्यनवस्था ।

अकस्मात् किसी एक चीज को देखकर दूसरे का स्मरण करके संशय कर सकता है सर्वथा असत् वस्तु में या गधे के सींग, आकाश के फूल में क्या संदेह होगा ? अतएव ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यास दशा में पर से होती है । तथैव ज्ञान की अप्रमाणता भी अभ्यास-दशा में स्वतः अनभ्यासदशा में पर से होती है, यह बात सुनिश्चित सिद्ध है ।

[उपप्लववादी कुछ भी तत्त्व का निर्णय न करके पर के तत्त्वों का उपप्लव या पर के तत्त्व में संदेह कैसे कर सकता है ?]

इस कथन से तत्त्वोपप्लववादी के जो प्रश्न हुए हैं "ज्ञान की प्रमाणता अदुष्टकारक समूह से उत्पन्न होती है या बाधक की अनुत्पत्ति से या प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अन्यथा अविसंवादित्वादि प्रकार से होती है ? इत्यादि प्रश्न विकल्पों की व्यवस्था कथमपि सम्भव नहीं—यह बात प्रकाशित कर दी गई है ।

स्वयं अन्यत्र, अन्यकाल में कथंचित् जिसने उन विकल्पों को नहीं जाना है उसको तत्परामर्शि संशय ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है । कहीं पर कदाचित् अदुष्ट कारक समूह से उत्पन्न होना आदि विशेष का ज्ञान हो जाता है ऐसा कहो तो आप शून्यवादी के यहाँ तत्त्वोपप्लव की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

शून्यवादी—पर की स्वीकृति मात्र से उसका ज्ञान मानने से हमें कोई दोष नहीं है ।

जैन—यदि वह पर की स्वीकृति प्रमाण से स्वयं जानी गई है तो प्रमाण और प्रमेयतत्त्व का उपप्लव कैसे होगा ? यदि कहो कि वह पर की स्वीकृति अन्य पर की स्वीकृति से जानी जाती है तब

---

1 वस्तुः । (ब्या० प्र०) 2 वस्तुः । (ब्या० प्र०) 3 ज्ञाने । (ब्या० प्र०) 4 अनधिगतवस्तुविकल्पस्य पुरुषस्य क्वचित्तत्तेषे वस्तुविचारे संशयो न घटते इति । 5 तत्त्वोपप्लववादिनः । 6 ज्ञाने । (ब्या० प्र०) 7 ज्ञाने । (ब्या० प्र०) 8 विकल्पचतुष्टयं प्रमेयं तद्ग्राहकं च विज्ञानं प्रमाणं । (ब्या० प्र०) 9 तत्त्वोपप्लववादी प्राह । 10 जैनः । 11 तत्त्वोपप्लववादिना । 12 पराभ्युपगमस्य ग्राहकं प्रमाणं । (ब्या० प्र०) 13 पराभ्युपगमात् इति पा० । (ब्या० प्र०)

[अनुभोपप्लववादिनः मतस्योपप्लवं कुर्वंति जैनाचार्याः]

परास्युपगमं [1]च स्वयं प्रतीयन्नेव न प्रत्येमीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? [2]स्वयमप्रतीयंस्तु परास्युपगमं [3]ततः "किञ्चित्प्रत्येतीति[5] दुरवबोधं—सोयं[6] किञ्चिदपि[7] स्वयं निर्णीतमनाश्रयन् [8]क्वचिद्विचारणायां व्याप्रियत इति[9] न [10]शुध्यामहे[11], किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारस्यानिर्णीतेर्थे प्रवृत्तेः। सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिद्विचारणानवतारात्। तदुक्तं

"किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोन्यत्र[12] वर्तते। सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारचा"

इति। [13]ततः सूक्तं, तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा विचारोत्तरकालमपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहृतिः[14]।

तो वह पर की स्वीकृति भी अन्य पर की स्वीकृति की अपेक्षा रखेगी इस प्रकार से अनवस्था ही आ जावेगी।

[अब जैनाचार्य उपप्लववादी के मत का ही उपप्लव कर रहे हैं।]

इस प्रकार से पर की स्वीकृति को स्वयं अनुभव करते हुये ही आप "मैं अनुभव नहीं करता हूँ" इस प्रकार बोलते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? अर्थात् अस्वस्थ ही हैं। तथा यदि आप स्वयं पर की स्वीकृति को विषय न करते हुए भी "कोई उस पर स्वीकृति से किंचित् वस्तु मात्र का अनुभव करता है" इस प्रकार से कहते हैं तब तो यह बात अत्यन्त दुष्कर ही है।

इस प्रकार से आप शून्यवादी कुछ भी स्वयं निश्चित (गाँठ के तत्त्व) का आश्रय न लेते हुये किसी भी विषय की परीक्षा में प्रवृत्त होते हैं यह बात हमारी समझ में नहीं आती है। अर्थात् आप शून्यवादी के यहाँ कुछ प्रमाणादि की प्रसिद्धि हुये बिना अन्य हम लोगों के यहाँ परीक्षा और संदेह करना कदापि शक्य नहीं है क्योंकि किंचित् भी निश्चित् का आश्रय लेकर अनिर्णीत विषय में परीक्षा होती है किन्तु सभी जगह विसंवाद हो जाने पर तो कहीं पर परीक्षा भी नहीं हो सकती है अथवा अज्ञान से शून्य मूर्ख क्या शास्त्रीय परीक्षा में बैठे हुये विद्वानों की परीक्षा कर सकता है ? कहा भी है—

श्लोकार्थ—कहीं कुछ निश्चित का आश्रय लेकर अन्यत्र—अनिश्चित अर्थ में विचार—परीक्षा होती है और यदि सभी जगह विसंवाद हो जावे तो कहीं पर भी परीक्षा नहीं हो सकती है।

---

1 हि च। (ब्या० प्र०) 2 अप्रतिपत्तिविषयीकुर्वन्। 3 परास्युपगमात्। 4 विकल्पचतुष्टयविशेषं। (ब्या० प्र०) 5 वस्तुमात्रम्। 6 तत्त्वोपप्लववादी। 7 वस्तुमात्रं। (ब्या० प्र०) 8 ज्ञानप्रामाण्ये। (ब्या० प्र०) 9 च न इति पा०। (ब्या० प्र०) 10 तत्स्वरूपं। (ब्या० प्र०) 11 शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्र विचारः संदेहश्च न प्राप्नोतीत्यर्थः। 12 अनिर्णीतेर्थे। 13 शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्रविचारः संदेहश्च न प्राप्नोति यतः। (ब्या० प्र०) 14 व्याहतमेतदिति इति पा०। (ब्या० प्र०)

इसलिये यह ठीक ही कहा है कि ये तत्त्वोपप्लववादी स्वयं स्वप्रसिद्ध एक प्रमाण से अथवा परप्रसिद्ध एक प्रमाण से विचार—परीक्षा के उत्तरकाल में भी प्रमाण तत्त्व और प्रमेयतत्त्व को उपप्लुत—नष्ट—प्रलय—अभाव—शून्यरूप जानते हुये अपनी आत्मा का ही अभाव कर लेते हैं। आपकी इस बात से यह शून्यवाद नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—तत्त्वोपप्लववादी का कहना है कि सभी प्रमाण तत्त्व एवं प्रमेयतत्त्व अभाव रूप ही हैं क्योंकि किंचित् भी तत्त्व न तो प्रमाण से सिद्ध है न अनुमान से। इत्यादि प्रकार से तत्त्वों का अभाव करके वह कहता है कि हम आस्तिकवादी लोगों के द्वारा मान्य प्रमाण तत्त्व पर विचार करते हैं कि आप सभी जन प्रमाण की प्रमाणता को किस प्रकार से सिद्ध करते हैं निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से या बाधा के उत्पन्न न होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा अविसंवादी पने से ? इन चारों हेतुओं से ज्ञान में प्रमाणता नहीं आ सकती है। अतः ज्ञान की प्रमाणता की सिद्धि न होने से प्रमेय-तत्त्व-ज्ञेय पदार्थ भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ज्ञान के बिना ज्ञेय पदार्थ कहाँ से सिद्ध होवे ? पुनः उसने इस बात को भी सिद्ध किया कि हम शून्यवादियों का तत्त्व सर्वथा ही परीक्षा करने योग्य नहीं है क्योंकि वह अभाव—शून्य रूप है, हम तो तत्त्ववादी जैनादिकों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण, प्रमेय-तत्त्व की परीक्षा करके उसका अभाव सिद्ध कर देते हैं उसी से ही हमारे शून्यवाद की सिद्धि हो जाती है।

इस पर जैनाचार्यों ने उत्तर दिया है कि हम लोग निर्दोषकारक जन्य आदि हेतुओं से प्रमाण की प्रमाणता नहीं मानते हैं किंतु सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यासदशा में पर से मानते हैं अतः प्रमाणतत्त्व भी सिद्ध है एवं प्रमेय-तत्त्व भी षड्द्रव्यरूप अखिल जगत्रूप से सिद्ध ही है क्योंकि "प्रतीतेरपलापः कर्तुं न शक्यते कैश्चित्" इस सूक्तिके अनुसार जो स्पष्ट रूप से अनुभव में आ रहा है उसका लोप करना शक्य नहीं है। एवं जो शून्यवादी किसी वस्तु को मानने की ही तैयार नहीं हैं तो उन्हें किसी भी विषय में परीक्षा करने का भी अधिकार नहीं है क्योंकि जो स्वयं अपने आपके ही अस्तित्व को नहीं मानते हैं वे किसी भी विषय में अस्ति-नास्ति की परीक्षा भी कैसे कर सकेंगे ? यदि जबरदस्ती करेंगे तो फिर बन्ध्या का पुत्र भी आकाश के फूलों की सुगंधि या दुर्गंधि की परीक्षा करते बैठेगा या वह आकाशपुष्प भी किसी के गले का हार बनेगा और किसी के सिर पर चढ़ने का प्रयत्न कर डालेगा किंतु ऐसा तो संभव नहीं है अतः शून्यवादी जन भी अपना शून्यवाद स्थापन करते हैं यह कथन हास्यास्पद ही है।

तत्त्वोपप्लववादी के खंडन का सारांश

तत्त्वोपप्लववादी—हम प्रमाण प्रमेयादि कुछ भी तत्त्व नहीं मानते हैं क्योंकि सभी तत्त्व उपप्लुत-नष्ट-अभाव रूप ही हैं।

जैन—"सभी तत्त्व उपप्लुत हैं" यह कथन प्रमाण के बिना केवल वचनमात्र से ही सिद्ध है तथैव "सभी तत्त्व अनुपप्लुत हैं" यह बात भी वचनमात्र से ही क्यों न सिद्ध हो जावे? आप शून्यवादी के यहाँ कोई प्रमाण तो है नहीं। प्रत्यक्ष को विषय करने वाला प्रत्यक्ष, अनुमेय को विषय करने वाला अनुमान और अत्यंत परोक्ष को विषय करने वाला आगम ये तीनों प्रमाण—सर्वज्ञ कहलाते हैं। यदि आप कहें कि पर के यहाँ प्रसिद्ध प्रमाण से हम अभाव—शून्यवाद सिद्ध कर देंगे तो वह पर के यहाँ प्रसिद्ध प्रमाण प्रमाण से सिद्ध है या नहीं? यदि सिद्ध है तो वादी प्रतिवादी सभी को सिद्ध है अन्यथा—असिद्ध है तो सभी को असिद्ध है क्योंकि बिना प्रमाण के सिद्ध हम जैनों को कुछ भी मान्य नहीं है। इस प्रकार से आप शून्यवादी सकल तत्त्वों के जानने वाले प्रमाणों से रहित सभी पुरुषों को जानते हुए स्वयं आपका ही खंडन कर लेते हैं क्योंकि "सभी पुरुष तत्त्वों के ग्राहक प्रमाण से रहित हैं" ऐसा जिसने जान लिया वही तो प्रमाण—सर्वज्ञ सिद्ध हो गया और यदि आप प्रमाण को स्वीकार कर लेवें तब तो तत्त्वोपप्लव ही समाप्त हो जावेगा।

यदि आप कहें कि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः व्यवस्थित है तो सभी के इष्ट तत्त्व सिद्ध हो जावेंगे। अच्छा! हम शून्यवादी आप जैनों से पूछते हैं कि प्रमाण की प्रमाणता कैसे आती है? निर्दोषकारक से जन्य होने से, बाधा की उत्पत्ति न होने से, प्रवृत्ति की सामर्थ्य से या अविसंवादी पने से?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो कारकों की निर्दोषता कैसे जानी? प्रत्यक्ष से या अनुमान से? प्रत्यक्ष से तो अतींद्रिय निर्दोषता का ग्रहण नहीं है एवं अविनाभावी लिंग न होने से अनुमान भी नहीं बता सकता। दूसरा पक्ष लेवो तो मरीचिका में भी "यह जल नहीं है" ऐसा बाधक कारण न होने से प्रमाणता आ जावेगी।

प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान में प्रमाणता मानने से भी अनवस्था आती है तथा चतुर्थ पक्ष भी बाधित ही है। यहाँ पूर्व के दो पक्ष मीमांसक की अपेक्षा हैं। तीसरा पक्ष नैयायिक से संबंधित है एवं चौथा पक्ष बौद्धों के खंडन के लिये है।

मीमांसक प्रमाण की प्रमाणता स्वतः मानता है, नैयायिक पर से मानता है एवं बौद्ध अर्थक्रिया सद्भाव लक्षण अविसंवाद ज्ञान को अभ्यास दशा में स्वतः प्रमाण कहता है किन्तु बौद्ध के यहाँ उत्पन्न होते ही ज्ञान उसी क्षण में नष्ट हो जाता है अतः अभ्यास असम्भव है, यदि सन्तान से कहो तो वह अवस्तु है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि आप शून्यवादी का कथन शून्यरूप व्यर्थ ही है। हम स्याद्वादी ज्ञान की प्रमाणता "अदुष्टकारकसंदोहजन्य" इत्यादि चार कारणों से नहीं मानते हैं। हम तो "सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण" से प्रमाण की प्रमाणता सिद्ध करते हैं क्योंकि "ज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक है" यह उपर्युक्त हेतु से सिद्ध है। तथा हमारे यहाँ अभ्यस्त विषय में स्वतः और अनभ्यस्त विषय में

पर से प्रमाणता आती है तथा "असंभवद्बाधकत्व" स्वतः सिद्ध है इसलिये अनवस्था एवं इतरेतराश्रय दोष संभव नहीं हैं। पर से प्रमाणता मानने में वह पर प्रमाण स्वतः प्रमाण रूप है इसलिये भी अनवस्था नहीं आती है।

आत्मा का स्वार्थ संवेदन में अपने २ आवरणों का क्षयोपशम एक बार या पुनः पुनः होना अभ्यास है इससे विपरीत अनभ्यास है। हम आत्मा को कथंचित् नित्यानित्य मानते हैं अतः अभ्यास-अनभ्यास दोनों ही संभव है। पूर्व स्वभाव का त्याग और अपर स्वभाव का उपादान तथा दोनों में अन्वित स्वभाव स्थिति इन तीनों लक्षणों में नित्यानित्य आत्मा में अभ्यास अनभ्यास दोनों ही संभव हैं। अतः आप शून्यवादी कुछ भी स्वयं निश्चित तत्त्व का आश्रय न लेते हुये भी हम जैनों के यहाँ तत्त्व में परीक्षा या संदेह करते हैं या नहीं मानकर शून्य कहते हैं वह कथमपि संभव नहीं है क्योंकि कहीं अपने यहाँ कुछ निश्चय का आश्रय लेकर ही अन्यत्र अनिश्चित विषय में परीक्षा होती है। इसलिये सभी प्रमाण प्रमेय तत्त्व को उपप्लुत—बाधित या प्रलयरूप कहते हुये आप अपनी आत्मा का ही घात कर लेते हैं। अतः तत्त्वोपप्लववादैकांत श्रेयस्कर नहीं है।

[जैनमतमंतरेण सर्वेऽपि मतावलंबिनस्तीर्थंच्छेदसंप्रदाया भवंतीति साध्यते जैनाचार्यैः]

[1]तदेवं कारिकाव्याख्यानमनवद्यमवतिष्ठते। [2]तीर्थंच्छेदसम्प्रदायानां तथा सर्वमवगतमिच्छतामाप्तता[3] नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां [4]स्वप्रमाव्यवस्थे[5]रिति[6]*। [7]एकप्रमाणवादिनो हि संवेदनाद्वैतावलम्बिनश्चित्राद्वैताश्रयिणः परब्रह्मशब्दाद्वैतभाषिणश्च सुगतादयो यथा तीर्थंच्छेदसम्प्रदायास्तथा प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदन्तोपि चार्वाकाः, परमागमनिराकरणसमयत्वात्[8]। यथा च कपिलादयोनेकप्रमाणवादिन-

[सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि में विसंवाद करने वाले मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादियों के यहाँ आप्त के सद्भाव को सिद्ध करके इस समय उस सर्वज्ञ विशेष में विसंवाद करने वाले सौगत, सांख्यादि के प्रति सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करते हैं। एक जैनमत के सिवाय अन्य सभी मतावलंबी जन तीर्थंच्छेद संप्रदाय वाले हैं इस बात को जैनाचार्य सिद्ध करते हैं।]

उपर्युक्त प्रकार से कारिका का व्याख्यान निर्दोष सिद्ध हो जाता है।

"तीर्थंच्छेद संप्रदाय वाले तथा सभी को सर्वज्ञ मानने वालों के आप्तता नहीं है क्योंकि उनके कथन परस्पर में विरुद्ध हैं तथा एक और अनेक प्रमाणवादियों के यहाँ अपने प्रमा-ज्ञान की व्यवस्थिति हो जाती है।"*

[एक ही प्रमाण को मानने वाले कौन-कौन हैं ?]

संवेदनाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, परमब्रह्माद्वैतवादी और शब्दाद्वैतवादी बौद्ध आदि एक प्रमाणवादी हैं। जैसे ये एक प्रमाण मानने वाले तीर्थंच्छेद संप्रदाय वाले हैं वैसे ही प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक भी तीर्थंच्छेद संप्रदाय वाले हैं क्योंकि वे परमागम के समय-संप्रदाय का निराकरण करने वाले हैं।

[अनेक प्रमाण को मानने वाले कौन कौन हैं ?]

जैसे कपिल आदि अनेक प्रमाणवादी तीर्थंच्छेद संप्रदाय वाले हैं वैसे ही तत्त्वोपप्लववादी भी हैं क्योंकि उन लोगों ने एक भी प्रमाण नहीं माना है। "नैक प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिनः" ऐसा व्याख्यान है। अर्थात् "न एक प्रमाणं अनेकप्रमाणं" ऐसा नञ् समास करने पर यहाँ प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ लेना अर्थात् सर्वथा ही निषेध अर्थ होता है।

तथा सभी आप्त, आगम और पदार्थ के समूह को स्वीकार करने की इच्छा करते हुए भी अनेक प्रमाणवादी वैनयिकजन तीर्थंच्छेदसंप्रदाय वाले हैं। उन सभी में आप्तपना नहीं है क्योंकि वे सभी परस्पर विरुद्ध दो अर्थों का कथन करने वाले हैं।

1 वक्ष्यमाणप्रकारेण। 2 सर्वज्ञसामान्ये विप्रतिपत्तिमतां मीमांसकचार्वाकतत्त्वोपप्लववादिनामात्मत्वसद्भावं प्रसाध्येदानीं तद्विशेषविप्रतिपत्तिमतां सौगतादीनां निर्वचनं साधयति तीर्थेत्यादिना। 3 कारिकास्थितस्य सर्वेषामिति पदस्य विवरणमिदं, सर्वमिच्छंतीति सर्वंवस्तेषामिति निर्वचनात्। (ब्या० प्र०) 4 स्वेन स्वकीयपरिच्छित्तस्य भावात्। (ब्या० प्र०) 5 प्रमितिः। (ब्या० प्र०) 6 विघटनात्। (ब्या० प्र०) 7 एकतत्त्ववादिनः। (ब्या० प्र०) 8 समयः सम्प्रदायः।

स्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोपि, तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात्, [1]नैक-प्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात्। तथा [2]सर्वमाप्तागमपदार्थ[3]ज्ञातमवगत-मिच्छन्तोप्यनेकप्रमाणवादिनो[4] वैनयिकास्तीर्थच्छेदसम्प्रदायाः। तेषामशेषाणामाप्तता[5] नास्ति, परस्परविरुद्धयोरर्थयोरभिधानात्।

भावार्थ—विश्व में दो प्रकार के दर्शन प्रचलित हैं। १. आस्तिक २. नास्तिक। आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले सभी आस्तिक कहलाते हैं एवं जो आत्मा का अस्तित्व तथा परलोक आदि नहीं मानते हैं वे नास्तिक कहलाते हैं। इस व्याख्या से चार्वाक भूतचतुष्टयवादी होने से आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते हैं अतः नास्तिक हैं तथा तत्त्वोपप्लववादी तो आत्मा, परमात्मा, स्वयं की आत्मा एवं जड़ पदार्थ आदि किसी का भी अस्तित्व नहीं मानते हैं अतः ये भी नास्तिक हैं इन दोनों के यहाँ सर्वज्ञ मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है किन्तु वैदिक संप्रदाय में एक मीमांसक संप्रदाय वाले हैं जो किसी भी पुरुष को अतीन्द्रिय सर्वज्ञ मानने को तैयार नहीं हैं। ये तीनों सर्वथा ही सर्वज्ञ के अभाव को करने वाले हैं और बौद्ध सांख्य एवं वैशेषिक ये लोग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तो मानते हैं किन्तु इनकी मान्यतायें सुघटित नहीं हैं, इनके द्वारा मान्य बुद्ध भगवान् महेश्वर आदि सच्चे सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं। इसलिए इन सभी के सिद्धांतधर्मतीर्थ का विनाश करने वाले होने से ये सभी लोग तीर्थच्छेद संप्रदाय वाले कहे गये हैं। ब्रह्माद्वैतवादी आदि सभी अद्वैतवादी एक अद्वैत रूप ही जगत् मानते हैं कोई ब्रह्मरूप, कोई शब्दरूप एवं कोई ज्ञानरूप इत्यादि। इसलिये ये सभी अद्वैतवादी एक प्रमाणवादी कहलाते हैं इसी प्रकार चार्वाक भी एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है क्योंकि उसके यहाँ पांच इन्द्रियों के ज्ञान के सिवाय कोई बात प्रमाणिक है ही नहीं अतः यह चार्वाक भी एक प्रमाणवादी है।

बौद्ध, सांख्य, मीमांसक आदि दो, तीन, चार आदि प्रमाण मानते हैं इसलिए ये सभी अनेक प्रमाणवादी हैं। यहाँ पर तत्त्वोपप्लववादी को अनेक प्रमाणवादी कहने का मतलब यह है कि वह एक भी प्रमाण नहीं मानता है इसलिए व्याकरण के नञ् समास के अनुसार ही यह व्याख्या है जैसे "न उदरं यस्या असौ अनुदरा कन्या" जिसके उदर नहीं है वह अनुदरा है मतलब जिसका पेट छोटा है यहाँ पर नञ् का अर्थ किंचित् रूप है और ऊपर अनेक प्रमाणवादी में नञ् का अर्थ सर्वथा निषेध रूप है। अतः "अनेक" शब्द का बहुत वाची अर्थ न "एक भी नहीं" ऐसा अर्थ हो जाता है। यह लक्षण मात्र तत्त्वोपप्लववादी के लिये ही घटित करना है।

---

1 तथापि तत्त्वोपप्लववादिनामनेकप्रमाणत्वं कथमित्यत आह नैकेति। प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं। 2 समूहम्। 3 अभ्युपगतं। सर्वं विद्यते सर्वज्ञसमीचीनमस्तीति यावत्। (ब्या० प्र०) 4 अभ्युपगतम्। स्वीकृतमित्यर्थः। 5 सत्यता संवादकता।

[सर्वेषामद्वैतवादिनां निराकरणं]

तत्र संवेदनाद्वैतानुसारिणः[1] स्वपक्षसाधनस्य परपक्षदूषणस्य [2]वा संविदद्वैतविरुद्धस्याभिधानं[3], 'तया[5] द्वैतप्रसिद्धेः। संवृत्त्या[6] तदुपगमे न परमार्थतः संविदद्वैतसिद्धिः, [7]अतिप्रसङ्गात्। एतेन चित्राद्वैतपरब्रह्माद्यवलम्बिनां परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिवर्णितम्।

एक वैनयिक मतवाले हैं जो कि सभी के भगवान् को सभी के गुरु और आगम को मानते हैं तथा सभी के मान्य पदार्थ भी स्वीकार कर लेते हैं और सभी की विनय भक्ति करते हैं किन्तु ये भी तोर्थ का विलास करने वाले हैं क्योंकि प्रायः सभी के मत परस्पर में एक दूसरे के विपरीत ही हैं अतः सभी को तो सर्वज्ञ माना नहीं जा सकता है।

[अद्वैतवादियों का खण्डन]

संवेदनाद्वैतवादी के यहाँ स्वपक्ष साधन अथवा परपक्षदूषण वचन संवेदनाद्वैत से विरुद्ध ही है क्योंकि उस प्रकार मानने पर तो द्वैत का ही प्रसंग आ जाता है और संवृत्ति से उसे स्वीकार करने पर परमार्थ से संवेदनाद्वैत सिद्ध नहीं होगा अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा। अर्थात् स्वपक्ष साधन अथवा परपक्ष दूषण के होने पर द्वैत का प्रसंग आता है। इस दोष को दूर करते हुये यदि आप बौद्ध कल्पना से द्वैत को स्वीकार करें तब तो संवेदनाद्वैत की सिद्धि भी कल्पना से ही होगी न कि निश्चय से।

इसी कथन से चित्राद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी के यहाँ भी परस्पर विरुद्ध कथन पाया जाता है उसका भी निराकरण कर दिया है।

विशेषार्थ—जो एक रूप ही सारे विश्व को मान लेते हैं वे एक प्रमाणवादी कहलाते हैं। ये सभी अद्वैतवादी हैं, इनमें पाँच भेद हैं—विज्ञानाद्वैतवाद, चित्राद्वैतवाद, शून्याद्वैतवाद, ब्रह्माद्वैतवाद और शब्दाद्वैतवाद। यहाँ संक्षेप से इनका वर्णन करते हैं यथा—

[विज्ञानाद्वैतवाद का खण्डन]

विज्ञानाद्वैतवादी का कहना है कि अविभागी एक बुद्धि मात्र को छोड़कर जगत् में और कोई पदार्थ है ही नहीं, इसलिये एक विज्ञानमात्र तत्त्व ही मानना चाहिये। ऐसे एक विज्ञानमात्र तत्त्व को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है। उसका कहना है कि हम अर्थ का अभाव होने से ज्ञान मात्र तत्त्व मानें ऐसी बात नहीं है, किन्तु अर्थ और ज्ञान एकत्र उपलब्ध होते हैं अतः इनमें अभेद माना है। "जो प्रतिभासित होता है वह ज्ञान है क्योंकि प्रतीति में आ रहा है जैसे सुखादि और नीलादि प्रतीत हो रहे हैं अतः वे भी ज्ञान ही हैं" इस अनुमान के द्वारा समस्त पदार्थ एक ज्ञानरूप सिद्ध हो जाते हैं।

---

1 ता। (ब्या० प्र०) 2 वा स्थाने च इति पाठांतरं ब्यावरपुस्तके। (ब्या० प्र०) 3 विद्यते। एकानेकप्रमाणवादिना स्वप्रमाण्यापत्तेरिति संबंधः। (ब्या० प्र०) 4 तथा इति। 5 प्रमाणप्रमेयभेदेन। (ब्या० प्र०) 6 स्वपक्षसाधने परपक्षदूषणे वा सति द्वैतप्रसङ्गं निराकुर्वन् यदि कल्पनया द्वैतमङ्गीकुर्यात्तदा संविदद्वैतसिद्धिरपि कल्पनयैव सिद्धयेन्न निश्चयेनेत्यर्थः। 7 [illegible]त्कस्यचिद् सिद्धा वितरस्यापि तत्त्वस्य कल्पितात्सिद्धिप्रसंगः (ब्या० प्र०)

आप द्वैतवादी—जैन आदि लोग "अहं प्रत्यय" से आत्मा को सिद्ध करते हैं, किन्तु वह अहं प्रत्यय क्या है ? गृहीत है या अगृहीत, निर्व्यापार है या व्यापार सहित, निराकार है या साकार ? इत्यादि रूप से अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं।

यदि आप जैन कहें कि "अहं प्रत्यय" गृहीत है तो भी प्रश्न उठेगा कि स्वगृहीत है या पर से ? इत्यादि प्रश्नमालाओं का विराम नहीं हो सकेगा।

विज्ञानाद्वैतवादी के इस सिद्धान्त को सुनकर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि भाई ! आप ज्ञानमात्र ही तत्त्व मानते हो तो केवल वचन मात्र से ही मानते हो या प्रमाण से ? यदि वचन मात्र से कहो तो सभी अपने-अपने वचनों से अपने-अपने तत्त्वों की मान्यता को सच्ची कह रहे हैं, पुनः सारा विश्व एक विज्ञान रूप ही कहाँ रहा ? यदि कहो कि प्रमाण से हम एक विज्ञान तत्त्व को सिद्ध करते हैं तब तो प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष प्रमाण से तो आप सम्पूर्ण पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष तो बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को ही सिद्ध कर रहा है न कि बाह्य पदार्थों के अभाव को। अनुमान से भी आप अंतरंग, बहिरंग पदार्थों (चेतनाचेतन) को समाप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष से बाधित है। यदि अनुमान उसमें प्रवृत्ति करेगा तो बाधित पक्षवाला अनुमानाभास हो जावेगा।

आपने जो कहा कि पदार्थ और ज्ञान एक साथ उपलब्ध हो रहे हैं अतः एक हैं यह मान्यता भी गलत है क्योंकि जो पदार्थ एक साथ हों वे एक ही हों यह नियम बन नहीं सकता है। रूप और प्रकाश एक साथ हैं किन्तु एक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त ! बाह्य पदार्थ न होते हुये भी अंतरंग में सुखादि का अस्तित्व पाया जाता है। सामने महल भोजन आदि समान होते हुये भी उनका ज्ञान पाया जाता है। तथा सर्वज्ञ का ज्ञान और ज्ञेय एक साथ होने से क्या एकमेक हो जावेंगे ? अर्थात् नहीं। आपने जो "अहं प्रत्यय" का खंडन किया है वह भी गलत है "मैं ज्ञानमात्र तत्त्व को जानता हूँ" इस आपकी मान्यता में तो "अहं—मैं" शब्द आ ही गया है फिर आपने जो प्रश्न उठाये हैं वे भी कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। देखिये ! आपने जो प्रथमतः प्रश्न किया है कि अहं प्रत्यय गृहीत है या अगृहीत ? सो अहं प्रत्यय स्वयं ही सबको गृहीत है "मैं जानता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं पढ़ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" इत्यादि से सभी को मैं शब्द का अनुभव स्वयं ही आ रहा है एवं अपने को और पर को जानने वाला होने से यह "अहं प्रत्यय" व्यापार सहित है इत्यादि।

दूसरी बात यह है कि एक ज्ञानमात्र ही तत्त्व को मानने पर तो सबसे बड़ी आपत्ति यह आती है कि वही ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक रूप से दो रूप सिद्ध हो जाता है पुनः अद्वैतवाद सिद्ध न होकर द्वैत सिद्ध हो जाता है। तथा एक यह भी बाधा आती है कि ज्ञान ही जब ग्राह्य और ग्राहक बन गया तब बाह्य पदार्थों में उठाना, रखना, फोड़ना, पकड़ना आदि जो कार्य देखा जाता है वह कैसे संभव होगा ? ज्ञानमात्र में अखंड के झलकने से किसी को आज तक उसका स्वाद नहीं आया है। जब सभी पदार्थों

के आकार ज्ञानमात्र में ही हैं तब तो पदार्थ के अभाव में अनेकों क्रियायें संभव नहीं हो सकेंगी।

इस पर बौद्ध ने कहा है कि भाई! जितने भी कार्य दिख रहे हैं वे सब कल्पना मात्र हैं केवल संवृत्ति से ही दिख रहे हैं। तब तो भाई! आप का विज्ञान तत्त्व भी कल्पना मात्र ही रहा। यदि एक ज्ञान तत्त्व को वास्तविक कहोगे और सभी को कल्पना मात्र कहोगे तब भाई! कहने वाले आप और सुनने वाले हम सभी कल्पित ही रहेंगे तो आपका तत्त्व प्रतिपादन एवं उसकी व्यवस्था भी कल्पित ही सिद्ध होगी। इसलिये जगत् को चेतन अचेतन से अंतरंग, बहिरंग तत्त्व रूप मानना ही पड़ेगा और विज्ञानमात्र तत्त्व को कल्पित सिद्ध करके वास्तविक द्वैत की सिद्धि ही निर्बाध सिद्ध हो जावेगी।

"चित्राद्वैतवाद"

बौद्धों के यहाँ विज्ञानाद्वैतवाद के समान ही चित्राद्वैतवाद भी है। इन दोनों में भेद इतना ही है कि विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान में होने वाले नीलादि, घटपटादि आकारों को भ्रांत-कल्पित-झूठ मानते हैं और चित्राद्वैतवादी उन आकारों को सत्य मानता है, किंतु दोनों के यहाँ अद्वैत का साम्राज्य है।

चित्राद्वैतवादी का कहना है कि अनेक नीलादि आकार को धारण करने वाली एक बुद्धि ही एकमात्र तत्त्व है। संसार में और कुछ भी तत्त्व नहीं है।

इस मान्यता पर जैनाचार्यों का कहना है कि भाई! चित्र ज्ञान भी कहो और एक ज्ञान भी कहो यह बात तो परस्पर विरुद्ध ही है। जब चित्रज्ञान है तब उसमें अनेकों आकार पाये जाते हैं। पुनः आप उसे अद्वैत नहीं कह सकते हैं। यदि चित्रज्ञान के अनेक आकारों को संवृत्तिरूप कहो तब तो आपका अद्वैत भी संवृत्तिरूप ही सिद्ध होगा। इसलिये क्रम तथा अक्रम से नीलादि अनेक पदार्थ के आकार को ग्रहण करने वाले ज्ञान से युक्त एक आत्मा का ही अस्तित्व मान लो, साथ ही साथ बाह्य पदार्थों को भी वास्तविक मानकर द्वैत सिद्धांत में आ जाओ, क्योंकि चित्राद्वैत की सिद्धि होना कथमपि शक्य नहीं है।

"शून्याद्वैतवाद"

बौद्ध के चार भेदों में से एक माध्यमिक है, यह सकल जगत् को शून्यरूप ही मानता है इसका कहना है कि जगत् में चेतनाचेतन आदि सभी पदार्थ काल्पनिक हैं, इन्द्रजाल के समान हैं अतएव यह सारा जगत् शून्य रूप ही है शून्यवादी एक ज्ञान में अनेक आकार भी नहीं मानता है।

इस पर जैनाचार्य ने समझाया है कि भाई! यदि एक ज्ञान में अनेक आकार नहीं मानोगे तो नील कमल के एक अंश का ग्राहक ज्ञान उसी कमल के दूसरे अंश को ग्रहण नहीं कर सकेगा अन्यथा एक ज्ञान में अंश की अपेक्षा अनेक आकार आ जावेंगे और यदि एक ज्ञान एक समय में कमल के एक ही अंश को ग्रहण करेगा तो अन्य सभी अंशों को ग्रहण न कर सकने से उस कमल का अस्तित्व नहीं सिद्ध होगा और न कमल दीखेगा एवं प्रमाण जिसे ग्रहण नहीं करेगा वह प्रमेय रूप भी कैसे होगा, और जब प्रमेय का अस्तित्व नहीं मानोगे तो ये राम, नगर, बगीचे, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जो दिख रहे हैं उनका लोप आप कैसे करेंगे? संसार में प्रतीति के बल से सभी वस्तुओं का अस्तित्व प्रायः

सभी वादी प्रतिवादी मान लेते हैं आप दिखते हुये सारे विश्व को शून्य रूप कहते हुये तो पहले आप अपने आपको समाप्त कर लेंगे एवं शून्यवाद का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि शून्यवाद का अस्तित्व मानोगे तब तो सर्वथा इसका खंडन तो अभावैकांत का निरसन करते समय आचार्य स्वयं ही बहुत ही सुन्दर ढंग से करेंगे।

"ब्रह्माद्वैतवाद"

ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक परमब्रह्मस्वरूप ही है। जगत् में जो कुछ भी प्रतिभासित हो रहा है वह सब परमब्रह्म की पर्याय है। सभी वस्तुएँ सत् रूप हैं बस! इस सत् का जो प्रतिभास है वही परमब्रह्म है। इस ब्रह्मवाद का खंडन आगे चलकर अद्वैतवाद के खंडन में स्वयं आचार्य ने बहुत ही विशेष रूप से किया है यहाँ पर केवल संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

ब्रह्मवादी का कहना है कि "ये सभी चेतन अचेतन पदार्थ प्रतिभासस्वरूप परमब्रह्म में ही अंतः प्रविष्ट हैं क्योंकि प्रतिभासित हो रहे हैं जैसे कि परमब्रह्म का स्वरूप उसी के अंतः प्रविष्ट है। सारे जगत् के पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं अतः वे परमब्रह्म के ही अंतः प्रविष्ट हैं।"

इस पर जैनाचार्यों का कथन है कि ये जो चेतन अचेतनादि अनेक पदार्थ दिखाई दे रहे हैं ये सर्वथा असत्य—काल्पनिक नहीं हैं क्योंकि जैसे स्वप्न के राज्य से सुख नहीं मिलता है, स्वप्न में भोजन करने से पेट नहीं भरता है वैसी बात तो साक्षात् राज्य का उपभोग करने में या भोजन करने में नहीं है प्रत्युत वास्तविकता दृष्टिगोचर होती है अतएव सर्वथा इन सभी व्यवहारों को अविद्या का विलास कहना उचित नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि आप अपने ब्रह्मवाद को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि तो मानोगे ही फिर भला सर्वथा अद्वैत कहाँ रहा? यदि इन प्रमाणों को भी काल्पनिक कहोगे तो काल्पनिक उपायों से परमब्रह्म की सिद्धि भी काल्पनिक होगी न कि वास्तविक, क्योंकि झूठ बोलने वाला व्यक्ति किसी बात को झूठी ही कहेगा न कि सत्य, यदि सत्य भी कहेगा तो वह असत्य-भाषी नहीं कहलायेगा। इसलिये अविद्या से आपका परमब्रह्म भी अविद्या का ही विलास रह जाता है।

"शब्दाद्वैतवाद"

शब्दाद्वैतवादी का कहना है कि यह सारा जगत् शब्दब्रह्म स्वरूप है, वह शब्दब्रह्म तो अनादि-निधन है और अक्षरादि उसके विवर्त हैं। जितने चेतनाचेतन पदार्थ हैं वे सभी इसी शब्दब्रह्म के भेद प्रभेद हैं। ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही पदार्थ का निश्चय कराता है। अतएव जगत् में जितना भी ज्ञान है वह शब्द के द्वारा ही होता है। उनके यहाँ शब्द के चार भेद माने हैं। वैखरीवाक्, मध्यमावाक्, पश्यंतीवाक् और सूक्ष्मावाक्। कहा भी है—

"वैखरी शब्दनिष्पत्तिः मध्यमा श्रुतिगोचरी।
द्योतितार्था च पश्यंती सूक्ष्मावागनपायिनी॥"

अर्थ—वक्ता के कंठ, तालु आदि स्थानों से प्राणवायु के सहारे जो ककारादि वर्ण या स्वर उत्पन्न होते हैं उसे वैखरीवाक् कहते हैं।

अंतरंग में जो अल्परूप वचन हैं वे मध्यमावाक् हैं। जो ककारादि के क्रम से रहित हैं तथा ज्ञानरूप हैं जिसमें वाच्य, वाचक का विभाग नहीं होता है वे पश्यंतीवाक् हैं।

परम ज्योतीस्वरूप, अत्यंत दुर्लक्ष्य, काल आदि भेद से रहित ऐसी सूक्ष्मावाक् है। इसी सूक्ष्मावाक् से सारा विश्व व्याप्त है। यदि ज्ञान शब्द ब्रह्म की वचनरूपता का उल्लंघन करे तब तो कुछ भी ज्ञान का प्रकाश ही नहीं रहेगा।

इस शब्दाद्वैतवाद का प्रमेयकमलमार्तण्ड में श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बड़े ही सुन्दर ढंग से खंडन कर दिया है। आचार्य ने कहा है कि यह सारा जगत् शब्दमय है ऐसा अनुभव कहाँ होता है? सारे ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही होते हैं यह बात भी नहीं दिख रही है। नेत्रादि इंद्रियों से जो ज्ञान होता है उसमें शब्द का संबंध है ही नहीं। एक कर्ण ज्ञान को छोड़कर किसी भी ज्ञान में शब्द का संबंध नहीं है फिर भी यदि जबरदस्ती ही मानो तब तो हम आपसे प्रश्न करते हैं कि ज्ञान से शब्द का संबंध आपको कैसे हो रहा है, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से? प्रत्यक्ष से कहो तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नेत्र के द्वारा जो भी नीलादि पदार्थों का प्रतिभास है वह शब्द से रहित है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी शब्द को विषय नहीं करता है।

उपर्युक्त यह सब दोषारोपण देखकर शब्दाद्वैतवादी कहता है कि शब्द का संबंध पदार्थ से है अर्थात् सभी चेतनाचेतन पदार्थ शब्द से अनुविद्ध हैं। इस पर भी यह प्रश्न होता है कि पदार्थ का स्थान और शब्द का स्थान एक है क्या? यदि एक कहो तो बहुत बड़ी आपत्ति आ जावेगी। अग्नि, जल आदि पदार्थ और शब्द एकमेक होने से अग्नि शब्द के सुनते कान जल जावेंगे एवं जल शब्द से कान में पानी भर जावेगा तब तो कान से कुछ सुनाई भी नहीं देगा, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है अतः शब्द और पदार्थ का तादात्म्य संबंध नहीं है क्योंकि पदार्थ और शब्द भिन्न २ इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं शब्द केवल कर्णेन्द्रिय गम्य है।

दूसरी बात यह है कि यदि आप जगत् को शब्द रूप मानते हो तब तो यह भी प्रश्न होता है कि यह शब्दब्रह्म जगत् रूप परिणत होता है तब अपने स्वभाव को छोड़कर होता है या बिना छोड़े? यदि छोड़ कर कहो तो शब्दब्रह्म अनादि निधन कहाँ रहा? यदि शब्द अपने स्वभाव को छोड़े बिना भी जगत् रूप होता है तब तो बहिरे को, एकेन्द्रिय आदि को, और तो क्या पत्थर को भी सुनाई देना चाहिये क्योंकि सभी चेतन अचेतन पदार्थ शब्द से तन्मय ही तो हैं, किन्तु ऐसा दिखता तो है नहीं। पुनरपि एक प्रश्न उठता है कि आपके शब्द ब्रह्म से यह जगत् रूप पर्याय भिन्न है या अभिन्न? प्रथम पक्ष लेवो तो अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। यदि द्वितीय पक्ष लेवो तो ये नानाभेद क्यों दिखाई देते हैं?

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिचार्वाकस्य निराकरणं क्रियते जैनैः]

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदतां[1] [2]प्रमाणेतरसामान्यस्थितिस्थापनस्य[4] [3]संवादेतरस्वभावलिङ्गजानुमाननिबन्धनस्य[6] परचित्तावबोधस्य च व्यापारादिकार्यलिङ्गोत्थानुमान[7]निमित्तस्य परलोकादिप्रतिषेधस्य चानुपलब्धिलिङ्गोद्भूतानुमानहेतुकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणविरुद्ध-

---

इस प्रकार से जैनाचार्यों के द्वारा दिये गये इन सभी दोषों से घबराकर उस शब्दाद्वैतवादी ने कहा कि भाई ! हमारे यहाँ ये कुछ भी दोष नहीं आते हैं क्योंकि हमारी मान्यता है कि शब्दब्रह्म से भिन्न जो नाना पदार्थ दिखाई दे रहे हैं यह केवल अविद्या का ही विलास है। हमारे यहाँ योगीजन तो शब्द ब्रह्म को नाना रूप से न देखकर एक रूप ही देखते हैं तब प्रश्न यह होता है कि वह अविद्या शब्दब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो द्वैत हो गया और यदि अभिन्न है तो आपका शब्दब्रह्म अविद्या रूप ही रहा।

और दूसरी आपत्ति यह आती है कि यदि आपकी मान्यता के अनुसार पदार्थ शब्दमय हैं तब तो 'गिरि' शब्द तो इतना छोटा है और 'गिरि' शब्द का वाच्य पहाड़ कितना बड़ा दिख रहा है ऐसा क्यों ? शब्दमय गिरि पदार्थ कहाँ रहा ? किसी भी पदार्थ के वाचक शब्द क्या उस वस्तु के बराबर बड़े हो सकते हैं अणु शब्द और आकाश, मेरु आदि के वाचक शब्द अपने वाच्य के बराबर हो जावें फिर क्या होगा ? तथा यदि शब्दमय पदार्थ हैं तो संकेतादि के बिना भी प्रत्येक बालक, मूर्ख आदि को उसका ज्ञान होना चाहिये, किंतु ऐसा होता नहीं है बाल्यकाल से ही बालकों को हजारों बार पदार्थों में संकेत कराया जाता है। देखो बालक ! "यह पुस्तक है, यह पेंसिल है" इत्यादि प्रत्येक वस्तु में बार-बार संकेत के सुनने से बालक उस नाम से उस पदार्थ को जानने लगता है। इन बातों से यह निश्चित हो जाता है कि आपका शब्दाद्वैतवाद प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है, इसका दुराग्रह छोड़ देना चाहिये।

[चार्वाक का खण्डन]

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ऐसा कहने वाले चार्वाक के यहाँ संवाद और विसंवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान के निमित्त से होने वाली प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था और वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान के निमित्त से होने वाला पर के चित्-चैतन्य का ज्ञान तथा अनुपलब्धि हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान हेतुक परलोकादि का निषेध है ऐसा कथन प्रत्यक्षैक प्रमाण के विरुद्ध है ऐसा समझना चाहिये और इनके मानने पर तो प्रमाणांतर—अनुमान प्रमाण सिद्ध हो जाता है। अर्थात् चार्वाक प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था को संवाद और विसंवाद से ही मानता है बस ! यही स्वभाव हेतु है। उसी प्रकार से दूसरों की बुद्धि का ज्ञान उसके वचन बोलने आदि कार्य हेतु से होता है तथैव परलोकादि का निषेध अनुपलब्धि हेतु से होता है अतः इन तीन हेतुओं से उत्पन्न हुये अनुमान को मान लेने से यह चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है यह बात नहीं बन सकती है।

---

1 चार्वाकाणाम्। 2 अप्रमाणमनुमानादिकं। (ब्या० प्र०) 3 इतरत्=असत्यम्। 4 समर्थनस्य। (ब्या० प्र०)
5 इतरः=विसंवादः। 6 बलः। (ब्या० प्र०) 7 बलः। (ब्या० प्र०)

स्याभिधानं[1] प्रतिपत्तव्यं, [2]तथा [3]प्रमाणान्तरसिद्धेः[4]। परोपगमात्तत्स्वीकरणे [5]स्वयं प्रमाणेतरसामान्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः कुतः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादः[6], [7]अतिप्रसङ्गात्।

यदि आप कहें कि पर की स्वीकृति से हम प्रमाणांतर को स्वीकार करके निषेध करते हैं तब तो स्वयं प्रमाण और प्रमाणाभास रूप सामान्य की व्यवस्था नहीं हो सकने से आपके यहाँ प्रत्यक्ष रूप ही एकप्रमाणवाद कैसे सिद्ध होगा ? अन्यथा अतिप्रसंग आ जावेगा। अर्थात् अनुमान के सद्भाव में भी एकप्रमाणवाद को यदि चार्वाक मानें तब तो अनेक प्रमाणवादी वैशेषिकादिकों को भी एकप्रमाणवादिता का प्रसंग आ जावेगा।

भावार्थ—चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानता है उसके प्रति आचार्य कहते हैं कि—

प्रमाणेतरसामान्य स्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणांतरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥

अर्थ—प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति होने से शिष्यादि की बुद्धि के ज्ञान से और परलोकादि के प्रतिषेध से प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाणरूप अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि अनुमान प्रमाण के माने बिना न तो प्रमाण सामान्य ही सिद्ध हो सकता है और न अप्रमाण सामान्य ही, क्योंकि किसी भी ज्ञान सामान्य को प्रमाण सिद्ध करने में उसका अविसंवादी होना आवश्यक है तथैव मिथ्याज्ञान का विसंवाद के साथ अविनाभाव संबंध है। अतः प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य को सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रमाण का मानना आवश्यक ही हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि चार्वाक "एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" इस प्रकार जब दूसरों को समझावेगा तब अन्य पुरुष के वचन चातुर्य आदि के द्वारा उसकी बुद्धि रूप कार्य का अनुमान करके ही तो समझावेगा क्योंकि वचन चातुर्य आदि बुद्धि के कार्य हैं तथैव पुण्य, पाप परलोकादि का निषेध करने के लिये उस चार्वाक को अनुपलब्धि रूप हेतु का आश्रय लेना ही पड़ेगा। अर्थात् प्रमाण और अप्रमाण सामान्य की व्यवस्था संवाद और विसंवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान से होती है तथा वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुआ जो अनुमान है उस अनुमान से पर की बुद्धि आत्मा आदि का ज्ञान होता है पुनः उसको समझाया जाता है एवं अनुपलब्धि हेतुक अनुमान से परलोक, पुण्य, पापादि का निषेध किया जाता है अतः चार्वाक के यहाँ अनुमान प्रमाण बिना माने ही अवरुद्ध हो जाता है। चार्वाक उसका निषेध नहीं कर सकते हैं और यदि करते हैं तो उनके यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

---

1 अस्तीति। (ब्या० प्र०) 2 तथा सति। 3 अनुमान। (ब्या० प्र०) 4 "प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः। प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्" इति वचनात्। 5 स्वस्य। (ब्या० प्र०) 6 अथवा। 7 अनुमानसद्भावेप्येकप्रमाणवादिता चार्वाकस्य यदि स्यात्तदानेकप्रमाणवादिनां वैशेषिकादीनामप्येकप्रमाणवादिताप्रसङ्गात्।

[तर्केण विनानेकप्रमाणवादिनां प्रमाणव्यवस्थापि न तत्त्वव्यवस्थां कर्तुं क्षमा]

तथानेकप्रमाणवादिनां [1]कपिल[2]कणभक्षाक्षपाद[3]जैमिनिमतानुसारिणां[4] स्वोपगतप्रमाण-संख्यानियमविरुद्धस्य सामस्त्येन साध्यसाधनसम्बन्धज्ञानस्याभिधानं[5] बोद्धव्यं, प्रमाणा-न्तरस्योहस्य सिद्धेः। यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोऽग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति प्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यं, [6]तस्य सन्निहितविषयप्रतिपत्तिफलत्वात्। नाप्यनुमानस्य[7], अनवस्थानात्, तद्व्याप्तेरप्यपरानुमानगम्यत्वात्। इति वैशेषिकस्योहः [8]प्रमाणान्तरमनिच्छ-तोप्यायातम्। [9]एतेन सौगतस्य प्रमाणान्तरमापादितम्[10]। तथागमस्यापि व्याप्तिग्रहणेऽन-

[तर्क प्रमाण के न मानने से हानि]

तथा अनेक प्रमाणवादी कपिल—सांख्य, कणभक्ष—वैशेषिक, अक्षपाद—नैयायिक, जैमिनि—प्रभाकरभट्ट के मत का अनुसरण करने वालों को अपने द्वारा स्वीकृत प्रमाण की संख्या के नियम से विरुद्ध समस्त रीति से साध्य साधन के सम्बन्ध का ज्ञान रूप तर्क नाम का प्रमाण अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये। वह भिन्न प्रमाण रूप ऊह नाम से प्रसिद्ध हो है। अर्थात् इन सभी ने दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि रूप से प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव रूप जो प्रमाण माने हैं उनमें तर्क प्रमाण न होने से साध्य साधन के अविनाभाव को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है, एक तर्क ही ऐसा प्रमाण है जो व्याप्ति को विषय कर सकता है। इसीलिये आचार्य उस तर्क को पृथक् प्रमाण सिद्ध करते हैं।

जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से उत्पन्न हुआ है अथवा अनग्नि से उत्पन्न नहीं हुआ है इस प्रकार के ज्ञान को कराने में प्रत्यक्ष की सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष सन्निहित—वर्तमान विषय के ज्ञान का फलस्वरूप है। अनुमान भी उस व्याप्ति को जानने में समर्थ नहीं है, क्योंकि अन-वस्था आ जाती है कारण यह है कि वह व्याप्ति भी अन्य अनुमान से गम्य होगी। इस प्रकार से वैशे-षिक के यहाँ तर्क नाम का प्रमाण स्वीकार न करने पर भी आ ही जाता है।

इसी कथन से सौगत के यहाँ भी तर्क नाम का भिन्न प्रमाण आ ही जाता है।

तथा आगम भी व्याप्ति को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं है अतः कपिल—सांख्य को तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा एवं व्याप्ति को ग्रहण करने में उपमान प्रमाण भी असमर्थ है अतः आप नैया-यिक को भी इस तर्क को मानना ही होगा। प्रभाकर के यहाँ भी अनुमान के समान अर्थापत्ति से व्याप्ति का ज्ञान न होने से तथा भट्टमतानुसारी को मान्य अभाव प्रमाण भी उसे नहीं जान सकता है

1 कपिलः=सांख्यः। 2 कणभक्षो=वैशेषिकः। 3 अक्षपादो=नैयायिकः। 4 जैमिनिः=प्रभाकरभट्टः। 5 ऊहाख्यस्य। 6 प्रत्यक्षस्य। 7 ऊहपरिज्ञाने असमर्थम्। 8 अनिष्टम्। 9 वैशेषिकस्य प्रमाणान्तरमतिपादनेन। 10 सौगतेनापि प्रत्यक्षानुमानाख्यप्रमाणद्वयस्वाभ्युपगमात्।

धिकारात्कापिलस्योहः प्रमाणं नैयायिकस्य च [1]तत्रोपमानस्याप्यसमर्थत्वात् [2]प्राभाकरस्य चार्थापत्तेरप्यनुमानवत्तत्राव्यापाराद्भट्टतानुसारिणश्चाभावस्यापि तत्राप्रधिकृतत्वात्[3]। तथैकमपि प्रमाणमनभ्युपगच्छतां तत्त्वोपप्लववादिनामनेकप्रमाणवादिनां तत्त्वोपप्लवोपगमस्य प्रमाणसिद्धविनाभाविनः सकलतत्त्वोपप्लवविरुद्ध[4]स्याभिधानमवगन्तव्यम्।

[परस्परविरोधदोषस्य स्पष्टीकरणं]

वैनयिकानां तु सर्वमवगतमिच्छतां परस्परविरुद्धाभिधानं विरुद्धसंवेदनं प्रसिद्धमेव, [5]सुगतमतोपगमे [6]कपिलादिमतस्य विरोधात्। ततः सिद्धो हेतुः परस्परविरोधत इति

अतएव इन प्रभाकर और भाट्ट को भी तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा अर्थात् चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ये चार प्रमाण मानते हैं। इन्हीं चार प्रमाणों में अर्थापत्ति मिलाकर प्रभाकर पाँच प्रमाण मानता है एवं मीमांसक और जैमिनीय इन्हीं पाँच प्रमाणों में एक अभाव प्रमाण मिलाकर छह प्रमाण मानते हैं।

तथा एक भी प्रमाण को न स्वीकार करते हुए तत्त्वोपप्लववादी अनेक प्रमाणवादी हो जाते हैं "न एकः अनेकः" से जहाँ एक नहीं वहाँ अनेक सिद्ध हो जाता है। उनकी तत्त्वोपप्लव-शून्यवाद की स्वीकृति प्रमाणसिद्धि से अविनाभावी है वह संपूर्णतत्त्वोपप्लव से विरुद्ध-तत्त्व के सद्भाव का ही कथन कर देती है ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् तत्त्वोपप्लवग्राही प्रमाण सत्यभूत सिद्ध हो जाता है एवं तत्त्वोपप्लव रूप प्रमेय भी सत्यरूप सिद्ध हो जाता है। अतः सम्पूर्ण तत्त्व के अभाव का कथन ही विरुद्ध हो जाता है।

[परस्पर विरोध दोष का स्पष्टीकरण]

सभी को अवगत रूप-मान्य रूप स्वीकार करते हुये वैनयिकों का परस्पर विरुद्ध कथन करने वाला विरुद्ध ज्ञान प्रसिद्ध ही है क्योंकि सुगत मत की स्वीकृति में सांख्य के द्वारा स्वीकृत मत विरुद्ध हो जाता है। इसलिये "परस्पर विरोधतः" यह हेतु सिद्ध ही है और यह सभी तीर्थंकृत् संप्रदायों में आप्त के अभाव को सिद्ध कर देता है।

---

1 अनुवहणे। 2 प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः॥ जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः साङ्ख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः॥ श्लोकानुक्तमपि प्रभाकरस्य पञ्च प्रमाणानीति ज्ञेयम्। 3 अनधिकरणात्। अथोपमोपमेयश्लोकद्वयमिदं। प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शास्त्रं चोपमया सह। अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः॥६॥ जैमिने षट्प्रमाणानि चत्वारि न्यायवेदिनः। सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः॥२॥ प्राभाकरस्य पंचप्रमाणानीति श्लोकानुक्तमपि ज्ञातव्यं। (अष्टा० प्र०) 4 अतस्तत्त्वोपप्लवग्राहि प्रमाणं सत्यभूतमायातं तत्त्वोपप्लवरूपः प्रमेयश्च ततः सकलतत्त्वोपप्लवकथनस्य विरोधः। 5 कुतः? 6 कपिलादिमतोपगमस्य इति पा०। (अष्टा० प्र०)

विशेषार्थ—ब्रह्माद्वैतवादी और चार्वाक ये दोनों परस्पर सर्वथा विपरीत बातों को लिये हुए हैं। ब्रह्माद्वैतवादी तो चेतन अचेतन सभी पदार्थों को ब्रह्म की ही पर्याय मानता है और चार्वाक सम्पूर्ण चेतन अचेतन पदार्थों को भूतचतुष्टय रूप जड़ के ही गुण धर्म मानता है। अद्वैतवादी कहता है कि पदार्थों में जन्म, मरण, उत्पाद, व्यय आदि जो भी परिणमन पाया जाता है वह सब अविद्या का विलास है। सभी पर्यायें अंत में ब्रह्म में ही विलीन हो जाती हैं किन्तु चार्वाक सर्वथा इससे विपरीत जीव के प्रति जन्म मरण के अस्तित्व को न मानकर जड़ से ही चेतन की उत्पत्ति मानता है और मरण के अनन्तर चैतन्य का सर्वथा अभाव मानकर भूतचतुष्टय में ही चैतन्य की परिसमाप्ति मान लेता है। ब्रह्माद्वैतवादी चेतन स्वरूप एक परमब्रह्म से ही चेतन की एवं विजातीय स्वरूप अचेतन की भी उत्पत्ति मान रहा है तथैव चार्वाक अचेतन रूप पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टयों से अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति मानकर पुनरपि इन्हीं भूतचतुष्टयों से चेतन स्वरूप विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति मान रहा है।

इसी प्रकार से सांख्य और बौद्ध सिद्धांत भी सर्वथा परस्पर विरुद्ध हैं। सांख्य सभी चेतन अचेतन पदार्थों को सर्वथा कूटस्थ नित्य अपरिणामी मानता है, बौद्ध सभी चेतन अचेतन पदार्थों को प्रतिक्षणध्वंसी, सर्वथा क्षणिक मान लेता है, सांख्य पर्यायों को भी नित्य कह रहा है और बौद्ध द्रव्य को भी उत्पाद, व्यय रूप कह रहा है।

सांख्य सत्कार्यवादी है उसका कहना है कि कारण में कार्य सर्वथा विद्यमान है केवल तिरोभूत है, निमित्त कारणों से उस कार्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। यथा—मिट्टी में घट विद्यमान है कुंभकार, दंड, चाक आदि कारणों से प्रकट हो जाता है न कि उत्पन्न, किन्तु बौद्ध सर्वथा इससे विपरीत असत्कार्यवादी है। वह कहता है कि कारण तो उसी क्षण जड़ मूल से विनष्ट हो जाता है पुनः कार्य उत्पन्न होता है। जैसे—मृत्पिंड का सर्वथा विनाश होकर ही घट का उत्पाद हुआ है, विनष्ट हुये कारण से कार्य को उत्पन्न हुआ मानने वाला यह बौद्ध तो अपनी बुद्धिमत्ता की ही डींग मार रहा है। सांख्य आविर्भाव और तिरोभाव मानकर के किसी भी वस्तु में उत्पाद-व्यय नहीं मानता है तो बौद्ध द्रव्य में भी स्थिर—ध्रौव्यावस्था को न मान कर के सर्वथा द्रव्य का प्रतिक्षण जड़ मूल से नाश मान रहा है और वासना—संस्कार से सभी वस्तुओं की व्यवस्था स्मृति आदि व्यवहार मानता है।

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृति रूप अचेतन के द्वारा ही सारे संसार का उत्पाद मानता है तो वैशेषिक एक सदाशिव स्वरूप महेश्वर के द्वारा इस सृष्टि का उत्पाद मानते हैं मतलब सांख्य ने जड़ को सृष्टि का कर्त्ता माना है तो वैशेषिक महेश्वर चेतन भगवान् को सृष्टि का कर्त्ता मान रहे हैं। इन सभी सिद्धांतों में परस्पर में विरोध वैसे ही पाया जाता है जैसे कि हिंदू-मुस्लिम में देखा जाता है। यदि हिंदू संप्रदाय वाले शिर पर शिखा रूप चोटी रखना धर्म कहते हैं तो मुसलमान चोटी कटाकर धर्म मानते हैं। हिंदू दिन में भोजन करना व्रत समझते हैं तो मुसलमान रात्रि में रोजा खोलते हैं। हिन्दू सूर्य को अर्घ चढ़ाते हैं तो मुसलमान चन्द्र को मानकर व्रत करते हैं, इत्यादि।

[1]तीर्थकृत्समयानां सर्वेषामाप्तत्वाऽभावं साधयति। [2]यदि पुनः संविदद्वैतादीनां[3] [4]स्वतः प्रमितिसिद्धेः [5]प्रमाणान्तरतः स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनाभावान्न परस्परविरुद्धाभिधानं स्वसंवेदनैकप्रमाणवादिनां, [6]नापीन्द्रियजप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनां, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत एव सिद्धेः, अनुमानादिप्रामाण्याभावस्यापि तत एव प्रसिद्धेः प्रमाणान्तराप्रसङ्गात्, तथानेकप्रमाणवादिनामपि स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमस्य स्वत एव सिद्धेः प्रमाणान्तरस्योहस्याप्रसङ्गान्न विरुद्धाभिधानं संभवतीति मतं [7]तदापि न तेषामाप्तताऽस्ति, **स्वप्रमाव्यावृत्ते[8]रन्यथा[9]नैकान्तिकत्वात्**[10] ।*

यहाँ पर कहने का मतलब यह है कि यदि वैनयिक संप्रदाय वाले सभी मतों को प्रमाण मानेंगे तो क्या होगा ? क्योंकि सभी में परस्पर में विशेष रूप से विरोध दिख रहा है। इसलिये वैनयिक भी तीर्थ विनाश संप्रदाय वाले ही सिद्ध हो जाते हैं।

संवेदनाद्वैतवादी आदि चारों अद्वैतवादी कहते हैं कि संवेदनाद्वैत आदि का ज्ञान स्वतः सिद्ध है, प्रमाणांतर से स्वपक्ष साधन, परपक्ष दूषण रूप वचनों का अभाव है इसलिये स्वसंवेदन रूप एक प्रमाण मानने वालों का कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है। इंद्रिय से उत्पन्न होने वाला ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा मानने वालों का भी कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष को प्रमाणता तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। अनुमानादि की प्रमाणता का अभाव भी प्रत्यक्ष से ही प्रसिद्ध है क्योंकि प्रमाणांतर का प्रसंग नहीं है।

तथैव अनेक प्रमाणवादी लोगों की भी स्व स्व स्वीकृतप्रमाण की संख्या का नियम स्वतः ही सिद्ध है। ऊह नाम के भिन्न प्रमाण का प्रसंग नहीं आता है अतः परस्पर विरुद्ध कथन संभव नहीं है ऐसा जिन लोगों का मत है उन लोगों में भी आप्तता नहीं है क्योंकि उनके यहाँ स्वप्रमा की (अपने ज्ञान की) व्यावृत्ति हो जाती है। "अन्यथा अनैकांतिक दोष आ जावेगा"*।

---

1 यतः। (ब्या० प्र०) 2 संवेदनाद्वैतादयो वदन्ति स्याद्वादिनं प्रति।—हे स्याद्वादिन् यत्त्वयास्माकं परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिपादितं स्वस्योपगतप्रमाणसंख्यानियमविरोधश्च प्रतिपादितस्तदुभयमपि नास्त्यस्माकमिति। अस्योत्तरमाह स्याद्वादी 'तथापि तेषामाप्तता नास्ति, स्वप्रमाणफलज्ञानलक्षणायाः प्रमाया अभावात्' इति। 3 चतुर्णामद्वैतवादिनाम्। 4 आत्मनः संवेदनात् स्वस्मात्प्रमितिः प्रमाणस्य साध्यं फलं सिद्धयतीत्यर्थः। 5 संविदद्वैतमेव साध्यधर्मसंविद्रूपोपलंभनियमात्। चित्राभासापि एकैव बुद्धिः श्रेयसी तस्याः बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् सर्वे भावाः शब्दमया एव एतेषां तदाकारानुस्यूतत्वात् यथा घटशरावादयो मृत्तिकारा मृदाकारानुस्यूता मृन्मयत्वेन प्रसिद्धास्तथा सर्वे भावा इत्यादेः प्रमाणांतरतः। (ब्या० प्र०) 6 परस्परविरुद्धाभिधानमिति सम्बन्धो योजनीयः। 7 तथापीत्यर्थः। 8 प्रमितेः। (ब्या० प्र०) 9 स्वेन स्वकीयकल्पपरिभिक्तस्याभावात्। (ब्या० प्र०) 10 अन्यथा प्रमाऽप्रमाभावे अनैकान्तिकत्वमायाति। 11 अनेकधर्मसहितत्वात्। (ब्या० प्र०)

[अन्यसिद्धांतेषु स्वयं स्वस्यैव ज्ञानं न संभवति]

न हि संविदद्वैतेऽन्यत्र[1] वा स्वस्य स्वेनैव प्रमा संभवति, [2]निरंशत्वात्प्रमातृप्रमाणप्रमेयस्वभावव्यावृत्तौ प्रमाया [3]व्यावृत्तेस्तदव्यावृत्तौ प्रमात्रादिस्वभावाव्यावृत्तेरैकान्तिकत्वाभावात्[4] प्रमात्राद्यनेकस्वभावस्यैकसंवेदनस्यानेकान्तात्मनोनुभवनात्[5], संवित् स्वयं स्वेन स्वं संवेदयत इति प्रतीतेः।

[अन्य सिद्धांतों में स्वयं को स्वयं का ज्ञान संभव नहीं है]

विज्ञानाद्वैत में अथवा अन्य अद्वैतों में स्वयं का स्वयं के द्वारा ही ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि बौद्धों की अपेक्षा तो वह ज्ञान निरंश है—अनेक धर्मों से रहित है और दूसरी बात यह भी है कि प्रमाता-आत्मा प्रमाण और प्रमेय स्वभाव की व्यावृत्ति मानने पर तो प्रमा—ज्ञप्ति की भी व्यावृत्ति हो जाती है और उस प्रमा—ज्ञप्ति की व्यावृत्ति न मानने पर प्रमाता आदि स्वभाव की भी व्यावृत्ति नहीं होने से तो एकांत का अभाव हो जाता है एवं अनेकांत की ही सिद्धि हो जाती है क्योंकि प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति आदि अनेक स्वभाव रूप एक ज्ञान अनेकांतात्मक ही स्वीकार किया गया है। अतएव हम जैनों के यहाँ ज्ञान स्वयं स्वयं के द्वारा स्वयं का संवेदन करता है ऐसी प्रतीति हो रही है।

भावार्थ—प्रमाण शब्द व्याकरण के अनुसार जैन सिद्धांत में तीन तरह से सिद्ध होता है। जब कर्तृसाधन में कर्त्ता—आत्मा प्रधान रहता है उस समय "यः प्रमिमिणोति सः प्रमाणं" जो जानता है वह प्रमाण है। जब करणसाधन में आत्मा अप्रधान है तब "प्रमीयते अनेन इति प्रमाणं" यहाँ पर आत्मा जिसके द्वारा जानता है वह प्रमाण है एवं भाव साधन में "प्रमिति मात्रं प्रमाणं" के अनुसार जानना मात्र प्रमाण है। यहाँ पर चार बातें हैं प्रमाता—आत्मा, प्रमाण—ज्ञान, प्रमेय—ज्ञेयपदार्थ और प्रमा—जानना मात्र। जैनसिद्धांत में आत्मा को इन चारों रूप से सिद्ध किया है क्योंकि आत्मा ही प्रमाता—जानने वाला है, आत्मा ही ज्ञान रूप है, आत्मा ही स्वयं ज्ञान के द्वारा जाना जाता है अतः प्रमेय—ज्ञेय रूप भी है तथैव आत्मा ही भाव साधन में प्रमा मात्र—जानना मात्र रूप से प्रमा रूप भी है। जो बौद्ध आदि लोग ज्ञान को एक निरंश मानते हैं उनके यहाँ स्वयं का ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि जब ज्ञप्ति स्वयं ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से रहित है तब स्वयं की आत्मा (ज्ञाता) का ज्ञान कैसे करायेगी एवं जब स्वयं को स्वयं का ज्ञान नहीं हो सकेगा तब वह व्यक्ति किसी का ज्ञान भी कैसे कर सकेगा ? ये सब दूषण ज्ञान को अंश रहित एक रूप मानने से ही आते हैं। हम जैनों के यहाँ तो एक ज्ञान को ही कर्त्ता की अपेक्षा ज्ञाता, करण की अपेक्षा से ज्ञानरूप माना है एवं उसी को ज्ञेय और ज्ञप्ति रूप से भी माना है। अतः कुछ भी बाधा नहीं आती है क्योंकि ज्ञान स्वयं ही स्वयं के द्वारा स्वयं का वेदन—अनुभव कर रहा है और ऐसा अनुभव से सिद्ध है।

---

1 अद्वैतान्तरे। (ब्या० प्र०) 2 अनेकधर्मरहितत्वात् (बौद्धमतापेक्षया)। (ब्या० प्र०) 3 तस्याः प्रमायाः भावे सति। (ब्या० प्र०) 4 स्याद्वादसिद्धेरित्यर्थः। (ब्या० प्र०) 5 कुतः ? यतः। (ब्या० प्र०)

[चार्वाकादिमते ज्ञानं स्वसंविदितं नास्ति अतः प्रमाणस्य व्यवस्था तेषां न घटते]

नापीन्द्रियजप्रत्यक्षे स्वप्रभा घटते, [1]भूतवादिभिस्तस्यास्वसंविदितत्वोपगमात्[2]। इति सिद्धा [3]तत्र स्वप्रभाया व्यावृत्तिः। ततो न प्रत्यक्षत एव प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यादिः। तदव्यावृत्तौ वा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वसिद्धेः स्याद्वादाश्रयणादेकान्तिकत्वाभावादनैकान्तिकत्वम्[4]। [5]एतेनानेकप्रमाणवादिनामनेकस्मिन् प्रमाणे स्वप्रभाव्यावृत्तिर्व्याख्याता। तदव्यावृत्तौ वानैकान्तिकत्वप्रसक्तिः, [6]अनेकशक्त्यात्मकस्वार्थव्यवसायात्मकानेकप्रमाणसिद्धेः[7]। तत्त्वोपप्लववादिनां तु तत्त्वोपप्लवे स्वप्रभाया व्यावृत्तिः सिद्धैव। तदव्यावृत्तौ [8]तत्त्वोपप्लवैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तिश्च[9]। ततो नैतेषामाप्तता। किञ्च[10] "[11]सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरितरथा"[12]

[चार्वाक आदि के मत में ज्ञान स्वसंविदित नहीं है अतः उनके यहाँ प्रमाण की व्यवस्था नहीं बनती है]

इन्द्रियज प्रत्यक्ष में भी अपने को अपना ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि भूतचतुष्टयवादी चार्वाकों ने उस ज्ञान को अस्वसंविदित स्वीकार किया है। अतः उस प्रत्यक्ष प्रमाण में अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध ही है अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रमाण और अप्रमाण सामान्य की स्थिति आदि नहीं हो सकती है। अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्ञान की व्यावृत्ति न मानने पर तो ज्ञान स्वार्थ व्यवसायात्मक सिद्ध हो जाता है पुनः स्याद्वाद का आश्रय ले लेने से एकांत का अभाव होकर अनेकांत ही सिद्ध हो जाता है।

इस कथन से अनेक प्रमाणवादियों के अनेक प्रमाणों में अपने-अपने ज्ञान की व्यावृत्ति सिद्ध ही है ऐसा व्याख्यान किया गया है अथवा यदि ज्ञान की व्यावृत्ति न मानो तो अनेकांत का प्रसंग आ ही जाता है क्योंकि अनेक लक्ष्यात्मक रूप से स्वार्थव्यवसायात्मक स्वरूप अनेक प्रमाण सिद्ध हैं। अर्थात् ज्ञान को स्वार्थ निश्चायक माने बिना किसी के यहाँ ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

तत्त्वोपप्लववादी के यहाँ संपूर्ण तत्त्व का उपप्लव—लोप मान लेने पर तो अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) सिद्ध ही है। यदि अपने ज्ञान की व्यावृत्ति (अभाव) न मानो तो तत्त्वोपप्लवरूप एकांत का ही अभाव हो जायेगा। अर्थात् अपने ज्ञान का सद्भाव मानने पर पुनः अपना ज्ञान ही तो प्रमाण प्रमेयरूप सिद्ध हो जाता है पुनः शून्यवाद कहाँ रहा ?

---

1 चार्वाकैः। 2 भूतेषु स्वसंविदितत्वं। भूतचतुष्टयोत्पन्नत्वात्। भूतचतुष्टयमस्वसंविदितमचेतनत्वात् कारणगुणा हि कार्यगुणानारभंते। (ब्या० प्र०) 3 प्रत्यक्षे। 4 स्वार्थव्यवसायरूपसाक्षात्व। (ब्या० प्र०) 5 बौद्धापेक्षया निरंशत्वात् प्रमाणादिव्यावृत्तौ प्रमाणा व्यावृत्तेरित्याद्युक्तप्रकारेण। अन्येषामपेक्षया अस्वसंविदितत्वोपगमादित्याद्युक्तप्रकारेण च। 6 एताः सप्तभंगः कारणरूपाः। 7 एतत्कार्यरूपम्। 8 तत्त्वमुपप्लुतमेवेति नियमाभावः। (ब्या० प्र०) 9 स्वप्रभायाः सद्भावे स्वप्रभाया एव प्रमाणप्रमेयरूपत्वात्। 10 पूर्वं तु परस्य प्रमाणमभ्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानीं तमपि निराकरोति। 11 सूत्रे परस्परविरोधस्य इत्येतदुपलक्षणम्। तेन सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरित्यादेरपि ग्रहणम्। 12 कथंचिदनित्यस्वादिस्वात्मकत्वेन।

संप्रतिपत्तेः ।* ये[1] तावदेकं नित्यं[2] प्रमाणं स्वभावभेदा[3]भावाद्वदन्ति तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्तिः [4]येप्यनेकमनित्यं प्रतिक्षणं स्वभावभेदादाचक्षते [5]तेषामपि, प्रत्यक्षादिप्रमाणानां [6]नित्यैकान्ता[7]च्चेत[8]रेणैव[9] प्रकारेण कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन संप्रतिपत्तेः । ततो नैतेषां नित्यानित्यैकान्तप्रमाणवादिनां तीर्थकृत्समयानामाप्तता ।

[आवरणरहितज्ञानवतः सर्वज्ञस्य वागादिव्यापारा असाधारणाः संति न तु साधारणाः]

किञ्च [10]वाग्बुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं[11] [12]यदविवक्षाविसंज्ञानं[13] निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु[14] तयेति [15]परमगहनमेतत् ।* तथाहि । [16]तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथैकान्तवा-

---

इसलिये इन सभी में आप्तता नहीं है क्योंकि इन सभी के यहाँ सभी प्रमाणों की विनिवृत्ति (अभाव) हो जाती है पुनः अन्यथा—कथंचित् नित्यानित्यात्मक रूप से ही सिद्धि हो सकेगी ।"

जो नित्यैकांतवादी सांख्य और ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि वस्तु में स्वभाव भेद का अभाव होने से एक नित्य ही प्रमाण है, उनके यहाँ भी सभी प्रमाणों का अभाव हो जाता है ।

और जो अनित्यवादी सौगत प्रतिक्षण स्वभाव के भेद से एक अनित्य प्रमाण को कहते हैं उनके यहाँ भी सभी प्रमाणों का अभाव हो जाता है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञान नित्यैकांत और अनित्यैकांत से भिन्न ही कथंचित् प्रकार से कथंचित्-नित्यानित्यात्मक रूप से देखा जाता है । इसलिये इन नित्यानित्यैकांत प्रमाणवादियों के तीर्थकृत—तीर्थविनाश संप्रदायों में आप्तता नहीं है ।

[आवरण रहित ज्ञान वाले सर्वज्ञ के वचन आदि व्यापार असाधारण हैं, साधारण नहीं हैं]

दूसरी बात यह है कि वचन, इन्द्रिय, बुद्धि, इच्छा पुरुषत्वादी किन्हीं—सुगत, कपिलादि एकांतवादियों में ही अनाविल—निरावरण ज्ञान का निराकरण करते हैं, किन्तु उनके प्रतिषेधवादियों—जैनों में उस प्रकार से निरावरण ज्ञान का निषेध नहीं है इस प्रकार से यह समझना बहुत ही गहन है ।"

तथाहि—"तीर्थच्छेदसंप्रदाय वाले उस प्रकार से एकांतवादी ही हैं वे निरावरणज्ञानधारी नहीं हैं क्योंकि वे एकांतवादी अविशिष्ट वचन—सामान्य वचन इन्द्रियज्ञान, इच्छादिमान् हैं अथवा अविशिष्टसामान्य पुरुष आदि हैं जैसे रथ्या पुरुष" । इसलिये इन लोगों में आप्तता नहीं है ।

---

1 नित्यवादिनः सांख्याः ब्रह्माद्वैतवादिनश्च । 2 ब्रह्माद्वैतवादालंकारकस्य नित्यत्वे एकत्वे सोपादेयस्यापि नित्यस्यैकत्वं चेति भावः । 3 युगपत्कमेण वा । 4 अनित्यवादिनः सौगताः । 5 सर्वप्रमाणविनिवृत्तिरिति सम्बन्धः । 6 नित्यैकांताच्चानित्यैकांताच्चेतरेणैव इति पा० । (ब्या० प्र०) 7 एकान्तात् । 8 चकारेणानित्यैकान्तग्रहणम् । 9 कथञ्चित्प्रकारेण । 10 मीमांसकेनाविशिष्टवचनस्य न क्वचिदनाविलज्ञानमिति दूषणस्य परिहारद्वारेणैव परेषां सुगतादीनामाप्तता नास्ति परं स्वस्माकं स्वस्तीति मनसुकावा वाग्भलेत्याहुराचार्याः । 11 कर्तृ यदम् । 12 सुगतकपिलादयेकान्तवादिषु । 13 निर्दुष्टज्ञानं । (ब्या० प्र०) 14 जैनेषु । 15 दुरवबोधम् । 16 सुगतादयः । (ब्या० प्र०)

दिनो[1] नाऽनाविलज्ञाना[2] अविशिष्टवागक्षबुद्धीच्छादिमत्त्वादविशिष्टपुरुषत्वादेर्वा रथ्यापुरुषवत्। इति नैतेषामाप्तता। [3]तत्प्रतिषेधवादिनां पुनः स्याद्वादिनां नातः[4] कश्चिदविशिष्टवागादिमानविशिष्टपुरुषो वा[5], तस्य युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेनाभ्युपगतत्वात्[6], [7]करणक्रम[8]व्यवधाना[9]तिवर्तिबुद्धित्वात् [10]इच्छारहितत्वाद्विशुद्ध[11]पुरुषातिशयत्वादिति। [12]यथा वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं न तथा स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिष्टूयमाने [13]भगवतीति परमगहनमेतत्, [14]अयुक्तिशास्त्रविदामगोचरत्वाद[15]कलङ्कधिषणाधिगम्यत्वात्[16]। इत्थं सिद्धं

उन अविशिष्ट वचन आदि का प्रतिषेध करने वाले स्याद्वादियों में इस प्रकार से कोई सर्वज्ञ अविशिष्ट—सामान्य वचनादिमान् अथवा अविशिष्ट—सामान्य पुरुष नहीं है क्योंकि वे सर्वज्ञ युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं ऐसा स्वीकार किया गया है। वे इन्द्रियों के क्रम और व्यवधान से रहित ज्ञान वाले हैं, इच्छा से रहित हैं एवं विशुद्ध अतिशयशाली पुरुष हैं। जिस प्रकार से सुगतादिकों के वचन आदि निर्दोष ज्ञान के निराकरण में समर्थ हैं उस प्रकार के वचन आदि स्याद्वादन्यायवेदी हम जैनियों के द्वारा स्तुति किये जाने वाले भगवान् में नहीं हैं यह परम गहन-दुष्कर ही है।

भावार्थ—मीमांसक कहता है कि "कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता है क्योंकि वह वक्ता है, इन्द्रियज्ञान से सहित है, इच्छावान् है, एवं पुरुष है। जैसे कि हम लोग वक्ता हैं, इन्द्रियज्ञान सहित हैं, इच्छावान् हैं एवं पुरुष हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि ये वक्तृत्व आदि जैसे हम और आप में पाये जाते हैं वैसे ही साधारण रूप से हम जैनों के द्वारा मान्य सर्वज्ञ में नहीं पाये जाते हैं। हमारे सर्वज्ञ भगवान् के जो वचन आदि व्यापार हैं वे साधारण लोगों में असंभवी—विशेष रूप ही हैं। सर्वज्ञ भगवान् के वचन युक्ति और आगम से अविरोधी हैं, दिव्यध्वनि से उत्पन्न द्वादशांग वाणी रूप हैं। यद्यपि सर्वज्ञ भगवान् की भाषा अनक्षरी है फिर भी श्रोताओं के कान में प्रविष्ट होकर सातसौ अठारह भाषा रूप अथवा संख्यातों भाषा रूप परिणत हो जाती है। ज्ञानावरण का पूर्णतया नाश हुये बिना साधारण छद्मस्थ जीवों में ऐसे वचन असम्भव ही हैं।

सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इंद्रियों से उत्पन्न हुआ क्षयोपशम ज्ञान रूप नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान है। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा न होने से वह केवलज्ञान क्रम की अपेक्षा नहीं रखता है युगपत् ही

---

1 नित्यादि। (व्या० प्र०) 2 निराकरणज्ञानाः। 3 अविशिष्टवागादिप्रतिषेधवादिनाम्। 4 माप्ताः इति पा०। (व्या० प्र०) 5 कुतः। (व्या० प्र०) 6 अविशिष्टवाक्त्वं निराकृतमनेन। 7 अलबुद्धिनिराकरणमनेन। 8 आदिना वेद्यकालद्रव्यादिव्यवधानग्रहः। 9 व्यवधानातिवर्ति इति पा०। इदः। द्रव्यादिना। (व्या० प्र०) 10 इच्छावत्त्वं निराकृतमनेन। 11 अविशिष्टपुरुषत्वमनेन निराकृतम्। 12 सुगतादिषु। 13 वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं। (व्या० प्र०) 14 युक्तिन्यायः। शास्त्रमागमः। 15 निष्कलङ्कबुद्धिः, पक्षेऽकलङ्कदेवानां बुद्धिः। 16 तीर्थंच्छेदसंप्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति यतः। (व्या० प्र०)

सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वम्। [1]तेन कः परमात्मा चित्येव [2]सव्युपयोगसंस्कारानावरणनिबन्धनानामस्यायें[3] भवभृतां[4] प्रभुः।* सकलस्याद्वादन्यायविद्विषा[5]माप्तप्रतिक्षेपप्रकारेण[6] हि स्याद्वादिन एवाप्तस्याप्रतिक्षेपार्हत्वेन सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वं सिद्धयति।

[अर्हन् भगवानेव सर्वज्ञो न अन्य इति साधनं]

तेनैवं[7] कारिकायास्तुरीयपादो व्याख्यायते। कः परमात्मा, पराऽऽत्यन्तिकी या लक्ष्मी-

---

सारे पदार्थों को एक साथ जान लेता है और तो क्या केवली भगवान् के ज्ञानावरण, दर्शनावरण दोनों ही कर्मों का विनाश हो जाने से ज्ञान और दर्शन भी एक साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये इस ज्ञान में किसी भी प्रकार अंतराल भी नहीं पड़ता है। सर्वज्ञ भगवान् के मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाने से मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा का भी अभाव हो गया है। अतएव वीतराग भगवान् की वाणी इच्छा रहित है यथा—

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शात् मुरजः किमपेक्षते॥

इसी प्रकार से वे भगवान् हम और आप जैसे साधारण पुरुष भी नहीं हैं, परमौदारिक दिव्य शरीर के धारक महान् पुरुष हैं। अतएव हमारे सर्वज्ञ भगवान् में आप आवरण रहित—पूर्ण ज्ञान का निषेध नहीं कर सकते हैं। हां! इतना जरूर है कि अन्य बुद्ध, कपिल, महेश्वर आदि में वे असाधारण वचन इन्द्रियजन्य ज्ञान (क्षयोपशम ज्ञान) से रहित क्षायिक ज्ञान, इच्छा का अभाव, असाधारण पुरुषत्व आदि बातें नहीं पाई जाती हैं अतः इनमें ही निरावरण ज्ञान का अभाव है ऐसा समझना चाहिये।

जो युक्ति—तर्क और शास्त्र के ज्ञानी नहीं हैं वे सर्वज्ञ उनके अगोचर हैं वे केवल अकलंक—निर्दोष बुद्धि के ही गम्य हैं अथवा भट्टाकलंकदेव की बुद्धि के ही गम्य हैं। इस प्रकार से सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्व हेतु सिद्ध हो गया।

जिस कारण से सभी तीर्थंकरदेव संप्रदायवादियों में आप्तता नहीं है उसी कारण से "कः परमात्मा चित्—चैतन्य पुरुष एव—ही आवरण निमित्तक लब्धि और उपयोग के संस्कारों के नाश हो जाने पर संसारी प्राणियों के गुरु हैं।"

संपूर्ण स्याद्वादन्याय के विद्वेषियों में आप्त का खंडन कर देने से स्याद्वादियों के यहाँ आप्त का निराकरण करना शक्य नहीं है इस प्रकार से सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण सिद्ध हो जाता है।

[अर्हंत भगवान् ही सर्वज्ञ हैं अन्य कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।]

इस प्रकार से अब कारिका के चतुर्थ पाद का व्याख्यान करते हैं। "कः—परमात्मा, परा

---

1 येन कारणेन तीर्थंकरदेवसम्प्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति तेन कारणेन। 2 इन्द्रियानिन्द्रियान्यक्षमावरणक्षयोपशमो लब्धिः। अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः। तयोः संस्कारास्तेषाम्। 3 आवरणं निबन्धनं येषां ते तेषाम्। 4 भवं यन्तीति भिवपि भवेतो भवभृतस्तेषां गुरुः प्रभुर्भवेदुक्तरिति कारिकापदस्य व्युत्पादनम्। 5 युगलादीनाम्। 6 आप्तस्वरूपेति पा०। (ब्या० प्र०) 7 कारणेन। (ब्या० प्र०)

र्यस्येति विग्रहात्। चिदेव[1] ज्ञ[2] एव[3] न पुनः कथञ्चिदप्यज्ञः, चिदिति शब्दस्य मुख्यवृत्त्याश्रयणात् कथञ्चिदचित्यपि[4] चिच्छब्दस्य प्रवृत्तौ गौणत्वप्रसङ्गात्[5]।

[सर्वज्ञः इन्द्रियज्ञानेन सर्वं जानात्यतीन्द्रियज्ञानेन वा ?]

ननु[6] च 'परमात्मा साक्षाद्भवतु[7] जानन्निन्द्रियसंस्कारानुरोधत[8] एव जानीयाज्ञान्यथा [9]तद्वेदनस्य [10]प्रत्यक्षत्वविरोधात्। न चेन्द्रियसंस्कारः सकलसर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलं, सम्बद्धवर्त्तमानार्थविषयत्वात् "सम्बद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" इति वचनात्।

आत्यंतिकी श्रा—लक्ष्मीर्यस्येति"। कः अर्थात् परमात्मा, पर अर्थात् आत्यंतिकी, श्रा—लक्ष्मी है जिनको; उन्हें परमात्मा कहते हैं ऐसा विग्रह होता है। "चेतयते इति चित्—चित् ही ज्ञ हो सर्वज्ञ है, किन्तु कथंचित् भी अज्ञ सर्वज्ञ नहीं है। चित् यह शब्द मुख्य वृत्ति का आश्रय लेता है कथंचित् अचित्—अचेतन स्वरूप अर्हंत, सिद्ध, साधु आदि के प्रतिबिंबादि में भी चित् शब्द की प्रवृत्ति होने पर गौण का प्रसंग आ जाता है। अर्थात् अचेतन स्वरूप जो जिन प्रतिमा आदि हैं उन्हें गौण रूप से यहाँ भगवान् परमात्मा कहा गया है।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि सब तीर्थ का विनाश करने वाले हैं, सभी के आगम और आम्नाय परस्पर में विरोधी हैं अतः कोई भी सर्वज्ञ परमात्मा हो ही नहीं सकता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। कारिका के चतुर्थ पाद "कश्चिदेव भवेद्गुरुः" के अनुसार कोई न कोई चित् चैतन्य स्वरूप भगवान् परमात्मा हैं जो कि सभी संसारी प्राणियों के स्वामी हैं। 'चित्' शब्द से चैतन्य स्वरूप आत्मा एवं अर्हंत, सिद्ध, साधु आदिकों की प्रतिमायें भी ग्रहण की जाती हैं, किन्तु यहाँ कारिका के अर्थ में मुख्य रूप से जीवन्मुक्त अर्हंत परमात्मा को ही मुख्यवृत्ति से लेने का उपदेश है और गौण रूप से अचित् स्वरूप से प्रतिमादिकों को भी ले सकते हैं परन्तु यहाँ प्रकरणता साक्षात् अर्हंत भगवान् की है ऐसा समझना चाहिये।

[सर्वज्ञ भगवान् इन्द्रियज्ञान से सभी पदार्थों को जानते हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से ?]

मीमांसक—परमात्मा साक्षात् सभी पदार्थों को जानते हुये इन्द्रिय संस्कार के अनुरोध-अनुग्रह से ही जानते हैं अन्यथा नहीं जानते हैं क्योंकि अन्यथाज्ञान-अतीन्द्रियज्ञान का होना ही प्रत्यक्ष से विरुद्ध है और इन्द्रिय संस्कारएक साथ सभी पदार्थों में ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि वे इन्द्रियां संबद्ध वर्तमान पदार्थ को ही विषय करती हैं "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" ऐसा वचन है इसलिये ज्ञ—सर्वज्ञ ही नहीं है क्योंकि भविष्यत् और अतीत से असंबंधित पदार्थ के ज्ञान का

---

1 चेतयते इति चित्। 2 सर्वज्ञः। 3 अन्ययोगव्यवच्छेदार्थं। (ब्या० प्र०) 4 प्रतिबिम्बादौ। 5 प्रतिबिम्बादौ। (ब्या० प्र०) 6 मीमांसकः। 7 सा ब्रूहः। (ब्या० प्र०) 8 अर्थग्रहणोन्मुखता। (ब्या० प्र०) 9 अन्यथावेदनस्य 10 प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमित्यभिधानात्। (ब्या० प्र०)

ततो न ज्ञ एव, भाव्यतीतासम्बद्धार्थज्ञानाभावादज्ञत्वस्यापि भावात्' इति न [1]मन्तव्यं, लब्ध्युपयोगसंस्काराणामत्यये इति वचनात्। लब्ध्युपयोगौ [2]हीन्द्रियं, "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात्[3]। [4]तयोः संस्काराः [5]स्वार्थधारणाः। तेषामत्यये सति ज्ञ एव स्यात्।

[सर्वज्ञत्व भावेन्द्रियवत् द्रव्येन्द्रियाणां विनाशो कथं न भवति ?]

'कुतः पुनर्भावेन्द्रियसंस्काराणामत्यये सति ज्ञ एव स्यान्न तु [6]द्रव्येन्द्रियाणामत्यये, अतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽशेषार्थसाक्षात्करिष्णोपगमात्' इत्यपि न शङ्कनीयं [7]भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात्। कात्स्न्र्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि[8] भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः। [9]न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां संभवः—[10]कारणाभावे [11]कार्यानु-

---

अभाव होने से अल्पज्ञ ही सिद्ध होते हैं।

जैन—ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि "लब्धि और उपयोग के संस्कारों का नाश हो जाने पर" ऐसा हमने वचन दिया है। एवं लब्धि और उपयोग को इन्द्रिय कहते हैं "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" ऐसा सूत्र है। उन दोनों का संस्कार स्वार्थ धारणा रूप है। अर्थात् लब्धि और उपयोग का प्रकर्ष संस्कार अपने ग्राह्य-ग्रहण करनेयोग्य का ग्राहक परिमित रूप ही होता है। उन लब्धि और उपयोग के संस्कार-क्षयोपशम ज्ञान का नाश हो जाने पर सर्वज्ञ होता है।

[सर्वज्ञ भगवान् के भावेन्द्रियों के समान द्रव्येन्द्रियों का विनाश क्यों नहीं हो जाता है ?]

शंका—भावेन्द्रिय संस्कार के नाश होने पर ही सर्वज्ञ होता है किन्तु द्रव्येन्द्रियों के नाश से नहीं—यह बात कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि आपने तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से अशेष पदार्थ का साक्षात्कार होना स्वीकार किया है।

समाधान—ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो आवरण के निमित्त से होती हैं किन्तु द्रव्येन्द्रियाँ आवरण निमित्तक नहीं हैं क्योंकि वे अंगोपांग नाम कर्म के निमित्त से होती हैं। अतः संपूर्णतया ज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर ही भगवान् अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानी सिद्ध हैं। अर्थात् सर्वज्ञ में अष्ट कर्म का नाश कारण नहीं है ज्ञानावरण, दर्शनावरण का अभाव ही कारण है। इसलिये संपूर्ण आवरण का नाश हो जाने पर आवरण निमित्तक भावेन्द्रियाँ संभव नहीं हैं क्योंकि कारण के

---

1 स्याद्वाद्याह। 2 ज्ञानावरणसंक्षये भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाग्भवेत् एतावता भावेन्द्रियाणामभावः कथमित्याशंक्याह। (ब्या० प्र०) 3 तदर्थार्थेन्द्रियमवचनात्। 4 लब्ध्युपयोगयोः प्रकर्षः (संस्काराः) स्वग्राह्यार्थग्राहकाः परिमितरूपा भवन्ति। 5 कारणज्ञानरूपा न तु स्वरूपार्थग्रहणोन्मुखता संस्कारे, उपयोगसंस्कारयोरेकत्वप्रसङ्गात्। 6 द्रव्येन्द्रियाणामभावः कुतो न शक्यते स्याद्वादिभिः सर्वज्ञस्यातीन्द्रियप्रत्यक्षत्वोपगमादिति परशंका। (ब्या० प्र०) 7 न तु द्रव्येन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वं तेषामङ्गोपाङ्गनामकर्मनिबन्धनत्वात्। 8 एवार्थे। न तु तदष्टकर्मविनाशः कारणम् आवरणापायस्यैव कारणत्वोपपत्तेः। 9 ज्ञानावरणसंक्षये भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाग्भवत्येतावता भावेन्द्रियाणामभावो नेति कथमित्याशङ्क्याह। 10 कारणानामावरणाभावरूपाणाम्। 11 कार्यस्य = भावेन्द्रियरूपस्य।

पपत्तेः । [1]ननु चावरणक्षयोपशमनिबन्धनत्वाद्भावेन्द्रियाणां कथमावरणनिबन्धनत्वमिति

अभाव में कार्य हो नहीं सकता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के २ भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में "निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्" और "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" के अनुसार दोनों ही इन्द्रियों का लक्षण किया गया है। निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। निर्वृत्ति—नाम कर्म के उदय से होने वाली रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति के २ भेद हैं—आभ्यंतरनिर्वृत्ति और बाह्य-निर्वृत्ति। आत्मा के प्रदेशों का इन्द्रियाकार होना आभ्यंतर निर्वृत्ति कहलाती है। पुद्गल के परमाणुओं का इन्द्रियाकार होना बाह्य निर्वृत्ति कहलाती है। उपकरण—निर्वृत्ति के सहायक-उपकारक को उपकरण कहते हैं। उपकरण के दो भेद हैं आभ्यंतर और बाह्य। जैसे—नेत्रों में जो काला और सफेद मंडल है वह आभ्यंतर उपकरण है और पलकें तथा रोम वगैरह बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार से शेष इन्द्रियों में भी जानना चाहिये। लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। लब्धि—ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। उपयोग—लब्धि के निमित्त से आत्मा का जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो जानने की शक्ति प्रकट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा का ज्ञेयपदार्थ की ओर अभिमुख होना उपयोग कहलाता है। लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थ का ज्ञान होता है।

इसलिये इन द्रव्येन्द्रियों की रचना नाम कर्म के भेद में अंगोपांग नामक नाम कर्म के उदय से होती है और मतिज्ञानावरण कर्म के स्पर्शनेंद्रियावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम विशेष से भावेन्द्रियाँ होती हैं। केवली भगवान् के ज्ञानावरण कर्म का पूर्णतया नाश हो जाने से भावेन्द्रियाँ और भावमन नहीं पाये जाते हैं किंतु परमौदारिक दिव्य शरीर का अस्तित्व आयु नाम कर्म आदि अघातिया कर्म के शेष रहने तक चौदहवें गुणस्थान के अंत तक पाया जाता है अतः अर्हंत के द्रव्येंद्रियाँ मौजूद हैं। सिद्धों में शरीर और अंगोपांग आदि नाम कर्म के अभाव से यद्यपि शरीर नहीं है फिर भी अंतिम शरीर से किंचित् न्यून सिद्धों के आत्म प्रदेशों का आकार—पुरुषाकार तो रहता ही है अतः वहाँ पर भी द्रव्येन्द्रियों का आकार विद्यमान है।

शंका—भावेन्द्रियाँ तो आवरण के क्षयोपशम के निमित्त से होती हैं पुनः उन्हें आवरण निमित्तक ही कैसे कह दिया ?

जैन—यदि ऐसा कहो तो देशघाति ज्ञानावरण कर्म के स्पर्धकों का उदय होने पर एवं सर्वघाति ज्ञानावरण के स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने पर तथा उन्हीं सर्वघाति स्पर्धकों का सदवस्था रूप उपशम होने से वे भावेन्द्रियाँ होती हैं अतः उनके आवरण निमित्तकत्व सिद्ध ही है इसलिये यहाँ ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है। अर्थात् ज्ञानावरण के स्पर्धकों में कुछ का उदय, कुछ का उदयाभावी

---

1 आह कश्चित्स्वमतवर्ती।

चेद् [1]देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकोदये[2] सति [3]सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकानाम्[4]उदयाभावे[5] [6]सदवस्थायां च तेषां भावादावरणनिबन्धनत्वसिद्धेरचोद्यमेतत् ।

[अर्हद् भगवान् सर्वसंसारिजीवानां प्रभुरतोऽस्मादृशो नास्तीति प्रतिपादनं]

[7]न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा संभाव्यते इत्यपि न शङ्का श्रेयसी, तस्य भवभृतां प्रभुत्वात् । न हि [8]भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्मः [9]सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, [10]तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्[11] ।

[मीमांसको सूते-अप्रत्यक्षादि प्रमाणैः सर्वज्ञो न सिद्धयत्यतो नास्त्येव ।]

[12]ननु च सुनिर्णितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्तथाविधो भवभृतां प्रभुः साध्यते । [13]तच्चा-

---

क्षय और कुछ का सत्ता की अवस्था में उपशम होने से भावेन्द्रियां होती है अतः इन्हें आवरण के निमित्त से होने वाली कहने से कोई बाधा नहीं है ।

[आपके सर्वज्ञ में अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे है एवं सभी संसारी जीवों के वे प्रभु कैसे है ?]

मीमांसक—कोई संसारी प्राणी अतीन्द्रियज्ञान द्वारा उपलब्ध नहीं है अर्थात् देखा नहीं जाता है कि जिससे आपके भगवान् अतीन्द्रिय ज्ञानी हो सकें अर्थात् नहीं हो सकते हैं ।

जैन—यह शंका भी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि वे भगवान् तो संसारी जीवों के प्रभु-स्वामी हैं । संसारी जीव के सदृश में देखा गया धर्म सकल संसारी जीवों के स्वामी में संभावित करना—घटित करना शक्य नहीं है क्योंकि सकल संसारी जीवों के स्वामी संसारी जीवों के स्वभाव का उल्लंघन कर चुके हैं ।

[मीमांसक कहता है कि प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है अतः सर्वज्ञ नहीं है]

मीमांसक—सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण से उस प्रकार से अर्हंत भगवान् को आप संसारी जीवों के स्वामी सिद्ध करते हो किन्तु आपका हेतु असिद्ध है क्योंकि उसको बाधित करने वाला

---

1 णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मत्तं च संजलणं । णवणोकसायविग्घं छव्वीसा देसघादीओ ॥ [ज्ञानावरणचतुष्कं त्रिदर्शनं सम्यक्त्वं चतुःसंज्वलनम् । नवनोकषायाः विघ्नः षड्विंशतिर्देशघातीयाः] । देशं [आत्मगुणस्यैकदेशं] घ्नन्तीति देशघातिन इति व्युत्पत्तिः । देशघातिनश्च ते ज्ञानावरणाश्च ते स्पर्द्धकाश्चेति देशघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकास्तेषामुदये । 2 वर्गः शक्तिसमूहोनीरजूनां (शक्ति समूहः) वर्गणोदिता । वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकः स्पर्द्धकाग्रहैः ॥ इत्युक्तलक्षणो बहूनां कर्मस्वभावापन्नानां पौद्गलिकवर्गणानां समूहः स्पर्द्धको ज्ञेयः । 3 सर्वमात्मगुणं घ्नन्तीति सर्वघातिनः । केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनं कषायषोडशकं । मिथ्यं च सम्यग्मादो सम्मामिच्छं अणंतेहिं (अणंतहि) ॥ [केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं कषायद्वादशकम् [अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानां प्रत्येकं चतुष्कमिति द्वादश] । मिथ्यात्वं च सर्वं घातिनः सम्यग्मिथ्यात्वसम्बन्धैः (जिनैः)] । इत्युक्तलक्षणः सर्वघाती, आत्मगुणानां समस्तस्यैव घातनात् । 4 वर्तमानकाले उदययोग्यानामित्यर्थः । 5 उदयाभावरूपे क्षये फलमदत्त्वैव तेषां निर्जरणे इत्यर्थः । 6 सर्वघातिज्ञानावरणस्पर्द्धकानामेवोदेष्यमाणानां सदवस्थायाम् । आत्मनि कर्मस्वरूपेण सम्बन्धे विद्यमाने सतीत्यर्थः । 7 मीमांसकमङ्गा । 8 भवभृत्सामान्ये इति पा० । (व्या० प्र०) 9 ता बहुः । (न्या० प्र०) 10 सकलभवभृत्प्रभोः । 11 अतिक्रांतत्वात् । (व्या० प्र०) 12 पुनरत्र मीमांसकः । 13 हेतुः ।

सिद्धं, सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वस्य तद्बाधकस्य सद्भावात्। न हि [1]तत्साधकं प्रत्यक्षम्[2]। नाप्यनुमानं, तदेकदेशस्य लिङ्गस्यादर्शनात्[3]। तदुक्तं—

सर्वज्ञो दृश्यते [4]नाद्यैर्नेदानीमस्मदादिभिः। दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिंगं वा [5]यो नुमापयेत्।

इति। आगमोपि न तावन्नित्यः सर्वज्ञस्य प्रतिपादकोस्ति, तस्य [6]कार्ये एवार्थे प्रामाण्यात् स्वरूपेपि[7] प्रामाण्येतिप्रसङ्गात्[8]। स[9] सर्ववित् लोकविदित्यादेर्हिरण्यगर्भः सर्वज्ञ इत्यादेश्चागमस्य नित्यस्य [10]कर्मार्थवादप्रधानत्वात्। [11]तात्पर्यसंभवा[12]दन्यार्थे[13]प्रधानैर्वचनैरन्यस्यसर्वज्ञस्य विधाना-

---

"सुनिश्चितासंभवद्साधक प्रमाणत्व" मौजूद है। अर्थात् सुनिश्चित रूप से असंभव है सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला साधक प्रमाण जिसमें उसे "सुनिश्चितासंभवद्साधक प्रमाण" कहते हैं मतलब सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला कोई भी साधक प्रमाण संभव नहीं है अतएव सर्वज्ञ नहीं है। तथाहि-सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं एवं अनुमान भी नहीं है क्योंकि उसका एक देश रूप हेतु दिखता नहीं है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—"हम लोगों के द्वारा इस समय सर्वज्ञ देखा नहीं जाता है और उस सर्वज्ञ को एकदेश भी देखा नहीं जाता है कि जिसको हेतु बनाकर उस सर्वज्ञ का अनुमान कर लेवें।" नित्य आगम भी उस सर्वज्ञ का प्रतिपादक नहीं है वह तो कार्य (यज्ञादि) अर्थ में ही प्रमाण है उसको स्वरूप में भी प्रमाणता मानने पर तो अति प्रसंग आ जाता है। अर्थात् अलाबू डूब रहे हैं, पत्थर तैर रहे हैं इन वाक्यों में भी प्रमाणता आ जावेगी और वेद में "आपः पवित्रं" इत्यादि स्वरूप का निरूपण करने वाले वाक्य हैं वे सभी प्रमाण हो जावेंगे।

जो याग को करता है वह सर्ववित् है, वह लोकवित् है इत्यादि, हिरण्य गर्भः सर्वज्ञः इत्यादि रूप से जो नित्य आगम है वह कर्मार्थवाद में—क्रियाकांड में प्रधान है। उससे सर्वज्ञ रूप अर्थ में तात्पर्य—अर्थ निकालना असंभव है, अन्यार्थ प्रधान वचनों से स्तुति अर्थ को कहने वाले वचनों से अन्य कोई सर्वज्ञ का विज्ञान करना असंभव ही है। पूर्व में किसी प्रमाण से अप्रसिद्ध स्वरूप सर्वज्ञ का उन आगम के वाक्यों से अनुवाद—कथन नहीं किया जा सकता है एवं अनादि आगम आदिमान् सर्वज्ञ का प्रतिपादन कर सके यह बात विरुद्ध ही है। तथा अनित्य—बनाया हुआ आगम भी सर्वज्ञ का प्रतिपादन नहीं कर सकता है क्योंकि उस सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत ही आगम उस सर्वज्ञ का प्रकाशक होवे यह कथन युक्त नहीं है अन्यथा परस्पराश्रय दोष आ जाता है। एवं नरांतर—भिन्न साधारण मनुष्य

---

1 सर्वज्ञसाधकम्। 2 प्रत्यक्षं संभवति इति पा०। सर्वज्ञवर्तमानज्ञानाविषयत्वात्। (ब्या० प्र०) 3 गृहीतसंबंधस्यैकदेशदर्शनात्तत्सिद्धेर्न बुद्धिरनुमानमिति वचनादेकदेशदर्शने सत्येवानुमानोदयात्। मीमांसकानुमानलक्षणमिदं। (ब्या०प्र०) 4 सिद्धं सूत्रा व एकदेशः सर्वज्ञमनुमापयेदित्यर्थः। 5 सर्वज्ञं। (ब्या० प्र०) 6 योवे। 7 वेदेऽपि सर्वज्ञप्रतिपादकं वाक्यमस्तीति शंकामनूद्यनिराकरोति। (ब्या० प्र०) 8 अलाबूनि निमज्जन्ति पाषाणाः प्लवन्त इत्यत्रापि वेदे स्वरूपनिरूपकस्य आपः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। 9 यो पाठं करोति। 10 कर्मार्थवादः=यागप्रशंसावादः तत्स्तुतिकथनं वा। 11 सर्वज्ञरूपेर्थे। 12 च। (ब्या० प्र०) 13 स्तुत्यर्थकथनपरैः।

संभवात्। पूर्वं[1] [2]कुतश्चिदप्रसिद्धस्य तैरनुवादायोगात्। अनादेरागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरोधाच्च[3]। नाप्यनित्यस्तत्प्रणीत एवागमस्तस्य प्रकाशको युक्तः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। नरान्तरप्रणीतस्तु न प्रमाणभूतः सिद्धो यतः सर्वज्ञप्रतिपत्तिः स्यात्। असर्वज्ञप्रणीताच्च वचनान्मूल[4]वर्जितात् सर्वज्ञप्रतिपत्तौ स्ववचनात्किन्न तत्प्रतिपत्तिरविशेषात्। तदुक्तं—

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः [5]सर्वज्ञबोधनः। न च [6]मन्त्रार्थवादानां[7] तात्पर्यमवकल्प्यते ॥१॥
[8]न कान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते। न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैर[9]बोधितः ॥२॥
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्। कृत्रिमेण त्वसत्येन[10] स कथं प्रतिपाद्यते ॥३॥
अथ [11]तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽसौ[12] प्रतीयते। प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रयदोषतः ॥४॥
[13]सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन[14] ततस्तिता। कथं तदुभयं सिद्ध्येत् [15]सिद्धमूलान्तरादृते ॥५॥

का प्रणीत आगम प्रमाणभूत सिद्ध नहीं है कि जिससे सर्वज्ञ का ज्ञान हो सके। मूल से रहित—प्रमाणता से रहित असर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम से सर्वज्ञ का ज्ञान मानने पर तो अपने वचनों से ही उस सर्वज्ञ का ज्ञान क्यों न मान लीजिये क्योंकि दोनों ही मान्यताओं में कोई अंतर नहीं है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—कोई नित्य आगम सर्वज्ञ का ज्ञान कराने वाला नहीं है और मंत्रार्थवाद-स्तुति-कथनादिवाद, तात्पर्य—वास्तविक भी नहीं माना जा सकता है ॥१॥

अन्यार्थ प्रधान वचनों से—स्तुति आदि परक अथवा क्रियाकांड प्रधान वचनों से सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं कहा जा सकता है एवं पूर्व में अन्य प्रमाणों से नहीं जाने गये सर्वज्ञ का अनुवाद-कथन करना भी शक्य नहीं है ॥२॥

अनादि आगम भी आदिमान् सर्वज्ञ को नहीं कह सकता है एवं आदिमान्-कृत्रिम आगम असत्य है अतः उस असत्य से सर्वज्ञ कैसे कहा जावेगा ? ॥३॥

यदि आप कहें कि सर्वज्ञ के वचनों से ही अल्पज्ञजन सर्वज्ञ को जान लेते हैं तो यह कथन भी कैसे बनेगा क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है ॥४॥

सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया होने से वचन (आगम) सत्य सिद्ध होगा और उस आगम से उस

---

1 आगमेन सर्वज्ञ स्यानुवादो भवतीत्युक्ते आह। 2 प्रमाणात्। 3 आदिमत्सर्वज्ञं प्रतिपादयति यदा तदा सर्वज्ञोऽभूदभविष्यति भवतीति निषेधेनापि प्रतिपादने विरोधः। 4 मूलं प्रामाण्यम्। 5 सर्वज्ञबोधकः इति पा०। (ब्या० प्र०) 6 अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इति मंत्रवाक्यं। स सर्ववित् स लोकविदिति अर्थवादः। (ब्या० प्र०) 7 स्तुत्यादि (शोभनादि) वादानां सत्यत्वं नाकमभ्यते। विस्तरेण स्पष्टीकरणं तस्य भावनाविवेकनाम्नि ग्रन्थे कृतम्। 8 न वाक्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तीति वा पाठः। 9 प्रमाणैः। 10 कृत्रिमत्वादेवासत्यत्वम्। 11 सर्वज्ञवचनेन। 12 सर्वज्ञोऽयं इति पा०। अमुं। (ब्या० प्र०) 13 अन्योन्याश्रयं भावयति। 14 वाक्येन। 15 सिद्धं च तन्मूलान्तरं (प्रमाणान्तरं) च तस्मात्।

असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलतर्जितात्। सर्वज्ञमवगच्छन्तः[1] स्ववाक्यात्किं न जानते ॥६॥"

इति। नोपमानमपि सर्वज्ञस्य साधकं, [2]तत्सदृशस्य जगति कस्यचिदप्यभावात्। तथोक्तं,—

सर्वज्ञ सदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति। उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो[3] वयम्" ॥

इति। नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञस्य साधिका, [4]तदुत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानस्याभावात्। धर्माद्युपदेशस्य [5]बहुजनपरिगृहीतस्यान्यथाभावात्[6]। तथा चोक्तम्—

"उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः। [7]अन्यथाप्युपपद्येत[8] सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥१॥
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां [9]वेदाद्असम्भवः। उपदेशः [10]कृतोऽस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥२॥

सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध होगा पुनः प्रसिद्ध मूलांतर के बिना—प्रमाणता के बिना वे उभय भी कैसे सिद्ध हो सकेंगे ? ॥५॥

एवं प्रमाण वर्जित—असर्वज्ञ प्रणीत आगम से सर्वज्ञ को स्वीकार करते हुये आपको अपने वाक्यों से ही सर्वज्ञ की सिद्धि क्यों नहीं हो जाती है ॥६॥

तथा उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ की सिद्धि करने वाला नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के सदृश कोई भी जगत में नहीं है जिसकी उपमा सर्वज्ञ को दे सकें। कहा भी है कि—

श्लोकार्थ—यदि सर्वज्ञ के सदृश किसी को इस समय हम देखें तब तो उपमान प्रमाण के द्वारा हम उसको जान सकें।

अर्थापत्ति भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाली नहीं है क्योंकि उस अर्थापत्ति को उत्पन्न करने वाले पदार्थ में अन्यथानुपपद्यमान का अभाव है। बहुजनपरिगृहीत धर्मादि का उपदेश अन्यथा भी हो सकता है अर्थात् सर्वज्ञ के अभाव में भी धर्म अधर्म आदि का उपदेश संभव है क्योंकि वह बहुत जनों के द्वारा परिगृहीत है इसलिये धर्मादि का उपदेश सर्वज्ञ के साथ अविनाभाव रूप नहीं है कि जिससे वह सर्वज्ञ को सिद्ध कर सके ? कहा भी है—

श्लोकार्थ—बुद्ध, कपिल आदि का उपदेश धर्म-अधर्म आदि को विषय करने वाला है क्योंकि यदि सर्वज्ञ न होवे तो अन्यथा-सर्वज्ञ के अभाव में भी वह हो सकता है ॥१॥

बुद्धादि वेद के जानने वाले नहीं हैं अतः उनका उपदेश वेद से असंभव है फिर भी उन लोगों ने जो उपदेश दिया है वह केवल व्यामोह से ही किया है ॥२॥

---

1 अवगच्छंतीति पा०। (ब्या० प्र०) 2 सर्वज्ञसदृशस्य। 3 सादृश्यात्। (ब्या० प्र०) 4 अर्थापत्युत्थापकस्य। 5 सर्वज्ञाभावेपि धर्माद्युपदेशः संभवति बहुजनपरिगृहीतत्वात्। ततो धर्माद्युपदेशो नान्यथानुपपन्नतां यतः सर्वज्ञं साधयेत्। 6 अन्यथापि भावात् इति पा० ? (ब्या० प्र०) 7 सर्वज्ञाभावे। 8 अन्यथा नोपपद्येत इति पाठान्तरम्। अयमेव पाठस्तथा कारुकल्पेन ज्ञेयः। 9 यतः। (ब्या० प्र०) 10 वेदादसंभवो यतः। (ब्या० प्र०)

ये तु मन्वाद्यः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्[1] । [2]त्रयीविद्याश्रित[3] ग्रन्थास्ते वेदप्रभवोद्भवाः[4] ॥३॥

इति । न[5] च प्रमाणान्तरं [6]सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति ।

[अत्र भरतक्षेत्रे, दुःषमकाले सर्वज्ञो नास्तीति; मा भूत् किंतु अन्यत्र विदेहादिदेशे चतुर्थकाले वा सर्वज्ञः सिद्धयति न वेति विचारः क्रियते]

मा भूदत्रत्येदानीन्तनानामस्मदादिजनानां सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तर-कालान्तरवर्त्तिनां केषाञ्चिद्भविष्यतीति चायुक्तं ।

"[7]यज्जातीयैः[8] प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् । दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेप्यभूत्"

इति वचनात् । तथा हि । विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणमत्रत्येदा-

---

त्रयीविदों में प्रधानता से जो मन्वादि ऋषि सिद्ध हैं उन त्रयीविदों के द्वारा किये गये ग्रंथ उनके आश्रित हैं वे वेद से उत्पन्न हुये हैं। अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ये तीन वेद हैं इन तीनों वेदों के आश्रित जो कथन है वह त्रयीविद्याश्रित है अतः मन्वादि रचित ग्रन्थ त्रयीविद्याश्रित कहलाते हैं ॥३॥

इसलिये और कोई भी सदुपलंभक-सत्ता को ग्रहण करने वाला प्रमाण नहीं है जो कि सर्वज्ञ के सद्भाव को ग्रहण कर सके।

[इस भरतक्षेत्र में और इस पंचम काल में सर्वज्ञ नहीं है तो न सही किन्तु विदेहादिक्षेत्र में और चतुर्थ आदि काल में सर्वज्ञ सिद्ध है या नहीं ? इस पर विचार किया है।]

यदि आप कहें कि यहाँ पर इस समय जन्म लेने वाले हम लोगों के पास सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि में से कोई भी एक प्रमाण भले ही न हो किन्तु देशांतर-कालांतरवर्ती किसी न किसी मनुष्य को सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षादि में से कोई न कोई प्रमाण होगा ही। अर्थात् देशांतर-विदेह क्षेत्र आदि देश एवं कालांतर-चतुर्थ काल आदि काल में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा किसी न किसी पुरुष को सर्वज्ञ का ज्ञान होता ही होगा। आप जैनादि का यह कथन भी अयुक्त है।

श्लोकार्थ—"जिस जातीय—दूरादि नियत अर्थ को विषय करने वाले प्रमाणों से जिस जातीय पदार्थों को इस समय लोक—सभी जन देखते हैं। उस प्रकार का प्रत्यक्षादि ज्ञान ही देशांतर और कालांतर में भी होगा॥" ऐसा वचन देखा जाता है। तथाहि "विवादाध्यासित देश—विदेहादि

---

1 मध्ये। 2 "स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी" इत्यमरः। 3 त्रयीविद्भिराश्रिताः (व्याख्याताः) स्मृति-रूपा ग्रन्था येस्मृतिग्रन्थास्ते त्रयीविद्याश्रितग्रन्थाः। त्रयीवित्प्रधानमन्वादिकृताः स्मृतिसाधारण्यात्त्रयीमेव आश्रयन्तीति भावः। 4 भवाः। (ब्या० प्र०) 5 किंच। (ब्या० प्र०) 6 सत्यं सर्वज्ञास्तित्वम्। 7 दूरादिनियतार्थगोचरं। 8 येषां देशांतरादिस्थानां यज्जातीयैस्तत्सदृशैरित्यर्थः। (ब्या० प्र०)

नीन्तनप्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थग्राहकं भवति तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादद्यत्वेदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

[अब जैनमतमाश्रित्य कश्चित् शंकते]

[1]ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थसाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तादृशं साध्यतेऽन्यथाभूतं वा ? तथाभूतं चेत्[8] सिद्धसाधनम् । अन्यथा[2]-भूतं चेदप्रयोजको हि हेतुः जगतो बुद्धिमत्कारणकत्वे[3] साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्ववत्[4] । इति चेत्तदसत्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात् सिद्धसाधनस्याप्यभावात्[5], [6]अन्यथाहेतोरसाध्य-भावात्[7] । तथा हि । [8]विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति,

---

और काल—चतुर्थ कालादि (भिन्न देश, काल) में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण भी इस समय में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण करने योग्य सजातीय अर्थ को ग्रहण करने वाले ही होते हैं अथवा इससे विजातीय सर्वज्ञादि अर्थ के ग्राहक नहीं होते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं इस अनुमान से आजकल होने वाले हम और आप जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान"। अर्थात् विवाद की कोटि में आये हुए विदेहादि क्षेत्र एवं चतुर्थ आदि काल में होने वाले जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण हैं वे वैसे ही हैं जैसे कि आजकल के हम लोगों के प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण हैं। अतः जैसे आजकल हम लोग प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ को जान नहीं सकते हैं वैसे ही अन्यक्षेत्र और अन्यकाल में किसी भी प्रत्यक्षादि के द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है।

[यहाँ जैनमत का आश्रय लेकर कोई शंका करता है]

जिस प्रकार इन्द्रियादि से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण सर्वज्ञादि को साधक—सिद्ध करने वाले नहीं देखे जाते हैं। देशांतर और कालांतर में तथाभूत—उसी प्रकार के प्रत्यक्षादि प्रमाण को आप सिद्ध करते हैं या अन्यथाभूत प्रमाण को ?

यदि तथाभूत कहो तो सिद्ध साधन दोष ही है अर्थात् हम जैन भी हम और आप जैसे के प्रत्यक्षादि ज्ञान से सर्वज्ञ का ग्रहण नहीं मानते हैं।

यदि अन्यथाभूत—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहो तो आपका हेतु अप्रयोजक (अहेतु) है जैसे जगत को

---

1 सिद्धान्त (जैन) पक्षमाश्रित्य वादी ब्रूते। 2 अतीन्द्रियजातं प्रत्यक्षम्। 3 बुद्धिमत्कारणत्वे इति पा०। (ब्या० प्र०) 4 यथाहि बुद्धिमत्पूर्वं सन्निवेशविशिष्टत्वं दृष्टं तथा बुद्धिमतो हेतोरनेकत्वं प्रसाधयेत् शरीरित्वात्। (ब्या० प्र०) 5 तथाभूतस्यैव तथा साधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह। (ब्या० प्र०) 6 अतीन्द्रिय। (ब्या० प्र०) 7 प्रत्यक्षस्याप्यभावात् इति पा०। (ब्या० प्र०) 8 तथाभूतस्यैव तथासाधनत्वं कुत इत्यारेकायामाह।

प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत्[1] । न [2]गृद्धवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा [3]नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्तः, [4]काश्यपाद्यनु-[5]मानातिशयेन [6]वाग्मित्वाद्यागमातिशयेन[6] वा । तस्यापीन्द्रियादि[7]प्रणिधानसामग्रीविशेष-मन्तरेणासंभवात् [8]स्वार्थादि[9]लक्षणाभावाच्च[10] तीन्द्रियाः[11] अनुमेयार्थविषयत्वाच्च ।

बुद्धिमत्कारणक सिद्ध करने में 'सन्निवेशविशिष्ट' हेतु अप्रयोजक है। अर्थात् प्रयोजनीभूत नहीं है।

मीमांसक—आपका यह कथन असत् है। तथाभूत—इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि को ही हम उक्त प्रकार से (सर्वज्ञ को ग्रहण करने वाला) सिद्ध करते हैं एवं उसमें सिद्ध साधन दोष का भी अभाव है क्योंकि अन्य प्रकार के—अतीन्द्रिय प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं ही नहीं। तथाहि—

"विवाद में आये हुए प्रत्यक्षादि प्रमाण इन्द्रियादि सामग्री विशेष से अनपेक्ष— अपेक्षा रहित नहीं होते हैं क्योंकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं जैसे कि हम लोगों के प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण।" एवं सन्निहित देश विशेष की अपेक्षा न करने वाले गृद्ध, वराह, पिपीलिकादि के प्रत्यक्ष से अथवा आलोक की अपेक्षा न रखने वाले नक्तंचर—बिल्ली, घूक—उल्लू, मूषक आदि के प्रत्यक्ष से अनैकांत दोष भी नहीं है। अर्थात् गृद्ध पक्षी को सन्निहित—निकट चीज की अपेक्षा न होने पर भी चक्षु का ज्ञान हो जाता है, सूकर को सन्निहित की अपेक्षा बिना घ्राणेन्द्रिय का ज्ञान हो जाता है तथा पिपीलिका—चिउंटी को सन्निहित—निकट वस्तु के बिना भी घ्राणेन्द्रिय से सुगंधि आदि का ज्ञान हो जाता है तथा बिल्ली, उल्लू आदि को बिना प्रकाश के भी ज्ञान हो जाता है किंतु इनके प्रत्यक्ष से हमारा "प्रत्यक्षादि-प्रमाणत्वात्" हेतु अनैकांतिक नहीं है।

और काश्यपादि—अरुंधति आदि के अनुमानातिशय से—व्याप्ति और स्मरण के बिना उत्पन्न अनुमान से अथवा पैंगिनी आदि के आगम के अतिशय से—संकेत स्मरण के बिना होने वाले आगम से भी हेतु अनैकांतिक नहीं है क्योंकि वे भी इन्द्रियादि के प्रणिधान—एकाग्रता रूप सामग्री विशेष के बिना असंभव हैं एवं अपने विषय का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं तथा वे अतीन्द्रिय और अननुमेय—इन्द्रिय और अनुमान के विषय से रहित पदार्थों को विषय नहीं करते हैं।

आचार्य—मीमांसक का कहना है कि जैसे हम लोगों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है उसी प्रकार से सभी जीवों का प्रत्यक्ष इन्द्रियों की और मन की सहायता रखता ही है बिना

---

1 एतदनुमानस्य असमीचीनत्वं दर्शयन्नाह नक्तञ्चरादिसंस्कृतचक्षुरादेः प्रकाशापेक्षा इति साध्यसाधनयोरसिद्धे प्रोक्तं द्रष्टव्यम्। 2 गृद्धस्य चाक्षुषं वराहस्य घ्राणं पिपीलिकादेस्तु स्पर्शनम्। 3 बिलादिकूपमूषकादयो नक्तञ्चराः। 4 काश्यपादयो=अरुंधतिः। 5 व्याप्तिस्मरणसंस्कारोत्पन्नप्रकाशेन। 6 वेदे उत्पन्नस्मरणसंस्कारेण। 7 एकाग्रता। 8 स्वार्थो विषयविषयः। 9 इत्यादि। (व्या० प्र०) 10 तथा एव चाक्षादि अतीन्द्रियाननुमेयांश्च। (व्या० प्र०) 11 अतीन्द्रियं च अननुमेयं चेति द्वन्द्वः।

[इन्द्रियाणि स्वविषयानेव गृह्णंति न तु परविषयानतः इन्द्रियज्ञानेन कश्चित्सर्वज्ञो भवितुं नार्हति]

तथा चोक्तं—

"अज्ञाप्यतिशयो[1] दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात्। दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ[2] स्यान्न क्वचे श्रोत्रवृत्तिता[3] ॥१॥
"प्रज्ञेषि [4]सातिशया दृष्टाः[5] [7]प्रज्ञामेधादिभिर्नराः। स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात्[6] ॥२॥
प्राज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोपि सन्। [8]स्वजातीरतिलंघ्यान्य[10]दतिशेते[11] परान्नरान् ॥३॥

इन्द्रिय, मन की सहायता के प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव है। जिन-जिन जीवों के इन्द्रिय ज्ञानों में विशेषता पाई जाती है वह विशेषता भी अपने-अपने विषय में ही पाई जाती है। जैसे कि वृद्ध पक्षी को निकट की अपेक्षा न करके भी चक्षु इन्द्रिय से रूपी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सूकर को अतिदूर से कर्णेन्द्रिय से सुनाई दे देता है, चिउंटी को बहुत दूर की भी सुगंधि-दुर्गन्धि आ जाती है। यद्यपि इनके ज्ञानों में विशेषता पाई जाती है फिर भी चक्षु इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सुनने और चखने का। तथैव नक्तंचर उल्लू आदि को बिना प्रकाश के भी अंधेरे में ज्ञान हो जाता है तो भी चक्षु इन्द्रिय से देखने का ही ज्ञान होता है न कि सूंघने आदि का। अतएव इन्द्रियजन्य ज्ञान में कितनी भी विशेषता क्यों न आ जावे वह ज्ञान अपने विषय में ही होता है। पुनः इन्द्रिय ज्ञान के सिवाय अतींद्रिय ज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

[इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं पर के विषय को नहीं, अतः इन्द्रियज्ञान से कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता है]

कहा भी है—

श्लोकार्थ—जिस इन्द्रिय में अतिशय देखा जाता है वह अपने विषय का उल्लंघन नहीं कर सकती है दूरवर्ती और सूक्ष्मादि रूप देखने में श्रोत्रेन्द्रिय का व्यापार नहीं हो सकता है ॥१॥

जो मनुष्य प्रज्ञा, मेधा आदि से भी अतिशयवान् देखे जाते हैं वे सूक्ष्म और उससे भी सूक्ष्मतर आदि को जानने से ही अतिशयशाली हैं किंतु अतींद्रिय पदार्थ को देखने रूप अतिशय वाले नहीं हैं ॥२॥

बुद्धिमान मनुष्य सूक्ष्म पदार्थों को देखने में समर्थ होता हुआ भी तत्तत् विषयक—उस उस विषय में अपनी जाति को उल्लंघन न करते हुये ही अन्य मनुष्यों का उल्लंघन करके उनसे विशेष कहा जाता है ॥३॥

---

1 इन्द्रिये। 2 क्रियमाणायाम्। 3 श्रोत्रवृत्तिता: इति पा०। (ब्या० प्र०) 4 ननु च प्रज्ञा स्मृत्यादिशक्तीनां प्रतिपुरुषमतिशयवत्त्वोपलब्धेः कस्यचित्काष्ठाप्राप्तिप्रसक्तौ सूक्ष्मादिसूक्ष्मार्थसाक्षात्कारिप्रत्यक्षप्रसिद्ध्यारेकायामाह। 5 ननु च प्रज्ञामेधाश्रुतिस्मृतिऊहापोहप्रभृतीनां प्रतिपुरुषमतिशयवत्त्वोपलब्धेः कस्यचित्परमप्रकर्षे सातिशये विश्रान्तस्यापरा काष्ठाप्राप्तिप्रसक्तौ सूक्ष्मादिसूक्ष्मार्थसाक्षात्कारि संभाव्यत एवेत्यारेकायामाह। (ब्या० प्र०) 6 ते इति अक्षद्वाराः। (ब्या० प्र०) 7 त्रिकालविषया प्रज्ञा, मेधा तीर्यरिणामदर्शी, वर्तमानार्थग्राहिणी। (ब्या० प्र०) 8 ननु कश्चित् प्रज्ञावान्पुरुषः शास्त्रविषयान् सूक्ष्मान् अर्थान् उपलब्धुं प्रभुरुपलभ्यते तद्वत् प्रत्यक्षतोऽपि सूक्ष्मादिसूक्ष्मानर्थान् साक्षात्कर्तुं क्षमः किमिति न संभाव्यते ज्ञानातिशयानां नियमेपि पुरुषभक्तेरित्यारेकायामाह। (ब्या० प्र०) 9 तत्तद्विषयाणाम्। 10 कर्तुं। (ब्या० प्र०) 11 अतिशयेन। (ब्या० प्र०)

एकशास्त्र विचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान्। न तु शास्त्रान्तरज्ञानं [1]तस्मादेवेन सम्यते ॥४॥
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः। प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥५॥
ज्योतिर्विज्ञ प्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु। न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं [2]ज्ञातुमर्हति ॥६॥
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि [3]। न स्वर्गदेवता [4]पूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥७॥
[5]शतहस्तान्तरं व्योम्नि यो नरोत्प्लुत्य गच्छति। न योजनशतो गन्तुं सततोभ्यासतोपि ॥८॥ इति

[अतीन्द्रियज्ञानमपि अवश्यमेव]

न [6]दृष्टप्रत्यक्षादि[7]विजातीया[8]तीन्द्रियप्रत्यक्षादिसंभावना यतः [9]संभाव्यव्यभिचारिता[10]

जिसका एक शास्त्र के विचार में महान् अतिशयशाली ज्ञान देखा जाता है वह मनुष्य एक शास्त्र के ज्ञान मात्र से ही दूसरे शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है ॥४॥

व्याकरण शास्त्र को जान करके ज्ञान शब्द और अपशब्द में दूर तक बुद्धिगत हो जाता है अर्थात् यह शब्द व्याकरण से शुद्ध है यह अशुद्ध है इत्यादि जान लेता है किन्तु वही ज्ञान नक्षत्र तिथि आदि के निर्णय में प्रस्फुट नहीं हो सकता है ॥५॥

उसी प्रकार से चंद्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदिकों में विशेष प्रकृष्ट भी ज्योतिर्ज्ञानी मनुष्य "भवति गच्छति" आदि शब्दों को व्युत्पत्ति आदि के द्वारा अच्छी तरह से नहीं जान सकता है ॥६॥

उसी प्रकार से वेद इतिहास आदि ज्ञान के अतिशय वाला भी मनुष्य स्वर्ग, देवता, अपूर्व-पुण्य पाप आदि को प्रत्यक्ष देखने में समर्थ नहीं हो सकता है ॥७॥

जो आकाश में सौ हाथ प्रमाण उछल कर जा सकता है वह संकड़ों अभ्यास के द्वारा भी योजन पर्यंत जाने में समर्थ नहीं हो सकता है ॥८॥

[अतीन्द्रिय ज्ञान भी अवश्य ही है]

इस प्रकार से कहा गया है, इसलिये देखे गये प्रत्यक्षादि प्रमाण से विजातीय अतीन्द्रिय प्रत्यक्षादि की संभावना करना शक्य नहीं है कि जिससे "प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्" यह हेतु साध्य के साथ व्यभिचारी हो सके अर्थात् नहीं हो सकता है।

---

1 एकशास्त्रज्ञानमात्रेण। 2 सिद्धि निष्पत्तिमिति यावत्। (ब्या० प्र०) 3 पुराकल्पादिवृत्तान्तज्ञानसम्बन्धं इतिहासः। 4 अपूर्वं पुण्यपापे। 5 अथश्रुतज्ञानवनुमानज्ञानंवाऽभ्यस्यमानमभ्यासप्रकर्षभावे सदर्थसाक्षात्कारितया परां प्रकाशातिशयवतीमि योगजधर्मानुग्रहजां कर्तुकामः क्वचिदभ्यासप्रकर्षं गतेपि ज्ञानस्य विषयपरिच्छित्तौ विषयान्तरपरिच्छित्तेरनुपपत्तिरिति दार्ष्टान्तिकं मनसिकृत्य तत्र दृष्टांतमाह। श्रुतज्ञानं—परार्थानुमानरूपश्रुतप्रमिणावना। अनुमानं—स्वार्थानुमानरूपचिंतामणिभावना। साक्षात्कारितया—प्रत्यक्षीकरणतया इत्यर्थः। (ब्या० प्र०) 6 यतः। (ब्या० प्र०) 7 ता। (ब्या० प्र०) 8 इन्द्रः। 9 अतीन्द्रियप्रत्यक्ष। ता। (ब्या० प्र०) 10 संभाव्येनातीन्द्रिय (नैन्द्रिये) प्रत्यक्षादिना व्यभिचारः।

[1]साधनस्य स्यात्। पुरुषविशेषस्य [2]तत्सद्भावकलायां [3]संभवव्यभिचारित्वमेवेति चेन्न, [4]तस्यासिद्धत्वात्, साधकाभावात्सर्वपुरुषाणां [5]त्रिविप्रकृष्टार्थसाक्षात्करित्वानुपपत्तेरिति।

[अधुना मीमांसकाभिमतं सर्वज्ञाभावस्य मीमांसां कुर्वंति जैनाचार्याः।]

[6]तदेतत्सर्वमपरीक्षिताभिधानं मीमांसकस्य। न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः[7] प्राक् सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं सिद्धं येन परः[8] प्रत्यवतिष्ठेत। नापि बाधकासंभवात्परं[9] प्रत्यक्षादेरपि [10]विरचनमस्ति, [11]सत्र[12]कृतेपि[13] सिद्धं[14]। यदि तत्सत्त्वं न साध्येत्[15]

यदि आप कहें कि पुरुष विशेष में उस अतीन्द्रिय अर्थ की संभवता होने पर वह हेतु संभव से व्यभिचारी ही है, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि वह पुरुष विशेष असिद्ध ही है। साधक प्रमाण का अभाव होने से सभी पुरुष तीन प्रकार के (देश, काल और स्वभाव से) विप्रकृष्ट-दूरवर्ती अर्थ का साक्षात्कार कर नहीं सकते हैं।

इस प्रकार मीमांसक ने अपना पूर्वपक्ष रखा है।

[अब मीमांसकाभिमत सर्वज्ञ के अभाव के विषय में जैनाचार्य मीमांसा करते हैं]

जैन—आप मीमांसक का यह सभी कथन अपरीक्षित—अविचारित ही है क्योंकि सर्वज्ञ के निराकरण के पहले "सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाण" सिद्ध नहीं है कि जिससे आप मीमांसक हमारे प्रतिकूल कुछ बोल सकें अर्थात् आप हमारी प्रतिकूलता नहीं कर सकते हैं। "बाधक असंभव है" इससे भिन्न-अन्य कोई भी संभवत्वाभाव हेतु सर्वज्ञादि अभाव में भी विश्वास निश्चितरूप नहीं है।

यह "बाधकासंभवत्व" प्रकृत-सर्वज्ञ में भी सिद्ध होता हुआ यदि उस सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध न कर सके, तब तो सर्वज्ञ भी—सत्यार्थरूप और असत्यरूपता में समान होने से उस "सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण" के अभाव में सर्वज्ञ-असत्य, असर्वज्ञ-सत्यरूपता का उपसंहार नहीं कर सकता क्योंकि कोई विश्वास नहीं है विज्ञान के समान।"*

मीमांसक—सर्वज्ञ के निराकरण के पहले "सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाण" सिद्ध नहीं होवे तो

---

1 प्रत्यक्षादिप्रमाणस्यवर्तिति साधनस्य। 2 तस्य अतीन्द्रियार्थस्य। 3 सा। (ब्या० प्र०) 4 पुरुषविशेषस्य। 5 देशकालस्वभाव। (ब्या० प्र०) 6 अथाह प्रभाकरौ। 7 निराकृते सर्वज्ञे अनिराकृते वा सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं वर्तते इति विकल्पाभिप्रायः। (ब्या० प्र०) 8 परो मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठेत (प्रतिकूलतामवलम्बेत) अपि तु नेत्यर्थः। 9 अत्रत् सर्वज्ञकृत्याधिकम्। 10 तत्। (ब्या० प्र०) 11 बाधकासम्भवत्वम्। 12 सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वम्। (ब्या० प्र०) 13 सर्वज्ञे। 14 सिद्धं चेत्। 15 सहीति शेषः।

[1]सर्वज्ञाप्यविशेषात्तदभावे[2] [3]दर्शनं [4]नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाविशेषवत्[5] ॥* [6]स्यान्मतं "मा सिधत्सर्वज्ञस्य निराकरणात्पूर्वं सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं [7]स्वप्रत्यक्षस्य सर्वज्ञान्तरप्रत्यक्षस्य च [8]तत्साधकस्य संभवात्, परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षा[10]ऽवितथाऽशेष[11]सूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकतद्वचनविशेषात्मकलिङ्गजनितानुमानस्य च [12]तत्साधकस्य [13]सद्भावादनादिप्रवचनविशेषस्य[14] च तदुद्द्योतितस्य [15]तत्साधकत्वेन सिद्धेः। [16]निराकरणादुत्तरकालं तु सिद्धमेव" इति। [17]तदपि स्वमनोरथमात्रं, सर्वज्ञनिराकृतेरयोगात् सर्वथा बाधकाभावात्।

न सही किन्तु आपका जो कहना है कि स्वप्रत्यक्ष–स्वयं सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष और सर्वज्ञांतर प्रत्यक्ष–भिन्न सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष ज्ञान उस सर्वज्ञ के साधक संभव है। परोपदेश हेतु और इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अवितथसत्य, अशेष सूक्ष्मादि पदार्थ के प्रतिपादक, उनके वचन विशेषात्मक हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान उस सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले मौजूद हैं और उस सर्वज्ञ से उद्योतित अनादि आगम विशेष भी सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रसिद्ध है। इस प्रकार से सर्वज्ञ की सिद्धि जो आपने की है उस सर्वज्ञ के निराकरण के अनंतर उत्तर काल में वह हमारा "सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाणत्व" सिद्ध ही है जो कि अभाव प्रमाण रूप है। अर्थात् मीमांसक का कहना है कि आप जैन जो सर्वज्ञ के अस्तित्व को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से सिद्ध करते हो एवं कहते हो कि मीमांसक का "सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण" उस सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक नहीं है सो बात सिद्ध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के निराकरण के पहले हमारा सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण भले ही सिद्ध न हो किन्तु सत्ता को ग्रहण करने वाले पाँचों प्रमाणों के द्वारा उस सर्वज्ञ का निराकरण कर देने पर हमारा सुनिश्चितासंभवत्साधक प्रमाण रूप हेतु सिद्ध ही हो जाता है। सुनिश्चित रूप से असंभव है सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण जिसमें उसे "सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण" कहते हैं एवं सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें उसे "सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण" कहते हैं और सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाण-अभाव प्रमाण से हम सर्वज्ञ का अभाव कर देते हैं।

जैन—यह कथन भी स्वमनोरथ मात्र ही है क्योंकि सर्वथा बाधक का अभाव होने से सर्वज्ञ के निराकरण का अभाव ही है।

---

1 दर्शने सर्वज्ञाभावे वा (सर्वज्ञस्य) सत्यदर्शने असत्यदर्शने च वा। 2 अविशेषात्सर्वज्ञादि सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणस्याभावे इत्यर्थः। 3 प्रत्यक्षम्। 4 प्रत्यक्षाभासं। (ब्या० प्र०) 5 प्रतिवादिवत्। (ब्या० प्र०) 6 मीमांसकस्य। 7 पुनः। (ब्या० प्र०) 8 सर्वज्ञस्य। (ब्या० प्र०) 9 सर्वज्ञसाधकस्य। 10 अन्तरितदूरमिति। किमाविशेषणमेतत्। 11 अंतरितदूर। (ब्या० प्र०) 12 स सर्वज्ञः। 13 संभवादनादि इति पा०। (ब्या० प्र०) 14 अर्थकर्तृस्य। (ब्या० प्र०) 15 स सर्वज्ञः। 16 सर्वस्य। (ब्या० प्र०) 17 सिद्धान्ती।

[मीमांसकों कहते—अस्तित्वग्राहकपंचप्रमाणैः सर्वज्ञो न ज्ञायते अतोऽभावप्रमाणेन सर्वज्ञस्याभावोऽस्ति किन्तु जैनाचार्याः अभावप्रमाणस्याभावं कृत्वा सर्वज्ञं साधयन्ति ।]

[1]सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिलक्षणं [2]ज्ञापकानुपलम्भनं[3] सर्वज्ञस्य बाधकमिति चेन्न, [4]तस्य [5]स्वसम्बन्धिनः परचेतोवृत्तिविशेषादिना[6] व्यभिचारात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके ।

"[7]स्वसम्बन्धि यदीदं [8]स्याद्व्यभिचारि पयोनिधेः । अम्भःकुम्भादिसंख्यानं [9]सद्भिरज्ञायमानकैः[10] ॥१॥
सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धृ, किञ्चिद्बोधैर्न[11] शक्यते । सर्वज्ञोऽस्तीति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥२॥

[मीमांसक कहता है कि अस्तित्व को ग्रहण करने वाले पांचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ नहीं जाना जाता है अतएव अभाव प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव करके सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं ।]

मीमांसक—सत्ता को ग्रहण करने वाले पांच प्रमाणों का अभाव लक्षण, ज्ञापकानुपलब्धि रूप अभाव प्रमाण सर्वज्ञ को बाधित करने वाला है ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि हम आपसे ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि वह अभाव स्वसंबंधी है या सर्व सम्बन्धी ? स्वसंबंधी मानों तो परचित्त के व्यापार विशेष आदि से व्यभिचार आता है और सर्व संम्बन्धी कहो तो असिद्ध है । उसी को तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में कहा है ।

"यदि अभाव प्रमाण स्वसंबंधी है तो अल्पज्ञों के द्वारा समुद्र के विद्यमान अलकुंभादि की संख्या से व्यभिचारी है । अर्थात् समुद्र के पानी का घड़े आदि से मापने की संख्या का परिमाण तो हो सकता है किन्तु आपको तो यह ज्ञान नहीं है कि पूरे समुद्र में कितने घड़े पानी है अतः समुद्रके पानी में घड़ों की संख्या का परिमाण है किंतु आपके पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है इस कारण आपका हेतु व्यभिचारी है ॥१॥

यदि सर्व संबंधि अभाव कहो तो अल्पज्ञों के द्वारा उसे जानना शक्य नहीं है यदि सभी को जानने वाला कोई ज्ञाता है तो वही सर्वज्ञ है पुनः आप उस सर्वज्ञ का निषेध क्यों करते हैं ? अर्थात् यदि आप कहें कि सभी संसारी जीवों के पास सर्वज्ञ को जानने वाला कोई प्रमाण नहीं है तब तो अल्पज्ञ मनुष्य यह बात कैसे जान सकेगा कि जैन, नैयायिक, वैशेषिक आदि किसी के पास सर्वज्ञ को

---

1 सदुपलम्भकं समाहकम् । 2 अभावप्रमाणं । (ब्या० प्र०) 3 विद्यमानदर्शकप्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाभावस्वरूपमभावप्रमाणम् । 4 सदुपलंभनं स्वसंबंधि—सर्वसंबंधि वा इति विकल्पद्वयं कृत्वा दूषयति । स्वसंबंधि—स्वस्याभावप्रमाणवादिनः संबंधियत्प्रापकपंचकं (प्रमाणं) तस्यानुपलंभनं तस्य । सर्वसम्बन्धि—सर्वजनस्य । (ब्या० प्र०) 5 सिद्धान्ती तदनुपलम्भनं स्वसम्बन्धि परसम्बन्धि वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति । स्वस्याभावप्रमाणवादिनः सम्बन्धि स्वसम्बन्धि । 6 परचित्तव्यापारविशेषादिना व्यभिचारसम्भवात् । 7 तदा । (ब्या० प्र०) 8 तदेति शेषः । 9 विद्यमानैः । 10 किञ्चिज्ज्ञैः । 11 अतीन्द्रियत्वात् ।

सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । न [1]चक्षुरादिनिर्देश्यमतीन्द्रियत्वात्तदृष्टवत् ॥३॥
नानुमानादिरूपत्वात् [2]व्याप्यार्थापत्युपमानेति: [3] । [4]सर्वज्ञस्याव्यभावाभावसादृश्यानुपपत्तितः ॥४॥
सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत्[5] ॥५॥
कार्यैकं चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य[6] सम्मतम् । तस्य [7]स्वरूपसत्तायां [8]तन्नै[9]वातिप्रसङ्गतः[10] ॥६॥

जानने वाला प्रमाण नहीं है और यदि जानेगा तब तो सर्वप्राणियों को जानने से वही तो सर्वज्ञ सिद्ध हो जावेगा पुनः आप सर्वज्ञ का निषेध भी कैसे कर सकेंगे ? ॥२॥

दूसरी बात यह है कि सर्व सम्बन्धि सर्वज्ञ के ज्ञापकानुपलंभ—अभाव प्रमाण को चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा जानना शक्य नहीं है क्योंकि वह अतीन्द्रिय अदृष्ट के समान है। अर्थात् जैसे पुण्य-पाप आदि इन्द्रिय से नहीं दिखते हैं वैसे ही वह ज्ञापकानुपलंभ नहीं दिखता है ॥३॥

अनुमान से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ अत्यंत परोक्ष है अतः उसके ज्ञापक हेतु का अभाव है एवं उस सर्वज्ञ के अभाव के साथ अन्यथाभाव और सादृश्य का अभाव होने से अर्थापत्ति और उपमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है ॥४॥

सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाले उस "ज्ञापकानुपलंभन" हेतु के जानने में सम्पूर्ण प्रमाता-ज्ञाता सम्बन्धी प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणों का निवारण हो जाने से तो मीमांसकों के यहाँ केवल आगम से उस सर्वज्ञ के अभाव का जानना कैसे सिद्ध हो सकेगा ? ॥५॥

क्योंकि जो मीमांसक वेदवाक्यों के अर्थ को कार्य—कर्मकांड के प्रतिपादक अर्थ में प्रमाण मानते हैं वे ही उन वेदवाक्यों को स्वरूप की सत्तारूप—परमब्रह्म को कहने वाले अर्थ में प्रमाण नहीं मानते हैं और यदि मानेंगे तो अतिप्रसंग दोष आ जावेगा अर्थात् "अन्नाद् पुरुषः" अन्न से पुरुष पैदा होता है ऐसे वेदवाक्यों को भी प्रमाण मानना पड़ेगा। तथा च चार्वाक मत का प्रसंग आ जावेगा अतः कर्मकांड के प्रतिपादक वाक्यों को ही मीमांसक प्रमाण मानते हैं किन्तु ज्ञापकानुपलंभन के सिद्ध करने वाले वेदवाक्यों को वे प्रमाण नहीं मानते हैं अतः आगम से भी ज्ञापकानुपलंभन की सिद्धि नहीं हुई कि जिससे सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध किया जा सके ॥६॥

---

1 अतीन्द्रियत्वात् । (ब्या० प्र०) 2 अत्यन्तपरोक्षत्वेन सर्वज्ञस्य ज्ञापकलिङ्गाभावः । 3 मा हिः । (ब्या० प्र०) 4 सर्वस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तित इति वा पाठः । 5 सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । 6 मीमांसकस्य । 7 स्वरूप-शब्देन सर्वज्ञः । 8 सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । 9 अन्यथा—स सर्ववित् स लोकवित् हिरण्यगर्भः सर्वज्ञः इत्यादेरपि स्वरूपे प्रामाण्यं स्यात् । (ब्या० प्र०) 10 आप्तः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

[1]तद्व्यापकोपलम्भस्यासम्भवोऽभावसाधनः। साध्यते चेन्न तत्सर्वं [2]सर्वज्ञान्यप्रवृत्तितः[3] ॥७॥
गृहीत्वा [4]वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम्[5]। मानसं नास्तितज्ज्ञानं चेदमक्षानपेक्षया ॥८॥
तेषामसंभवज्ज्ञाने[6] स्मृते[7] [8]तज्ज्ञापके क्वचित्। जायेत नास्तितज्ज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ॥९॥
न चासंभवतज्ज्ञानं [9]सकृत्सर्वज्ञमिच्छति[10]। न क्रमादन्य[11]सन्तानप्रत्यक्षत्वानभीप्सितः ॥१०॥

सर्वज्ञ को बतलाने वाले प्रमाण की उपलब्धि का अभाव प्रमाण से यदि आप अभाव सिद्ध करते हैं तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वह अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञ प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। अर्थात् सभी पुरुषसंबंधि सर्वज्ञ के अभाव को जानने में वह अभाव प्रमाण समर्थ नहीं हो सकता है ॥७॥

आप मीमांसकों के यहाँ ही अभाव प्रमाण का ऐसा लक्षण किया है कि वस्तु के सद्भाव को ग्रहण करके और जिसका अभाव सिद्ध किया है उसके प्रतियोगी का स्मरण करके एवं बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा न करके केवल मन में 'नहीं है' यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है। अर्थात् जैसे भूतल में घट का अभाव आना जाता है। इस समय भूतल का चक्षु से या स्पर्शन इन्द्रिय से प्रत्यक्ष है ही और पहले देखे हुये घट का स्मरण है ऐसी दशा में मन इन्द्रिय से घटाभाव का ज्ञान हुआ ॥८॥

पुनः उन मनुष्यों को असंख मनुष्यों का ज्ञान हो जाने पर तथा सर्वज्ञ ज्ञापक के काल का स्मरण हो जाने पर मन में 'सर्वज्ञ नहीं है' यह ज्ञान उत्पन्न हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता है। अर्थात् हम जैनों के यहाँ और नैयायिकों के यहाँ तो अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से हो जाता है किंतु मीमांसक लोग अभाव के जानने में निषेध करने योग्य पदार्थ का स्मरण और निषेध की आधारभूत वस्तु का प्रत्यक्ष करना या दूसरे प्रमाणों से निर्णीत कर लेना आवश्यक मानते हैं। अतः उन मीमांसकों को सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का अभाव रूप नास्तित्व मन और इन्द्रियों के द्वारा तभी ज्ञात हो सकेगा जब कि वहाँ के आधारभूत संपूर्ण मनुष्यों का ज्ञान किया जावे और उस समय सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का स्मरण किया जावे इसके सिवा अन्य प्रकार से सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों की नास्तिता का ज्ञान किसी भी प्रकार से नहीं कर सकेंगे ॥९॥

और किसी को भी एक साथ सभी मनुष्यों का ज्ञान हो नहीं सकता है तथा क्रम से भी नहीं हो सकता है क्योंकि अन्य पुरुष के मनोव्यापारादि का प्रत्यक्ष होना किसी को इष्ट नहीं है एवं शक्य भी नहीं है। अर्थात् अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में आधारभूत सभी मनुष्यों का ज्ञान होना आवश्यक है ऐसी आपकी मान्यता है किंतु यह बात शक्य नहीं है ॥१०॥

---

1 प्रभाकरं निराकृत्य भट्टं निराकुर्वन्नाह तज्ज्ञापकेति। 2 सर्वपुरुषसम्बन्धिनि ज्ञापकानुपलम्भने। 3 सर्वज्ञसर्वज्ञज्ञापकप्रमाणाभावे। ता बहुः। (ब्या० प्र०) 4 घटव्यतिरिक्तं भूतलं। (ब्या० प्र०) 5 घटं। (ब्या० प्र०) 6 असंभवं जानाति। (ब्या० प्र०) 7 सति। 8 सर्वज्ञज्ञापके काले। 9 युगपत्। (ब्या० प्र०) 10 घटते। 11 अन्यपुरुषमनोव्यापारादिप्रत्यक्षत्वानभिष्टेः।

यदा च क्वचिदेकत्र[1] मनेस्तन्नास्तितागतिः[2]। संबाध्यत्र[3] तदा 'सास्ति सर्वथा सर्वत्र[4] नास्तिता ॥११॥
[5]प्रमाणान्तरतोप्येषां[6] न सर्वपुरुषग्रहः। [7]तल्लिङ्गाद्यैरसिद्धत्वात् [8]सहोक्तीरितदूषणात्[9] ॥१२॥
[10]तज्ज्ञापकोपलम्भोपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित्। [11]यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तितायाः प्रमाणता[12] ॥१३॥
[13]परोपगमतः सिद्धःस[14]र्वज्ञस्तीति चाध्यते। [15]व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेन्योन्यं[16] सिद्धो न सोऽन्यथा ॥१४॥

और जब किसी एक मनुष्य में भी "सर्वज्ञ नहीं है" ऐसा 'नास्तिता' का ज्ञान हो जावेगा तब अन्य मनुष्य में वह नास्तिता का ज्ञान तो है नहीं पुनः सर्वत्र सर्वज्ञ नहीं है ऐसा "नास्तिता का ज्ञान" कैसे हो सकता है? अर्थात् आप जब क्रम-क्रम से सबको जानेंगे तभी तो सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करेंगे और क्रम-क्रम से से सभी मनुष्यों को जानना तो तीन काल में भी शक्य नहीं है ॥११॥

आप मीमांसकों के यहाँ सर्वज्ञ के ज्ञापक—बतलाने वाले प्रमाण के अभाव के आधारभूत संपूर्ण पुरुषों का ग्रहण अन्य अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से भी नहीं हो सकता है क्योंकि उनके अविनाभाव, सादृश्य आदि गुणों को रखने वाले हेतु आदिक सिद्ध नहीं हैं। अनेक पुरुषों को क्रम से जानने में जो दूषण आते हैं वे ही दोष उन पुरुषों को जानने में जो हेतु या सादृश्य दिये जावेंगे उनमें भी साथ साथ ही आवेंगे अर्थात् अनेक पुरुषों के साथ व्याप्ति को रखने वाला कोई निर्दोष हेतु आपके पास नहीं है और न सादृश्य आदि ही हैं ॥१२॥

उस सर्वज्ञ को बताने वाले की उपलब्धि भी पूर्व में कदाचित् सिद्ध नहीं है। जिस ज्ञापकोपलंभ की स्मृति होने पर वास्तव में नास्तिता का ज्ञान हो सके। अर्थात् आपके यहाँ अभाव प्रमाण की उत्पत्ति में प्रतियोगी का स्मरण भी कारण है और पूर्व में जाने हुये सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाण का स्मरण हो सकता है परन्तु आपको तो सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण का स्मरण नहीं है ॥१३॥

यदि हम जैनादि की स्वीकृति से वह सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण—सर्वज्ञ को बतलाने वाला प्रमाण सिद्ध है पुनः "नास्ति" इस प्रकार से सिद्ध किया जाता है, तब तो व्याघात-परस्पर विरुद्ध दोष हो जाता है। यदि आप पर की स्वीकृति को प्रमाण मानते हो तो वादी और प्रतिवादी दोनों को ही वह सिद्ध है यदि कहो वह अप्रमाण है तो दोनों के यहाँ सिद्ध नहीं है। अर्थात् आप यदि हम सर्वज्ञवादी मत को प्रमाण मानते हैं तब तो सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव नहीं कर सकेंगे और यदि सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करते हो तो हमारी स्वीकृति तुम्हें प्रमाण नहीं रही, मतलब तुम हमारी अप्रमाणिक स्वीकृति से हमारा खंडन कैसे करोगे इसमें तो तुम्हारे यहाँ "परतोव्याघात" नाम

---

1 नरे। 2 सर्वज्ञनास्तिताज्ञानमिति:। 3 नरे। 4 नास्तिताज्ञानं। 5 नरे। (ब्या० प्र०) 6 अनुमानादिना। 7 मीमांसकानाम्। 8 अनुमाने लिङ्गस्य, उपमाने सादृश्यस्य, अर्थापत्तौ सत्यथानुपपत्तेरभावस्य बाधकाभावित्वमेव:। 9 युगपत्। (ब्या० प्र०) 10 सर्वसम्बन्धि ग्रहणोपायं किञ्चिन्नोक्तेनैव ज्ञायते इत्यादिना पूर्वमेव नास्तितासिद्धौ प्रवृत्ते तत्र तत्र प्रत्येकप्रमाणे दूषणस्योक्तत्वात्। 11 मीमांसकानामसिद्ध एव। (ब्या० प्र०) 12 तज्ज्ञापकोपलम्भस्य स्मृतौ सत्याम्। 13 पारमार्थिकं। (ब्या० प्र०) 14 जैनाद्युपगमतः। 15 सर्वज्ञः। 16 कथं व्याघातस्तत्राह।—तस्य परोपगमस्य प्रमाणत्वेनान्योन्यं परस्परं (वादिप्रतिवादिनोः) स सिद्धः। अन्यथा (तदप्रमाणत्वे) अन्योन्यं परस्परमुभयोरेव न सिद्ध इति। 17 विधिप्रतिषेधयोः। (ब्या० प्र०)

का दोष आ जाता है ॥१४॥

विशेषार्थ—मीमांसक का कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति रूप पाँचों ही प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है, अतएव अन्तिम छठे अभाव प्रमाण के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध है इस अभाव प्रमाण का दूसरा नाम है "ज्ञापकानुपलंभन" मतलब बतलाने वाले प्रमाण का उपलब्ध न होना।

मीमांसक के इस कथन पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि सर्वज्ञ के अस्तित्व को बतलाने वाला प्रमाण केवल आपको ही नहीं है या सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को बतलाने वाला प्रमाण नहीं है? यदि प्रथम पक्ष लेवो तब तो समुद्र के पूरे पानी में बूंदों की संख्या का परिमाण तो है किंतु आप के पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है अतः आपका हेतु व्यभिचारी हो गया। यदि आप दूसरा पक्ष लेवें कि सभी संसार के जीवों के पास सर्वज्ञ को बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है तब तो हम और आप जैसे अल्पज्ञ जनों द्वारा यह बात जानना ही शक्य नहीं है कि सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है और यदि आप किसी जीव को भी ऐसा सभी को जानने वाला मानते हो कि इन सभी के पास सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण नहीं है तब तो सब को जानने वाले सर्वज्ञ का आप निषेध भी कैसे कर सकते हो?

यदि आप मीमांसक यह कहें कि "षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञो न बाध्यत इति चायुक्तं" प्रत्यक्षादि छहों प्रमाणों से सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ का हम निषेध नहीं करते हैं। अनुमान या अपौरुषेय वेद रूप आगम से अनेक विद्वान्, परोक्ष रूप से सम्पूर्ण पदार्थों को जान लेते हैं यह कोई कठिन बात नहीं है किन्तु "एक अतींद्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा युगपत् सम्पूर्ण जगत् को जानने वाला कोई सर्वज्ञ है" इस बात का ही हम निषेध करते हैं। मतलब पुण्य, पाप आदि अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद से ही होता है न कि प्रत्यक्ष ज्ञान से।

इस कथन पर भी जैनाचार्य कहते हैं कि "अतींद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से कोई भी मनुष्य अतींद्रिय पदार्थों को नहीं जानता है" यह बात भी आप इंद्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जान सकते हैं यदि जानेंगे तब तो आप ही सर्वज्ञ बन जावेंगे। इसी प्रकार से सर्वज्ञ के अभाव को कहने वाला यह अभाव प्रमाण अनुमान के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है तथैव उपमान और अर्थापत्ति से भी यह ज्ञापकानुपलंभन हेतु जाना नहीं जा सकता है एवं आप मीमांसक ने कर्मकांड के प्रतिपादक वेदवाक्यों को ही प्रमाण माना है, किंतु सर्वज्ञाभाव के साधने में समर्थ अभाव प्रमाण को सिद्ध करने वाले वेदवाक्यों को प्रमाण नहीं माना है अतः आगम से भी ज्ञापकानुपलंभ हेतु सिद्ध नहीं हो सकता है यदि आप सर्वज्ञ को बतलाने वाले प्रमाणों के अभाव को अभाव प्रमाण से कहो तो भी ठीक नहीं है क्योंकि आपके द्वारा मान्य अभाव प्रमाण की भी सभी जगह प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् सर्वज्ञाभाव के आधारभूत शुद्ध भूतल के सद्भाव को जान करके और जिसका अभाव सिद्ध किया गया है उस सर्वज्ञ का स्मरण करके बहिरंग इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित जो मन में "यहाँ सर्वज्ञ नहीं है" यह ज्ञान होता है वह अभाव प्रमाण है जैसे पहले कभी किसी मंदिर में सर्वज्ञ को देखा था पुनः कुछ दिन बाद गये तो

वहाँ मंदिर खाली दिखा तब पूर्व में देखे हुये सर्वज्ञ का स्मरण हुआ और मन में ज्ञान हुआ कि "यहाँ सर्वज्ञ नहीं है" इसे अभाव प्रमाण कहते हैं। आप मीमांसक की अभाव प्रमाण की इस व्याख्या से तो बड़ी आफत आ जाती है क्योंकि पूर्व में देखे गये, जाने गये का ही वर्तमान में स्मरण हो सकता है बिना जाने पदार्थ का स्मरण ही असंभव है।

दूसरी तरह से यह भी प्रश्न होता है कि "सभी जीवों के पास सर्वज्ञ को बतलाने वाले प्रमाणों का अभाव है" इस बात को जानने के लिये आप सभी जीवों को एक साथ ही एक समय में जान लेते हो या क्रम से एक-एक को जानते हो ? क्रम-क्रम से अन्य सभी जीवात्माओं को जान लेना आपको इष्ट नहीं है क्योंकि क्रम-क्रम से जानने में तो अनंत काल निकल जावेगा कारण जीवराशि तो अनंतानंत है।

यदि आप कहें कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हम क्रम-क्रम से सभी जीवों को नहीं जानेंगे कि इनके पास सर्वज्ञ ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है किंतु अनुमान आदि से अल्पी से जान लेंगे तो आचार्य कहते हैं कि संपूर्ण जीवों के पास सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण नहीं है इस बात को बताने के लिये अनुमान, आगम, उपमान आदि प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे क्योंकि अविनाभावी हेतु सादृश्य आदि का अभावपूर्ववत् ही है।

यदि दूसरा पक्ष लेवो कि एक साथ ही हम सभी जीवों को जान लेंगे कि "इन सभी के पास सर्वज्ञ का ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है" तब तो आप ही सभी को युगपत् जान लेने से सर्वज्ञ हो जावेंगे। निष्कर्ष यह है कि मीमांसक अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना चाहता था किन्तु जैनाचार्य ने इस अभाव प्रमाण का ही अभाव करके सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध कर दिया है। मीमांसक ने पुनः एक बात कही है कि आप जैनादि सर्वज्ञ को बताने वाले प्रमाणों को मानते हैं थोड़ी देर के लिए हम उनको लेकर कल्पना से मान लेंगे पुनः अभाव प्रमाण से ज्ञापक प्रमाणों की उपलब्धि का अभाव सिद्ध कर देंगे।

इस पर जैन कहते हैं कि हम लोगों ने जो सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों को माना है उन्हें लेकर पुनः तुम उनका अभाव करना चाहते हो तो पहले यह बताओ कि आप हमारे द्वारा मान्य सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों को सच्चे मानते हो या नहीं ? यदि सच्चे मानते हो तो आप उन प्रमाणों का अभाव नहीं कर सकोगे। अर्थात् सर्वज्ञवादी के मत को प्रमाण मानने पर आप ज्ञापकोपलंभ का अभाव नहीं कर सकते हैं यदि ज्ञापकोपलंभन का अभाव सिद्ध करते हो तो सर्वज्ञवादी के ज्ञापक प्रमाणों को आप प्रमाणीक नहीं मानते हो और यदि आप सर्वज्ञवादी के मन्तव्य को प्रमाण नहीं मानते हो तब तो संपूर्ण आत्माओं का ज्ञान और ज्ञापकोपलंभन रूप सामग्री के न होने से आपके उस अभाव प्रमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। "सेयमुभयतः पाशारज्जुः" रस्सी में दोनों तरफ फांदे हैं इस न्याय से आप मीमांसक को दोनों ही तरफ से सर्वज्ञ मानना पड़ता है। सर्वज्ञ का अभाव यदि अभाव प्रमाण से करते हैं तो भी मानना पड़ता है और यदि सर्वज्ञ का अभाव न करें तब तो वह स्वयं सिद्ध ही है।

नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम्। सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न शोभनम् ॥१५॥
प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते। को दोषः [1]युक्तयैतत्रैकान्तोपलब्धलक्षणे* ॥१६॥
अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम्। तद्विधिस्तन्निषेधश्च नयौ [6]नैवान्यथा गतिः ॥१७॥
[7]नैवं सर्वत्र सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम्। सिद्धं [8]तद्दर्शनभ्रान्तौ यैन तत्र निषिध्यते ॥१८॥ इति।

यदि आप कहें कि इस प्रकार से "सर्वथैकांत" भी पर की स्वीकृति से ही तो सिद्ध है पुनः उसका निषेध भी आप जैनी क्यों करते हैं आपका ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है। अर्थात् सांख्य, बौद्ध आदि के एकांत मंतव्य को आप जैन प्रमाण नहीं मानते हैं पुनः पर की स्वीकृति से ही तो उस एकांत का निषेध कैसे करेंगे ? ॥१५॥

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हमारे यहाँ अनंत धर्मात्मक, स्वयं अबाधित पदार्थ का अनुभव होने पर युक्तियों के द्वारा एकांत का अभाव सिद्ध करने में क्या दोष है ? अर्थात् जीव, पुद्गल आदि सभी पदार्थ अनंतधर्मात्मक अपने आप प्रमाण से सिद्ध हैं पुनः श्रेष्ठ प्रमाण नय की प्रक्रिया एवं सप्तभंगी से उनको जान लेने से एकांत का अभाव स्वयं सिद्ध हो जाता है। जैसे तीव्र आतप से संतप्त पुरुष को छाया में भी स्फुलिंग दीखते हैं किंतु उनका निषेध कर दिया जाता है क्योंकि शुद्ध छाया का प्रत्यक्ष होना ही दृष्टि दोष से हुए अनेक असत् धर्मों का निषेध करना है। वास्तव में यहाँ निषेध कुछ नहीं केवल शुद्ध छाया का विधान है वैसे ही मिथ्या कल्पित एकांत का निषेध समझना ॥१६॥

अनेकांत में एकांत की उपलब्धि न होना रूप विज्ञान है वही अनेकांत की विधि और एकांत का निषेध है अन्य प्रकार से एकांत के अभाव का ज्ञान नहीं है। अर्थात् अनेक धर्मों का विज्ञान ही एकांत का निषेध है हमारे यहाँ एकांत के अभाव को सर्वथा तुच्छाभाव रूप नहीं माना है प्रत्युत भावांतर रूप अनेकांत का होना ही माना है ॥१७॥

इस प्रकार से सर्वत्र सर्वज्ञ के ज्ञापक प्रमाणों का अभाव सिद्ध नहीं है जिससे कि उस सर्वज्ञ के दर्शन को भ्रांति का वहाँ निषेध किया जा सके। अर्थात् जैसे हम सभी लोगों को सभी वस्तुओं में अनेकांत की उपलब्धि रूप एकांतों का नहीं दीखना सिद्ध है। यदि किसी को भ्रम वश एकांत की कल्पना हो भी जाती है तो उसका खण्डन कर दिया जाता है। इसी प्रकार से सभी पुरुषों को सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणों का नहीं दीखना सिद्ध नहीं है कि जिससे आप उनका निषेध कर सकें अर्थात् आप सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाण का निषेध नहीं कर सकते हैं ॥१८॥

विशेषार्थ—मीमांसक का कहना है कि जैसे अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करने में आपने अंतिम दोष दिखाया है वैसे तो आप भी दोषी हैं, देखो ! आप जैन सभी वस्तु को अनेकांत रूप मानते

---

1 युक्तिभिः। 2 एकांतोपलब्धलक्षणे इति पा०। अभाव। (ब्या० प्र०) 3 गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रक्रियया यैनेषु नास्ति सर्वज्ञसद्भावः न किञ्चिद्वुपलभ्यमित्याद्यनेकान्ते इति। 4 एवं। (ब्या० प्र०) 5 गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रकारेण। 6 अनेकान्ते हीत्यादिप्रकारेणैव अनुपलम्भनं स्यादित्युक्ते सिद्धान्तवाह नैवमिति। 7 सर्वज्ञदर्शनसद्भाव। (ब्या० प्र०) 8 भ्रान्तिः।

हो। आपका कहना है कि कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक आदि रूप है ही नहीं जैसा कि बौद्ध सांख्यादि मानते हैं इस प्रकार से जब आप एकांतों का सर्वथा ही अभाव मानते हो पुनः उन एकांतों का खण्डन भी कैसे करते हो ? क्योंकि एकांतों को माने बिना आप उनका निषेध भी नहीं कर सकेंगे। आपके सिद्धांतानुसार तो जिस वस्तु की विधि है—अस्तित्व है उसी का ही निषेध हो सकता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि हम स्याद्वादियों ने सर्वथा एकांतों के निषेध से ही अनेकांत की सिद्धि नहीं मानी है कि जिससे सर्वथा अस्ति रूप और निषेध करने योग्य एकांतों का निषेध न किया जा सके। अर्थात् ऐसी बात नहीं है जो वस्तु सर्वथा है ही नहीं, उसके निषेध करने या विधि करने का किसी प्रमाता के पास अवसर ही नहीं है। हमारे यहाँ सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कथित सभी वस्तुयें अनंत धर्मात्मक ही हैं यह बात अबाधित रूप से सिद्ध है। ऐसी अवस्था में प्रमाण, नयों की प्रक्रिया को जानने वाले विद्वान् जब सर्वथा एकांत को दूषित कर देते हैं इसमें कोई बाधा ही नहीं आती है। किसी ने कहा कि "मैं सदा सत्य बोलता हूँ और झूठ बोलने का मुझे त्याग है" तो इसमें क्या बाधा आई ? हमने कहा कि सभी वस्तु अनेकांत स्वरूप हैं क्योंकि एकांत मान्यता में अनेक दोष आते हैं तो इस बात में कुछ भी बाधा नहीं आती है।

दूसरी बात यह भी है कि मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाली सर्वथा एकांत रूप गलत धारणायें भी कथंचित् विद्यमान अवस्था को लिये हुये हैं वे सभी एकांत धारणायें अपने-अपने स्वरूप से विद्यमान होने से सत् रूप ही हैं अतः उन मिथ्या धारणाओं का निषेध करना ही तो एकांत का निषेध है क्योंकि जैन सिद्धान्त में नैयायिकों के द्वारा मान्य तुच्छाभाव को तो स्वीकार नहीं किया गया है। अतएव एकांतों के न दीखने से सर्वथा एकांतों का अभाव है ऐसा हम नहीं मानते हैं प्रत्युत वस्तुभूत अनंत धर्मात्मक अनेकांत का ज्ञान हो जाना एकांतों का अभाव है।

हमारे यहाँ अनेक धर्मों का जो विधान है वही एकांतों का निषेध है। नैयायिक या मीमांसकों के समान अन्य प्रकार से अभाव का ज्ञान होना हम नहीं मानते हैं। देखिये ! जैसे सब वस्तुओं में अनेकांत की उपलब्धि होने से एकांतों का नहीं दीखना हमें सिद्ध है। पुनः यदि किसी को हम प्रमाण एकांत की कल्पना भी हो जाती है तो वह खंडित कर दी जाती है उसी प्रकार से सभी पुरुषों में सर्वज्ञ के अनुमान वाले प्रमाणों का न दीखना आपको सिद्ध नहीं है जिससे कि यहाँ सभी में आप सर्वज्ञ का वस्तुतः निषेध कर सकें। अर्थात् यदि आप इस प्रकार से निषेध करेंगे तो पूर्ववत् सभी दोष पुनः आपके ऊपर लागू हो जावेंगे। इसी विषय पर श्लोकवार्तिकालंकार में स्वयं श्री विद्यानंद महोदय ने बहुत ही विस्तृत प्रकाश डाला है। जैसे कि—

"आसन् संति भविष्यंति बोद्धारो विश्वदृश्वनः।
मदन्येऽमीति निर्णीतिर्यथा सर्वज्ञवादिनः ॥३२॥
किंचिज्ज्ञस्यापि तद्धर्मे तेनैवेति विनिश्चयः।
इत्यनुक्तसमक्षेऽत्र—साधनोपाय—सेंभवात् ॥३३॥

सर्वज्ञस्य साधकं निर्दोषवचनमस्ति ।]

तदेवमसिद्धं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य न बाधकमिति सिद्धं सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वमेव [1]साधकम् । तथा हि । अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्प्रत्यक्षादिवत् । प्रत्यक्षादेस्तावद्विश्वास[2]निबन्धनं बाधकासंभव एव सुनिश्चितः । न ततोऽपरं संवादकत्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमदुष्टकारणजन्यत्वं वा, [3]तस्य [4]तत्रावश्यं भावादिति । प्रत्यक्षादिप्रमाणमुदाहरणं, वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वात् [5]साध्यसाधनधर्माधिकरणत्वात् । सुनिश्चि-

---

यथाहमनुमानादेः सर्वज्ञं वेद्मि तत्त्वतः ।
तथान्येऽपि नराः सन्तस्तद्बोद्धारो निरंकुशा ॥३४॥"

अर्थ—संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले जो सर्वज्ञ हैं उनको जानने वाले मुझसे अतिरिक्त दूसरे पुरुष पहले यहाँ हो चुके हैं, इस समय भी अन्य क्षेत्रों में सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष देखने वाले पुरुष और यहाँ पर भी आगम, अनुमान से सर्वज्ञ को जानने वाले पुरुष विद्यमान हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। इस प्रकार का निर्णय जैसे सर्वज्ञवादी को है उसी प्रकार से मुझ मीमांसक को भी यह निश्चय है कि भूतकाल में भी सभी जन अल्पज्ञ थे, सभी हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। सर्वज्ञ और सर्वज्ञ का ज्ञाता कोई भी पुरुष न हुआ है, न है और न होगा। संपूर्ण मनुष्य त्रिकाल में अल्पज्ञ अवस्था में ही हैं और अल्पज्ञों को ही जानने वाले हैं इस प्रकार से मीमांसक की बात सुनकर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! आपका कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाणभूत उपाय संभव हैं। देखिये! जैसे कि मैं अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से सर्वज्ञ को वास्तविक रूप से जान लेता हूँ। तथैव दूसरे विचारशील सज्जन पुरुष भी बाधक प्रमाणों से रहित होकर उस सर्वज्ञ को जान लेते हैं और आज भी प्रेक्षावान्-बुद्धिमान् मनुष्य विद्यमान हैं। इसी प्रकार से आगे स्वयं श्री विद्यानंद स्वामी "सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण" से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे हैं।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण विद्यमान है]

इस प्रकार से यह ज्ञापकानुपलंभन हेतु सर्वज्ञ का बाधक नहीं है इसलिये "सुनिश्चितासंभवद्-बाधक प्रमाण" हेतु ही सर्वज्ञ का साधक सिद्ध है। तथाहि—"सर्वज्ञ है क्योंकि सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण है प्रत्यक्षादि के समान।"

प्रत्यक्षादि प्रमाण में विश्वास निमित्तक बाधक का न होना ही सुनिश्चित है उससे भिन्न प्रवृत्तिसामर्थ्य अथवा अदुष्ट कारण जन्यत्व हेतु संवादक-विश्वास निमित्तक नहीं है क्योंकि वे संवादकत्वादि उस "सुनिश्चितासंभवद्बाधक" में अवश्यंभावी हैं एवं इस अनुमान में "प्रत्यक्षादि प्रमाण" उदाहरण है क्योंकि वे वादी और प्रतिवादी दोनों को प्रसिद्ध हैं और साध्य-साधन धर्म से

---

1 सर्वज्ञस्य । 2 विश्वासस्य प्रतीतेः । 3 संवादकत्वादेः । 4 सुनिश्चितासम्भवद्बाधके । 5 अस्तित्व । (ब्या० प्र०)

तासंभवद्बाधकप्रमाणत्व[1] स्यादविद्यमानश्चेति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनं न मन्तव्यं, [2]विपक्षे बाधकसद्भावात् । तथा हि । यदसत्तत्र सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणम् । यथा मरीचिकायां तोयं सम्भवद्बाधकप्रमाणं, मेरुमूर्द्धनि मोदकादिकं च [3]सन्दिग्धासंभवद्बाधकत्वम् । सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणश्च सर्वज्ञः । इति प्रकृते सर्वज्ञे सिद्धमपि साधनं यदि सत्तां न [4]साधयेत्तदा [5]दर्शनं नादर्शनमतिशयीत[6], अनाश्वासात् स्वप्नादिविप्लवत्, [7]तस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्याभावे[8] सर्वत्र दर्शने दर्शनाभासे च विशेषाभावात् ।

[सर्वज्ञस्य साधकबाधकप्रमाणे स्तोऽतः सर्वज्ञस्य सद्भावे संशयोऽस्तीति मन्यमाने प्रत्युत्तरं]

"[9]साधकबाधकप्रमाण[10]भावात्सर्वज्ञे संशयोऽस्त्वित्ययुक्तं, यस्मात्साधक[11]बाधकप्रमाणयोर्निर्णयात् [12]सत्वाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयाद्वारेका[13] स्यात्* । साधकनिर्णयात्तत्सत्तायामविप्रतिपत्ति-

---

अविकल हैं—रहित नहीं हैं। अर्थात् अनुमान प्रयोग में दृष्टांत को कोटि में उसे ही रखा जाता है जो वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य हो एवं साध्य के धर्म और साधन के धर्म से भी सहित होवे। यहाँ "प्रत्यक्षादिप्रमाणवत्" यह उदाहरण भी निर्दोष है। "सुनिश्चितासंभवद्बाधक" प्रमाण भी होवे और अविद्यमान भी होवे इस प्रकार से यह हेतु संदिग्ध विपक्षव्यावृत्तिक है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये। अर्थात् विपक्ष से व्यावृत्त होने में संदेह है ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि विपक्ष में बाधक का सद्भाव है। तथाहि—'जो असत् है वह सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण नहीं है, जैसे मरीचिका में जल संभवद् बाधक प्रमाण है, मेरु के शिखर पर लड्डू रखे हुये हैं यह संदिग्धासंभवद् बाधकत्व है। अर्थात् इसमें बाधा न होना संदिग्ध है और सर्वज्ञ सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण स्वरूप है। इस प्रकार से प्रकृत सर्वज्ञ में सिद्ध होता हुआ भी हेतु यदि सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध न करे तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण अप्रत्यक्ष का उल्लंघन नहीं कर सकेगा क्योंकि उसमें कोई विश्वास नहीं रहेगा स्वप्नादि के भ्रान्तज्ञान के समान।" क्योंकि वह प्रत्यक्ष सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण के अभाव में सर्वत्र प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास में समान ही है।

[सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले और बाधित करने वाले दोनों ही प्रमाण पाये जाते हैं अतः सर्वज्ञ है या नहीं ? यह संशय ही बना रहेगा, ऐसी मीमांसक का उत्तर]

मीमांसक—साधक और बाधक दोनों ही प्रमाणों का सद्भाव होने से सर्वज्ञ में संशय ही

---

1 सर्वज्ञ । (ब्या० प्र०) 2 असति । (ब्या० प्र०) 3 मेरुमूर्द्धनि मोदकादिसत्ताऽसत्तयोः साध्ययोरुभयत्रापि सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य हेतोः संभवात् । 4 सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं स्वसाध्यं यदि न साधयेत्तदा विद्यमानमप्यविद्यमान एवेति भावः । (ब्या०प्र०) 5 प्रत्यक्षम् । 6 धर्मनादर्शनयोर्विश्वासनिबन्धनत्वात् । (ब्या० प्र०) 7 प्रत्यक्षस्य । 8 विश्वासनिबन्धनत्वाभावस्य । (ब्या० प्र०) 9 मीमांसकाशङ्का । 10 साधकबाधकाभावात् इति पा० । (ब्या० प्र०) 11 साधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति अन्यत्रापि बाधकप्रमाणस्य निर्णयोऽस्ति मरुमरीचिकायां जलमिति । (ब्या० प्र०) 12 सर्वज्ञस्य । 13 संशीतिर्वस्यात् । * मुद्रित अष्टसहस्री में "साधक से स्यात्" पर्यंत अष्टशती नहीं मानी है किन्तु मुद्रित अष्टशती एवं हस्तलिखित अष्टशती (वि० प्र०) तथा हस्तलिखित अष्टसहस्री ब्यावर प्रति में यह पाठ अष्टशती है। (ब्या० प्र०)

बाधकनिर्णयात्सत्तायाम्[1]। उभयनिर्णयस्तु न संभवत्येव क्वचित्[2], [3]व्याघातात् साधक-बाधकाभावनिर्णयवत्[4]। साधकानिर्णयात्पुनः सर्वज्ञसत्तायामारेका स्याद्बाधकानिर्णयादसत्तायामिति विपश्चितामभिमतो[5] न्यायः। ततो भवभृतां प्रभौ सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं सत्तायाः साधकं सिध्यत् सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं व्यावर्तयत्येव, [6]विरोधात्। [7]नैवमेतत्तत्र[8] सिध्यति येन सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वस्य व्यावर्तकं स्यात्। [9]ततः सिद्धो भवभृतां प्रभुः सर्वज्ञ एव।

जावेगा। अर्थात् सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला भी प्रमाण मौजूद है एवं सर्वज्ञ के नास्तित्व को बतलाने वाला—सर्वज्ञ को बाधित करने वाला प्रमाण भी मौजूद है पुनः सर्वज्ञ है या नहीं? यह संशय बहुत ही बनी रहेगी इसका निवारण कैसे हो सकेगा?

जैन—यह कथन भी असंगत है क्योंकि साधक और बाधक प्रमाण का निर्णय होने से तो सर्वज्ञ के सद्भाव और अभाव में विसंवाद है नहीं प्रस्तुत इस प्रकार का निर्णय न होवे, वे ही संशय हो सकती हैं। देखो! सर्वज्ञ के साधक प्रमाण का निर्णय होने से तो सर्वज्ञ के अस्तित्व में विसंवाद नहीं है एवं सर्वज्ञ के बाधक प्रमाण का निर्णय होने से उस सर्वज्ञ के नास्तित्व में विसंवाद नहीं है किन्तु एक साथ दोनों का निर्णय हो किसी भी वस्तु में संभव ही नहीं है क्योंकि साधक और बाधक दोनों का एकत्र रहना विरुद्ध है जैसे एक ही पदार्थ एक साधक और बाधक के अभाव का निर्णय होना विरुद्ध है उसी प्रकार एक ही वस्तु में साधक एवं बाधक का सद्भाव होना भी विरुद्ध है। साधक का निर्णय न होने से सर्वज्ञ की सत्ता में शंका हो सकती है और बाधक का निर्णय न होने से सर्वज्ञ की असत्ता में शंका होती है, इस प्रकार से विद्वानों का न्याय ही सर्वत्र अभिमत—मान्य है। यहाँ पर दोनों में से कोई एक ही शंका हो सकती है दोनों शंकायें एक साथ असंभव हैं। इसलिये संसारी जीवों के स्वामी में "सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण" सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करता हुआ "सुनिश्चितासंभवद् साधक प्रमाण रूप हेतु" को व्यावृत्त—निराकृत ही कर देता है क्योंकि दोनों का परस्पर में विरोध है। अर्थात् जहाँ "सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण" हेतु है वहाँ "सुनिश्चितासंभवद्साधकत्व हेतु संभव नहीं है और यह सुनिश्चितासंभवत् साधक" हेतु सर्वज्ञ में सिद्ध भी नहीं है कि जिससे वह सुनिश्चितासंभवद्-बाधक प्रमाणत्व हेतु का व्यावृत्तक—निवारण करने वाला हो सके। अर्थात् हमारे इस हेतु की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है।

इस प्रकार निर्दोषत्व हेतु से संसारी जीवों का प्रभु सर्वज्ञ ही है यह बात सिद्ध हो गई।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि "बाधा का न होना जिसमें सम्यक् प्रकार से निश्चित है" उसे

---

1 निर्णये सत्यसत्तायां इति पा० । (ब्या० प्र०) 2 असङ्गतेः। 3 विरोधात्। 4 यत्र च बाधकाभावस्तत्र साधकसद्भावः। यत्र च बाधकसद्भावस्तत्र साधकासद्भावः। न त्वेकत्र साधकबाधकाभावौ दर्शनं तथा तयुक्तनिर्णयोऽपि न। 5 सर्वज्ञ। 6 सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं यत्र तत्र सुनिश्चितासंभवत्साधकत्वं न घटते, अन्योन्यविरोधात्। 7 सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वम्। 8 सर्वज्ञे। 9 निर्दोषत्वहेतोः।

[मीमांसक सर्वज्ञाभावं प्रतिपाद्य न सर्वज्ञे संशीते]

न खलु तत्स्वभावस्य पक्षिविशेषोदरेणेति अन्य क्रमेण,[1] [2]तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्[2] । कुतः

सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण कहते हैं। यदि कोई कहे कि—निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने से या प्रवृत्ति की सामर्थ्य से अथवा विसंवाद न होने से इन तीन हेतुओं से या तीनों में से किसी एक हेतु से सर्वज्ञ के सद्भाव को प्रमाणभूत सिद्ध कर सकते हो तो इस पर आचार्यों का कहना है कि हमारे यहाँ "बाधा का न होना जिसमें सुनिश्चित है" ऐसे निर्दोष प्रमाण से ही सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। अदुष्टकारण जन्यत्व, अदुष्ट प्रवर्तकत्व और विसंवाद रहितत्व का हमारे यहाँ कोई भी महत्व नहीं है और शून्यवाद के खंडन में इनका खंडन भी कर दिया गया है।

दूसरी बात यह भी है कि जहाँ हमारा हेतु विषय से व्याप्ति कर है वह वस्तु निस्संदेह सिद्ध है इसमें संदेह भी नहीं है वहाँ अपने आप विसंवाद रहित आदि अवस्थायें आ जाती हैं क्योंकि जिसमें बाधा नहीं है उसमें संवादकत्व, विसंवादकाभावत्व आदि स्वयं ही सिद्ध हो जाते हैं। जैसे कि वर्तमान काल के लौकिक—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुमान आदि में बाधा का न होना सुनिश्चित होने से ही प्रमाणता मानी जाती है उसी प्रकार से हमारे यहाँ भी "सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व" हेतु भी प्रमाणीक ही है क्योंकि सर्वज्ञ का कहीं भी क्यों न हो, बाधा का न होना जब निश्चित हो जाता है तभी वहाँ उस विषय में विश्वास किया जाता है किंतु जहाँ बाधा संभव है या बाधा के होने में संदेह है वहाँ पर विश्वास भी नहीं होता है।

इस पर मीमांसक ने कहा है कि आप जैन तो सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं और हम सर्वज्ञ की बाधित करने वाला प्रमाण दे रहे हैं। अब दोनों में किसकी बात सत्य समझी जावे अर्थात् साधक-बाधक दोनों ही प्रमाण विद्यमान हैं अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व को मानने में तो हमेशा ही संशय बना रहेगा।

जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि एक सिद्धांतवादी हम अथवा आप दोनों को एक साथ मानते नहीं हैं। देखो! हम तो साधक प्रमाण से अस्तित्व सिद्ध कर देते हैं और आप बाधक से नास्तित्व। इसलिए आपके यहाँ सर्वज्ञ का अभाव है किन्तु हमारे यहाँ सद्भाव है, पुनः संशय का होना कैसे रहा? किसी को भी सर्वज्ञ के साधक प्रमाणों का निर्णय होगा तब वह सर्वज्ञ की सत्ता को मान लेगा और जब बाधक प्रमाण का निर्णय होगा तब वह सर्वज्ञ का अभाव कह देगा किन्तु किसी को भी संशय का प्रसंग नहीं रहेगा। हाँ! जिस वस्तु को कोई एक सत्य कह रहा है और उसी वस्तु को यदि कोई दूसरा असत्य कह रहा है तब तीसरा कोई आवे तो उसे संशय हो सकता है कि इन दोनों में किसकी बात सत्य है और किसकी असत्य, किन्तु सत्य और असत्य को कहने

---

1 खानीत। (ब्या० प्र०) 2 तत्स्वभावान्तरम्—असत्यमज्ञत्वम्।

[1]पुनस्तस्याज्ञत्वलक्षणस्वभावान्तरप्रतिषेधः सिद्धो यतोसौ ज्ञस्वभाव एव स्यात् ! सर्वज्ञत्वार्थस्तस्य विषयः स्यात् ? ततस्तं [2]क्रमेतैव ? इति चेत् [3]चोदना[4]बलाद्भूताय[5]त्रैकाल्यार्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः[7]। सोयं[8] चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषादिति स्वयं प्रतीयन्[9] सकलार्थज्ञानस्वभावतामात्मनो न प्रत्येतीति [10]कथं स्वस्थः ? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमांसकस्य कथञ्चिदभेदोपग[11]मादन्यथा[12] [13]मतान्तरप्रसङ्गात्। ततो नाज्ञस्वभावः पुरुषः क्वचिदपि[14] विषये, सर्वविषये चोदनाज्ञानो-

---

वाले दोषों में से किसी को भी संशय नहीं है क्योंकि एक तो अपनी वस्तु को सत्य मान चुका है और दूसरा असत्य मान चुका है। इसलिये सर्वज्ञवादी और सर्वज्ञाभाववादी सभी जनों के यहाँ संशय को स्थान नहीं है। अब जो सर्वज्ञ साधक प्रमाणों से निश्चित सिद्ध हो चुके हैं वे सर्वज्ञ भगवान् संसारी प्राणियों के स्वामी हैं ऐसा समझना चाहिये।

[मीमांसक आत्मा को ज्ञान स्वभाव नहीं मानता है उसका उत्तर]

ज्ञान स्वभाव आत्मा के कोई वस्तु अपोद्धार नहीं है जिससे कि वह सर्वज्ञ न जान सके क्योंकि उस सर्वज्ञ के स्वभावांतर—अज्ञत्व लक्षण का प्रतिषेध है*।

शंका—उस सर्वज्ञ के अज्ञत्व—अज्ञानावस्था लक्षण स्वभावांतर का प्रतिषेध कैसे सिद्ध है कि जिससे वह ज्ञान स्वभाव ही हो सके और सभी पदार्थ उसके विषय हो सकें एवं उन पदार्थों को वह जान लेवे यह बात कैसे सिद्ध है ?

समाधान—यदि ऐसा कहो तो वेदवाक्य के बल से भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के सभी पदार्थों के ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति होने से आत्मा ज्ञान स्वभाव ही सिद्ध है। "वेदवाक्य ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालवर्ती विप्रकृष्ट—दूरवर्ती इसी प्रकार के पदार्थों को बतलाने में समर्थ है" इस प्रकार से आप मीमांसक पुरुषविशेषों का स्वयं अनुभव करते हुये तथा संपूर्ण पदार्थों को जानने के स्वभाव रूप ज्ञान स्वभाव आत्मा का ही है इस प्रकार श्रद्धा न करते हुये स्वस्थ कैसे हैं ? अर्थात् वेदवाक्य से ही संपूर्ण त्रैकालिक पदार्थों का ज्ञान किसी जीवात्मा को होता है किन्तु आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला नहीं है ऐसा मानते हुये आप स्वस्थ नहीं हैं किन्तु अस्वस्थ ही हैं।

और वह ज्ञान आत्मा से भिन्न ही हो ऐसा नहीं है मीमांसक के यहाँ उसमें कथंचित् अभेद स्वीकार किया गया है अन्यथा यदि आप मीमांसक आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानोगे तब तो यौग के मत का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि नैयायिक तो आत्मा से ज्ञान को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं

---

1 सर्वज्ञस्य। 2 वादीयात्। 3 वेद। (ब्या० प्र०) 4 जैनः। 5 भविष्यद्वर्तमानकालविप्रकृष्टेषु ज्ञेषु। 6 अस्वभावस्वाभावे। 7 आत्मा ज्ञस्वभाव एव साध्यः। 8 मीमांसकः। 9 चोदना सकलं जानाति, आत्मा तु न जानातीति वदन्। 10 सकलविषयं ज्ञानं भवतु ज्ञानस्वभावतस्तु कथमात्मनः इत्युक्ते आह। (ब्या० प्र०) 11 मीमांसकस्यापि। 12 सर्वथा भेदे। 13 मतांतरं यौगम्। 14 भूतार्थसंबंधार्थे।

त्पत्तेर्विकल्पज्ञानोत्पत्तेर्वा[1] सर्वत्र [2]तदनुपपत्तौ [3]विधिप्रतिषेधविचाराघटनात् ।

[यदि आत्मा ज्ञानस्वभावोऽस्ति तर्हि संसारावस्थायामज्ञानादि भावो कथं दृश्यते]

[4]कथमेवं [5]कस्यचित्क्वचिदज्ञानं स्यादिति [6]चेदुच्यते । चैतन्यस्य [7]सतः सम्बन्ध्यन्तरं[8] [9]मोहोदयकारणकं मदिरादिवत्* । [10]तत्कुतः सिद्धम् ! [11]विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः[12] सम्बन्ध्यन्तरकारणको मोहोदयत्वान्मदिराकारणकमोहोदयवदित्यनुमानात् । [13]यत्तत्सम्बन्ध्यन्तरं तदात्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति । तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वमतीतानागतवर्तमानं पश्यति प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात्* । कथं पुनर्ज्ञानावरणादिसम्बन्ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतव्यामोहः स्यादतः सर्वमतीतानागतवर्त्तमानमनन्तार्थ-

---

एवं समवाय से उसका संबन्ध मानते हैं पुनः आप मीमांसक भी वैसे ही हो जाओगे। इसलिये किसी भी भूत, भविष्यत् आदि विषय में पुरुष—आत्मा अज्ञ स्वभाव वाली नहीं है क्योंकि सभी विषय में वेद से ज्ञान उत्पन्न होने से अथवा विकल्प—व्याप्तिज्ञान से ज्ञान उत्पन्न होने से व्याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विधि प्रतिषेध विचार ही घटित नहीं हो सकेगा।

मीमांसक—इस प्रकार से तो किसी भी मनुष्य को कहीं पर—किसी भी विषय में अज्ञान कैसे हो सकेगा ? अर्थात् इस प्रकार से आत्मा को ज्ञान स्वभाव मान लेने पर तो सभी संसारी प्राणी पूर्णज्ञानी ही दिखने चाहियें पुनः अज्ञानी क्यों दीख रहे हैं ?

[यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाली है तब संसारावस्था में उसके अज्ञानादि भाव कैसे दिखते हैं ?]

जैन—हम इसका स्पष्टीकरण करते हैं। सत् रूप चेतन के सम्बन्ध्यंतर (संबंधी ज्ञानावरणादि के मध्य में अन्यतम—ज्ञानावरण कर्म) मोह के उदय के निमित्त से होता है, मदिरा आदि के समान*। अर्थात् संसार में जीव के साथ ज्ञानावरण कर्म और मोहनीय कर्म विद्यमान है अतएव मदिरा को पीकर उन्मत्त हुये के सदृश इस जीव का ज्ञान अल्प और विपरीत हो रहा है।

मीमांसक—यह ज्ञानावरण कर्म कैसे सिद्ध है ?

जैन—"विवाद की कोटि में आया हुआ जीव का मोहोदय रूप अज्ञानादि भाव ज्ञानावरण के हेतु से हुआ है क्योंकि वह मोहनीय कर्म का उदय है जैसे मदिरा के कारण से होने वाली मोहनीय कर्म के उदयरूप मोहित अवस्था विशेष।" इस अनुमान से वह ज्ञानावरण कर्म सिद्ध है और जो वह संबंध्यंतर है वह आत्मा का ज्ञानावरणादि कर्म ही है ऐसा समझना चाहिये।

---

1 विकल्पज्ञानं यत्तत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमिति व्याप्तिज्ञानम्। 2 व्याप्तिज्ञानानुपपत्तौ। 3 यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽग्निजन्याऽनग्निजन्मा वा न भवतीत्यत्र प्रमाणविषये। (ब्या० प्र०) 4 मीमांसकश्चोदयति। 5 तुः। (ब्या० प्र०) 6 जैनैः। 7 विद्यमानस्य। (ब्या० प्र०) 8 सम्बन्धिनां ज्ञानावरणादीनां मध्ये अन्तरमन्यतमं=ज्ञानावरणमित्यर्थः। 9 वा। (ब्या० प्र०) 10 मीमांसकः पृच्छति।—तद् ज्ञानावरणं कर्म कुतः सिध्यति। 11 इति भट्टाकलङ्कदेवाचार्याः विवादेति। 12 अज्ञानादिभावः। 13 प्रसिद्धं। (ब्या० प्र०)

[1]व्यञ्जनपर्यायात्मक[2] जीवादितत्त्वं साक्षात्कुर्वीतेति [3]नेष्यते[4] कुतश्चेत्। [5]यस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे न भवत्येव। यथाग्नेरभावे धूमः। सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो [6]व्यामोहस्तदभावे च न भवतीति निश्चीयते।

उस ज्ञानावरण कर्म का अभाव हो जाने पर संपूर्ण रूप से मोह रहित पुरुष सभी अतीतानागत वर्तमान पदार्थों को देख लेता है क्योंकि उस ज्ञान में अन्वयशक्ति और विशदता दोनों ही कारण अंतर्भूत हैं।*

मीमांसक—ज्ञानावरणादि संबंध्यंतर का अभाव हो जाने पर यह जीवात्मा संपूर्ण रूप से मोहरहित कैसे हो जावेगा कि जिससे यह सभी अतीतानागत वर्तमान स्वरूप अनंत अर्थपर्याय और अनंत व्यंजनपर्याय रूप जीवादि तत्त्व को साक्षात् कर सके अर्थात् यह जीव न ज्ञानावरण कर्म से रहित हो सकता है न मोह कर्म से रहित ही हो सकता है और न संपूर्ण पदार्थों को ही जान सकता है। अतएव मीमांसक ने जीव को सर्वथा अशुद्ध ही माना है कभी भी कर्म टूटे, कर्मरहित सिद्ध होना नहीं माना है।

जैन—यदि आप ऐसा कहें तो हम आपको बतलाते हैं कि जो जिसके होने पर ही होता है वह उसके अभाव में नहीं होता है। जैसे कि अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है क्योंकि वह धूम अग्नि के होने पर ही होता है उसी प्रकार से संबंध्यंतर—ज्ञानावरण कर्म के होने पर ही आत्मा में व्यामोह—अज्ञानभाव होता है इसलिए उस ज्ञानावरण के अभाव में वह अज्ञान नहीं होता है ऐसा निश्चित हो जाता है। अर्थात् संसार अवस्था में भी जीवों के जैसे-जैसे ज्ञानावरण का क्षयोपशम बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही जीव में ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाती है। हम देखते हैं कि एकेंद्रिय की अपेक्षा दो इंद्रिय आदि में ज्ञान वृद्धिंगत हो रहा है संज्ञी मनुष्यों में भी तरतमता देखी जाती है और जब कारण सामग्री से पूर्णतया ज्ञानावरण का नाश हो जाता है तब पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है।

आचार्य—जैनाचार्य कहते हैं कि यह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है इसलिये ज्ञान स्वरूप आत्मा युगपत् संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है। इस कथन पर मीमांसक ने बेचैन होकर प्रश्न तो दे ही दिया कि पुनः हम और आप दोनों सभी संसारी जन अज्ञानी कैसे सिद्ध हो रहे हैं? क्योंकि मीमांसक ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानता है तथा आत्मा को कभी शुद्ध होना, मुक्त होना भी नहीं मानता है यह सदैव आत्मा को संसारी कर्मबंधन, अज्ञान आदि से सहित ही मानता है एवं इसका यह भी कहना है कि कोई भी आत्मा अपौरुषेय वेदवाक्यों से ही भूत भविष्यत् आदि अतींद्रिय पुरुष सर्वज्ञादि को

---

1 पर्यायो द्विप्रकारोऽर्थव्यञ्जनभेदात्। व्यञ्जनः=स्थूलपर्यायः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायोऽर्थाख्यपर्यायः। 2 स्थूलो व्यंजनपर्यायो वाग्गम्यो गम्यः स्थिरः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायस्तत्संज्ञकः॥ (ब्या० प्र०) 3 प्रस्तावे सति। (ब्या० प्र०) 4 प्रत्यक्षीभूता कर्म चैषाः। 5 आत्मनो व्यामोहः संबंध्यंतराभावे न भवत्येव तस्मिन् सत्येव भावात्। (ब्या० प्र०) 6 अज्ञानम्।

[मोहरहितोऽपि आत्मा विप्रकृष्टपदार्थान् ज्ञातुं न शक्नोति]

[1]देशकालतः [2]प्रत्यासन्नेष्वेव पदार्थेष्वितरव्यावृत्तोऽपि प्रवर्तमानः, न [3]पुनर्विप्रकृष्ट-

---

जान सकता है, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं। इस पर जैनाचार्य ने कहा कि भैया! अब तुम वेदवाक्यों से किसी आत्मा को अतीन्द्रिय पदार्थों का जानने वाला मान लेते हो और पुनः आत्मा को ज्ञान स्वभाव नहीं मानते हो तो क्या जब आत्मा में ज्ञान नहीं हुआ है पुनः अचेतन वेदों का ज्ञान उस अचेतन वेदों को है क्या बात है? समझ में नहीं आता कि आप वेदवाक्यों से किसी को सभी पदार्थों का ज्ञान होना भी मान रहे हैं और आत्मा के ज्ञान स्वभाव का निषेध भी कर रहे हैं यह बात आपकी स्वस्थावस्था को नहीं बताती है किंतु आपकी अस्वस्थता को ही बता रही है।

हम जैनों का तो कहना है कि संसार में प्रत्येक आत्मा के साथ ज्ञानावरण आदि कर्म लगे हुये हैं जो कि ज्ञान को ढक रहे हैं-आत्म पर आवरण डाल रहे हैं एवं मोहनीय कर्म भी ज्ञान को विपरीत या संशयादि रूप से अज्ञान बना रहा है। जैसे कड़वी तूंबड़ी के संसर्ग से दूध दूषित हो जाता है उसी प्रकार से आत्मा का पूर्ण शुद्ध ज्ञान स्वभाव भी मोह कर्म से अज्ञान रूप एवं ज्ञानावरण से अल्पज्ञान रूप हो रहा है। यह आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला ही है तभी तो वेद या आगमवाक्यों से यह संपूर्ण कालिक सूक्ष्मादि पदार्थों को भी जान लेता है। केवलज्ञान होने के पहले आत्मा को आगम से पूर्ण श्रुतज्ञान जब हो जाता है। तब यह श्रुतज्ञान के बल से संपूर्ण पदार्थों को जानते हुये श्रुतकेवली कहलाता है यह बात हमारे यहाँ भी मान्य है। शायद आप श्रुतकेवली तक तो मान रहे हैं किंतु पूर्णज्ञानी (केवली) नहीं मान रहे हैं फिर भी यदि आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला न होता तब श्रुत से भी उसे ज्ञान होना असंभव था जैसे कि चौकी आदि को श्रुतज्ञान का संसर्ग होने से भी ज्ञान नहीं होता है अतः आपको आत्मा का ज्ञान स्वभाव मान ही लेना चाहिये।

हम जैनों के यहाँ तो ज्ञान को आत्मा से अभिन्न ही माना है केवल लक्षण आदि से ही उसमें भेद स्वीकृत किया जा सकता है क्योंकि ज्ञान को छोड़कर तो आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। हाँ! ये कर्म भी अनादि काल से इस जीव के साथ संबंधित हैं अतएव संसार में यह जीव अल्पज्ञानी आदि देखा जाता है। जब पुरुषार्थ से यह ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मों का जड़मूल से विनाश कर देता है तब इस आत्मा में पूर्णज्ञान पुनः प्रकट हो जाता है। मोहनीय कर्म का पूर्णतया नाश दसवें गुणस्थान में हो जाता है फिर भी ज्ञानावरण आदि कर्म के निमित्त से यह जीव ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में छद्मस्थ ही कहलाता है। बारहवें गुणस्थान के अंत में जब ज्ञानावरण आदि तीनों घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब तेरहवें गुणस्थान में पूर्णज्ञान प्रकट होकर केवली बन जाता है।

[मोह रहित भी आत्मा तीन विप्रकृष्ट पदार्थों को नहीं जान सकता है]

मीमांसक—मोह रहित भी पुरुष देश और काल से प्रत्यासन्न—निकटवर्ती पदार्थों को ही

---

1 मीमांसकमतम्। 2 समीपसमापन्नम्। 3 इदम्।

मित्ययुक्त[1], प्रत्यासत्तेर्ज्ञानाकारणत्वाद्विप्रकर्षस्य चाज्ञानानिबन्धनत्वात्, [2]तद्भावेपि ज्ञानाज्ञानयोरभावात्तयन[3]तारकाञ्जनयोश्चन्द्रार्कादिवच्च । योग्यतातद्भावेतराभ्यां[4] ज्ञानाज्ञानयोः क्वचिद्भावे[5] [6]योग्यतैव ज्ञानकारणं, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चि[7]त्करत्वात् । सा पुनर्योग्यता देशतः कात्स्न्यंतो वा व्यामोहविगमस्तत्प्रतिबन्धि[8]कर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणः । इति साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येव । तदुक्तं—

[9]को ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने[10]। दाह्येऽग्निर्वाहको न[11] स्यादसति प्रतिबन्धने[12] ॥१॥ इति ।

संपूर्णतया देखता है, किन्तु दूरवर्ती पदार्थों को नहीं जान सकता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है क्योंकि प्रत्यासत्ति—निकटता ज्ञान का कारण नहीं है एवं विप्रकृष्टता अज्ञान का कारण नहीं है क्योंकि उन प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष के सद्भाव में भी ज्ञान और अज्ञान का अभाव है जैसे नयन तारका का अंजन और चन्द्र सूर्यादि का ज्ञान । अर्थात् नेत्र में अंजन के साथ प्रत्यासत्ति—निकट संबंध होने पर भी अंजन का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु चन्द्र सूर्यादि विप्रकृष्ट—दूरवर्ती को भी नेत्र जान लेता है । अतः निकट संबन्धरूप प्रत्यासत्ति से ज्ञान का कोई अविनाभाव संबंध नहीं है और जहाँ दूरवर्ती पदार्थ हैं वहाँ ज्ञान न होवे ऐसा दूरवर्ती पदार्थ से ज्ञान का व्यतिरेक भी नहीं है ।

योग्यता के सद्भाव और अभाव से किसी भाव—पदार्थ के ज्ञान और अज्ञान में ज्ञानावरण के विशेष अभाव रूप योग्यता ही ज्ञान का कारण है क्योंकि प्रत्यासत्ति और विप्रकर्ष दोनों अकिंचित्कर ही हैं । अर्थात् प्रत्यासत्ति के अभाव में विप्रकर्ष का सद्भाव होने पर भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और निकटवर्ती का ज्ञान नहीं भी होता है अतः ये दोनों बातें अकिंचित्कर हैं ।

वह योग्यता एक देश से अथवा संपूर्ण रूप से मोह के अभाव रूप और आत्मा के प्रतिबंधी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और क्षय लक्षण रूप है । इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप से मोह रहित पुरुष सभी को देखते ही हैं । कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रतिबंधक कर्म के न होने पर सर्वज्ञ भगवान् ज्ञेय पदार्थों को जानने में अज्ञानी कैसे रहेंगे ? अग्नि मणि आदि प्रतिबंधक—रुकावट डालने वाले कारणों के न होने पर भी अग्नि दाह्य—जलने योग्य पदार्थ को जलाती नहीं है क्या ? अपितु जलाती हुई ही देखी जाती है ।

श्लोकार्थ—मीमांसक का कहना है कि किसी आत्मा के मोह और ज्ञानावरण कर्म का भले ही नाश हो जावे किंतु वह आत्मा सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती सभी पदार्थों को कैसे जानेगा ? क्योंकि

---

1 जैनः । 2 तयोः = प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोः । 3 नयनतारकाया अञ्जनेन सह प्रत्यासत्तावपि न ज्ञानोदयोऽञ्जनस्य । चन्द्रार्कयोस्तु विप्रकृष्टानपि जानाति नयनतारका यथा । 4 योग्यता सद्भावे । का हि: । (व्या० प्र०) 5 वस्तुनि । (व्या० प्र०) 6 ज्ञानावरणविशेषाभावरूपा । 7 प्रत्यासत्यभावे विप्रकर्षसद्भावेपि ज्ञानोत्पादात् । 8 तां । 9 सर्वज्ञः । 10 प्रतिबन्धरि इति पा० । (व्या० प्र०) 11 कथं न स्यादपि तु स्यादेव । 12 मणिमन्त्रादौ । 'प्रतिबन्धरि' इत्यपि पाठः ।

[सर्वज्ञस्यापेक्षा आदर्शस्थितिबिम्बस्येव]

अत [1]एवज्ञानापेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकाऽनपेक्षा। अत एव। कुत एव ? [2]साकल्येन विरतव्यामोहत्वादेव सर्वदर्शनादेव वा। यो हि देशतो विरतव्यामोहः किञ्चिदेवास्फुटं पश्यति वा तस्यैवाक्षापेक्षा लक्ष्यते न पुनस्तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य सर्वदर्शिनः, [3]सर्वज्ञत्वविरोधात्। न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः संभवति साक्षात्परम्परया वा[4]।

किसी को ज्ञान निकटवर्ती पदार्थों का ही होता हुआ देखा जाता है। तब आचार्य ने कहा कि भाई! निकटवर्ती पदार्थों से ज्ञान का अन्वय एवं दूरवर्ती पदार्थों के ज्ञान का व्यतिरेक नहीं है अर्थात् पदार्थ निकटवर्ती होवें तभी उनका ज्ञान होवे, वे दूरवर्ती होवें तो उनका ज्ञान नहीं होवे ऐसा कोई नियम नहीं है। देखो! निकटवर्ती आंख में लगे हुये अंजन का ही उस आंख को ज्ञान नहीं हुआ है और दूरवर्ती सूर्य—चन्द्र दिख गये। इसलिये ज्ञान के होने में मुख्य कारण है ज्ञानावरण का क्षयोपशम अथवा क्षय। इसी का नाम योग्यता है। आप शास्त्र में जो प्रकरण पढ़ रहे हैं यदि उसमें से एक पंक्ति के विषय में ज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है तो आपको उसका अर्थ समझ में नहीं आवेगा। यदि क्षयोपशम हो गया है तो अर्थ बिना बताये भी समझ में आ जावेगा और जब पूर्णतया ज्ञानावरण का अभाव ही हो जाता है तब यह आत्मा संपूर्ण लोकालोक को युगपत् अवलोकित कर लेता है।

[सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से रहित अतीन्द्रिय है]

अतएव सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है जैसे अञ्जनादि से संस्कृत चक्षु को आलोक-प्रकाश की अपेक्षा नहीं है*। इसी हेतु से वे सर्वज्ञ हैं।

शंका—किस हेतु से?

जैन—सम्पूर्णतया मोह से रहित हो जाने से ही अथवा सर्वदर्शी होने से ही वे सर्वज्ञ हैं क्योंकि जो एक देश से मोहरहित है अथवा कुछ अस्पष्ट को ही देखता है उसको ही इन्द्रियों की अपेक्षा देखी जाती है, किन्तु उससे विलक्षण सम्पूर्ण मोह से रहित सर्वदर्शी को इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है अन्यथा इन्द्रियों की अपेक्षा मानने पर तो सर्वज्ञपने का ही विरोध हो जावेगा क्योंकि सभी पदार्थों के साथ युगपत् इन्द्रिय का संबंध साक्षात् अथवा परम्परा से संभव नहीं है।

आचार्य—"सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अतीन्द्रियज्ञानी हैं क्योंकि वे संपूर्णतया मोह से रहित हैं अथवा सर्वदर्शी हैं।" इस प्रकार से जैनाचार्यों ने सर्वज्ञ भगवान् को अतीन्द्रियज्ञानी सिद्ध करने के लिये दो हेतु दिये हैं क्योंकि जिनके एक देश रूप से मोह का अभाव हुआ है और जिनका ज्ञान अविशद—अस्पष्ट है उनका ज्ञान इन्द्रियों की सहायता अवश्य रखता है। वे इन्द्रियों की सहायता लेने वाले मति और श्रुत रूप दो ज्ञान प्रसिद्ध हैं, जिन्हें सिद्धान्तशास्त्रों में परोक्ष कहा है और

---

1 अर्हत्प्रत्यक्षस्य। 2 अर्हतः प्रत्यक्षमक्षापेक्षं। (ब्या० प्र०) 3 अथवा (अक्षापेक्षायां)। 4 सर्वपदार्थैः साक्षात्-एवंतरूपनयमयोः संबंधः परंपरया संयुक्तसमवेतत्वात्। (ब्या० प्र०)

[1]ननु चावधिमनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया ? [2]तदावरणक्षयोपक्षमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वोपेतेति ब्रूमः। न [3]चैवं [4]साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य[5] वानैकान्तिकत्वं शङ्कनीयं, विपक्षोक्षापेक्षे मतिश्रुतज्ञाने [6]तदसंभवात्। अवधिमनःपर्ययज्ञाने तदसंभवात् [7]पक्षाव्यापकत्वादहेतुत्वमिति चेन्न,

---

यहाँ न्यायशास्त्रों में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह दिया है। इन्द्रियज्ञान से कोई भी सर्वज्ञ इसलिये नहीं बन सकता है कि इन्द्रियाँ वर्तमान कालीन स्थूल और स्थूल पदार्थों को ही ग्रहण कर सकती हैं। इसी विषय में राजवार्तिक ग्रन्थराज में श्री अकलंक देव ने बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। यथा—

"इन्द्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षं, तद्विपरीतं परोक्षं, इत्यविशेषाभिधानमिति चेत्, न; आप्तस्य प्रत्यक्षाभाव प्रसंगात्" अर्थात् कोई कहता है कि "इन्द्रियव्यापार जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रिय व्यापार की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान को परोक्ष कहना चाहिये। सभी वादी प्रायः इसमें एकमत हैं।" इस आशंका पर जैनाचार्य समाधान करते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने से आप्त = सर्वज्ञ को प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकेगा, सर्वज्ञता का लोप हो जावेगा क्योंकि सर्वज्ञ को इन्द्रिय जन्य ज्ञान नहीं होता है। आगम से अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान मानकर सर्वज्ञता का समर्थन करना तो युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि आगम वीतराग, प्रत्यक्षदर्शी पुरुष के द्वारा प्रणीत होता है। जब अतींद्रिय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है तब अतींद्रिय पदार्थों में आगम का ज्ञान प्रमाणीक कैसे बन सकेगा ? आगम अपौरुषेय है यह बात तो असिद्ध ही है क्योंकि पुरुष प्रयत्न के बिना उत्पन्न हुआ कोई भी विशायक वाक्य प्रमाण नहीं है। अतः हिंसादि का विधान करने वाला वेद प्रमाण नहीं हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतींद्रिय है, इन्द्रियजन्य नहीं है।

शंका—पुनः एक देश मोहरहित, असर्वदर्शी, अवधिज्ञानी और मनःपर्यय ज्ञानियों को इंद्रियों की अपेक्षा नहीं है यह बात कैसे जानी जाती है ? अर्थात् सिद्धांत में अवधि-मनःपर्यय ज्ञान को अतींद्रिय कहा है यह कैसे जानेगा ?

समाधान—उन उन—अवधि ज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अतिशय के निमित्त से ये दोनों ही ज्ञान अपने-अपने विषय में प्रस्फुट—स्पष्ट हैं ऐसा हम मानते हैं। इस प्रकार से संपूर्णतया मोहरहित हेतु अथवा सर्वदर्शी हेतु अनैकांतिक हो जाता है ऐसी भी आशंका नहीं करना क्योंकि इंद्रियों की अपेक्षा रखने वाले मति श्रुतज्ञान विपक्ष हैं उन दोनों ज्ञानों में ये दोनों हेतु असंभवी हैं।

---

1 परः। 2 सिद्धान्ती। 3 साकल्येन विरतव्यामोहत्वसर्वदर्शनाभ्यां विनापि अवधिमनः—पर्ययोरक्षानपेक्षत्वप्रकारेण। 4 येनतो विरतव्यामोहत्वस्याक्षानपेक्षत्वव्यभिचारीप्रकारेण। (व्या० प्र०) 5 हेतोः। (व्या० प्र०) 6 तस्य = विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः। 7 अवधिमनःपर्ययज्ञानयोरपि पक्षान्तर्भावं कृत्वा साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः पक्षाव्यापकत्वं नाम हेत्वाभासत्वं दोषं समर्थयति परः।

सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्वकरणात्, तत्र चास्य हेतोः सद्भावात्, विकलप्रत्यक्षस्यावधिमनःपर्याख्यस्यापक्षीकरणात्। न चास्मदादिप्रत्यक्षवदपेक्षीपलब्धलक्षणप्राप्तकालत्वप्रत्यक्षेपि सार्व्येनेति

शंका—ये दोनों हेतु अवधि और मनःपर्यय ज्ञान में असंभव हैं अतः ये हेतु पक्ष में अव्यापक होने से अहेतु हैं। अर्थात् अवधि और मनःपर्यय ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो हैं परन्तु आपके संपूर्णतया मोह से रहित होना और सर्वदर्शी होना रूप दोनों हेतु इन ज्ञानों में नहीं रहने से ये दोनों हेतु अहेतु हैं।

समाधान—ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि सकल प्रत्यक्ष को ही हमने पक्ष बनाया है और वहीं पर उन हेतुओं का सद्भाव है। विकल प्रत्यक्षरूप अवधि मनःपर्यय को हमने पक्ष में नहीं किया है।

विशेषार्थ—शंकाकार का अभिप्राय यह है कि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इंद्रियों की अपेक्षा न रखने से अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं फिर भी इनके धारक अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी सर्वज्ञ क्यों नहीं कहलाते हैं और यदि आप इन्हें सर्वज्ञ, प्रत्यक्षदर्शी नहीं मानते हो तब तो इनके ज्ञान को आप इंद्रियजन्य कहिये। इस पर आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही ज्ञान अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा रख कर आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं इनमें इंद्रियों की सहायता नहीं है अतः ये ज्ञान अतीन्द्रिय हैं फिर भी इनके धारक सर्वज्ञ नहीं होते हैं क्योंकि इनमें ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम कारण है न कि क्षय।

दूसरी बात यह भी है कि अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी जीवों के मोह कर्म का पूर्णतया नाश नहीं हुआ है एक देश ही अभाव हुआ है और ये सर्वदर्शी भी नहीं हैं सीमित पदार्थों को ही देखने वाले हैं। इन दोनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष इसलिये कहा है कि ये अपने विषय का स्पष्ट ज्ञान करते हैं एवं अतीन्द्रिय इसलिये हैं कि ये इंद्रियों की सहायता के बिना ही उत्पन्न होते हैं। एवं "साकल्येन विरतव्यामोहत्वात्" और "सर्वदर्शनात्" ये दोनों हेतु व्यभिचारी भी नहीं हैं क्योंकि विपक्ष रूप इंद्रिय जन्य परोक्ष मति, श्रुतज्ञान में ये दोनों हेतु नहीं पाये जाते हैं।

किसी ने कहा कि भले ही आपके हेतु व्यभिचारी न हो सकें किंतु पक्ष में पूर्णतया व्याप्त न होने से अव्यापक रूप से अहेतु अवश्य हैं क्योंकि आप दोनों ने अवधि, मनःपर्ययज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अवश्य माना है किंतु उनमें पूर्णतया मोह का अभाव और सर्वदर्शीपना नहीं है। इस बात पर जैनाचार्यों ने कहा कि भाई! हमने पक्ष में सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान को ही लिया है। इन विकल प्रत्यक्ष रूप दोनों ज्ञानों को पक्ष में नहीं लिया है अतः हमारे हेतु अहेतु नहीं हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष के दो भेद हैं सकल और विकल। सर्वज्ञ केवलज्ञान के सकल प्रत्यक्ष पाया जाता है अतः उसी को यहाँ पक्ष में लिया गया है। अष्टसहस्री में दूसरी भी शंका देखी जाती है—

कोई कहता है कि केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक है किंतु अवधि और मनःपर्यय को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक नहीं है क्योंकि ये दोनों एक देश प्रत्यक्ष हैं। इस पर आचार्यों का

---

1 केवलज्ञानस्य। (ब्या० प्र०)

वक्तुं शक्यम्[1], अञ्जनादिभिरसंस्कृतचक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात्[2] तत्संस्कृतचक्षुषोपि कस्यचिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात्[3]। [4]नक्तञ्चराणामालोकापायेपि स्पष्टरूपावलोकनप्रसिद्धेर्नालोको नियतं कारणं [5]प्रत्यक्षस्येति चेत्तर्हि सत्यस्वप्नज्ञानस्यैंद्रियिकादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुरादिनापेक्षस्य प्रसिद्धेरक्षमपि नियतं प्रत्यक्षकारणं मा भूत्। ततो यथाञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामालोकानपेक्षा स्फुटं रूपेक्षणे तथा साकल्येन विरतव्यामोहस्य सर्वसाक्षात्करणेऽक्षानपेक्षा। इति क्रमव्यवधानातिवर्त्तिसकलप्रत्यक्षो [7]अवभृतां[8] गुरुः प्रसिध्यत्येव।

कहना है कि सकलपना और विकलपना यहाँ विषय की अपेक्षा से है स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि केवलज्ञान संपूर्ण द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाला होने से सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है, किंतु अवधि और मनःपर्यय कुछ पदार्थों को विषय करते हैं इसलिये ये विकल प्रत्यक्ष कहे जाते हैं, परन्तु इतने मात्र से इन दोनों ज्ञानों में पारमार्थिकता की हानि नहीं होती है, क्योंकि पारमार्थिकता का कारण सकल पदार्थों को विषय करना नहीं है अपितु पूर्ण निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता—स्पष्टता केवल ज्ञान के समान अवधि, मनःपर्यय में भी विद्यमान है अतः ये दोनों ज्ञान पारमार्थिक ही हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि ये दोनों ज्ञान अतीन्द्रिय होकर भी सकलप्रत्यक्ष नहीं हैं विकलप्रत्यक्ष हैं इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान को पक्ष बनाने में ये दोनों ज्ञान नहीं आते हैं।

शंका—हम लोगों के प्रत्यक्ष में इंद्रियों की अपेक्षा देखी जाती है अतः सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में भी वह अपेक्षा होनी ही चाहिये।

समाधान—आपका ऐसा कहना भी न्याय नहीं है, अन्यथा अञ्जनादि से संस्कृत नहीं हुये हम लोगों के नेत्र प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं पुनः किसी के अञ्जनादि से संस्कृत नेत्र भी प्रकाश की अपेक्षा रखने लग जावेंगे तब अञ्जन गुटिका आदि विद्याओं का क्या महत्व रहेगा?

शंका—नक्तंचर—उल्लू, बिल्ली आदि जीवों का प्रकाश के अभाव में भी स्पष्टतया, रूप—पदार्थ का देखना प्रसिद्ध है इसलिए प्रकाश प्रत्यक्ष के लिये निश्चित कारण नहीं है।

जैन—तब तो सच्चे स्वप्न का ज्ञान और ऐंद्रियिकादि ज्ञान चक्षु आदि इंद्रियों की अपेक्षा न करके ही स्पष्ट प्रसिद्ध हैं अतः इंद्रियाँ भी प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये निश्चित कारण न होवें क्या बाधा है? इसलिये जैसे अञ्जनादि से संस्कृत चक्षु को स्पष्टतया रूप को देखने में प्रकाश की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार से सम्पूर्णतया मोह रहित पुरुष को सभी का साक्षात्कार करने में इंद्रियों की अपेक्षा नहीं है।

इस प्रकार इन्द्रियों से क्रम से और व्यवधान से रहित सकलप्रत्यक्षज्ञानी संसारी जीवों के गुरु प्रसिद्ध ही हैं।

---

1 परेण। 2 परिज्ञानात्। (ब्या० प्र०) 3 तथा लोके नास्ति। (ब्या० प्र०) 4 अनेनानिष्टपादानमकारि तत्परिहारमिति मीमांसकः नक्तञ्चरेत्यादिना। 5 किलेंद्रियमेव। (ब्या० प्र०) 6 ईदृशस्य—इन्द्रस्य शाकिनी शाक्षा (?)। 7 प्राणिनां—अवभृतां। (ब्या० प्र०) 8 भवेतामिति पाठान्तरम्।

विशेषार्थ—किसी का कहना है कि हम लोगों का ज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा से ही होता है अतः सर्वज्ञ का ज्ञान भी वैसा ही होना चाहिये क्योंकि जैसे हम मनुष्य हैं वैसे ही सर्वज्ञ भी तो मनुष्य ही हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि भाई! किसी को अञ्जन गुटिका सिद्ध है उसने उसे आँख में लगा लिया तो उसे अंधेरे में भी दिखने लगता है परन्तु हम और आपको तो अंधेरे में नहीं दीखता है। आपके कथनानुसार अञ्जन गुटिका सिद्धि वाले को भी अंधेरे में नहीं दिखना चाहिये। तब वह झट बोल पड़ा कि अंधेरे में तो उल्लू, बिल्ली आदि को भी दीख जाता है अतः प्रकाश और अंधेरा ज्ञान और अज्ञान में नियम रूप से कारण नहीं है। तब आचार्य कहते हैं कि किसी को स्वप्न में सम्मेदशिखर का पर्वत ज्यों का त्यों दीख गया, आचार्य शांतिसागर जी महाराज के दर्शन हो गये। इस समय स्वप्न में इन्द्रियों की अपेक्षा तो नहीं है फिर भी स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान है अतः इन्द्रियों से ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो, यह नियम नहीं रहा। देखिये! अञ्जन आदि से संस्कृत आँखें स्पष्टतया अंधेरे में भी सब वस्तुयें देख लेती हैं उसी प्रकार से मोहकर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चारों कर्मों का नाश हो जाने से अर्हंतभगवान् के केवलज्ञान आदि नवलब्धियाँ प्रगट हो जाती हैं अतः केवलज्ञान में न इन्द्रियों की सहायता है न क्रम-क्रम से होना है क्योंकि केवलज्ञान और दर्शन दोनों ही युगपत् एक समय में सारे पदार्थों को जान लेते हैं। अतः इस ज्ञान में व्यवधान—अंतर भी नहीं पड़ता है। ऐसे इन्द्रिय से, क्रम और अंतर से रहित केवलज्ञानी भगवान् ही संसारी जीवों के गुरु हैं, स्वामी हैं अतएव सभी के नाथ, तीन लोक के नाथ कहलाते हैं।

सर्वज्ञ के अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि का सारांश

मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी सामान्य से भी सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं एवं सौगत, सांख्य, वैशेषिक आदि सर्वज्ञ विशेष को नहीं मानते हैं।

संवेदनाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी और शब्दाद्वैतवादी ये एक प्रमाणवादी तीर्थक्षेद संप्रदाय वाले हैं वैसे ही चार्वाक भी प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण मानने वाले तीर्थक्षेद संप्रदाय मानने वाले हैं क्योंकि ये सभी परमागम संप्रदाय का निराकरण करने वाले हैं।

जैसे कपिल, बौद्ध आदि अनेक प्रमाणवादी तीर्थक्षेद संप्रदाय वाले हैं तथैव तत्त्वोपप्लववादी भी "न एकः प्रमाणं—अनेकः प्रमाणं" के अनुसार अनेक प्रमाणवादी हो गए तथा सभी के आप्त, आगम और वस्तु समूह को स्वीकार करने की इच्छा रखते हुए अनेक प्रमाणवादी वैनयिक तीर्थक्षेद संप्रदायवादी हैं क्योंकि ये सभी परस्पर विरुद्ध कथन करने वाले हैं।

अद्वैतवादियों के यहाँ स्वप्नसदृशमान परपक्षदूषण वचन भी अद्वैत के विरुद्ध हैं यदि संवृत्ति से या अविद्या से कहो तो अद्वैत भी कल्पित ही सिद्ध होता है। चार्वाक के यहाँ प्रत्यक्ष एक प्रमाण से ही परलोक पुण्य-पापादि का विरोध आ जाता है तथा कपिल, वैशेषिक, नैयायिक, प्रभाकर आदि अनेक प्रमाण मानकर भी तर्क प्रमाण नहीं मानते हैं अतएव तर्क के बिना प्रसज्य, अनुमान, आगम, उपमान आदि साध्य साधन की व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। बौद्धिक, सुगत, सांख्य आदि इन सबमें परस्पर में विरोध होने से इनमें से कोई भी आप्त नहीं हो सकता है। तथाहि "तीर्थच्छेद संप्रवाय वाले एकांतवादी निरावरण ज्ञानधारी नहीं हैं क्योंकि वे अविशिष्ट वचन, इन्द्रियज्ञान और इच्छादि से वर्जित हैं अथवा सामान्य पुरुष आदि हैं जैसे—रथ्या पुरुष।"

किंतु हमारे सर्वज्ञ अविशिष्ट वचनादिमान् या अविशिष्ट पुरुष नहीं हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ युक्ति और शास्त्र से अविरोधि वचन वाले हैं इन्द्रियों के क्रम व्यवधान से रहित हैं तथा इच्छा से भी रहित हैं अतः कः—परमात्मा चित्-चैतन्य पुरुष ही आवरण का नाश हो जाने से संसारी प्राणियों के पूज्य हैं "कः परमात्मा परा यस्यांतिकी, या—सर्वमीर्षस्वेति" कः-परमात्मा ही चित् सर्वज्ञ हैं।

मीमांसक—पदार्थों को जानने वाला परमात्मा अतींद्रिय ज्ञानी नहीं हो सकता है क्योंकि अतींद्रिय ज्ञानी हमें कोई उपलब्ध नहीं होता है तथा इंद्रियों के द्वारा धर्माधर्मादि सभी पदार्थ आते नहीं जा सकते अतएव कोई भी सर्वज्ञ नहीं है "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः" इसलिये भूत और भविष्यत् कालीन पदार्थ के ज्ञान का अभाव होने से कोई भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं है। अनुमानादि से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है। आगम भी अनादि है अतः आदिमान् सर्वज्ञ को कैसे कहेगा ? यदि अनित्य आगम मानें तो वह अल्पज्ञ प्रणीत होने से अप्रमाण है एवं सर्वज्ञ प्रणीत कहो तो परस्पराश्रय दोष दुर्निवार है। सर्वज्ञ के सदृश कोई न होने से उपमान प्रमाण भी सर्वज्ञ ग्राहक नहीं है तथा अर्थापत्ति से भी वह ग्रहण नहीं होगा अतएव सत्ता को ग्रहण करने वाले पाँचों प्रमाणों का विषय न होने से वह सर्वज्ञ अभाव प्रमाण का ही विषय है। अतः सर्वज्ञ को ग्रहण करने वाला कोई भी प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है।

जैन—यह कथन बिना मीमांसा के ही है। लब्धि और उपयोग के संस्कारों का अर्थात् "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" से भावेन्द्रिय संस्कार रूप क्षयोपशम ज्ञान का नाश हो जाने से सर्वज्ञ होता है।

तथा द्रव्येंद्रियां तो अंगोपांग नाम कर्म की रचना विशेष हैं। वे आवरण निमित्तक नहीं हैं अतः पूर्णतया ज्ञानावरण, दर्शनावरण के क्षय हो जाने से पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ सिद्ध है वह आगम एवं "सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाण" से सिद्ध है। आप सर्वज्ञ को अभाव प्रमाण से कैसे निषेध करेंगे क्योंकि

"पृच्छित्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनं।
मानसं नास्तिता ज्ञानं जायतेऽज्ञापेक्षया॥"

जब कोई मनुष्य सभी मनुष्यों को जान लेवे पुनः सर्वज्ञ के साधक काल का स्मरण करके मन में "सर्वज्ञ सर्वज्ञ नहीं है" ऐसा ज्ञान करे तब उसका अभाव कहेगा पुनः वह सभी को जान लेने के स्मरण ही

[पूर्वोक्तकारिकाभिरनेकहेतुभिर्भगवान् महान् नास्ति, किन्तु दोषावरणरहितत्वादेव महान्]

तत्त्वमिदम्—

[1]अतश्चासौ न देवागमादिविभूतिमत्त्वात्तदभ्यासात् बहिरपि दिव्यसत्यविग्रहादिमहोदयाश्रयत्वाद्वा महान्, नापि तीर्थकृत्त्वमात्रात्, [2]अपरस्य तीर्थोच्छेदसम्प्रदायोपि वैदिको नियोगभाव-

---

सर्वज्ञ बन जाता है तब उसका निषेध कैसे करेगा ? तथा आवरण निमित्तक भावेन्द्रियों के नाश हो जाने से अतीन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है जो कि [illegible] इत्यादि पदार्थों को ग्रहण करने में समर्थ ही समर्थ है। यदि आप कहो कि ज्ञान का कारक क्या है ? तो ज्ञानावरण कर्म है एवं ज्ञानावरणादि के कारण मोहनीय आदि कर्मों की सत्ता है। संपूर्णतया मोह से रहित पुरुष पूर्ण ज्ञानी हो सकते हैं अतः सर्वज्ञ भगवान् को इन्द्रियादिकों की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वे संपूर्णतया मोह से रहित हैं अथवा सर्वदर्शी हैं। जैसे अंजनादि से संस्कृत चक्षु प्रकाशादि की अपेक्षा नहीं रखते हैं एक देश मोह से रहित, असर्वदर्शी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम से अपने-अपने विषय को स्पष्ट जानते हैं अतः हमारा हेतु सर्वमोह रहित, सर्वदर्शी इनमें अनैकांतिक नहीं है क्योंकि यहाँ सकल प्रत्यक्ष की विवक्षा है। अतः इन्द्रिय और क्रम के व्यवधान से रहित सकल प्रत्यक्षज्ञानी संसारी जीवों के गुरु प्रसिद्ध ही हैं वे कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं ऐसा समझना चाहिये।

[पूर्वोक्त तीन कारिकाओं में कथित तीन हेतुओं से भगवान् महान् नहीं है किंतु दोष और आवरण से रहित होने से ही भगवान् महान् है]

हे भगवन् ! देवागमादि विभूतिमान् होने से अथवा अभ्यास और बहिरंग दिव्य, सत्य विग्रहादि महोदय के आश्रयीभूत होने से भी आप महान् नहीं है एवं तीर्थंकरत्व मात्र से भी आप महान् नहीं हैं क्योंकि तीर्थ के उच्छेदक—विनाशक संप्रदाय वाले भी वैदिक जन के नियोग, भावना आदि संप्रदाय संवादक (प्रमाणभूत) नहीं हैं। अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण वाले चार्वाक या तत्त्वोपप्ल-

---

1 कारणात्। (ब्या० प्र०) 2 कारणात्। (ब्या० प्र०)

नादिसम्प्रदायो न संवादकः[1] प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिसम्प्रदायस्तत्त्वोपप्लववादिसम्प्रदायो वा सर्वाप्तिवादो[2] वा न प्रमाणभूतो व्यवतिष्ठते, ततः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणो भगवन् [3]भवानेव भवभृतां [4]प्रभुरात्यन्तिकदोषावरणहान्या साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थत्वेन च मुनिभिः [5]सूत्रकारादिभिरभिष्टूयते। इति समन्तभद्राचार्येर्निरूपिते सति कुतस्तावदात्यन्तिकी दोषावरणहानिर्मयि[6] विनिश्चितेति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः।—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्[7]।
[8]क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

[9]दोषावरण[10]सामान्ययोर्हानिः [11]प्रसिद्धत्वाद्धर्मित्वं न विरुध्यते। तत्प्रसिद्धिः पुनरस्मदादिषु देशतो निर्दोषत्वस्य ज्ञानादेश्च [12]कार्यस्य निश्चयाद्भवत्येव, अन्यथा तदनुपपत्तेः। सा

बौद्धादी (शून्यवादी) संप्रदाय वाले या सभी को आप्त मानने वाले वैनयिक मतानुयायी सब प्रमाणभूत नहीं हैं। इसीलिये सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें ऐसे हे भगवन्! आप ही संसारी जीवों के स्वामी हैं क्योंकि अत्यन्त रूप से दोष एवं आवरण की हानि होने से तथा साक्षात् अशेष तत्त्वों के ज्ञाता होने से सूत्रकार आदि मुनि पुंगवों द्वारा आपकी ही स्तुति की जाती है। इस प्रकार श्री समंतभद्र आचार्य के द्वारा निरूपण करने पर आपने मुझमें किस प्रकार से दोषावरण की हानि आत्यंतिक रूप से निश्चित की है। इस प्रकार से भगवान् के द्वारा प्रश्न किये जाने पर ही मानो आचार्य कहते हैं—

कारिकार्थ—किसी जीव में दोष और आवरण की हानि परिपूर्ण रूप से हो सकती है क्योंकि अन्यत्र उसका अतिशयपना पाया जाता है। जिस प्रकार से अपने हेतुओं के द्वारा कनकपाषाणादि में बाह्य एवं अंतरंग मल का पूर्णतया अभाव पाया जाता है ॥४॥

दोष सामान्य एवं आवरण सामान्य की हानि प्रसिद्ध है अतः इस अनुमान में "धर्मी" असिद्ध नहीं है। उसकी प्रसिद्धि हम लोगों में एक देश रूप निर्दोषपना और ज्ञानादि रूप कार्य के निश्चित होने से होती है अन्यथा दोष, आवरण की हानि के अभाव में हम लोगों में कुछ-कुछ अंशों में निर्दोषत्व एवं क्षयोपशम जन्य कुछ ज्ञान की प्रकटता रूप कार्य नहीं हो सकेगा और वह हानि किसी न किसी

---

1 प्रमाणभूतः। 2 सर्वे आप्ता इति वादो यस्य स सर्वाप्तिवादो वैनयिकः। 3 वर्द्धमानः। 4 अस्तमतिक्रान्तः कालोऽवस्थाः। तस्मै प्रभवतीति आत्यन्तिकी, सत्ता हानेः पुनर्नाशो न विद्यते यस्येत्यर्थः। 5 उमास्वातिपादैः। (ब्या० प्र०) 6 अर्हति। 7 तरतमभावेन हीयमानत्वात्। 8 क्वचिज्जीवः पूर्वाद्रिरपि सम्यग्ज्ञानीव। क्वचिज्जीवत्वेन कनकोपलो दृष्टान्ते अर्हत्यत्र दार्ष्टान्ते ग्राह्यः। 9 दोषः—ज्ञानावर्म। आवरणं—ज्ञानावर्म। (ब्या० प्र०) 10 दोषसामान्यमज्ञानरागसामान्यं च तयोः। 11 प्रसिद्धो धर्मीति वचनात्। 12 दोषावरणयोर्हानिरत्राशे निर्दोषत्वं ज्ञानादि कार्यं च दोषपक्षे।

[1]क्वचिन्निश्शेषास्तीति [2]साध्यते, वादिप्रतिवादिनोरत्र[3] विप्रतिपत्तेः। [4]अतिशायनादिति हेतुः। क्वचित्कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तर्मलक्षयो यथेति दृष्टान्तः, [5]प्रसिद्धत्वात्। स हि कनकपाषाणादौ [6]प्रकृष्यमाणो दृष्टो निश्शेषः। तद्वद्दोषावरणहानिरपि प्रकृष्यमाणाऽस्मदादिषु प्रतीता सती क्वचिन्निश्शेषाऽस्तीति सिद्ध्यति। [7]कः पुनर्दोषो नामावरणाद्भिन्नस्वभाव इति चेदुच्यते[8]। [9]वचनसामर्थ्यविज्ञानाविर्भावः [10]स्वपर[11]परिणामहेतुः[12]। न हि दोष एवावरणमिति प्रतिपादने [13]कारिकायां दोषावरणयोरिति द्विवचनं [14]समर्थम्। ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात्पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्युह्यते। तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य[15] पूर्वस्वपरिणामश्च।

जीव विशेष में परिपूर्ण रूप से है यह यहाँ साध्य है। क्योंकि परिपूर्ण हानिरूप साध्य में वादी और प्रतिवादी दोनों को विवाद है अतः यह साध्य की कोटि में रखा गया है। इसी में हानि की अतिशय रूपता (तरतमता) देखी जाती है यह हेतु वाक्य है। किसी कनकपाषाण आदि में किट्टरूप बहिरंग तथा कालिमा रूप अन्तरंग मल का क्षय होता है यह दृष्टांत है यह भी प्रसिद्ध ही है क्योंकि यह किट्ट और कालिमा आदि मल का क्षय कनकपाषाण आदि में प्रकृष्यमाण अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होता हुआ दो तीन आदि ताव से लेकर सोलह ताव पर्यंत निःशेष रूप से क्षय को प्राप्त होता हुआ देखा जाता है।

उसी प्रकार से दोष और आवरण की हानि भी हम लोगों में प्रकर्षता को प्राप्त होती हुई प्रतीति में आ रही है और वह किसी न किसी पुरुष विशेष में निःशेष रूप से है ही है यह सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न—यह दोष क्या है जो कि आवरण से भिन्न स्वभाव वाला है?

उत्तर—कारिका गत "दोषावरणयोः" इस द्विवचन की सामर्थ्य से अज्ञानादि स्वरूप दोष आवरण से भिन्न ही हैं और वे स्वपर परिणाम हेतु से होते हैं[8]। क्योंकि दोष ही आवरण है ऐसा मानने पर कारिका में द्विवचन नहीं बन सकता था अतः द्विवचन की सामर्थ्य से पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्म रूप आवरण से भिन्न स्वभाव वाले ही अज्ञान, राग-द्वेष आदि दोष कहे जाते हैं ऐसा निर्णय करना चाहिये। उस दोष के कारण पुनः आवरण कर्म है और जीव के पूर्व संचित निजी रागादि परिणाम भी हैं।

---

1 पुंसि। (ब्या० प्र०) 2 दृष्टसाधितयसिद्धं साध्यमिति वचनात्। 3 निःशेषहानौ। 4 तारतम्येन। (ब्या० प्र०) 5 प्रसिद्धो दृष्टान्त इति वचनात्। 6 द्वित्रादिविंशतिकाषारभ्य षोडशवलिकापर्यन्तं हीयमानम्। 7 काङ्क्षः। (ब्या० प्र०) 8 जैनैः। 9 दोषावरणयोरिति द्विवचनसामर्थ्यात्। 10 स्वपरौ जीवकर्मणौ। 11 जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ परिणमयत्यनात्मा चितश्चिदात्मकैः स्वकैरपि स्वकैर्भावैः। अयमेव हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥ (ब्या० प्र०) 12 अतः। (ब्या० प्र०) 13 कारिकायां इति पा०। (ब्या० प्र०) 14 सदर्थम्। 15 रागद्वेषादिः।

[बौद्धो दोषान् स्वहेतुकान् सांख्यश्च परहेतुकानेव मन्यते किन्तु जैनाचार्यः दोषानुभयहेतुकानेव मन्यते]

[1]स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तं, तस्य [2]कार्यत्वेनाकाशादिगुणवत्[3] । [4]परपरिणामहेतुक एवेत्यपि [5]न व्यवतिष्ठते,[6] मुक्तात्मनोपि [7]तत्प्रसङ्गात्, सर्वस्य[8] कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च । तथा च दोषो जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुकः, कार्यत्वान्माषपाकवत् ।

[बौद्ध दोषों को स्वहेतुक एवं सांख्य दोषों को परहेतुक ही मानता है किन्तु जैनाचार्य दोषों को उभय हेतुक ही मानते हैं ।]

बौद्ध—अज्ञानादिक दोष स्वपरिणाम हेतुक ही होते हैं ।

जैन—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि "अज्ञानादि दोषों के कार्यपने का विरोध हो जावेगा जीवत्व आदि परिणाम के समान ।

भावार्थ—स्वपरिणाम नित्य होता है क्योंकि परिणाम गुण रूप होता है और वह परिणाम द्रव्य में संपूर्ण रूप से सदा ही पाया जाता है । "सकलपर्यायानुगतित्वं गुणत्वं" जो द्रव्य की संपूर्ण पर्यायों में अन्वय रूप से रहें उसे गुण कहते हैं इस लक्षण के अनुसार गुण नित्य माने गये हैं और अज्ञानादि दोष तो अनित्य हैं क्योंकि वे सदा काल नहीं पाये जाते हैं मुक्त जीवों में उनका अभाव है परन्तु जीवत्व आदि परिणाम स्वपरिणाम होने से नित्य हैं और सर्वत्र अर्थात् मुक्तावस्था में भी पाये जाते हैं । यदि अज्ञानादि को स्वहेतुक ही मानें जावेगा तो सदा ही अपने रहने से इस जीव की कभी मुक्ति नहीं हो सकेगी ।

सांख्य—अज्ञानादि परपरिणाम प्रधान के निमित्त से ही हुये हैं ।

जैन—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पर निमित्तक होने से मुक्तात्मा में भी अज्ञानादि दोषों का प्रसंग आ जावेगा । हम जैनों के यहाँ तो सभी कार्यों की उत्पत्ति उपादान और सहकारी कारण रूप उभय सामग्री से ही मानी गई है और प्रतीति भी उसी प्रकार से ही होती है । इसलिए "दोष जीव के स्वपरिणाम निमित्तक भी हैं एवं परपरिणाम निमित्तक भी हैं क्योंकि वे कार्य हैं उड़दपाक के समान" जिस प्रकार से उड़द या मूंग में अंतरंग में पकने की योग्यता है और बाहर में अग्नि जलादि के संयोग से पक जाती है किन्तु कोरडू मूंग में पकने की योग्यता न होने से अग्नि जलादिक के संयोग होने से भी नहीं पकती है ।

---

1. सौगतमतम् । 2 स्वपरिणामस्तु नित्यः परिणामस्य गुणरूपत्वात्तस्य चाकाशादिवत् सर्वत्र सर्वदोपलभ्यमानत्वात् गुणत्वमिति लक्षणेन नित्यत्वप्रतिपादनात् । अज्ञानादिदोषाणामेकतो विरोधः । 3 जीवत्वादिगुणवत् सदा कालविद्यमानत्वविरोधोस्य नित्यत्वात् । 4 सांख्यः । 5 जैनः । 6 दोषवत् । (ब्या० प्र०) 7 अज्ञानादिकार्येणापि मुक्तात्मनापि सम्बन्धप्रसङ्गात् । 8 जैनमते एवमभिमतम् ।

[कश्चित् कथयति कार्यद्वयेऽपि हानिरेव वक्तव्या, किंतु जैनाचार्या प्रत्युत्तरयंति यत् दोषावरणयोर्मिथः कार्यकारणभावोऽस्त्येवात अत्रापि वक्तव्ये स्तः ,

[1]नन्वेवं निरवशेषावरणहानौ दोषहानेः [2]सामर्थ्यसिद्धत्वाद्दोषहानौ [3]आवरणहानेरन्य-

---

भावार्थ—जैनाचार्यों ने यहाँ इस कारिका में 'आवरण' शब्द से पौद्गलिक द्रव्य कर्म को ग्रहण किया है एवं 'दोष' शब्द से कर्म के उदय से होने वाले राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि भावकर्मों को लिया है और इन दोनों को जीव के रागादि रूप स्वपरिणाम एवं कर्मोदय रूप परपरिणाम के निमित्त से उत्पन्न हुये माना है।

बौद्ध दोषों को स्वपरिणाम निमित्तक मानता है एवं आवरण नाम की चीज को मानता ही नहीं है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि आवरण के बिना दोष कैसे उत्पन्न होंगे और यदि आवरण के बिना भी दोष हो सकते हैं तो सिद्धों में तो आवरण है नहीं उनके भी दोषों की उत्पत्ति होने लगेगी। अथवा जैसे जीव के ज्ञान, दर्शन, जीवत्व, आदि भाव स्वपरिणाम हैं तो उनका कभी भी नाश नहीं होता है तथैव अनादि काल से लगे हुये दोषों का भी कभी नाश नहीं होगा पुनः मुक्ति कैसे हो सकेगी? परन्तु ऐसा तो है नहीं। अतः दोष आवरण निमित्तक होते हैं और आवरण दोष निमित्तक होते हैं।

सांख्य कहता है कि अज्ञानादि दोष पर अर्थात् प्रधान के निमित्त से ही होते हैं क्योंकि ज्ञान, सुख आदि भी प्रधान के ही धर्म हैं, प्रकृति को ही संसार होता है, प्रकृति को ही जन्म-मरण, सुख-दुःख, बंध-मोक्ष होता है। अतएव सांख्य के यहाँ प्रकृति रूप कर्मबंध प्रकृति के ही होता है पुरुष सर्वथा अकर्ता, निर्गुणी, निष्क्रिय माना गया है। आजकल भी कुछ लोगों का सिद्धांत है कि गाय के गले में रस्सी बाँधी तो गाय का गला या गाय नहीं बंधी है किन्तु मात्र रस्सी से ही रस्सी बंधी है। यद्यपि यह दृष्टांत सत्य है फिर भी गाय बंधन में अवश्य है। वह अपने इष्ट स्थान पर जा नहीं सकती है एवं यह गाय का दृष्टांत सर्वथा लागू नहीं होता है। वास्तव में कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है एवं आत्मा के रागद्वेष आदि परिणामों से ही पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप परिणत होती हैं और कर्म का उदय आने पर ही आत्मा के राग, द्वेष आदि परिणाम होते हैं। अतः इन दोष और आवरणों का परस्पर में कार्यकारण भाव निश्चित है। ये दोनों ही स्व पर के निमित्त से होते हैं। दोषों का स्वनिमित्त आत्मा है परनिमित्त पुद्गल कर्म है या विष, उपं आदि बाह्य सामग्रियाँ हैं और आवरण के लिये स्वनिमित्त पुद्गल वर्गणायें हैं तथा परनिमित्त जीव के रागादि भाव हैं।

[किसी का कहना है कि दोष या आवरण दोनों में से किसी एक का ही अभाव कहना चाहिये किन्तु जैनाचार्य दोष-आवरण में कार्यकारण भाव सिद्ध करके दोनों की हानि मान लेते हैं।]

प्रश्न—इस प्रकार दोष तो आवरण रूप द्रव्य कर्म के कार्य हैं अतः निरवशेष आवरण का अभाव

---

1 दोषस्यावरणकार्यत्वप्रतिपादकप्रकारेण। 2 कारणाभावे कार्याभावनियमात्। 3 अथापि कारणाभावे कार्याभावनियमो हेतुः।

तरहानिरेव निश्शेषतः साध्येति चेन्न, दोषावरणयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थत्वादुभयहानेः[1]निश्शेषत्व[2]साधनस्य[3]। दोषो हि तावदज्ञानं ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्याददर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य, विविधमचारित्रमनेकप्रकारचारित्रमोहस्य, अदानशीलत्वादिर्दानाद्यन्तरायस्येति, [4]तथा ज्ञानदर्शनावरणे [5]तत्प्रदोषनिह्नवमात्स[6]र्यान्त[7]रायाऽऽसादनोपघातेभ्यो[8] [9]जीवमास्रवतः[10], केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादा[11]दर्शनमोहः,[12] कषायोदयात्तीव्रपरिणामाच्चारित्रमोहः, विघ्नकरणादन्तराय इति

ही जाने पर दोष की हानि अर्थापत्ति रूप सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि कारण के नाश हो जाने पर कार्य का नाश अवश्यंभावी है। अथवा दोष का पूर्णतया अभाव होने पर आवरण का अभाव स्वयमेव निश्चित है क्योंकि दोष रूप भावकर्म से ही आवरण रूप द्रव्य कर्म बंधते हैं और कारण रूप दोष के नाश होने पर कार्यभूत द्रव्यकर्म रूप आवरण का स्वयमेव ही नाश प्रसिद्ध है। इसलिये दोनों में से किसी एक की हानि ही निःशेषतः सिद्ध करना चाहिये।

[अनादिकाल से दोष आवरणनिमित्तक हैं एवं आवरण दोषनिमित्तक हैं दोनों का परस्पर में कार्य कारण भाव है]

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जीव और पुद्गल के परिणाम स्वरूप दोष और आवरण में परस्पर में कार्य कारण भाव पाया जाता है अतः परस्पर में दोनों के कार्य कारण भाव को सिद्ध करने के लिए ही दोनों की हानि निःशेष रूप से साध्य (सिद्ध) करना इष्ट है क्योंकि दोष अज्ञान को कहते हैं और वह जीव के ज्ञानावरण कर्म के उदय के होने पर होता है तथा जीव के दर्शनावरण कर्म के उदय होने पर अदर्शन, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय में मिथ्यात्व, अनेक भेद रूप चारित्रमोहनीय कर्म के उदय होने पर अनेक प्रकार का अचारित्र—अविरति रूप परिणाम एवं दानादि अन्तराय के उदय से अदानशीलत्व—दान नहीं देना आदि रूप दोष पाये जाते हैं।

दोष के प्रति आवरण कारण है ऐसा प्रतिपादन करके अब आचार्य यह बताते हैं कि आवरण के लिए दोष कारण हैं।

---

1 हानिर्निःशेषत्व इति पा.। (ब्या० प्र०) 2 साध्य। सिद्धेः। जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यं कार्यकारणभावः सिद्धस्तेन तज्ज्ञापनार्थमेव तद्धानस्य युक्तं साध्यत्वं अतः कथं तत्सिद्धिरित्याशंक्याह दोषो हि तावदित्यारभ्य तत्त्वार्थप्रकरणपरिसमाप्तिं यावत् ग्रंथसंदर्भः। (ब्या० प्र०) 3 अन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थं हि अज्ञानहानिनिःशेषत्वसाधनम्। 4 दोषं प्रत्यावरणस्य कारणत्वं प्रतिपाद्येदानीमावरणं प्रति दोषस्य कारणत्वमाचष्टे इति। 5 तत्प्रदोषो ज्ञानदर्शनप्रद्वेषः। 6 निह्नवमात्सर्यमित्यत्र। 7 मात्सर्यं निन्दा तिरस्कारश्च। 8 विघ्नकरणमन्तरायः। 9 ज्ञानादीनां ज्ञानादेर्विशेषणम्। 10 अन्येषामपि केषांचित्कर्मणामास्रवतः। 11 एभ्यः कारणेभ्यो ज्ञानदर्शनावरणत्वं जीवेन सह कर्म याति। 12 क्रियापदस्य द्विः। (ब्या० प्र०) 13 हेतुतः। 14 ज्ञानवतीत्यध्याहार्यं पदम्।

तत्त्वार्थे प्ररूपणात्। समर्थयिष्यते चायं कार्यकारणभावो दोषावरणयोः "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः" इत्यत्र।

[बौद्धो दोषानेव संसारस्य कारणं मन्यते किंतु जैनाचार्या उभयौ एव कारणे इति कथयंति]

[1]अयं दोष एवाविद्या[2]तृष्णा[3]लक्षणश्चेत[4]सोभाभिलाषसंस्कारोद्भूतः संसारहेतुर्नावरणं पौद्ग-

---

तत्प्रदोष—ज्ञान दर्शन में प्रद्वेष भाव, निह्नव—ज्ञान दर्शन को ढकना, मात्सर्य—निन्दा और तिरस्कार, अन्तराय—ज्ञान दर्शन में विघ्न करना, आसादना—ज्ञानादि की विराधना करना, उपघात—उपाध्याय आदि को दोष लगाना या पीड़ा देना आदि कारणों से जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है।

केवली, शास्त्र, संघ, धर्म एवं देव को झूठा दोष लगाने से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होता है। कषायों के उदय की तीव्रता से कलुषित परिणाम के होने से चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है और दान लाभ आदि में विघ्न करने से दानादि अंतराय कर्म का आस्रव होता है। इस प्रकार से "तत्त्वार्थ सूत्र" महाशास्त्र में प्ररूपण किया है और आगे इसी मीमांसा ग्रन्थ में "कामादि प्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः" इत्यादि कारिका नं० ९९ के अर्थ में दोष और आवरण में कार्यकारण भाव का समर्थन करेंगे।

भावार्थ—यहाँ यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि जब बीजांकुर न्याय के समान अनादि काल से दोष-आवरण का परस्पर कार्यकारण भाव निश्चित है तब इनका अभाव भी कैसे हो सकेगा? इसका समाधान यही है कि जब यह जीव कालादि लब्धि को प्राप्त करके सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेता है एवं रागद्वेष को दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र का आश्रय ले लेता है तब व्यवहार त्रिरत्नमय रूप रत्नत्रय के बल से आने वाले कर्मों के रुक जाने से संवर हो जाता है और बंधे हुये कर्मों की निर्जरा होती चली जाती है तब धीरे-धीरे मोहनीय कर्म के नाश से राग, द्वेष, मोह का नाश, ज्ञानावरण आदि के नाश से अनादि-कालीन भावों का अभाव हो जाता है। जैसे कि बीज को जला देने से उससे अंकुर परम्परा समाप्त हो जाने से उस बीज का अंत हो जाता है तथैव इन दोष-आवरणों का अभाव भी हो सकता है कोई बाधा नहीं आती है।

[बौद्ध दोषों को ही संसार का कारण मानता है आवरण को नहीं, किन्तु जैनाचार्यों ने दोनों को ही संसार का कारण माना है।]

बौद्ध—दोष ही अविद्या—मिथ्याज्ञान एवं तृष्णा भोगों की अभिलाषा लक्षण वाले हैं जो कि चित्तक्षणरूप आत्मा में अनादि काल की वासना से उत्पन्न होते हैं ये ही संसार के लिये कारण हैं, न कि आवरण रूप पौद्गलिक कर्म, क्योंकि मूर्तिमान् कर्म के द्वारा अमूर्तिक आत्मा पर आवरण नहीं हो सकता है।

---

1 दोषतावत्। 2 अविद्या मिथ्याज्ञानम्। 3 दोषाभिलाषस्तृष्णा। 4 चित्तक्षणस्य आत्मन इत्यर्थः।

लिकं, तेन मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणाद्योगादिति वदतो बौद्धान्निराकर्तुमावरणग्रहणं, मूर्तिमतापि मदिरादिना चित्तस्यामूर्तस्यावरणदर्शनात्,[1] [2]तत्सम्बन्धाद्विभ्रमसंवेदनादन्यथा तदनुपपत्तेः। मदिरादिनेन्द्रियाण्येवाव्रियन्ते इति चेन्न तेषामचेतनत्वे तदावरणासंभवात् [3]स्यात्यादिवद्विभ्रमायोगात्। [4]चेतनत्वे तेषामप्यमूर्तत्वेपि मूर्तिमतावरणमायातं[5]मिति प्रामेयान्यत्र[7] चिन्तितम्। ततो दोषहानिवदावरणहानिरपि निश्शेषा क्वचित्साध्या, [8]तदावरणस्य दोषादन्यस्य मूर्तिमतः प्रसिद्धेः।

जैन—इस प्रकार से कहने वाले बौद्ध का खंडन करने के लिए ही "आवरण" शब्द को ग्रहण किया है क्योंकि मूर्तिमान् मदिरा आदि के द्वारा भी अमूर्तिक आत्मा में आवरण देखा जाता है। उस मदिरा के निमित्त से विभ्रम का अनुभव होता ही है यदि ऐसा न मानो तो मदिरा पीने के बाद मनुष्य को उन्मत्त अवस्था नहीं हो सकेगी।

बौद्ध—मदिरा आदि के द्वारा इंद्रियों पर ही आवरण देखा जाता है अर्थात् इन्द्रियाँ ही मदिरा से उन्मत्त होती हैं न कि आत्मा।

जैनाचार्य—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों को अचेतन मान लेने पर उन पर मदिरा आदि से आवरण होना संभव नहीं है जैसे कि अचेतन पात्र—तीजी आदि में रखी हुई मदिरा के निमित्त से उनमें उन्मत्तता नहीं आती है वैसे ही यदि इन्द्रियाँ अचेतन हैं तो वे उन्मत्त नहीं हो सकेंगी और यदि आप इन्द्रियों को चेतन रूप स्वीकार कर लेवें तब तो उन्हें आत्मा के समान अमूर्तिक भी मानना पड़ेगा पुनः मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा अमूर्तिक पर आवरण सिद्ध ही हो जावेगा क्योंकि जैन सिद्धान्त में कर्मबंध सहित संसारी आत्मा को कथंचित् मूर्तिक भी माना है।

अतः संसारी जीवों का चेतनत्व एवं अमूर्तिकत्व स्वभाव होने पर भी मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा आवरण सिद्ध हो ही जाता है इस विषय का प्रायः श्लोकवार्तिक में विशेष रूप से विचार किया गया है।

दोष के अभाव के समान आवरण का अभाव भी किसी जीव विशेष में निश्शेष रूप से सिद्ध करना ही चाहिए क्योंकि दोष से भिन्न मूर्तिमान् आवरण की प्रसिद्धि है।

आचार्य—अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिमान् कर्मों से पराजित होना स्पष्ट है इस बात को 'राजवार्तिक ग्रन्थ' में श्री अकलंक देव ने भी कहा है। "अमूर्तित्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेत्; न; ग्रहदिशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत्।"

प्रश्न—चूंकि आत्मा अमूर्त है अतः उसका कर्म पुद्गलों से अभिभव नहीं होना चाहिये?

---

1 कुतः। (ब्या० प्र०) 2 तेन मदिरादिना। 3 भ्रान्तिज्ञान। (ब्या० प्र०) 4 मदिरादावचेतनादि। अचेतनत्वात्। (ब्या० प्र०) 5 अभ्युपगते। 6 तथा च कर्मणा मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणाद्योगात् इति वचनमनुकूलमिति भावः। (ब्या० प्र०) 7 श्लोकवार्तिके। 8 दोषवन्निकस्य। (ब्या० प्र०)

[दोषावरणयोर्हानिः ज्ञानस्वभावत्वात् न स्वरूपाभावत्वात्]

[1]अत एव [2]सोऽप्यसौ [3]सिद्धोऽदोषावरणत्वेनिवृत्तेः सिद्धसाध्यतेत्यपि[4] तत्त्वज्ञानं,

---

उत्तर—अनादि कर्मबंधन के कारण उसमें विशेष शक्ति आ जाती है। अनादि पारिणामिक चैतन्यवान् आत्मा की नारकादि, मतिज्ञानादि पर्यायें भी चेतन ही हैं। यह आत्मा अनादिकाल से कार्मण शरीर के कारण मूर्तिमान् हो रहा है और इसीलिए उस पर्याय संबंधी शक्ति के कारण मूर्तिक कर्मों को ग्रहण करता है। आत्मा कर्मबद्ध होने से कथंचित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण अमूर्तिक है। जिस प्रकार मदिरा को पीकर मनुष्य मूर्छित हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कर्मोदय से आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते हैं। मदिरा के द्वारा इन्द्रियों में विभ्रम या मूर्च्छा आदि मानना ठीक नहीं है क्योंकि जब इन्द्रियाँ अचेतन हैं तो अचेतन में बेहोशी आ नहीं सकती अन्यथा जिस पात्र में मदिरा रखी है उसे ही मूर्च्छित हो जाना चाहिए या उन्मत्त चेष्टा करना चाहिये। यदि इन्द्रियों को चेतन कहेंगे तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि बेहोशी चेतन में होती है न कि अचेतन में। इसलिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संसारी आत्मा मूर्तिक है—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं।
तम्हा मुत्तिमावी चेयणो होदि जीवस्स॥

अर्थ—बंध की दृष्टि से आत्मा और कर्म में एकत्व होने पर भी लक्षण की अपेक्षा से दोनों में भिन्नता है। अतः आत्मा में एकांत से अमूर्तिकपना नहीं है।

इसी बात को श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने भी कहा है कि—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्तिबंधादो॥

अर्थ—पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श निश्चय नय से ये जीव में नहीं हैं इसलिये यह जीव अमूर्तिक है एवं व्यवहार नय से कर्मबंध से सहित होने से यह जीव मूर्तिक है। इसलिये जीव को संसार अवस्था में सर्वथा अमूर्तिक मानना गलत है।

[दोष, आवरण की हानि ज्ञानस्वभाव रूप है सर्वथाभाव रूप नहीं है]

प्रश्न—अतएव इसी "अतिशायनात्" हेतु के द्वारा सोऽदोषादिक (जिन्हों के दोष आदि) में भी निःशेष रूप से दोष आवरण की निवृत्ति होने से सिद्धसाध्यता नाम का दोष आता है* अर्थात् सिद्ध को ही सिद्ध करना यह पिष्टपेषण के सदृश दोष दूषित ही है।

---

1 अतिशायनादेव। 2 कर्म। (ब्या० प्र०) 3 सीमांतर्गं निराचष्टे। (ब्या० प्र०) 4 दोषस्य।

साध्यापरिज्ञानात्* । प्रध्वंसाभावो हि दोषावरणयोः साध्यो न पुनरत्यन्ताभावः, [1]तस्यानिष्टत्वात्,[2] [3]स्वात्मनो मुक्तिप्रसङ्गात् । नापीतरेतराभावः,[4] तस्य[5] प्रसिद्धत्वात्, दोषावरणयोरात्मत्वादात्मनश्चादोषावरणस्वभावत्वात् । [6]प्रागभावोपि न साध्यस्तत[7] एव, [8]प्रागविद्यमानस्य दोषावरणस्य स्वकारणादात्मनि प्रादुर्भावाभ्युपगमात् । न च लोष्टादौ दोषावरणयोः प्रध्वंसाभावः संभवति, तस्य भूत्वा भवनलक्षणत्वात्[9] तयोस्तत्रात्यन्तमभावात्[10] । तत्र सिद्धसाध्यता ।

[शंकाकारो बुद्धेस्तरतमतां दृष्ट्वा अतिशयनहेतुमनैकांतिकं मन्यते किंतु जैनाचार्याः क्वचित् लोष्टादौ बुद्धेरपि अभावं स्वीकृत्य हेतुमनैकांतिकं न मन्यंते]

[11]नन्वेवं, दोषावरणयोर्हानिरतिशायनान्निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि[12] किन्न परिक्षयः

उत्तर—आप बौद्ध का यह कहना असंगोचित है—ठीक नहीं है उसने हमारे साध्य को समझा ही नहीं है* । क्योंकि दोष और आवरण का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव (हानि) ही साध्य है न कि अत्यंताभाव रूप अभाव, क्योंकि अत्यंताभाव रूप अभाव यहाँ साध्य में हमें इष्ट नहीं है । यदि जीव में दोष और आवरण का अत्यन्ताभाव मानेंगे तो नित्य ही संसार अवस्था में भी जीव के मुक्ति का प्रसंग आ जावेगा । तथा जीव में दोष और आवरण का इतरेतराभाव भी इष्ट नहीं है । वह इतरेतराभाव तो आत्मा में प्रसिद्ध ही है क्योंकि आत्मा और दोष-आवरण एक दूसरे रूप नहीं हो सकते हैं उनकी परस्पर भिन्नता प्रसिद्ध है ।

दोष और आवरण आत्मस्वरूप नहीं है और न आत्मा ही दोष, आवरण स्वभाव वाली है । तथा प्रागभाव भी यहाँ साध्य नहीं है क्योंकि वह भी प्रसिद्ध ही है । प्राक् (पहले) अविद्यमान रूप दोष आवरणों की अपने कारणों से आत्मा में उत्पत्ति स्वीकार की गई है यह कथन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है ।

मिट्टी के ढेले आदि में दोष, आवरण का प्रध्वंसाभाव ही नहीं है । प्रध्वंसाभाव तो "भूत्वाभवनलक्षणत्वात्" घट होकर कपाल होने रूप है । उस मिट्टी के ढेले आदि में दोष आवरण का अत्यन्त ही अभाव है अतः प्रध्वंसाभाव रूप हानि को साध्य करने में सिद्ध साधनता दोष नहीं है ।

---

1 इष्टमकांक्षितमसिद्धं साध्यमिति वचनात् । (अष्टा० प्र०) 2 अनिष्टस्य साध्यत्वाभावात् । 3 कुतः ? एतः । 4 आत्मा दोषावरणं न तदात्मा नेति इतरेतराभावः । 5 इतरेतराभावस्यात्मनि कथंचित्तादात्म्यात् प्रसिद्धत्वात् । 6 कारणसंपातात्पूर्वमभावः प्रागभाव इति लक्षणं । (अष्टा० प्र०) 7 प्रसिद्धत्वादेव । 8 प्रसिद्धत्वे हेतुमाह । 9 घटो भूत्वा कपालमवनमेव प्रध्वंसाभावः । 10 लोष्टादावत्यन्ताभावेन वर्तनात् । 11 मीमांसकः । (अष्टा० प्र०) 12 बुद्धेरतिशयोऽस्ति । (अष्टा० प्र०)

स्याद्विशेषा[1]भावाद[2]तोनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितललितं[3], + चैतनाविगुणव्यावृत्तेः[4] सर्वात्मना पृथिव्यादेरपि[5]ततस्तत्वात्[6]। ननु च पृथिव्यादौ सर्वात्मना[7] चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावस्याभावाद्[8]बुद्धिहान्यानैकान्तिकमेवातिशायनमित्यप्यनवद्यविद्वन्निन्द्यं[9], पृथिव्यादौ पुद्गले पृथिवीकायिकादिभिरात्मभिः शरीरत्वेन [11]गृहीते स्वायुषः क्षयात्त्यक्ते चेतनाविगुणस्य व्यावृत्तेः सर्वात्मना प्रध्वंसाभावरूपत्वेन स्याद्वादिभिरभिप्रेतत्वात्[12], "न हि स कश्चित्पुद्गलोस्ति यो न जीवैरनन्तशः[13]" इति वचनात्। [14]असिद्धश्च पृथिव्यादौ चेतनादिगुणस्याभावः, [15]अनुपलम्भान्यथानुपपत्तेः।

[शंकाकार बुद्धि की तरतमता देखकर "अतिशायन हेतु" को व्यभिचारी कहता है किन्तु जैनाचार्य कहीं न कहीं बुद्धि का भी अभाव मान लेते हैं।]

शंका – आप दोष और आवरण की हानि को निःशेष रूप से साध्य करने में "अतिशायन" हेतु देते हैं पुनः इसी "अतिशायन" हेतु से किसी न किसी जीव में बुद्धि का भी परिपूर्णतया अभाव क्यों न हो जावेगा ? क्योंकि इन दोनों में कोई अंतर नहीं है। इसलिए आपका हेतु अनैकांतिक है[9]।

समाधान—यह आपका कथन अविचारित रम्य ही है क्योंकि पृथ्वी आदिकों में संपूर्ण रूप से चेतनादि गुणों का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव होना इष्ट ही है[9]।

शंका—पृथ्वी आदि में संपूर्ण रूप से चेतना गुणों का प्रध्वंसाभाव रूप अभाव नहीं होता है अतः बुद्धि की हानि के साथ यह "अतिशायन" हेतु व्यभिचारी है। अर्थात् बुद्धि की हानि में "अतिशायन" हेतु पाया जाता है फिर भी संपूर्णतया पृथिवी आदि में चेतना गुणों का प्रध्वंसाभाव नहीं है अतः यह हेतु अनैकांतिक है।

समाधान—यह कथन भी अज्ञान के विलास रूप ही है, पृथ्वी आदि रूप से परिणत हुए पुद्गल वर्गणाओं को पृथ्वीकायिक आदि नामकर्म के उदय सहित जीवों ने अपने शरीर रूप से ग्रहण किया पुनः अपनी-अपनी आयु कर्म के क्षय हो जाने पर उन पुद्गलमय पृथ्वी आदि को छोड़ दिया। इन पृथ्वी आदिकों में चेतनादि गुणों का सम्पूर्णतया प्रध्वंसाभाव रूप से अभाव हो जाता है यह बात हम

---

1 दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्[इत्यत्र] हेतोर्यथा। 2 यतो न हि बुद्धिविशेषः। 3 आ० (व्या० प्र०) +दिल्ली अष्टशती ब, ब, स प्रति में, मुद्रित अष्टशती में, बिजली एवं व्यावर अष्टसहस्री प्रति में "चेतनादि.....ततस्त्वात्" यहाँ से 'अष्टशती' मानी गई है। मुद्रित अष्टसहस्री में अष्टशती नहीं मानी है। 4 प्रध्वंसाभावस्य। 5 आदिपदेन शरीरं गृह्यते, उत्तरत्र व्यापारव्याहारव्यावृत्तेरपि ग्रहणमाणत्वात्। 6–रभिमतत्वादिति पाठान्तरम्। 7 पृथिव्यां चेतनत्वव्यावृत्तिर्यद्यपि सर्वात्मना नास्त्येकान्तः। 8 सामस्त्येन। 9 चेतनादिगुणस्य तत्रात्यन्ताभावात्। 10 बुद्धिहानेरतिशायित्वेपि सर्वात्मना पृथिव्यादौ चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावो नास्ति, अतोनेकान्तः। 11 चैतन्यानुपचारादभिप्रायेण। (व्या० प्र०) 12 सर्वथा सत्त्वं तस्य। (व्या० प्र०) 13 पूर्वं भुक्तः पश्चात्पुद्गलैः। शरीरत्वेन। (व्या० प्र०) 14 अनुमानतः। (व्या० प्र०) 15 अन्यथा=चेतनादिगुणसद्भावे सदाजीवसत्तव्याप्यावश्यसत्त्वेः।

[अदृश्यस्यासंभवात् कथं भविष्यतीति शंकायां लौकिकानां अपि अदृश्यस्यभावं दृष्ट्वा दूषणोत्तरं]

[1]अदृश्या[2]नुपलम्भात्तन्नास्तीति[3] सिद्धिरित्ययुक्तं, परचेतन्यनिवृत्ता[4]वतरेतरतः[5],, [6]संस्कर्तृ[7]णां पातकित्वप्रसङ्गात्, अदृश्यस्य[8] करणादेर्योगादेर्निवृत्तिनिर्णयात्[9]। [9]स्यान्मतं ते, + व्यापारव्याहाराकारविशेष[10]व्यावृत्ति[11]लक्षणत[12]स्तुर्यो योगे विशेषलिङ्गः—नास्त्यत्र मृतशरीरे चैतन्यं व्यापारव्यवहाराकारविशेषानुपलब्धेः, कार्यविशेषानुपलम्भस्य [13]कारणविशेषाभावाविनाभावित्वात्, चान्दनादिधूमानुपलम्भस्य [14]तत्समर्थचान्दनादिपावकाभावाविनाभावित्ववत्। तथा नास्त्यस्य रोगो ज्वरादिः, स्पर्शादिविशेषानुपलब्धेषु[15] तद्ग्रहादिर्वा चेष्टा-

---

स्याद्वादियों के यहाँ स्वीकार की गई है क्योंकि "इस जगत में ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है कि जिसको जीवों ने अनेकों बार भोगकर न छोड़ा हो" इस प्रकार वचन पाये जाते हैं। इसलिये पृथ्वी आदि में चेतन आदि गुणों का अभाव प्रसिद्ध ही है क्योंकि अनुपलब्धि की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् मिट्टी के ढेले आदि में चेतनागुण का सद्भाव नहीं पाया जाता है।

[जो पदार्थ दिखते नहीं हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इस पर वैशेषिकों का कहना है कि अदृश्य का भी अभाव अभाव लक्षण मानते हैं।]

शंका—आप अदृश्य पदार्थों की अनुपलब्धि से अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अर्थात् इस मकान में भूत नहीं है ऐसा कोई नहीं कह सकते हैं क्योंकि भूत अंतर आदि दिखते नहीं हैं वे अदृश्य हैं उनकी उपलब्धि हमें नहीं हो रही है इसलिए वे नहीं हैं यह कहना उचित नहीं है। जो देखने योग्य दृश्य पदार्थ हैं उन्हीं की ही उपलब्धि या अनुपलब्धि देखकर उनका सद्भाव या अभाव सिद्ध किया जा सकता है।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है अन्यथा दूसरे के शरीर से चैतन्य आत्मा के निकल जाने पर भी शंका बनी ही रहेगी। पुनः उसके संस्कार करने वालों को पातकी कहने का प्रसंग आवेगा। प्रायः करके अप्रत्यक्ष (परोक्ष) भी रोगादि के अभाव का निर्णय किया ही जाता है।*

यदि आप ऐसा कहें कि व्यापार (क्रिया) वचन, आकार आदि चेष्टा विशेष की व्यावृत्ति—अभाव के हो जाने से होने वाले चिन्ह विशेषों से यह शरीर मृतक हो चुका है, इसमें से चैतन्य निकल चुका है यह शरीर अब निर्जीव है इस प्रकार से व्यवहार निर्णय कर लेते हैं।*

---

1 मीमांसकमतमनूद्य दूषयति। (व्या० प्र०) 2 अदृश्यचेतनगुणः। 3 चेतनादिगुणस्य। 4 अदृश्यानुपलम्भसाधनाभावासाधकत्वे सति परशरीरवत्तचैतन्यस्य निवृत्ताभ्यारेका स्यात्। 5 चैतन्यसद्भावशंका। (व्या० प्र०) 6 आहुताम्। (व्या० प्र०) 7 अदृश्यस्य। (व्या० प्र०) 8 अभावात्। (व्या० प्र०) 9 अयुक्तके ये इति पदं नास्ति। + दिल्ली अष्टसही ब, ब, स प्रति में मुद्रित अ. स. में, दिल्ली एवं भावर अ. स. प्रति में 'व्यापार.....विशेषवति' पंक्ति अष्टसही वाली दी है, मुद्रित अ. स. में नहीं आयी है। 10 व्यापारविशेषस्यक्षणतः। व्याहारविशेषो वचनविशेषः। आकारविशेषश्च। 11 समन्तः लक्षणतः। 12 चैतन्याभावविशिष्टम्। 13 कारणं=चैतन्यम्। 14 चंदनादिधूमजनन। (व्या० प्र०) 15 नास्ति।

विशेषानुपलब्धेः[1] । [2]सम्यग्वैद्यकशास्त्रभूततन्त्रादिसमभ्यासादत्यन्ता[3]भ्यस्तचैतन्यरोगादि[4]कार्य-विशेषाणां लोकानां तद्विवेकोपपत्तिः' इति ।

[जैनाचार्या भस्मलोष्टादीनचेतनान् साधयंति]

[5]तदेतत्पृथिव्यादौ सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तावपि समानम् । नास्त्यत्र भस्मादि-पृथिव्यादौ पृथिवीचेतनादिगुणः, + व्यापार[6]व्याहाराकारविशेषव्यानुपलब्धेरिति [7]समयबलात्-तत्सिद्धास्तद्विवेकोऽपि विवेचयति० । स्यादाकूतं ते [9]'व्यापारादिविशेषस्यानुपलब्धेः[10]तज्जनन-समर्थचेतनादि[11]गुणव्यावृत्तिसिद्धावपि तज्जननसमर्थचेतनाद्यव्यावृत्यसिद्धेर्न सर्वात्मना

यथा—"इस मृतक शरीर में चैतन्य नहीं है क्योंकि व्यापार व्याहार—वचन आकार विशेष की उपलब्धि नहीं हो रही है।" तथा कार्य विशेष की अनुपलब्धि कारण विशेष के अभाव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखती है। जैसे—चन्दन आदि से उत्पन्न हुए सुदीप्त धूम की अनुपलब्धि उसके योग्य समर्थ चन्दन आदि की लकड़ी से होने वाली अग्नि के अभाव के साथ अविनाभाव सम्बन्ध को सिद्ध करती है। अर्थात् सुदीप्तधूम के अभाव में चंदनादि की अग्नि नहीं है ऐसा ज्ञान हो जाता है।

उसी प्रकार दूसरा अनुमान—

"इस मनुष्य में मनोवृत्ति चेतन नहीं है क्योंकि उसमें स्पर्श आदि विशेष की उपलब्धि नहीं हो रही है।" अथवा "इस व्यक्ति में बुद्धि विशेष, बुद्धि आदि नहीं है क्योंकि उसकी चेष्टा विशेष की उपलब्धि नहीं है।"

मीमांसक—सम्यक् प्रकार से वैद्यकशास्त्र एवं भूत तंत्रादि शास्त्र के अतिशय रूप (विशेष रूप) अभ्यास से चैतन्य विशेष या रोगादि विशेष रूप कार्यों का विद्वान् लोग निश्चय कर लेते हैं।

[जैनाचार्य भस्म लोष्ट आदि पृथ्वी को निर्जीव सिद्ध करते हैं]

जैन—तो इसी प्रकार से पृथ्वी आदि में भी चैतन्य आदि गुणों की संपूर्ण रूप से व्यावृत्ति मानना समान ही है। उसीको—

इस भस्मादि या पृथ्वी आदि में पृथ्वीकायिक आदि चैतन्य गुण नहीं हैं।

---

1 इतिविवेचयति । कार्येण । (ब्या० प्र०) 2 इदं वैद्यकशास्त्रेणेदं रोगादिकार्यमिति विवेको नास्तीत्याशंक्याहुः । (ब्या० प्र०) 3 सम्यग्ज्ञान । (ब्या० प्र०) 4 ता । (ब्या० प्र०) 5 पूर्वोक्त मतम् । + दिल्ली अष्टसही ब, द, स प्रति में, मु. ब. ज. प्र. में, दिल्ली एवं ब्यावर ब. स. प्र. में 'व्यापार व्याहार ..... विवेचयति' पंक्ति अष्टसती मानी गई एवं मु. ब. स. प्र. में नहीं मानी है। 6 व्याहारस्तत्सशरीरे दृश्यते । (ब्या० प्र०) 7 संकेत । (ब्या० प्र०) 8 भाकूतम् । (ब्या० प्र०) 9 मीमांसकस्य । 10 तद्—व्यापारव्याहारादि । 11 सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन स्वाधरा-त्मसाः । स कार्यं चेतयतेऽनुभवतीत्यात्मत्वात् ज्ञानमेव च । सा चेतना कर्मफलसकार्यज्ञानचेतना भेदात् त्रेधा सर्वेषं तर्हि कः कि प्राधान्येन चेतयते इत्याह । कर्मफलं—अभ्यात्मसुखदुःखं । सकार्यं—क्रियते इति कार्यं बुद्धिपूर्वको व्यापारस्तेन सहितं । चेतयते—अनुभवंति । अस्तदात्मत्वात्—आत्मत्वं व्यक्तिकाला जीवा व्याहारेण जीवन्मुक्ताः परकार्येण परमसुक्ताश्च । (ब्या० प्र०)

तद्व्यावृत्तिसिद्धिः' इति, तदसमञ्जसं, व्यापाराद्यशेषकार्यजननासमर्थस्य शरीरिणां [1]चेतनादेरसम्भवात्, संभवे वा [2]शरीरित्वविरोधात्[3]। ततः [4]कार्यविशेषानुपलब्धेः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेः सिध्यत्येव, मृतशरीरादेः[5] परचैतन्यरोगादिनिवृत्तिवत्। यदि पुनरयं[6] निर्बन्धः[7]सर्वत्र विप्रकर्षि[8]कारणाभावा[9]सिद्धे [10]स्वस्या कृतकत्वक्षणक्षयैकान्तसाधनस्याव्यापेरसिद्धेर्न [12]कश्चिद्धेतुः। ततः[13]सौद्धोदनिसिध्यकाभावसमनीभवेत्[14],

---

क्योंकि व्यापार, बंधन, आकार विशेष का अभाव पाया जाता है) इस प्रकार से आगम के आधार से सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् निर्णय कर लेते हैं*।

मीमांसक—व्यापारादि विशेष की उपलब्धि न होने से व्यापारादि को उत्पन्न करने में समर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाने पर भी व्यापारादि को उत्पन्न करने में असमर्थ चेतनादि गुण की व्यावृत्ति—अभाव असिद्ध है। अतः सम्पूर्ण रूप से चेतनादि का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि संसारी जीवों में व्यापार आदि विशेष कार्यों को उत्पन्न करने में असमर्थ ऐसे चेतनादि गुण ही असंभव हैं अथवा यदि कोई मानें भी तो उसमें शरीरी (संसारीपने) का ही विरोध आ जावेगा अर्थात् वह मुक्तात्मा ही हो जावेगा। अतएव कार्य विशेष की उपलब्धि न होने से पृथ्वी आदि में संपूर्ण रूप से चेतनादि गुणों का अभाव सिद्ध ही है। जैसे कि मृतक शरीर एवं नीरोगी आदि में चैतन्य या रोग आदि का अभाव पाया जाता है।

पुनः यदि आप ऐसा कहें कि अदृश्य की अनुपलब्धि रूप हेतु से संपूर्ण रूप से पृथ्वी आदि में चेतन आदि गुण की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है तो फिर सभी जगह विप्रकर्षी—काल से दूरवर्ती और देश के कर्ता आदि परोक्ष पदार्थों के अभाव को भी आप सिद्ध नहीं कर सकेंगे। प्रत्युत आप (मीमांसक) के यहाँ इसका संशयत्व ही सिद्ध हो जावेगा। तथा कृतकत्व हेतु की विनाश—अनित्य के साथ और धूम आदि की अग्नि के साथ व्याप्ति भी नहीं हो सकेगी। अर्थात् "जो नश्वर नहीं है वह कृतक भी नहीं है" और "जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं" इस प्रकार व्यतिरेक रूप से व्याप्ति नहीं बन सकेगी। पुनः कोई भी हेतु साध्य को सिद्ध करने में समर्थ सच्चा हेतु नहीं हो सकेगा। अर्थात्

---

1 ज्ञान। सुखदुःखादि। (ब्या० प्र०) 2 मुक्तत्वप्रसंगः। (ब्या० प्र०) 3 मुक्तात्मवत्। 4 कार्य=व्यापारादि। 5 नीरोगशरीर। (ब्या० प्र०) 6 अदृश्यानुपलम्भात्सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिर्न सिध्यत्येवेति। 7 आग्रहः। बौद्धमतमाश्रित्य मीमांसकस्य निराकरोति। (ब्या० प्र०) 8 रामरावणमेदकर्तादीनाम्। 9 किन्तु सावसिद्धेरेव मीमांसकस्य स्यात्। 10 जैनः। 11 यद्विनाशि न भवति तत्कृतकं न भवति, यथाग्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्तीति च व्यतिरेकव्याप्तेरसिद्धेः। 12 बौद्धमतेऽदृश्यानुपलम्भाभावोसिद्धिर्नास्ति यतः परस्परायत्तसंपृष्टानां परमाणूनां विकल्पबुद्धावप्रतिभासमानत्वेनाभावासिद्धिः। 13 (जैमिनीयानाम्) मीमांसकानाम्। 14 बौद्धमतेऽदृश्यानुपलंभाद्भावस्य सिद्धिर्नास्ति परस्परसंपृष्टानां विकराकरणां परमाणूनां विकल्पबुद्धौ अप्रतिभासमानत्वेनाभावासिद्धेः। अन्यथा। सौद्धोदनिसिध्यकत्वं। (ब्या० प्र०)

[1]अनुमानोच्छेदप्रसंगात्*। न हि जैमिनीयमतानुसारिणो विप्रकर्षिणामर्थानामभावं[2]सिद्धिमनुमन्यन्ते[1], वेदे कर्त्रभावसिद्धिप्रसङ्गात्[4] सर्वज्ञाद्यभावसाधनविरोधाच्च। ते तामनुमन्यमाना वा शौद्धोदनिसिद्धिका एव। न [5]चैषामेतदास्मदीनं[6], अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वात्, साध्यसाधनयोर्व्याप्त्यसिद्धेः[7]। परोपगमाद्व्याप्तिसिद्धेर्नानुमानोच्छेद इति चेन्न, [8]तस्यापि परोपगमान्तरात्सिद्धावनवस्थाप्रसङ्गात् तस्यानुमानात्सिद्धौ परस्पराश्रयप्रसङ्गात्। प्रसिद्धेनुमाने ततः परोपगमस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च ततो व्याप्तिसिद्धेरनुमानप्रसिद्धिरिति। ततो न श्रेयानयं निर्बन्धः सर्वात्मना चेतनाधिगुणध्यावृत्तिः पृथिव्यादेर्न सिद्धयत्येवेति। तत्प्रसिद्धौ च न

यदि बौद्ध मत में "अनुपलंभ" हेतु से अभाव सिद्धि नहीं है तो फिर परस्पर में असंबद्ध परमाणुओं का विकल्प बुद्धि में प्रतिभास न होने से इन परमाणुओं के अभाव को भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे। फिर मीमांसकों के लिए यह सब उनका सिद्धांत स्वयं उनके लिए अहितकर ही हो जावेगा। इस प्रकार अनुमान के भी उच्छेद का प्रसंग आ जावेगा।*

जैमिनीय मतानुसारी जन परोक्षवर्ती पदार्थ के अभाव की असिद्धि को नहीं मानते हैं। अर्थात् दूरवर्ती पदार्थ का अभाव स्वीकार करते हैं।

तथा च वेद के कर्ता के अभाव की असिद्धि का प्रसंग आ जावेगा। अर्थात् वेद का कर्ता मान लेने से आप वेद को अपौरुषेय सिद्ध नहीं कर सकेंगे एवं सर्वज्ञादि के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु में भी विरोध आ जावेगा।

इस प्रकार मानने वाले जैमिनीय लोग भी बुद्ध के ही शिष्य सिद्ध हो जाते हैं परन्तु आपको यह अभीष्ट नहीं है। अर्थात् अनुपलब्धि हेतु से अभाव को नहीं मानने वाले मीमांसक, जैमिनीय आदि के यहाँ यह सभी उपर्युक्त दोष आ जावेंगे। अतः उन लोगों का यह कथन स्वयं ही उनके लिए अहितकर है। और आप लोगों के लिये अनुमान का अभाव भी दुर्निवार है क्योंकि साध्य और साधन में व्याप्ति के सिद्ध न होने से अनुमान कैसे बन सकेगा?

मीमांसक—दूसरों ने व्याप्ति को स्वीकार किया है अतः उनकी स्वीकारता से ही हम व्याप्ति को सिद्ध कर लेंगे तो अनुमान का अभाव नहीं होगा।

जैन—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि दूसरों को भी दूसरे के द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति की सिद्धि मानने से एवं उस अन्य को भी अन्य के द्वारा स्वीकृत प्रमाण से व्याप्ति को मानने से तो अनवस्था दोष आ जावेगा। यदि आप कहें कि व्याप्ति की सिद्धि अनुमान से करेंगे तो परस्पराश्रय दोष का प्रसंग आवेगा।

---

1 अन्यथा। 2 भावसिद्धिरित्यर्थः। 3 अन्यथा। (ब्या० प्र०) 4 ततो वेदस्य सकर्तृकत्वं स्यात्। 5 प्रतिपादनम्। 6 स्वकीयम्। 7 अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वम्। 8 विप्रकृष्टदेशे। (ब्या० प्र०)

बुद्धिहान्या [1]हेतोर्व्यभिचारः, तस्याः सपक्षत्वात्। तथा हि। यस्य [2]ज्ञानमतिशयवत्तो तस्य कुतश्चित्तत्त्वीत्यना व्यावृत्तिः, यथा बुद्ध्यादिगुणस्यात्मनः[3]। तथा च दोषावरणहानिरतिशयवती [4]कुतश्चिन्निवर्तयितुमर्हति [5]सकलं [6]जनमकलंकमिति कथमकलंक[7]सिद्धिर्न स्यात् ?॥

अर्थ—अनुमान के सिद्ध होने पर उस अनुमान से परोपगमप्रमाण की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उससे व्याप्ति की सिद्धि होगी पुनः व्याप्ति की सिद्धि होने से अनुमान की सिद्धि होगी।

इसलिए यह आपका कथन श्रेयस्कर नहीं है कि सम्पूर्ण रूप से पृथ्वी आदि में चेतना आदि गुणों की व्यावृत्ति सिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध ही है एवं पृथ्वी आदि में चेतना आदि की संपूर्णतया व्यावृत्ति के सिद्ध हो जाने पर बुद्धि की हानि से हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है क्योंकि बुद्धि को भी यहाँ हमने सपक्ष में ले लिया है। तथाहि—

जिसकी हानि अतिशय रूप से है उसका कहीं न कहीं कारणपूर्ण रूप से अभाव पाया ही जाता है। जैसे कि पाषाण में से बुद्धि आदि का सर्वथा अभाव पाया जाता है और उसी प्रकार अतिशयवान् दोष आदि की हानि भी किसी आत्मा से संपूर्ण ज्ञानावरण आदि कर्म को पृथक् करती ही है। इस प्रकार से कर्मकलंक रहित भगवान् की अथवा अकलंक देव के वचनों की सिद्धि कैसे नहीं होगी ? अर्थात् कर्मकलंक रहित सर्वज्ञ देव की भी सिद्धि होती है और अकलंक देव के वचन की भी सिद्धि होती ही है॥

आक्षेप—शंकाकार को यह कहना है कि आप जैनों ने किसी न किसी जीव विशेष में दोष और आवरण का परिपूर्णतया अभाव सिद्ध करने के लिए "अतिशायन" हेतु दिया है यह व्यभिचारी है क्योंकि जीवों में बुद्धि की भी तरतमता देखी जाती है अतः किसी न किसी जीव विशेष में बुद्धि का भी सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा।

इस पर जैनाचार्यों ने सुंदर ढंग से समाधान कर दिया है। वे कहते हैं कि मिट्टी के ढेले, पत्थर आदि में चैतन्य गुणों का अभाव हो जाने पर अर्थात् जीवात्मा के निकल जाने पर उन मिट्टी आदि में से बुद्धि का भी सर्वथा अभाव हो जाता है क्योंकि बुद्धि—ज्ञान यह आत्मा का ही गुण है। इस पर पुनः शंकाकार कहता है कि चैतन्य आत्मा तो अमूर्तिक होने से अदृश्य है पुनः इसी मिट्टी के ढेले में से यह आत्मा निकल गई है, यह मिट्टी सर्वथा निर्जीव हो गई है इसका निर्णय कैसे होगा ? क्योंकि जो चीज दिखती नहीं है उसके सद्भाव या अभाव का निर्णय करना असंभव है। आचार्य कहते हैं यह बात सर्वथा एकान्त रूप से घटित नहीं हो सकती है कि अदृश्य का अभाव न माना जा सके। देखिये ! मृतक मनुष्य के शरीर की अदृश्य भी चेतना निकल गई है इस बात का निर्णय कुशल वैद्य सहज ही

---

1 अतिशायनादित्यस्य। (ब्या० प्र०) 2 ज्ञानाज्ञात् 3 आत्मनः। 4 ज्ञानावरणम्। 5 सीमातीतं वा। (ब्या० प्र०) 6 अकलङ्कस्य = परमसर्वज्ञस्याकलङ्कदेवस्य वचसो वा। 7 सिद्धिः।

कर देता है तभी तो व्यवहारी जन उस मृतक कलेवर को जला देते हैं एवं वैद्य लोग ज्वर आदि रोगों का अभाव भी सिद्ध करते हैं तभी तो अब यह स्वस्थ हो गया है ऐसा निर्णय होता है।

यदि कोई कहे कि दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रि तिर्यंच मनुष्य आदि के शरीर से आत्मा निकल गई है इस बात का निर्णय करना तो सहज है किन्तु एकेन्द्रिय पृथ्वी जल आदि में से आत्मा निकल गई है इसका निर्णय करना असम्भव है क्योंकि पृथ्वी आदि में चेतना आदि के रहते हुये भी हलन, चलन आदि चेष्टायें, श्वासोच्छ्वास, वचन-व्यवहार आदि बाह्य व्यापार असम्भव हैं अतः इनमें से चेतना निकल चुकी है यह कहना अशक्य है। इस पर भी आचार्य कहते हैं कि एकेन्द्रिय स्थावर में भी चैतन्य के विद्यमान रहने से पृथ्वीकायिक आदि में वृद्धि व वनस्पतिकायिक के हरे-भरे रहने से जीवितपने का अनुमान किया जाता है एवं सूखे आदि हो जाने पर निर्जीव का अनुमान स्पष्ट है तथा च आगम के के द्वारा भी हम इन स्थावरकायिक जीवों के शरीर को अचेतन समझ सकते हैं।

राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में पाँचों ही स्थावर जीवों के ४-४ भेद माने हैं। यथा पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक एवं पृथ्वी जीव। सामान्य पृथ्वी को 'पृथ्वी' कहते हैं। पृथ्वीकायिक जीव के निकल जाने पर जो पृथ्वी कलेवर रूप से रह जाती है उसे 'पृथ्वीकाय' कहते हैं। पृथ्वीकायिक नाम कर्म के उदय को लेकर जिसमें एकेन्द्रिय जीव विद्यमान है ऐसी खान आदि की पृथ्वी को 'पृथ्वीकायिक' कहते हैं एवं विग्रहगति अवस्था में विद्यमान जीव को 'पृथ्वीजीव' कहते हैं। इन चारों में से पृथ्वी एवं पृथ्वीकाय ये दो भेद तो निर्जीव हैं एवं पृथ्वीकायिक तथा पृथ्वीजीव ये दो भेद सजीव हैं। इन दोनों में भी विग्रह गति के जीव की विराधना का तो प्रसंग ही नहीं आता है केवल पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा का प्रसंग आता है। हाँ! विग्रह गति के जीवों की भाव हिंसा का प्रसंग आ सकता है। ऐसे ही जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन चारों के भी चार-चार भेद समझने चाहिये।

आचार्य ने इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार से मृतक शरीर से चैतन्य निकल गया है एवं स्वस्थ शरीर से रोग का अभाव हो गया है वैसे ही मिट्टी के ढेले आदि से संपूर्ण रूप से चैतन्य निकल चुका है वे सर्वथा निर्जीव हैं। जैसे कृतकत्व हेतु पदार्थ को विनाशीक सिद्ध करता है धूम हेतु अप्रत्यक्ष—नहीं दिखती हुई अग्नि को सिद्ध करता है अतः इन कृतकत्व, धूमत्व हेतुओं की विनश्वर और अग्नि के साथ व्याप्ति सिद्ध है। यद्यपि यह व्याप्ति अदृश्य है फिर भी प्रमाणीक है अन्यथा अनुमान ज्ञान का अवतार ही नहीं हो सकेगा। वैसे ही पृथ्वी आदि से चैतन्य आदि गुणों का अभाव भी सिद्ध है अतः पत्थर आदि में भी बुद्धि का भी सर्वथा अभाव हो जाने से हमारा "अविनाभाव" हेतु व्यभिचारी नहीं है।

राग, द्वेष आदि रूप जो भावकर्म हैं वे तो दोष हैं और ज्ञानावरण आदि जो द्रव्यकर्म हैं वे आवरण कहलाते हैं इन दोष और आवरणों का भी किसी न किसी जीव में सर्वथा अभाव हो सकता है

[कर्मद्रव्यस्य प्रध्वंसाभावरूपाभावे मन्यमाने सति दोषारोपणं, स्याद्वादिभिस्तद्दोषनिराकरणं]

[1]ननु च यदि [2]प्रध्वंसाभावो हानिस्तदा सा पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादेः कर्मद्रव्यस्य न संभवत्येव नित्यत्वात्[3]तत्पर्यायस्य तु [4]हानावपि[5]कुतश्चित्[6]पुनः [7]प्रादुर्भावान्न निश्शेषा हानिः स्यात्। निश्शेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापि हानिप्रसङ्गः, तस्य तदविनाभावात्। तथा च निरन्वयविनाशसिद्धेरात्मादि[8]द्रव्याभावप्रसङ्ग इति [9]कश्चित् सोऽप्यनवबुद्धसिद्धान्त एव। यस्मात्, [10]मणेर्मलादेर्व्यावृत्तिः [11]क्षयः, सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। सापूगात्मनीपि [12]कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः*। प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता। सा च व्यावृत्तिरेव मणेः

क्योंकि सभी संसारी जीवों में इन दोनों की तरतमता देखी जाती है अतः कर्म कलंक रहित—अकलंक-निर्दोष परमात्मा की सिद्धि हो जाती है और अकलंकदेव के निर्दोष वचनों की भी सिद्धि हो जाती है।

[कर्मद्रव्य का प्रध्वंसाभावरूप अभाव मानने पर दोषारोपण एवं स्याद्वादी द्वारा उन दोषों का निराकरण]

तटस्थ जैन—यदि प्रध्वंसाभाव रूप अभाव (हानि) आपको इष्ट है तो फिर वह हानि पुद्गल रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म में संभव नहीं है क्योंकि द्रव्यरूप से पुद्गल द्रव्यकर्म नित्य है।

यदि पुद्गल द्रव्य के पर्याय की हानि मानो तो भी किसी कारण से पुनः उस पर्याय की उत्पत्ति होने से निःशेष—संपूर्ण हानि नहीं हो सकेगी अथवा निःशेष कर्म पर्याय की हानि होने पर कर्मद्रव्य की भी हानि का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि कर्मरूप पर्याय का कर्मद्रव्य (पुद्गल) के साथ अविनाभाव पाया जाता है। उसी प्रकार से निरन्वय विनाश होने से आत्मादि द्रव्य के अभाव का भी प्रसंग हो जावेगा।

आचार्य—आपने भी सिद्धांत को ठीक से समझा नहीं है क्योंकि मणि से मलादि का पृथक्करण होना ही क्षय माना गया है। अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का अलग हो जाना ही क्षय है इस बात को सैद्धांतिक लोगों ने स्वीकार किया है क्योंकि सत् (विद्यमान) पदार्थ का अत्यन्त विनाश नहीं हो सकता है। उसी प्रकार सत् स्वरूप आत्मा से भी कर्मों का पृथक्करण हो जाने पर आत्मा में परिपूर्ण शुद्धि हो जाती है।*

यहाँ पर प्रध्वंसाभाव रूप क्षय को ही हानि शब्द से स्वीकार किया है और मणि से मलादि की अथवा कनक पाषाण से किट्ट कालिमा आदि की व्यावृत्ति ही पाई जाती है न कि अत्यंत विनाश। क्योंकि अत्यन्त रूप से विनाश माना जाए तो प्रश्न यह उठता है कि अत्यन्त विनाश द्रव्य का होता है या पर्याय का? द्रव्य का तो हो नहीं सकता क्योंकि द्रव्य नित्य है और न पर्याय का ही हो सकता है

---

1 तटस्थो जैनः। 2 ध्वस्याभवनलक्षणः। 3 द्रव्यत्वेन। 4 द्रव्यत्वेन तद्भावात् निःशेषहानिर्मास्तु। (व्या० प्र०) 5 मिथ्यादर्शनादिकारणात्। (व्या० प्र०) 6 कारणात्। 7 तत्पर्यायस्य। 8 तस्यापि कर्मपर्यायहानौ सत्यां तस्यापि हानिः स्यात्। (व्या० प्र०) 9 सौगतो बुद्धो वा। (व्या० प्र०) 10 सकाशात्। 11 एकस्मादितीयस्य व्यावृत्तिरेव क्षय इष्यते सैद्धान्तिकानाम्। 12 कर्मणां इति पा.। (व्या० प्र०)

कनकपाषाणाद्वा मलस्य [1]किट्टादेर्वा। पुनरत्यन्तविनाशः। स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा ? न तावद्द्रव्यस्य, नित्यत्वात्। नापि पर्यायस्य द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात्। तथा हि। विवादापन्नं मण्यादौ मलादि [2]पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवं, [3]सत्त्वान्यथानुपपत्तेः[4]।

[शब्दविद्युद्दीपादयोऽपि कथंचित्नित्याः संति]

[5]शब्देन व्यभिचार[6] इति चेत्, तस्य द्रव्यतया ध्रौव्याभ्युपगमात्। विद्युत्प्रदीपादिभिरनेकान्त[7] इत्ययुक्तं, तेषामपि द्रव्यत्वतो[8] ध्रुवत्वात्, क्षणिकैकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधस्याभिधानात्। ततो यादृशी मण्यादेर्मलादेर्व्यावृत्तिर्हानिः परिशुद्धिस्तादृशी जीवस्य कर्मणां

क्योंकि पर्याय भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य है अर्थात् पर्याय से भिन्न द्रव्य या द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं है। तथाहि "मणि आदि में विवादापन्न मलादि पर्याय रूप से अनित्य होते हुये भी द्रव्य रूप से ध्रुव हैं क्योंकि अस्तित्व की अन्यथानुपपत्ति है।" अस्तित्व की अन्यथानुपपत्ति है इसका अभिप्राय यह है कि ध्रौव्य के बिना सत् रह नहीं सकता।

[शब्द, विद्युत, दीपक आदि भी कथंचित् नित्य हैं।]

शंका—शब्द के साथ व्यभिचार आता है यथा—"शब्द नश्वर है क्योंकि सत्रूप है।" यहाँ यह सत्त्वान्यथानुपपत्ति रूप हेतु शब्द को नश्वर ही सिद्ध करता है न कि ध्रौव्य।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है। शब्द भी द्रव्य रूप से ध्रौव्य हैं ऐसा हमने स्वीकार किया है।

शंका—विद्युत् दीपक आदि से भी व्यभिचार आता है अर्थात् बिजली, दीपक आदि का अस्तित्व होते हुये भी द्रव्य रूप से ध्रौव्यपने का अभाव है। इसलिए आपका अस्तित्व हेतु व्यभिचारी है क्योंकि बिजली, दीपक आदि सर्वथा नष्ट होते हुए देखे जाते हैं।

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है। बिजली दीपक आदि भी पुद्गल द्रव्य होने से द्रव्यरूप से ध्रौव्य ही हैं क्योंकि क्षणिक एकांत में सर्वथा ही अर्थक्रिया का विरोध है ऐसा कहा गया है। इसलिये जैसे मणि से मलादि की व्यावृत्ति रूप हानि ही परिपूर्ण शुद्धि कहलाती है वैसे ही जीव के कर्मों की निवृत्ति रूप हानि भी परिपूर्ण शुद्धि कहलाती है।

---

1 यथा व्यावृत्तिरिति शेषः। 2 पर्यायैः सर्वथा नश्वरस्य तद्रूपार्थतस्तस्य भावस्तता। (ब्या० प्र०) 3 ध्रौव्यमन्तरेण। 4 नश्वरात्सत्त्वस्तत्त्वेकत्वाभावे। (ब्या० प्र०) 5 शब्दबुद्धिकर्मणां विनश्वरत्वादस्थायित्वं। (ब्या० प्र०) 6 शब्दो नश्वरः सत्त्वादित्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। किं तात्पर्यम् ? सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूपो हेतुः शब्दस्य नश्वरत्वमेव साधयति, न तु ध्रौव्यमित्यर्थः। 7 विद्युदादीनां सत्त्वेऽपि द्रव्यार्थतया ध्रौव्याभावादनेकान्त इत्यर्थः। 8 पुद्गलद्रव्यत्वतः।

निवृत्तिर्हानिः। तस्यां च सत्यामात्यन्तिकी शुद्धिः सम्भाव्यते, सकलकर्मपर्यायविनाशेपि [1]कर्मद्रव्यस्याविनाशात्[2]स्याकर्म[3]पर्यायाक्रान्ततया परिणमनाद्, मलद्रव्यस्य मलात्मकपर्यायतया निवृत्तावप्यमलात्मक[4]पर्यायाविष्टतया[5] परिणमनवत्। तदेतेन[6] [7]तुच्छः प्रध्वंसाभावः [8]सर्वत्र प्रत्याख्यातः, कार्योत्पादस्यैव पूर्वाकारक्षयरूपत्वप्रतीतेः। समर्थयिष्यते चैतत् "कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्" [9]इत्यत्र। +तेन अन्धेःकैवल्यमेव मलाभावैकलक्षणम्।

सकल कर्म पर्याय का विनाश होने पर भी कर्मद्रव्य का विनाश नहीं होता है वह कर्मद्रव्य अकर्मपर्याय रूप परिणमन कर जाता है। अर्थात् पुद्गल द्रव्य वर्गणायें ही आत्मा के रागादिभाव का आश्रय लेकर कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं और आत्मा को परतंत्र बना देती हैं। कदाचित् उस आत्मा से अलग होकर कर्मरूप अवस्था को छोड़कर पुनः पुद्गल रूप ही हो जाती हैं इस प्रकार सिद्धांत वचन है। जैसे कि मणि से मलद्रव्य का मलात्मक पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अमलात्मक (अन्यपुद्गल) पर्याय रूप से परिणमन हो जाता है।

इसी कथन से जो तुच्छाभाव रूप प्रध्वंसाभाव को स्वीकार करते हैं उनका भी खण्डन कर दिया गया है क्योंकि कार्य का उत्पाद ही पूर्वाकार के क्षय रूप से प्रतीति में आता है।

इसी का आगे "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" इत्यादि कारिका में समर्थन करेंगे।

भावार्थ—शंकाकार का कहना है कि यदि आप जैन ज्ञानावरण आदि कर्मद्रव्य का प्रध्वंस होना रूप अभाव स्वीकार करोगे तब तो सिद्धान्त से विरोध आ जावेगा क्योंकि पौद्गलिक कर्म द्रव्य रूप कार्माण वर्गणाओं का सर्वथा अभाव हो नहीं सकता है। जैन सिद्धांत में सभी द्रव्यों को नित्य माना गया है अतः कर्मद्रव्य का नाश असंभव है। यदि कर्मपर्याय का नाश मानो तो भी एक पर्याय का नाश दूसरी पर्याय के उत्पाद रूप से होता है अतः एक कर्म पर्याय नष्ट होकर दूसरे कर्मरूप परिणत हो जावेगी। पुनः किसी जीव में सम्पूर्णतया कर्मों का अभाव सिद्ध करना अशक्य ही है। अथवा कर्म पर्याय का सम्पूर्णतया नाश मान भी लोगे तो भी कर्मद्रव्य का अभाव दुर्निवार हो जावेगा क्योंकि कोई भी पर्याय अपने द्रव्य को छोड़कर रह नहीं सकती है अतः सर्वथा पर्याय के अभाव में द्रव्य का अभाव भी मानना पड़ेगा और द्रव्य का अभाव मान लेने पर तो आप निरन्वय विनाशवादी बौद्ध ही बन जावेंगे।

---

1 पुद्गलद्रव्यात्मनि पारतंत्र्यं करोति तथा कर्मत्वपरिणामः पारतंत्र्यं न करोति तथाप्रकर्मत्वपरिणामः पुद्गलद्रव्यमेव। (ब्या० प्र०) 2 कर्मद्रव्यस्य। 3 पुद्गलद्रव्यस्वात्मनि पारतन्त्र्यकरणे कर्मत्व-परिणामसाधकत्वेऽकर्मत्वपरिणाम इति सिद्धान्तः। 4 यथा घटपटादिः। 5 आक्रांतत्वेन। (ब्या० प्र०) 6 अनेनैकान्तिरित्यादिदूषणत्वेन। (ब्या० प्र०) 7 सर्वथा निरन्वयः। (ब्या० प्र०) 8 बौद्धौ। (ब्या० प्र०) 9 कारिकायाम्। +व्याख्या अष्टसहस्री प्रति में "तेन.....कैवल्यम्" पंक्ति अशुद्ध है सम्पा० ब. क. स. मु. अष्टसही एवं दिल्ली अष्ट स. प्र. में तथा मु. अष्ट स. में भी नहीं है।

[बुद्धेर्विनाशः सर्वथा भवति न वा ?]

कर्मणोपि कैवल्यमात्मवत्कर्मक्षयादेव ततो [1]नातिप्रसज्यते*। द्रव्यार्थतया बुद्धेरात्मन्यप्यविनाशात्सर्वात्मना परिक्षयाप्रसङ्गात् पर्यायार्थतया परिक्षयेपि सिद्धान्ताविरोधात्। [2]ननु च यथा कर्मद्रव्यस्य कर्मस्वभावपर्यायनिवृत्तावप्यकर्मात्मकपर्यायरूपतयावस्थानं तथात्मनो बुद्धिपर्यायतया निवृत्तावप्यबुद्धिकपर्यायतयावस्थानात् सिद्धान्तविरोध[3] एवेत्यतिप्रसज्यते इति [4]चेन्न, वैषम्यात्[5]। कर्मद्रव्यं हि पुद्गलद्रव्यम्। तस्यात्मनि पारतन्त्र्यं कुर्वतः

इस पर जैनाचार्यों ने कहा कि जो पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें हैं वे जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर कर्मरूप पर्याय से परिणत हो जाती हैं उन कर्मरूप वर्गणाओं का जीव से पृथक् होना ही अभाव है जीव से पृथक् होकर ये कर्मरूप वर्गणायें कर्मपर्याय को छोड़कर अकर्म—पुद्गल रूप परिणत हो जाती हैं अतः एक पर्याय का विनाश होने पर भी अकर्म रूप दूसरी पर्याय का उत्पाद हो जाने से पुद्गल द्रव्य के अभाव का प्रसंग नहीं आता है। जैसे पुद्गल की पर्याय रूप प्रकाश का विनाश होकर अंधकार रूप पुद्गल की पर्याय प्रकट हो जाती है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है कि "दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति" इसलिये द्रव्य कर्म रूप पुद्गल द्रव्य का सर्वथा विनाश न होकर कर्म पर्याय का ही विनाश होना सिद्ध हो गया।

[बुद्धि का सर्वथा विनाश होता है या नहीं ?]

अग्नि का केवल अपने स्वरूप से रहना ही स्वाभाविक से विकल होना है उसी प्रकार आत्मा के कर्मों की विकलता ही उसकी कैवल्य-स्वस्वरूप की प्राप्ति है इसलिए अतिप्रसंग दोष नहीं आता है।* अर्थात् जैसे कर्म से विकल होने पर भी आत्मा की कैवल्य अवस्था है उसी प्रकार बुद्धि की विकलता होने पर भी आत्मा की कैवल्य अवस्था बनी रहे यह अतिप्रसंग दोष नहीं होता है।

द्रव्य रूप से आत्मा में बुद्धि का विनाश नहीं होता है अतः संपूर्ण रूप से ज्ञान का प्रसंग नहीं आता है परन्तु पर्याय रूप से नाश होने पर भी सिद्धांत से विरोध नहीं आता है। अर्थात् द्रव्य रूप से ज्ञान सामान्य आत्मा का गुण है और वह द्रव्य में अन्वय रूप से सतत मौजूद रहता है अतः द्रव्य रूप से ज्ञान का नाश मानने पर आत्मा का ही अभाव हो जावेगा परन्तु ऐसा नहीं होता और पर्याय रूप से अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय रूप क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा से विनाश मानने पर भी सिद्धांत में विरोध नहीं आता है क्योंकि अर्हंत अवस्था में क्षयोपशमिक ज्ञानों का अभाव स्वीकार किया है।

---

1 निःशेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापीत्यादिनोक्तप्रकारेण। यथा कर्मवैकल्येप्यात्मकैवल्यं तथा बुद्धिवैकल्येप्यात्मकैवल्यमस्तीति नातिप्रसङ्गो मैवं भावः। 2 सौगतः। 3 ज्ञानादिरहितस्वेवात्मनोऽवस्थानं वैशेषिकाः। (ब्या० प्र०) 4 जैनः। 5 दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः।

कर्मत्वपरिणामस्तद्[1]कुर्वतोऽकर्मत्वपरिणामेनावस्थानं, [2]रूपादिमत्त्वसामान्यलक्षणत्वात्[3]पुद्गलद्रव्यस्य[4] [5]कर्मत्वलक्षणत्वाभावादविरुद्धमभिधीयते[6]। [7]बुद्धिद्रव्यं तु जीवः। [8]तस्य बुद्धिः पर्यायः। तत् सामान्यं लक्षणम्, "उपयोगो[9] लक्षणम्" इति वचनात्। न च लक्षणाभावे लक्ष्यमवतिष्ठते[10], [11]तस्य [12]तदलक्षणत्वप्रसक्तेर्येनाबुद्धिपर्यायात्मकतयावस्थानं जीवस्य निःशेषतो बुद्धिपरिक्षयेप्यविरुद्धं स्यात्[13]।

[अज्ञानादिदोषाणामभावो कथं भविष्यति ?]

[14]नन्वेवमज्ञानादेर्दोषस्य पर्यायार्थतया हानिर्निःशेषा सिध्येदावरणवन्न[15] पुनर्द्रव्यार्थतया

बौद्ध—जैसे कर्मद्रव्य का कर्म पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अकर्मात्मक पर्याय रूप से अवस्थान पाया जाता है। उसी प्रकार आत्मा के भी बुद्धिपर्याय का विनाश हो जाने पर अबुद्धि रूप पर्याय से उसका अवस्थान होने से सिद्धान्त में विरोध आ ही जावेगा।

जैन—दृष्टांत और दार्ष्टांत में विषमता होने से आपका यह कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि कर्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य है और वह आत्मा को परतन्त्र करते हुए कर्म रूप से परिणमन करता है तथा आत्मा को परतन्त्र न करते हुए अकर्मत्व रूप से परिणमित होकर अवस्थित रहता है। किसी भी द्रव्य का अत्यन्त विनाश नहीं होता है क्योंकि पुद्गल द्रव्य वर्ण, रस, गन्ध स्पर्श रूप सामान्य लक्षण वाला है। कर्म रूप लक्षण का उसमें अभाव होने से विरोध नहीं आता है पर द्रव्य-जीवद्रव्य के निमित्त से ही वह पुद्गल विभाव रूप परिणमन करके कर्म बनता है पुनः कर्मपर्याय का अभाव होने पर अपने स्वभाव में आ जाता है किंतु बुद्धि द्रव्य तो जीव है। बुद्धि उस जीव की पर्याय है और वह जीव का सामान्य लक्षण है।

"उपयोगो लक्षणम्" यह सूत्रकार का वचन है और लक्षण के अभाव में लक्ष्य भी नहीं रह सकता है। अन्यथा लक्ष्यभूत जीव उपयोग लक्षण से रहित लक्षण शून्य हो जावेगा अतः जीव में निःशेष रूप से बुद्धि का परिक्षय हो जाने पर भी अबुद्धि का पर्यायात्मक रूप से अवस्थान होवे और इसमें विरोध न आवे ऐसा नहीं हो सकता है। अर्थात् यह बात विरुद्ध ही है।

[अज्ञानादि दोषों की हानि कैसे होगी ?]

मीमांसक—इस प्रकार से सत् पदार्थ का अत्यन्त रूप से विनाश न होने से "अज्ञानादि दोष

---

1 आत्मनि परतंत्रत्वं इति दिल्लीप्रतौ। (ब्या० प्र०) 2 आदिपदेन रसगन्धवर्णाः। 3 स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः। (ब्या० प्र०) 4 पुद्गलद्रव्यं हि द्वेधा अणुस्कंधभेदात् तत्र प्रदेशमात्रस्पर्शादिपर्यायप्रसक्तसामर्थ्येनाप्यंते शब्दायंते इति अणव इति निरुक्तिवशात् अणवः स्पर्शादिमंतः स्कंधास्तु शब्दादिमंतः स्पर्शादिमंतश्चेति अत्र पुद्गलद्रव्यमिति अणव एव गृह्यंते। (ब्या० प्र०) 5 आत्मा कुरुते सद्भावं तत्परदा पुग्गला सहावेहिं। गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णपदेसमवगाढं। (ब्या० प्र०) 6 सिद्धांते इति वि. प्र.। 7 तत्। (ब्या० प्र०) 8 जीवस्य इति वि. प्र.। 9 ज्ञानदर्शने। (ब्या० प्र०) 10 अन्यथा। (ब्या० प्र०) 11 लक्षणस्य। 12 तद्-लक्ष्यम्। 13 अपि तु न स्यात्। 14 सतोऽत्यन्तविनाशानुपपत्तिप्रकारेण। 15 आत्म। (ब्या० प्र०)

बुद्धिवत्। ततो दोषसामान्यस्यात्मन्यवस्थानान्न निर्दोषत्वसिद्धिरित्यपरः[1], सोप्यतत्त्वज्ञ एव, यतः प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुकी [2]अमः [3]परिक्षयी [4]स्वनिर्हासनिमित्त[5]-[6]विवर्द्धनवशात्*।

[आत्मनः परिणामो कतिविधः ?]

द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः स्वाभाविक आगन्तुकश्च। तत्र स्वाभाविकोनन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात्। [7]मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः, [8]कर्मोदयनिमित्तकत्वात्। स चात्मनः प्रतिपक्ष एव। ततः परिक्षयी। तथा हि। यो[9] यत्रागन्तुकः स तत्र स्वनिर्हासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी। यथा [10]जात्यहेम्नि ताम्रादिमिश्रणकृतः [11]कालिकादिः। आगन्तुकश्चात्म-

---

की पर्याय रूप से ही निःशेष हानि होगी जैसे की आवरण की होती है, न पुनः द्रव्य रूप से बुद्धि के समान।" इससे आत्मा में दोष सामान्य का अवस्थान रहने से निर्दोषपने की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

जैन—आपने तत्त्व को नहीं समझा है। आत्मा के आगन्तुक कमल-अज्ञानादि दोष प्रतिपक्षी ही हैं और वे परिक्षयी हैं क्योंकि उनके विनाश के निमित्त भूतसम्यग्दर्शनादि की वृद्धि पायी जाती है।*

[आत्मा के परिणाम कितने प्रकार के हैं ?]

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक और आगंतुक। उसमें अनंतज्ञानादि गुण स्वाभाविक परिणाम हैं क्योंकि वे आत्मा के स्वरूप हैं। अज्ञानादि मल आगन्तुक परिणाम हैं क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के निमित्त से होते हैं। वे आगंतुक परिणाम आत्मा के प्रतिपक्षी ही हैं इसीलिए परिक्षयी—क्षय होने वाले हैं। तथाहि—

"जो जहाँ पर आगंतुक है वह वहाँ पर अपने विनाश के निमित्त की वृद्धि के कारण मिल जाने पर क्षय होने वाला है जैसे उत्कृष्ट स्वर्ण में ताँबे आदि के मिश्रण से होने वाली कालिमा आदि। आत्मा में अज्ञानादि मल आगंतुक हैं इसीलिए वे परिक्षयी हैं" यह स्वभाव हेतु है। हमारा यह 'स्वनिर्हासनिमित्तविवर्द्धनवशात्' हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि "जो जहाँ पर कादाचित्क है वह वहाँ पर आगंतुक है जिस प्रकार स्फटिकमणि में लाल आदि आकार।" तथा आत्मा में दोष कादाचित्क हैं। और हमारा यह कादाचित्क हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि सम्यग्ज्ञानादि गुणों के प्रकट होने पर आत्मा में दोषों का उद्भव नहीं देखा जाता है।

---

1 मीमांसकः। 2 अज्ञानादिर्दोषः। 3 पृथक्करणमेव क्षयः। 4 ता। (ब्या० प्र०) 5 निर्हासो विनाशः। 6 मलनिर्हासस्य निमित्तं सम्यग्दर्शनादिगुणस्तस्य विवर्द्धनवशाद्धेतोः। 7 आत्मनि अज्ञानादिर्मलः पक्षः। आगंतुको भवतीति साध्यो धर्मः। कर्मोदयनिमित्तकत्वान्यथानुपपत्तेः वि. प्र.। 8 कर्म ज्ञानावरणादि। 9 अज्ञानादिर्मल आत्मनि स्वनिर्हासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी, आगन्तुकत्वादित्यभ्युपगन्तव्यम्। 10 पीतवर्णे। (ब्या० प्र०) 11 स्वनिर्हासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी असिद्धः।

न्यज्ञानादिर्मलः । इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः । कथम् ? यो[1] यत्र कादाचित्कः स तत्राऽऽगन्तुकः । यथा स्फटिकात्मनि लोहिताद्याकारः । कादाचित्कश्चात्मनि[2] दोष इति । न[3]चेदं कादाचित्कत्वमसिद्धं, सम्यग्ज्ञानादिगुणाविर्भावदशायामात्मनि दोषानुपपत्तेः ।

[मीमांसको दोषस्य स्वभावं दोषं मन्यते तस्य निराकरणं]

"ततः [5]प्राक्तत्सद्भावाद्गुणाविर्भूतिदशायामपि[6] तिरोहितदोषस्य सद्भावान्न कादाचित्कत्वं, 'सातत्यसिद्धेरिति चेन्न, [7]गुणस्याप्येवं[8] सातत्यप्रसङ्गात् । तथा[9] च हिरण्य-

---

आत्मार्थ—अंकलंकदेव मीमांसक का कहना है कि जैसे आवरण रूप द्रव्य कर्म पर्याय रूप से ही नष्ट होते हैं। द्रव्यरूप से नहीं यह बात आपने सिद्ध कर दी है। उसी प्रकार से अज्ञान आदि दोष भी पर्याय रूप से ही नष्ट होंगे न कि द्रव्य रूप से और तब आगन्तुक दोषों का द्रव्य रूप से अस्तित्व सदा ही रहेगा पुनः कोई भी आत्मा निर्दोष, सर्वज्ञ कैसे हो सकेगी ?

इस पर जैनाचार्य समाधान करते हैं कि जैन सिद्धान्त में प्रत्येक आत्मा के परिणाम दो प्रकार के माने गये हैं एक स्वाभाविक और दूसरा आगंतुक अथवा वैभाविक। अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि तो आत्मा के स्वाभाविक परिणाम हैं क्योंकि ये आत्मा के ही स्वरूप हैं जैसे कि अग्नि का स्वरूप उष्ण एवं जल का स्वभाव शीतलता है और अज्ञान आदि जो दोष हैं वे आगंतुक हैं क्योंकि ये कर्म के उदय से ही होते हैं ये आत्मा के स्वभाव को ही विकृत करके रहते हैं अतएव इन्हें विभाव भाव भी कहते हैं। ये कर्म के उदय से ही होते हैं अतः इन्हें औपाधिक भाव भी कहते हैं। जब कर्म को नाश करने की सामग्री मिल जाती है तब ये विभावभाव स्वभाव रूप परिणत हो जाते हैं जैसे मिथ्यात्व के अभाव में जीव में सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है।

ज्ञानावरण के अभाव में केवलज्ञान, अंतराय के अभाव में अनंतवीर्य आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। इसलिए ये अज्ञानादि दोष पृथक् कोई द्रव्य नहीं हैं किन्तु जीव के ही विकारी परिणाम हैं विकार के कारणभूत कर्मोदय के पृथक् हो जाने से ये अपने स्वभाव में ही रह जाते हैं साता-असाता वेदनीय का अभाव होने से स्वाभाविक स्वात्मा से ही उत्पन्न अतींद्रिय सुख रह जाता है और इन्द्रिय जन्य वैभाविक सुख दुःख का काम समाप्त हो जाता है। इसी का नाम है दोषों का अभाव।

[मीमांसक दोषों को जीव का स्वभाव मानता है उसका निराकरण ।]

मीमांसक—गुणों के प्रकट होने के पहले दोषों का सद्भाव होने से गुणों की आविर्भूत दशा में भी

---

1 आत्मन्यज्ञानादिर्मल आगन्तुकः कादाचित्कत्वादित्यत्राह यो । 2 आत्मनि दोषः स्यात् आगन्तुको भवतीति शेषो यः कादाचित्कत्वात् तस्मादागन्तुक इति निगमनं वि. प्र.। 3 परः आह इदं कादाचित्कत्वमसिद्धं जैन आह एवं न वि. प्र.। 4 दोषस्वभावत्वं मीमांसकादिकल्पं मीमांसकः प्राह। 5 गुणाविर्भूतेः प्राक्। 6 स दोषः। 7 सहजज्ञानस्य। 8 दोषप्रकारेण। 9 मुक्तस्यापि तिरोहितदोषसद्भावेनाविर्भावात्।

गर्भादिर्वेदार्थज्ञानकालेपि वेदार्थाज्ञानप्रसङ्गः। ज्ञानाज्ञानयोः परस्परविरुद्धत्वादेकत्रैकदा न प्रसङ्ग इति चेत्तत एव सकलगुणदोषयोरेकत्रैकदा प्रसङ्गो मा भूत्। पुनर्दोषस्याविर्भावदर्शनाद्गुणकालेपि सत्तामात्रसिद्धिरिति चेत्तर्हि गुणस्यापि पुनराविर्भूतिदर्शनाद्दोषकालेपि सत्तामात्रसिद्धिः, सर्वथा विशेषाभावात्। तथा चात्मनो दोषस्वभावत्वसिद्धिवद्गुणस्वभावत्वसिद्धिः कुतो निवार्यते? विरोधादिति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिरेव निवार्यतां, [1]तस्य गुणस्वभावत्वसिद्धेः। कुतः [2]सेति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिः[3] कुतः? संसारित्वान्यथानुपपत्ते-

---

तिरोहित (ढके हुए) दोषों का सद्भाव पाया जाता है अतः दोष कादाचित्क नहीं हैं किन्तु उनकी नित्यता ही सिद्ध होती है। अर्थात् मीमांसक कहता है कि दोष जीव का स्वभाव है क्योंकि वह आत्मा में हमेशा ही पाया जाता है गुण तो दोष के अभाव में यानी तिरोहित होने पर होते हैं अतः वे पर निमित्तक हैं।

जैन—यह ठीक नहीं है क्योंकि दोष के समान गुणों को भी नित्यपने का प्रसंग आवेगा। अर्थात् गुणों के सद्भाव के समय भी तिरोहित रूप से दोषों का सद्भाव मानना पड़ेगा तब गुणों के सद्भाव के काल में भी ढके हुए दोषों का सद्भाव स्वीकार करने पर ब्रह्मा आदि को वेदार्थ के ज्ञान के समय भी वेद के अर्थ के अज्ञान का प्रसंग आ जावेगा।

मीमांसक—ज्ञान और अज्ञान का परस्पर में विरोध होने से एक जीव में एक समय में दोनों नहीं रह सकते हैं।

जैन—उसी प्रकार सकल गुण और दोष का भी एक जीव में एक समय में प्रसंग नहीं होना चाहिए।

मीमांसक—पुनः दोषों का आविर्भाव देखा जाता है अतः गुण के काल में भी दोषों की सत्ता मात्र सिद्ध होती है।

जैन—तो गुण का भी आविर्भाव देखे जाने से दोष के काल में भी गुणों की सत्ता मात्र सिद्धि क्यों न हो जावे क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं है फिर आत्मा के दोष स्वभाव की सिद्धि के समान गुण स्वभावपने की सिद्धि का निवारण भी कैसे हो सकता है?

मीमांसक—विरोध होने से अर्थात् दोष और गुण परस्पर विरोधी हैं ये दोनों स्वभाव जीव के कैसे हो सकेंगे? परस्पर विरोधी दो स्वभावों का एक जगह एक काल में रहने में विरोध है।

जैन—यदि ऐसी बात है तो दोष स्वभाव का ही निवारण कीजिये और जीव का गुणस्वभाव है। ऐसा ही स्वीकार कीजिये।

मीमांसक—आत्मा का स्वभाव गुण है यह बात हम किस प्रमाण से मानें?

जैन—आत्मा का स्वभाव दोष है यह बात भी हम किस प्रमाण से मानें?

---

1 आत्मनः। 2 आत्मनो गुणस्वभावत्वसिद्धिः। 3 आत्मनः। 4 आत्मनो दोषस्वभावत्वमन्तरा संसारित्वं न स्यात्ततो दोषस्वभावत्वसिद्धिरिति मीमांसकः।

रिति [1]चेत्तत्संसारित्वं सर्वस्यात्मनो यद्यनाद्यनन्तं तदा [2]प्रतिवादिनोऽसिद्धं, प्रमाणतो मुक्तिसिद्धेः ।

[क्वचिदात्मनि संसारस्याभावो भवतीति जैनाचार्याः साधयंति]

[3]कुत इति चेदिमे [4]प्रवदामः । क्वचिदात्मनि संसारोत्यन्तं निवर्तते [5]तत्कारणात्यन्तनिवृत्यन्यथानुपपत्तेः । संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादिकमुभयप्रसिद्धं [6]क्वचिदत्यन्तनिवृत्तिमत्, तद्विरोधिसम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भावात् । यत्र यद्विरोधिपरमप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तनिवृत्तिमद्भवति । यथा चक्षुषि तिमिरादि[7] । नेदमुदाहरणं साध्यसाधनधर्मविकलं, कस्यचिच्च-

---

मीमांसक—संसारीपने की अन्यथानुपपत्ति होने से अर्थात् आत्मा के दोषस्वभाव के बिना संसारीपना बन नहीं सकता है इसलिए दोष आत्मा का स्वभाव है यह बात सिद्ध हो जाती है।

जैन—यदि संसारीपना सभी जीवों के अनादि और अनंत होवे तब तो प्रतिवादी जैन के लिए यह हेतु असिद्ध है क्योंकि प्रमाण से हमारे यहाँ मुक्ति की सिद्धि होती है। अर्थात् सभी के संसारावस्था सदा नहीं रहती किन्तु अनेक जीव संसार का अभाव कर शुद्ध, सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करते हैं ऐसा हमारा निश्चित मत है।

[किसी जीव के संसार का सर्वथा अभाव हो जाता है जैनाचार्य इस बात को सिद्ध करते हैं]

मीमांसक—किस प्रमाण से मुक्ति की सिद्धि है ?

जैन—हम कहते हैं "किसी आत्मा में संसार का अत्यन्त विनाश देखा जाता है क्योंकि संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त रूप से विनाश की अन्यथानुपपत्ति है।" तथा मिथ्यादर्शन आदि संसार के कारण हैं अतः वे कहीं पर अत्यन्त विनाश को प्राप्त होते हैं। यह बात यहाँ प्रतिवादी दोनों को ही मान्य है क्योंकि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन आदि का परम प्रकर्ष देखा जाता है।

जहाँ पर जिसके विरोधी के परम प्रकर्ष का सद्भाव है वहाँ पर वह अत्यन्त विनाश रूप देखा जाता है जैसे चक्षु में तिमिरआदि रोग। हमारा यह उदाहरण साध्य, साधन धर्म से विकल भी नहीं है क्योंकि किसी के नेत्र में तिमिर (रतौंधी, मोतियाबिन्दु) आदि रोगों का अत्यन्त अभाव-विनाश प्रसिद्ध है और उन रोगों के विरोधी विशिष्ट अंजन, औषधि आदि के परम प्रकर्ष का सद्भाव भी सिद्ध ही है। इसमें किसी को भी किसी प्रकार का विसंवाद नहीं है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी हैं यह निश्चय कैसे होता है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन आदि के परम प्रकर्षता को प्राप्त होने पर उन मिथ्यादर्शन आदिकों की

---

1 जैनः । 2 जैनस्य । (ब्या० प्र०) 3 मुक्तिसिद्धिः कुतः । 4 वयं जैनाः । 5 तत्कारणं = मिथ्यादर्शनादि ।
6 मिथ्याज्ञानवत्वात् सम्यग्ज्ञानाभाव इति प्रतिवादिनोपि सिद्धम् । 7 तिमिरादिर्नेत्रे इति. पा. वि. प्र. ।

क्षुषि तिमिरादेरत्यन्तनिवृत्तिमत्त्वप्रसिद्धेस्त[1]द्विरोधिविशि[2]ष्टाञ्जनादिपरमप्रकर्षसद्भावसिद्धेश्च निर्विवादकत्वात्। कथं मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि निश्चीयते इति चेत् [3]तत्प्रकर्षे [4]तदपकर्षदर्शनात्। यद्धि प्रकृष्यमाणं यदपकर्षति तत् तद्विरोधि सिद्धम्। यथोष्णस्पर्शः प्रकृष्यमाणः शीतस्पर्शमपकर्षंस्तद्विरोधी। मिथ्यादर्शनादिकमपकर्षति च प्रकृष्यमाणं क्वचित्सम्यग्दर्शनादि तत् तद्विरोधि। कथं पुनः सम्यग्दर्शनादेः क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावः सिद्ध इति चेत्प्रकृष्यमाणत्वात्[5]। यद्धि प्रकृष्यमाणं [6]तत्क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावभाग्दृष्टम्। यथा नभसि परिमाणम्। प्रकृष्यमाणं च सम्यग्दर्शनादि। तस्मात्परमप्रकर्षसद्भावभाक्। परत्वापरत्वाभ्यां[7] [8]व्यभिचार इति चेन्न, तयोरपि [9]सपर्यन्तजगद्वादिनां परमप्रकर्षसद्भावभाक्यत्वसिद्धेः। न चापर्यन्तं जगदिति वक्तुं शक्यं,

---

अपकर्षता (हानि) देखी जाती है। जो वृद्धि को प्राप्त होता हुआ जिसकी हानि को करता है, वह उसका विरोधी है यह बात प्रसिद्ध है जैसे कि बढ़ता हुआ उष्णस्पर्श शीतस्पर्श की हानि को करता है अतः वह उसका विरोधी प्रसिद्ध है। तथैव जीव में वृद्धि को प्राप्त होते हुए सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदि की हानि आदि करते ही हैं। इसीलिये वे उनके विरोधी माने गये हैं।

प्रश्न—किसी जीव में सम्यग्दर्शनादि के परम प्रकर्ष का सद्भाव पुनः किस प्रकार से सिद्ध है?

उत्तर—तरतम भावों से वृद्धिगत होते हुए कहीं न कहीं परम प्रकर्षपना तो हो ही जावेगा। "जो वृद्धिगत होता हुआ पाया जाता है वह कहीं न कहीं परम प्रकर्ष को प्राप्त होता ही है जैसे आकाश में परिमाण। एवं सम्यग्दर्शन आदि वृद्धिगत रूप हैं इसीलिये वे परम प्रकर्ष को प्राप्त होते ही हैं।"

प्रश्न—परत्व अपरत्व से हेतु में व्यभिचार आता है अर्थात् प्रकृष्यमाण होते हुए भी परत्व (महत्पना) अपरत्व (लघुपना) परम प्रकर्ष को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

उत्तर—आपका यह व्यभिचार दोष भी देना युक्त नहीं है। परिमाण कर सहित जगत् को मानने वाले अर्थात् लोकाकाश की अपेक्षा से पुरुषाकार स्वरूप असंख्यात प्रदेशी जगत को मानने वालों के यहाँ लघु-महत्पने की भी परमप्रकर्षता स्वीकार की गई है और यह जगत् (लोकाकाश) परिमाण सहित नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि रचना विशेष पायी जाती है पर्वत आदि के समान। जो पुनः प्रमाण सहित नहीं है वह विशिष्ट रचनाओं से युक्त भी सिद्ध नहीं है जैसे आकाश (अलोकाकाश-अनंतआकाश) और यह जगत् विशिष्ट सन्निवेश कर सहित है। इसलिए सब तरफ से परिमाण वाला है। इस प्रकार से मैंने (विद्यानंद स्वामी ने) श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथों में विस्तार से वर्णन किया है।

---

1 ता। (ब्या० प्र०) 2 यतः। 3 तस्य सम्यग्दर्शनादेः। 4 तस्य मिथ्यादर्शनस्य। 5 तरतमभावेन वर्द्धमानत्वात्। 6 तरतमभावेन इति पा. वि. प्र.। 7 विवृत। (ब्या० प्र०) 8 प्रकृष्यमाणेपि परत्वापरत्वे न परमप्रकर्षमाजीत्याभ्यां हेतोर्व्यभिचारः। 9 पर्यन्तेन (परिमाणेन) सह वर्त्तमानं सपर्यन्तं तच्च जगत्।

विशिष्टसन्निवेशत्वात्पर्वतवत्। यत्पुनरपर्यन्तं तन्न विशिष्टसन्निवेशं सिद्धं, यथा व्योम। विशिष्टसन्निवेशं च जगत् तस्मात्सर्वतः सपर्यन्तमिति निगदितमन्यत्र[1]।

[अभव्यजीवेषु मिथ्यादर्शनादेः परमप्रकर्षो मन्यते]

संसारेणानेकान्त[2] इति चेन्न तस्याप्यभव्यजीवेषु परमप्रकर्षसद्भावसिद्धौ प्रकृष्यमाणत्वेन प्रतीतेः। [3]एतेन मिथ्यादर्शनादिभिर्व्यभिचारः [4]प्रत्याख्यातः, [5]तेषामप्यभव्येषु परमप्रकर्षसद्भावात्। ततो नानैकान्तिकं प्रकृष्यमाणत्वं परमप्रकर्षसद्भावे साध्ये। नापि विरुद्धं, सर्वथा [6]विपक्षाद्व्यावृत्तेः। इति क्वचिन्मिथ्यादर्शनादिविरोधि=सम्यग्दर्शनादि=परमप्रकर्षसद्भावं [7]साधयति। स च सिध्यन्मिथ्यादर्शनादेरत्यन्तनिवृत्तिं गमयति। सा च गम्यमाना [8]स्वकार्यसंसारात्यन्तनिवृत्तिं निश्चाययति। यासौ संसारस्यात्यन्तनिवृत्तिः सा मुक्तिरिति।

[मिथ्यादर्शन आदि का परमप्रकर्ष अभव्य जीवों में पाया जाता है]

प्रश्न—संसार को परम प्रकर्ष के सद्भाव का अभाव होने पर प्रकृष्यमाण रूप हेतु उसमें देखा जाता है अतः संसार के साथ आपका हेतु अनैकांतिक है।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते उस संसार का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष का सद्भाव सिद्ध होने से प्रकृष्यमाणत्व हेतु की प्रतीति देखी जाती है। इसी प्रकार जो कहते हैं कि मिथ्यादर्शन आदि के परमप्रकर्ष का अभाव होने पर भी प्रकृष्यमाण हेतु होने से व्यभिचार आता है।

इस उपर्युक्त कथन से उनके भी इस व्यभिचार दोष का परिहार हो जाता है क्योंकि उन मिथ्यादर्शन आदिकों का भी अभव्य जीवों में परम प्रकर्ष पाया ही जाता है इसलिये परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध करने में "प्रकृष्यमाणत्व" हेतु अनैकांतिक नहीं है।

हमारा यह "प्रकृष्यमाण" हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि परमप्रकर्ष रहित विपक्ष से उसकी सर्वथा व्यावृत्ति है इस प्रकार यह प्रकृष्यमाण हेतु किसी जीव में मिथ्यादर्शन आदि के विरोधी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों के परमप्रकर्ष के सद्भाव को सिद्ध ही करता है और वह रत्नत्रय का परमप्रकर्ष सिद्धि को प्राप्त होता हुआ मिथ्यादर्शन आदि के अत्यन्त विनाश को ही प्रकट करता है तथा मिथ्यादर्शन का अत्यन्त विनाश प्रकट होता हुआ अपने कार्यरूप संसार का अत्यन्त विनाश निश्चित कराता है एवं जो यह संसार की अत्यन्त निवृत्ति है वही मुक्ति है।

---

1 श्लोकवार्तिकायो। 2 संसारस्य परमप्रकर्षसद्भावाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वकहेतोर्दर्शनात्। 3 संसारस्य प्रकृष्यमाणत्वेन वि. प्र.। (व्या० प्र०) 4 मिथ्यादर्शनादीनां परमप्रकर्षाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वाहेतोर्दर्शनादनेकान्तः प्रत्याख्यातः। 5 तेषामभव्येषु इति पा.। कालत्रयेनासंतः। (व्या० प्र०) 6 परमप्रकर्षरहितात्। 7 प्रकृष्यमाणत्वमिति कर्तृ पदमध्याहार्यम्। 8 स्वकार्यं संसारस्यस्य।

[ज्ञानादिगुणः आत्मनः स्वभावोऽस्ति किंतु रागादिदोषो नास्ति]

[1]तदन्यथानुपपत्तेरात्मनो ज्ञानादिगुणस्वभावत्वसिद्धेर्न दोषस्वभावत्वसिद्धिः, [2]विरोधात्। प्रसिद्धायां क्वचिदात्मनि निःश्रेयसभाजि [3]गुणस्वभावतायामभव्यादावपि [4]तन्निर्णयः, जीवत्वान्यथा[5]नुपपत्तेः।

[ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं किंतु दोष आत्मा के स्वभाव नहीं हैं]

युक्ति की अन्यथानुपपत्ति होने से आत्मा के ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाती है किन्तु दोष स्वभाव की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं।

भावार्थ—मीमांसक का कहना है कि आत्मा का स्वभाव दोष है न कि गुण क्योंकि गुणों के प्रकट हो जाने पर दोष ढके हुये रहते हैं उनका अस्तित्व समाप्त नहीं होता है। यही कारण है कि मीमांसक किसी भी जीव को शुद्ध, कर्ममलरहित, निर्दोष और सर्वज्ञ भगवान् नहीं मानता है, वह अतीन्द्रिय पदार्थों के देखने जानने का काम वेदों से ही चला लेता है, उसके सिद्धांत में आत्मा हमेशा संसारी, शरीरी, कर्मकलंक से मलिन, दूषित ही रहती है, कभी भी किसी काल में भी आत्मा शुद्ध-निर्दोष नहीं होती है। इससे सर्वथा विरुद्ध सांख्य जीवों को संसार अवस्था में भी कर्मलेप से रहित, निरंजन, निष्क्रिय ही मानता है तथा वह आत्मा को कभी अशुद्ध मानता ही नहीं है, किन्तु जैन इन दोनों से विपरीत आत्मा को कथंचित् अशुद्ध एवं कथंचित् शुद्ध मानते हैं।

जैनाचार्यों का कहना है कि यह आत्मा अनादि काल से स्वर्ण-पाषाण के समान कर्ममल से सहित है फिर भी संसार के कारण मिथ्यादर्शन आदि माने गये हैं उन संसार के कारणों का विनाश सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आदि के द्वारा किया जा सकता है और संसार के कारणों का पूर्णतया विनाश हो जाने पर जीव पूर्णतः शुद्ध, कर्मकलंक से निर्लेप, निरंजन, सिद्ध हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में भी कहा है कि "बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः"। बंध के हेतु मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं इनका अभाव हो जाना एवं पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा के होने से संपूर्ण कर्मों का अभाव होकर इस जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाती है अर्थात् यह जीव कर्म से रहित-मुक्त हो जाता है।

इसी बात को अच्छी तरह से सिद्ध करने के लिये श्री विद्यानंद स्वामी ने प्रथम तो "स्वनिर्हासनिमित्तविदर्शनवशात्" हेतु दिया है जिसका मतलब है कि अज्ञानादि दोषों के नाश करने वाले सम्यग्दर्शन आदि हैं। उन रत्नत्रयगुणों की वृद्धि के निमित्त से ये दोष समाप्त हो जाते हैं। पुनः इस बात को बतलाया है कि संसार के कारण मिथ्यात्व आदि हैं इनके विरोधी सम्यग्दर्शन आदि की चरमसीमा-पूर्णअवस्था पाई जाती है। यद्यपि आज रत्नत्रय की पूर्णावस्था का दिखना असंभव है अतः कहीं न कहीं किसी न किसी जीव में इनकी पूर्णावस्था हो सकती है इस बात को सिद्ध करने के

---

1 ज्ञानादिगुणस्वभावत्वाभावे। 2 उभयमेकत्रैकदा विरुध्यते यतः। 3 चेतनागुणस्वभावतायाम्। 4 ज्ञानगुणस्वभावत्वनिर्णयोऽस्ति। 5 गुणस्वभावत्वमन्तरा।

प्रसिद्धे च सर्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानादिगुणस्वभावत्वे दोषस्वभावत्वासिद्धेः सिद्धं दोषस्य [1]कादाचित्कत्वमागन्तुकत्वं[2] साधयति। ततः [3]स एव परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तवि[4]वर्द्धन-वशादिति सुस्पष्टमाभाति, दोषनिर्ह्रासनिमित्तस्य सम्यग्दर्शनादेर्विशेषेण वर्द्धनप्रसाधनात्।

लिये प्रकृष्यमाणत्व आदि गुण किसी न किसी जीव में वृद्धिगत होते हुये दिख रहे हैं। वर्तमान में यहाँ नहीं, किंतु विदेहक्षेत्र में तो देखा ही जाता है। अथवा यहाँ भी चतुर्थकाल में किसी न किसी जीव में इन रत्नत्रय गुणों की पूर्ण अवस्था हो सकती है। इसी से यह निश्चित किया जाता है कि जो जिसका स्वभाव होता है वह कभी भी नष्ट नहीं होता है। अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक पाया जाता है अतएव जीव के भी ज्ञानादि स्वभाव हैं यद्यपि ये अनादिकाल से कर्मोदय के कारण विभाव-अज्ञानादि रूप हो रहे हैं फिर भी सम्यक्त्व आदि गुणों से इनका अभाव होकर अनंतानंत काल तक ये ज्ञानादि स्वभाव जीव के साथ रहते हैं। अतः ये गुण जीव के स्वभाव हैं एवं दोष विभाव रूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

किसी आत्मा में चैतन्य आदि गुण स्वभाव रूप मुक्ति अवस्था की प्रसिद्धि हो जाने पर अभव्य जीव में भी ज्ञानादिगुण स्वभाव का निर्णय हो जाता है क्योंकि जीवत्व स्वभाव की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है। अर्थात् अभव्य जीव का स्वभाव ज्ञानादि गुण हैं न कि दोषादि, किन्तु कर्म के निमित्त से ज्ञानादि गुण विभाव रूप परिणमन कर रहे हैं। अभव्य जीव में शक्ति रूप से गुणों के होने पर भी उनकी व्यक्ति नहीं हो सकती है और भव्यों को सम्यग्दर्शन आदि निमित्त के मिलने पर उनकी व्यक्ति हो सकती है यही अंतर भव्य और अभव्य जीवों में है।

विशेषार्थ—जैनाचार्यों ने अन्यथानुपपत्ति हेतु से जीव का ज्ञानादि गुण स्वभाव सिद्ध कर दिया है। एवं इस बात को भी बतलाया है कि अभव्य का भी ज्ञानादि गुण ही स्वभाव है न कि दोष। अंतर इतना ही है कि अभव्य में कर्मों का नाश करके गुणस्वभाव को प्रकट करने की शक्ति नहीं है। इसी विषय में श्रीमद्भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक की ८ वीं अध्याय में सिद्ध किया है यथा—

प्रश्न यह होता है कि मतिज्ञानादि पाँचों ज्ञान विद्यमान रूप हैं पुनः उन पर आवरण आता है या अविद्यमान रूप हैं उन पर आवरण आता है? इस पर उत्तर यह है कि—

"न कुटीभूतानि मत्यादीनि कानिचित् संति येषामावरणात् मत्याद्यावरणानां आवरणत्वं भवेत् किंतु मत्याद्यावरणसन्निधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायेणोत्पद्यते इयतो मत्याद्यावरणानां आवरणत्वं।" अर्थात् कोई भी मति आदि ज्ञान प्रत्यक्षीभूत-पुंज रूप से विद्यमान नहीं हैं कि जिनके आवरण से मति आदि आवरणों में आवरणत्व हो सके किंतु मति आदि आवरण के सन्निकट होने से आत्मा मति श्रुत आदि पर्यायों से उत्पन्न नहीं होता है अतः मति आदि आवरणों में आवरणपना होता है।

---

1 साधनम्। 2 दोषस्य। (ब्या० प्र०) 3 आगन्तुको भवः। 4 परमप्रकर्षे। (ब्या० प्र०)

[दोषावरणे पर्वत इव विशाले स्तः]

इत्यावरणस्य[1] द्रव्यकर्मणो दोषस्य च भावकर्मणो[2] भूभृत इव महतोत्यन्तनिवृत्तिसिद्धेः कर्मभूभृतां भेत्ता मोक्षमार्गस्य [3]प्रणेता स्तोतव्यः समवतिष्ठते विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च ।

तथा इस बात को भी सिद्ध किया है कि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सत् रूप मत्यादि पर आवरण है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से असत् रूप मति ज्ञानादि पर आवरण है स्याद्वाद रूप से यही कथन श्रेयस्कर है। पुनः प्रश्न होता है कि—

"अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात्" अर्थात् अभव्य जीव में मनःपर्यय ज्ञानावरण एवं केवलज्ञानावरण सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि उनमें इन दोनों ज्ञानों का अभाव है और यदि इन दोनों ज्ञानों का सद्भाव मानोगे तो वह जीव अभव्य नहीं रहेगा किन्तु भव्य ही हो जावेगा।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना क्योंकि "द्रव्यार्थादेशेन सतोर्मनःपर्ययकेवलज्ञानयोरावरणं, पर्यायार्थादेशेनासतोः" अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से अभव्य में सत्रूप-विद्यमान मनःपर्यय केवलज्ञान पर आवरण है एवं पर्यायार्थिक नय से असत् रूप दोनों ज्ञानों पर आवरण होता है, इतने मात्र से ही अभव्य जीव में मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि जिस जीव में सम्यग्दर्शनादि पर्याय को प्रगट कर लेने की योग्यता है वह भव्य है उससे विपरीत अभव्य है। शक्ति रूप भव्य-अभव्य दोनों में ही मनःपर्यय एवं केवलज्ञान विद्यमान हैं किन्तु उनकी व्यक्ति-प्रगटता भव्यों के ही हो सकती है, अभव्यों के नहीं हो सकती है। इसी को आगे १०० वीं कारिका में कहा है कि—

"शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥"

इसी प्रकार से सभी आत्मा में ज्ञानादि गुण स्वभाव की सिद्धि हो जाने पर एवं दोष स्वभाव की सिद्धि न होने पर दोषों को कादाचित्कपना सिद्ध हो जाता है और वह कदाचित्कत्व ही आगंतुकपने को सिद्ध कर देता है इसीलिये वह आगंतुक मल ही परिक्षयी है क्योंकि वह अपने विनाश के कारणों के वृद्धिगत हो जाने से विनाश को प्राप्त होता ही है इस प्रकार से स्पष्टतया प्रतीति में आ रहा है एवं दोष के विनाश के निमित्त सम्यग्दर्शन आदिकों की विशेष रूप से वृद्धि सिद्ध ही है।

[दोष, आवरण पर्वत के समान विशाल हैं]

इस प्रकार विशाल पर्वत के समान आवरण रूप द्रव्य कर्म का और अज्ञानादि रूप भाव कर्म का अत्यन्त विनाश सिद्ध हो जाने से कोई "कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करने वाला एवं मोक्षमार्ग का प्रणयन करने वाला और अखिल तत्त्वों को जानने वाला आप्त स्तवन करने योग्य है यह बात सम्यक्-प्रकार से स्थित हो जाती है।"

---

1 ज्ञानावरणस्य। 2 अज्ञानादेः। 3 मोक्षमार्गस्य प्रणेता अर्हन् कर्मभूभृतां भेत्ता इति स्तोतव्यः विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति च दि. प्र.।

सर्वज्ञ के दोषावरण के अभाव का सारांश

हे भगवन् ! सभी के आगम में परस्पर विरोध होने से सभी आप्त नहीं हो सकते हैं किन्तु कोई एक ही आप्त महान् हो सकते हैं वे आप ही संसारी जीवों के स्वामी हैं आपके ही अत्यंत रूप से दोष और आवरण की हानि—क्षय होने से तथा अशेष तत्त्वों के ज्ञाता होने से आप ही महान् हैं क्योंकि दोष और आवरण की हानि होने से ही हम लोगों में कुछ-कुछ अंशों में निर्दोषता एवं क्षयोपशमजन्य कुछ-कुछ ज्ञान देखा जाता है। अतएव वह हानि किसी जीव विशेष में परिपूर्ण रूप से हो सकती है जैसे स्वर्ण पाषाण को, शीत आदि ताव से १६ ताव पर्यंत निःशेष रूप से शुद्ध होता है और उसमें किट्ट-कालिमा का भी सर्वथा क्षय-नाश देखा जाता है।

ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्म को आवरण कहते हैं एवं कर्मोदय से होने वाले मोह रागादि परिणाम रूप भावकर्म को दोष कहते हैं।

बौद्ध का कहना है कि अज्ञानादि स्वपरिणाम हेतुक हैं एवं सांख्य का कहना है कि अज्ञानादि प्रधान के होने के कारण पर परिणाम हैं, किंतु सर्वथा यदि अज्ञानादि को स्वपरिणाम ही मानों तो जीवत्व आदि निजी स्वभाव के समान होने से उनका कभी भी अभाव नहीं हो सकेगा पुनः मुक्ति का ही अभाव हो जावेगा तथा सर्वथा परनिमित्तक होने से मुक्तात्मा में भी अज्ञानादि दोष होने लगेंगे। इसलिये दोष जीव के स्वपर परिणाम निमित्तक ही हैं क्योंकि कार्य हैं।

तथा च दोष और आवरण में बीजांकुर न्याय के समान परस्पर में कार्य कारण भाव सिद्ध है जैसे जीव के ज्ञानावरण के उदय से अज्ञान दर्शन मोह के उदय से मिथ्यात्व आदि भाव होते हैं एवं दोष के प्रति आवरण भी कारण हैं। तत्प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य आदि से केवली, श्रुत, संघ आदि के अवर्णवाद से ज्ञानावरण, दर्शनमोहनीय आदि कर्मों का आस्रव होता है। अतएव परस्पर में कार्यकारणभाव सिद्ध है।

यहाँ दोष और आवरण की हानि से प्रध्वंसाभाव को ग्रहण किया है। अत्यंताभाव को नहीं। यदि जीव में दोषावरण का अत्यंताभाव मानों तब तो संसार अवस्था में भी जीव के मुक्ति का प्रसंग आ जावेगा। आत्मा दोष और आवरण रूप नहीं है तथा दोष और आवरण आत्मा रूप नहीं है। यह इतरेतराभाव आत्मा का प्रसिद्ध ही है। तथा प्रागभाव भी यहाँ साध्य नहीं है क्योंकि प्राक्—पहले अविद्यमान रूप दोष आवरणों की अपने कारणों से आत्मा में उत्पत्ति स्वीकार की गई है।

यदि कोई कहे कि जैसे जीव में बोध, आवरण की अत्यंत (पूर्णतया) हानि देखी जाती है वैसे ही अल्प जैन बुद्धि की भी हानि—नाश मान लो। इस पर उत्तर यही है कि किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि को शरीर रूप से ग्रहण करके छोड़ दिया अतः उन पाषाण आदि में चैतन्य—बुद्धि का सर्वथा अभाव हो ही गया, "क्योंकि कोई भी ऐसा पुद्गल जगत में नहीं है जिसे इस जीव ने अनेकों बार भोगकर नहीं छोड़ा है" ऐसा वचन है। तथा सुषुप्तावस्था में मतिश्रुत आदि अतीन्द्रियरूप चार ज्ञान का अभाव देखा भी जाता है उनकी अपेक्षा से बुद्धि का अभाव घटित है। अतः कर्मकलंक रहित अकलंक भगवान ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं।

तथा सत् स्वरूप आत्मा से कर्मों का पृथक्करण हो जाना ही अभाव है न कि अत्यंत विनाश रूप अभाव, क्योंकि तुच्छाभाव रूप अभाव को हम नहीं मानते हैं।

[कर्मरहितोऽपि आत्मात्यंतपरोक्षपदार्थान् कथं जानीयात् ?]

[1]ननु निरस्तोपद्रवः[2] सन्नात्मा कथमकलंकोऽपि[3] विप्रकृष्टमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात्*। न हि नयनं[4] निरस्तोपद्रवं विगलिततिमिरादिकलङ्कपटलमपि देशकालस्वभावविप्रकर्ष[5]-भाजमर्थं प्रत्यक्षीकुर्वत् प्रतीतं, [6]स्वयोग्यस्यैवार्थस्य[7] तेन प्रत्यक्षीकरणदर्शनात्। निरस्त-ग्रहोपरा[8]गाद्युपद्रवोऽपि[9] दिवसकरः प्रतिहतघनपटलकलङ्कश्च स्वयोग्यानेव वर्तमानार्थान् प्रकाशयन्नुपलब्धो नातीतानागतानर्थानयोग्यानिति[10] जीवोऽपि निरस्तरागादिभावकर्मोपद्रवः सन् विगलितज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मात्मककलङ्कोऽपि च कथं विप्रकृष्टमर्थमशेषं प्रत्यक्षीकर्तुं प्रभुः ? मुक्तात्मा भवन्नपि न चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी, धर्मादौ[11] तस्या[12] एव प्रामा-ण्यप्रसिद्धेः मुक्तात्मनस्तत्राप्रमाणत्वात्तस्यानन्दादिस्वभावपरिणामेऽपि धर्मज्ञत्वाभावादप्रतिषे-

---

[कर्म से रहित भी आत्मा अत्यंत परोक्ष पदार्थों को कैसे जानेगा ?]

मीमांसक—संपूर्ण कर्मोपद्रव से रहित एवं कलंक से रहित होते हुये भी आत्मा परोक्ष पदार्थों को कैसे प्रत्यक्ष करेगा ?*

किसी भी प्रकार के उपद्रव, रोग-रतौंधी, मोतियाबिंदु, पीलिया आदि दोषों से रहित भी नेत्र देश काल और स्वभाव से परोक्षवर्ती-दूरवर्ती पदार्थों को प्रत्यक्ष करते हुये अनुभव में नहीं आता है। स्वयं अपने योग्य देश काल आदि से सन्निहित पदार्थों को ही वह नेत्र अपने प्रत्यक्ष का विषय बनाता है, ऐसा देखा जाता है। जैसे ग्रह, उपराग आदि उपद्रवों से रहित एवं मेघ पटल के कलंक से भी रहित होता हुआ सूर्य अपने योग्य ही वर्तमान पदार्थों को प्रकाशित करते हुये उपलब्ध हो रहा है, किंतु अपने अयोग्य भूत, भविष्यत् कालीन पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता है। उसी प्रकार से जीव भी रागादिभाव कर्मों से रहित एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म कलंक से रहित होता हुआ भी परोक्षवर्ती अशेष पदार्थों को प्रत्यक्ष करने के लिए समर्थ कैसे हो सकता है ? अर्थात् कोई भी जीव कर्ममल से रहित मुक्त होकर भी संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है। इसीलिये मुक्तात्मा होते हुये भी वेद की प्रमाणता का विरोधी नहीं हो सकता है क्योंकि धर्म-अधर्म आदि अदृष्ट (परोक्ष) पदार्थों की व्यवस्था करने में वेदवाक्य ही प्रमाण है।

उन धर्मादि पदार्थों को जानने में मुक्तात्मा के अप्रमाणता है क्योंकि आनंदादि स्वभाव रूप परिणाम के होने पर भी उनमें धर्मज्ञता का अभाव है। अतः आनंदादि स्वभाव का प्रतिषेध नहीं हो सकता है। अर्थात् यदि कहा जावे कि मुक्तात्मा में धर्मज्ञता न होने से आनंदादि स्वभाव भी नहीं होने चाहिये, किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उनमें आनंदादि स्वभाव पाया जाता है।

---

1 मीमांसकः। 2 अज्ञानादिदोषः। (ब्या० प्र०) 3 कलंक द्रव्यकर्मज्ञानावरणादि। (ब्या० प्र०) 4 मूषादि। (ब्या० प्र०) 5 विप्रकर्षशब्दो देशकालस्वभावशब्दैः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। 6 देशकालादिविप्रकृष्टस्य। 7 संबद्ध-वर्तमान। (ब्या० प्र०) 8 ग्रहण। (ब्या० प्र०) 9 च इति अधिको पा। (ब्या० प्र०) 10 अरूपिणो वा। (ब्या० प्र०) 11 धर्मादिस्वभावे। 12 चोदनायाः।

[1]व्यत्वात्[2] । तदुक्तं,

"धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥१॥"

कहा भी है—

श्लोकार्थ—मुक्त आत्मा में केवल धर्म-अधर्म को जानने का निषेध किया जाता है शेष संपूर्ण पदार्थों को मुक्तजीव जानते हैं इसमें हमारा विरोध नहीं है।

भावार्थ—मीमांसकों का कहना है कि मुक्त जीव धर्म-अधर्म को नहीं जानते हैं। इनका ज्ञान तो वेदवाक्यों से ही होता है ये धर्म-अधर्म आगम मात्र से ही गम्य हैं, इनको जानने वाला कोई भी नहीं है। अतः जगत में कोई भी सर्वज्ञ नहीं है।

इस प्रकरण को श्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथ में स्वयं श्री विद्यानंदस्वामी ने प्रथम अध्याय के "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" सूत्र का भाष्य करते हुये कहा है कि—

धर्मादन्यत्वपरिज्ञानं विप्रकृष्टमशेषतः ।
येन तस्य कथं नाम धर्मज्ञत्वं निषेधनं ॥२१॥

अर्थ—जिस महात्मा ने धर्म के अतिरिक्त स्वभाव से व्यवहित परमाणु आदिक, देश से व्यवहित सुमेरु आदिक, एवं काल से व्यवहित रामचंद्र आदिक अत्यंत परोक्ष पदार्थों को परिपूर्ण रूप से जान लिया है उस पुरुष को धर्म को जानने का निषेध भला कैसे किया जा सकता है? क्योंकि जो धर्म के सिवाय अन्य संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है वह धर्म को भी अवश्य जान लेगा।

धर्म से भी सूक्ष्म पदार्थों तक को जानने वाला विद्वान् धर्म को जानने से बच नहीं सकता है। अतः सर्वज्ञ को धर्म के जानने का निषेध करना मीमांसकों को उचित नहीं है।

मीमांसक का जो यह कहना है कि प्रमाता-आत्मा संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है, केवल अतींद्रिय पुण्य, पाप रूप धर्म, अधर्म को साक्षात् नहीं जानता है। "धर्मे चोदनैव प्रमाणं" धर्म का ज्ञान करने में वेदवाक्य ही प्रमाण है।

मीमांसक का यह सब कथन केवल न्यायमार्ग का अतिक्रमण कर रहा है क्योंकि न्याय की सामर्थ्य से उत्कृष्ट ज्ञान का स्वभाव संपूर्ण पदार्थों का जानना सिद्ध हो चुका है तो फिर आप अतींद्रिय पदार्थों में से केवल धर्म को ही क्यों छोड़ देते? जल और स्थल सभी स्थानों में मेघ बरसते हैं,

---

1 सन्नानन्दादिस्वभावोऽपि नास्तीत्यत्राह ।—[illegible]स्वभावस्याप्रतिषेधादिति । 2 अप्रतिषेध्यत्वात् । यदि मुक्तात्मा चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी न भवति "अथातो धर्मजिज्ञासा" प्रमाणादिसिद्धिः स ज्ञानादिस्वभावः कस्मात् प्रतिषिध्यते इत्याशंक्याहाह भाट्टः अत्र प्रतिषिध्यादिति । धर्मज्ञत्वाभावात् प्रतिषेध्यत्वात् इति पा. वि. प्र. । 3 मुक्तात्मनि । 4 धर्मादन्यत् । (ब्या० प्र०)

निर्धन-धनपति आदि सबके यहाँ पूर्व प्रकाश करता है। वस्तु का वैसा स्वभाव सिद्ध हो जाने पर पुनः पक्षपात नहीं चल सकता है।

इस प्रकार से कहता हुआ मीमांसक केवल न्यायमार्ग का उल्लंघन कर देता है। उपाय सहित केवल हेय और उपादेय को ही वह सर्वज्ञ जानता है, किन्तु फिर संपूर्ण कीड़े, कूड़े और उनकी गिनती नाप, तौल आदि को वह सर्वज्ञ नहीं जानता है।

आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकों का सरासर अन्याय है क्योंकि सभी हेय उपादेय तत्त्वों को यथा प्रकार से जान लेने पर संपूर्ण पदार्थों का पूर्वतया ज्ञान हो जाना न्याय से प्राप्त हो जाता है। अतएव पूर्ववत् यहाँ भी मीमांसक न्यायमार्ग का उल्लंघन कर देता है। उसका कहना है कि धर्म के अतिरिक्त अन्य संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को विशेष रूप से जानता हुआ भी यह सर्वज्ञ धर्म को साक्षात् रूप से नहीं जान पाता है क्योंकि धर्म, अधर्म परमाणु आकाश आदि सभी पदार्थ समान जाति के ही हैं।

"ततो नेदं सूक्तं मीमांसकस्य। धर्मज्ञत्व निषेधस्तु केवलोऽभ्युपगम्यते। सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते।" इति न स्वयमीक्षणादरः। "तत्सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते इति। तत्र नौ नास्तिरागादरः"। अतः मीमांसकों का यह कथन समीचीन नहीं है कि सर्वज्ञ का निषेध करते समय केवल धर्म को जानने का ही तो निषेध करना यहाँ उपयोगी हो रहा है। अन्य सभी पदार्थों को भले ही वह सर्वज्ञ जानता रहे ऐसे सर्वज्ञ का निवारण भला कौन विद्वान् कर सकता है?

दूसरी बात यह है कि मीमांसकों के उक्त कथन से यह भी प्रतीति होता है कि जब सर्वज्ञ को मानने में मीमांसक निंदा या तिरस्कार नहीं समझते हैं और सर्वज्ञ का अनादर भी नहीं करते हैं, तब तो इन जैनों को भी आप मीमांसक के प्रति समझाने में अत्यधिक आदर नहीं है क्योंकि जब आपने यह मान ही लिया कि सर्वज्ञ भगवान् संपूर्ण अतींद्रिय पदार्थों को जानते हैं केवल धर्म-अधर्म को नहीं जानते हैं ऐसा तो धर्म, अधर्म को प्रत्यक्ष करने की बात भी आप धीरे-धीरे सुकरता से मान ही लेंगे। इसलिये आप दक्षिण प्राणायाम के समान सीधे-सीधे नाक न पकड़कर हाथ को घुमाकर भी नाक पकड़ कर ही प्राणायाम करने वालों के समान किस किस किसी प्रकार से सर्वज्ञ को मान ही रहे हैं ऐसी बात सिद्ध हो जाती है।

इति [1]यदन्तमिव स्तोतुः[2] [3]प्रज्ञातिशयविवक्षया[4] भगवन्तं प्रत्याहुः[5] ।—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

सूक्ष्माः स्वभावविप्रकर्षिणोऽर्थाः परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकर्षिणो रामादयो, दूरास्तु देशविप्रकर्षिणो हिमवदादयस्ते कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वाद्यथाऽग्न्यादिरित्येवं सर्वज्ञस्य सम्यक् स्थितिः स्यात् । अथ मतमेतत्[7] ।

[सूक्ष्मार्थाः येन प्रकारेण कस्यचित् प्रत्यक्षाः दृष्टाः तेनैव साध्यंतेऽन्यप्रकारेण वा ?]

"सूक्ष्मादयोऽर्थाः [8]यथाभूताः कस्यचित्प्रत्यक्षा दृष्टास्तथाभूता एव [9]तथानुमेयत्वेन साध्यन्तेऽन्यथा[10]भूता वा ? [11]यथाभूताश्चेत्सिद्धसाध्यता, सूक्ष्माणां सहजधा भिन्नकेशाग्रादीनामन्तरितानां च प्रपितामहादीनां दूरार्थानां च हिमवदादीनां [12]कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रसिद्धेः । अन्यथाभूतानां

उत्थानिका—इस प्रकार से कहते हुये के समान ही स्तवन करने वाले सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य की बुद्धि के अतिशय को प्रकट करने की इच्छा से ही श्री समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

कारिकार्थ—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं जैसे अग्नि आदि; इस प्रकार से सर्वज्ञ सिद्धि होती है ।

सूक्ष्म—स्वभाव से परोक्ष परमाणु आदिक, अन्तरित—काल से परोक्ष राम, रावण आदिक, दूरवर्ती—देश से परोक्ष हिमवन पर्वत, सुमेरु आदिक; ये किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि अनुमेय हैं जैसे अग्नि आदिक । इस अनुमान वाक्य से सर्वज्ञ की सम्यक् प्रकार से सिद्धि होती है ।

[सूक्ष्मादि पदार्थ जैसे किसी के प्रत्यक्ष हैं वैसे ही अनुमेय हैं या अन्य रूप से ?]

मीमांसक—सूक्ष्मादि पदार्थ जिस प्रकार से किसी के प्रत्यक्ष देखे गये हैं उसी प्रकार से तुम उन्हें अनुमान ज्ञान का विषय सिद्ध करते हो या अन्यथा रूप से ?

यदि जिस प्रकार वे प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं उसी प्रकार ही वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं ऐसा मानते हो तब तो सिद्ध साध्यता दोष है । सूक्ष्म जो केश का अग्रभाग जिसके हजार टुकड़े कर दिये हैं और अन्तरित [illegible] अर्थात् पिता के पिता परदादा आदि एवं दूरवर्ती हिमवान् पर्वत आदि आधुनिक किसी न किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष हैं ।

यदि दूसरा पक्ष लेते हो कि वे पदार्थ अन्य रूप से ही अनुमान ज्ञान के विषय हैं तो "अनुमेयत्वात्" यह हेतु अप्रयोजक ही है । जैसे पृथ्वी, पर्वत आदि को बुद्धिमान् कारणत्व सिद्ध करने में

---

1 मीमांसकमुद्दिश्य यथा । (आ० प्र०) 2 सूत्रकारस्य । 3 मीमांसकस्य मेयत्वमित्यादि प्रतिज्ञाप्रकर्षं कर्तुमिच्छया वि. प्र. । 4 प्रतिज्ञातिशयेति पाठान्तरम् । 5 समन्तभद्रादयः । 6 अनुमानात् मीमांसकस्य । 7 मीमांसकस्य । 8 नियतदेशाद्याकारः । 9 कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रकारेण । 10 अनियतदेशाद्याकारः । 11 तथाभूता इति पा. । (आ० प्र०) 12 आधुनिकस्य ।

सु कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधनेऽनुमेयत्वादित्यप्रयोजको[1] हेतुः क्ष्माधरादीनां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत्[2]। धर्म्यसिद्धिश्च, [3]परमाण्वादीनामप्रसिद्धत्वात्[4]" इति तदयुक्तं, विवादाध्यासितानां सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन साध्यत्वादप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात्। धर्म्मादयो हि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन वादिप्रतिवादिनोर्विवादापन्नास्ते[5] एव कस्यचित्प्रत्यक्षा इति साधयितुं युक्ता न [6]पुनरन्ये[7]। न चैवं[8] धर्म्यसिद्धिः, [9]धर्म्यादीनामसर्वज्ञवादिनोपि याज्ञिकस्य[10] सिद्धत्वात्। "नन्वेवं भूधरादीनां धीमद्धेतुकतया विवादापन्नानां तथा साध्यत्वे कथमप्रयोजको हेतुः सन्निवेशविशिष्टत्वादिरिति चेत्स्वभावभेदात्[12]। [13]यादृशमभि-

---

"सन्निवेश विशिष्टत्वादि" हेतु अप्रयोजक है अर्थात् भूधर, पर्वत आदि बुद्धिमत् निमित्तक हैं क्योंकि उनका सन्निवेश विशेष पाया जाता है। इस प्रकार से यहाँ 'सन्निवेश विशिष्टत्व' हेतु अप्रयोजक है क्योंकि बुद्धिमन्निमित्तकत्व के बिना भी रचना विशेष की सिद्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि आपका 'सूक्ष्मादि' धर्मी भी असिद्ध है जबकि 'प्रसिद्धो धर्मी' सूत्रानुसार 'धर्मी' प्रसिद्ध ही होना चाहिये और परमाणु आदि धर्मी अप्रसिद्ध ही हैं।

जैन—आपका यह कथन भी ठीक नहीं है। "विवाद में आये हुये सूक्ष्मादि पदार्थ धर्मी हैं," "वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं" यह साध्य है "असिद्धं साध्यं" इस नियम के अनुसार साध्य अप्रसिद्ध ही होता है। अर्थात् "इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यं" इस सूत्रानुसार साध्य को असिद्ध ही होना चाहिये अन्यथा सिद्ध को साध्य की कोटि में रखकर सिद्ध करना पिष्टपेषण ही है।

धर्माधर्मादिक ही किसी न किसी के प्रत्यक्षत्व रूप से हैं इस प्रकार वादी और प्रतिवादी के विवाद में आये हुए हैं "वे धर्मादिक ही किसी के प्रत्यक्ष हैं" इस प्रकार इन्हें ही सिद्ध करना युक्त है न पुनः अन्य स्वर्गादिकों को। इस प्रकार से धर्मी को भी असिद्धि नहीं है। धर्म, अधर्म आदि धर्मी असर्वज्ञवादी मीमांसक, भाट्ट आदि के यहाँ भी सिद्ध ही हैं।

प्रश्न—इस प्रकार से पर्वत आदि पक्ष जो कि बुद्धिमद् हेतुक रूप साध्य से विवाद में पड़े हुये हैं उन्हें बुद्धिमत् कारणत्व सिद्ध करने में "सन्निवेश विशिष्टत्वादि" हेतु अप्रयोजक क्यों है?

---

1 अकिंचित्करः। (ब्या० प्र०) 2 क्ष्माधरादयो बुद्धिमत्कारणकाः, सन्निवेशविशिष्टत्वादित्यत्रार्थे हेतुरप्रयोजको, बुद्धिमत्कारणान्तरेणापि सन्निवेशविशिष्टत्वसिद्धेः। 3 अस्मदादिप्रत्यक्षाणां। (ब्या० प्र०) 4 अनुमानकर्तुः सर्वज्ञवादिनः। (ब्या० प्र०) 5 तत एव इति पा. दि. प्र.। 6 अविप्रतिपन्नाः। (ब्या० प्र०) 7 स्वर्गादयः। 8 विवादापन्नानां साध्यत्वप्रकारेण। 9 धर्मादीनां इति पा.। स्वर्गवेदता। (ब्या० प्र०) 10 भाट्टस्य। 11 अत्राह ईश्वरवादी यौगादिः, दि. प्र.। अनुमेयत्वं साधनं प्रयोजकं यथा व्यवस्थापितं तथैव सन्निवेशविशिष्टत्वं साधनं दृष्टान्तीकृतं प्रयोजकं भवतीति मीमांसकस्य शंकामनूद्य निराकरोति। 12 अप्रयोजकं। मीमांसकमतमाश्रित्य स्याद्वादी ईश्वरवादिनं निराकृत्य पुनः स्वमतमाश्रित्य स्वहेतोः स्थापनं करोति हे मीमांसक! यथा ईश्वरवादिनः सन्निवेशविशिष्टत्वादिति हेतुः अभिनवप्रासादादिषु जीर्णप्रासादादिषु च धीमद्धेतुकत्वं साधयति न भूधरादिषु हेतोरिति स्वभावभेदो वर्तते तथास्माकम् अनुमेयत्वादिति हेतोः स्वभावभेदो न, दि. प्र.। 13 स्वभावभेदं दर्शयति।

नवभवनादिषु सन्निवेशविशिष्टत्वमक्रियादर्शनेपि कृतबुद्ध्युत्पादकं धीमद्धेतुकत्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नं तादृशमेव जीर्णप्रासादादिषूपलभ्यमानं धीमद्धेतुकत्वस्य प्रयोजकं स्यान्नान्यादृशं भूधरादिषु प्रतीयमानमकृतबुद्ध्युत्पादकमिति स्वयं मीमांसकैरभिधानात्। नैवमनुमेयत्वं[1], तस्य स्वभावभेदाभावात्। [2]न हि साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणलिङ्गजनितज्ञान-[3]विषयत्वमनुमेयत्वमग्न्यादौ [4]धर्मादौ च लिङ्गिनि भिद्यते येन [5]किञ्चित्प्रयोज[6]कमपरम[7]-प्रयोजकमिति विभागोवतरेत्।

[परोक्षवर्तिपदार्थान् ज्ञापयितुमनुमेयत्वहेतुरसिद्ध इति मान्यतायां प्रत्युत्तरं]

स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्ध[8]मित्यनुमानमुत्सारयति यावान्[9] कश्चिद्-

---

उत्तर—उसमें स्वभाव भेद होने से वह हेतु अप्रयोजक है। देखिये! जिस प्रकार नये महल, मकान आदिकों में "रचना विशेष" हेतु है उनका कर्त्ता हमें प्रत्यक्ष नहीं है तो भी हमें उनमें कृतबुद्धि उत्पन्न होती है जो कि बुद्धिमत् हेतुक से व्याप्त है अर्थात् ऐसा ज्ञान होता है कि इस महल की रचना विशेष होने से इसका बनाने वाला कोई बुद्धिमान ही होना चाहिये और उसी प्रकार से जीर्ण मकान आदिकों में भी ये बुद्धिमान के द्वारा बनाये गये हैं ऐसी बुद्धि होती है परन्तु पर्वत आदिकों में अन्य प्रकार की रचना की प्रतीति होने से कृतबुद्धि उत्पन्न नहीं हो ऐसा नहीं है; इस प्रकार स्वयं आप मीमांसकों ने कहा है। किन्तु हमारा "अनुमेयत्व हेतु" ऐसा नहीं है। उसमें स्वभाव भेद पाया जाता है। साध्य के साथ अविनाभाव रूप नियम का निश्चय है लक्षण जिसमें ऐसे लिंग (साधन) से उत्पन्न हुये अनुमान ज्ञान का विषय रूप ही अनुमेयत्व हेतु है और वह अग्नि आदि साध्य तथा धर्मादिक साध्य में भेद को प्राप्त नहीं होता है जिससे कि वह हेतु अग्नि आदि कतिपय साध्य में तो प्रयोजक हो और धर्मादिक कतिपय साध्य में अप्रयोजक हो, इस प्रकार विभाग बन सके। अर्थात् नहीं बन सकता है।

[परोक्षवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराने के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस मान्यता का खण्डन]

स्वभाव से, काल से, देश से परोक्षवर्ती पदार्थ के लिए अनुमेयत्व हेतु असिद्ध है इस प्रकार कहते हुये बौद्ध एवं मीमांसक अपने अनुमान का खण्डन ही कर लेते हैं।

"जो कुछ भी पदार्थ हैं वे सब अग्निक हैं" इत्यादि अनुमान में साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति की असिद्धि होने से प्रकृत का उपसंहार भी नहीं बन सकता है अर्थात् स्वभाव, काल और देश से परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु को असिद्ध स्वीकार करने पर "जितने भी पदार्थ हैं वे क्षणिक हैं" इत्यादि में

---

1 सन्निवेशविशिष्टत्वप्रकारेण। सूक्ष्मांतरितदूरार्थेषु प्रयुक्तमनुमेयत्वं साधनं। अप्रयोजकं। (व्या० प्र०) 2 स्वभाव-भेदाभावं दर्शयति। 3 ज्ञानम् = अनुमानज्ञानम्। 4 पुण्यपापादौ। 5 अग्न्यादीनामनुमेयत्वम्। 6 प्रयोजकं परम इति पा. वि. प्र.। 7 धर्मादीनामनुमेयत्वम्। 8 इति वदन् मीमांसको बौद्धश्च स्वानुमानमुत्सारयन्ती (निवारयति) स्यर्थः। 9 कर्मादिपर्यंतः। अदृष्ट। (व्या० प्र०)

भावः स सर्वः क्षणिक इत्याविव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहा[1]रायोगाविप्र[2]कर्षिणा[3]मनुमितेरानर्थक्यात्। [4]सत्त्वादेरनित्यत्वादिना[5] व्याप्तिमिच्छता[6] सिद्धमनुमेयत्वमनयं[7]-वेनेति न [8]किञ्चिद्व्याहतं पश्यामः*। [9]स्यान्मतं 'केचिदर्थाः प्रत्यक्षा, यथा घटादयः, केचिदनुमेया ये कदाचित्क्वचित् [10]प्रत्यक्षप्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गाः[11]; केचिदागममात्रगम्याः सर्वदा स्वभावादिविप्रकर्षिणो धर्मादयः, तेषां सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिगोचरत्वायोगात्। तदुक्तं—

"सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात्। केवलागमगम्यत्वं [12]धर्मस्यते[13] पुण्यपापयोः" इति।

[14]ततो धर्मादीनामनुमेयत्वमसिद्धमुद्भावयन्नपि नानुमानमुत्सारयति[15], [16]तस्यानुमेयेर्थे-

---

व्याप्ति घटित न होने पर "पदार्थ हैं इसलिये क्षणिक हैं" इस प्रकार से बौद्ध जन अपने प्रकृत हेतु का उपसंहार भी नहीं कर सकेंगे।

पुनः हम लोगों के प्रत्यक्षभूत पदार्थों में अनुमान व्यर्थ ही ठहरेगा। इसलिये "सत्त्वादि" हेतुओं की "अनित्यत्व" आदि साध्य के साथ व्याप्ति को स्वीकार करते हुये बौद्धों के यहाँ अनुमेयत्व हेतु संपूर्ण रूप से सिद्ध हो ही जाता है इसमें हमें कुछ भी विरोध नहीं दिखता है।*

मीमांसक आदि—

कोई पदार्थ प्रत्यक्ष है जैसे घट आदि। कोई पदार्थ अनुमेय है जो किसी काल में कहीं पर प्रत्यक्ष से जाने गये अविनाभावी लिंग से जाने जाते हैं जैसे अग्नि आदि। कोई पदार्थ आगम मात्र से गम्य-जानने योग्य हैं जैसे—हमेशा ही स्वभाव से अत्यन्त परोक्ष धर्म-अधर्म आदि। इन पदार्थों को सभी ज्ञाता के प्रत्यक्ष आदि के गोचर होने का अभाव है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—सभी जानने वाले (प्रमाता) प्रत्यक्षादि रूप से संपूर्ण पदार्थों को विषय नहीं कर सकते हैं क्योंकि पुण्य और पाप केवल आगम के द्वारा ही जाने जाते हैं इसलिये धर्मादिक में "अनुमेयत्व" हेतु असिद्ध है।

इस प्रकार से कहते हुए भी हम मीमांसक अनुमान को दूर नहीं करते हैं क्योंकि वह अनुमान अनुमेय-अग्नि आदि पदार्थ में व्यवस्थित है।

---

1 स्वभावदेशकालविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यङ्गीकारे पावात्क्षिप्तवद्भाव इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ भावमात्रं तस्माद् क्षणिक इति प्रकृतोपसंहारायोगः। 2 अस्मदादिप्रत्यक्षागोचराणाम्। 3 बुद्धादीनां। स्मृतसंनिहितवर्तमानानां घटादीनामनुमानं निरर्थकं प्रत्यक्षेण प्रतीयमानत्वात्। वि. प्र. 4 हेतोः। 5 क्षणिकत्वादिना सह। 6 बौद्धानाम्। 7 साध्यस्येव। 8 विरुद्धम्। 9 सौगतमीमांसकादीनाम्। 10 प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नं ज्ञातमविनाभावि लिङ्गं येषां ते। 11 यथाग्न्यादयः। 12 सभ्यते वि. प्र.। अभिसभ्यते। (स्या० प्र०) 13 प्राप्यते। 14 त्रिप्रकारा एव अर्थाः मताः। (स्या० प्र०) 15 मीमांसकः। 16 अग्न्यादौ।

व्यवस्थानात्" इति, तदसत्, धर्मादीनामप्यनित्य[1]त्वादि[2]स्वभाव[3]तयानुमेयत्वोपपत्तेः ।

[धर्मादिकमनित्यादिस्वभावं अनित्यादि पर्यायत्वात् इति जैनाः कथयंति ।]

तथा हि । यावान्कश्चिद्भावः [4]पर्यायाख्यः स सर्वोऽनेकक्षणस्थायितया [5]क्षणिको यथा घटस्तथा च धर्मादिरिति मीमांसकैरपि कुतश्चित्[6] [7]पर्यायत्वादेरनित्यत्वेन[8] व्याप्तिः साधनीया, तदसिद्धौ प्रकृतेपि धर्मादौ [9]पर्यायश्च धर्मादिरित्युपसंहारायोगात् । कथं चायं[10] स्वभावादिविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमभिदधानः[11] सुखादीनामविप्रकृ[12]र्षिणा[13]मनुमितेरानर्थक्यं परिहरेत् ? [14]तस्यदविप्रकर्षिणा[15]मनुमितेरनिष्टेरदोष इति चेत् क्व पुनरियमनुमितिः [16]स्यात् ?..कदाचिद-

---

जैनाचार्य—यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि धर्मादिक भी पर्याय रूप अनित्य स्वभाव वाले हैं इसलिये अनुमेयपना उनमें घटित हो जाता है ।

[धर्म अधर्म आदि पर्यायें अनित्य हैं क्योंकि वे पर्याय हैं इस प्रकार से जैनाचार्य सिद्ध करते हैं ।]

पर्याय नामक जितने भी पदार्थ हैं वे सब अनेक क्षण स्थायी रूप से अधिक हैं जैसे घट । उसी प्रकार से धर्मादिक भी हैं । इस प्रकार मीमांसकों को भी किसी न किसी प्रमाण से पर्यायत्व आदि की अनित्य रूप से व्याप्ति सिद्ध करना चाहिये । ऐसा न मानने से प्रकृत धर्मादि में भी "और धर्मादि पर्याय हैं" इस प्रकार से उपसंहार नहीं हो सकेगा ।

तथा स्वभावादि से दूरवर्ती-परोक्ष में अनुमेयत्व हेतु को असिद्ध कहते हुए आप मीमांसक सुखादि को जो कि; अविप्रकर्षी-मानस प्रत्यक्ष हैं परोक्ष नहीं हैं उसमें भी अनुमान की व्यर्थता का परिहार कैसे करेंगे ? अर्थात् उसमें भी अनुमान का कोई उपयोग नहीं होगा ।

मीमांसक—नित्य ही प्रत्यक्षभूत पदार्थों के सिद्ध करने में हमें अनुमान इष्ट ही नहीं है इस लिये हमारे लिये यह कोई दोष नहीं है ।

जैन—पुनः यह अनुमान ज्ञान कहाँ प्रवृत्त होगा? अर्थात् परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व का अभाव है और अविप्रकर्षी (प्रत्यक्षभूत) पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु अनिष्ट है तो फिर अनुमान का प्रयोग कहाँ किया जावेगा ?

---

1 नित्यत्वात् । (ब्या० प्र०) 2 पर्यायापेक्षया । 3 स्वभावतया इति पा. । (ब्या० प्र०) 4 कर्म । हेतुर्नामतं विशेषणं । (ब्या० प्र०) 5 पर्यायत्वादिति हेतुरभ्येयः । 6 प्रमाणात् । 7 क्षणत्वादेः पर्यायोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात् हेतुरसमर्थनं । (ब्या० प्र०) 8 सह । (ब्या० प्र०) 9 उपसंहारप्रक्रियां दर्शयति । (ब्या०प्र०) 10 मीमांसकः । (ब्या० प्र०) 11 मीमांसकः । 12 मानसप्रत्यक्षत्वात् । 13 प्रत्यक्षाणां । (ब्या० प्र०) 14 तस्यदविप्रकर्षिणादिप्रकारेण परिहरामाह मीमांसकः । 15 पूर्वं महानसादौ प्रवर्तमानानां पावकधीनां (ब्या० प्र०) 16 विप्रकर्षिणामनुमेयत्वाभावादविप्रकर्षिणा मनुमेयत्वानिष्टेरित्यर्थः ।

विप्रक[1]र्षिणामग्न्यादौ [2]देशान्तरिविप्रकृष्टानां[3] अविनाभाविलिङ्गज्ञानमनुमितिरिति चेत् कथमेवं [4]शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत [5]इदं शोभेत ? "ज्ञाते [6]त्वर्थेनुमानादवगच्छति[7] बुद्धिम्" इति । अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेरदोष[8] इति चेद् धर्मादिप्रतिपत्तिरपि तत [9]एवास्तु । यथैव हि बहिरर्थपरिच्छित्यन्यथानुपपत्तेर्बुद्धिप्रति[10]पत्तिस्तथा श्रेयः प्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्त्या [11]धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिरपि[12] युक्ता भवितुम् । श्रेयःप्रत्यवायादेरन्यथा[13]प्युपपत्तेः

मीमांसक—कदाचित् प्रत्यक्षगोचर पदार्थों में एवं कभी-कभी देशादि से परोक्ष पदार्थों (अग्नि) में अनुमान का प्रयोग होता है, जिनका कि अविनाभावी हेतु पाया जाता है।

जैन—पुनः हमेशा ही परोक्षभूत बुद्धि को सिद्ध करने में अनुमान का प्रयोग कैसे हो सकेगा जिससे तुमने जो कहा है कि "पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर अनुमान से बुद्धि को जानता है" यह कथन शोभित हो सके ?

मीमांसक—हमारे यहाँ अर्थापत्ति प्रमाण से बुद्धि का ज्ञान हो जाता है अतः कोई दोष नहीं है।

जैन—पुनः धर्मादिकों का ज्ञान भी उसी अर्थापत्ति प्रमाण से हो जावे क्या बाधा है ? जिस प्रकार "बाह्य पदार्थों के जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से बुद्धि का ज्ञान होता है उसी प्रकार से सुख, दुःख की अन्यथानुपपत्ति होने से धर्म-अधर्म का ज्ञान भी हो सकता है अर्थात् सुख में बुद्धि है क्योंकि बाह्य पदार्थों का ज्ञान पाया जाता है तथैव धर्म और अधर्म भी हैं क्योंकि उनका फल सुख और दुःख देखा जाता है।

मीमांसक—सुख, दुःख आदि की अन्यथा भी उपपत्ति पायी जाती है। इसलिये धर्म अधर्म में अर्थापत्ति काम नहीं कर सकती। अर्थात् धर्म करते हुये किसी को दुःखी एवं पाप करते हुये को भी सुखी देखा जाता है।

जैन—सुख-दुःखादि की उत्पत्ति में दृष्ट (प्रत्यक्ष) कारणों में व्यभिचार पाया जा सकता है; अतएव ही अदृष्ट रूप पुण्य-पाप कारणों का ज्ञान होता है। जैसे रूपादिक के ज्ञान में इंद्रियों की शक्ति का अनुमान लगाया जाता है अर्थात् सुखमें विशेष इन्द्रिय शक्ति विद्यमान है क्योंकि विशिष्ट

---

1 प्रत्यक्षगोचराणाम् । 2 पावकादीनाम् । 3 पर्वतादौ प्रवर्तमानानां पावकादीनां । (ब्या० प्र०) 4 परोक्षं बुद्धिमनुमिनोतीत्यनुमानवचनात् । (ब्या० प्र०) 5 वक्तव्यमात्मम् । 6 ज्ञाततत्त्वस्यानुपपत्तेर्नेपि ज्ञातमस्ति (ब्या० प्र०) 7 मीमांसकः 8 कथमेवं शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत इदं शोभेत । ज्ञातेत्वर्थेऽनुमानादवगच्छति बुद्धिमिति अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेः । (ब्या० प्र०) 9 अर्थापत्तेः सकाशात् । केवलात्सुखत्वं सम्पद्यते पुण्यपापयोरिति व्याहन्यते प्रकृतमनुमेयत्वसाधनं च सिद्धं भवति । न चार्थापत्तिरनुमानाद् अन्यैवानुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणादिति वक्ष्यमाणत्वात् । वि. प्र. । 10 मपि बुद्धिरस्ति, घटादिबहिरर्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः । 11 आदिशब्देन स्वर्गो देवता च गृह्यते : तथा चेतरेतराश्रयादिभावातिप्रसङ्गाच्च । न स्वर्गदेवतापूर्वंप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥ इति मीमांसकेनोक्तत्वात् । वि. प्र. । 12 धर्माधर्मौ स्तः, श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्तेः । श्रेयः सुखम् । प्रत्यवायो दुःखम् । 13 धर्माधर्म-योरभावेपि स्यादिदर्शनात् ।

[1]क्षीणार्थापत्तिरिति[2] चेन्न, [3]तदुत्पत्तौ [4]दृष्टकारणव्यभि[5]चाराददृष्टकारणप्रतिपत्तेः, रूपादिज्ञानादिन्द्रियशक्ति[6]प्रतिपत्तिवत्[7]। न [8]चार्थापत्तिरनुमानादन्यैव, अनुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणात्। ततो बुद्ध्यादेः शश्वद्वि[9]प्रकर्षिणोनुमेयत्वसिद्धौ धर्मादेरपि [10]तत्सिद्धिः। ये तु तायागतादयः[11] [12]सत्त्वकृतकत्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छन्ति तेषां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्बाधाहतमसर्वज्ञवादिनां सर्वज्ञवादिनां[13] च, स्वभावादिविप्रकृष्टेष्वर्थेष्वनुमेयत्वव्यवस्थितेः। एतेनात्यन्तपरोक्षे[14]ष्वर्थेष्वनुमेयत्वाभावाद्भा[15]गासिद्धमनुमेयत्वमित्येतदपि प्रत्याख्यातं, तेषामपि कथञ्चिदनेकान्तात्मक[16]त्वादिस्वभावत[17]यानुमेयत्वसिद्धेः।

रूपादि ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति पाई जाती है।

दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति अनुमान से पृथक् कोई चीज नहीं है अनुमान का ही आपने अर्थापत्ति यह नामकरण कर दिया है। इसलिये नित्य ही परोक्ष रूप बुद्धि आदि को "अनुमेयपना" सिद्ध हो जाने पर धर्मादि को भी अनुमेयपने की सिद्धि घटित हो जाती है और जो बौद्ध, नैयायिक आदि सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओं की अनित्यत्व आदि साध्य के साथ व्याप्ति का स्वीकार करते हैं यथा जो सत् है वह क्षणिक है, ऐसा बौद्धों का कथन है, एवं जो कृतक है वह अनित्य है ऐसा नैयायिक मानते हैं। उनके यहाँ संपूर्ण रूप से अनुमेयत्व हेतु सिद्ध ही है। इस प्रकार से असर्वज्ञवादी मीमांसक आदि के यहाँ और सर्वज्ञवादी जैनियों के यहाँ इस विषय में कुछ भी विरोध नहीं है क्योंकि स्वभावादि से परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु व्यवस्थित है।

इस विवेचन से "अत्यंत परोक्ष पदार्थों में अनुमेयत्व हेतु का अभाव होने से यह हेतु भागासिद्ध है।" ऐसा कहने वालों का भी खंडन हुआ समझना चाहिये क्योंकि अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी कथंचित् अनेकांतात्मक आदि स्वभाव वाले होने से अनुमेय रूप सिद्ध ही हैं। यथा "सभी वस्तुयें अनेकांतात्मक हैं क्योंकि सत् रूप है" इत्यादि।

---

1 साध्यसिद्धि प्रत्युपक्षीणशक्तिका अशक्ता इत्यर्थः। (ब्या० प्र०) 2 मीमांसको वदति हे स्याद्वादिन्। अर्थापत्तिनिष्फला ज्ञातत्वात् हेतोः मांसस्य भिन्नप्रमुखस्य अन्यथा दर्शनादि विनापि उद्यनादिनापि उत्पत्तिर्घटते। वि. प्र. 3 श्रेयः प्रत्यवायोः सिद्धौ दृष्टकारणस्य उद्यनादेः व्यभिचारो निष्फलत्वं च दृश्यते। अतः अदृष्टस्य धर्माधर्मादेर्निश्चितेः। वि. प्र.। 4 कस्यचित् स्वर्गाद्यभावेऽपि श्रेयः प्रत्यवायावेरुत्पत्तिदर्शनादिति भावः। (ब्या० प्र०) 5 स्यादिधिः श्रीव्यमेवेति न, मधुक्षस्यापि ततः सम्भवादिति व्यभिचारः। 6 गोलकसलक्षणदृष्टकारणव्यभिचाराच्छक्तिरूपादृष्टकारण प्रतिपत्तिः। (ब्या० प्र०) 7 यथा विशिष्टेन्द्रियशक्तिरस्ति, विशिष्टरूपादिज्ञानान्यथानुपपत्तेः। 8 किञ्च। 9 परोक्षत्व। 10 अनुमेयत्वसिद्धिः। 11 आदिशब्देन नैयायिकादयः। 12 यत्सत्तत् क्षणिकमिति बौद्धाः। यत्कृतकं तदनित्यमिति नैयायिकाः। 13 जैनानाम्। 14 स्वर्गादिलक्षणेषु। (ब्या० प्र०) 15 एकदेशे वर्तमानो हेतुर्भागासिद्धः। (ब्या० प्र०) 16 सर्वमनेकान्तात्मकं, सत्त्वात्। 17 कृत्वा। (ब्या० प्र०)

[अनुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वमिरपि अर्थो घटितुमर्हति]

[1]अथवानुमेयत्वं श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतुः, मतेरनु पश्चाभ्भीयमानत्वाद्[2], अनुमेयाः[3] सूक्ष्मादयोर्था इति व्याख्यानान्मतिपूर्वज्ञानस्य श्रुतत्वात्, "श्रुतं मतिपूर्वम्" इति वचनात्। न चैतदसिद्धं [4]प्रतिवादिनोपि [5]सर्वस्य [6]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वोपगमात्। [7]चोदना हि भूतं

सारार्थ—मीमांसक का कहना है कि अत्यन्त परोक्ष परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को अनुमान ज्ञान का विषय मानना ठीक नहीं है। इस पर जैनाचार्यों ने कहा कि पुनः आप मीमांसक भी तो यह कहते हैं कि कोई मनुष्य पदार्थों को जान चुका है तब हम अनुमान से यह निर्णय कर लेते हैं कि इसमें बुद्धि अवश्य है अन्यथा यह पदार्थों को कैसे जानता ? इस प्रकार से अत्यन्त परोक्ष बुद्धि का ज्ञान आप अनुमान से मान लेते हैं। कहिये ? क्या आपकी हमारी या किसी की बुद्धि किसीको प्रत्यक्ष हो रही है ? तब मीमांसक ने कहा कि हम अर्थापत्ति से बुद्धि को जानते हैं क्योंकि बुद्धि के बिना बाह्य पदार्थों का ज्ञान होना असंभव है तब आचार्य ने कहा कि भाई ! ऐसे ही पुण्य पाप के बिना सुख-दुःख का होना भी असंभव है। अतः हम सुख दुःख की अन्यथानुपपत्ति से पुण्य, पाप का ज्ञान अर्थापत्ति से ही कर लेंगे क्या बाधा है ? तथा जैनाचार्यों ने अर्थापत्ति को अनुमान में ही सम्मिलित किया है। मतलब मीमांसक का कहना है कि परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ अत्यन्त परोक्ष हैं उनको जानने में अनुमान ज्ञान का प्रयोग नहीं होता है।

इस पर जैनाचार्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि परोक्ष भी बुद्धि को अनुमान से जानने का कथन आपके यहाँ ही मिलता है। यदि आप अत्यन्त परोक्ष परमाणु आदि को अनुमान ज्ञान का विषय न मानो पुनः सुख आदि पदार्थों को मानस प्रत्यक्ष मानकर उनके विषय में भी अनुमान ज्ञान कैसे हो सकेगा ? क्योंकि जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष हैं उनमें अनुमान ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? फिर तो अनुमान का अभाव ही हो जावेगा। यदि आप अनुमान ज्ञान का अभाव करना नहीं चाहते हो तब तो सूक्ष्मादि पदार्थों को अनुमेय रूप मान ही लीजिये कोई बाधा नहीं है।

[अनुमेयत्व का "श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व" ऐसा अर्थ भी संभव है।]

अनुमेयत्व हेतु श्रुतज्ञान के द्वारा अधिगम्य (जानने योग्य) है क्योंकि मतिज्ञान के 'अनु' = पश्चात् जानने योग्य है। "सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय अर्थात् श्रुतज्ञान के विषय भूत हैं" इस प्रकार का व्याख्यान भी सुघटित हो जाता है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। "श्रुतं मतिपूर्वं" ऐसा आगम का वचन है। हमारा यह कथन असिद्ध भी नहीं है क्योंकि प्रतिवादी मीमांसक भी संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को श्रुतज्ञान (वेद) का विषय स्वीकार करते हैं।

---

1 प्रकारान्तरेणानुमेयत्वं व्याख्याति। 2 श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकमेव भवति। 3 श्रुतज्ञानविषयाः। 4 मीमांसकस्य। 5 सूक्ष्मार्थस्य। 6 श्रुतं वेदः। 7 वेदवाक्यम्।

भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं [1]व्यवहितं [2]विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलमिति[3] स्वयमेवाभिधानात्। तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके।

"सूक्ष्माद्यर्थोपि कार्त्स्न्यतः [4]कस्यचित्प्रत्यक्षः [5]स्फुटम्[6]। [7]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वाद्यदोहीयादिदेशवत्[8] ॥१॥ न हेतोः [9]सर्वथै[10]कान्तैरनेकान्तः[11] कथञ्चन। [12]श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात्तेषां[13] वृत्तेरबाधनात्[14] ॥२॥ [15]स्वभावतो[16]विप्रकर्षादि[17] श्रुतज्ञानं हि यत्परे। [18]तेनाधिगम्यमानत्वं[19]सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥३॥"

[20]इति। ततोनुमेयाः सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः सिद्धा एव।

"भूत, वर्तमान, भविष्यत् सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट (परोक्ष) आदि सभी पदार्थों का ज्ञान कराने में वेदवाक्य ही समर्थ है" इस प्रकार स्वयं मीमांसकों ने कथन किया है। उसी को तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक में कहा है—

श्लोकार्थ—"सकल सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं।" जैसे नदी, द्वीप, देश आदि ॥१॥

श्लोकार्थ—एकांत से सर्वथा नित्य रूप अथवा सर्वथा अनित्य रूप से स्वीकार किये गये पदार्थों के साथ हेतु में अनेकांतिक दोष भी नहीं है क्योंकि सभी पदार्थ कथंचित् श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य हैं। सर्वथा एकांत रूप से नित्य या अनित्य रूप जो पदार्थ हैं, उन पदार्थों को जानने में प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से बाधा पायी जाती है ॥२॥

श्लोकार्थ—स्वभाव से अंतरित (परोक्ष), देश से परोक्ष, काल से परोक्ष रूप से तीन स्थान हैं। इन तीनों स्थानों में जो अविसंवादी है वही श्रुतज्ञान है। एवं संपूर्ण वस्तुएं उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जानने योग्य सिद्ध हैं तथा इन तीनों स्थानों के अविसंवादी होने का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि जो जिसको जाने, उसी में प्रवृत्ति करे, और उसी को प्राप्त करे, ऐसे ज्ञान को भी स्थानत्रय अविसंवादी कहते हैं। इसलिये श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय रूप सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं ॥३॥

---

1 अन्तरितं। (ब्या० प्र०) 2 देशादिदूरं। (ब्या० प्र०) 3 पुरुषान्। (ब्या० प्र०) 4 सर्वज्ञस्य। 5 यथा सर्वज्ञ तथा। (ब्या० प्र०) 6 श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात् इति पा.। तस्य श्रुतज्ञानगम्यः इत्यर्थो जायते। (ब्या० प्र०) 7 सूक्ष्माद्यर्थस्य। 8 आदिः। (ब्या० प्र०) 9 नित्यत्वेनानित्यत्वेनैव वा एकान्तरूपेण स्वीकृतैरर्थैः। 10 अनैकान्तिकत्वं दोषः। 11 भूतं भूतज्ञानाधाराः 12 सर्वथैकान्तानामर्थानाम्। 13 प्रत्यक्षानुमानबाधनात्। 14 सर्वत्र वस्तुनि श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वाभावात् यावसिद्धोयमित्यादेस्तृतीयमाह स्थानेति। 15 स्वभावान्तरितं, देशान्तरितं, कालान्तरितं चेति स्थानत्रयम्। 16 प्रत्यक्षानुमेयत्वं परोक्षेषु। (ब्या० प्र०) 17 इतरत्र। 18 ज्ञायमानत्वं। एतत् श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वं हेतुः मीमांसकस्यापि अविरुद्धो साधितः। (ब्या० प्र०)

[सर्वेऽर्थाः अनुमेयाः स्युः प्रत्यक्षाश्च न स्युः का हानिः ?]

[1]सेऽनुमेया, न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च [2]स्युः, किं व्याहन्यते ? [3]इति कश्चिन्मन्यमानं प्रत्याह* । [4]अग्न्यादयोऽनुमेयाः स्युः कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च न स्युरिति । [5]तथा [6]ह्यनुमानोच्छेदः स्यात्*, सर्वानुमानेष्वुपालम्भस्य[7] समानत्वात् । शक्यं हि वक्तुं धूमश्च क्वचित्स्यादग्निश्च न स्यादिति ।

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनं चार्वाकमनुमानप्रमाणं स्वीकारयंति जैनाचार्याः]

[8]तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्य[9] विज्ञानव्यतिरिक्तमिदमध्यक्षं किं[10] [11]लक्षयेत् प्रमाणतया [12]परसमक्षमानतयेति[13] न [14]किञ्चिदेतत्[15] तया नेतरया वा [16]व्यवस्थापयितुमर्हति* । प्रत्यक्षं प्रमाणम्, विसंवादित्वादनुमानादिकमप्रमाणं, विसंवादित्वादिति [17]लक्षयतोऽनुमानस्य बलाद्व्यवस्थितेर्न

[सभी सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय ही रहें प्रत्यक्षज्ञान के विषय न होवें क्या बाधा है ?]

मीमांसक—श्रुतज्ञान (वेद) से अधिगम्य—जानने योग्य अनुमेय पदार्थ किसी (सर्वज्ञ) के प्रत्यक्ष न होवें, अनुमेय मात्र ही रहें तो क्या बाधा आती है ?*

जैन—इस प्रकार से तो हम अग्नि आदिक अनुमेय पदार्थ के लिए भी ऐसा ही कह सकेंगे* कि "जो अग्नि साध्य है वह धूमत्वादि हेतु से अनुमेय होवे और किसी के प्रत्यक्ष न होवे पुनः इस प्रकार से तो अनुमान का उच्छेद (अभाव) हो जावेगा* । यदि कहा जाय कि अनुमेयों के होने में संदेह रहता है तो यह उपालंभ सभी अनुमानों में समान है। अर्थात् सभी अनुमानों में इस प्रकार की उलाहना दी जा सकेगी और ऐसा भी कहना शक्य हो जावेगा कि कहीं पर धूम हो जावे पर अग्नि नहीं होवे, किन्तु ऐसी मान्यता ठीक नहीं है ।

[अब अनुमान के अभाव को स्वीकार करने वाले चार्वाक को जैनाचार्य समझाते हैं ।]

इस प्रकार से अनुमान के उच्छेद को स्वीकार करने पर अस्वसंवेदी विज्ञान व्यतिरिक्त इंद्रियों के द्वारा "प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान प्रमाण नहीं है" इस प्रकार से आप चार्वाक कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे अर्थात् न तो आप प्रत्यक्ष को प्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे और न अनुमान को अप्रमाण ही सिद्ध कर सकेंगे इसलिये आप चार्वाक को अनुमान प्रमाण मानना योग्य है ।*

---

1 मीमांसकः मन्यते ।—अनुमेया अपि ते न कस्यचित्प्रत्यक्षाः संभवन्ति । 2 इति । (व्या० प्र०) 3 जैनाः परिहरन्ति प्राहुः स्याद्वादिनः ।—इति (पूर्वोक्तम्), अग्न्यादयो धूमवत्त्वादिनानुमेयाः सन्तु, न च प्रत्यक्षाः कस्यचिदिति समानमुभयत्र । न च तथेष्टं मीमांसकस्य ततो नोक्तदूषणावकाश इत्यर्थः । 4 कथं । (व्या० प्र०) 5 समानत्वे च (व्या० प्र०) 6 किं च । (व्या० प्र०) 7 सन्दिग्धानैकान्तिकत्वस्य । 7 अनुमानोच्छेदाङ्गीकारे (चार्वाकमाहुः) । 9 विज्ञानमस्वसंवेद्यं भूतपरिणामत्वात् पित्तादिवत् । 10 कर्मतापन्नम् । 11 (मीमांसकः) नैव लक्षयेत् । 12 अनुमानम् । 13 चार्वाको लोकान् प्रति अध्यक्षं किं दर्शयेत् (कथं प्रतीति कारयेत्) ? 14 अप्रमाणतया । 15 अनुमानम् । 16 चार्वाको । 17 चार्वाकस्य ।

प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते। ततोनुमानमिच्छता याज्ञिकेनेव [1]लौकायतिकेनापि प्रसिद्धाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणादनुमेयत्वहेतोः सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसिद्धिरेषितव्या।

[मीमांसको यूते न कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थान् प्रत्यक्षीकर्तुं क्षमः प्रमेयत्वादित्यादिरस्तस्य निराकरणं कुर्वन्ति जैनाचार्याः]

[2]स्यान्मतं, बाधितविषयोयं हेतुरनुमानेन पक्षस्य बाधनात्। तथा हि। न [3]कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारी, [4]प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वादस्मदादिवत्। न चेदं [5]साधनमसिद्धं व्यभिचारि वा, प्रत्यक्षाद्यविसंवादित्वात्[6]। तदुक्तं

"[7]प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य[8] तु। सद्भावावारणे शक्तं [9]को नु तं[10] कल्पयिष्यति।"

चार्वाक—"प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है क्योंकि वह अविसंवादी है। अनुमानादि अप्रमाण हैं क्योंकि वे विसंवादी हैं।"

जैन—इस प्रकार से कहते हुए आप चार्वाक के यहाँ अनुमान तो बलपूर्वक आ ही गया है इसलिए "प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है" ऐसा कथन व्यवस्थित नहीं होता है। (अर्थात् "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" यह प्रतिज्ञावाक्य है "क्योंकि अविसंवादी है" यह हेतुवाक्य है एवं अनुमान के ही प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव पाये जाते हैं इस प्रकार से प्रत्यक्ष रूप एक प्रमाण को सिद्ध करते हुए अनुमान वाक्य के द्वारा) अनुमान प्रमाण को बेमालूम आप स्वीकार कर ही लेते हैं इसलिये अनुमान को स्वीकार करने वाले याज्ञिक (भाट्ट) के समान चार्वाक को भी "प्रसिद्ध अविनाभाव रूप नियम निश्चय लक्षण वाले अनुमेयत्व हेतु से सूक्ष्मादि पदार्थों को किसी के प्रत्यक्षता सिद्ध है" इस प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिये।

[मीमांसक कहता है कि कोई भी व्यक्ति सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने वाला नहीं है क्योंकि प्रमेय है इत्यादि। जैनाचार्य इस कथन का निराकरण करते हैं।]

मीमांसक—यह हेतु बाधित विषय वाला है क्योंकि आपके पक्ष में अनुमान से बाधा आती है। तथाहि—"कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला नहीं है क्योंकि वह प्रमेयरूप है, अस्तित्व रूप है अथवा वस्तु रूप है जैसे हम और आप लोग सूक्ष्मादि पदार्थों के साक्षात् करने वाले नहीं हैं।" हमारा यह हेतु प्रत्यक्षादि से अविसंवादी है इसलिए असिद्ध या व्यभिचारी भी नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से सूक्ष्मादि पदार्थ को साक्षात् करने वाली कोई भी आत्मा सिद्ध नहीं होती है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—प्रत्यक्ष आदि से अविसंवादी प्रमेयत्व आदि हेतु जिस सर्वज्ञ के अस्तित्व को निषेध करने में समर्थ पाये जाते हैं फिर कौन ऐसा विचारशील व्यक्ति है जो कि सर्वज्ञ के सद्भाव

---

1 चार्वाकेन। 2 मीमांसकस्य। 3 मीमांसकः। दि. प्र. 4 पदार्थत्वात्। (ब्या० प्र०) 5 प्रागुक्तम्। 6 यतो न साधयति सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणं प्रत्यक्षम्। 7 सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणं पुरुषं न साधयति प्रत्यक्षादयः। (ब्या० प्र०) 8 सर्वज्ञस्य। 9 जैनादिः। (ब्या० प्र०) 10 सर्वज्ञसद्भावम्।

इति। तदप्यसम्यक्, तत[1] एव कस्यचित्सूक्ष्मादेर्थस्यासाक्षात्कारित्वसिद्धेः। सूक्ष्मादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वाद्वा स्फटिकादिवत्। [2]अनुमेयेना[3]त्यन्तपरोक्षेण[4] चार्थेन व्यभिचार इति चेन्न, [5]तस्य पक्षीकरणात्[6]। [7]तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र[8] हेतुलक्षणं[9] पुष्णाति [10]तं सर्वं [11]चेतनः प्रतिक्षेप्तुमर्हति संशयितुं वा॰ [12]सूक्ष्मादेरर्थस्यासाक्षात्कारिण[13]स्तस्यैव[14] सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वादस्तित्वसिद्धेरबाधितविषयत्वस्यापि[15] [16]परोपगतहेतुलक्षणस्य [17]प्रकृतहेतोः पोषणात्[18]।

की कल्पना करेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं करेगा।

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्हीं प्रमेयत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि हेतुओं द्वारा ही किसी न किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारित्व सिद्ध हो जाता है। तथाहि "सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे प्रमेय रूप हैं, अस्तित्व रूप हैं अथवा वस्तुत्व रूप हैं। जैसे-स्फटिक आदि पदार्थ।"

शंका—अनुमान मात्र से जानने योग्य और आगम से जानने योग्य अत्यन्त परोक्ष पदार्थों के साथ व्यभिचारी दोष आता है।

समाधान—नहीं आता है क्योंकि इन सभी अनुमान गम्य और अत्यन्त परोक्ष आगम गम्य पदार्थों को भी हमने पक्ष में ले लिया है अतः विपक्ष के न होने से व्यभिचार दोष को अवकाश ही नहीं है कारण कि अनुमान गम्य, अनुमेय एवं आगम अत्यन्त परोक्ष पदार्थ भी प्रमेय हैं, अस्तिरूप तथा वस्तुरूप हैं यह बात निश्चित है।

अब इस प्रकार से प्रमेयत्व सत्त्व आदि हेतु सर्वज्ञ को सिद्ध करने में "सुनिश्चित रूप से असंभव है बाधक प्रमाण जिसमें" ऐसे हेतु के लक्षण को पुष्ट करते हैं तब कोई भी बुद्धिमान चेतन आत्मा इन्हीं हेतुओं द्वारा उस सर्वज्ञ का निषेध करने में या उसके सद्भाव में संशय करने के लिये समर्थ कैसे हो सकता है ?॰ अर्थात् इन्हीं हेतुओं से तो सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो रहा है पुनः

---

1 प्रमेयत्वादितः। 2 अनुमानमात्रगम्येन। 3 मीमांसक आह हे स्याद्वादिन्। प्रमेयत्वादिति हेतोः अनुमेयेनात्यंत परोक्षेणार्थेन कृत्वा व्यभिचारो दृश्यते इति चेन्न तस्यानुमेयस्यात्यंतपरोक्षार्थस्य पक्षीकरणात्। सूक्ष्मादयार्था इति पक्षः कृतस्तेनैवांतर्भावात् ततोहेतु व्यभिचारी न। दि. प्र.। 4 आगमगम्येन। 5 अनुमेयस्यात्यन्तपरोक्षस्य च। 6 कस्यचित्सूक्ष्मादेरर्थस्यासाक्षात्कारित्वसिद्धिः प्रमेयत्वसत्त्वादेर्यतः। (ब्या॰ प्र॰) 7 उक्तप्रकारेण। (ब्या॰ प्र॰) 8 सर्वज्ञे साध्ये। 9 सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वस्य लक्षणं स्वरूपम्। अत्रमानुमेयत्वस्य लक्षणमत्राबाधितविषयत्वम्। 10 सर्वज्ञम्। 11 बुद्धिमान्। 12 मुः। (ब्या॰ प्र॰) 13 प्रमेयत्वादेः साधनस्याबाधकत्वप्रकारेण। (ब्या॰ प्र॰) 14 पुरुषस्य प्रतिक्षेपकस्य संशयितस्य वा। 15 सूक्ष्मादेरर्थे पक्षे। (ब्या॰ प्र॰) 16 परेण मीमांसकेनाभ्युपगतः प्रमेयत्वादिहेतुः सर्वज्ञास्तित्वे अबाधितविषयः सन् सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वादिप्रकृतहेतुं पुष्णाति। 17 अनुमेयत्व। (ब्या॰ प्र॰) 18 सद्भावसाधनात्। (ब्या॰ प्र॰)

[सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये हेतुः सर्वज्ञभावधर्मोऽभावधर्मं उपयधर्मो वेति प्रश्ने विचारः क्रियते जैनाचार्यैः]

[1]ननु च सर्वज्ञस्यास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं हेतुः [2]सर्वज्ञभावधर्मश्चेदसिद्धः[3]। को हि[4] नाम सर्वज्ञभावधर्मं हेतुमिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत्। सर्वज्ञाभावधर्मश्चेद्विरुद्धः, [5]ततः सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव सिद्धेः। सर्वज्ञभावाभावधर्मश्चेदनैकान्तिकः, सपक्षविपक्षयोर्वृत्तेः ? तदुक्तम्

इन्हीं हेतुओं से कोई भी महानुभाव सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकते हैं और न सर्वज्ञ के अस्तित्व में संशय ही कर सकते हैं।

सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व हेतु से सूक्ष्मादि अर्थों को साक्षात् करने वाले उसी सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि होती है अतः मीमांसक द्वारा स्वीकार किये गये और अबाधित विषय वाले भी प्रमेयत्वादि हेतु का प्रकृत—अनुमेयत्व हेतु से पोषण ही होता है। अर्थात् उसके सर्वज्ञ निषेधक हेतु हमारे सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले "अनुमेयत्व" हेतु का पोषण ही कर देते हैं न कि खंडन। तात्पर्य यह है कि मीमांसक ने सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रमेयत्व आदि हेतु दिये हैं, किन्तु इन हेतुओं में भी "सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व लक्षण पाया जाता है अतः ये हेतु हमारे मूल कारिका के 'अनुमेयत्व हेतु' को ही पुष्ट कर देते हैं जिससे इन प्रमेयत्व आदि हेतुओं से भी सर्व के अस्तित्व की ही सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—मीमांसक ने 'प्रमेयत्व, सत्त्व और वस्तुत्व' ऐसे तीन हेतुओं के द्वारा सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु जैनाचार्य ने इन्हीं तीन हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। कोई न कोई महापुरुष संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाला अवश्य है क्योंकि प्रमाण-ज्ञान का विषय है। जैसे ही आज ही यहाँ भरत क्षेत्र में सर्वज्ञ उपलब्ध न हों फिर भी विदेह आदि क्षेत्रों में एवं चतुर्थ काल में उनकी उपलब्धि होती है अतः वह सर्वज्ञ अस्तिरूप भी है तथैव वस्तुभूत भी है। इसलिए ये तीनों हेतु सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध कर देते हैं।

[सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने में आपका हेतु सर्वज्ञ के सद्भाव का धर्म है या अभाव का अथवा उभय का ऐसे प्रश्न होनेपर जैनाचार्य उत्तर देते हैं।]

मीमांसक—यदि आप जैन सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने में सुनिश्चितासंभवद् रूप से बाधक प्रमाणत्व हेतु को सर्वज्ञ के अस्तित्व का धर्म स्वीकार करते हैं तो आपका यह हेतु असिद्ध है जैसे कि आपका सर्वज्ञ रूप साध्य असिद्ध है क्योंकि ऐसा कौन व्यक्ति है जो सर्वज्ञ के सद्भाव धर्म

---

1 मीमांसकः। 2 यदि। आह: सौगतमतमाश्रित्य मीमांसकः पृच्छति सर्वज्ञास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् इति। हेतुः सर्वज्ञभावधर्मः। उत सर्वज्ञाभावधर्मः। उभयधर्मः इति प्रश्नत्रयं।वि. प्र.। 3 सर्वज्ञस्य। 4 व्यतिरेकेण प्राक्तनं भावयति। (ब्या० प्र०) 5 सर्वज्ञाभावधर्मात्।

"असिद्धो भावधर्मश्चेदुभयधर्मा व्यभिचार्युभयाश्रयः[1]। विरुद्धो धर्मोऽभावस्य[2] स सत्तां [3]साधयेत् कथम्" इति।

[4]धर्मिण्यसिद्धसत्ताके साध्याभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात्कथं सकलविदि[5] सत्त्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि [6]वैयानांप्रियस्तद्धर्मिस्वभावं[7] न लक्षयति *। [8]स हि तावदेवं[9] सौगतमतमाश्रित्य ब्रुवाणः प्रष्टव्यः[10]। शब्दानित्यत्वसाधनेपि कृतकत्वादावयं[11] विकल्पः किं न स्यादिति *। शक्यं हि वक्तुं, [12]कृतकत्वादिहेतुर्यद्यनित्यशब्दधर्मस्तदाऽसिद्धः[13]। को नामानित्यशब्दधर्मं[14] हेतुमिच्छन्ननित्यशब्दमेव नेच्छेत्[15]? अथ नित्यशब्दधर्मस्तदा विरुद्धः, [16]साध्यविरुद्धसाधनात्। अथोभयधर्मस्तदा व्यभिचारी, सपक्षेतरयोर्वर्तमानत्वात्। इति सर्वा-

---

को हेतु स्वीकार करते हुए सर्वज्ञ को ही न स्वीकार करे।

यदि आप ऐसा कहें कि हमारा हेतु सर्वज्ञ के अभाव का धर्म है तब तो वह हेतु विरुद्ध हो गया। सर्वज्ञ के अभाव का धर्म होने से वह हेतु तो सर्वज्ञ के नास्तित्व को ही सिद्ध करेगा न कि अस्तित्व को। पुनः आप कहें कि वह हेतु सर्वज्ञ के भाव और अभाव दोनों का ही धर्म है तब तो आपका यह हेतु व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष (सद्भाव) और विपक्ष (नास्तित्व) दोनों में उसकी वृत्ति हो जाती है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—यदि हेतु साध्य के भाव का धर्म है तो असिद्ध है क्योंकि साध्य सर्वदा असिद्ध ही होता है यदि साध्य के भाव एवं अभाव दोनों का धर्म है तो व्यभिचारी है तथा यदि साध्य के अभाव का धर्म है तो विरुद्ध है ऐसा हेतु साध्य-सर्वज्ञ की सत्ता को कैसे सिद्ध कर सकेगा?

"असिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे धर्मी सर्वज्ञ के साथ, अभाव या उभय धर्मों को हेतु बनाने पर असिद्ध, विरुद्ध और अनेकोंतिक दोष आते हैं। अतः सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि किस प्रकार से हो सकती है" ऐसा कहते हुए भी आप 'देवानां प्रिय' (मूर्ख) मीमांसक सर्वज्ञ-लक्षण-धर्मी के स्वभाव को नहीं समझ सके हैं।*

[अब यहाँ मीमांसक सौगतमत का आश्रय लेकर पक्ष रखता है पुनः जैनाचार्य उसका खंडन करते हैं।]

सौगतमत का आश्रय लेकर बोलते हुये उस मीमांसक से हम पूछते हैं कि आपके यहाँ भी शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्व आदि हेतु में भी यह विकल्प क्यों नहीं किया जा सकेगा?* अर्थात् हम भी ऐसा कह सकते हैं कि "शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है।" इस अनुमान वाक्य में कृतकत्वादि हेतु यदि अनित्य शब्द के धर्म हैं तब वह हेतु असिद्ध है अतः कौन ऐसा विवेकी है जो कि अनित्य शब्द के धर्म को हेतु स्वीकार करते हुए शब्द को अनित्य स्वीकार न करें।

---

1 वसः। (ब्या० प्र०) 2 सर्वोऽभावः स्यादिति वा पाठः। वि. प्र.। 3 सर्वज्ञ। सा सत्ता साध्यते इति पा.। (ब्या०प्र०) 4 सर्वज्ञे। 5 सकलविदित इति पा. वि. प्र.। 6 मीमांसकः (मूर्खः)। 7 सर्वज्ञलक्षणम्। 8 मीमांसकः। 9 (पुरस्ताच्छब्दानित्यत्वादिकथनं सौगतापेक्षयेत्यर्थः)। 10 जैनेन। 11 तद्भावधर्मस्तथाभावधर्मस्तदभावाभावधर्मो वेति। 12 कृतकत्वादिति हेतुः पा.। (ब्या० प्र०) 13 तदा न सिद्धः इतिपा.। (ब्या० प्र०) 14 को हि इति पाठान्तरम्। (ब्या० प्र०) 15 शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं तद्धर्मः कृतकत्वं हेतुः। साध्येऽसिद्धे हेतुरप्यसिद्धः, अनित्यशब्दस्यासिद्धत्वे तद्धर्मस्यकृतकत्वस्याप्यसिद्धेः। 16 अनित्यत्वविरुद्धं नित्यत्वम्।

नुमानोच्छेदः, [1]क्वचित्पावकादौ साध्ये [2]धूमवत्त्वादावपि विकल्पस्यास्य[3] समानत्वात् । [4]विमत्य-[5]धिकरणभावापन्नविनाश[6]धर्मिधर्मत्वे[7] कार्यत्वादेरसंभवद्बाधकत्वादेर्पि [8]सन्दिग्ध[9]सद्भाव-धर्मिधर्मत्वं[10] सिद्ध[11] बोद्धव्यम् ।

[मी०-इसको छूते जैनाना सर्वज्ञधर्मी प्रसिद्धसत्ताको नास्तीति जैनाचार्यः समाधत्ते ।]

ननु[12] च शब्दादेर्धर्मिणः शब्दत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धानित्यत्वादिसाध्यधर्म-कस्य धर्मो[13] हेतुः कृतकत्वादिरिति युक्तं; सर्वथाप्यसिद्धसत्ताकस्य तु सर्वज्ञस्य कथं विवादा-पन्नसद्भावधर्मकस्य धर्मो हेतुरसंभवद्बाधकत्वादिर्युज्यते, प्रसिद्धो धर्मी [14]अप्रसिद्धधर्मविशे-

---

आचार्य—शब्द का अनित्यपना साध्य है और उसका धर्म कृतकपना हेतु है। साध्य असिद्ध होने से हेतु भी असिद्ध है। अनित्य शब्द की असिद्धि होने से उसका धर्मरूप कृतकत्व हेतु भी असिद्ध है। यदि कहो कि यह हेतु नित्य शब्द का धर्म है तब तो विरुद्ध हो जाता है क्योंकि अनित्य रूप साध्य से विरुद्ध नित्य को सिद्ध कर रहा है। तथा यदि कहो कि उभय का धर्म है तब तो व्यभिचारी हो जाता है क्योंकि सपक्ष और विपक्ष दोनों में रह जाता है और इस प्रकार से तो सभी अनुमानों का उच्छेद हो जावेगा।

किसी पर्वत पर अग्नि आदि को साध्य (सिद्ध) करने में धूमत्व आदि हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं।

विवादापन्न विनाश धर्मी शब्द के अनित्यत्व धर्म में असंभवबाधकत्व रूप कार्यत्व आदि हेतु से भी संदिग्ध सद्भाव रूप धर्मी का धर्मपना सिद्ध हुआ ही जानना चाहिये।[10]

[मीमांसक कहता है कि जैनों का सर्वज्ञ धर्मी प्रसिद्ध सत्तावाला नहीं है इस पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

मीमांसक—शब्दत्व आदि के द्वारा जिसकी सत्ता प्रसिद्ध है और जिसमें अनित्यत्व आदि साध्य धर्म संदिग्ध हैं ऐसे शब्दादि धर्मी के कृतकत्व आदि हेतु धर्म हैं यह कथन तो युक्त है किंतु सभी

---

1 पर्वतादौ। 2 न केवलं कृतकत्वादौ। (ब्या० प्र०) 3 अग्निमत्पर्वतधर्मो वाऽग्निमत्पर्वतधर्मो वोभयधर्मो वेत्यस्य। 4 विमतिः = विवादः। 5 विमत्यधिकरणभावापन्नः विवादापन्नः विनाशो यस्य स विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशः स चासौ धर्मी शब्दस्य तस्य धर्मत्वे सति कृतकत्वस्य हेतोः। वि.प्र.। 6 विनाशधर्मोस्यास्तीति विनाशधर्मी शब्दः। 7 सन्दिग्धश्चासौ सद्भावश्चास्तित्वरूपः स एव धर्मो यस्याहेतः इति विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मी। 8 यतः। 9 सद्भाव एव धर्मः सोऽस्यास्तीति सद्भावधर्मः तस्य धर्मी यः सः। (ब्या० प्र०) 10 अत्रेदं मीमांसकस्य तात्पर्यं, यो जैन सर्वज्ञस्तु सिद्ध एव। शब्दस्य यदनित्यत्वं साध्यं सन्दिग्धमस्ति तदेव कृतकत्वादिना साध्यते इति। 11 असंभवद्बाधकत्वलक्षणम्। 12 मीमांसकः। 13 यथा पर्वतस्य धर्मोऽग्निमत्त्वं धूमत्वं च। (ब्या० प्र०) 14 साध्य। एव। (ब्या० प्र०)

षणविशिष्टतया[1] स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष इति वचनात्[2], कथञ्चिदप्यप्रसिद्धस्य धर्मित्वायोगात्। इति कश्चित्[3], सोपि यदि सकलदेशकालवर्तिनं शब्दं धर्मिणमाचक्षीत तदा कथं प्रसिद्धो धर्मीति ब्रूयात्? तस्याप्रसिद्धत्वात्। परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीसि चेत् [4]स्वाभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी किन्न [5]भवेद्धेतुधर्मवत्। [6]परं प्रति समर्थित एव हेतुधर्मः साध्यसाधनं[7] इति चेद्धर्म्यपि[8] [9]परं प्रति [10]समर्थित[11] एवास्तु, विशेषाभावात्[12]?

प्रकार से जिसकी सत्ता असिद्ध है एवं जिसका सद्भाव धर्म विवाद को प्राप्त है ऐसे सर्वज्ञ का धर्म अबाधित हेतु कैसे हो सकता है क्योंकि धर्मी प्रसिद्ध होता है और साध्य तो अप्रसिद्ध धर्म विशेषण से विशिष्ट होता है। इस प्रकार से स्वयं आप जैमिनी ने ही माना है। अतः जो कथंचित् भी अप्रसिद्ध है वह धर्मी नहीं हो सकता है।

जैन—यदि आप मीमांसक भी सकल देशकालवर्ती शब्द को धर्मी कहते हैं तब तो आपके यहां भी धर्मी प्रसिद्ध नहीं रहेगा क्योंकि सकल देशकालवर्ती शब्द अप्रसिद्ध है, अर्थात् भूत, भावी शब्द तो विद्यमान ही नहीं हैं।

मीमांसक—दूसरों के स्वीकार करने से ही हम भी संपूर्ण शब्दों को प्रसिद्ध मान लेंगे अतः धर्मी प्रसिद्ध ही हो जावेगा।

जैन—तो पुनः जैनों के द्वारा के स्वीकृत होने से सर्वज्ञ धर्मी प्रसिद्ध क्यों न हो जावे? जैसे कि हेतु का धर्म प्रसिद्ध माना जाता है।

आचार्य—आप मीमांसक ने दूसरों के द्वारा स्वीकृत सभी शब्दों को प्रसिद्ध धर्मी स्वीकार किया है तो फिर हम जैनों के द्वारा स्वीकृत होने से सर्वज्ञ भी प्रसिद्ध धर्मी हो जावे यह बात क्यों नहीं स्वीकार करते हैं?

मीमांसक—दूसरों के प्रति समर्थित ही हेतु धर्म साध्य को सिद्ध कर सकता है।

जैन—तब धर्मी (शब्द) भी जैन के प्रति समर्थित होवे; दोनों में कुछ भी अंतर नहीं है।

---

1 जैनेन। 2 जैनस्य। 3 मीमांसकः। 4 परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति यदि मीमांसकेन मतताभ्युपगम्यते तर्हि स्वेषां जैनानामभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी मनेतीति किं नेष्यते? परोपगमस्योभयत्राप्यविशेषात्। 5 हेतुधर्मो धर्मश्चेति। 6 मीमांसकम्। 7 साध्यस्य साधकः। 8 शब्दोपि। 9 जैनं प्रति। 10 समर्थितहेतुः एवास्तु इति पाठान्तरम्। 11 प्रसिद्धो भवतु। (ब्या० प्र०) 12 ननु यदि परं प्रति समर्थितो धर्मी स्यात् तदा प्रकृतधर्मी स्वयमेनेनैव साध्यसिद्धेः किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेनेति चेन्न साधनसमर्थनेऽपि समानत्वात्। शक्यं हि वक्तुं नासिद्धं सार्वकालिकमिति साधनसमर्थनेनैव साध्यसिद्धेः किमनेन पश्चादनुमानप्रयोगेनेति अनुमानप्रयोगान्तरं साधनसमर्थनावयवोक्त इति चेदन्यत्राप्यनुमानप्रयोगान्तरं धर्मिसमर्थनावयवोऽस्तु। वि. प्र.।

[धर्मिणः सत्ता सर्वथा प्रसिद्धास्ति कथंचिद्वा ?]

[1]किञ्च सर्वथा प्रसिद्धसत्ताको धर्मी कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेच्छब्दादिरपि धर्मी न स्यात्, [2]तस्याप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिसत्ताकत्वात्[3]। कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकः शब्दादिर्धर्मीति चेत् सर्वज्ञः कथं धर्मी न स्यात् ? प्रसिद्धात्मत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य[4] च [5]धर्मिणोऽभ्युपगमे सर्वथा नाप्रसिद्धसत्ताकत्वं, [6]कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकत्वात्। स्याद्वादिनो हि कश्चिदात्मा सर्वज्ञोऽस्तीति पक्षप्रयोगमाचक्षते, [7]नान्यथा। [8]ततोऽयमुपालम्भमानो[10] धर्मिस्वभावं न [11]लक्षयत्येव, [12]प्रकृतानुमाने सर्वज्ञस्य धर्मित्वावचनाच्च। सूक्ष्मादयो ह्यत्र धर्मिणः प्रसिद्धा [13]युक्तास्तावत्प्रसिद्धसत्ताका एव, परमाण्वादीनामपि प्रमाण-

---

[धर्मी की सत्ता सर्वथा प्रसिद्ध है या कथंचित् ?]

दूसरी बात यह है कि हम आप से प्रश्न करते हैं—धर्मी सर्वथा प्रसिद्ध सत्ता वाला है या कथंचित् ? यदि सर्वथा कहो तो शब्दादि भी धर्मी नहीं होंगे क्योंकि वे शब्दादि अप्रसिद्ध रूप साध्य धर्म से विशिष्ट सत्ता वाले हैं। यदि आप कहें कि कथंचित् रूप से प्रसिद्ध है सत्ता जिसकी ऐसे शब्दादि धर्मी हैं, तब तो सर्वज्ञ भी धर्मी क्यों नहीं हो जावेगा ? अतः हमारे यहाँ आत्मत्व आदि विशेषण रूप सत्ता से प्रसिद्ध और सर्वज्ञत्व उपाधि रूप सत्ता से अप्रसिद्ध को धर्मी स्वीकार करने पर सर्वथा अप्रसिद्ध सत्ता वाला धर्मी नहीं है अपितु कथंचित् प्रसिद्ध सत्ता वाला है क्योंकि "कोई आत्मा सर्वज्ञ है" स्याद्वादी लोग इस प्रकार से पक्ष प्रयोग करते हैं; अन्य प्रकार से नहीं। इसलिये आप मीमांसक या बौद्ध जैसे विद्वान् को उलाहना देते हुये वास्तव में धर्मी के स्वभाव को ही नहीं जानते हैं एवं इस प्रकृत अनुमान "सूक्ष्मांतरित दूरार्थाः" इत्यादि में हमने सर्वज्ञ को धर्मी माना ही नहीं है। इस अनुमान (कारिका) में सूक्ष्मादि पदार्थ ही धर्मी हैं। वे प्रसिद्ध सत्ता वाले हैं ? क्योंकि परमाणु आदि भी प्रमाण से प्रसिद्ध हैं : इस बात को विशेष रूप से आगे "बुद्धिशब्दप्रमाणत्व" इत्यादि कारिका के व्याख्यान में कहेंगे।

भावार्थ—मीमांसक ने कहा कि आप जैन "प्रमेयत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व" हेतुओं से सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे हैं। तो यह तो बताइये कि ये हेतु सर्वज्ञ के भाव के धर्म हैं या अभाव के

---

1 विशेषान्तरेण यौगो धर्मिणं विचारयति। 2 अप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिः (विशेषणं) सत्ता यस्य शब्दस्य सः। तस्मात्। 3 यथा शब्दोनित्यत्वस्य सत्ता अप्रसिद्धा वर्तते। 4 अयं सर्वज्ञ इति विशेषणजन्या उपाधिः। 5 धर्मिणस्य। (6) सत्त्वेन। (स्या० प्र०) 7 एवं चेत् न हि सर्वज्ञसिद्धेः प्राक्तित्यविभाव्यविपरीतावसरे अस्ति सर्वज्ञः, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्कुतश्चिदित्युक्तः प्रयोगः योजयेति, चेन्न, तथाभ्युपेतस्यात्मसद्भावाद्बाध्यमानत्वात्। अनुमेयत्वहेतोरप्यधिगतविपक्षव्यावृत्तिकस्य सर्वज्ञसद्भावे अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितेत्यनुमाने परोक्षं दोषं परिहृत्य प्रकृतानुमाने स दोषो न संभवतीति प्रकृतानुमाने इत्याहुः। 8 मीमांसकः सौगतो वा। 9 उपालंभमानो इति पा.। (स्या० प्र०) 10 दोषमुद्भावयन्। 11 जानाति। 12 सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कार्यविशेषात्, अनुमेयत्वादित्यनुमाने। 13 प्रसिद्धा इति पा.। (स्या० प्र०)

सिद्धत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्[1] ।

धर्म है अथवा सर्वज्ञ के भावाभाव के धर्म है इन तीनों विकल्पों में मीमांसक ने दोषारोपण कर दिया है।

जैनाचार्य कहते हैं कि भाई ! बौद्ध ने शब्द को अनित्य माना है और कृतकत्व हेतु दिया है। इस कृतकत्व हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं। आप मीमांसक ने शब्द को नित्य माना है और उसे नित्य सिद्ध करने के लिये 'प्रत्यभिज्ञान हेतु' दिया है। तब इस प्रत्यभिज्ञान हेतु में भी ये तीनों विकल्प उठाये जा सकते हैं तात्पर्य यह है कि किसी भी अनुमान वाक्य में हेतु के प्रति ये तीनों विकल्प संभव हैं और इन दोषों के निमित्त से कोई भी हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार से अनुमान का अभाव होते देखकर बौद्ध का पक्ष लेकर मीमांसक कहता है कि शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकत्व हेतु को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है। वह कहता है कि शब्द तो प्रसिद्ध ही है और उस शब्द का जो अनित्य धर्म है वह संदिग्ध है उसी को साध्य की कोटि में रखा गया है और वह अनित्य धर्म ही कृतकत्व हेतु से सिद्ध किया जाता है किन्तु आपका सर्वज्ञ धर्मी तो प्रसिद्ध ही नहीं है तो फिर उसी अस्तित्व को संदिग्ध कोटि में रखकर प्रमेयत्वादि हेतु से कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ?

जैनाचार्य कहते हैं कि आप के यहाँ भी विकासवर्ती शब्द प्रसिद्ध नहीं है भूतकालीन शब्द नष्ट हो गये, भविष्यत कालीन शब्द अभी उत्पन्न ही नहीं हुये हैं पुनः शब्द भी "प्रसिद्धो धर्मी" इस सूत्र के अनुसार प्रसिद्ध कहाँ रहे ?

दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि शब्द की सत्ता सभी प्रकार से प्रसिद्ध है या कथंचित् ? सभी प्रकार से आप कह नहीं सकते क्योंकि शब्द का अनित्य धर्म असिद्ध है सभी उसे साध्य की कोटि में रखा है। कथंचित् सत्ता सिद्ध है यदि ऐसा कहो तो हमारे सर्वज्ञ की भी सत्ता कथंचित् सिद्ध ही है। देखिये ! हम जैनों ने इस कारिका के या अनुमान वाक्य में सर्वज्ञ को धर्मी नहीं बनाया है किंतु "सूक्ष्मादि पदार्थों" को ही धर्मी बनाया है और सूक्ष्म—परमाणु आदि पदार्थ सभी को मान्य होने से प्रसिद्ध ही हैं। वे सूक्ष्मादि पदार्थ जिसके प्रत्यक्ष हैं वे ही सर्वज्ञ हैं इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। अतः उस सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करने में जो अनुमेयत्व हेतु अथवा प्रमेयत्व आदि हेतु दिए गए हैं। उनमें उपर्युक्त तीन विकल्प नहीं उठाए जा सकते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि श्री विद्यानंदि महोदय ने 'अनुमेयत्व' हेतु का अर्थ 'श्रुतज्ञानाधिगम्यत्व' कर दिया है जो कि आज्ञाप्रधानी एवं परीक्षा प्रधानी दोनों को मान्य हो जावेगा तथा मीमांसक भी वेद को प्रमाणीक मानता है अतः उसे भी संतोष हो जावेगा।

---

1 बुद्धिशब्दप्रमाणत्वमिति कारिकाव्याख्याते ।

[सूक्ष्मादिपदार्था इंद्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षाः संति मानसप्रत्यक्षेण वा ?]

[1]ननु सूक्ष्मादयोर्थाः किमिन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्या [2]उतातीन्द्रियप्रत्यक्षेण ? प्रथमविकल्पेऽनुमानविरुद्धः[3] पक्षः 'सूक्ष्माद्यर्था[4] न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः, [5]सर्वेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वात्[6]। [7]ये तु कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयास्ते न सर्वेन्द्रियसम्बन्धरहिता दृष्टाः। यथा घटादयः। सर्वेन्द्रियसम्बन्धरहिताश्च सूक्ष्माद्यर्थास्तस्मान्न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः' इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेन बाध्यमानत्वात्। न च सर्वेन्द्रियसम्बन्ध[8]रहितत्वमसिद्धं, साक्षात्परमाणु[9]धर्मादीनामिन्द्रियसम्बन्धाभावात्। तथा हि। न कस्यचिदिन्द्रियं साक्षात्परमाण्वादिभिः[10] सम्बध्यते, इन्द्रियत्वादस्मदादीन्द्रियवत्।

[सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के प्रत्यक्ष हैं या नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष से ?]

मीमांसक—अच्छा तो सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं यह बात तो हम मानने को तैयार हैं किन्तु यह तो बतलाइये कि वे सूक्ष्मादि पदार्थ इंद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतींद्रिय (मानस) प्रत्यक्ष ज्ञान से ?

प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर तो पक्ष अनुमान के विरुद्ध है। तथाहि "सूक्ष्मादि पदार्थ किसी भी जीव के इंद्रिय ज्ञान के विषय नहीं हैं क्योंकि सर्वथा इंद्रियों के सम्बन्ध से रहित हैं। जो पदार्थ किसी के इन्द्रिय ज्ञान के विषय हैं वे पदार्थ सर्वथा इन्द्रिय के सम्बन्ध से रहित नहीं देखे जाते हैं जैसे घट पट आदि। सर्वथा इंद्रिय सम्बन्ध से रहित सूक्ष्मादि पदार्थ हैं इसलिये वे किसी के इन्द्रिय ज्ञान के विषय भी नहीं हैं।" इस प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान के द्वारा आपका पक्ष बाधित हो जाता है। एवं यह सर्वथा "इन्द्रियसम्बन्ध रहितत्व" हेतु असिद्ध भी नहीं है। साक्षात् परमाणु धर्म, अधर्म आदि के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध का अभाव है। तथाहि—

"किसी की भी इन्द्रियाँ साक्षात् परमाणु आदि से सम्बन्धित नहीं होती हैं क्योंकि वे इन्द्रियाँ हैं जैसे कि हम लोगों की इन्द्रियाँ"। इस अनुमान से इंद्रियों से परमाणु आदि का ज्ञान होना असंभव है।

[नैयायिक कहता है कि योगज धर्म से अनुगृहीत इन्द्रियाँ परमाणु आदि को भी देख लेती हैं उसका निराकरण]

नैयायिक—योगज धर्म अनुगृहीत इन्द्रियाँ उन परमाणु आदि से साक्षात् सम्बन्ध कर लेती हैं। अतः उन सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

मीमांसक—इंद्रियों के योगज धर्म का अनुग्रह होना यह क्या चीज है ?

---

1 मीमांसको नैयायिकं प्रत्याह। 2 अतीन्द्रियं = मनः। 3 कालात्ययापदिष्टः। प्रमाणबाधिते पक्षे हेतोर्वर्तमानत्वं कालात्ययापदिष्टत्वम्। 4 अनुमानविरुद्धत्वं दर्शयति। 5 साक्षात् परम्परया वा। 6 सूक्ष्माद्यर्थानाम्। 7 व्यतिरेकव्याप्तिः। 8 साक्षात्। 9 परमाणवश्च धर्मश्चेति तेषाम्। 10 आदिशब्देन स्वभावविप्रकृष्टैर्धर्मादिभिः कालांतरितैरतीतानागतपदार्थैर्दूरार्थैर्हिमवदादिभिः। (दशः प्र०)

[नैयायिको ब्रूते योगजधर्मानुगृहीतेंद्रियाणि परमाण्वादीन् पश्यंति तस्य निराकरणं]

[1]योगजधर्मो[2]नुगृही[3]तमिन्द्रियं [4]योगिनस्तैः साक्षात्सम्बध्यते इति चेत्[5] कोयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम ? [6]स्वविषये प्रवर्तमान[7]स्यातिशयाधानमिति[8] चेत्तदसंभव एव, परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावात्, प्रवर्तने वा योगजधर्मानुग्रहस्य वैयर्थ्यात्[9]। तत एवेन्द्रियस्य परमाण्वादिषु प्रवृत्तौ परस्पराश्रयप्रसङ्गः। [10]सतीन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहे[11] परमाण्वादिषु प्रवृत्तिः सत्यां च तस्यां योगजधर्मानुग्रह इति। [12]परमाण्वादिष्विन्द्रियस्य प्रवृत्तौ सहकारित्वं योगजधर्मानुग्रह इति चेन्न, स्वविषयातिक्रमेण[13] तस्य तत्र तदनुग्रहायोगात्, [14]अन्यथा कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य[15] सकलरसादिषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गात्[16]। [17]दृष्टविरोधान्नैवमिति चेत् [18]समानमन्यत्र[19]। यद्यैक हि चक्षुरादीनि प्रतिनियतरूपादिविष-

---

नैयायिक—अपने अपने विषय में प्रवर्तमान इन्द्रियों में अतिशय को कर देना यही अनुग्रह है।

मीमांसक—तब तो वह असंभव ही है। परमाणु आदि में स्वयं इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। यदि आप प्रवृत्ति मानेंगे तो योगज धर्म का अनुग्रह व्यर्थ ही हो जावेगा। पुनः आप कहें कि योगज धर्म के अनुग्रह से ही इन्द्रियों की परमाणु आदि में प्रवृत्ति हो जाती है तो परस्पराश्रय दोष आ जावेगा। इन्द्रियों के योगज धर्म का अनुग्रह होने पर परमाणु आदि में प्रवृत्ति होगी और उस प्रवृत्ति के परमाणु आदि में प्रवृत्ति होने पर योगज धर्म का अनुग्रह होगा।

नैयायिक—परमाणु आदि को जब इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं तब योगज धर्म का अनुग्रह सहकारी कारण होता है।

मीमांसक—यह कथन ठीक नहीं है। अपने विषयों का उल्लंघन करके इन्द्रियों की परमाणु आदि में प्रवृत्ति होने में योगजधर्म का अनुग्रह सहकारी नहीं हो सकता है। अन्यथा कोई एक ही इंद्रिय सम्पूर्ण रूप, रस, गंध आदि विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त हो जावेगी और उसमें भी योगजधर्मानुग्रह ही सहकारी मानना पड़ेगा।

नैयायिक—एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करे इसमें तो प्रत्यक्ष से ही विरोध है

---

1 नैयायिकः। 2 ज्ञानोद्भूतधर्मेण। 3 उपकृतं। (ब्या० प्र०) 4 ईश्वरस्य। (ब्या० प्र०) 5 मीमांसकः पृच्छति। 6 परमाण्वादौ। (ब्या० प्र०) 7 इन्द्रियस्य। 8 स्पष्टतामापादनम्। 9 इंद्रियस्य परमाण्वादौ प्रवृत्तेर्हि योगजधर्मोऽभ्युपगतः। तस्मिन्नियं यदि स्वयमेव तत्र प्रवर्तते किमनेन योगजधर्मानुग्रहणेनेति भावः। वि. प्र.। 10 परस्पराश्रयं दर्शयति। 11 अङ्गीक्रियमाणे। 12 यौगो वदति। (ब्या० प्र०) 13 रूपादिविषयोल्लङ्घनेन। 14 अन्यथा इंद्रियं योगजधर्मानुग्रहात् स्वविषयमतिक्रम्य प्रवर्तते कस्यचित् पुंसः एकस्य चक्षुरादीन्द्रियस्य रसादिषु पंचसु विषयेषु प्रवृत्तिः स्यात्। तस्यां सत्यां योगजधर्मोपकारप्रसंगो घटते। वि. प्र.। 15 स्पर्शनादेः 16 योगजधर्मानुग्रह प्रसङ्गात्। 17 नैयायिकः। प्रत्यक्षविरोधात्। 18 मीमांसकः। 19 परमाण्वादौ प्रत्यक्षविरोधस्तुल्यः।

यानि दृष्टानि नाप्रतिनियतसकल[1]रूपादि[2]विषयाणि [3]सर्वोपलब्धिलक्षणप्राप्तानि महत्त्वोपेतानि पृथिव्यादिद्रव्याणि तत्समवेतरूपादीनि चक्षुरादीन्द्रियगोचरतया प्रसिद्धानि, न पुनः परमाण्वादीनि । [4]समाधिविशेषोत्थधर्ममाहात्म्याद् दृष्टातिक्रमेण परमाण्वादिषु चक्षुरादीनि प्रवर्तन्ते न पुना रसादिष्वेकमिन्द्रियम्, [5]इति न किञ्चिद्विशेषव्यवस्थानिबन्धनमन्यत्र[6] जाड्यात् । [7]एतेन परम्परया परमाणुरूपादि[8]ष्विन्द्रियसम्बन्धः प्रतिध्वस्तः, संयोगाभावे संयुक्तसमवायादीनामसंभवात्[9] श्रोत्रे सकलशब्दसमवायासंभवे शब्दत्वेन समवेतसमवायासंभववत् ।

[मानसप्रत्यक्षेणापि सूक्ष्मादिपदार्थस्य ज्ञानं न भवति]

[10]यदि पुनरेकमेवान्तःकरणं योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सकलसूक्ष्माद्यर्थविषयमिष्यते[11]

इसलिये ऐसा नहीं हो सकता है ।

मीमांसक—तो फिर परमाणु आदि में भी इन्द्रियों की प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष से ही विरोध तुल्य है क्योंकि जिस प्रकार से चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिनियत रूपादि पदार्थों को विषय करते हुये देखी जाती हैं, किंतु अप्रतिनियत सकल परमाणु आदि पदार्थ तथा रूप रस आदि विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती हैं । उसी प्रकार से उपलब्धि लक्षण प्राप्त जो चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं; तथा महत्त्व आदि गुणों से सहित ऐसे जो पृथ्वी आदि द्रव्य हैं एवं उन द्रव्यों में समवेत रूप से रहने वाले जो रूपादि गुण हैं ये सभी पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयभूत प्रसिद्ध हैं । फिर भी परमाणु आदि पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर नहीं हैं ऐसा प्रत्यक्ष से सिद्ध है ।

नैयायिक—समाधि विशेष से उत्पन्न होने वाले धर्म के माहात्म्य से प्रत्यक्ष का भी उल्लंघन करके चक्षु आदि इन्द्रियाँ परमाणु आदि विषयों में प्रवृत्ति करती हैं अर्थात् जान लेती हैं परन्तु एक ही इन्द्रिय रस गन्ध आदि सभी विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती है ।

मीमांसक—चक्षु इन्द्रिय और परमाणु के संयोग सन्निकर्ष का अभाव होने पर भी आप नैयायिक का जो यह कथन है उस कथन में मूर्खता के अतिरिक्त विशेष व्यवस्था का कारण हमें कुछ भी नहीं दिखता है । इसी कथन से "परम्परा से परमाणु रूप आदि में इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है" इत्यादि मान्यता का भी खंडन हो गया समझना चाहिये । क्योंकि संयोग के अभाव में संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय आदि भी संभव नहीं है । जिस प्रकार से श्रोत्र इन्द्रिय में संपूर्ण शब्दों का समवाय असंभव है तब शब्दत्व रूप से समवेत समवाय भी असंभव ही है ।

---

1 सकलपदेन परमाणुरूपं गृह्यते । 2 आदिपदेन रसादिग्रहः । 3 ज्ञेयस्वरूप । (ब्या० प्र०) 4 योगजधर्मानुग्रहोत्थसमाधिविशेषात् प्रत्यक्षोल्लङ्घनेन । 5 चक्षुरिन्द्रियपरमाण्वोः संयोगसन्निकर्षाभावे । 6 मूर्खतारिक्तकुत्स्यार्थेन्द्रियप्रवृत्तौ । (ब्या० प्र०) 7 संयोगसम्बन्धाभावात्तत्सम्बन्धनिराकरणेन । 8 आदिशब्देन रसरूपशब्दानां ग्रहणं । 9 आदिपदेन संयुक्तसमवेतसमवायादिग्रहः । 10 यो नैयायिक । 11 तव नैयायिकस्य ।

तदापि दृष्टातिक्रम[1] एव, [2]मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात्[3]। तत्र [4]दृष्टातिक्रमेष्टौ[5] वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषवशादन्तःकरणनिरपेक्षः साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु किमिन्द्रियेणेवान्तःकरणेन ? तथा च नेन्द्रियज्ञानेन[6] कस्यचित्प्रत्यक्षाः सूक्ष्माद्यर्थाः संभाव्यन्ते। [7]अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण[8] कस्यचित्प्रत्यक्षाः [9]साध्यन्ते इति [10]वेदप्रसिद्धविशेषणः[11] पक्षः, [12]क्वचिदतीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्धेः सांख्यं प्रति [13]विनाशी शब्द इत्यादिवत्[14]। साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यादन्यादेरतीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात्।

[मानस प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है।]

पुनः यदि आप नैयायिक एक अन्तःकरण (मन) को ही योगज धर्म से अनुगृहीत-स्वीकार करके उसके द्वारा युगपत् संपूर्ण पदार्थों का विषय करना मानोगे तो भी आपके यहाँ प्रत्यक्ष का उल्लंघन हो ही जावेगा, क्योंकि मन की एक साथ अनेक विषयों में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है "युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंग" ऐसा आपका ही वचन है।

नैयायिक—इस विषय में प्रत्यक्ष से विरोध होता है तो हो जावे हमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि समाधि विशेष से उत्पन्न धर्म का चमत्कार ही ऐसा है कि जिससे अनुगृहीत मन एक साथ ही संपूर्ण परमाणु आदि पदार्थों को विषय कर लेता है।

जैन—यदि आप ऐसा मान लेते हैं तो भाई! स्वयं आत्मा ही समाधि विशेष (शुक्लध्यान) से उत्पन्न हुये धर्म विशेष (केवलज्ञान) के बल से अंतःकरण से निरपेक्ष होता हुआ ही साक्षात् संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को जान लेता है ऐसा भी मान लीजिये क्या बाधा है ? पुनः इन्द्रियों के द्वारा जानता है अथवा मन के द्वारा जानता है इत्यादि कल्पनाओं का क्या प्रयोजन है ? अतः किसी को भी इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं। यह बात सिद्ध हो जाती है।

मीमांसक—आप नैयायिक से हमने पहले यह प्रश्न किया था कि सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतीन्द्रियज्ञान—मानसप्रत्यक्षज्ञान से ? उसमें से यदि आप दूसरा विकल्प स्वीकार करें कि सूक्ष्मादि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं तब तो आपका पक्ष अप्रसिद्ध

---

1 प्रत्यक्षोल्लङ्घनमेव। 2 युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लक्षणं (न्या० प्र०)। 3 युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति वचनात्। 4 प्रत्यक्षविरोधाङ्गीकारे। 5 ता। प्रत्यक्षातिक्रमाभिधानेऽदृष्टातिक्रमेष्टौ इति पा. वि. प्र.। 6 इंद्रियांतःकरणात्। (न्या० प्र०) 7 द्वितीयविकल्पः। (न्या० प्र०) 8 सूक्ष्माद्यर्थाः। 9 यौगो वदति हे स्याद्वादिन् ! ते सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियज्ञानेन कस्यचित् पुंसः प्रत्यक्षा मया साध्यंत इति किं तवाभिप्रायः। वि. प्र.। 10 मीमांसकः। 11 सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियप्रत्यक्षेणेति अप्रसिद्धं विशेषणं यस्य सः। अतीन्द्रियप्रत्यक्षोऽतीदं विशेषणमप्रसिद्धमित्यर्थः। 12 दृष्टांते। 13 आविर्भावतिरोभावमात्रं न तु नास्तित्वं तन्मते शब्दस्य। (न्या० प्र०) 14 सांख्यमते आविर्भावतिरोभावौ स्तो न तु किञ्चिद्विनाशि।

[इंद्रियानिंद्रियानपेक्षप्रत्यक्षेण सूक्ष्मादिपदार्थाः ज्ञायंते इति स्याद्वादिभिः कथ्यते]

इति[1] केचित्तेपि न सम्यग्वादिनः, सूक्ष्माद्यर्थानामिन्द्रियजप्रत्यक्षेण [2]कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्तदोषानवतारात्[3]। [4]तथा [5]साधयतां स्याद्वादिभिरपि तद्दोषसमर्थनात्[6]। [7]नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं [8]साध्यते येनाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः साध्यशून्यश्च दृष्टान्तः स्यात्, [9]प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वसाधनात्। प्रसिद्धे च सूक्ष्माद्यर्थानां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यक्स्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षस्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वं सिध्यत्येव। तथा हि। [10]योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं,सूक्ष्माद्य-

---

विशेषण वाला हो जाता है क्योंकि दृष्टान्त में "अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्षत्व" असिद्ध ही है। जिस प्रकार से सांख्य को "अनित्य शब्द" असिद्ध है क्योंकि सांख्य के मत में प्रत्येक पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव ही माना है। उनके यहाँ किसी भी पदार्थ को अनित्य नहीं माना है।

एवं दृष्टान्त भी साध्य शून्य ही है क्योंकि अग्नि आदि पदार्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। यहाँ अतीन्द्रिय शब्द से मानस अर्थ लेना चाहिए।

[इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अपेक्षा से रहित सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है इस प्रकार जैनाचार्य कहते हैं।]

जैन— इस प्रकार का कथन करने वाले आप मीमांसक भी सम्यग्वादी नहीं हैं। सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियज प्रत्यक्ष के द्वारा किसी के प्रत्यक्ष हैं ऐसा हम मानते ही नहीं हैं। इसलिए उस पक्ष में दिये गये दोष हम जैनों के यहाँ सम्भव ही नहीं हैं। उस प्रकार के पक्ष को मानने वाले नैयायिकों के लिए हम स्याद्वादियों ने भी उन दोषों का समर्थन ही किया है और हम लोग अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) के द्वारा भी किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना सिद्ध नहीं करते हैं कि जिससे हमारा पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला होवे एवं दृष्टांत साध्य से शून्य होवे। अर्थात् हमारे यहाँ ये दोष नहीं आते हैं।

मीमांसक— तब आप जैन सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना कैसे सिद्ध करते हैं?

जैन— प्रत्यक्ष सामान्य के द्वारा हम जैन किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना सिद्ध करते हैं।

सूक्ष्मादि पदार्थ सामान्य से किसी के प्रत्यक्ष हैं इस बात के सिद्ध हो जाने पर सर्वज्ञत्व की सम्यक् प्रकार से व्यवस्था बन जाती है और सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय

---

1 स्याद्वादिनः प्राहुः 'इति केचिन्मीमांसकास्तेपि न सम्यग्वादिनः, इति। 2 इन्द्रियप्रत्यक्ष। (ब्या० प्र०) 3 जैनानाम्। 4 सूक्ष्माद्यर्था इंद्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित् प्रत्यक्षा भवंति। इति (ब्या० प्र०) 5 नैयायिकानाम्। 6 साध्यतां जैनादीनां स्याद्वादिभिस्तस्य पक्षस्य दोषः समर्थ्यते। वि. प्र.। 7 सिद्धान्ती। 8 योगिन इन्द्रियं योगजधर्मबलात् सूक्ष्माद्यर्थं गृह्णाति। (ब्या० प्र०) 9 तर्हि सूक्ष्माद्यर्थानां कथं प्रत्यक्षत्वं स्याच्चते जैनैर्मंक्ष्यिमरिति मीमांसकाशङ्कायामाह प्रत्यक्षसामान्येनेत्यादि। 10 योगी=सर्वज्ञः। 11 अस्माभिः स्याद्वादिभिः। (ब्या० प्र०)

र्थविषयत्वात् । [1]यन्नेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयं दृष्टं, यथास्मदादिप्रत्यक्षम् । सूक्ष्माद्यर्थविषयं च योगिनः प्रत्यक्षं सिद्धं, तस्मादिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम् । नावधिमनःपर्यय-प्रत्यक्षाभ्यां हेतुर्व्यभिचारी, तयोरपीन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वसिद्धेः ।

और मन की अपेक्षा रहित है यह बात भी सिद्ध ही हो जाती है । तथाहि—

"सर्वज्ञ भगवान का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है क्योंकि वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला है जो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित नहीं है। वह सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला भी नहीं है जैसे कि हम लोगों का प्रत्यक्षज्ञान और सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला भगवान सर्वज्ञ का प्रत्यक्षज्ञान सिद्ध ही है। इसीलिये वह इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित है।

इस प्रकार अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के द्वारा भी हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है क्योंकि ये दोनों ज्ञान भी इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से रहित हैं यह बात सिद्ध है।

आचार्य—मीमांसक ने जैसे तैसे करके इस बात को तो स्वीकार कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। अब वह इस बात को समझना चाहता है कि ये सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रिय ज्ञान से किसी के प्रत्यक्ष हैं या अतीन्द्रिय ज्ञान से ? क्योंकि इन्द्रिय और मन को छोड़कर ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये और कोई साधन ही नहीं है।

पुनः वह स्वयं ही कहता आ रहा है कि इन्द्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष करना अशक्य है क्योंकि इन्द्रियाँ वर्तमान-कालीन अपने ग्रहण करने योग्य कतिपय पदार्थों को ही विषय करती हैं। इसी बीच में मीमांसक का पड़ोसी नैयायिक आ जाता है और वह कहने लगता है कि भाई ! योग विशेष से उत्पन्न हुये अनुग्रह से योगियों की इन्द्रियाँ परमाणु आदि को जान लेती हैं।

इस पर मीमांसक ने कहा कि भाई ! योग विशेष का अनुग्रह क्या चीज है ? अब इन्द्रियाँ अपने विषय में प्रवृत्ति करती हों तब उसमें कुछ विलक्षणता का हो जाना अनुग्रह है या परमाणु आदि को जानने में इन्द्रियों के लिए सहकारी होना अनुग्रह है ? इन दोनों ही विकल्पों में मीमांसक ने दोष दिखा दिये हैं क्योंकि इन्द्रियों में योगज धर्म या मंत्र, तंत्र, अंजन, गुटिका आदि अथवा आधुनिक यंत्र, दूरबीन, खुर्दबीन आदि कैसे भी साधन मिल जावें। चक्षु इन्द्रिय देखने का ही काम करेगी, खुर्दबीन जैसे यंत्र से भी सुनने का काम नहीं कर सकेगी। कर्णेन्द्रिय रेडियो, टेलीफोन आदि यन्त्रों के द्वारा लाखों मीलों की बात को सुन ही सकती है, देख नहीं सकती है। सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं अन्य इन्द्रियों के विषयों को नहीं।

---

1 व्यतिरेकव्याप्तिः ।

नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं उनका कहना है कि पहले चक्षु इन्द्रिय का घट से सम्बन्ध हुआ उसका नाम है, "संयोग" पुनः उसके रूप से सम्बन्ध हुआ है उसका नाम है "संयुक्त समवाय," इसके बाद इन्द्रिय ने जो उसके रूपत्व को जाना उसका नाम "संयुक्तसमवेतसमवाय" है।

मीमांसक कहता है कि जब इन्द्रियों का परमाणु आदि पदार्थों के साथ सम्बन्ध ही नहीं होता है तब संयोग, संयुक्त समवाय आदि सन्निकर्ष भी कैसे बनेंगे ? पुनरपि मीमांसक उस नैयायिक को समझा रहा है कि भाई ! यदि आप कहें कि मन पर योग्य धर्म का अनुग्रह होता है और मन ही संपूर्ण अतीन्द्रिय पदार्थों को जान लेता है तो यह बात भी घटित नहीं है क्योंकि मन एक साथ पंचेन्द्रियों के विषयों को भी नहीं समझ सकता है तब सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने की बात बहुत ही दूर है। हां ! जैनों ने अवश्य मानस मतिज्ञान के द्वारा मूर्तिक अमूर्तिक छहों द्रव्यों का ज्ञान और उनकी कतिपय पर्यायों का ज्ञान माना है, किन्तु फिर भी मन से संपूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान नहीं माना है।

यदि मूल का दूसरा विकल्प लिया जाय कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हैं तो यह बात भी नहीं बन सकती क्योंकि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान असिद्ध ही है। पहले उसे ही सिद्ध करने में आपको बहुत शक्ति लगानी पड़ेगी। इस प्रकार से मीमांसक से आमना-सामना करके अपनी शंका का समाधान करने का प्रयत्न करते हुये अपनी ही बात को पुष्ट कर दिया है।

अब जैनाचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं कि भाई ! यदि हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष से किसी के सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होना मानें तो ये सब दोष हमारे ऊपर आ जावेंगे किन्तु हम तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से संपूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण नहीं मानते हैं और न आपके द्वारा कल्पित अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ही सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार मानते हैं। इसलिये आप मीमांसक हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं कर सकते हैं प्रत्युत हम जैन सामान्य प्रत्यक्ष के द्वारा ही सम्पूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष जानना मानते हैं।

वह सामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन आदि की अपेक्षा से रहित है अतः परमार्थ प्रत्यक्ष है। आत्मा में केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ आत्मा का ही निजी स्वभाव है। उसे ही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

"सामग्रीविशेषविश्लेषितनिखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यं" इस सूत्र के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री विशेष से अखिल आवरण के नष्ट हो जाने पर वह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः वह ज्ञान अतीन्द्रिय है और मुख्य प्रत्यक्ष है, शेष, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान हैं ये मुख्य प्रत्यक्ष नहीं हैं। आदि का मतिज्ञान न्याय की भाषा में, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और सैद्धांतिक ग्रन्थों के आधार से इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने से परोक्ष कहलाता है। अवधिज्ञान और मनः-पर्ययज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं और ये क्षायोपशमिक होते हुए भी अतीन्द्रिय हैं। ये दोनों ज्ञान भी इन्द्रिय और मन की सहायता से रहित हैं इसलिये ये दोनों ज्ञान सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाले हैं, परमाणु तक सूक्ष्म वस्तु को जानने की सामर्थ्य रखते हैं, कई भवों की और असंख्यात द्वीप समुद्रों तक की भी बातें स्पष्ट जान लेते हैं। ये भी स्वात्मा से ही उत्पन्न होने से पूर्ण

[सूक्ष्मादिपदार्थान् कः प्रत्यक्षेण जानाति, अर्हद् भगवान्, बुद्धादयो उभयव्यतिरिक्तः कश्चिद् वा ? इत्यादिप्रश्नानां विचारः]

[1]ननु च कस्येदं सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं [2]साध्यते ? अर्हतोनर्हतः[3] सामान्यात्मनो वा ? यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः साध्यते[4] पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । तत एव [5]व्याप्तिर्न[6] सिध्येत् । [7]अनर्हतश्चेदनिष्टानुषंगोपि[8] । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम्[9] ? इत्येष[10]विकल्पजालं [11]सर्वनित्यत्वेपि[12] समानं, न केवलं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य [13]प्रतिषेधने संशीतौ वा । [14]तथमनुमानमुद्यां[15] [16]भिनत्ति* । न कश्चित्सूक्ष्मा-

---

विशद हैं, केवलज्ञान से अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान में अन्तर केवल इतना ही है कि ये द्रव्य, क्षेत्र, आदि की मर्यादा को लिये हुए सीमित हैं एवं केवलज्ञान सम्पूर्ण लोकालोक को जानने वाला होने से असीमित-अनंत है। स्पष्टता की अपेक्षा इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है। अन्त में निष्कर्ष यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है यह बात यहाँ सिद्ध की गई है।

[सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जानने वाले कौन हैं ? अर्हंत, बुद्धादि या इनसे भिन्न अन्य कोई जन ?]

मीमांसक—यह सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षपना आप किसके सिद्ध करते हैं अर्हंत (केवली जिन) के या अनर्हंत (बुद्धादिक) के अथवा सामान्य आत्मा के ?

यदि विप्रकृष्ट अर्थों—दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्षपना। अर्हंत में सिद्ध करते हो तब तो पक्ष में अप्रसिद्ध विशेषणत्व दोष आता है इसी से व्याप्ति की सिद्धि भी नहीं होगी। अर्थात् जहाँ-जहाँ अनुमेयत्व हेतु है वहाँ-वहाँ किसी अर्हंत के प्रत्यक्षपना है यह व्याप्ति नहीं बन सकेगी और यदि आप ऐसा कहें कि अनर्हंत (बुद्धादिक) के परोक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करते हैं तब तो आपके यहाँ अनिष्ट का प्रसंग भी आता है क्योंकि आप जैनों के यहाँ अर्हंत के अतिरिक्त किसी बुद्ध, कपिल आदि में सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध करना इष्ट नहीं है। पुनः अर्हंत और अनर्हंत के अतिरिक्त सामान्यात्मा और कौन है कि जिसके आप सूक्ष्मादि परोक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षत्व सिद्ध कर सकें ?

जैन—इस प्रकार के ये विकल्प जाल आपके यहाँ शब्द को नित्य मानने रूप अनुमान में

---

1 मीमांसकः। 2 सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः कस्यचिदर्हतः प्रत्यक्षाः। (व्या० प्र०)। 3 बुद्धादेः। 4 तर्हीत्यध्याहार्यम् 5 सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः अर्हतः प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्। यत्प्रमेयं तदर्हतः प्रत्यक्षमिति व्याप्तेरभावात्। (व्या० प्र०) 6 यत्र यत्रानुमेयत्वं तत्र तत्र कस्यचिदर्हतः प्रत्यक्षत्वमिति व्याप्तिर्नास्यतः पक्षदोषः। 7 बुद्धादेः। (व्या० प्र०) 8 अपिशब्दात्पक्षदोषोपि। 9 सूक्ष्माद्यर्थानाम्। 10 जैन आह। 11 मीमांसकस्येष्टे। 12 समुच्चये। (व्या० प्र०) 13 सर्वस्य निषेधे संशये वा। (व्या० प्र०) 14 तत्तस्मादयं मीमांसकः। 15 तस्मात्। (व्या० प्र०) 16 मीमांसकः सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणप्रतिषेधसंशययोः क्रमेणानुमाने हेतू दर्शयति (वक्ष्यमाणप्रकारेण)।

दिसाक्षात्कारी, पुरुषत्वादेः[1], रथ्यापुरुषवत् । विवादापन्नः पुरुषः सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वेन संशयित एव [2]विप्रकृष्टस्वभावत्वात्[3] पिशाचादिवत् । इति सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा [4]तावदिदं विकल्पजालं समानं सिद्धमेव । [5]स हि तत्र प्रतिषेधं संशयं वा साधयन् किमर्हतः साधयेदनर्हतः सामान्यात्मनो वा ? अर्हतश्चेदप्रसिद्धविशेषणः पक्षो[6] व्याप्तिश्च न सिध्येद्, [7]दृष्टान्तस्य[9] साध्यशून्यतानुषङ्गात् । अनर्हतश्चेत्स एव दोषो बुद्धादेः परस्या[8]सिद्धेरनिष्टानुषङ्गश्च[10], अर्हतस्तत्प्रत्यक्ष[11]त्वविधाननिश्चयात् । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थे[12]प्रत्यक्षत्वप्रतिषेधसंशयौ साध्येते ? इति ।

भी सकता है न कि केवल सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात् करने वाले सर्वज्ञ का प्रतिषेध करने में अथवा उनमें संशय करने में । इसलिए आप मीमांसक अनुमान मुद्रा का सेवन कर लेते हैं ।*

कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारी नहीं है क्योंकि पुरुष है उन्मत्त पुरुष के समान । "विवाद में आया हुआ पुरुष सूक्ष्मादि पदार्थों को साक्षात् करने में संदिग्ध ही है क्योंकि परोक्ष स्वभाव वाला है जैसे कि पिशाचादि ।" इस प्रकार सूक्ष्मादि को साक्षात् करने वाले सर्वज्ञ का निषेध करने में अथवा संदेह करने में आप मीमांसक के यहाँ ये विकल्प जाल समान ही सिद्ध होंगे । तथाहि—

आप मीमांसक-सर्वज्ञ का निषेध करते हुये अथवा सर्वज्ञ में संशय करते हुये इन दोनों बातों को अर्हंत में सिद्ध करते हैं या अनर्हंत में अथवा सामान्यात्मा में ? यदि आप पहला विकल्प मानें कि हम अर्हंत में सर्वज्ञत्व का प्रतिषेध करते हैं तब तो आपका पक्ष असिद्ध विशेषण वाला है एवं उसकी व्याप्ति भी सिद्ध नहीं होती तथा दृष्टांत भी साध्यविकल है । यदि अर्हंत से रहित बुद्ध आदि में सर्वज्ञत्व का निषेध करते हैं तब तो आप मीमांसकों के यहाँ कपिल बुद्ध आदि की असिद्धि ही नहीं मानी गई है अतः अनिष्ट का प्रसंग आ जाता है ।

एवं अर्हंत में तो सूक्ष्मादि के प्रत्यक्ष का विधान ही निश्चित किया है और पुनः इन दोनों को छोड़कर सामान्यात्मा है कौन कि जिसके विवक्षित सूक्ष्मादि पदार्थों के प्रत्यक्षत्व का आप निषेध सिद्ध करें या संदेह सिद्ध करें ?'

[* मीमांसक जिन प्रश्नोत्तरों के द्वारा सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करना चाहते हैं जैनाचार्य उन्हीं प्रश्नोत्तरों से उन्हीं के द्वारा मान्य नित्य शब्द का खंडन कर देते हैं ।]

---

1 पुरुषत्वात् रथ्या इति पा. । वि. प्र. । 2 विवादापन्नस्य सर्वज्ञस्य । 3 पूर्वोक्तप्रकारेण । 4 तव मीमांसकस्य । 5 मीमांसकः । 6 अर्हन् प्रसिद्धो न वर्तते । (व्या० प्र०) 7 साध्याधिकं दृष्टांतवचनमुदाहरणमीदृग् विवक्षलक्षणाभावात् विशेषकपेऽर्हत्यभावे सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वस्य रथ्यापुरुषे सद्भावो भविष्यति । (व्या० प्र०) 8 रथ्यापुरुषस्य । 9 मीमांसकस्य । 10 मीमांसकस्य । (व्या० प्र०) 11 परिशेषन्यायेन । (व्या० प्र०) 12 सूक्ष्मादिवचनात् ।

[मीमांसको यथा प्रश्नोत्तरमालिकया सर्वज्ञाभावं करोति जैनाचार्या अपि तैः प्रश्नैरेव तथाभीष्टसाधनान् दूषयंति]

[1]तद्ध्वन्दनित्यत्वसाधनेपि समानमेतद्विकल्पजालम्। तथा हि। [2]अयं शब्दानां नित्यत्वं साधयन् सर्वगतानां साधयेदसर्वगतानां वा सामान्यात्मनां वा ? वर्णानां नित्यत्वकृतकत्वादिना[3] सर्वगतानां यदि साधयति [4]स्याद्अप्रसिद्धविशेषणः[5] पक्षः[6] [7]इतरथानिष्टानुषंगः। [8]कीदृक् पुनः सामान्यं नाम [9]यदुभयदोषप्रसंगपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि [10]समानम् *। [11]तद्धि वर्णनाममूर्तानां साधयेन्मूर्तानां तदुभयसामान्यात्मनां वा ? यद्यमूर्तानां [12]सर्वगतत्वं साधयेत्तदाऽप्रसिद्धविशेषणता[13] पक्षस्य। अथ मूर्तानामनिष्टानुषक्तः[14]। कीदृक् पुनः सामान्यं नाम [15]यदुभयदोषप्रसक्तपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतेतरसामान्यात्मन इव मूर्तेतर-

---

इसी प्रकार से आपके मतानुसार शब्द को नित्य सिद्ध करने में भी ये सभी विकल्प समान ही हैं। तथाहि—आप शब्दों को नित्य सिद्ध करते हुये सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो या असर्वगत शब्दों को अथवा सामान्य शब्दों को ?

अकृतकत्व आदि हेतु के द्वारा वर्णों को नित्य सिद्ध करते हुये यदि सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला हो जावेगा और यदि असर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हो तब तो अनिष्ट का प्रसंग आ जावेगा। पुनः इन दोनों से रहित सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको इन दोनों में दिये गये दोषों का परिहार करने के लिये आप कल्पित कर सकें अर्थात् नहीं कर सकते हैं एवं सर्वगतत्व को सिद्ध करने में भी ये ही दोष समान रूप से आ जाते हैं।० उस सर्वगतत्व को अमूर्तिक वर्णों में सिद्ध करते हो या मूर्तिक में अथवा सामान्यात्मक में ?

यदि आप कहें "अमूर्तिक शब्द सर्वगत हैं क्योंकि वे अकृतक हैं तब तो पक्ष अप्रसिद्धविशेषण वाला है। यदि मूर्तिक शब्दों को सर्वगत सिद्ध करें तब तो आपके लिये अनिष्ट है। आप मीमांसक शब्दों को अमूर्त ही मानते हो। पुनः सामान्य किस प्रकार का है कि जिसको दोनों ही दोषों के प्रसंग को दूर करने के लिये आप कल्पित कर सकते हैं ? सर्वगतेतर सामान्यात्मा के समान मूर्तेतर

---

1 मीमांसकाभीष्टे शब्दनित्यत्वे एतद्विकल्पजालं समानं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संक्षेपे चापीति। अयं मीमांसको वक्ष्यमाणरीत्यानुमानद्वयं करोति यत्तन्न सम्यगित्यर्थः। 2 मीमांसकः। 3 अकृतकत्वात् अनुत्पत्तिमत्त्वादित्यादि हेतुना। (स्या० प्र०) 4 अप्रसिद्धं सर्वगतत्वविशेषणं यस्य सः। 5 नित्यसर्वगतशब्दस्य क्वचिदप्रसिद्धेः अथवा एकांतवादाभिमतसर्वथा सर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः। वि. प्र. 6 शब्दः। 7 असर्वगतानां नित्यत्वं साधयति चेत्। 8 सामान्यात्मनां वा। (स्या० प्र०) 9 अनिष्टानुषक्तत्वरूपोऽप्रसिद्धविशेषणत्वरूपश्चेत्युभयदोषौ। 10 एकान्तवादाभिमतसर्वथासर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः। 11 सर्वगतत्वम्। 12 अमूर्तः शब्दः सर्वगतः, अकृतकत्वादिति। 13 अमूर्तशब्दाः सर्वगताः सर्वत्रोपलभ्यमानमूर्तत्वात् अथवा एकांतवादाभिमतसर्वथामूर्तत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः। वि. प्र.। 14 मीमांसकमते शब्दानाममूर्तत्वात्। 15 पक्षदोषानिष्टानुषक्तदोषेति।

सामान्यात्मनोऽसम्भवाद्वर्णेषु[1]। [2]तदयमनुमानमुद्रां [3]सर्वत्र भिनत्तीति नानुमानविचारणायामधिकृतः[4] स्यात्। [5]अविवक्षितविशेषस्य[6] पक्षीकरणे सर्वः [7]सर्वादिरित्यसमग्रप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः[9] *। यथैव हि शब्दस्याविवक्षितसर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषस्याकृतकत्वादिहेतुना नित्यत्वे साध्ये न कश्चिद्दोषः स्यात्, नाप्यविवक्षितामूर्त्तत्वेतरविशेषस्य [10]सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादिना[11] सर्वगतत्वे, तथैवाविवक्षितार्हदनर्हद्विशेषस्य कस्यचित्पुरुषस्य विप्रकृष्टार्थसाक्षात्करणेपि साध्येनुमेयत्वादिहेतुना न [12]कश्चिद्दोषं [13]पश्यामोन्यत्राप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघेभ्यः [14]प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धिभ्यः, [15]तेषामप्रतिष्ठितत्वात्[16], [17]साधनाभासे इव सम्यक्साधनेपि [18]स्वविषयेवतारात्। ततो निरवद्यमिदं साधनं कस्यचित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वं साधयति।

सामान्यात्मा भी वर्णों में असंभव ही है। इसलिये आप मीमांसक के यहाँ अपने पक्ष में भी समान ही दोषों का प्रसंग आने से आप मीमांसक अनुमान मुद्रा का भेदन कर देते हैं। अतः अनुमान के विचार करने में आपको अधिकार ही नहीं है। तथा यदि आप कहें कि—

अविवक्षित है विशेषता जिसकी अर्थात् सर्वगतत्व, असर्वगतत्व आदि विशेषताओं से रहित सामान्य मात्र को ही हम पक्ष बनाते हैं तो समान ही समाधान है। इसलिये अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पों के समूह से बल होवें।* क्योंकि जिस प्रकार से सर्वगतत्व, असर्वगतत्व की विशेषता जिसमें विवक्षित नहीं है ऐसे शब्दों को अकृतत्व आदि हेतु के द्वारा नित्य सिद्ध करने में कोई दोष नहीं है। एवं मूर्त, अमूर्त का भेद विवक्षित नहीं है जिनमें ऐसे शब्दों को सर्वत्र उपलब्धि को प्राप्त गुणत्व आदि के द्वारा सर्वगत रूप सिद्ध करने में कोई दोष नहीं है। अर्थात् "नित्य शब्द सर्वगत होता है क्योंकि द्रव्य रूप होने से अमूर्तिक है जैसे आकाश" इत्यादि।

उसी प्रकार से जिसमें अर्हंत एवं अनर्हंत की विशेषता विवक्षित नहीं है, ऐसा कोई पुरुष अनुमेयत्व आदि हेतु के द्वारा विप्रकृष्ट पदार्थों का साक्षात्करण करने वाला है इस विषय में केवल प्रकृत साधन (अनुमेयत्व) के अविरोधी अप्रतिष्ठित मिथ्या विकल्पों के समूह के अतिरिक्त हमें कोई दोष नहीं दिखता है क्योंकि ये विकल्प (भेद) अप्रतिष्ठित हैं। साधनाभास में अपने अविषय के समान सम्यक् साधन में भी अपने विषय का अवतार नहीं होता है। अतः हमारा यह अनुमेयत्व हेतु निर्दोष है और किसी व्यक्ति विशेष को सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कारी होना सिद्ध करता है।

---

1 सामान्यात्मनोरसंभवादिति वा पा०। वि. प्र.। 2 यतो मीमांसकस्य स्वपक्षेपि समानं ततस्तस्यायं मीमांसकः। 3 स्वपक्षेपि परपक्षवत्। 4 क्षेमः। (ब्या० प्र०) 5 अविवक्षितः सर्वगतत्वासर्वगतत्वादिविशेषो यस्य स तस्य। 6 शब्दस्य। (ब्या० प्र०) 7 हे मीमांसक। 8 अन्यदस्ति। (ब्या० प्र०) 9 अर्हतोऽनर्हतो वेत्यादिकैः। 10 सर्वत्रोपलभ्यमानमाकाशम्। 11 नित्यः शब्दः सर्वगतो भवति, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदित्यादिना च। 12 न केनापि कश्चिद्दोषं इति पा. वि. प्र.। 13 विना। 14 प्रकृतं साधनमनुमेयत्वम्। 15 विकल्पौघानाम्। 16 अप्रतिष्ठितत्वं कुतः ? (ब्या० प्र०) 17 अप्रतिष्ठितत्वे हेतुरयम्। 18 मिथ्याविकल्पौघाविषये

भावार्थ—मीमांसक ने जैसे-तैसे यहाँ तक तो मंजूर कर लिया कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं और वह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इस बात को स्वीकार कर लेने के बाद भी उसे चैन नहीं पड़ी और वह प्रश्न करने में पुनः आगे बढ़कर कहता है कि अच्छा आप जैन ! यह तो बताओ कि यह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष आप अर्हंत के मानते हैं या बुद्ध कपिल आदि के या इन दोनों से रहित किसी सामान्य आत्मा के ?

यदि प्रथम पक्ष लेवो तो बनता नहीं क्योंकि कोई भी आत्मा अर्हंत रूप से सिद्ध ही नहीं है और अप्रसिद्ध को पक्ष बनाया ही नहीं जा सकेगा। द्वितीय पक्ष में बुद्ध, कपिल आदि को अतीन्द्रिय-दर्शी मानना आपको इष्ट नहीं है।

तृतीय पक्ष में इन दोनों को छोड़कर और आत्मा है कौन जिसे आप सर्वज्ञ सिद्ध कर सकें ? अतः आप अपने अर्हंत को ही सर्वज्ञ सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ये तीन प्रकार के दूषण तो सर्वत्र ही दिये जा सकते हैं। आप मीमांसकों ने शब्द को नित्य सिद्ध किया है। हम प्रश्न कर सकते हैं कि आप सर्वगत शब्दों को नित्य सिद्ध करते हैं या असर्वगत शब्दों को या इन दोनों से रहित सामान्य शब्दों को ? एवं शब्दों को सर्वगत सिद्ध करते हुए आप अमूर्तिक शब्दों को सर्वगत सिद्ध करते हैं या मूर्तिक शब्दों को या इन दोनों से रहित किन्हीं शब्दों को ?

इसी प्रकार से आपकी सभी मान्यताओं में हम इन्हीं विकल्पों को उठाकर दूषण देते जावेंगे। तब मीमांसक घबड़ाकर बोल पड़ा कि भाई ! हम विशेष की विवक्षा न करके सामान्य मात्र शब्दों को ही नित्य, सर्वगत और अमूर्तिक सिद्ध करते हैं अतः हमारे यहाँ ये कोई दोष नहीं आते हैं।

जैनाचार्य ने कहा कि भाई ! फिर मुझ पर ही आपको इतना क्या द्वेष है कि जिससे आप इस प्रकार से कुप्रश्नों की बरसात करते ही आ रहे हैं। हम भी तो विशेष रूप से अर्हंत अनर्हंत की विवक्षा न करके सामान्य मात्र से ही किसी भी पुरुष को सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं। हमें किसी से भी द्वेष नहीं है जो कर्म पर्वत को भेदन करने वाला दोष-आवरण से रहित निर्दोष महापुरुष है वह कोई भी क्यों न हो बस ! हम उसे ही सर्वज्ञ मान लेते हैं। इसलिये 'अनुमेयत्व' हेतु के द्वारा किसी न किसी आत्मा के सम्पूर्ण सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार होना सिद्ध ही हो जाता है। अब अधिक कथन से तो केवल पिष्टपेषण ही होगा ऐसा समझना चाहिये।

उत्थानिका—इस प्रकार किसी के कर्मभूभृत् भेदित्व के समान विश्व-तत्त्वों का साक्षात्कारित्व भी हो जावे क्योंकि सुनिश्चित रूप से असम्भव है बाधक प्रमाण जिसमें ऐसे प्रमाण का सद्भाव

नन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्मभूभृद्भेदित्वमिव विश्वतत्त्वसाक्षात्कारित्वं, [1]प्रमाणसद्भावात् । स तु परमात्माहंन्नेवेति कथं निश्चयो यतोऽहमेव महानभिवन्द्यो भवतामिति [2]व्यवसिता[3]भ्यनुज्ञानपुरस्सरं[4] भगवतो [5]विशेषसर्वज्ञत्वपर्यनुयोगे[6] सतीवाचार्याः प्राहुः ।—

स त्वमेवासि [7]निर्दोषो [8]युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' ।
अविरोधो [10]यदिष्टं ते[11] प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः । निष्क्रान्तो दोषेभ्यो[13] निर्दोषः । [14]प्रमाणबलात्सिद्धः सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो यः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । यो [15]यत्र[16] युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद्व्याध्युपशमे

पाया जाता है । पुनरपि वह परमात्मा अर्हंत ही हैं यह निश्चय कैसे हो सकता है कि जिससे मैं ही आपके लिये महान् नमस्कार करने योग्य होऊं । इस प्रकार निश्चित स्वीकृति पूर्वक भगवान् के विशेष सर्वज्ञत्व के प्रश्न करने पर ही मानो आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं–

कारिकार्थ—हे भगवन् ! दोष और आवरण से रहित निर्दोष सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले एवं युक्ति-शास्त्र (तर्क व आगम) से अविरोधी वचन को बोलने वाले वह अर्हंत परमात्मा आप ही हैं क्योंकि आपका इष्ट (मत) विरोध रहित है उसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती है ॥६॥

अज्ञान, राग, द्वेष आदि तो दोष कहे गये हैं और जो दोषों से रहित है वे निर्दोष हैं । पूर्वोक्त चौथी एवं पांचवीं कारिका में कहे गये अनुमान प्रमाण के बल से सामान्यतया जो सर्वज्ञ और वीतराग सिद्ध हुए हैं । हे भगवन् ! वे आप ही हैं क्योंकि आपके वचन, युक्ति (तर्क) और शास्त्र (आगम) से अविरोधी हैं, जो जहाँ पर युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं वे वहाँ पर निर्दोष देखे गये हैं जैसे किसी व्याधि को दूर करने में उत्तम वैद्य । मुक्ति और संसार तथा इन दोनों कारणों में भगवान् युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं इसीलिये वे निर्दोष हैं । इस प्रकार से हमारा निश्चय है । मेरे वचन

---

1 प्रमाणं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वलक्षणम् । 2 व्यवस्थितेति पाठान्तरम् । 3 व्यवसितं निश्चितमभ्यनुज्ञानमभ्युपगमस्तत्पुरस्सरमिति क्रियाविशेषणम् । 4 निश्चित । तदभ्युपगम । (ब्या० प्र०) 5 अर्हन्नेव सर्वज्ञ इति विशेषस्य । (ब्या० प्र०) 6 प्रश्ने । 7 दोषेभ्योऽज्ञानरागद्वेषादिभ्यो निष्क्रांतः । वि. प्र. । 8 युक्तिस्तर्कः । शास्त्रमागमः । हेतुर्वासितं विशेषणमिदम् । 9 यतः । (ब्या० प्र०) 10 यस्मात् । (ब्या० प्र०) 11 तत्त्वं । (ब्या० प्र०) 13 भगवान् पक्षो निर्दोषो भवतीति साध्यो धर्मो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । इत्यानुमानमेकं । भगवान् पक्षः युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् भवतीति साध्यो धर्मः भवतोभिमततत्त्वस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात् इति द्वितीयं । वि. प्र. । 14 अनन्तरोक्तकारिकाद्वयोक्तानुमानबलात् । 15 तत्र । 16 यः सामान्यतः सिद्धः स त्वमेव मोक्षसंसारतत्कारणेषु निर्दोषो भवितुमर्हति तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् इति प्रतिज्ञाहेतुप्रयोगो दृष्टव्यः । वि. प्र. ।

भिषग्वरः[1]। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिसंसारतत्कारणेषु[2], तस्मान्मिदोंष इति निश्चयः। युक्तिशास्त्राभ्यामविरोधः कुतो [3]महान्: [4]सिद्धोऽनवयवेनेति चेद्यस्मादिष्टं मोक्षादिकं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते। तथा हि। यत्र [5]यस्याभिमतं[6] तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। यथा [7]रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे[8] भिषग्वरः। न बाध्यते च प्रमाणेन भगवतोभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम्। तस्मात्तत्र त्वं[9] युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। इति विषयस्य युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्ति-

---

सम्पूर्णतया युक्ति आगम से अविरोधी किस प्रकार से सिद्ध है? इस प्रकार से भगवान् के प्रश्न करने पर ही मानों समंतभद्र आचार्य कहते हैं कि—

हे भगवन्! आपके मोक्षादिक तत्त्व प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होते हैं। तथाहि—"जहाँ पर जिस पुरुष का अभीष्ट तत्त्व प्रमाण से बाधित नहीं होता है वह वहाँ पर युक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाला है जैसे रोग और स्वास्थ्य तथा उनके कारणों में उत्तम वैद्य। [illegible] के द्वारा अभिमत मोक्ष, संसार और उन-उनके कारण कारणभूत तत्त्वसमूह से बाधित नहीं [illegible] लिये उस-उस विषय में भगवान् आप ही युक्ति और आगम से अविरोधी वचन वाले हैं।"

इस प्रकार मोक्ष, संसार एवं इन दोनों के कारणभूत इस विषय को युक्ति-शास्त्र से अविरोधी पना सिद्ध होने से विषयी भगवान् के वचनों को भी युक्ति और शास्त्र से अविरोधीपना सिद्ध हो जाता है।

भावार्थ—श्री स्वामी समंतभद्राचार्य वर्य ने देवागम स्तोत्र में "देवागमनभोयान" इत्यादि कारिका के द्वारा बहिरंग विभूतिमान् हेतु से भगवान् को महान् नहीं माना है। 'अध्यात्मं बहिरप्येष' इत्यादि द्वितीय कारिका के द्वारा अंतरंग महोदय से भी भगवान् को नमस्कार नहीं किया है तथा 'दोषावरणयोर्हानि:' इत्यादि तृतीय कारिका से सभी के आम्नाय में परस्पर विरोध दिखाकर पुनः धीरे से ऐसा कह दिया है कि 'कश्चिदेव भवेद्गुरुः' कोई न कोई एक भगवान् अवश्य ही होना चाहिये।

इसके पश्चात् चतुर्थ कारिका में इस बात को बताया है कि दोष और आवरण से ही प्राणी संसारी कहलाते हैं इनका किसी न किसी में पूर्णतया अभाव हो सकता है क्योंकि संसारी प्राणियों में दोष और आवरण के हानि की तरतमता देखी जाती है। पुनः आगे पांचवीं कारिका में यह स्पष्ट कर देते हैं कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ' किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है।

---

1 वैद्यशास्त्रपुरुषयविरोधिवाक् भिषग्वरः। 2 मुक्तिश्च संसारश्च तत्कारणं च तेषु। 3 यस्य सर्वज्ञत्वस्य। 4 सामस्त्येन। 5 यस्य पुरुषस्य स इति सम्बन्धः। 6 मोक्षसंसारतत्कारणेषु त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् भवितुमर्हसि तत्र त्वदभिमतस्य तत्त्वस्य स्वरूपस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात् इति प्रतिग्राह्येषु दृष्टव्यौ। वि. प्र. 7 रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणे च तान्येव तत्त्वं तत्र। वि. प्र.। 9 रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणानि च तान्येव तत्त्वं तस्मिन्।

शास्त्राविरोधित्वसाधनम्[1] । [2]कथमत्र कारिकायामनुपात्तो विषवैद्यो दृष्टान्तः क्रियते इति चेत् स्वयं [3]ग्रन्थकारेणान्यत्राभिधानात् ।

"त्वं शम्भवः [4]संभवतर्षरोगैः, संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ कुतश्चिदार्तान् ॥"

इति स्तोत्रप्रसिद्धेः । [5]इह दृष्टान्तावचनं तु संक्षेपोपन्यासात्र विरुध्यते, [7]अन्यथानुपपन्नत्व-नियमैकलक्षणप्राधान्यप्रवर्तनार्थं वा ।

अब 'स त्वमेवासि निर्दोषो' इस कारिका में यह स्पष्टतया कह रहे हैं कि वह सर्वज्ञ और निर्दोष भगवान् आप ही हैं। पुनः प्रश्न यह होता है कि आप ही निर्दोष क्यों हैं ? क्योंकि यहाँ परीक्षा प्रधानी शिष्यगण केवल आगम मात्र से ही भगवान् को निर्दोष मानने को तैयार नहीं हैं। उनको आचार्य समझाते हैं कि सर्वज्ञ भगवान् निर्दोष इसलिये हैं कि उनके वचन तर्क और आगम से अविरोधी हैं क्योंकि आपका शासन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित नहीं है। लोक व्यवहार में उत्तम वैद्य रोगी के रोग का कारण बता देता है और स्वस्थता के कारण भी बता देता है, अब वह स्वस्थ हो चुका है इसके ज्वर आदि विकार निकल चुके हैं। वैद्य के ऐसे विषय पर आश्वास होने पर विश्वास कर लेते हैं ऐसा देखा जाता है। अब आगे इसी बात को सिद्ध कर रहे हैं कि भगवान् के शासन में आप्त मोक्ष और संसार एवं इन दोनों के कारण भी विरोध रहित तर्क, आगम आदि से सिद्ध हैं।

प्रश्न—इस कारिका में दृष्टांत न होते हुये भी विषवैद्य का दृष्टांत आपने क्यों दिया ?

उत्तर—स्वयं ग्रंथकार श्री समंतभद्राचार्य स्वामी ने अन्यत्र 'स्वयंभूस्तोत्र' में विषवैद्य का दृष्टांत ग्रहण किया है यथा—

"त्वं शंभवः संभवतर्षरोगैः, संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ कुतश्चिदार्तान् ॥"

अर्थ—हे संभवनाथ भगवान् ! संसार में तृष्णा रूपी रोग से पीड़ित हुये जीवों के लिये आप ही अकारण वैद्य हैं। जिस प्रकार से लोक में रोगों की शांति के लिये वैद्य होते हैं।

अतः यहाँ कारिका में संक्षेप से कथन होने से दृष्टांत की नहीं कहने पर भी विरोध नहीं आता है अथवा हेतु में "अन्यथानुपपत्ति" ही निश्चित एक लक्षण प्रधान है ऐसा बतलाने के लिये भी दृष्टांत नहीं दिया है।

---

1 सिद्धयति, विषवैद्यविशोरुदेशेनोपचारात् । 2 कारिकायां । 3 अकलंकदेवाचार्येण । 4 संभवः संसारः । तर्षरुग्णा । 5 ग्रन्थकारनिरपेक्षः । 6 कारिकायाम् । 7 अथवा हेतोरन्यथानुपपत्तेरेकलक्षणं प्रधानमेतत्प्रतिपादनायापि दृष्टान्तः । (ब्या० प्र०)
8 एतत्प्रतिपादनविषयत्वमेव विनापि अन्यथानुपपन्नत्वनियमलक्षणप्राधान्यस्य सामर्थ्यसिद्धेः कारिकायामदृष्टान्तवचनम् ।

भावार्थः—नैयायिकों ने हेतु के पाँच अवयव माने हैं। १ पक्षधर्मत्व, २ सपक्ष सत्त्व, ३ विपक्ष व्यावृत्ति, ४ अबाधित विषयत्व, ५ असत्प्रतिपक्षत्व। इसी प्रकार बौद्धों ने उपरोक्त पांच अवयवों में से आदि के तीन अवयव माने हैं किन्तु जैनाचार्यों ने "अन्यथानुपपत्तिः" एक लक्षण हेतु का माना है। इस अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतु में पांचों अवयव नहीं है। तो भी हेतु साध्य को सिद्ध करने वाला सच्चा हेतु है और यदि हेतु में पांचों या चारों आदि अवयव होकर भी अन्यथानुपपत्ति लक्षण अविनाभाव हेतु नहीं है तो हेतु अहेतु है साध्य का गमक नहीं है।

सर्वज्ञसिद्धि का सारांश

मीमांसक यह कहता है कि—संपूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा परमाणु धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा? इन अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान तो वेद वाक्यों से ही होता है। अतएव जगत में कोई सर्वज्ञ नहीं है। इस पर आचार्य समाधान करते हैं कि—

सूक्ष्म परमाणु आदि एवं अंतरित राम-रावणादि तथा दूरवर्ती-सुमेरु पर्वत आदि परोक्ष पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं—अग्नि आदि के समान एवं हे भगवन्! वे पदार्थ जिनके प्रत्यक्ष हैं वह आप ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं क्योंकि आप के वचन युक्ति शास्त्र से अविरोधी हैं तथा आपका मत, संसार, मोक्ष एवं उनके उपाय प्रत्यक्षादि से बाधित नहीं होते हैं।

यदि कोई कहे कि अत्यन्त परोक्ष पदार्थ अनुमेय नहीं हो सकते अतः अनुमेयत्व हेतु भागासिद्ध है। यह कथन ठीक नहीं है। कारण कि सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय हैं क्योंकि श्रुत-ज्ञान के विषय हैं एवं श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। अतएव श्रुतज्ञान के विषयभूत अनुमेय सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध ही हैं। मीमांसक कहता है कि "कोई भी सूक्ष्मादि पदार्थों का साक्षात्कार करने वाला नहीं है क्योंकि वह प्रमेय है, या अस्ति रूप है, या वस्तु रूप है। जैसे हम लोग।" इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ये हेतु तो हमारे सर्वज्ञ को ही सिद्ध करते हैं। तथाहि।

"सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि प्रमेयरूप हैं, अस्तित्व रूप हैं या वस्तु रूप हैं—स्फटिक आदि की तरह।"

तथा सर्वज्ञ भगवान् अतीन्द्रिय ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते हैं इन्द्रिय ज्ञान से नहीं, क्योंकि इन्द्रियाँ तो वर्तमान के प्रतिनियत पदार्थ को ही विषय करती हैं सभी को नहीं। अतः इन्द्रिय ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता है। इस बात का स्पष्टीकरण सन्निकर्ष खंडन में विशेष रूप से है। एवं आप सर्वज्ञ अर्हंत ही निर्दोष हैं। बुद्ध, कपिल आदि नहीं हैं क्योंकि उनके वचन युक्ति एवं शास्त्र से अविरोधी नहीं हैं इस प्रकार से आप ही सर्वज्ञ वीतराग हैं यह बात सिद्ध हो गयी।

अतः मोक्ष और संसार तथा मोक्ष और संसार के कारण इन चारों में भगवान् के द्वारा प्रतिपादित जो मोक्षतत्त्व है वह प्रमाण से बाधित नहीं होता है क्योंकि प्रत्यक्ष से मोक्षादि तत्त्व में बाधा नहीं है।

[मोक्षतत्त्वकारणतत्त्वस्य सिद्धिः]

[1]तत्र भगवतोभिमतं मोक्षतत्त्वं तावन्न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य [2]तद्बाधकत्वायोगात्[3]। [4]नास्ति [5]कस्यचिन्मोक्षः, । सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात् कूर्मरोमादिवदित्यनुमानेन बाध्यते इति चेन्न, मोक्षस्यानुमानादागमाच्च [6]प्रसिद्धप्रामाण्यादस्तित्वव्यवस्थापनात्[7], [8]क्वचिद्दोषावरणक्षयस्यैवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभफलस्यानुमानागमप्रसिद्धस्य[9] मोक्षत्वात्, "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इति वचनात्[10]। सत[11] एव [12]आगमेनापि मोक्षतत्त्वं बाध्यते, [13]तस्य तत्सद्भावावेदकत्वव्यवस्थितेः। तथा [14]मोक्षकारणतत्त्वमपि[15] न प्रमाणेन विरुध्यते प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षप्रतिपत्तेरभावात्तेन[16] तद्बाधनायोगात्। सानुमानेनापि तद्बाधनं, [17]ततो मोक्षस्य[18]कारणवत्त्वसिद्धेः। [19]सकारणको मोक्षः, प्रतिनियत-

---

अब स्वमत में अनुमान का अभाव होने पर भी चार्वाक परमत की अपेक्षा से अनुमान को ग्रहण करके मोक्ष तत्त्व का सास्तित्व सिद्ध करता है—

[चार्वाक के द्वारा मोक्ष एवं उसके कारण का खण्डन एवं जैन के द्वारा समाधान]

चार्वाक—"किसी को भी मोक्ष नहीं है क्योंकि वह मोक्ष सत्ता को ग्रहण करने वाले पाँचों प्रमाणों का विषय नहीं है, कछुवे के रोम के समान" इस प्रकार अनुमान से बाधा आती है। अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान आगम उपमान और अर्थापत्ति ये पाँचों ही प्रमाण सत् रूप वस्तु को ग्रहण करने वाले हैं और यह मोक्ष पाँचों ही प्रमाणों का विषय नहीं है अतः मोक्ष है ही नहीं, ऐसा हमारा पक्ष है।

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है। प्रसिद्ध प्रमाणता वाले अनुमान से एवं आगम से मोक्ष के अस्तित्व की व्यवस्था की जाती है। किसी जीव में अनंत ज्ञानादि स्वरूप की प्राप्ति रूप फल तथा अनुमान एवं आगम से प्रसिद्ध दोष और आवरण का क्षय पाया जाता है उसी का नाम मोक्ष है। कहा

---

1 मोक्षसंसारतत्कारणेषु चतुर्षु मध्ये। 2 तेषां = मोक्षतत्त्वादीनाम्। 3 तस्य तद्विषयत्वात्। (आ० प्र०) 4 स्वमतेनुमानस्यामावेपि चार्वाकः परमतापेक्षयानुमानं दर्शयति। 5 सत्तस्य। (आ० प्र०) 6 प्रसिद्धप्रामाण्यविशेषदनुमानत्र सर्वत्र यथासंभवमागमशब्देन सह संबंधनीयं। (आ० प्र०) 7 यत्र। 8 आत्मनि। (आ० प्र०) 9 दोषावरणमोहनिरित्यादुक्तानुमानादिना। 10 एवं मोक्षे सदुपलंभकानुमानागमसमाश्रयं संभवाबाधनेन परोक्तं सदुपलंभकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरूपं साधनमसिद्धमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यं। वि. प्र. 11 एवं मोक्षस्य युक्तविरोधं प्रतिपाद्य शास्त्रविरोधं प्रतिपादयति तत एवेति। 12 प्रसिद्धप्रामाण्येन। (आ० प्र०) 13 आगमस्य। 14 सम्यग्दर्शनादि। 15 स्वरूपं। (आ० प्र०) 16 प्रत्यक्षेण। 17 अनुमानात्। 18 कारणतत्त्वसिद्धेः इति पा. (आ० प्र०) 19 सम्यग्दर्शनादिकारणकः।

[1]कालादित्वात् पटादिवत्। तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषंगः, परापेक्षारहितत्वाविति। [2]आगमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं गम्यते, तस्य तत्साधकत्वात् "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि [3]मोक्षमार्गः" इति वचनात्।

भी है—'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' अर्थात् बंध के हेतु का अभाव एवं निर्जरा के द्वारा संपूर्ण कर्मों का नाश हो जाना इसी का नाम मोक्ष है।" इस प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र महाशास्त्र में कहा है। उसी प्रकार आगम प्रमाण से भी मोक्षतत्त्व बाधित नहीं होता है क्योंकि मोक्ष तत्त्व के सद्भाव का प्रतिपादक आगम उपलब्ध है।

भावार्थ—यद्यपि मोक्ष इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं दिखता है तो भी अनुमान एवं आगम से सिद्ध है। राजवार्तिक में भी श्री भट्टाकलंक देव ने इसी बात को स्पष्ट किया है। "कार्यविशेषोपलब्धेः कारणान्वेषण प्रवृत्तिरिति चेन्न अनुमानतस्तत्सिद्धेर्घटीयन्त्र भ्रादिनिवृत्तिवत्" ॥६॥ अर्थात्

प्रश्न—मोक्ष जब प्रत्यक्ष से दिखायी नहीं देता तब उसके मार्ग का ढूंढना व्यर्थ है? उत्तर—यद्यपि मोक्ष प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है फिर भी उसका अनुमान किया जा सकता है। जैसे घटीयंत्र-रेंहट का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है। और धुरे का घूमना उसमें जुते हुए बैल के घूमने पर। यदि बैल का घूमना बन्द हो जाय तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटीयंत्र का घूमना बन्द हो जाता है। उसी तरह कर्मोदय रूपी बैल के चलने पर ही चार गति रूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति रूपी धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक मानसिकादि वेदनायें रूपी घटीयंत्र घुमाता रहता है। कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है। और इसके रुकने से संसार रूपी घटीयंत्र का परिभ्रमण समाप्त हो जाता है इसी का नाम मोक्ष है इस तरह आगमरूप अनुमान से मोक्ष की सिद्धि हो जाती है।

समस्त शिष्टजन अप्रत्यक्ष होने पर भी मोक्ष का सद्भाव स्वीकार करते हैं और उसके मार्ग का अन्वेषण करते हैं। जिस प्रकार भावी सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण आदि प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है फिर भी आगम से उनका यथार्थ योग जान लिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष भी आगम से सिद्ध हो जाता है। यदि प्रत्यक्ष न होने के कारण मोक्ष का निषेध किया जाता है तो सभी को स्वसिद्धान्त विरोध होगा, क्योंकि सभी वादी कोई न कोई अप्रत्यक्ष पदार्थ मानते ही हैं। "आगमात्प्रतिपत्तेः"। प्रत्यक्षानुपलभ्यं मानोऽपि मोक्षः आगमादस्तीति निश्चीयते। प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होते हुए भी 'मोक्ष' है—ऐसा आगम से निश्चय किया जाता है।

तथैव मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनादि एवं संवर निर्जरा तत्त्व भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है प्रत्यक्ष से कारण के बिना मोक्ष की प्रतिपत्ति-ज्ञान का अभाव है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से मोक्ष के

---

1 कालादेरकारणत्वेऽपि विना मोक्षो न भवतीत्वतः सकारणको मोक्षः। 2 प्रसिद्धप्रकाश्येन। (ब्या० प्र०)

3 मोक्षकारणविषयः।

[चार्वाकः संसारतत्त्वं न मन्यते तस्य विचारः]

तथा संसारतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षतः संसाराभावासिद्धेस्तस्य[1] तद्बाधकत्वानुपपत्तेः । स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः । [2]स न [3]प्रत्यक्षविषयो येन प्रत्यक्षं तं बाधेत ।

[चार्वाकः संसारतत्त्वं निराकरोति तस्य समाधानं]

[4]अनुमानं तद्बाधकमिति चेन्न, [5]तदभावप्रतिबद्धलिङ्गाभावात्[6] । [7]गर्भादिमरणपर्यन्तचैतन्यविशिष्ट[8]कायात्मनः पुरुषस्य जन्मनः[9] पूर्वं मरणाच्चोत्तरं नास्ति भवान्तरम्, [10]अनुपलब्धेः

कारणभूत तत्त्वों में बाधा का अभाव है एवं अनुमान से भी बाधा नहीं आती है इसलिए अनुमान से भी मोक्ष कारण सहित सिद्ध है। "मोक्ष सकारणक है अर्थात् सम्यग्दर्शनादि कारण से होता है क्योंकि प्रतिनियत कालादि की अपेक्षा पायी जाती है अर्थात्—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं तीर्थादि सामग्री के बिना मोक्ष नहीं होता है इसीलिए कारण सहित है जैसे घट आदिक।" यदि मोक्ष को अकारणक मानोगे तो सर्वदा, सर्वत्र सभी जीवों के मोक्ष का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि अकारणक होने से मोक्ष पर की अपेक्षा से रहित ही रहेगा। और आगम से भी मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों में बाधा नहीं है, क्योंकि मोक्ष के कारण को सिद्ध करने वाला आगम पाया जाता है। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस प्रकार सूत्र वचन है।

[संसार तत्त्व पर विचार]

संसार तत्त्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से संसार के अभाव की असिद्धि है। वह प्रत्यक्ष संसार को बाधित नहीं करता है अपने द्वारा उपार्जित कर्म के निमित्त से आत्मा के भवांतर की प्राप्ति का होना इसीका नाम संसार है। वह संसार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है कि जिससे वह प्रत्यक्ष उस संसार को बाधित कर सके।

अर्थात् कर्म के निमित्त से कार्माण तैजस शरीर के साथ आत्मा का जो परलोक में गमन है वह किसी को प्रत्यक्ष से दिखता नहीं है; और जो चीज प्रत्यक्ष से दिखती नहीं है यह प्रत्यक्ष प्रमाण उसका निषेध भी कैसे कर सकेगा।

[चार्वाक के द्वारा संसार तत्त्व का खण्डन एवं जैनाचार्य द्वारा उसका समाधान]

चार्वाक—अनुमान प्रमाण संसार का बाधक है।

जैनाचार्य—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि संसार के अभाव के साथ प्रतिबद्ध (अविनाभावी) लिंग का अभाव है अतः अनुमान प्रमाण से बाधा नहीं आ सकती।

---

1 प्रत्यक्षस्य। 2 संसारः। (ब्या० प्र०) 3 प्रत्यक्षाविषयत्वादेवाभाव इति न व्यक्तं वेत्तीतरकर्माद्यतरविशिष्टोत्पत्तेरेव्यभावप्रसंगात्। वि. प्र.। 4 चार्वाकः। 5 संसाराभावेन सह प्रतिबद्धस्य लिङ्गस्याभावात्। 6 संसाराभावाविनाभाविलिंगाभावात् वि. प्र.। 7 चार्वाकः। 8 सहित। (ब्या० प्र०) 9 का। (ब्या० प्र०) 10 चैतन्यविशिष्टः काय एवात्मा, तस्य।

खपुष्पवदित्यनुपलम्भः संसाराभावग्राहकः संसारतत्त्वबाधक इति चेन्न, तस्यासिद्धेः। प्राणिनामाद्यं[1] [2]चैतन्यं [3]चैतन्योपादानकारणकं, [4]चिद्विवर्तत्वान्मध्यचैतन्यविवर्तवत्[5]। तथाऽन्त्यचैतन्यपरिणा[6]मश्चैतन्य[7]कार्यः[8], तत एव तद्वत्। इत्यनुमानेन पूर्वोत्तरभावोपलम्भा[9]दयोक्तसंसारतत्त्वसिद्धेः। गोमयादेरचेतनाच्चेतनस्य वृश्चिकादेरुत्पत्तिदर्शनात्तेन [10]व्यभिचारी [11]हेतुरिति चेन्न, [12]तस्यापि पक्षीकरणात्। वृश्चिकादिशरीरस्थाचेतनस्यैव गोमयादेः [13]सम्मूर्च्छनं, न पुनर्वृश्चिकादिचैतन्यविवर्तस्य, तस्य पूर्वचैतन्यविवर्तादेवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात्।

चार्वाक—"गर्भ से लेकर मरण पर्यंत चैतन्य से विशिष्ट शरीरधारी पुरुष के जन्म से पहले और मरण के पश्चात् भवांतर नाम की कोई चीज नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है आकाश पुष्प के समान।" इस प्रकार संसार के अभाव का ग्राहक "अनुपलम्भ" हेतु संसार तत्त्व का बाधक है।

जैन—आपका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आपका अनुमान असिद्ध है "प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के चैतन्य रूप उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योंकि वह चैतन्य की पर्याय है जैसेकि मध्यवर्ती युवा आदि की चैतन्य पर्याय के लिए आदि की गर्भावस्था को प्राप्त चैतन्य पर्याय उपादान रूप है। तथा अन्त्य चैतन्य का परिणाम जो कि मरणावस्था लक्षण है वह चैतन्य का कार्य रूप है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है जैसे कि मध्य चैतन्य पर्याय। अर्थात्—मरण अवस्था वाला चैतन्य आगे के चैतन्य का उपादान कारण होने से आगे भी चैतन्य को जन्म रूप से उत्पन्न कराने वाला है। अन्यथा चैतन्य का निरन्वय विनाश हो जावेगा, परन्तु निरन्वय विनाश सम्भव नहीं है यदि मानोगे तो सर्वलोप का प्रसंग आ जावेगा। इस अनुमान से पूर्व और उत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से यथोक्त संसार तत्त्व की सिद्धि होती है।

चार्वाक—गोबर आदि अचेतन से चेतन स्वरूप बिच्छू आदि की उत्पत्ति देखी जाती है इसलिए आपका हेतु व्यभिचारी है अर्थात्—चैतन्य रूप उपादान कारण के अभाव में भी गोबर आदि अचेतन पदार्थों से बिच्छू आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

अतः "चैतन्य की पर्याय होने से" यह हेतु विपक्ष में चला जाने से व्यभिचारी है।

---

1 गर्भावस्थाप्राप्तम्। 2 चार्वाकाभिमतभूतचतुष्टयजन्यं आद्यचैतन्यं पक्षः पूर्वभवावसानचैतन्योपादानकारणकं भवतीति साध्यो धर्मः चिद्विवर्तत्वात् मध्यचैतन्यविवर्तवत्। दि. प्र.। 3 आद्युत्पन्नचैतन्यात्पूर्वं चैतन्यमुपादानं यस्य तत्। 4 पर्याय। (ब्या० प्र०) 5 मध्यो युवादेः। 6 मरणावस्थालक्षणः 7 उत्पाद्यमानं चैतन्यं कार्यं यस्य सः। एतन्मरणावस्थालक्षणं चैतन्यमुपादानकारणत्वादग्रेपि चैतन्यमुत्पादयिष्यत्येव अन्यथा निरन्वयविनाशः स्यात्। न च निरन्वयविनाशः सम्भवति, सर्वलोपप्रसङ्गात्। 8 मतः। (ब्या० प्र०) 9 अनुमानस्य प्रामाण्यसिद्धेरनुपलंभ एवेति चेन्न तत्प्रामाण्ये भवांतरप्रतिषेधासंघटनात्। अनुपलब्धिलिंगोत्थानुमानेन भवांतरं प्रसिद्धं चार्वाकेण तस्य घटत इति भावः। दि. प्र.। 10 वृश्चिकादेश्चैतन्योपादान कारणाभावेपि चिद्विवर्तत्वहेतोर्दर्शनात्। 11 अन्वयः पूर्वं चैतन्यास्तित्वसाधकं। (ब्या० प्र०) 12 वृश्चिकादिचैतन्यस्यापि आद्यचैतन्येन पक्षीकरणात्। 13 गर्भोपपादरूपद्विप्रकारक जन्मवर्जितं जन्म (शरीरपरिकल्पनम्) सम्मूर्छनम्।

[1]खड्गिचरम[2]चित्तेन[3] चित्तान्तरानुपादानेन[4] व्यभिचारः [5]साध्यस्येत्यपि [6]मनोरथमात्रं, [7]तस्य प्रमाणतोऽसिद्धत्वात्, निरन्वयक्षणक्षयस्य [8]प्रतिक्षेपात् ।

जैनाचार्य—नहीं। उन विष्णु आदिकों को भी हमने पक्ष में ही लिया है। विष्णु आदि का जो शरीर है वह अचेतन रूप गोबर आदि से सम्मूर्च्छन जन्म के द्वारा बना है न कि विष्णु आदि की चैतन्य पर्याय है। वह तो पूर्व की चैतन्य पर्याय से ही उत्पन्न होती है ऐसा हम जैनों ने स्वीकार किया है। गर्भजन्म और उपपाद जन्म से रहित जन्म को सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

चार्वाक—आप जैनों का "चित् विवर्तत्व" हेतु बौद्धों के द्वारा माने गये खड्गी के चरम चित्त से व्यभिचारी है। क्योंकि खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के चित्तक्षण—ज्ञानक्षण के लिए उपादान कारण नहीं है।

जैन—यह आपका कथन भी मनोरथ मात्र ही है क्योंकि वह खड्गी का चरम चित्त उत्तर चैतन्य के लिए उपादान भूत नहीं है यह बात प्रमाण से सिद्ध नहीं होती क्योंकि निरन्वय क्षण क्षय का हमने आगे चल कर खण्डन किया है।

भावार्थ—चार्वाक कहता है कि आप जैन विष्णु आदि के चैतन्य को उसके पूर्व चैतन्य की पर्याय से ही उत्पन्न होना मानते हो और कहते हो कि पूर्व-पूर्व की चैतन्य पर्याय उत्तर-उत्तर की चैतन्य पर्याय को उत्पन्न करने में कारण है सो आपका यह हेतु खड्गी के चरमचित्त से व्यभिचारी है क्योंकि खड्गी का चरमचित्त आगे-आगे के चित्तक्षण (ज्ञानक्षण) के लिए उपादान नहीं है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि खड्गी का चरमचित्त उत्तरचैतन्य के लिए उपादान भूत नहीं है यह बात प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है। इस खड्गी चरमचित्त का विशेष स्पष्टीकरण श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में पाया जाता है। तथाहि—

जैन मत में जिस प्रकार अन्तकृत केवली होते हैं उसी प्रकार बौद्धों के यहाँ तलवार आदि से घात को प्राप्त हुए कतिपय मुक्तात्मा माने गये हैं वे बिना उपदेश दिये ही शान्ति रहित निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। उनकी संसार में स्थिति नहीं मानी गई है किन्तु उनका निरन्वय मोक्ष माना गया है अर्थात् दीपक के बुझने के समान सर्वथा अन्वय रहित होकर जिनकी मोक्ष हो जाती है उन्हें खड्गी

---

1 खड्ग इव खड्गो ध्यानम्। सोस्यास्तीति खड्गी। खड्गिचरमचित्तस्य पूर्वचित्तविवर्ततेपि उत्तरचैतन्योपादानकारणत्वाभावात्, उत्तरचित्तकार्यकरणाभावेपि चित्तविवर्तदर्शनाद्वा हेतोः। 2 अन्त्यचैतन्यलक्षणेन। खड्ग इव खड्गो ध्यानं सोऽस्यास्तीति योगी बुद्धः इति वचनात् तस्यान्त्यचित्तं बौद्धमतापेक्षया चित्तान्तरस्य नोपादानं तेन। (श्या० प्र०) 3 अनाद्यवसोत्तरचित्तमन्यच्चित्तं नोपादयति। अन्यच्चित्तोपादानरहितेन सोत्तरान्त्यचित्तेन। चैतन्योपादानकारणकं इत्येतस्य साध्यस्य व्यभिचारः इति वदतः चार्वाकः। कि० प्र०। 4 चित्तसंततिनिवृत्तो मोक्ष इति बौद्धाः। 5 ता। परणात्तरं चैतन्यान्तिरवस्थानकस्य। (श्या० प्र०) 6 स्वमनोरथ इति पा. (श्या० प्र०) 7 खड्गिचर- मचित्तस्योत्तरचैतन्योपादानत्वाभावरूपहेतोः। 8 अपि।

[वने प्रथमाग्निः स्वयमेवोत्पद्यते पश्चादग्निपूर्वक एवेति मान्यतायां विचारः]

ननु च यथाद्यः [1]पथिकाग्निररणिनिर्मथनोत्थोऽनग्निपूर्वको दृष्टः [2]परस्त्वग्निपूर्वक एव तथाद्यं चैतन्यं कायाकारादिपरिणत भूतेभ्यो भविष्यति, [3]परं तु चैतन्यपूर्वकं, विरोधाभा-

---

कहते हैं। बौद्धों का ऐसा कहना है कि बुद्धी के अपने ज्ञान रूप आत्मा का सदा के लिए शमन हो जाता है, सर्वथा अन्वय टूट जाता है इस कारण उत्तरकाल—भविष्य में बुद्धी की संतान नहीं चलती है अतः दीपकलिका के समान निरन्वय होकर ज्ञान संतान का नाश हो जाना रूप मोक्ष बुद्धी के माना गया है। अतः उस बुद्धी का चरमचित्त आगे-आगे के ज्ञानक्षण के लिए उपादान नहीं है किन्तु इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि जैसे बुद्ध ने पूर्वजन्म में या इस जन्म में यह भावना भायी थी कि "मैं जगत् का हित करने के लिए सर्वज्ञ बुद्ध हो जाऊँ" इस भावना को शक्ति से अविद्या और तृष्णा के सर्वथा क्षय होने पर भी सुगत की स्थिति संसार में उपदेश देने के लिए हो जाती है ऐसी बौद्धों की मान्यता है। उसी प्रकार से बुद्धी के चित्त का शमन नहीं हुआ है अतः "मैं आत्मा को शान्ति लाभ कराऊँगा" इस प्रकार की भावना का अभ्यास बुद्धी बराबर कर रहा है। इस प्रकार से सुगत के समान बुद्धी की भी ज्ञानधारा अनंतकाल तक चलती रहे और वह संसार में ठहर जावे क्या बाधा है? पुनः उसका भी अन्तिम ज्ञानक्षण उत्तरोत्तर ज्ञानक्षण के लिए उपादान हो जावे क्या बाधा है? इत्यादि रूप से आचार्यों ने बुद्धी के चरमचित्त का निरन्वय विनाश नहीं माना है प्रत्युत आगे-आगे के ज्ञानक्षणों के लिए उपादानभूत माना है अतः उससे व्यभिचार दोष नहीं आ सकता है।

[वन में अग्नि स्वयमेव उत्पन्न होती है पश्चात् अग्नि पूर्वक ही अग्नि उत्पन्न होती है इस मान्यता पर विचार।]

बौद्धाक—जिस प्रकार प्रथमतः वन को पथिक अग्नि जो अरणि (बांस आदि) के निर्मंथन से उत्पन्न होती है। वह पहले किसी भी अग्नि से नहीं हुई है अतः अनग्नि पूर्वक देखी जाती है। फिर आगे की दूसरी अग्नि अग्निपूर्वक ही होती है उसी प्रकार से आदि का चैतन्य शरीर के आकार आदि से परिणत भूत चतुष्टय से होगा और युवा, वृद्धावस्था आदि में होने वाला दूसरा चैतन्य उस चैतन्य पूर्वक ही होगा इसमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात् जैसे जंगल में चलने वाला पथिक अग्नि के अभाव में अरणि मंथन या चकमक से जो अग्नि उत्पन्न करता है उसे पथिकाग्नि कहते हैं।

जैन—इस प्रकार से जो आप समाधान करते हैं वह स्वपक्ष का घात करने वाला आदि उत्तर रूप अर्थात् (मिथ्या उत्तर) हो है। क्योंकि "चिद्विवर्तत्व रूप—चैतन्य की पर्याय होना" हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति का सम्बन्ध नहीं होता है अर्थात् चैतन्य रूप उपादान कारण से उत्पन्न होने

---

1 अरणिः काष्ठविशेषः। 2 पठाग्निः। (ब्या० प्र०) 3 युवबृद्धादिचैतन्यम्।

वात्। इति [1]कस्यचित्प्रत्यवस्थितिः स्वपक्षघातिनी [2]जातिरेव, चिद्विवर्तस्य[3] हेतोः [4]साध्येन व्याप्तेरखण्डनात्। [5]प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे जलादीनामप्यजलाद्युपादानत्वोपपत्तेः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य तत्त्वान्तरभावविरोधः[7]। तथा हि। येषां परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वान्तरत्वम्[8]। यथा [9]क्षितिविवर्तानाम्। परस्परमुपादानोपादेयभावश्च[10] पृथिव्यादीनाम्[11]। इत्येकमेव पुद्गलतत्त्वं [12]पृथिव्यादिविवर्तंभवतिष्ठेत[13]। अथ[14] क्षित्यादीनां न परस्परमुपादानोपादेयभावः, सहकारिभावोपगमात्[15]। [16]कथमपावकोपादानः

रूप साध्य की चैतन्य पर्याय होने से" इस हेतु के साथ व्याप्ति सुघटित ही है।

प्रथमपथिकाग्नि (वन की अग्नि) को अग्नि के बिना उपादानपना (उत्पन्न होना) स्वीकार करोगे तो जलादिकों को भी जलादि उपादान के बिना ही आने का प्रसंग आ जावेगा। पुनः पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय के भिन्न-भिन्न तत्त्व होने का विरोध हो जावेगा। अर्थात् जिस प्रकार प्रथम बांसों के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि का उपादान कारण अग्नि जीव नहीं है तो जल के लिए भी प्रथम उपादान कारण जल नहीं होगा इत्यादि रूप से भूतचतुष्टय के कारण पृथक्-पृथक् रूप से चार सिद्ध न होने से चारों तत्त्व एक हो जायेंगे क्योंकि एक कारण से उत्पन्न हुए हैं। जो-जो एक कारण से उत्पन्न होते हैं वे-वे भिन्न नहीं हैं जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुए घट, शराव उदंचन आदि मिट्टी रूप एक कारण जन्य होने से भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं हैं तथाहि—"जिनमें परस्पर में उपादान उपादेय भाव है उनमें परस्पर में भिन्न पना नहीं है जैसे—मिट्टी की पर्यायें, स्थास, कोश, कुशूल, शिवक आदि। और परस्पर में पृथ्वी, जल, अग्नि वायु में उपादान उपादेय भाव मौजूद है।" इस प्रकार से पृथ्वी आदि पर्यायें एक ही पुद्गल तत्त्व रूप ठहरती हैं।

चार्वाक—पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय में परस्पर में उपादान उपादेय भाव नहीं है क्योंकि हमने उनमें सहकारी भाव माना है।

जैन—पहली पथिक अग्नि अग्निरूप उपादान के बिना कैसे सिद्ध हो सकेगी जिससे उसी प्रकार अचेतन पूर्वक प्रथम चैतन्य की उत्पत्ति का प्रसंग होवे? इसलिए जिस प्रकार प्रथम ही अरणि

---

1 दूषणं। (व्या० प्र०) 2 मिथ्योत्तरं जातिः। 3 यदा चैतन्योपादानकारणकं चिद्विवर्तत्वान्मद्यचैतन्यविवर्तवत्। (व्या० प्र०) 4 चैतन्योपादानकारणकत्वरूपेण साध्येन सह। 5 प्रथमपथिकाग्नेर्यथा नाग्न्युपादानत्वं तदाश्च कथं व्याप्त्यखंडनमित्याह। (व्या० प्र०) 6 पृथिव्यादेः। (व्या० प्र०) 7 एककारणजन्यत्वात्। यदेककारणजन्यं तन्न तत्त्वान्तरम्। यथा मृदुत्पन्नो घटो न मृदोतिरिच्यते। 8 पृथिव्यप्तेजोवायुरूपम्। 9 स्थासकोशकुशूलशिवकादीनाम्। 10 परस्परमुपादेयभावश्च इति पा.। (व्या० प्र०) 11 पृथिव्यादिभूतचतुष्टयं विवर्ताः पर्यायाः यस्य तत्। वि. प्र.। 12 पृथिव्यादीनां पक्षः तत्त्वांतरत्वं न भवतीति साध्यो धर्मः, परस्परमुपादानोपादेयभावत्वात्। येषां परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न तत्त्वांतरत्वं, यथा क्षितिविवर्तानां घटादीनां। वि. प्र.। 13 अतः। (व्या० प्र०) 14 चार्वाकः। (व्या० प्र०) 15 अरणिविषयमाह। (व्या० प्र०) 16 जैनः।

प्रथमः पथिकपावकः प्रसिद्धयेत्ततस्तद्वदचेतनपूर्वकं प्रथमचैतन्यं प्रसज्येत ? यथैव हि [1]प्रथमाविर्भूतपावकादेस्तिरोहितपावकान्तरादिपूर्वकत्वं[2] तथा गर्भचैतन्यस्याविर्भूतस्वभावस्य तिरोहितचैतन्यपूर्वकत्वमिति किन्न व्यवस्था स्यात् ? [3]स्यान्मतं, [4]सहकारिमात्रादेव प्रथमपथिकाग्नेरुपजननोपगमात्तिरोहि[5]ताग्न्यन्तरोपादानत्वमसिद्धमिति [6]तदसत्, अनुपादानस्य कस्यचिदुपजननादर्शनात् ।

(बांस आदि) के संघर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि तिरोहित भिन्न अग्नि पूर्वक होती है। उसी प्रकार से गर्भ में चैतन्य का आविर्भाव होने में तिरोहित चैतन्य ही निमित्त है अर्थात् चेतन्य रूप उपादान कारण से ही गर्भादि में चैतन्य की उत्पत्ति होती है ऐसी ही व्यवस्था क्यों न मानी जावे ?

आक्षेप—कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मर करके अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से अग्नि में जन्म लेता है। इसलिए आजकल गोपाल में जो अग्नि वन में अग्नि आदि के संघर्षण से उत्पन्न होती है उसमें अग्नि से उत्पन्न होना नहीं दिखने पर भी पूर्व पर्याय से च्युत होकर ही जीव अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से उसमें जन्म लेता है अतः प्रत्येक अग्नि की उत्पत्ति अग्नि रूप उपादान से ही सुघटित है। तथैव कोई भी जीव किसी देव आदि पर्याय से मरण को प्राप्त करके मनुष्य तिर्यंच आदि पर्याय में गर्भ अवस्था में आता है इसलिए चैतन्य उपादान पूर्वक ही चैतन्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।

चार्वाक—बाँसों के संघर्षण आदि सहकारी कारण मात्र से ही वन की प्रथम अग्नि होती है ऐसा हमने माना है इसलिए तिरोहित हुई भिन्न अग्नि रूप उपादान से अग्नि की उत्पत्ति मानना असिद्ध है।

जैन—यह कहना असत् है। बिना उपादान कारण के सहकारी कारण मात्र से किसी की भी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है।

[शब्द और बिजली आदि उपादान के बिना ही उत्पन्न होते हैं चार्वाक की इस मान्यता पर प्रत्युत्तर]

चार्वाक—शब्द बिजली आदि की उत्पत्ति उपादान कारण के बिना ही देखी जाती है अतः कोई भी दोष नहीं है।

जैन—ऐसा नहीं है। "शब्दादि भी उपादान कारण सहित ही हैं क्योंकि कार्यरूप हैं घटादि के समान" इस अनुमान से उन शब्दादि के अदृश्य पुद्गल द्रव्य रूप उपादान कारण हैं ही हैं अतः इन सभी को उपादान कारणता सिद्ध ही है।

---

1 अरण्यिमथनकाले। 2 निदर्शनमिदं परास्युपगमानुसारेणाभिहितं प्रतिपत्तव्यं। स्याद्वादिना तु पयःपावकादीनां पुद्गलविवर्तत्वेनैकत्वाभीकरणात् परस्परमुपादानोपादेयत्वावश्यं भावात्। दि. प्र.। 3 चार्वाकस्य। 4 अरणिमथनमात्रादेव। 5 प्रच्छन्नकपारनिस्थिताग्न्यन्तरकारणकत्वम्। 6 जैनः।

[शब्दविद्युदादय उपादानमंतरेणोत्पद्यन्ते इति चार्वाकमाशंक्यतायां प्रत्युत्तरं]

शब्दविद्युदादेरुपादानादर्शनाददोष इति चेन्न, शब्दादिः सोपादान एव, कार्यत्वाद्[1] घटादिवदित्यनुमानात्तस्यादृश्योपादानस्यापि[2] [3]सोपादानत्वस्य साधनात् ।

[भूतचतुष्टयचेतनयोर्भिन्नलक्षणत्वेन पृथक्-पृथक् तत्त्वमेवेति कथयंति जैनाचार्याः]

[4]नन्वस्तु सर्वोग्निरन्यान्तरोपादान एव [5]सर्वस्य सजातीयोपादानत्वव्यवस्थितेः । चेतनस्य तु चेतनान्तरोपादानत्वनियमो न युक्तः, तस्य भूतोपादानत्वघटनात्, भूतचेतनयोः [6]सजातीयत्वात्तत्त्वान्तरत्वासिद्धेरिति चेन्न, [7]तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्तत्त्वान्तरत्वोपपत्तेः, [8]तोयपावकयोरपि तत्[9] एव [10]परैस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात् । तथा हि । तत्त्वान्तरं भूताच्चैतन्यं, तद्भिन्नलक्षणत्वान्यथानुपपत्तेः । न तावदसिद्धो हेतुः क्षित्यादिभूतेभ्यो [11]रूपादिसामान्यलक्षणेभ्यः स्वसंवेदनलक्षणस्य

[भूतचतुष्टय एवं चेतन का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से ये भिन्न तत्त्व हैं इस पर विचार]

चार्वाक—तो ठीक है सभी अग्नि भिन्न अग्निरूप उपादान कारण से ही होती है अतः उन सभी का उपादान सजातीय ही है ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, किन्तु चेतन द्रव्य भिन्न चैतन्य रूप उपादान से होता है यह नियम ठीक नहीं है। वह चैतन्य तो भूतचतुष्टय के उपादान से उत्पन्न होता है। भूत से चैतन्य की उत्पत्ति होने से भूत और चैतन्य में सजातीयपना सिद्ध होता है अतः भूत और चैतन्य में भिन्न तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है।

जैन—यह ठीक नहीं है भूत और चैतन्य इन दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण पाया जाता है इसलिए भिन्न तत्त्व की सिद्धि होती है। आप चार्वाक ने भी जल और अग्नि का भिन्न-भिन्न लक्षण होने से उन्हें भिन्न-भिन्न तत्त्व माना है। तथाहि—

"चैतन्य तत्त्व भूत तत्त्व से भिन्न है क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न लक्षणों की अन्यथानुपपत्ति पायी जाती है" यह 'भिन्न लक्षणत्व' हेतु असिद्ध भी नहीं है। रूप, रस, गंध स्पर्श रूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप चार भूतों से स्वसंवेदन रूप चैतन्य का भिन्न लक्षण सिद्ध ही है भूतचतुष्टय स्वसंवेदन लक्षण वाले नहीं हैं। क्योंकि हम और आप सभी अनेक ज्ञाता जनों के प्रत्यक्ष

1 प्रतिपत्तावाश्रितविषयोऽयं हेतुरिति चेन्न। विषादापन्नः परः बुद्धियुक्तः व्याहारादिकार्यदर्शनादित्यत्रापि तत्प्रसंगात्। अत्र बुद्धेरदृश्यत्वादेव इति चेत्तत्रापि तत एव सोऽस्तु विशेषाभावात्। प्रमाणान्तरं चार्वाकेण ज्ञानस्यास्वसंवेदनस्योपगमात्। साध्यव्यावृत्तौ व्यतिरेको दृश्यत इति न मंतव्यं। समनंतरमेव ज्ञानस्य स्वसंवेदनस्य सकर्मविपाकवत्त्वात् दि. प्र.। 2 अदृश्यमुपादानं पुद्गलरूपं यस्य तस्य। 3 सोपादानत्वसाधनात् इति पा.—दि. प्र.। 4 चार्वाकः। 5 कार्यस्य। 6 भूताच्चैतन्योत्पत्तिर्यतस्ततो भूतचैतन्ययोः सजातीयत्वम्। 7 भूतचैतन्ययोः—दि. प्र.। 8 भवतु भिन्नलक्षणत्वं तथापि तत्त्वांतरत्वं कुत इत्याह। (ब्या० प्र०) 9 भिन्नलक्षणत्वात्। 10 चार्वाकैः। 11 रूपरसगन्धस्पर्शलक्षणेभ्यः पुद्गलाः।

चैतन्यस्य तद्भिन्नलक्षणत्वसिद्धेः। न हि भूतानि स्वसंवेदनलक्षणानि, अस्मदाद्यनेक[1]प्रतिपत्तृप्रत्यक्षत्वात्[2]। [3]यत्पुनः स्वसंवेदनलक्षणं तन्न [4]तथा प्रतीतं, यथा ज्ञानम्[5]। [6]तथा [7]च भूतानि, तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि। अनेकयोगिप्रत्यक्षेण[8] सुखादिसंवेदनेन[9] व्यभिचारी हेतुरिति न शङ्कनीयम्, अस्मदादिग्रहणात्[10]।

होते हैं और जो स्वसंवेदन लक्षण वाला है वह उस प्रकार हम लोगों के प्रत्यक्ष में नहीं आता है जैसे हम लोगों का अप्रत्यक्ष ज्ञान और उसी प्रकार भूतचतुष्टय प्रत्यक्ष है इसीलिए स्वसंवेदन लक्षण वाले नहीं हैं।"

शंका—सुखादिसंवेदन अस्वसंवेदन लक्षण वाले होने पर भी अनेक योगी जनों के प्रत्यक्ष हैं इसलिए सुखादिसंवेदन से यह हेतु व्यभिचारी है।

समाधान—ऐसी शंका आपको नहीं करनी चाहिए क्योंकि सुखादि संवेदन-सुखादि का ज्ञान हम लोगों के प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—चार्वाक का कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टयों से शरीर का निर्माण होता है उसी में आत्मा बन जाती है शरीर, मन, इन्द्रिय, ज्ञान और आत्मा सब भूतचतुष्टय से निर्मित है। चैतन्य नाम का कोई भिन्न तत्त्व या द्रव्य नहीं है जो कि अनादि अनन्त काल तक स्थिर रहता हो। अतएव शरीर के जन्म के पहले और मरने के बाद आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है।

इस बात को सिद्ध करने के लिए चार्वाक ने बहुत ही युक्ति प्रयुक्तियों के द्वारा अपना पक्ष पुष्ट किया है। उसका कहना है कि गोमय आदि से बिच्छू, कीचड़ आदि से कीड़े मकोड़े, केंचुये आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं। वन में बाँसों के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है उसमें जीवात्मा कहाँ से आया? मेघों की गड़गड़ाहट, बिजली आदि का उपादान कारण क्या है? इत्यादि में आत्मा रूप उपादान के बिना ही आत्मा उत्पन्न हो रही है अतः आत्मा भूतों से बनती है एवं भूतचतुष्टय और आत्मा एक तत्त्व है किन्तु भूतचतुष्टय परस्पर में भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं।

इन सभी बातों को सुनकर जैनाचार्यों ने बहुत ही अच्छा और वास्तविक समाधान किया है। उन्होंने बतलाया है कि बिच्छू, कीट, मेंढक, केंचुये आदि प्राणियों का शरीर यद्यपि गोमय, कीचड़ आदि भूतचतुष्टय से बना हुआ है फिर भी उनकी आत्मा अन्यत्र कहीं से तिर्यंच गति और तिर्यंच आयु

---

1 अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्। इति वा पाठः। एकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षेण स्वसंवेदनेन व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनेकग्रहणोपादानं। (ब्या० प्र०) 2 घटादिवत् इति अधिकः पाठः वि. प्र.। 3 अस्मदादिप्रत्यक्षाणि च तानि भूतानि तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि इति वा पाठः—वि. प्र.। 4 अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षं न प्रतीतम्। 5 अस्मदाद्यप्रत्यक्षम्। 6 अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तृप्रत्यक्षाणि सन्ति। 7 तथा च भूतानि च तानीति वा पाठः वि. प्र.। 8 वत्। (ब्या० प्र०) 9 सुखादिसंवेदनस्यास्वसंवेदनलक्षणत्वेप्यनेकयोगिप्रत्यक्षत्वात्। 10 अस्मदादिभिरपि प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः।

आदि कर्मों को धोकर उपादान रूप से यहाँ उत्पन्न हुई है। आत्मा और पुद्गल द्रव्य रूप भूत-चतुष्टय सर्वथा भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। वन में जो अग्नि स्वयं जलती है उसमें भी काष्ठों का परस्पर घर्षण आदि निमित्त है, किन्तु उपादानभूत आत्मा एकेन्द्रियजाति अग्निकायिक स्थावर आदि नाम कर्म को लेकर अग्निकाय में जन्मी है। माता-पिता के रजोवीर्य के सम्मिश्रण से जो जन्म होता है उसे गर्भ जन्म कहते हैं। उपपादशय्या से जो जन्म होता है उसे औपपादिक जन्म कहते हैं। तथा यत्र-तत्र से अपने योग्य पुद्गल परमाणुओं के एकत्रित हो जाने पर शरीर की रचना बनकर जो जन्म होता है उसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं।

एकेन्द्रिय से असंज्ञीपंचेन्द्रिय तक सभी प्राणियों का जन्म सम्मूर्छन जन्म ही है पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में कुछ प्राणी सम्मूर्छन जन्म वाले हैं जैसे मेंढक मत्स्य आदि। शेष सभी गर्भज हैं जैसे गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि। मनुष्यों में सभी मनुष्य गर्भज होते हैं एवं जो सम्मूर्छन मनुष्य होते हैं वे लब्ध्य-पर्याप्तक होते हैं तथा वे हमको और आपको दीखते नहीं हैं। देव और नारकियों का जन्म उपपाद जन्म कहलाता है। इन तीनों प्रकार के जन्म को धारण करने वाली आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है कर्मों के निमित्त से जन्म मरण रूप संसार में संसरण करना पड़ता है। कर्मों से मुक्त होने के बाद इस आत्मा में पूर्ण आनंद, पूर्णज्ञान, अनंतशक्ति आदि अनंत गुण प्रकट होते हैं।

जब तक इस जीव को सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं होता है तभी तक यह जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंचपरिवर्तन में परिभ्रमण करता रहता है। सम्यग्दर्शन के प्रकट होने के बाद ज्ञान और चारित्र की वृद्धि एवं पूर्णता से यह जीव पूर्ण शुद्ध हो जाता है अतः आत्मा और भूतचतुष्टय भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं ऐसा समझना चाहिये और पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु ये भूतचतुष्टय पुद्गल की पर्याय होने से कथंचित् द्रव्यदृष्टि से एक ही तत्त्व हैं भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इसलिये विपरीतमान्यता को छोड़कर आस्तिकवादी बनना ही उचित है।

चार्वाक मत के खंडन का सारांश

चार्वाक कहता है कि—

पुरुष के जन्मांतर से पहले और मरण के पश्चात् भवांतर नाम की कोई वस्तु नहीं है क्योंकि गर्भ से लेकर मरण पर्यंत ही चैतन्य पाया जाता है अतः आकाशपुष्प के समान संसार तत्त्व सिद्ध नहीं है तथैव मोक्ष तत्त्व भी सिद्ध नहीं है।

भूतचतुष्टय से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। अचेतन गोमय आदि से बिच्छू आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं। चैतन्य उपादान के बिना भी चैतन्य का होना सिद्ध ही है जैसे वन की अग्नि अरणि आदि के निमंथन से उत्पन्न हो जाती है पुनः आगे-आगे की अग्नि पूर्व अग्नि के उपादान पूर्वक होती

है। तथा शब्द, बिजली आदि भी बिना उपादान के देखे जाते हैं। चैतन्य और भूत को भिन्न लक्षण मानकर भी आप भिन्नतत्त्व सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि कारणभूत महुआ, गुड़, आटा आदि में मद जनन शक्ति नहीं है तथा मदिरा परिणाम में मौजूद है अतः इन दोनों का लक्षण भिन्न है फिर भी एक तत्त्व है।

इस कथन पर जैनाचार्य उत्तर देते हैं कि "प्राणियों में आदि का चैतन्य पूर्व के उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है क्योंकि चैतन्य की पर्याय है मध्य-युवावस्था की चैतन्य पर्याय के समान"। इस अनुमान से पूर्वोत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव की उपलब्धि होने से संसार तत्त्व सिद्ध ही है। अपने द्वारा उपार्जित कर्म के निमित्त से आत्मा को भवांतर की प्राप्ति होना इसीका नाम संसार है।

गोमय आदि अचेतन से बिच्छू का चैतन्य उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु उनसे शरीर बना है। तिर्यंच गति विशेष नाम कर्म के उदय से आने वाला चैतन्य जीव ही बिच्छू का उपादान माना गया है। अतः भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानना सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि इन दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न ही है। रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वरूप सामान्य लक्षण वाले पृथ्वी, जल, अग्नि वायु रूप भूत-चतुष्टय है। एवं चैतन्य का स्वसंवेदन रूप ज्ञान दर्शन लक्षण है, किन्तु आपने जो मदिरा की उत्पादक सामग्री से मदिरा में भिन्नपना कहा है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि महुआ, गुड़ आदि कारणों में भी मद को उत्पन्न करने वाली मदिरा रूप परिणाम शक्ति विद्यमान है यदि सर्वथा उनमें मद को उत्पन्न करने की शक्ति न मानें तो मदिरा बनने पर भी मद जनन शक्ति नहीं आ सकेगी।

वन की प्रथम अग्नि को आपने अनग्नि पूर्वक कहा है वह भी सर्वथा असत्य है। कोई भी जीव किसी भी पर्याय से मरण कर अग्निकायिक नाम कर्म के उदय से अग्नि में जन्म लेता है इसलिये वांसादि के घर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि भी अग्नि के उपादान पूर्वक ही है। तथैव शब्द, बिजली आदि के भी अदृश्य पुद्गल परमाणु उपादान कारण माने गये हैं अतः उनमें अपने सजातीय से ही उपादान उपादेय भाव देखा जाता है।

[ज्ञानमस्वसंविदितमस्तीति मान्यतायां जैनाचार्याः समाधत्ते ।]

ज्ञानस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वमसिद्धमिति चेन्न, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्त्या[1] तस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वसिद्धेः । यो ह्यस्वसंवेदनलक्षणः स न बहिरर्थस्य[2] परिच्छेदको दृष्टो, यथा घटादिरिति विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्सिद्धा हेतोरन्यथानुपपत्तिः । प्रदीपादिनानेकान्त[3] इति चेन्न, तस्य [4]जडत्वेन बहिरर्थपरिच्छेदकत्वासम्भवात्, [5]बहिरर्थपरिच्छेदकज्ञानोत्पत्तिकारणत्वात्तु प्रदीपादेर्बहिश्चक्षुरादेरिव[6] परिच्छेदकत्वोपचारात् । न चोपचरितेनार्थपरिच्छेदकेन प्रदीपादिना मुख्यस्यार्थपरिच्छेदकत्वस्य हेतोर्व्यभिचारचोदनं विचारचतुरचेतसां कर्तुमुचितम्, [7]अतिप्रसङ्गात्[8] ।

[ज्ञान अस्वसंविदित है इस मान्यता पर जैनाचार्य समाधान करते हैं]

शंका—ज्ञान का स्वसंवेदन लक्षण असिद्ध है ।

समाधान—नहीं । बाह्यपदार्थों को जानने की अन्यथानुपपत्ति होने से ज्ञान स्वसंवेदन लक्षण वाला सिद्ध है क्योंकि "जो अस्वसंवेदन लक्षण वाला है वह बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक (जानने वाला) नहीं है । जैसे घटादि ।" इस प्रकार विपक्ष में बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से हेतु की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध ही है ।

शंका—प्रदीप आदि बाह्य पदार्थों के प्रकाशक भी हैं और अस्वसंविदित भी हैं । इसलिये प्रदीपादि से आपका हेतु अनैकांतिक है ।

समाधान—नहीं । प्रदीपादि के जड़पना (अचेतनपना) होने से बाह्य पदार्थों का जानना असंभव है, किन्तु बाह्यपदार्थों का परिच्छेदक जो ज्ञान है उस ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से प्रदीपादि को बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों के समान ज्ञान कराने वाले हैं यह उपचार से ही माना है और "उपचरित रूप से अर्थ का ज्ञान कराने वाले प्रदीपादि से मुख्य रूप से पदार्थों का परिच्छेदकत्व हेतु व्यभिचारी है ।" विचारशील व्यक्तियों को ऐसा व्यभिचार दोष देना उचित नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग हो जावेगा । अर्थात् अग्नि दहन शक्ति से युक्त है क्योंकि वह अग्नि रूप है । जो दहन शक्ति से युक्त नहीं होता है वह अग्नि नहीं होता है जैसे जलादि । बालक में किये गये अग्नि के उपचार से इस

---

1 ज्ञानं स्वसंवेदनलक्षणं, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तेः । 2 र्थपरिच्छेदको इति पा. (ब्या० प्र०) 3 स हि बहिरर्थप्रकाशकत्वात्स्वसंविदितश्च । 4 अज्ञानरूपत्वेन । 5 तर्हि बहिरर्थपरिच्छेदकः प्रदीपादेरिति व्यवहारः कथमित्युक्ते आह । (ब्या० प्र०) 6 यथा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियस्योपचारात् प्रकाशकत्वं तथाप्रदीपस्येति—दि. प्र. । 7 हेतोर्व्यभिचारोद्भावनं क्रियते यदि तदातिप्रसंगो भवति, मुख्यमुपचरितं । उपचरितं मुख्यं भवति—दि. प्र. । अग्निर्दहनशक्तियुक्तोऽग्नित्वात् व्यतिरेकेऽनलवत् इत्यत्रोपचरितेन माणवकाग्निनाव्यभिचारप्रसंगात् । माणवके उपचरितस्याग्नेः दाहादिकार्याकारित्वे मुख्यस्याग्नेः कार्याकारित्वप्रसंगः । (ब्या० प्र.) 8 अग्निर्दहनशक्तियुक्तो, अग्नित्वात् । व्यतिरेके जलादि । अत्रोपचरितेन माणवकाग्निना व्यभिचारप्रसङ्गात् ।

[सुखं सुखस्य ज्ञानमपि कथंचिद् पृथक्-पृथक् एव]

स्वरूपमात्रपरिच्छेदनव्यापृते[1] सुखादिज्ञाने बहिरर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्पक्षाव्यापको [2]हेतुरिति चेन्न, [3]तस्यापि [4]स्वतो [5]बहिर्भूतसुखादिपरिच्छेदकत्वाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्वसिद्धेः [6]कुम्भादिवेदनस्यापि सर्वथा [7]स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वानुपपत्तेः [8]सदाद्यात्मना कुम्भादेः संवेदनादभेदप्रतीतेः[9], [10]अन्यथा [11]तदसत्त्वप्रसङ्गात्। कथञ्चित्तस्वबहिर्भूतं तत्त्वं [12]तु सुखादिसंवेदनात्सुखादेरपि प्रतीयत एव, सुखादितत्संवेदनयोः [13]कारणादिभेदाद्भेदव्यवस्थितेः[14]। तर्हि घटादिज्ञानवत् सुखादिज्ञानस्यापि स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वात्ततोऽन्यस्य[15]

अग्नित्व हेतु में व्यभिचार रूप अतिप्रसंग आता है मतलब धामक को भी अग्निरूप बताने का कार्य करना चाहिये।

[सुख और सुख का ज्ञान भी कथंचित् पृथक्-पृथक् ही है इस पर विचार]

शंका—स्वरूप मात्र के ज्ञान में व्यापार करने वाले सुखादि ज्ञान में बाह्य अर्थ को जानने का अभाव है अतः आपका हेतु पक्ष में अव्यापक है।

समाधान—नहीं। वे सुखादि ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत सुखादिक के परिच्छेदक (जानने वाले) हैं अतः वे बाह्य पदार्थ के परिच्छेदक हैं यह बात सिद्ध है अर्थात् यदि कोई कहे कि जिस प्रकार कुंभादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छेदक है। उस प्रकार सुखादि ज्ञान बाह्य पदार्थों का परिच्छेदक नहीं है। यह भी ठीक नहीं है कुंभादि ज्ञान भी सर्वथा अपने से बहिर्भूत पदार्थों के परिच्छेदक नहीं है। सत् (अस्तित्व) आदि के स्वरूप के साथ कुंभादि पदार्थ का संवेदन (ज्ञान) से अभेद प्रतीत होता है। अर्थात् जैसे कुंभादि पदार्थ सत् रूप है वैसे ही ज्ञान भी सत् रूप है अतः सत् की अपेक्षा पदार्थ से ज्ञान

---

1 ईप्। (ब्या० प्र०) 2 यौग आह। हे स्याद्वादिन्। बहिरर्थपरिच्छेदकत्वाभावानुपपत्तेरिति हेतुस्तव पक्षाव्यापकः कुतः? यतः सुखादिज्ञानं स्वरूपं जानाति न तु बहिरर्थं इति चेन्न तस्यापि सुखादिज्ञानस्यापि स्वतः ज्ञानस्वरूपात् बहिरर्थभूत सुखदुःखादिपरिज्ञानाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्वं सिद्धयति—दि. प्र.। 3 सुखादिज्ञानस्यापि स्वस्माज्ज्ञानाद्बहिर्भूतं सुखादि तस्य संवेदकत्वमिति बहिरर्थपरिच्छेदकत्वं सिद्धम्। 4 स्वभावात्। (ब्या० प्र०) 5 पृथग्भूत। (ब्या० प्र०) 6 यथा कुम्भादिवेदनं बहिरर्थपरिच्छेदकं न तथा सुखादिसंवेदनमित्यावेकायामाह जैनः कुम्भादीति। 7 स्वस्मात्। (ब्या० प्र०) 8 यतः सत् ज्ञानं इतिवत् तदात्मना। 9 कुम्भादिर्यथा सत् तथा ज्ञानमपि सत्। अतो न संवेदनाज्ज्ञानं सर्वथा भिन्नम्। 10 ज्ञानाद् घटादिपदार्थस्य तत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वस्वरूपेण भेदो नास्ति। अन्यथा भेदो यदि भेदस्तदा तत्त्वयोः ज्ञानघटयोः अवस्तुस्वभावादि—दि. प्र.। 11 तस्य कुम्भादेः। 12 'तु' नास्ति। दि. प्र.। 13 लक्षणोदयो हि सुखकारणं ज्ञानस्य तु ज्ञानावरणक्षयोपशमादि इति कारणभेदः। 14 आदिशब्देन स्वसंवेदनं। तथा चोक्तं—सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं वेदनोऽयं। मनसः क्रियानुमेया स्वानुभवसंवादतस्तथैव॥ इति। सुखादेः कारणं वेदनीयकर्मोदयः तत्संवेदकस्य कारणं ज्ञानावरणक्षयोपशमादेः। अतः सुखादिज्ञानयोः कारणभेदाद्धेतोरिव तत्त्वादिस्वरूपेणाभेदः। एवं यदि कथंचिद् भेदाभेदात्मकं ज्ञातं स्याद्वादिना। दि. प्र.। 15 स्वस्य विज्ञानस्वाद्वयात्।

विज्ञानस्यासम्भवार्तिक स्वस्य संवेदकं ज्ञानं स्यादिति चेन्न, तस्यैव घटादिसुखादिज्ञानस्य स्वरूपसंवेदकस्य [1]सतः परसंवेदकत्वोपगमात् स्वसंवेदनसिद्धेः, स्वपरव्यवसायात्मकत्वात् सर्व-वेदनस्य ।

सर्वथा भिन्न नहीं है। यदि ऐसा नहीं मानों तो कुंभादि सर्वथा असत् रूप हो जावेंगे परन्तु ऐसा है नहीं अतः सुखादि ज्ञान से सुखादि भी कथंचित् अपने से भिन्न ही प्रतीति में आते हैं क्योंकि सुख आदि और उनका संवेदन इन दोनों में कारण आदि के भेद से भेद पाया ही जाता है अर्थात् सुख का कारण सातावेदनीय का उदय है और उस सुख के ज्ञान का कारण ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम आदि हैं अतएव कारण के भेद से सुख और सुख के वेदन (ज्ञान) में भेद सिद्ध ही है।

शंका—तो फिर घटादि के ज्ञान के समान सुखादि का ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत पदार्थों का परिच्छेदक हो जाता है। पुनः बाह्य पदार्थ से भिन्न-जो स्वयं है उसका स्वयं का ज्ञान न होने से ज्ञान अपने आपका संवेदक (जानने वाला) कैसे होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है। वे ही घटादि के ज्ञान और सुखादि के ज्ञान अपने स्वरूप को जानने वाले होते हुये ही पर को जानने वाले होते हैं ऐसा स्वीकार किया गया है इसीलिये उन ज्ञानों में स्वसं-वेदनपना सिद्ध है क्योंकि सभी ज्ञान स्वपर व्यवसायात्मक ही माने गये हैं।

आचार्य—चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ये ज्ञान को आत्मा का गुण एवं स्वपर प्रकाशी नहीं मानते हैं। चार्वाक कहता है कि ज्ञान भूतचतुष्टय का गुण है।

मीमांसक कहता है कि ज्ञान परोक्ष है पर पदार्थों को ही जानता है आत्मा को नहीं जानता अतः अस्वसंविदित है। नैयायिक कहता है कि ज्ञान स्वयं-स्वयं को नहीं जानता है अन्य ज्ञान के द्वारा ही स्वयं को जानता है किन्तु जैनाचार्य इन सभी का निराकरण करके ज्ञान को स्वपर प्रकाशी सिद्ध करते हैं क्योंकि जो स्वयं में जड़ है वह दूसरे को क्या जानेगा ?

इन लोगों का कहना है कि प्रदीप आदि कुछ ऐसे साधन हैं जो कि स्वयं को नहीं जानते हैं जड़ हैं फिर भी दूसरे पदार्थों का ज्ञान करा देते हैं। तब आचार्य ने इनको समझाया कि भाई ! ये अचेतन पदार्थ ज्ञान के साधन हैं यदि आत्मा का ज्ञान गुण जानने वाला न हो तो ये बिचारे किंकर्तव्यविमूढ़ सदृश पड़े रहेंगे, पत्थर को पदार्थों का प्रकाशन नहीं करा सकते हैं चेतन आत्मा ही अपने ज्ञान गुण से बाह्य दीपक आदि साधनों के द्वारा पदार्थों को जानती है। यह ज्ञान गुण जब तक आवरण कर्म से सहित है तभी तक इन्द्रिय, मन, प्रदीप, प्रकाश आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रखता है। जब आवरण से रहित केवलज्ञान बन जाता है तब स्वयं सारे लोकालोक को प्रकाशित कर देता है अतः ज्ञान स्व-पर प्रकाशी है यह बात सिद्ध है।

---

1 सतः।

[स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ज्ञानं स्वं न जानाति अस्य विचारः क्रियते ।]

[1]स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न स्वरूपसंवेदकं ज्ञानमिति चेत् का[2] पुनः क्रिया स्वात्मनि विरुध्यते ? न तावद्धात्वर्थलक्षणा[3], [4]भवनादिक्रियायाः [5]क्षित्यादिष्वभावप्रसङ्गात्[6]। [7]परिस्पन्दात्मिका क्रिया स्वात्मनि विरुद्धेति चेत्, कः पुनः क्रियायाः स्वात्मा ? क्रियात्मेवेति चेत् कथं तस्यास्तत्र विरोधः ? स्वरूपस्य विरोधकत्वायोगात् । [8]अन्यथा सर्वभावानां[9] स्वरूपविरोधान्निस्स्वरूपतानुषङ्गात् ।

[स्वात्मा में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वयं को नहीं जानता है इस पर विचार]

शंका—अपने में ही क्रिया का विरोध होने से ज्ञान स्वरूप संवेदक अर्थात् अपने को जानने वाला नहीं है ।

समाधान—यदि आप ऐसा कहते हैं तो यह बताइये कि कौन सी क्रिया अपने में विरुद्ध होती है धात्वर्थ लक्षण क्रिया या परिस्पंदात्मक क्रिया ? धात्वर्थ लक्षण क्रिया तो अपने में विरुद्ध नहीं है अन्यथा भू—अस् आदि धातु की "होना" आदि क्रिया का पृथ्वी आदि में विरोध होने से उनके अभाव का प्रसंग आ जावेगा । अर्थात् "पृथ्वी अस्ति" पृथ्वी है इस वाक्य में अस्ति क्रिया का अपने रूप कर्ता में यदि विरोध होगा तो पृथ्वी का अभाव ही हो जावेगा । यदि आप कहें कि परिस्पंदात्मक क्रिया का स्वात्मा में विरोध है तो पुनः क्रिया का स्वात्मा कौन है ? यदि कहें कि क्रिया की आत्मा (स्वरूप) ही स्वात्मा है तो उस क्रिया का उसमें कैसे विरोध होगा ? क्योंकि स्वरूप अपना विरोधी नहीं होता है । यदि स्वरूप भी अपना विरोधी होगा तो पुनः सम्पूर्ण पदार्थों का अपने-अपने स्वरूप से विरोध हो जाने से सभी पदार्थ निः स्वरूप—स्वरूप रहित हो जावेंगे एवं निः स्वरूप हो जाने से कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होगा पुनः सर्वशून्य का प्रसंग आ जावेगा ।

दूसरी बात यह है कि विरोध के ठिष्ठपना है अर्थात् विरोध दो वस्तुओं में ही होता है एक में नहीं इसलिए भी स्वात्मा में क्रिया का विरोध नहीं हो सकता । यदि आप कहें कि क्रिया जिसमें पाई जावे ऐसा क्रियावान् आत्मा क्रिया का स्वात्मा है तो फिर क्रियावान् में क्रिया का विरोध कैसे होगा ? क्रियावान् द्रव्य में ही तो सभी क्रियाओं की प्रतीति होती है अतः अविरोध सिद्ध ही है । यदि आप कहें कि क्रिया का अर्थ है करना, बनाना । इन अर्थवाली क्रियाओं का ही स्वात्मा में विरोध होता है तब तो ज्ञान स्वरूप को निष्पन्न करता है ऐसा हम जैनी तो मानते भी नहीं हैं जिससे कि विरोध हो सके अर्थात् विरोध नहीं है ।

आचार्य—शंकाकार ज्ञान को स्वसंवेदक न मानते हुये ऐसा कहता है कि "स्वात्मनि क्रिया

---

1 यद्यपि स्वात्मच्छेदनवत् । (ब्या० प्र०) 2 धात्वर्थलक्षणा परिस्पंदात्मिका वा उत्पत्तिलक्षणा वा इति विकल्पः—दि. प्र. । 3 उत्पत्तिलक्षणा क्रप्तिलक्षणा परिस्पंदात्मिकाऽपरिस्पंदात्मिका वा—दि. प्र. । 4 अन्यथा । स्थान । (ब्या० प्र०) 5 ज्ञानस्य क्षित्यादिभिन्नत्वात् । (ब्या० प्र०) 6 क्षितिर्भवति तिष्ठतीत्यादि । (ब्या० प्र०) 7 उत्क्षेपणापक्षेपणादिरूपा । 8 स्वरूपस्यापि विरोधकत्वे । 9 पा । (ब्या० प्र०)

विरोधस्य क्लिष्टत्वाच्च[1] न क्रियायाः स्वात्मनि विरोधः[2]। [3]क्रियावदात्मा[4] क्रियायाः स्वात्मेति चेत्कथं तत्र विरोधः ? [5]क्रियावत्त्वेव सर्वस्याः क्रियायाः प्रतीतेरविरोधसिद्धेः। अथ क्रिया, करणं निष्पादनं [6]स्वात्मनि विरुद्धमित्यभिमतं[7] तर्हि न ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीत्युच्यते[8] येन [9]विरोधः स्यात्। इत्यसिद्धः स्वात्मनि [10]क्रियाविरोधः [11]स्वकारणविशेषा[12]त्प्रभवन्नीलस्य ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशनरूपत्वात् [13]प्रदीपस्य स्वपरोद्द्योतनरूपत्ववत्[14]। यथैव हि रूपज्ञानोत्पत्तौ प्रदीपः सहकारित्वाच्चक्षुषो रूपस्योद्द्योतकः कथ्यते[15] तथा स्वरूपज्ञानोत्पत्तौ [16]तस्य सहकारित्वात्स्वरूपोद्द्योतकोपि। ततो ज्ञानं स्वपररूपयोः परिच्छेदकं [17]तत्राज्ञाननिवृत्तिहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः[18]।

विरोधात्[1] स्वात्मा में क्रिया का विरोध है। जैनाचार्यों ने तब प्रश्न किया कि धारवर्थलक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पंदात्मक क्रिया का ?

प्रथम पक्ष लेने से पृथ्वी आदि पदार्थों में अस्तित्व आदि क्रियाओं का विरोध हो जाने से उनका अभाव हो जावेगा। यदि दूसरा पक्ष लेवें तो प्रश्न यह होता है कि क्रिया का स्वात्मा कौन है ? उत्तर में तीन विकल्प हो सकते हैं—क्रिया की आत्मा (स्वरूप) स्वात्मा, क्रियावान् आत्मा स्वात्मा या करना, बनाना आदि अर्थ रूप क्रिया स्वात्मा है ? पहले विकल्प में क्रिया का स्वरूप स्वात्मा मानने से स्वात्मा में विरोध नहीं हो सकता है क्योंकि किसी भी पदार्थ का अपने स्वरूप से विरोध नहीं होता है। दूसरे पक्ष में क्रियावान् द्रव्य में ही क्रिया पायी जाती है। द्रव्य को छोड़कर क्रिया नहीं रह सकती अतः विरोध नहीं है। तीसरे पक्ष में करने, बनाने रूप क्रिया को स्वात्मा में कोई भी नहीं मानते हैं तब विरोध की बात ही नहीं है। सारांश यह निकलता कि ज्ञान रूप आत्मा में जानने रूप क्रिया का विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसंवेदी—अपने को जानने वाले हैं और पर को भी जानने वाले हैं।

अतः स्वात्मा में क्रिया का विरोध असिद्ध है। ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप अपने-अपने कारण विशेष से उत्पन्न होता हुआ ज्ञान स्वपर प्रकाशक है जैसे दीपक स्वपर को उद्योतित करता है। जिस प्रकार रूपज्ञान की उत्पत्ति में दीपक सहकारी होने से चक्षु इन्द्रिय के रूप का प्रकाशक कहा जाता है उसी प्रकार दीपक अपने स्वरूप के ज्ञान की उत्पत्ति में भी सहकारी होने से अपने स्वरूप दीपक को भी प्रकाशित करता है इसलिये ज्ञान स्वपर का परिच्छेदक है अन्यथा अज्ञान की निवृत्ति हो नहीं

---

1 शीतोष्णयोरिव। (ब्या० प्र०) 2 एकस्मात्। (ब्या० प्र०) 3 क्रियावतः पदार्थस्य स्वरूपं स्वस्मात्सकाशात् स्वकीयार्थत्वात्। (ब्या० प्र०) 4 क्रियास्वास्तीति क्रियावान्। स चासौ आत्मा च क्रियावदात्मा। 5 द्रव्ये। 6 स्वस्य ज्ञानस्य स्वरूपे। (ब्या० प्र०) 7 काङ्क्षुः। (ब्या० प्र०) 8 चेत्। 9 अपि तु न। 10 ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयतीति नोच्यते कुतः। (ब्या० प्र०) 11 क्षयोपशमलक्षण। (ब्या० प्र०) 12 आवरणक्षयोपशमादिविशेषात्। 13 तैजादिस्वकारणनिष्पाद्यमानस्य। (ब्या० प्र०) 14 प्रदीपस्य परप्रकाशनत्वमेव न स्वरूपप्रकाशकत्वं येन दृष्टांतः स्यादिस्याशंकायामाह। (ब्या० प्र०) 15 तथा प्रदीपः घट विशिष्टज्ञानोत्पत्तौ तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात् स्वरूपस्य घटविशिष्टज्ञानस्योद्द्योतको भवति—दि. प्र.। 16 तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात्। 17 स्वपररूपयोः। 18 स्वपररूपपरिच्छेदकत्वाभावे।

[भूतचैतन्ययोर्लक्षणं पृथक् पृथगेव]

इत्यविरुद्धं पश्यामः स्वसंवेदनमन्तस्तत्त्वस्य[1] लक्षणं [2]भूतासम्भवीति भिन्नलक्षणत्वं [3]तयोः सिद्धयत्येव। तच्च सिध्यत्तत्त्वान्तरत्वं साधयति, [4]तच्चासजातीयत्वम्[5]। [6]तदप्युपादानोपादेयभावाभावं[7], [8]तयोस्त[9]त्प्रयोजकत्वात्[10]। तदेवं [11]भूतचैतन्ययोर्नास्त्युपादानोपादेयभावो[12], विभिन्नलक्षणत्वात्। [13]इति [14]व्यापकविरुद्ध[15]व्याप्तोपलब्धिः[16], [17]उपादानोपादेयभावव्यापकस्य सजातीयत्वविशेषस्य विरुद्धेन तत्त्वान्तरभावेन [18]व्याप्ताद्भिन्न-

---

सकती है क्योंकि स्वपर के ज्ञान करने में अज्ञान निवृत्ति रूप हेतु की अन्यथानुपपत्ति है।

[भूत और चैतन्य का लक्षण पृथक्-पृथक् ही है।]

इस प्रकार से स्वसंवेदन अंतस्तत्त्व (चैतन्य) का लक्षण है जो कि पृथ्वी आदि भूतों में असंभवी है। अतः भूतचतुष्टय और चैतन्य का भिन्न २ लक्षण सिद्ध ही होता है। इसमें हमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं दीखता है और वह भिन्न लक्षण सिद्ध होता हुआ दोनों को भिन्न-भिन्न तत्त्व ही सिद्ध करता है। वह भिन्न तत्त्व ही भूत और चैतन्य में असजातीयपने को सिद्ध कर देता है। असजातीयत्व हेतु भी उन दोनों में उपादान-उपादेय भाव के अभाव को सिद्ध करता है अतः उन दोनों भूत चैतन्य में अथवा उपादान-उपादेय भाव में वह सजातीयत्व ही प्रयोजक है। इस प्रकार "भूत और चैतन्य में उपादान-उपादेय भाव नहीं है क्योंकि वे विभिन्न लक्षण वाले हैं।" इसलिये व्यापक से विरुद्ध व्याप्त की उपलब्धि हो रही है अर्थात् उपादान उपादेयभाव व्याप्य है, सजातीयपना व्यापक है, उस सजातीय से विरुद्ध जो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं उससे "विभिन्न लक्षणत्व" हेतु व्याप्त है ऐसे हेतु की उपलब्धि हो रही है अतः विभिन्न लक्षणत्व हेतु व्यापक विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि नाम से कहा जाता है। उसी को स्वयं आगे कहते हैं—

---

1 चेतनस्य। 2 पृथिव्यादिषु। (ब्या० प्र०) 3 भूतचैतन्ययोः। 4 तद् भूतचैतन्ययोर्भिन्नलक्षणत्वं सिद्धयन्निःशेषमानं तत्त्वांतरत्वं साधयति। तद् तत्त्वांतरत्वं विजातीयत्वं साधयति। तद् विजातीयत्वं उपादानोपादेयाभावं साधयति। तयोर्भूतचेतनयोः तस्योपादानोपादेयत्वाभावस्य साधकत्वात्—वि. प्र.। 5 तत्त्वान्तरत्वं च भूतचैतन्ययोरसजातीयत्वं साधयति। 6 असजातीयत्वमपि। 7 साधयतीति संबंधः। 8 भूतचैतन्ययोरुपादानोपादेययोर्वा। 9 तत्सजातीयत्वं प्रयोजकं तयोरुपादानोपादेययोस्ते तयोरुक्ते तयोर्भावस्तस्मात्। (ब्या० प्र०) 10 तद् सजातीयत्वं प्रयोजकं तयोरिति शेषः। 11 चेतनयोः इति पा.—वि. प्र.। भूतचेतनो पक्षः उपादानोपादेयभावो भवत इति साध्यो धर्मः भिन्नलक्षणत्वात्—वि. प्र.। 12 भावोऽतिभिन्न—इति पा.। (ब्या० प्र०) 13 निवर्तमानं सजातीयत्वं उपादानोपादेयत्वनिवर्तकमिति यतो भिन्नलक्षणत्वं तन्निवर्तयतीत्यनेन विरुद्धयते इत्याशंक्य विरोधं परिहरति। (ब्या० प्र०) 14 साध्यस्य व्यापक। व्यापकविरुद्धेन तत्त्वांतर भावेन व्याप्ताद् भिन्नलक्षणत्वात् भूतचैतन्ययोरुपादानोपादेयभावाभाव उपलभ्यते—वि. प्र.। 15 उपादानोपादेयभावस्य व्याप्यस्य व्यापकं यत्सजातीयत्वं ततो विरुद्धं तत्त्वान्तरत्वं तेन व्याप्तं विभिन्नलक्षणत्वं तस्योपलब्धिः। 16 विभिन्नलक्षणत्वादित्यत्र हेतुर्व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः कथ्यते। तदेवाग्रे दर्शयति। 17 व्याप्य। ता। (ब्या० प्र०) 18 व्याप्ता इति पाठान्तरम्।

लक्षणत्वात्प्रतिषेध्याभावसाधनात्[1] । [2]नह्यत्र सजातीयत्वविशेष[3]स्योपादानोपादेयभाव-[4]व्यापकत्वमसिद्धं [5]विजातीयत्वाभिमतयोः पयःपावकयोः सत्त्वादिना सजातीययोरपि [6]तदनुपगमात् [7]कथञ्चिद्विजातीययोरपि [8]मृत्पिण्डघटाकारयोः[9] पार्थिवत्वादिना विशिष्टसामान्येन सजातीययोरुपादानोपादेयभावसिद्धेः [10]कथं[11] तर्हि[12] सजातीयत्वविशेषस्य तत्त्वान्तरभावेन विरोध इति [13]चेत्तत्त्वान्तरभूतयोस्तदनुपलम्भात्, [14]पूर्वाकारपरित्यागा[15]ऽजहद्वृत्तो[16]त्तराकारान्वय[17]-प्रत्यय[18]विषयस्योपादानत्वप्रतीतेः[19], परित्यक्तपूर्वाकारेण द्रव्येणात्मसात्क्रियमाणोत्तराकारस्यो-पादेयत्व[20]निर्ज्ञानादन्यथा[21]ति[22]प्रसङ्गात्[23] ।

उपादान उपादेय भाव व्यापक है, वह सजातीय विशेष है। उसके विरुद्ध भिन्न-भिन्न तत्त्व रूप से व्याप्त होने से यह "विभिन्न लक्षणत्व" हेतु प्रतिषेध्य (चैतन्य) के अभाव को सिद्ध करता है। यहाँ सजातीयत्व विशेष में उपादान-उपादेय भाव का व्यापकपना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि विजातीय रूप से स्वीकृत जल और अग्नि में सत्त्वादि सामान्य धर्मों से सजातीयपना होने पर भी उपादान-उपादेय रूप व्यापकपना आपने नहीं माना है और जो कथंचित् विजातीय भी हैं ऐसे मृत्पिण्ड और घट के आकार में अर्थात् मृत्पिण्ड द्रव्य है और घट का आकार पर्याय है इस प्रकार द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से विजातीय होने पर भी पार्थिव आदि से विशिष्ट सामान्य धर्म की अपेक्षा से सजातीय भी हैं इस मृत्पिण्ड और घट आकार में उपादान-उपादेय भाव सिद्ध है।

चार्वाक—पुनः सजातीय विशेष में तत्त्वांतर भाव से विरोध क्यों है ?

जैन—विरोध इसलिए है क्योंकि भिन्न-भिन्न तत्त्व में वह उपादान उपादेय भाव नहीं पाया जाता है।

[उपादान का लक्षण]

पूर्वाकार का परित्याग रूप व्यय और उत्तराकार का उत्पाद इन दोनों में अजहद्वृत्त (अपने

---

1 प्रतिषेध्यस्य चेतनस्याभावसाधनात्। 2 नन्वेवं तत्त्वार्थेघंटाद्याकारस्य चोपादानोपादेयभावः स्यात्, पार्थिवत्वादि-विशिष्टसामान्यसद्भावविशेषादिति न शङ्कनीयं, व्यापकस्य सजातीयस्यतस्योपादानोपादेयाख्यव्याप्याभावेपि व्यवस्थानाविरोधात् "व्यापकं तदतल्सिद्धं व्याप्यं तल्सिद्धयेव च" इत्यादिवचनादित्याद्यपक्षगर्भमाह नहीति। 'भिन्नलक्षणत्व' हेतौ। 3 सजातीयभावं व्यापकं (व्या० प्र०) 4 उपादानोपादेयभावसाधनं प्रति। ता। (व्या० प्र०) 5 द्रव्येण, प्रमेयत्वेन, वस्तुत्वेन इत्यादिना लक्षणेन सजातीययोरपि तथापि विजातीयत्वेन अंगीकृतयोः जलानलयोः उपादानोपादेयभावस्वार्थकैर्नांगी-क्रियते। तथात्मानिमुं तचेतनयोरुपादानोपादेयभावो नांगीक्रियते। वि. प्र.। 6 सजातीयत्वस्य उपादानोपादेयभाव-व्यापकत्वानुपगमात्। 7 मृत्त्वघटत्वप्रकारेण। 8 मृत्घटाकारयोः इति पा, ३ (व्या० प्र०) 9 द्रव्यपर्याययोः। 10 चार्वाकः। 11 पयःपावकयोः सत्त्वादिना सजातीयत्वस्थापादितं तर्हि विरोधः कथं स्वादित्याशंकायामाह प्रत्युत्तर-यति। (व्या० प्र०) 12 तर्हि कुत सजातीयत्वं वर्तते इत्याशङ्कयाह तूं उसजातीयत्वनिमित्तमनुपादानोपादेयभावमाह आचार्यः। 13 जैनः 14 परित्यागो व्ययः पूर्वाकारपरि—इति पाठान्तरम्। 15 वसः। (व्या० प्र०) 16 द्रव्यस्य। (व्या० प्र०) 17 उत्पादरूपेण। 18 अन्वयः अनुवर्तनम्। 19 प्रत्ययो ज्ञानम्। 20 द्रव्यस्य। (व्या० प्र०) 20 पयःपावकयोरप्युपादानोपादेयभावो अस्तु ततः। 21 उक्तप्रकारस्योपादानोपादेयत्वप्रतीत्यभावे। 22 पयःपाव-कयोरप्युपादानोपादेयत्वप्रसंगात्। (व्या० प्र०) 23 (मेचकादिषु चित्रज्ञानाभावप्रसङ्गात्)।

[भिन्नलक्षणत्वहेतुर्भिन्नभिन्नतत्त्वेन कथं व्याप्तमिति प्रश्ने सति समाधानं]

कथं तत्त्वान्तराभावेन भिन्नलक्षणत्वं व्याप्तमिति चेत् [1]तदभावेनुपपद्यमानत्वात्[2]। [3]किण्वादिमदिरादिपरिणामयोरतत्त्वान्तराभावेपि भिन्नलक्षणत्वस्य[4] दर्शनात्तस्य[5] तेनाव्याप्तिरिति चेन्न, [6]तयोर्भिन्नलक्षणत्वासिद्धेः, किण्वादेरपि मदजननशक्तिसद्भावान्मदिरादिपरिणामवत्। सर्वथा मदजननशक्तिविकलत्वे हि किण्वादेर्मदिरादिपरिणामदशायामपि तद्वैकल्यप्रसङ्गः। [7]नन्वेवं [8]भूतान्तस्तत्त्वयोरपि भिन्नलक्षत्वं मा भूत्, कायाकारपरिणतभूतविशेषावस्थातः प्रागपि क्षित्यादिभूतानां चैतन्यशक्तिसद्भावादन्यथा [9]तदवस्थायामपि चैतन्योद्भूतिविरोधादिति न [10]प्रत्यवस्थेयं, चेतनस्यानाद्यनन्तत्वप्रसिद्धेरात्म[11]वादिनामिष्टप्रति-

---

मूल स्वभाव को न छोड़कर) होता हुआ अन्वयरूप से ज्ञान का विषयभूत पदार्थ है वही उपादान है। क्योंकि पूर्वाकार को जिसने छोड़ दिया है ऐसे द्रव्य के द्वारा आत्मसात् (ग्रहण) किया गया जो उत्तराकार है उसे ही उपादेय स्वीकार किया गया है। यदि ऐसा न मानें तो अतिप्रसंग दोष आ जावेगा।

[भिन्न लक्षणत्व हेतु भिन्न-भिन्न तत्त्व से व्याप्त है यह बात कैसे बनेगी ? इसका समाधान]

शंका—भिन्न तत्त्व के साथ भिन्न लक्षण की व्याप्ति कैसे है ?

समाधान—भिन्न तत्त्व के अभाव में भिन्न लक्षण भी नहीं पाया जाता है।

चार्वाक—किण्वादि (मदिरा के लिए कारण भूत गुड़, आटा, महुआ आदि) और मदिरा परिणाम इन दोनों में भिन्न तत्त्व का अभाव होने पर भी भिन्न लक्षणपना देखा जाता है अर्थात् कारणभूत गुड़ महुआ आदि में स्वतन्त्र रूप से मद को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है और मदिरा परिणाम में मदजनक शक्ति विद्यमान है अतः दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न पाया जाता है। इसलिये भिन्न लक्षणत्व हेतु की भिन्न तत्त्व के साथ अव्याप्ति है।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते। किण्वादि और मदिरा में भिन्न लक्षण की असिद्धि है। किण्वादिक (गुड़, महुआ, आटा) में भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति का सद्भाव है, मदिरा आदि रूप से परिणत द्रव्य के समान। क्योंकि सर्वथा मद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित होने पर आटा, गुड़, महुआ आदि पदार्थ मदिरा रूप से परिणत अवस्था में भी मद को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हो जावेंगे।

चार्वाक—पुनः इस प्रकार से भूत और अन्तस्तत्त्व (चैतन्य) में भी भिन्न लक्षण न होवे

---

1 तत्त्वान्तराभावाभावे। 2 भिन्नलक्षणत्वस्य। 3 चार्वाकः। किण्वादि, कारणरूपपिष्टगुडधातक्यादि। 4 मदजनकस्वजनकत्वस्य मदजनितजनकत्वस्य च। 5 (भिन्नलक्षणत्वस्य तत्त्वान्तराभावेन सह) 6 किण्वादिमदिरापरिणामयोः। 7 (किण्वादेर्मदजननशक्तिसद्भावप्रकारेण। 8 (अन्तस्तत्त्वं हि चित्)। 9 अन्यथा चैतन्यशक्त्यसद्भावे कायाकारपरिणत भूतविशेषावस्थामपि चैतन्योत्पत्तिविरुद्धयते इत्युक्तप्रकारं चार्वाकं प्रत्याह जैनः। इयं प्रतिकूलता न किंतु अस्मदभीष्टसिद्धिः कस्यावस्तवादिनामभीष्टस्याधनात्। दि. प्र.। 10 * पूर्वपक्षीकरणीयं। (ब्या० प्र०) 11 ता। (ब्या० प्र०)

ष्ठानात्। न चैवं चैतन्यं भूतविवर्त्तः, [1]क्षित्यादितत्त्वस्यापि [2]तद्विवर्त्तत्वप्रसङ्गात्, अनाद्य[3]नन्तत्वाविशेषात्। ततो भिन्नलक्षणत्वं तत्त्वान्तरत्वेन व्याप्तं भूतचैतन्ययोस्तत्त्वान्तरत्वं साधयत्येव। इति [4]चैतन्यपरिणामोपादान[5] एवाद्यचैतन्यपरिणामः [6]प्राणिनामन्त्यचैतन्योपादेयश्च[7] जन्मान्तराद्यचैतन्यपरिणामः सिद्धः[8]।

क्योंकि शरीराकार से परिणत भूत विशेषावस्था से पहले भी पृथ्वी, जल आदि भूतों में चैतन्य शक्ति का सद्भाव है। अन्यथा शरीराकार परिणत अवस्था में भी चैतन्य की उत्पत्ति का विरोध हो जावेगा।

जैन—इस प्रकार नहीं कहना चाहिये क्योंकि चैतन्य के अनादि अनंतपना सिद्ध है और सभी आत्मवादियों को यह बात इष्ट है और इस प्रकार चैतन्यतत्त्व, भूतचतुष्टय की पर्याय नहीं है अन्यथा पृथ्वी आदि तत्त्व को भी चैतन्य की पर्याय का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि दोनों में ही अनादि अनंतपना समान है। इसीलिये "भिन्न लक्षण" हेतु भिन्न तत्त्व से व्याप्त है और वह भूतचतुष्य और चैतन्य को भिन्न-भिन्न तत्त्व सिद्ध ही करता है। इस प्रकार प्राणियों का आद्य चैतन्य परिणाम ही पूर्व चैतन्य परिणाम (जन्म) के उपादान पूर्वक है और अन्त्य चैतन्य उपादेय है तथा अगले जन्म में जन्म के लिये मरण के बाद का चैतन्य ही उपादान रूप है उसे ही आद्य चैतन्य परिणाम कहते हैं यह बात सिद्ध हुई।

भावार्थ—चार्वाक चैतन्य और भूतचतुष्टय को एक तत्त्व सिद्ध करने में लगा हुआ है। उसका कहना है कि भले ही जीव और भूत का लक्षण भिन्न-भिन्न हो फिर भी दोनों एक तत्त्व हैं। जैसे गुड़, महुआ, आटा आदि मदिरा के लिये साधनभूत पदार्थ हैं। इनमें मादक शक्ति नहीं है और सभी के सम्मिश्रण से इन्हीं का मदिरा रूप परिणमन होकर इनमें मादकता आ जाती है और पीने वालों को वह उन्मत्त बना देती है। पृथक्-पृथक् गुड़, महुआ या आटे की रोटी खाने वालों में ऐसा विकार या नशा नहीं होता है। अतः ये महुआ आदि पदार्थों का लक्षण भिन्न है और मदिरा का लक्षण भिन्न है फिर भी दोनों एक तत्त्व हैं वैसे ही यद्यपि आत्मा का लक्षण जानना देखना है और भूतचतुष्टय का लक्षण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रूप है फिर भी लक्षण भेद से ये दोनों पृथक् न होकर एक ही हैं।

---

1 अन्यथा। (ब्या० प्र०) 2 नन्वनादित्वाविशेषेऽपि चैतन्यं भूतविवर्तः शक्तिमत्त्वात् ननु क्षित्यादिस्तद्विवर्तः शक्तिमत्त्वात्। मदजननविवर्तो न तु मदिराविस्तद्विवर्तः ततः क्षित्यादितत्त्वस्य तत्प्रसंगो न स्यादिति नाशंकनीयं। अभिप्रायविशेषात्। अयं ह्यभिप्रायविशेषः प्राक्प्रपंचेन निरूपेकं समर्थितेन स्वसंवेदनाद्यभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वांतरत्वं चैतन्यस्य व्यवस्थापितं। तथापि तस्य क्षित्यादिविवर्तत्वे क्षित्यादेरपि चैतन्यविवर्तत्वप्रसंगः स्यात्। न चैवं मदजननक्तेर्मदिराविविवर्तत्वे मदिराद्यैस्तद्विवर्तत्वप्रसंगःस्यात्तस्याभिन्नलक्षणत्वेन तत्त्वांतरत्वासिद्धेरिति—दि. प्र.। 3 उभयत्रापि। 4 पूर्वचैतन्यमुपादानम्। 5 इतः। (ब्या० प्र०) 6 सा। कार्यभूतः। (ब्या० प्र०) 7 अन्त्यचैतन्यस्योपादेयो भविष्यज्जन्मनाद्यचैतन्यपरिणामः। 8 एवं पावत्तनचैतन्यस्योत्तरचैतन्यं प्रत्युपादानत्वाभावेऽपि कथं संसारः इत्याह। (ब्या० प्र०)

इस पर आचार्य ने अच्छी तरह समझाया है कि भाई ! गुड़, महुआ, आटा आदि जड़ रूप अचेतन पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं और इनमें मदिरा बनने के पहले भी शक्ति रूप से मादकता विद्यमान है तभी सम्मिश्रण होने से मादकता आ जाती है अन्यथा यदि इनमें शक्ति ही नहीं होती तो मिलने पर भी वह कहाँ से प्रकट होती।

जैनाचार्य तो दूध में घी को शक्ति रूप से एवं आत्मा में परमात्मा को शक्ति रूप से मानते हैं। देखो ! जन्म लेते ही बालक में बैरिस्टर, डाक्टर, इंजीनियर, मास्टर आदि की शक्ति विद्यमान है इसीलिये बड़ा होने पर निमित्त मिलने से वैसा बन जाता है। अतः आटा, महुआ आदि मदिरा से भिन्न तत्त्व नहीं हैं वे सभी अचेतन रूप ही हैं, किन्तु आत्मा सर्वथा ही इन भूत चतुष्टयों से विलक्षण ज्ञान दर्शन स्वरूप चेतन है। आश्चर्य इस बात का है कि यह चार्वाक भूत चतुष्टय में चारों को परस्पर में भिन्न-भिन्न मानता है और आत्मा एवं भूत चतुष्टय को एक सजातीय द्रव्य मानता है जबकि ये चारों ही भूतचतुष्टय पुद्गल की अपेक्षा सजातीय एक द्रव्य है एवं आत्मा इनसे भिन्न विलक्षण द्रव्य है। यह आत्मा अनादि अनंत है और मरण के बाद आगे मनुष्यादि में आने के लिए उपादान भूत है। जैसे कि बचपन अवस्था के चैतन्य में वाल्यावस्था का चैतन्य उपादान रूप है ऐसा समझना चाहिये।

चार्वाक, मीमांसक और नैयायिक ज्ञान को स्वसंविदित नहीं मानते हैं उनके खंडन का सारांश

अस्वसंविदित ज्ञानवादी कहता है कि "ज्ञान स्वसंविदित नहीं है फिर भी बाह्य पदार्थों का प्रकाशक है जैसे कि दीपक आदि अस्वसंविदित होकर भी बाह्य पदार्थ के प्रकाशक देखे जाते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि प्रदीप आदि तो अचेतन हैं अतः बाह्य पदार्थ को जानने वाले नहीं हैं मात्र ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं, किन्तु ज्ञान तो बाह्य पदार्थों को जानने वाला भी है और स्वसंवेदन लक्षण वाला है। सुखादि ज्ञान भी अपने से बहिर्भूत सुखादि के जानने वाले हैं कथंचित् वे भी बाह्य ही हैं।

सुखादि सातावेदनीय के उदय से हुए हैं एवं ज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम से हुआ है अतः सुख और सुख का ज्ञान कथंचित् भिन्न ही हैं। एवं सभी ज्ञान स्वपर परिच्छेदक माने गये हैं।

कोई कहे कि "स्वात्मनि क्रियाविरोधात्" नियम से ज्ञान स्व को कैसे जानेगा? इस पर आचार्य प्रश्न करते हैं कि स्वात्मा में ज्ञातृत्व लक्षण क्रिया का विरोध है या परिस्पंदात्मक क्रिया का? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है कारण कि "घटो अस्ति" इत्यादि रूप से अस्तित्व आदि क्रिया का विरोध हो जाने से सभी का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा।

यदि दूसरा पक्ष लेवें तो क्रिया का स्वात्मा कौन है? क्रिया का स्वरूप या क्रियावान् आत्मा अर्थात् करना, बनाना आदि अर्थ रूप क्रिया? यदि क्रिया का स्वरूप कहें तो अपने स्वरूप का कोई विरोधी नहीं है। दूसरे पक्ष में भी क्रियावान् द्रव्य में ही क्रिया पाई जाती है। तीसरे पक्ष में करने, बनाने रूप क्रिया स्वात्मा में कोई भी मानते ही नहीं हैं। अतः ज्ञान रूप क्रिया का स्वात्मा में विरोध न होने से सभी ज्ञान स्वसंवेदी हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से ज्ञान स्वपर प्रकाशक है प्रदीपादि के समान। तथा इस ज्ञान लक्षण से ही आत्म तत्त्व की सिद्धि हो जाने से संसार और मोक्ष एवं उनके कारण भी सिद्ध ही हो जाते हैं।

卐

[1]पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च संसारः। इति प्रसिद्धेन[2] प्रमाणेन संसारतत्त्वं न [3]बाध्यते, [4]नानुमानेन, [5]नाप्यागमेन, तस्य तत्प्रतिपादकतया [6]श्रुतेः "संसारिणस्त्रसस्थावराः" इति वचनात्।

[संसारस्य कारणभूततत्त्वानां का विचारः]

तथा संसारोपायतत्त्वमपि[7] न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य तदबाधकत्वात्। निर्हेतुकः संसारोऽनाद्यनन्तत्वादाकाशवदित्यनुमानेन[8] तद्बाध्यते इति चेन्न, पर्यायार्थादेशा[9]त्संसारस्यानाद्यनन्तत्वासिद्धेः, दृष्टान्तस्यापि [10]साध्यसाधनविकलत्वाद्, [11]द्रव्यार्थादेशात्तु [12]तस्य [13]तथासाधने सिद्धसाध्यतानुषक्तेः। [14]सुखदुःखादि[15]भावविवर्तन[16]लक्षणस्य[17] संसारस्य [18]द्रव्यक्षेत्र

पूर्वभव का परित्याग करके भवांतर को ग्रहण करना ही संसार है। इस प्रकार प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से संसार तत्त्व बाधित नहीं होता है तथा उपर्युक्त कथन की सिद्धि से अनुमान के द्वारा भी संसार तत्त्व बाधित नहीं है और न आगम से ही बाधित है क्योंकि आगम तो "संसारिणस्त्रसस्थावराः" इस प्रतिपादक रूप सूत्र से प्रसिद्ध ही है।

[संसार के कारणभूत तत्त्वों का विचार]

तथा संसार के कारणभूत तत्त्व भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण उन कारणों को सिद्ध करने में अबाधित रूप से पाया जाता है।

शंका—"संसार निर्हेतुक है क्योंकि वह अनादि अनंत है जैसे आकाश।" इस अनुमान से संसार के कारण बाधित हैं।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से संसार को अनादि अनंतता असिद्ध है। और "आकाशवत्" यह दृष्टांत भी साध्य साधन विकल है। यदि आप द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कहें तो संसार अनादि अनंत ही है। अतः सिद्ध साध्यता का प्रसंग आता है और सुख दुःखादि भाव रूप परिणमन लक्षण वाला संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप पाँच भेद विशेषों से सहेतुक ही प्रतीति में आ रहा है। अतः संसार को अहेतुक सिद्ध करने वाला आपका अनुमान निर्दोष नहीं है इसलिये संसार के कारण तत्त्वों का बाधक कोई भी अनुमान नहीं है तथा आगम भी उसका बाधक नहीं है क्योंकि आगम तो संसार के कारणों का साधक ही है। "मिथ्या-

---

1 स्वोपात्तकर्मवशात्। (व्या० प्र०) 2 प्रत्यक्षेण। 3 पूर्वं चार्वाकोपन्यस्तेनानुपलब्धिसिद्धेनाजन्मितेन। (व्या० प्र०) 4 अनुपलब्धेरिति पूर्वोक्तचार्वाकानुमानेन। 5 प्रसिद्धसाध्याभावेन। (व्या० प्र०) 6 श्रवणात्। (व्या० प्र०) 7 उपायः, कारणम्। 8 काल। (व्या० प्र०) 9 नरनारकत्वविकल्पात्। (व्या० प्र०) 10 पर्यायार्थिकनयापेक्षया। 11 आत्म। (व्या० प्र०) 12 संसारस्य। 13 नित्यत्वेन। 14 यतः। ता बहुः। (व्या० प्र०) 15 भावः परिणामः। 16 भावपरिवर्तन इति पा०। (व्या० प्र०) 17 सुखदुःखादय एव भावाः परिणामास्तेषां विवर्तनं तदेव लक्षणं यस्य। 18 आत्म। (व्या० प्र०)

कालभावभव[1]विशेषहेतुकत्वप्रतीतेश्च नाहेतुकसंसारसाधनानुमानमनवद्यम्। इति न किञ्चिदनुमानं संसारोपायतत्त्वस्य बाधकम्। [2]नाप्तागमः, तस्य तत्साधकत्वात् "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः" इति वचनात्, बन्धहेतूनामेव संसारहेतुत्वात्। तदेवं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वं भगवतोभिमतं प्रसिद्धेन प्रमाणेन युक्तिशास्त्राभ्येनाबाध्यं सिध्यसद्धाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वं साधयति, [3]तच्च [4]निर्दोषत्वम्। इति त्वमेव स [5]सर्वज्ञो

दर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः" इस प्रकार सूत्र है, क्योंकि बंध के कारण ही संसार के कारण हैं।

भावार्थ—यहाँ जैनाचार्य संसार को सहेतुक सिद्ध करते हैं तब यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि जब संसार अनादि है तब कारणों से उत्पन्न हुआ कैसे होगा ? और कारणों से उत्पन्न नहीं होगा तब उस संसार का अन्त भी कैसे हो सकेगा।

इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि हम संसार को सर्वथा अनादि अनंत नहीं मानते हैं क्योंकि हम स्याद्वादी हैं। कथंचित् द्रव्यदृष्टि से संसार अनादि अनंत है एवं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सादि सांत है। यद्यपि आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से ही है फिर भी उस कर्म बंध के कारण आत्मा के रागादि परिणाम हैं और रागादि परिणामों के लिये कारणभूत वह कर्म का उदय है अतः यह पंच परिवर्तन रूप संसार सहेतुक ही है और जब सहेतुक है तब इसके हेतुओं का नाश करने से संसार का भी नाश हो जाता है। संसार के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं।

संसार का यह नाश कतिपय भव्य जीवों की अपेक्षा ही कहा गया है क्योंकि संसार में इतनी जीव राशि है कि जिसमें से अनंतानंत काल से अनंतानंत जीव मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं और भविष्य में भी अनंतानंत जीव मोक्ष जाते रहेंगे फिर भी आगामी अनंतानंत काल तक भी जीवराशि कम नहीं होगी, न सिद्धों में वृद्धि की ही समस्या आवेगी क्योंकि यदि अनंत का भी अन्त हो जावे फिर वह अनंत कैसे कहा जावेगा। अतः यह संसार अहेतुक नहीं है और न केवल स्वयं की भूल से ही है यह तो कर्मोदय निमित्तक भी है और मिथ्या, अविरति आदि निमित्तक भी है।

प्रत्येक कार्यों के लिये अनेक कारण होते हैं। द्रव्य कर्मों का उदय और मिथ्या, अविरति आदि रूप परिणाम ये दोनों ही कारण संसार के कारण हैं। यहाँ जो दिखता है उसे ही संसार नहीं समझना, प्रत्युत जो भवांतर की प्राप्ति है वह संसार है इसीलिये "संसरणं संसारः" यह व्युत्पत्ति अर्थ सार्थक है।

इस प्रकार भगवान् के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष, संसार एवं उन दोनों के कारणभूत तत्त्व

---

1 द्रव्यक्षेत्रकालभावभवभेदात्पञ्चधा संसारः। 2 प्रसिद्धप्रमाणम्। (ब्या० प्र०) 3 युक्तिशास्त्राविरोधित्वम्। 4 साधयतीत्यध्याहार्यं पदम्। 5 साधितः सन्। (ब्या० प्र०)

वीतरागश्च स्तोतुं युक्तो नान्य[1] [2]इत्युच्यते ।

[दूरवर्तिपदार्थो यस्य प्रत्यक्षः स्यात् सोऽर्हन् भवानेव]

विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना[3] कस्यचित्प्रत्यक्षं सोत्र भवानर्हन्नेव[4]* । [5]दृश्यलक्षणाद्भिन्न[6]लक्षणमदृश्यस्वभावस्तत्सम्बन्धित्वेन विप्रकर्षि परमाण्वादिकम्[7] । तथा वर्त्तमानात्कालाद्भिन्नः कालोतीतोनागतश्च, तत्सम्बन्धित्वेन रावणशङ्खादि[8] । तथा दर्शनयोग्याद्देशाद्भिन्नदेशो[9]ऽनुपलब्धियोग्यस्तत्सम्बन्धित्वेन [10]मकराकरादि । तद्भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना[11] स्वभावकालदेशविप्रकर्ष्यपि[12] कस्यचित्प्रत्यक्षं साधितम् । सोत्र[13] भवानर्हन्नेव, न पुनः कपिलादय इति । एतत्कुतो निश्चितमिति चेत्, [14]अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् * । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषा यथा [15]दुर्वैद्यादयः, तथा चान्ये

भगवान के इष्ट तत्त्व हैं जो कि प्रसिद्ध प्रमाण से एवं युक्ति और शास्त्र से अबाधित रूप सिद्ध होते हुए भगवान् के वचनों को युक्ति शास्त्र से अविरोधी सिद्ध करते हैं एवं युक्ति-शास्त्र से अविरोधीपना ही भगवान् के निर्दोषत्व को सिद्ध करता है। इसलिये हे भगवन्! वे निर्दोष सर्वज्ञ वीतराग आप ही स्तवन करने योग्य हैं अन्य बुद्ध कपिल आदि नहीं हैं इस प्रकार कहा जाता है।

[दूरवर्ती पदार्थ किसके प्रत्यक्ष हैं वे अर्हंत आप ही हैं]

भिन्न लक्षण सम्बन्धी आदि रूप से विप्रकर्षी भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यहाँ वे अर्हंत भगवान् आप ही हैं।

दृश्य लक्षण (घटादि) से जिनका लक्षण भिन्न है ऐसे अदृश्य स्वभाव वाले पदार्थ अर्थात् अदृश्य स्वभाव सम्बन्धी विप्रकर्षी (परोक्ष-दूरवर्ती) पदार्थ परमाणु आदिक हैं एवं पिशाचादिक स्वभाव विप्रकृष्ट हैं। तथा वर्तमान काल से भिन्न अतीत और अनागत काल हैं उन सम्बन्धी रावण, शंख, चक्रवर्ती आदिक काल विप्रकृष्ट हैं तथैव देखने योग्य देश से भिन्न देश, अनुपलब्धि योग्य हैं तत्सम्बन्धी अर्थात् उन दूर देश सम्बन्धी लवण समुद्र आदि देश विप्रकृष्ट हैं। उस दृश्य से भिन्न लक्षण सम्बन्धी आदि रूप स्वभाव से, काल से एवं देश से विप्रकर्षी—दूरवर्ती भी पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं यह सिद्ध किया है इस विषय में वे अर्हंत आप ही हैं, न कि बुद्ध कपिलादिक।

यह निश्चय आपने कैसे किया ? ऐसा प्रश्न होने पर अन्य सभी न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं। "जो न्याय और आगम से विरुद्ध बोलने वाले हैं वे निर्दोष नहीं हैं जैसे दुर्वैद्य आदि।

---

1 बुद्धादिः । 2 सदा । अष्टाकलंकदेवैः—दि. प्र. । 3 काल देश । (व्या० प्र०) 4 भवानिति पाठान्तरम् । 5 घटादेः । 6 घटादेः । (व्या० प्र०) 7 आदिशब्देन पिशाचादि । 8 शङ्खः, शङ्खचक्रवर्ती । 9 देशान्तरं । (व्या० प्र०) 10 विप्रकर्षि । 11 च इति पाठान्तरः । दि. प्र. । 12 दूरतरमापन्नमपि । 13 अपति । (व्या० प्र०) 14 कपिलादीनां—दि. प्र. । 15 कपिलादयः पक्षः न भवंतीति साध्यो धर्मः, न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषाः दुर्वैद्यदुर्निमित्तकादयः न्यायागमविरुद्धभाषिणश्चैते तस्मान्न निर्दोषाः—दि. प्र. ।

कपिलादय इत्यनुमानान्न्यायागमाविरुद्धभाषिण एव भगवतोऽर्हतो निर्दोषत्वमवसीयते। न चात्र न्यायागमविरुद्धभाषित्वं[1] कपिलादीनामसिद्धं, तदभिमतस्य मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वस्य प्रसिद्धेन प्रमाणेन बाधनात्।

[सांख्याभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

तत्र कपिलस्य [2]सावस्वरूपे चैतन्यमात्रेवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतं[3] तत्प्रमाणेन बाध्यते, चैतन्यविशेषेनन्तज्ञानादौ स्वरूपेवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात्[4]। न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं, [5]सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। [6]प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादि स्वरूपं, नात्मन इति चेन्न, तस्या[7]चेतनत्वादाकाशवत्। [8]ज्ञानादेरप्य[9]चेतनत्वादचेतनप्रधानस्वभावत्वं युक्तमेवेति

इसी प्रकार से न्याय-आगम से विरुद्ध बोलने वाले अन्य कपिल आदि हैं।" इस अनुमान से न्यायागम-युक्ति और आगम से अविरुद्ध भाषी होने से ही भगवान् अर्हंत निर्दोष हैं यह निश्चित होता है।

यहाँ कपिलादि न्याय-आगम से विरुद्ध भाषी हैं यह बात असिद्ध भी नहीं है क्योंकि उनके द्वारा अभिमत मोक्ष, संसार और उन-उनके कारण तत्त्वों में प्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा आती है।

[सांख्य द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन]

सांख्य—अपने चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान होने से प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष का सुषुप्त पुरुषवत् अव्यक्त चैतन्य उपयोग रूप से स्वरूप में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है।

जैन—आपका यह अभिमत भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि हम जैनों के यहाँ चैतन्य विशेष अनंतज्ञान आदि रूप स्वरूप में अवस्थान होने को मोक्ष सिद्ध किया है। एवं अनंतज्ञान आदि आत्मा के स्वरूप नहीं हैं ऐसा नहीं कह सकते, अन्यथा सर्वज्ञत्व आदि का विरोध हो जावेगा।

सांख्य—सर्वज्ञत्व आदि प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नहीं है।

जैन—ऐसा नहीं कहना क्योंकि प्रधान अचेतन है आकाश के समान।

सांख्य—ज्ञानादि भी अचेतन हैं अतः उन्हें अचेतन रूप प्रधान का स्वभाव मानना युक्त ही है।

जैन—यदि ऐसा आपका कथन है तो यह बताइये कि आप किस प्रमाण से ज्ञानादि को

---

1 विरुद्धत्वं इति पा.—दि. प्र.। 2 सावस्वरूपे इति पा.—दि. प्र.। 3 प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृत्तौ पुरुषस्य सुषुप्तपुरुषवदव्यक्तचैतन्योपयोगेन स्वरूपमात्रावस्थानलक्षणो मोक्ष इति सांख्याभिमतम्। 4 जैनैः। 5 अन्यथा। (ब्या० प्र०) 6 अकर्त्ता निर्गुणो शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अमूर्तश्चेतको भोक्ता ह्यात्मा कपिलशासने॥ (ब्या० प्र०) 7 तेषां ज्ञानादीनां अचेतनत्वं कस्मादिति स्याद्वादी पृच्छति। पर आह। ज्ञानादयः पक्षः अचेतना भवंतीति साध्यो धर्मः उत्पत्तिमत्त्वात्। ये उत्पत्तिमंतस्ते अचेतना यथा घटादयः। उत्पत्तिमंतश्चेमे तस्मादचेतना भवंति। आह जैनः उत्पत्तिमत्त्वादिति हेतोरनुभवेन कृत्वा व्यभिचारो घटते। कस्मात्? यतः अनुभवस्य चेतनत्वेऽप्युत्पत्तिमत्त्वं दृश्यते—दि. प्र.। 8 सांख्यः। 9 दर्शनादि। (ब्या० प्र०)

चेत् [1]कुतस्तदचेतनत्वसिद्धिः ? अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवदित्यनुमानादिति चेन्न हेतोरनुभवेन[2] व्यभिचारात्, तस्य चेतनत्वेप्युत्पत्तिमत्त्वात्। कथमुत्पत्तिमाननुभव इति [3]चेत्परापेक्षत्वाद् बुद्ध्यादिवत्। परापेक्षोसौ[4] बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यवसितमर्थं[5] [6]पुरुषश्चेतयते" इति [7]वचनात्। बुद्ध्यध्यवसितार्थानपेक्षत्वेनुभवस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य पुंसोनुभवप्रसङ्गात् सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्ते[8]स्तदुपायानुष्ठानवैयर्थ्यमेव स्यात्। यदि पुनरनुभवसामान्यमात्मनो नित्यमनुत्पत्तिमदेवेति [9]मतं तदा ज्ञानादिसामान्यमपि नित्यत्वादनुत्पत्तिमदभवेदित्यसिद्धो[10] हेतुः[11]। ज्ञानादिविशेषाणामुत्पत्तिमत्त्वान्नासिद्ध इति चेत्सर्वानुभवविः

अचेतन सिद्ध करते हैं ?

सांख्य—"ज्ञानादि अचेतन हैं क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं घटादि के समान।" इस अनुमान से ज्ञान आदि अचेतन सिद्ध हैं।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आपका हेतु अनुभव के साथ व्यभिचारी है। वह अनुभव चेतन होने पर भी उत्पत्तिमान् है।

सांख्य—अनुभव उत्पन्न होने वाला कैसे है ?

जैन—यह अनुभव पर की अपेक्षा रखता है इसलिये उत्पत्तिमान् है जैसे बुद्धि पर की अपेक्षा रखती है अतः उत्पत्तिमान् है। यह साक्षात्कार लक्षण वाला अनुभव पर की अपेक्षा वाला है क्योंकि बुद्धि के अध्यवसाय (निश्चय) की अपेक्षा रखता है। "बुद्धि के द्वारा निश्चित हुये पदार्थ को पुरुष जानता है"—इस वचन से जाना जाता है। यदि अनुभव बुद्धि से निश्चित पदार्थ की अपेक्षा न रखे तो सभी जगह सभी काल में सभी पुरुष के अनुभव का प्रसंग आ जावेगा। पुनः सभी सर्वदर्शी (सर्वज्ञ) हो जावेंगे और फिर सर्वज्ञ बनने के लिये उपायों के अनुष्ठान व्यर्थ ही हो जावेंगे।

सांख्य—आत्मा का जो अनुभव सामान्य है वह नित्य है उत्पत्तिमान् नहीं है।

जैन—यदि आपका यह मत है तब तो ज्ञानादि सामान्य भी नित्य होने से उत्पत्तिमान् न होवें। अतः आपका "उत्पत्तिमान्" हेतु असिद्ध हो जाता है।

सांख्य—आप जैन के यहाँ ज्ञानादि सामान्य भले ही उत्पत्तिमान् न होवें किन्तु ज्ञानादि विशेष तो उत्पत्तिमान् हो हैं। अतः हमारा हेतु असिद्ध नहीं है।

---

1 सिद्ध्यति। पुरुषस्य। 2 बुद्धिप्रतिबिम्बितार्थवैशेषिकमनुभवः। 3 जैनः। 4 साक्षात्करणस्वभावोनुभवः 5 प्रतिबिम्बितं निश्चितं चार्थम्। 6 जानाति। 7 इंद्रियाध्यवसायमासोच्यवेति तदालोचितं मनः संकल्पयति तत्संकल्पितमहंकारोभिमन्यते तदभिमतं बुद्धिरध्यवस्यति तदध्यवसितं च पुरुषश्चेतयते इति सांख्यमतक्रमः। (ब्या० प्र०) 8 तस्य सर्वदर्शित्वस्योपायानां कारणानां ध्यानमौनादीनामनुष्ठानस्य वैयर्थ्यम्। 9 सांख्यस्य। 10 भवत्यसिद्धो इति पा.—दि. प्र.। 11 उत्पत्तिमत्त्वादिति।

शेषाणामप्युत्पत्तिमत्त्वादनै[1]कान्तिकोसौ कथं न स्यात् ? नानुभवस्य विशेषः सन्तीति [2]चायुक्तं, [3]वस्तुत्वविरोधात् । तथा हि । नानुभवो वस्तु, सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत्[4] । [5]नात्मनानेकान्तः, तस्यापि सामान्यविशेषात्मकत्वादन्यथा तद्वदवस्तुत्वापत्तेः । कालात्ययापदिष्टश्चायं [6]हेतुः, ज्ञानादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्ष[7]त्वाच्चेतनत्वप्रसिद्धेरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात् ।

जैन—तो अनुभव विशेष भी तो उत्पत्तिमान् ही है अतः आपका हेतु अनैकांतिक क्यों नहीं हो जावेगा ? अर्थात् अनुभव उत्पत्तिमान् होते हुये भी चेतन है इसलिये आपका 'उत्पत्तिमान्' हेतु अनुभव में चले जाने से अनैकांतिक हो जाता है ।

सांख्य—अनुभव में विशेष है ही नहीं ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है अन्यथा वस्तुत्व का विरोध हो जावेगा । तथाहि "अनुभव कोई वस्तु नहीं है क्योंकि वह सम्पूर्ण विशेषों से रहित है गधे के सींग के समान ।" अर्थात् विशेष रहित सामान्य खर विषाण के समान असत् ही है ।

सांख्य—आत्मा सकल विशेष से रहित होने पर भी वस्तु है । इसीलिये यह हेतु आत्मा के साथ व्यभिचारी है ।

जैन—नहीं, आत्मा के साथ भी यह हेतु अनैकांतिक नहीं है । आत्मा भी सामान्य विशेषात्मक वस्तु है अन्यथा अनुभव के समान वह अवस्तु हो जावेगी । आपका "उत्पत्तिमत्त्वात्" यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी है क्योंकि ज्ञानादिक स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होने से चेतन रूप प्रसिद्ध है और आपका यह हेतु प्रत्यक्ष से पक्ष के बाधित हो जाने पर प्रयुक्त किया गया है अतः कालात्ययापदिष्ट है ।

आचार्य—जिस प्रकार से यहाँ सांख्य के द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन बताया है वैसे ही

---

1 (अनुभवस्योत्पत्तिमत्त्वेपि चेतनत्वादनैकान्तिकत्वं हेतोः, विपक्षेपि हेतुवर्तनात्) । 2 चायुक्तं इति पा. । लोके अनुभवस्य विशेषा न संति हे सांख्य ! इति त्वदीयवचः अयुक्तं कस्मात् वस्तुत्वविरोधात् । अनुभवस्य विशेषाभावे वस्तुत्वं न घटते । तर्हि अनुमानत्वेन यः अनुभवः पक्षः वस्तु न भवतीति साध्यो धर्मः सकलविशेषरहितत्वात् खरविषाणवत् अत्राह परः । सकलविशेषरहितत्वात् अयं हेतुः आत्मना कृत्वा व्यभिचारी कोऽर्थः विशेषरहितोऽप्यात्मा वस्त्विति । इति सांख्यमतं । अथाद्दार्हतः । हे सांख्य ! मम हेतोः आत्मना व्यभिचारो न । तस्यात्मनः सामान्यविशेषात्मकत्वात् अन्यथा सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे आत्मनः अवस्तुत्वं संभवति—दि. प्र. । 3 निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवदिति वचनात् । 4 निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि ॥*हेत्वयुक्तत्वात् । (ब्या० प्र०) 5 (आत्मनः सकलविशेषरहितत्वेपि वस्तुत्वानैकान्त इति चेन्न) । 6 उत्पत्तिमत्त्वादिति । 7 प्रत्यक्षाच्चेतनेति वा पाठः । (ब्या० प्र०)

[चेतनसंसर्गादचेतना अपि ज्ञानादयः चेतनत्वेन प्रतीयंते इति सांख्यमान्यतायाः निराकरणं]

अथ[1] [2]चेतनसंसर्गादचेतनस्यापि ज्ञानादेश्चेतनत्वप्रतीतिः [3]प्रत्यक्षतो भ्रान्तैव[4]। [5]तदुक्तं

भट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थ में भी बताया है। यथा—

"गुणपुरुषांतरोपलब्धौ प्रतिस्वप्नसुप्तविवेकज्ञानवत् अनभिव्यक्तचैतन्यस्वरूपावस्था मोक्षः" गुण—प्रकृति और पुरुष—आत्मा इन दोनों का भेद विज्ञान हो जाने पर सुप्तावस्था में सुप्त हुये विवेक ज्ञान के समान चैतन्य स्वरूप की प्रकटता के न होने रूप अवस्था का हो जाना ही मोक्ष है अर्थात् सामान्य चैतन्य मात्र में अवस्थान हो जाना मोक्ष है ऐसी उसकी कल्पना है।

सांख्य का कहना है कि ज्ञान तो प्रकृति का धर्म है, प्रकृति से भेद हो जाने के जाने के बाद आत्मा से ज्ञान का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, आत्मा ज्ञान शून्य हो जाती है। आत्मा का स्वरूप अचेतन है जैसे कि आकाशादि अचेतन प्रसिद्ध हैं।

इस बात पर जैनाचार्यों ने ज्ञानादि को चेतन एवं आत्मा के गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस पर पुनः सांख्य का कहना है कि ज्ञान, सुख आदि उत्पन्न होते हैं, अनित्य हैं, अतएव अचेतन हैं क्योंकि आत्मा तो कूटस्थ नित्य अपरिणामी है उसके गुण अनित्य कैसे हो सकेंगे ?

इस पर जैनाचार्य आत्मा को सर्वथा नित्य नहीं मानते हैं एवं गुणों को सर्वथा अनित्य नहीं मानते हैं। वे आत्मा को कथंचित् अनित्य सिद्ध करते हैं एवं कथंचित् गुणों को भी नित्य सिद्ध कर देते हैं। सामान्यतया आत्मा द्रव्य है, नित्य है, ज्ञान गुण भी नित्य है क्योंकि ज्ञान गुण से ही आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है एवं कथंचित् मति, श्रुत आदि ज्ञानों की अपेक्षा ज्ञान उत्पत्तिमान् भी है और आत्मा भी नर नारकादि पर्यायों की अपेक्षा उत्पत्तिमान् है। सांख्य अनुभव को आत्मा का स्वभाव मानता है किन्तु वास्तव में देखा जावे तो ज्ञान के बिना अनुभव नाम की चीज भला और क्या होगी ? अतः ज्ञान स्वसंवेदन सिद्ध आत्मा का स्वभाव है। वह प्रकृति का धर्म नहीं है और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप अनन्त गुणों को प्रकट कर लेना ही मोक्ष है न कि ज्ञान से शून्य हो जाना। क्योंकि ज्ञान से रहित मोक्ष का अनुभव भी भला किसको हो सकेगा और कौन उसे प्राप्त करना चाहेगा ? यदि कोई किसी को कहे कि भैया ! तुम हमारा सब राज्य पाट ले लो किन्तु अपने प्राण हमें दे दो तब वह तो यही कहेगा कि भाई ! मरने के बाद आपके राज्य सुख का उपभोग कौन करेगा ? ऐसे ही ज्ञान के बिना आत्मिक सुखों का उपभोग भी कौन कर सकेगा ? अतः ज्ञान को आत्मा का ही स्वभाव मान लेना चाहिए।

[चेतन के संसर्ग से अचेतन भी ज्ञानादि चेतन रूप से प्रतीत होते हैं
सांख्य की ऐसी मान्यता का निराकरण]

सांख्य—चेतन आत्मा के संसर्ग से अचेतन ज्ञानादि भी प्रत्यक्ष में चेतन रूप से प्रतीति में

---

1 सांख्यः। 2 आत्मसंसर्गात्। 3 प्रत्यक्षतो ज्ञायमाना प्रतीतिः। (ब्या० प्र०) 4 तदु भो जैन ! चेतनत्वप्रतीतिर्ज्ञानादीनां परमार्थिकी न भवति किंतु भ्रान्तैव चेतनसंसर्गाच्चेतनत्वप्रतीतेरुपचारात्। (ब्या० प्र०) 5 सांख्यग्रन्थे।

"[1]तस्मात्[2]तत्संसर्गादचेतनं[3] [4]चेतनवदिह[5] [6]लिङ्गम्" इति । [7]तदप्यचिंतामभिधानं[8], शरीरादेरपि चेतनत्वप्रतीतिप्रसङ्गाच्चेतनसंसर्गविशेषात्[9] । शरीराद्यसंभवी बुद्ध्यादेरात्मना संसर्गविशेषोस्तीति चेत्स कोन्योन्यत्र कथंचित्तादात्म्यात्, [10]तददृष्टकृतकत्वादिविशेषस्य[11] शरीरादावपि भावात्। ततो नाचेतना ज्ञानाद्यय:, स्वसंविदितत्वादनुभववत् । [12]स्वसंविदितास्ते, [13]परसंवेदनान्यथानुपपत्तेरिति [14]प्रतिपादितप्रायम् । तथा[15] चात्मस्वभावा[16] ज्ञानादय:, चेतनत्वादनुभववदेव । इति न चैतन्यमात्रेवस्थानं मोक्ष:, अनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीते: ।

आते हैं परन्तु वह प्रतीति भ्रांत ही है। कहा भी है—

"तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनवदिह लिंगं" अर्थात् उस चेतन आत्मा के संसर्ग से अचेतन ज्ञानादि चेतनवत् दीखते हैं ऐसा जानना चाहिये।

जैन—आपका यह कथन भी विचारशून्य है। इस प्रकार से तो शरीरादि में भी चेतनत्व की प्रतीति का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि चेतन का संसर्ग तो शरीर में भी है।

सांख्य—शरीरादिकों में नहीं पाया जाने वाला ऐसा आत्मा का संसर्ग विशेष बुद्धि आदि के साथ में है। अत: ये बुद्धि आदि चेतन रूप प्रतिभासित होते हैं, किन्तु शरीर चेतन रूप प्रतिभासित नहीं हो सकता है।

जैन—तो भाई! कथंचित् तादात्म्य को छोड़कर वह कौनसा संसर्ग विशेष है? कहिये तो सही।

सांख्य—उस आत्मा के अदृष्ट (पुण्य-पापादि) कृतकत्व आदि विशेष हैं वे शरीरादि में असम्भवी हैं—नहीं पाये जाते हैं।

जैन—नहीं, ये सब शरीरादि में भी पाये जाते हैं। इसीलिये "ज्ञानादिक अचेतन नहीं हैं क्योंकि वे स्वसंविदित हैं अनुभव के समान। एवं वे स्वसंविदित हैं क्योंकि परसंवेदन की अन्यथानुपपत्ति है।" इस प्रकार प्राय: प्रतिपादन कर चुके हैं। उसी प्रकार ये ज्ञानादिक आत्मा के स्वभाव हैं क्योंकि वे अनुभव के समान चैतन्य रूप हैं अत: ज्ञानादि शून्य चैतन्य मात्र सामान्य आत्मा में अवस्थान होना मोक्ष नहीं है प्रत्युत अनन्त ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में ही अवस्थान होना मोक्ष है ऐसी प्रतीति सिद्ध है।

---

1 आत्मनश्चेतनत्वं सिद्धं यस्मात्तस्मात्। 2 आत्मसंसर्गात्। बुद्धिसंसर्गादिति टिप्पणान्तरम्। 3 बुद्धिः। (ब्या० प्र०) 4 चेतनावद्दिह इति पा.। (ब्या० प्र०) 5 सांख्यमते। (ब्या० प्र०) 6 लिङ्गपदे ज्ञायते इति लिङ्गं ज्ञेयमित्यर्थः। 7 स्याद्वादी। 8 अविचारितं। (ब्या० प्र०) 9 शरीरे ज्ञाने वा। 10 तस्यात्मनोऽदृष्टंपुण्यादि तेन कृतकत्वादिविशेषः (आदिशब्दाद्भोग्यभोक्तृत्वादिः) तस्य शरीरादौ सम्बन्धो नास्तीत्युच्यते साहचर्येण चेतस्त, तस्यापि शरीरादौ भावात्। 11 तददृष्टकृतत्वादि इति पा.—दि. प्र.। भोग्यभोक्तृत्वादि। (ब्या० प्र०) 12 ज्ञानस्यास्वसंविदितत्वं परिहरति। 13 घटादि। (ब्या० प्र०) 14 प्रमाणान्तरचार्वाकादे। (ब्या० प्र०) 15 ज्ञानस्याचेतनत्वाभावे। (ब्या० प्र०) 16 स्वसंविदितत्वेपि ज्ञानादीनां प्रधानजन्यबुद्धिवत्पुंसो लक्षणत्वाह।

[वैशेषिकाभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

[1]एतेन बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेऽवस्थानं मुक्तिरिति कणभक्षाक्षपादमतं[2] प्रमाणेन बाधितमुपदर्शितं, पुंसोऽनन्तज्ञानादिस्वरूपत्वसाधनात्, स्वरूपोपलब्धेरेव मुक्तत्वसिद्धेः। स्यान्मतं[3] "न बुद्ध्यादयः पुंसः स्वरूपं, ततो भिन्नत्वादर्थान्तरवत्। ततो[4] [5]भिन्नास्ते [6]तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वाद्घटादिवत्। तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं[7] पुनस्तेषामुत्पाद-

---

आशय—सांख्य कहता है कि चेतन के साथ अचेतन रूप ज्ञान सुख आदि का सम्पर्क हो रहा है अतः ये ज्ञान और सुख चेतन दिखते हैं वास्तव में ये अचेतन हैं।

इस मान्यता पर ऐसा भी कहा जा सकता है कि आत्मा स्वयं अचेतन है और ज्ञानचेतना के संसर्ग से चेतनवत् दिख रही है फिर तो नैयायिक का ही मत आ जावेगा जो कि आपको इष्ट नहीं है अथवा चेतन आत्मा के संसर्ग से शरीर को भी चेतन कहना पड़ेगा किन्तु यह भी बात नहीं है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि ज्ञानादि गुण चेतन हैं और आत्मा के स्वभाव हैं। उन अनन्तज्ञान आदि चैतन्य गुणों को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है कि—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाने पर जिनको स्वयं अपने स्वभाव की प्राप्ति हो गई है ऐसे ज्ञान स्वरूप परमात्मा को मेरा नमस्कार हो।

[वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का खण्डन]

बुद्धि आदि विशेष गुणों का उच्छेद (नाश) हो करके सामान्य आत्मा मात्र में अवस्था न होना इसी का नाम मोक्ष है। इस प्रकार से कणाद, अक्षपाद (वैशेषिक, नैयायिक) ने मुक्ति का लक्षण माना है, किन्तु उपर्युक्त खण्डन से इनका भी खण्डन हो जाता है अतः यह कथन भी प्रमाण से बाधित है क्योंकि पुरुष आत्मा का स्वरूप अनन्त ज्ञानादि रूप सिद्ध किया गया है और स्वरूप की उपलब्धि-प्राप्ति होना ही मोक्ष है। यह बात सिद्ध हो जाती है।

वैशेषिक, नैयायिक—बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वरूप नहीं है क्योंकि आत्मा से भिन्न हैं जैसे अन्य अचेतन पदार्थ। वे बुद्धि आदि पुरुष से भिन्न ही हैं क्योंकि वे पुरुष से विरुद्ध धर्म के आधार

---

1 प्रमाणेन सांख्याभिमतमोक्षस्वनिराकरणद्वारेण। (ब्या० प्र०) 2 वैशेषिकनैयायिकमतम्। 3 वैशेषिकनैयायिकयोः। 4 पुंसः। 5 अत्राह कश्चिद् हे योग! ततो भिन्नत्वादिति हेतुः असिद्ध इति न ते बुद्ध्यादयः ततो भिन्ना भवंति इति साध्यो धर्मः इत्यादि। दि. प्र.। 6 ततः पुंसः। 7 स्याद्वादी सांख्यं प्रति पृच्छति बुद्ध्यादीनां तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं कुत इति प्रश्ने आह। दि. प्र.।

विनाशधर्मकत्वादात्मनोनुत्पादा[1]विनाशधर्मकत्वात्प्रसिद्धम्" इति तदयुक्तं[2], विरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि सर्वथा [3]भेदासिद्धेर्मेचकज्ञान[4]तदाकारवत्[5] ।

[चित्रज्ञानमेकरूपमनेकरूपं वेति विचारः]

एकं हि मेचकज्ञानमनेकश्च तदाकारो [6]नीलादिप्रतिभासविशेष इत्येकत्वानेकत्वविरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि मेचकज्ञानतत्प्रतिभासविशेषयोर्न[7] भेदोभ्युपगम्यते, [8]मेचकज्ञानत्वविरोधात् । यदि पुनर्युगपदनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमेकमेव[9], न [10]तत्रानेकप्रतिभासविशेषसम्भवो यतो विरुद्धधर्माधिकरणत्व[11]मभेदेपि स्यादिति [12]मतं तदापि तत्किमनेकया शक्त्यानेकमर्थं युगपद्गृह्णाति किं वैकया ? यद्यनेकया तदैकमनेकशक्त्यात्मकमिति स एव विरुद्धधर्मा-

---

हैं जैसे घट आदि । उनका विरुद्ध धर्माधिकरणपना सिद्ध ही है क्योंकि उनमें उत्पाद, विनाश धर्म पाया जाता है और आत्मा उत्पाद, विनाश धर्म से रहित है यह बात प्रसिद्ध है ।

स्याद्वादी—आपका यह कथन अयुक्त है । विरुद्ध धर्मों का आधार होने पर भी सर्वथा भेद सिद्ध नहीं है जैसे मेचक—चित्रज्ञान और चित्र आकार वर्ण ।

[चित्रज्ञान एक रूप है या अनेक रूप ? इस पर विचार]

चित्रज्ञान एक है और नीलादि प्रतिभास विशेष उसके आकार अनेक हैं । इस प्रकार एकत्व, अनेकत्व रूप विरुद्ध धर्मों का आधार होने पर भी चित्रज्ञान और उसके प्रतिभास विशेष मेचक वर्णों में भेद नहीं माना गया है अन्यथा चित्रज्ञानत्व का विरोध हो जायेगा ।

बौद्ध—युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान एक ही है । उस चित्रज्ञान में अनेक प्रतिभास विशेष सम्भव नहीं हैं जिससे कि अभेद में भी विरुद्ध धर्मों का आधार होवे ।

जैन—यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो हम आपसे प्रश्न करते हैं कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है या एक शक्ति के द्वारा युगपत् अनेक पदार्थों को ? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करते हो तब तो एक चित्रज्ञान अनेक शक्त्यात्मक हो गया, वह एक चित्रज्ञान ही विरुद्ध धर्मों का आधार रूप हो गया अर्थात् ज्ञान स्वयं एक है और शक्तियाँ अनेक हैं यही विरुद्धधर्मपना है ।

---

1 त्पादविनाश इति पा. (ब्या० प्र०) 2 स्याद्वादी । 3 आत्मनो बुद्ध्यादीनां च विरुद्धधर्माधिकरणत्वं भवतु तस्मिन् सत्यपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति दि. प्र. । 4 यथामेचकज्ञानमेचकज्ञानाकारयोर्विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदो न सिद्ध्यति । तथा आत्मबुद्ध्यादिविशेषगुणानां विरुद्धधर्माधिकरणत्वेऽपि सर्वथा भेदाभावः । दि. प्र. । 5 मेचकज्ञानतदाकारयोरिव । 6 आदिशब्देन पीतादि प्रतिभास विशेषाभ्यस्कारो गृह्यते मेचकस्य पंचवर्ण रत्नस्य ज्ञाने नीलादिप्रतिभास विशेषाणां संभवात्पंचवर्णमभेदेनं मेचकाख्यं । (ब्या०प्र०) 7 हे मेचकवर्णाः । 8 अन्यथा । 9 युगपदनेकार्थप्रकाशकैकप्रदीपवत् दि. प्र. । 10 चित्रज्ञाने दि. प्र. । 11 आत्मबुद्ध्यादीनाम् । 12 सम मीमांस्य ।

ध्यासः[1] । ततोनेकशक्तेरनेकत्वधर्माधारभूतायाः पृथक्त्वात् तस्य स्वैकत्वधर्माधारत्वान्नैकत्र विरुद्धधर्माध्यास इति चेत्कथमनेका शक्तिस्तस्येति व्यपदिश्यते ? ततो [2]भेदादर्थान्तरवत् । सम्बन्धादिति[3] [4]चेत्तर्हि तदनेकया [5]शक्त्या संबध्यमानमनेकेन रूपेण कथमनेक[6]रूपं न स्यात् ? [7]तस्याप्यनेकरूपस्य [8]ततोन्यत्वात्तदेकमे[9]वेति[10] चेत्कथं [11]तत्तस्येति व्यपदेष्टव्यम् ? सम्बन्धादिति चेत्स एव दोषोऽनिवृत्तश्च [12]पर्यनुयोगोऽनवस्थानात्[13] । यदि पुनरेकेनैव[14] रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यते [15]तदानेकविशेषणत्वविरोधः[16] । पीतग्रहणशक्त्या[17] हि येन स्वभावेन संबध्यते[18] तेनैव नीलादिग्रहणशक्त्या चेत् पीतग्राहित्वविशेषणमेव मेचकज्ञानं[19]स्यान्न नीला-

---

जैन—अनेक शक्तियाँ उस ज्ञान की हैं यह कथन कैसे बनेगा ? क्योंकि वे शक्तियाँ ज्ञान से भिन्न हैं जैसे दूसरे भिन्न पदार्थ । अर्थात् चित्रज्ञान से घट-पट आदि पदार्थ जिस प्रकार भिन्न हैं उसी प्रकार से अनेक शक्तियाँ भी भिन्न हो गईं पुनः वे शक्तियाँ एक चित्रज्ञान की हैं यह कैसे कहोगे ?

योग—शक्ति के साथ चित्रज्ञान का समवाय सम्बन्ध होने से वे शक्तियाँ ज्ञान की हैं ऐसा कहते हैं ।

जैन—तब तो वह ज्ञान अनेक शक्तियों से सम्बन्धित होने से अनेक रूप हो गया फिर अनेक रूप क्यों नहीं कहलावेगा ?

योग—वे चित्रज्ञान से सम्बन्धी अनेक रूप भी उस चित्रज्ञान से भिन्न ही हैं इसलिये वह चित्रज्ञान एक ही है ।

जैन—पुनः उस चित्रज्ञान के अनेकरूप हैं यह आप कैसे कहोगे ?

योग—उस 'अनेकरूप' को भी समवाय सम्बन्ध से ही उस ज्ञान का कहेंगे ।

---

1 एकनेकया शक्त्यानेकार्थं युगपद्ग्रहणादिति तदा एकमेव चित्रज्ञानमनेकशक्तिसमवायात्मकं सिद्धमिति स एव विरुद्धधर्माध्यासः । 2 मेचकज्ञानात् (चित्रज्ञानात्) घटादयोर्थान्तरवदनेकशक्तेर्भेदे सति तस्य चित्रज्ञानस्यानेकशक्तिरिति कथं व्यपदिश्यते ? 3 शक्त्या सह मेचकज्ञानस्य समवायसम्बन्धात्तस्येत्युच्यते इति चेत् । 4 जैन आह तर्हीति । 5 शक्त्या । (व्या० प्र०) 6 (मेचकज्ञानम् । 7 चित्रज्ञानसम्बन्धिनोनेकरूपस्य । 8 चित्रज्ञानात् । 9 चित्रज्ञानम्) । 10 यौगो वदति तत् तत् चित्रज्ञानं एकमेव । कस्मात् । ततश्चित्रज्ञानात् अनेकस्य रूपस्य भिन्नत्वादिति चेत् स्याद्वादी वदति । तस्य चित्रज्ञानस्य तत्तनेकं स्वरूपमिति कथं कथनीयं—वि. प्र. । 11 अनेकरूपं चित्रज्ञानस्येति । 12 परिहारश्च । (व्या० प्र०) 13 दोषपरिहारश्चैवस्था भावात् । (व्या० प्र०) 14 तदनेकया शक्त्या सम्बन्ध्यमानमनेकेन रूपेणैकेन रूपेण चेति विकल्पद्वयं कृत्वा आद्यपक्षेऽनेकेन रूपेणेत्यत्र तु गुणप्रधानभूतेन एकेन रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यमित्यत्र द्वितीयपक्षे दोषमाह । 15 तदा चानेक इति पा.—वि. प्र. । 16 अनेकाः शक्तय इति विशेषणत्वविरोधः । 17 सह । (व्या० प्र०) 18 मेचकज्ञानम् । 19 ज्ञानस्य न इति पा. वि. प्र. ।

विशेषणमिति पीतज्ञानमेव स्यान्न तु चित्रज्ञानम्। अथैकया शक्त्यानेकमर्थं [1]गृह्णातीति द्वितीयविकल्पः समाश्रीयते तदापि [2]सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गः। [3]पीतग्रहणशक्त्या ह्येकया यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्येत? [4]अथ न पीतग्रहणशक्त्या नीलग्रहणशक्त्या वा पीतनीलाद्यनेकार्थग्राहि चित्रज्ञानमिष्यते[5]। किं तर्हि? नीलपीतादिप्रतिनियतानेकार्थग्रहणशक्त्यैकयेति[6] मतं तदा[7] न [8]कार्यभेदः[9] कारणशक्तिभेदव्यवस्थाहेतुः[10] स्यादित्येकहेतुकं[11] विश्वस्य वैश्वरूप्यं[12] प्रसज्येत। तथा [13]चानै-

---

जैन—तब तो उपर्युक्त प्रश्नों से जो दोष दिये हैं वे ही दोष विद्यमान रहेंगे। पुनः प्रश्नों की अनवस्था ही चली आवेगी, कहीं दूर जाकर भी अवस्थान नहीं होगा।

यौग—यह ज्ञान एक रूप से ही अनेक शक्तियों से सम्बन्धित होता है।

जैन—तब तो "शक्तियां अनेक हैं" यह विशेषण विरुद्ध हो जावेगा।

यौग—ज्ञान जिस स्वभाव से पीत ग्रहण शक्ति से सम्बन्धित होता है उसी एक ही स्वभाव से नील आदि को ग्रहण करने की शक्ति से सम्बन्धित होता है।

जैन—तब तो पीतग्राही विशेषण रूप ही चित्रज्ञान होगा न कि नीलादिग्राही विशेषण रूप। इस प्रकार वह ज्ञान पीतज्ञान ही रहेगा न कि चित्रज्ञान।

आचार्य—जैनों ने यौग के प्रति दो विकल्प उठाये थे कि वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है या एक शक्ति से? प्रथमपक्ष में वह चित्रज्ञान अनेक शक्ति से सम्बन्धित होता है। पुनः दो विकल्प उठाये हैं कि वह चित्रज्ञान अनेकरूप से अनेक शक्ति से सम्बन्धित होता है या एक रूप से?

यदि अनेक रूप से सम्बन्धित है तो वह ज्ञान अनेक रूप स्वयं क्यों नहीं होगा? यदि कहें कि एक रूप से सम्बन्धित होता है तो एक रूप से अनेक शक्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषण रूप नहीं होगा। तथा च एक पीतज्ञान रूप या एक नीलज्ञान रूप ही रहेगा न कि चित्रज्ञान रूप। अब सूत्र का दूसरा पक्ष लेवें तो—

यौग—यह चित्रज्ञान एक शक्ति से ही युगपत् अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है यह दूसरा पक्ष हमें इष्ट है।

जैन—तब तो फिर सम्पूर्ण पदार्थों को ग्रहण करने का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा क्योंकि जिस प्रकार एक ज्ञान पीतग्रहण शक्ति से नीलादि पदार्थों को ग्रहण करेगा उसी प्रकार से भूत भविष्यत् वर्तमान रूप सम्पूर्ण पदार्थों को भी ग्रहण कर लेगा उसका निवारण कौन कर सकेगा?

---

1 चेत्रकज्ञानम्। 2 चेत्रकज्ञानं नीलपीतादीनेव केवलं न गृह्णाति किन्तु सर्वार्थग्राहकं स्यात्। 3 सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गं निरूपयति। 4 यौगः। 5 प्रतिज्ञा। 6 एवम्भूतया एकया शक्त्या नीलपीताद्यनेकार्थग्राहि चित्रज्ञानमिष्यते इति मतम्। 7 जैनः प्राह। 8 घटपटादिकार्यभेदः। 9 प्रतिघातः। (ब्या० प्र०) 10 कार्यभेदात्कारणशक्तिभेदो न स्यात्। 11 ब्रह्म। (ब्या० प्र०) 12 नानात्वं। (ब्या० प्र०) 13 तति—वि. प्र.।

ककारणप्रतिवर्णनं सर्वकार्योत्पत्तौ [1]विरुध्यते । [2]तदभ्युपगच्छता मेचकज्ञानमनेकार्थग्राहि नानाशक्त्यात्मकमुररीकर्तव्यम्[3] । तेन[4] च विरुद्धधर्माधिकरणेनैकेन [5]प्रकृतहेतोरनैकान्तिकत्वान्न[6] ज्ञानादीनामात्मनो भेदैकान्तसिद्धिर्येनात्मानन्तज्ञानादिरूपो न भवेत् । निराकरिष्यमाणत्वाच्चायतो[7] [8]गुणगुणिनोरत्यन्तैकान्तस्य[9], न ज्ञानादयो गुणाः सर्वथात्मनो भिन्नाः शक्याः प्रतिपादयितुं यतोऽशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तिर्व्यवतिष्ठेत ।

[मुक्तौ सयोपशमिकादिज्ञानसुखादीनामभावो न चानंतसुखादीनां]

ननु[10] च धर्माधर्मयोस्तावन्निवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तौ प्रतिपत्तव्या[11], अन्यथा[12] [13]तदनु-

---

योग—पीतग्रहण शक्ति से या नीलग्रहण शक्ति से अर्थात् किसी भी एक शक्ति से पीत नीलादि रूप अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है हम ऐसा नहीं मानते हैं ।

जैन—तो आप क्या मानते हैं ?

योग—नील, पीतादि, प्रतिनियत अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाली जो शक्ति है उस एक शक्ति से नील पीतादि अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला चित्रज्ञान है इस प्रकार मानते हैं ।

जैन—तब तो कार्य में होने वाला भेद कारण शक्ति के भेद की व्यवस्था का हेतु नहीं होगा इस प्रकार से तो यह विश्व एक हेतु से ही नाना रूप हो जावेगा । फिर सभी कार्यों की उत्पत्ति में अनेक कारणों का वर्णन करना विरुद्ध हो जावेगा । अर्थात् योगमत में जितने कार्य हैं उतने ही उनके कारण हैं इस प्रकार की मान्यता है उसमें विरोध आ जावेगा । अतः इस विरोध का परिहार करने के लिये चित्रज्ञान अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला है एवं वह अनेक शक्त्यात्मक है ऐसा स्वीकार करना ही चाहिये ।

इसलिये अनेक विरुद्ध धर्मों के आधारभूत उस एक चित्रज्ञान से "विरुद्ध धर्माधिकरणत्वात्" हेतु व्यभिचरित हो जाता है अतः ज्ञानादिक आत्मा से भिन्न हैं । इस प्रकार से भेद एकांत की सिद्धि नहीं होती है जिससे कि आत्मा अनंत ज्ञानादि रूप न होवे अर्थात् आत्मा अनंतज्ञानादि रूप सिद्ध हो जाता है और गुण-गुणी में एकांत से भिन्नपना है इस पक्ष का आगे चतुर्थ परिच्छेद में निराकरण करेंगे ।

आत्मा से ज्ञानादि गुण सर्वथा भिन्न हैं ऐसा प्रतिपादन करना शक्य नहीं है जिससे कि अशेष

---

1 यावन्ति कार्याणि तावन्ति कारणानीति योगमतं विरुध्यते । 2 तद्विरोधमंगीकुर्वता । तत्सर्वकार्यमनेककारणकमंगीकुर्वता । दि. प्र. । 3 शक्तेरेवानभ्युपगमाभ्म कश्चिद्दोष इत्याशंक्याह शक्तिरहितेन ज्ञानेन यथा नीलादिग्रहणं तथाऽतीतानागतवर्तमानानेकपदार्थग्रहणमपि केन निवार्यते इति वक्तव्यं । अथवा तच्छक्ति समर्थनं प्रमेयकमलमार्तंडे द्वितीयपरिच्छेदे प्रत्यक्षेतर भेदादिति सूत्रव्याख्यानावसरे प्रपंचतः प्रोक्तमत्रावगंतव्यं । दि. प्र. । 4 मेचकज्ञानेन । 5 विरुद्धधर्माधिकरणत्वादित्यस्य । 6 मेचकज्ञानस्य तदाकारादभेदेपि विरुद्धधर्माधिकरणत्वसिद्धेः । 7 एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्याविकारिकाभ्याख्यानावसरे चतुर्थपरिच्छेदे । 8 गुणगुण्यन्तरं इति पा. । (म्या० प्र०) 9 भेदैकान्तस्य । 10 योगः । 11 यैः । (म्या० प्र०) 12 धर्माधर्मयोरात्यंतिकी निवृत्तिर्नास्ति चेत् तदा तस्मा मुक्तेरुत्पत्तिर्नास्ति दि. प्र. । 13 तस्याः, मुक्तेः ।

पपत्तेः। [1]तन्निवृतौ च तत्फलबुद्ध[2]यादिनिवृत्तिरवश्यंभाविनो निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यनुपपत्तेः। मुक्तस्यात्मनोऽन्तःकरणसंयोगाभावे वा न [3]तत्कार्यस्य बुद्ध्यादेरुत्पत्तिः। इत्यशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तौ सिद्धयत्येवेति केचित्[4] तेष्यदृष्टहेतुकानां बुद्ध्यादीनामात्मान्तःकरणसंयोगजानां च मुक्तौ निवृत्तिं ब्रुवाणा न निवार्यन्ते[5]। [6]कर्मक्षयहेतुकयोस्तु [7]प्रशमसुखानन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्थाः प्रमाणविरोधात्[8]। ततः [9]कथञ्चिद्बुद्ध्यादिविशेषगुणानां निवृत्तिः [10]कथञ्चिदनिवृत्तिर्मुक्तौ व्यवतिष्ठते। न[11] चैवं सिद्धान्तविरोधः[12], "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इत्यनुवर्तमाने[13] "औपशमिकादिभव्य-

---

गुणों का अभाव हो जाना मुक्ति है वह कथन व्यवस्थित हो सके अर्थात् मुक्ति का यह लक्षण सिद्ध नहीं होता है।

[मुक्ति में क्षायोपशमिक ज्ञान, सुख आदि का अभाव है न कि अनंत सुखादिकों का अभाव]

योग—मुक्ति में धर्म अधर्म का तो आत्यंतिक अभाव स्वीकार करना ही चाहिये। अन्यथा मुक्ति नहीं हो सकेगी और धर्म, अधर्म की निवृत्ति हो जाने से उसके फल रूप बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और संस्कार आदि विशेष गुणों का अभाव भी अवश्यंभावी है क्योंकि निमित्त के अभाव में नैमित्तिक (कार्य) भी नहीं हो सकता है अथवा मुक्त जीव के अन्तःकरण (मन) के संयोग का अभाव हो जाने पर उस मन के संयोग से उत्पन्न होने वाले कार्य स्वरूप बुद्धि आदि की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती है इसलिये मुक्त अवस्था में अशेष विशेष गुणों का अभाव सिद्ध ही हो जाता है।

जैन—जो अदृष्ट—भाग्य रूप, धर्म, अधर्म के निमित्त से होने वाले हैं और आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न हुये हैं ऐसे बुद्धि आदिकों का मुक्ति में जो अभाव मानते हैं उसका हम खण्डन नहीं करते हैं।

आचार्य—आत्मा के मतिज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली क्षायोपशमिक बुद्धि एवं सातावेदनीय जन्य सुखादि गुणों का अभाव तो हम जैन भी मुक्तावस्था में स्वीकार करते हैं।

जो कर्म के क्षय से उत्पन्न हुये अव्याबाध सुख और अनंतज्ञानादि का मुक्ति में अभाव सिद्ध करते हैं वे स्वस्थ नहीं हैं क्योंकि वैसी मुक्ति मानने में प्रमाण से विरोध आता है। इसलिये मुक्त जीवों में कथंचित् क्षयोपशम की अपेक्षा से बुद्धि आदि विशेष गुणों का अभाव है और कथंचित् क्षायिक गुणों

---

1 धर्माधर्मसंयोगाभावे सति तत्फलबुद्ध्यादेरपि अवश्यमेवाभावः। यतो लोके कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्न दृष्टा। वि. प्र.। 2 धर्माधर्मैकारणकं बुद्ध्यादि। 3 अन्तःकरणसंयोगकार्यस्य। 4 योगाः। 5 आत्मभिर्नैयैः। 6 ज्ञानावरणादि। (व्या० प्र०) 7 मोक्षसुख। (व्या० प्र०) 8 मुक्तात्मा गुणवान् आत्मत्वादमुक्तात्मवदित्यनुमानेन विरोधात्। 9 अदृष्टजानाम् (कर्मप्रभवानाम्)। 10 कर्मक्षयहेतुजानाम्। 11 ज्ञानादीनां निवृत्यनिवृत्तिप्रकारेण। (व्या० प्र०) 12 सिद्धांतसूत्रे केषांचित् गुणानां कथंचित् निवृत्त्यनिवृत्तिप्रतिपादनाभावात् विरोध इति चेत्। (व्या० प्र०) 13 अस्य प्रकरणे इत्यर्थः।

स्यामूं [1]क्वान्यत्र[2] केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" इति सूत्रसद्भावात्। [3]तत्रौपशमिक-क्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभावानां [4]दर्शनज्ञान[5]गत्यादीनां[6] [7]भव्यत्वस्य च विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यभिसम्बन्धान्मुक्तौ [8]विशेषगुणनिवृत्तिरिष्टा, "अन्यत्र [9]केवलज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य" इति वचनादनन्तज्ञानदर्शनसिद्धत्वसम्यक्त्वानामनिवृत्तिश्चेति युक्तं तथा वचनम्।

की अपेक्षा से अनंत ज्ञानादि रूप बुद्धि आदि का अभाव नहीं है यह बात व्यवस्थित हो जाती है।

इस प्रकार से हमारे सिद्धांत में कोई विरोध नहीं आता है। "बंधहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म विप्रमोक्षोमोक्षः" इस सूत्र के प्रकरण में ही "औपशमिकादि भव्यत्वानां च" "अन्यत्र केवलसम्य-क्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" ये सूत्र पाये जाते हैं अर्थात् बंध के हेतु का अभाव और निर्जरा के द्वारा संपूर्ण कर्मों का नाश हो जाना मोक्ष है और औपशमिकादि भव्यत्वादि भावों का भी छूट जाना मोक्ष में माना है। तथा केवल सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन, सिद्धत्व को छोड़कर ये औपशमिकादि भाव नष्ट हो जाते हैं अर्थात् ये भाव मुक्ति में नहीं पाये जाते हैं।

उनमें औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक भाव रूप दर्शन, ज्ञान, गति आदि तथा भव्यत्व भाव का विप्रमोक्ष—अभाव हो जाना ही मोक्ष है। उपर्युक्त सूत्रों के साथ संबंध करने से मुक्ति में क्षायोपशमिक ज्ञानादि रूप विशेष गुणों की निवृत्ति इष्ट ही है एवं "अन्यत्र केवलज्ञानदर्शन-सिद्धत्वेभ्यः" इस सूत्र के कथन से मुक्ति में अनंत ज्ञान, दर्शन, सिद्धत्व एवं सम्यक्त्व रूप आत्मिक विशेष गुणों की निवृत्ति नहीं है अतः ये स्याद्वाद वचन युक्त ही हैं।

उन औपशमिकादि भावों में औपशमिक के सम्यक्त्व, चारित्र ये २ तथा क्षायोपशमिक के मति, श्रुतादि ४ ज्ञान, कुमति आदि ३ अज्ञान, चक्षु आदि ३ दर्शन, क्षायोपशमिक रूप ५ लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये ३ सब १८ भेद, औदयिक के ४ गति, ४ कषाय, ३ लिंग, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयत, असिद्धत्व, ६ लेश्या ये २१ भाव तथा पारिणामिक के भव्यत्व, अभव्यत्व एवं क्षायिक के दान, लाभ, भोग, उपभोग और चारित्र ये ५, इस प्रकार से इन ४८ विशेष गुणों-भावों का मुक्तावस्था में अभाव इष्ट ही है। एवं "अन्यत्र" इत्यादि सूत्र से अनंतज्ञान, दर्शन,

---

1 विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यर्थः। 2 विना। 3 औपशमिकादिषु। 4 सम्यक्त्व। औपशमिकक्षायोपशमिकक्षयोर्दर्शन-ज्ञानयोर्ग्रहणं। (व्या० प्र०) 5 (क्रमशः—औपशमिकं सम्यग्दर्शनं, क्षायोपशमिको ज्ञानोपयोगः, औदयिकी गतिर्भवान्तर-गमनरूपा) आदिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। तेन सम्यक्त्वचारित्रे इत्यादिसूत्रोक्तानां सर्वेषां ग्रहणम्। भव्यत्वं पारिणामिकम्। अनादिर्भूत्वरत्नत्रयादिभावसंपत्तिरूपकं भव्यत्वम्। (रत्नत्रयादिभावि तद्भव्यत्वं क्षीयते = विपद्यते इत्यर्थः, न तु नश्यतीति, तस्य शक्तिरूपत्वेनाविनाशात्)। 6 चतुर्गतिः। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते तेन 'सम्यक्त्वचारित्रे' इत्यादि सूत्रे (तत्त्वार्थसूत्रे) अभिहितस्य चारित्रस्याज्ञानादेः कषायादेः परिग्रहो यथाक्रमं वेदितव्यः। (व्या० प्र०) 7 यद्यपि भव्यत्वाभावात् यथा मृत्पिण्डे घटस्य भव्यत्वं वर्तते परन्तु यद्यपि संजाते घटे घटभव्यत्वाभावः भवितुं योग्यः भव्य। तथा रत्नत्रयादिभावे योग्यत्वं भव्यत्वं तदाविर्भावे भव्यत्वनिवृत्तिः। (व्या० प्र०) 8 विशेषाः अदृष्टदुःखाद्यादयः। 9 केवलसम्यक्त्वदर्शन इति पा. (व्या० प्र०)

[1]कथमेवमनन्तसुखसद्भावो मुक्तौ सिद्धयेदिति चेत् [2]सिद्धत्ववचनात्[3] सकलदुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी हि [4]भगवतः सिद्धत्वम्। सैव चामन्तप्रामसुखम्। इति सांसारिकसुखनिवृत्तिरपि मुक्तौ न विरुध्यते।

सिद्धत्व, सम्यक्त्व अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व, ये क्षायिक भाव के ४ भेद और पारिणामिक का १ जीवत्व भाव इस प्रकार इन ५ विशेष गुणों का मुक्ति में अभाव नहीं है।

इसी प्रकार से श्री भट्टाकलंक देव ने राजवार्तिक में क्षायिक भावों का वर्णन करते हुये प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन किया है। "अस्त्वनन्तदानमभयादय सन्तु अभयदानादिहेतुत्वो दानान्तरायादिक्षयवाद् भवंति सिद्धेष्वपि तत्प्रसंगः, नैषदोषः शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तदभावे तदप्रसंगः परमानंदाव्याबाधरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः केवलज्ञानरूपेण अनंतवीर्यवृत्तिवत्।"

अर्थ—प्रश्न यह होता है कि दानादि रूप अन्तराय कर्म के क्षय से प्रगट होने वाली दानादि क्षायिक लब्धियाँ हैं उनके कार्य विशेष अनंत प्राणियों को अभयदान रूप अहिंसा का उपदेश आदि अन्तराय के क्षय से केवली को कवलाहार के अभाव में भी शरीर की स्थिति में कारणभूत परम, शुभ, सूक्ष्म, दिव्य अनन्त पुद्गलों का प्रतिसमय शरीर में सम्बन्धित होना, भोगांतराय आदि के क्षय से गंधोदक, पुष्पवृष्टि, पदकमल रचना, सिंहासन, छत्र, चमर अशोक वृक्षादि विभूतियों का होना यह सब वैभव, चार घातिया कर्मों के नाश से प्रगट होने वाली नव केवल-लब्धि रूप हैं अतः ये क्षायिकभाव कर्मों के क्षय से होने के कारण सिद्धों में भी इनके कार्य होने चाहिये।

इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि दानादि लब्धियों के कार्य के लिये शरीर नाम और तीर्थंकर नाम कर्म के उदय की भी अपेक्षा है अतः सिद्धों में ये लब्धियाँ अव्याबाध अनंतसुख रूप से रहती हैं जैसे कि केवलज्ञानरूप में अनंतवीर्य रहता है। एवं किसी का यह प्रश्न भी हो जाता है कि इन उपर्युक्त तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों से सिद्धत्वभाव का ग्रहण कहाँ किया गया है?

इस पर आचार्य कहते हैं कि जैसे पौरों के पृथक् निर्देश से अंगुली का सामान्य कथन हो जाता है उसी प्रकार से सभी क्षायिक भावों में व्यापक सिद्धत्व का भी कथन उन विशेष क्षायिक भावों के कथन से ही हो गया है। अर्थात् कर्मों के सद्भाव तक-चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक औदयिक भावों का असिद्धत्व भाव पाया जाता है, किन्तु सर्वथा सम्पूर्ण कर्मों के अभाव से सिद्धत्व भाव प्रगट हो जाता है। उसी प्रकार से क्षायिक दान, लाभ, क्षायिकचारित्र आदि गुणों का सद्भाव भी सिद्धों में सिद्ध ही हो जाता है।

योग—इस प्रकार सूत्र के आधार से मुक्ति में अनन्त सुख का सद्भाव कैसे सिद्ध होगा?

जैन—सूत्र में "सिद्धत्व" वचन है उससे ही अनन्त सुख की सिद्धि होती है क्योंकि भगवान् के

---

1 यौगः। 2 जैनः। 3 सिद्धत्वमनेनानंतवीर्यसुखे च गृह्यते। (ब्या० प्र०) 4 भगवतः इति पा.। परमार्थतः। (ब्या० प्र०)

[वेदांतिविमतस्य मोक्षस्य निराकरणं]

[1]अनन्तसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष [2]इत्यपरः [3]सोपि युक्त्यागमाभ्यां बाध्यते। [4]तदनन्तं सुखं मुक्तौ पुंसः संवेद्यस्वभावमसंवेद्यस्वभावं[5] वा ? संवेद्यं चेत्तत्संवेदनस्यानन्तस्य [6]सिद्धिः, अन्ययानन्तस्य सुखस्य [7]स्वयं [8]संवेद्यत्वविरोधात्। यदि पुनरसंवेद्यमेव तत्तदा कथं सुखं नाम ? [9]सातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीतेः। स्यान्मतं ते[10], अभ्युपगम्यते एवानन्तसुखसंवेदनं परमात्मनः। केवलं बाह्यार्थानां ज्ञानं नोपेयते[11] [12]तस्येति, तदप्येवं [13]सम्प्रधार्यम्—किं बाह्यार्थाभावाद्बाह्यार्थसंवेदनाभावो मुक्तस्येन्द्रियापायाद्वा ? प्रथमपक्षे सुखस्यापि संवेदनं मुक्तस्य न स्यात्, तस्यापि बाह्यार्थवदभावात्[14]। पुरुषाद्वैतवादे

सम्पूर्ण दुःखों का आत्यंतिक अभाव ही गया है वही 'सिद्धत्व' गुण है और वह सम्पूर्णतया दुःखों का अभाव ही अनन्त प्रशम सुख है। इसलिये मुक्ति में सांसारिक सुखों का अभाव है इस कथन में विरोध नहीं आता है।

[वेदांती के द्वारा मान्य मुक्ति का खण्डन]

वेदांती—मुक्त जीव के अनंतसुख ही है ज्ञानादिक नहीं हैं इसलिये आनन्द रूप एक स्वभाव की अभिव्यक्ति हो जाना ही मोक्ष है।

जैन—आपका यह कथन भी युक्ति और आगम से बाधित है। मुक्त जीव के अनन्तसुख है वह संवेद्य (अनुभव करने योग्य) स्वभाव वाला है या असंवेद्य स्वभाव वाला है ? अर्थात् ज्ञान के द्वारा जानने योग्य ज्ञेय स्वभाव वाला है या अज्ञेय स्वभाव वाला है ? यदि आप कहें कि वह सुख ज्ञेय स्वभाव वाला है तो अनंतज्ञान की सिद्धि हो जाती है अन्यथा स्वयं आत्मा के द्वारा अनंत सुख ज्ञेय रूप नहीं हो सकेगा। अर्थात् ज्ञान का विषयभूत सुख अनन्त है और ज्ञान उस अनंत सुख को वेदन करे—जाने इसलिये वह भी अनन्त सिद्ध हो जाता है अन्यथा अनन्त सुखों का संवेदन—ज्ञान नहीं बनेगा।

यदि पुनः वह सुख असंवेद्य (अज्ञेय) स्वभाव वाला है तब तो उसे 'सुख' यह नाम भी कैसे बनेगा ? क्योंकि साता के संवेदन को ही सुख कहते हैं।

वेदांती—परमात्मा के अनन्तसुख का संवेदन रूपज्ञान तो हम स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके केवल बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं मानते हैं।

---

1 अतः परं वेदान्तवादी प्राह। 2 वेदांतवादी भास्करवादी। (ब्या० प्र०) 3 तमाह जैनः। सोपि मोक्षेऽनंतसुखवादी विचार्यमाणः युक्त्यागमेन च विरुद्ध्यते इ. प्र.। 4 तदनंतं इति पा.। (ब्या० प्र०) 5 ज्ञेय स्वभावम्। स्वसंवेद्यस्वभावमिति पाठान्तरम्। 6 (विषयरूपस्य सुखस्यानन्तस्य विषयिरूपस्तद्ग्राहकस्याप्यानन्तस्यम्—अन्यथा तत्संवेदनानुपपत्तेः)। 7 आत्मना। 8 सुखस्य संवेद्यस्येति पा.। स्वसंवेद्य इति पा.। अनन्तस्य ज्ञातस्यानंतस्य सिद्धेरभावे अनंतस्य सुखस्य संवेद्यत्वं विरुद्ध्यते। (ब्या० प्र०) 9 रूप। यतः। (ब्या० प्र०) 10 वेदान्तवादिनः। 11 अभ्युपगम्यते। 12 परमात्मनः। 13 (जैनः) विचार्यम् (वक्ष्यमाणप्रकारेण)। 14 यदि सुखं तवेव परमब्रह्मैव तदा संवेद्यसंवेदकभावो न स्यादेकस्यानंतस्य संवेद्यसंवेदकत्वानुपपत्तेरित्यभिप्रायः। (ब्या० प्र०)

हि बाह्यार्थाभावो यथाभ्युपगन्तव्यस्तथा सुखाभावोपि, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात्। अथ द्वैतवादावलम्बिनां[1] सतोपि [2]बाह्यार्थस्येन्द्रियापायादसंवेदनं मुक्तस्येति मतं तदप्यसंगतं, [3]तत एव सुखसंवेदनाभावप्रसङ्गात्। [4]अथान्तःकरणाभावेपि मुक्तस्यातीन्द्रियसंवेदनेन सुखसंवेदनमिष्यते तर्हि बाह्यार्थसंवेदनमस्तु तस्यातीन्द्रियज्ञानेनेवेति मन्यतां, सर्वथा [5]विशेषाभावात्।

[सौगताभिमतमोक्षस्य निराकरणं]

[6]येऽपि [7]निरास्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्मोक्ष[8] इत्याचक्षते तेषामपि मोक्षतत्त्वं [9]युक्त्या-

---

जैन—तब आपको यह विचार करना होगा कि बाह्य पदार्थों का अभाव होने से मुक्त जीव के बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है या मुक्त जीव के इन्द्रियों के न होने से बाह्य पदार्थ के ज्ञान का अभाव है? यदि आप प्रथम पक्ष स्वीकार करें तो मुक्त जीव के सुख का भी ज्ञान नहीं होगा क्योंकि बाह्य पदार्थ के समान उसका भी अभाव है। पुरुषाद्वैतवादियों के यहाँ जैसे बाह्य पदार्थों का अभाव माना है वैसे ही सुख का भी अभाव मानना है अन्यथा द्वैत का प्रसंग आता है अर्थात् पुरुष और सुख दो वस्तु होने से अद्वैत नहीं बन सकेगा।

द्वैतवादी भाट्ट—बाह्य पदार्थ के होते हुये भी मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है अतः मुक्त जीव के ज्ञान नहीं होता है।

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है क्योंकि इन्द्रिय के अभाव से ही सुख संवेदन—सुख के ज्ञान का भी अभाव हो जावेगा। यदि कोई कहें कि मुक्त जीव के अंतःकरण का अभाव होने पर भी अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सुख का संवेदन हम स्वीकार करते हैं तब तो पुनः मुक्त जीव के अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही बाह्य पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं मान लेते क्योंकि दोनों में सर्वथा कोई अंतर नहीं है।

भावार्थ—वेदांती लोग अपनी आत्मा को, भगवान् को और सारे जगत् को एक परमब्रह्म रूप मानते हैं उनका कहना है कि जो कुछ चर-अचर, चेतन-अचेतन पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे सब उस परमब्रह्म की ही पर्यायें हैं अतः इनके सिद्धांत में मोक्ष की कल्पना तो अघटित ही है फिर भी वे लोग कहते हैं कि एक ब्रह्म स्वरूप आत्मा में लीन हो जाना ही मोक्ष है और उस मोक्ष में केवल आनंद ही आनंद रह जाता है। ये लोग मोक्ष में ज्ञान को भी नहीं मानते हैं।

इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि भाई! यदि आप मोक्ष में ज्ञान को नहीं मानोगे तो अनंत सुख का अनुभव भी कैसे हो सकेगा? अतः जैसे आप मोक्ष में अनंतसुख का अस्तित्व मानते हैं वैसे ही अनंतज्ञान का भी अस्तित्व मान लीजिये कोई बाधा नहीं है।

---

1 भाट्टानाम्। 2 मतः। (ब्या० प्र०) 3 इन्द्रियापायादेव। 4 परः। 5 सुखसंवेदनबाह्यार्थसंवेदनयोः। 6 सौगताः। 7 वीतरागेणास्रवसन्तानोत्पत्तिः। 8 जीवन्मुक्तः। (ब्या० प्र०) 9 किन्तर्हि तत्त्वतोऽभिलषितसाधनं संतानोच्छेदानुपपत्तिकथनं च मुक्तस्य बाधनं अवश्यमेकांताभ्युपगमे मोक्षाभ्युपगमो न घटत एवेति समर्थनमभ्युपायेन बाधनं—दि. प्र.।

म्युपायेन[1] च बाध्यते [2]प्रदीपनिर्वाणोपमशान्तनिर्वाणवत्[3] चित्तानां[4] तत्त्वतोऽन्वितत्व[5]साधनात्[6] सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च[7] निरन्वयक्षणक्षयैकान्ताभ्युपायेन[8] च मोक्षाभ्युपगमबाधनस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

[सांख्यादिभिरन्यैर्मोक्षकारणतत्त्वमपि निराक्रियते जैनाचार्यैः]

[9]तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि कपिलादिभिर्मीषितं न्यायागमविरुद्धम्।

[सौगत द्वारा अभिमत मोक्ष का खंडन]

सौगत—आस्रव रहित चित्तसंतान की उत्पत्ति का नाम ही मोक्ष है।

जैन—आपका भी यह मोक्ष तत्त्व युक्ति और आगम से बाधित है प्रदीप-निर्वाणोपम शांत निर्वाण के समान है क्योंकि वास्तव में चित्त क्षण क्षणों में अन्वय पाया जाता है। एवं संतानों का सर्वथा उच्छेद भी नहीं हो सकता है तथा च निरन्वय क्षण क्षय को एकांत से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि भी बाधित ही है। इस मत का खंडन आगे हम विशेष रूप से करेंगे। अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है वैसे ही निर्वाण के बाद जीव के ज्ञान का अस्तित्व कुछ भी नहीं रहता है। इस मान्यता में अनेकों बाधायें आती हैं।

अब जिस प्रकार से अन्य के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में बाधायें आती हैं उसी प्रकार से मोक्ष के कारणभूत तत्त्वों में भी बाधायें आती हैं इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

[सांख्यादि अन्य वादीजनों के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व भी बाधित ही हैं]

कपिल आदि के द्वारा कहे गये मोक्ष के कारण तत्त्व भी न्याय-युक्ति और आगम से विरुद्ध हो हैं। अर्थात् यहाँ तक अन्य लोगों के द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में दूषण दिखाकर है अब मोक्ष के उपायभूत तत्त्वों में जो अन्य लोगों की भिन्न-भिन्न मान्यतायें हैं उन पर विचार किया जा रहा है।

---

1 आगमेन। 2 प्रदीपस्य निर्वाणोपमं तस्य शून्यात्मनिर्वाणं च। यथा प्रदीपनिर्वाणं युक्त्यागमेन च बाध्यते। 3 सकलचित्तसंतानोच्छित्तिवत्। परमसुखवत्। (ब्या० प्र०) 4 ज्ञानानां सान्वयत्वेन साधनात्। 5 ह्यन्वयसम्बन्धितः। (ब्या० प्र०) 6 द्वितीयपरिच्छेदे सन्तानः समुदायश्चेति कारिकायां वक्ष्यमाणत्वात्। 7 मानसानां परमार्थतोऽनुपचरितं साध्यते मानसानां अन्तानोच्छेदश्च न संभवतीति हेतुद्वयात्। 8 यतः। (ब्या०प्र०) 9 तथा मोक्षतत्त्वम्।

सांख्यादि के द्वारा मान्य संसार मोक्ष के खंडन का सारांश

सांख्य कहता है कि प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाने पर चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है। सर्वज्ञपना प्रधान का स्वरूप है आत्मा का नहीं क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं वे प्रधान के ही स्वरूप हैं, उत्पत्तिमान् होने से घट के समान। एवं आत्मा सकल विशेषों से रहित होने पर भी वस्तु है तथा चेतन आत्मा के संसर्ग से ही वे ज्ञानादि चेतन के समान दीखते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि सांख्य का यह कथन असंभव है हमारे यहाँ तो अनंत ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य विशेष में अवस्थान को ही मोक्ष कहा है क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं जैसे चैतन्य। ज्ञान को अचेतन एवं प्रधान का धर्म आप किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं कर सकते। यदि "उत्पत्तिमत्वात्" हेतु से प्रधान का कहो तो भी ठीक नहीं है। यद्यपि ज्ञान सामान्य की अपेक्षा उत्पत्तिमान् नहीं है फिर भी विशेष श्रुत एवं केवलज्ञान आदि की अपेक्षा उत्पत्तिमान् है। ज्ञानादि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी चेतन रूप प्रसिद्ध है। तथा आत्मा सामान्य विशेषात्मक होने से ही वस्तु है न कि विशेषों से रहित होने से। विशेष रहित सामान्य खपुष्पवत् असत् ही है अतः आत्मा ही सर्वज्ञ होता है अचेतन प्रधान नहीं होता है।

वैशेषिक कहता है कि बुद्धि, सुख, दुःखादि आत्मा के विशेष गुणों का उच्छेद होकर के सामान्य आत्मा में अवस्थान हो जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि गुण आत्मा के स्वभाव नहीं हैं आत्मा से भिन्न हैं कारण उनमें उत्पाद, व्यय पाया जाता है। एवं मुक्ति में धर्म, अधर्म का तो आत्यंतिक अभाव है अन्यथा मुक्ति ही नहीं होगी तथा उनके फलस्वरूप सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि गुणों का अभाव ही हो जाता है।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि ज्ञानादि को सर्वथा आत्मा से भिन्न मानना ठीक नहीं है क्योंकि ये आत्मा के ही स्वभाव हैं। पुण्य पापादि के निमित्त से होने वाले सांसारिक सुख एवं क्षयोपशम ज्ञान का अभाव मानना तो मुक्ति में युक्ति युक्त है, किंतु वेदनीय एवं ज्ञानावरणादि कर्मों के सर्वथा अभाव से आत्मा में प्रगट होने वाले अव्याबाध सुख एवं अनंतज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव मानना कथमपि संभव नहीं है। यदि ऐसा मानोगे तो ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अपने ही सुखादि का नाश करने के लिये मुक्ति के लिये अनुष्ठान आदि करे अर्थात् कोई नहीं करेगा। अतएव जीव के औपशमिकादि पाँच भावों के अन्तर्गत औपशमिक के २ भाव, क्षायोपशमिक के १८ भाव, औदयिक के २१ भाव, पारिणामिक के भव्यत्व, अभव्यत्व ये दो भाव तथा क्षायिक के दान, लाभ, भोग, उपभोग और क्षायिकचारित्र ये पाँच भाव मिलकर ४८ भाव रूप विशेष गुणों का मुक्ति में सर्वथा उच्छेद है किंतु ४ क्षायिक

भाव । जीवत्व रूप पारिणामिक भाव से ५ भाव मुक्ति में पाये ही जाते हैं। कहा भी है—

"अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः" इत्यादि। इस प्रकार संसार एवं मोक्ष की सिद्धि हो गई।

वेदांती तो मुक्त जीव के अनंत सुख संवेदन रूप ज्ञान मानते हैं एवं बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं मानते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है इसलिये बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है या बाह्य पदार्थ का अभाव कहो तो सुख का भी अभाव हो जावेगा कारण कि आप पुरुषाद्वैत-वादियों के यहाँ सुख भी बाह्य पदार्थ के समान घटित नहीं होता है यदि मानों तो पुरुष और सुख से द्वैत हो जावेगा। यदि इन्द्रियों का अभाव कहो तो बिना इन्द्रिय के सुख का वेदन कैसे होगा ? यदि अतीन्द्रिय से मानों तो बाह्य पदार्थों का ज्ञान मानना होगा।

तथैव बौद्ध ने आस्रव रहित चित्तसंतति की उत्पत्ति को ही मोक्ष माना है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है तथा निरन्वय क्षण क्षय को एकांत से स्वीकार करने पर मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है।

[सांख्याभिमतमोक्षकारणतत्त्वस्य खण्डनं]

[1]तद्विज्ञानमात्रं न परनिःश्रेयसकारणं, [2]प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत्[3]। न तावद्धेतोरसिद्धो हेतुः, सर्वज्ञानामपि कपिलादीनां स्वयं प्रकर्षपर्यन्तावस्थाप्राप्तस्यापि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानोपगमात्[4]। साक्षात्सकलार्थज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं[5] शरीराभावे कुतोयमाप्तस्योपदेशः [6]प्रवर्तते ? अशरीरस्याप्तस्योपदेशकरणविरोधादाकाशवत्। [7]तस्यानुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्योपदेश इति चेन्न[8], तस्याप्रमाणत्वशङ्काऽनिवृत्तेरन्या[9]ज्ञानपुरुषोपदेशवत्। यदि पुनः शरीरान्तरानुत्पत्तिर्निश्रेयसं न गृहीतशरीरनिवृत्तिः। [10]तस्य साक्षात्सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, न तु[11] गृहीतशरीरनिवृत्तेः[12], फलोपभोगात्तदुपगमात्[13]।

[सांख्य के द्वारा मान्य मोक्ष के कारण का खण्डन]

सांख्य—विज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान मात्र ही परनिःश्रेयस का कारण है। ऐसा सांख्यों का कहना है। ये लोग चारित्र को बिल्कुल ही मानने को तैयार नहीं हैं।

जैन—विज्ञान मात्र ही परनिःश्रेयस (मोक्ष) का कारण नहीं है क्योंकि आत्मा में सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाले ज्ञान का प्रकर्ष पर्यंत अवस्था—चरम सीमा के हो जाने पर भी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है। जैसे मिथ्याज्ञान के रहने पर भी शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान् के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो चुकी है फिर भी अघातिया कर्मों के भेद रहने से परमौदारिक शरीर पाया जाता है। यह हमारा हेतु असिद्ध भी नहीं है। आपके यहाँ भी ज्ञान के प्रकर्ष पर्यंत अवस्था को प्राप्त हो जाने पर भी कपिल आदि सर्वज्ञों का शरीर के साथ अवस्थान माना है। यदि सम्पूर्ण पदार्थों को जानने में समर्थ ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर ही शरीर का अभाव हो जावे तो पुनः आप्त का यहाँ उपदेश देना कैसे बनेगा ? क्योंकि अशरीरी आप्त को उपदेश करने का विरोध है जैसे कि अशरीरी आकाश उपदेश नहीं दे सकता है।

सांख्य—जिनके निखिल पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसे आप्त का उपदेश देना बन जावेगा।

जैन—नहीं, जिसके सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है उसके उपदेश में अप्रमाणत्व की शंका दूर नहीं हो सकेगी अज्ञानी पुरुष के उपदेश के समान।

---

1 मात्रशब्देन दर्शनचारित्रयोर्निराशः। 2 सकलार्थसाक्षात्कारितावस्थायाम्। 3 विज्ञानमात्रस्य प्रवर्तमानत्वात्। 4 कापिलादिभिः। 5 ज्ञानोत्पन्नार्थज्ञप्तेरिति पा.टि.प्र.। 6 प्रवर्तेत इति पा.। (ब्या० प्र०) 7 सांख्यः आह। आप्तस्य 8 जैन आह।—अनुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्य पुंस उपदेशस्यासारभूतत्वसंभवात्। 9 कपिलादेरज्ञपुरुष। (ब्या० प्र०) 10 शरीरान्तरानुत्पत्तिर्निश्रेयसस्य। निःश्रेयसस्य। 11 न च इति पा.। (ब्या० प्र०) 12 (गृहीतशरीरनिवृत्तौ न सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, गृहीतशरीरनिवृत्तौ फलोपभोगस्य कारकत्वात्)। 13 (गृहीतशरीरनिवृत्तिः फलोपगमादेव जन्मतीत्युपगमात्सांख्यैः।

ततः पूर्वोपात्तशरीरेण सहावतिष्ठमानात्तत्त्व[1]ज्ञानादाप्तस्योपदेशो युक्त इति मतं[2] तदा हेतुः सिद्धोभ्युपगतस्तावत्[3]। स च परनिःश्रेयसाऽकारणत्वं तत्त्वज्ञानस्य साध्यत्येव, भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तेः परनिःश्रेयसत्वात्[4], [5]तस्य च [6]सद्भावेप्यभावात्। [7]फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं[8] तत्त्वज्ञानं परनिःश्रेयसकारणमित्यप्यसमालोचिताभिधानं[9] फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौ[10]पक्रमिकविकल्पानतिक्रमात्[11]। तस्यौ[12]पक्रमिकत्वे कुतस्तदु[13] पक्रमोन्यत्र[14]तपोतिशयात्[15]। इति तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकं परनिःश्रेयसमायातम्[16]। [17]सम्यक्त्वविशेषादुपात्ता-

---

सांख्य—नये शरीर की उत्पत्ति का न होना ही मोक्ष है न कि ग्रहण किये हुये शरीर का भी छूट जाना। क्योंकि मोक्ष साक्षात् सकल पदार्थों के ज्ञान रूप कारण से है न कि गृहीत शरीर की निवृत्ति (अभाव) होने से। अर्थात् गृहीत शरीर का अभाव होने में सकल पदार्थों का तत्त्वज्ञान कारण नहीं है, प्रत्युत गृहीत शरीर का अभाव फल के उपभोग से होता है। इसलिये पूर्वोपात्त शरीर के साथ अवस्थान होने से तत्त्वज्ञान से आप्त का उपदेश युक्त ही है।

जैन—तब तो हमारा हेतु सिद्ध ही है क्योंकि ज्ञान की प्रकर्ष पर्यंत अवस्था (केवलज्ञान) के हो जाने पर भी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान पाया जाता है। इसलिये परनिःश्रेयस (मोक्ष) के लिये तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण नहीं है यह बात सिद्ध हो जाती है क्योंकि भावीशरीर के समान उपात्त गृहीत शरीर का भी अभाव होने से ही "पर निःश्रेयस" होता है अतः तत्त्वज्ञान पूर्ण हो जाने पर भी मोक्ष का अभाव देखा जाता है।

सांख्य—शुभ अशुभ रूप कर्म फल का उपभोग (अनुभव) कर लेने के बाद उपात्त कर्मों का क्षय हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है वह मोक्ष का कारण है।

जैन—आपका यह कथन भी विचार शून्य ही है। फलोपभोग के दो भेद हैं—१. औपक्रमिक २. अनौपक्रमिक और फलोपभोग इन दोनों भेदों का उल्लंघन नहीं करता है। यदि फल का अनुभवन औपक्रमिक-अविपाक निर्जरा से होता है तो तपोतिशय को छोड़कर वह उपक्रम रूप अविपाक निर्जरा

---

1 मानस्य तत्त्व इति पा. वि. प्र.। 2 सांख्यस्य। 3 अस्यायिः स्याद्वादिभिरङ्गीकृतः प्रकर्षपर्यन्तावस्थावाप्यात्मनि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानादित्ययं हेतुः। 4 यथा भाविनशरीरस्याभावः परनिःश्रेयसत्वं घटते। तथा गृहीतशरीरस्याप्यभावः। कस्मात्तस्य परनिःश्रेयसस्य तद्भावे तत्त्वज्ञानसद्भावेऽपि इति असंभवात्। वि. प्र.। 5 परनिःश्रेयसत्वस्य। 6 तत्त्वज्ञानभावेपि। 7 (सांख्यः) फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवनं तेन कृतो योसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्यापेक्षा यस्य तत्तथोक्तम्। 8 फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवनं तेन क्षयो योऽसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्यापेक्षा यस्य तत्तथोक्तं। (व्या० प्र०) 9 जैनः प्राह। 10 अविपाक निर्जरा। सविपाकानिर्जरा। (व्या० प्र०) 11 अनौपक्रमिकफलोपभोगस्य परनिःश्रेयसकारणत्वेन परैरभ्युपगमादेवात्र तस्य परिहारो नोच्यते—वि. प्र.। 12 फलोपभोगस्य। 13 तस्य फलोपभोगस्याधिकतपसः सकाशात् अन्यत्रोपक्रमः कुतः न कुतोऽपि। एतावता तपसा यो विपाकः स सकाम इत्यायातं—वि. प्र.। 14 बिना। 15 (तपोतिशयस्याकामनिर्जराकारणत्वमुक्तम्)। 16 न तु तत्त्वज्ञानमात्रहेतुकम्। 17 तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकस्यापीह मोक्षस्य विपरीभूततत्त्वज्ञानमेव हेतुरित्यदोष इति सांख्यः।

शेषकर्मफलोपभोगोपगमाद्दोष[1] इति चेत् कः[2] पुनरसौ समाधिविशेषः ? स्थिरीभूतं ज्ञानमेव स इति चेत् [3]तदुत्पत्तौ परनिःश्रेयसस्य भावे स [4]एवाप्तस्योपदेशाभावः[5] । [6]सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यावस्था[7]यामसमाधिरूपस्योपक्रमे युक्तोयं योगिनस्तत्त्वोपदेश इति [8]चेन्न, सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यविरोधासिद्धेः[9] कदाचित्क्वचनानुपपत्तेः, [10]अक्रमत्वाद्धि[11]यान्वरसंचरणाभावात्, अन्यथा[12] सकलतत्त्वज्ञानास्थैर्यसंभवादस्मदादिज्ञानवत् । अथ[13] तत्त्वोपदेशावसायां योगिनोपि ज्ञानं विनेयजनप्रतिबोधाय व्याप्रियमाणमस्थिरमसमाधिरूपं एकान्तिवृत्तसकलव्यापारं स्थिरं समाधिव्यपदेशमास्कन्द[14]तीत्युच्यते तर्हि[15] समाधिस्वरूपमिति वाक्यमात्रं भिद्यते, नार्थः[16] ।

और अन्य किस कारण से हो सकती है अर्थात् तपश्चर्या आदि ही औपक्रमिक निर्जरा में कारण है इसलिये तपश्चर्या के अतिशय विशेष से होने वाला तत्त्वज्ञान ही मोक्ष के लिये कारण है यह बात सिद्ध हो गई।

सांख्य—उपात्त-उपार्जित किये गये पूर्व के अनेक कर्मों के फल का उपभोग समाधि विशेष से हो जाता है ऐसा हमने माना है इसमें कोई दोष नहीं आता है।

जैन—यह समाधि विशेष क्या है ?

सांख्य—स्थिरीभूत ज्ञान का ही नाम समाधि विशेष है।

जैन—तब तो स्थिरीभूत ज्ञान के उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावेगा। पुनः आप्त के उपदेश का अभाव ही हो जावेगा।

सांख्य—अस्थैर्य अवस्था में सकल पदार्थों का तत्त्वज्ञान असमाधि रूप है अतः योगी का तत्त्वोपदेश करना युक्त ही है। अर्थात् जब संपूर्ण तत्त्वज्ञान अस्थिर रहता है तब असमाधि रूप अवस्था है उस समय योगी उपदेश देते हैं।

जैन—सकल तत्त्वज्ञान में अस्थिर अवस्था का विरोध है अर्थात् पूर्णज्ञान में चलायमान अवस्था कदाचित् भी नहीं हो सकती है क्योंकि सकलज्ञान युगपत् संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है अतः क्रम से पृथक्-पृथक् विषय में संचरण करने का अभाव है अन्यथा सकल तत्त्वों का ज्ञान होना असंभव हो जावेगा हम लोगों के ज्ञान के समान।

---

1 समाधिविशेषस्य स्थिरीभूतज्ञानत्वेन तत्त्वज्ञानसद्भावेनाविनाभूतत्वात्सकलकर्मक्षयहेतुकत्वाभावादोष इति भावः। दि. प्र.। 2 स्वाह्वायी। 3 स्थिरीभूतज्ञानोत्पत्तौ सत्यां स परनिःश्रेयसलाभः तस्मिन् सति स एव पूर्वोक्तः आप्तस्योपदेशाभावः संभवति—दि. प्र.। 4 परनिःश्रेयसे शरीराभावात्तदभावस्याप्तस्योपदेशकरणविरोधादाकाशवत् मानिशरीरसंबंधोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तिः परनिःश्रेयसमिति वचनात्। (ब्या० प्र०) 5 सकलतत्त्वज्ञानस्य विषयांतरसंचरणाभावेनास्थैर्याभावादेव परनिःश्रेयसप्राप्तिसंभवात्तदुपदेशाभाव इति भावः—दि. प्र.। 6 सांख्यः। 7 चलावस्थायाम्। 8 जैनः। 9 अस्थैर्यविरोधं दर्शयति। 10 चलनानुपपत्तिः कुतः ? 11 क्रमः कुतः ? 12 विषयांतरसंचरणे सति। 13 सांख्यः। 14 स्वीकरोति। (ब्या० प्र०) 15 जैनः। 16 अर्थोऽभिप्रायस्तु न भिद्यते।

तत्त्वज्ञानादशेषाज्ञाननिवृत्ति[1]फलादन्यस्य[2] परमोपेक्षालक्षणस्वभावस्य [3]समुच्छिन्नक्रिया-[4]प्रतिपातिपरमशुक्लध्यानस्य तपोतिशयस्य समाधिव्यपदेशकरणात्। तथा चारित्रसहितं तत्त्वज्ञानमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं [5]परनिःश्रेयसमनिच्छतामपि कपिलादीनामग्रे[6] व्यवस्थितम्। ततो न्यायविरुद्धं सर्वथैकान्तवादिनां ज्ञानमेव मोक्षकारणतत्त्वम्। स्वागमविरुद्धं च, सर्वेषामागमे [7]प्रव्रज्याऽनुष्ठानस्य[8] सकलदोषोपरमस्य[9] च बाह्यस्याभ्यन्तरस्य च चारित्रस्य मोक्षकारणत्वश्रवणात्।

सांख्य—योगियों का ज्ञान तत्त्वोपदेश के समय शिष्य जनों को प्रतिबोधन करने के लिये प्रवृत्त होता हुआ अस्थिर और असमाधि रूप है। पश्चात् वही ज्ञान सकल व्यापार से निवृत्त (रहित) होकर स्थिर समाधि नाम को प्राप्त कर लेता है।

जैन—तब तो इस कथन से समाधि और चारित्र इनमें नाम मात्र का ही भेद रह जाता है अर्थ से भेद कुछ भी नहीं दीखता है। अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति है फल जिसका ऐसे तत्त्वज्ञान से भिन्न परमोपेक्षा लक्षण स्वभाव वाला समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति नामक परम शुक्लध्यान जो कि तपश्चर्या का अतिशय रूप है उसी को तुमने समाधि नाम दिया है। तथा जो चारित्र सहित है और तत्त्वार्थ श्रद्धान जिसमें अंतर्गर्भित है ऐसा तत्त्वज्ञान ही परनिःश्रेयस (मोक्ष) का कारण है इस प्रकार को कपिल आदि स्वीकार नहीं करते हैं फिर भी उनके सम्मुख सम्यग्दर्शन और चारित्र व्यवस्थित हो ही जाते हैं।

इसलिये ज्ञान ही मोक्ष के लिये कारणभूत तत्त्व है इस प्रकार सर्वथा एकांतवादियों का कथन न्याय से विरुद्ध है और उनके आगम से भी विरुद्ध है क्योंकि सभी के आगम में दीक्षा आदि बाह्य चारित्र के अनुष्ठान और सकल दोषों की उपरति रूप आभ्यंतर चारित्र मोक्ष के कारण हैं ऐसा सुना जाता है।

विशेषार्थ—जैन सिद्धांत में तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है, जिसे सर्वज्ञज्ञान अथवा क्षायिकज्ञान भी कहते हैं। यह ज्ञान की पूर्णावस्था है। यहाँ नव केवललब्धि के प्रकट हो जाने से 'परमात्मा' यह संज्ञा आ जाती है। यहाँ पर शील के १८ हजार भेद पूर्ण हो जाते हैं, किन्तु ८४ लाख उत्तरगुणों की पूर्णता १४ वें गुणस्थान के अंत में होती है और रत्नत्रय की पूर्णता भी वहीं पर होती है ऐसा श्लोकवार्तिक में स्पष्ट किया है।

समयसार ग्रन्थ में ज्ञान मात्र से बंध का निरोध माना है वहाँ पर भी श्री जयसेन स्वामी ने टीका में स्पष्ट किया है यथा—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणंति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७७॥

---

1 अतः। (ब्या० प्र०) 2 भिन्नस्य। 3 नष्टव्यापारादविनाशीति स्वरूपं क्षीणकषायध्यानस्य। 4 व्यापार। अविनाशि। (ब्या० प्र०) 5 निःश्रेयसकारणम् इति पा.। (ब्या० प्र०) 6 कपिलादीनां सम्मुखम्। 7 अतएवाचितः। (ब्या० प्र०) 8 बाह्यचारित्ररूपस्य। 9 आभ्यन्तरचारित्ररूपस्य।

[अन्यैः कल्पितं संसारतत्त्वमपि सर्वथा विरुद्धमेव]

तथा संसारतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम्। तथा हि। नास्ति नित्यत्वाद्येकान्तो [1]कस्यचित्संसारः, [2]विक्रियानुपलब्धेः। इति न्यायविरोधः [3] समर्थयिष्यते[3] तदागमविरोधश्च, [4]स्वयं पुरुषस्य संसाराभाववचनाद्, [5]गुणानां संसारोपपत्तेः [6]परेषां संवृत्त्या[7] संसारव्यवस्थितेः।

तात्पर्यवृत्ति—क्रोधाद्यास्रवाणां संबंधि कालुष्यरूपमशुचित्वं जडत्वरूपं विपरीतभावं व्याकुलत्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा सर्वेभ्यो निजात्मनः संबंधि निर्मलात्मानुभूतिरूपशुचित्वं सहजशुद्धावबोधकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानंतसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानानंतरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामायिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्तिं करोति जीवः। इति ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमत प्रवेशः। किं च यस्यात्मास्रवयोः सम्बन्धि भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न वेत्ति, निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकपदभेदवत्वेन वीतरागचारित्रं वीतरागसम्यक्त्वं च सम्यक् इति सम्यग्ज्ञानादेव बंधनिषेधसिद्धिः। यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः।

अर्थ—क्रोधादि आस्रवों के कलुषता रूप अशुचिपने को, जड़ता रूप विपरीतपने को, और व्याकुलता लक्षण दुःख के कारणपने को जानकर एवं अपने आत्मा के निर्मल आत्मानुभूति रूप शुचिपने को सहज शुद्ध अवबोध केवलज्ञान रूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनंतसुख रूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसंवेदन ज्ञान को प्राप्त होने के अनन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में एकाग्रता रूप परमसामायिक में स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति करता है इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है। यहाँ सांख्य मत जैसा ज्ञानमात्र से बंध का निरोध नहीं माना गया है। (किन्तु वैराग्यपूर्वक ज्ञान को ज्ञान कहा गया है और उससे बंध का निरोध होता है।) किं च हम तुमसे पूछते हैं कि आत्मा और आस्रव संबंधी जो भेद ज्ञान है वह रागादि आस्रवों से निवृत्त है या नहीं? यदि कहो कि निवृत्त है तब तो उस भेदज्ञान के पानक (पीने की वस्तु ठंडाई इत्यादि) के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र भी और वीतराग सम्यक्त्व भी है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है, और यदि वह भेद ज्ञान रागादि से निवृत्त नहीं है तो वह सम्यग्भेदज्ञान ही नहीं है।

[अन्यों के द्वारा मान्य संसार तत्त्व सर्वथा विरुद्ध ही है]

उसी प्रकार अन्यमतावलंबियों का संसारतत्त्व भी न्यायागम से विरुद्ध है। तथाहि "नित्य

1 आत्मनः। (ब्या० प्र०) 2 (वैशे मते नित्य एकस्वभावे तेषां मते आत्मनो भवान्तरावाप्तिरूपः संसारो न संभवति आत्मनो निरवयवेन विकारानुपपत्तेः)। 3 (अग्रेऽस्माभिः)। 4 न ह्यकिंचिदं विकृतिः पुमान्, एकस्वभावादितीयं ह्यहं त्यादि च वचनात्। 5 सत्त्वरजस्तमसाम्। प्रकृतिविकृत्यहङ्कारादीनाम्। 6 सांख्यानाम्। सांख्यानामिति—दिग्बन्धनस्य। 7 कल्पनया।

[सांख्यादिकल्पित संसारकारणतत्त्वमपि अकलङ्कदेवेनैवोच्यते]

तथा संसारकारणतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम् ।

[सांख्यादिमतसंसारकारणनिराकरणं]

[1]तत्र मिथ्याज्ञानमात्रं तैरररीकृतम् । न च तत्कारणः संसारः, [2]तन्निवृत्तावपि [3]संसारानिवृत्तेः । यन्निवृत्तावपि यन्न निवर्त्तते न तत्तन्मात्रकारणम् । यथा [4]तक्षादि-

अधिक आदि एकांत में किसी भी जीव को संसार नहीं है क्योंकि विक्रिया—नर नारकादि पर्याय विशेष रूप क्रिया की उपलब्धि होना संभव नहीं है । अर्थात् जिनके मत में आत्मा सर्वथा नित्य ही है उनके मत में आत्मा के अवांतर की प्राप्ति रूप संसार संभव नहीं है । आत्मा को नित्य रूप मानने से विकार (परिणमन) हो नहीं सकता है । इस प्रकार यहाँ न्याय से विरोध आता है और आगम से विरोध का वर्णन आगे करेंगे ।

किन्हीं ने (सांख्यों ने) स्वयं ही पुरुष के संसार का अभाव माना है पुनः उनके यहाँ गुणों (सत्त्व, रज, तम) को ही संसार सिद्ध हो जाता है तथा बौद्धों ने तो संवृत्ति (कल्पना मात्र) से ही संसार को माना है । इन सबका माना हुआ संसार तत्त्व भी ठीक तरह से सिद्ध नहीं होता है अतः जैनों के द्वारा मान्य पंचपरावर्तन रूप या अवांतर रूप संसार तत्त्व ही ठीक सिद्ध होता है ।

[अन्यों के द्वारा मान्य संसार कारण भी सिद्ध है]

इस प्रकार अन्य अन्यों के द्वारा मान्य संसार कारण तत्त्व भी न्याय-आगम से विरुद्ध हैं । अर्थात् अद्वैतवादी संसार को काल्पनिक ही मानते हैं तो उनके यहाँ संसार के कारण भी काल्पनिक-असत्य ही रहेंगे । सांख्य ने मिथ्याज्ञान मात्र से ही संसार को माना है इसका खंडन भी आगे विद्यानंद आचार्य स्वयं कर रहे हैं । तात्पर्य यही है कि सभी अन्य मतावलंबियों के द्वारा कल्पित जितने भी संसार और मोक्ष के कारण हैं वे सभी संसार के ही कारण हैं ऐसा समझना चाहिये । हमारे यहाँ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कारण माने गये हैं । अन्य सभी के सभी कारण इन्हीं में शामिल हो जाते हैं ।

[सांख्य के द्वारा मान्य संसार के कारण का खण्डन]

सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है, किन्तु उतने मात्र कारण वाला संसार नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी संसार का अभाव नहीं होता है । "जिसकी निवृत्ति हो जाने पर भी जो निवृत्त नहीं होता है वह उस मात्र कारण वाला नहीं है जैसे तक्षादि (बढ़ईसुतार) के निवृत्त हो जाने पर भी देवगृहादिक का अभाव नहीं होता है इसलिये वे उस मात्र कारणक नहीं है । तथैव मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी संसार का अभाव नहीं होता है अतः संसार मिथ्याज्ञान मात्र कारण वाला नहीं है ।" यहाँ यह हेतु असिद्ध भी नहीं है ।

1 संसारकारणतत्त्वम् । 2 मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ । 3 कस्यचिन्मिथ्याज्ञानं नास्ति तथापि संसारोऽस्ति । (ब्या० प्र०)
4 सूत्रधारादि । (ब्या० प्र०)

निवृत्तावप्यनिवर्तमानं देवगृहादि न तन्मात्रकारणम्। मिथ्याज्ञाननिवृत्तावप्यनिवर्त्तमानश्च संसारः। तस्मान्न मिथ्याज्ञानमात्रकारणक इति। अत्र न [1]हेतुरसिद्धः; सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ मिथ्याज्ञाननिवृत्तावपि [2]दोषानिवृत्तौ संसारानिवृत्तेः [3]स्वयमभिधानात्[4]। दोषाणां संसारकारणत्वावेदकागमस्वीकरणाच्च तस्मात्तं संसारकारणतत्त्वं न्यायागमविरुद्धं सिद्धम्। तदेवमन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वादर्हन्नेव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् सर्वज्ञो वीतरागश्च निश्चीयते। ततः स एव [5]सकलशास्त्रादौ प्रेक्षावद्भिः[6] संस्तुत्यः।

सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के हो जाने पर तथा मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी दोष (राग, द्वेषादि) की निवृत्ति न होने से संसार का अभाव नहीं होता है ऐसा सांख्यों ने स्वयं माना है। अर्थात् जैन सिद्धांत में भी सम्यक्त्व प्रगट होते ही चौथे गुणस्थान में मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का अभाव हो गया है फिर भी संसार का अभाव नहीं हुआ है। सम्यक्त्व छूटने के बाद यह जीव अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक संसार में भ्रमण कर सकता है और सम्यक्त्व सहित भी ६६ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक संसार में रह सकता है। अतएव मिथ्याज्ञान मात्र ही संसार का कारण नहीं है।

पुनः अन्य लोगों ने भी दोषों को संसार का कारण माना है इस बात को आगम भी स्वीकार करता है। इसलिये मिथ्याज्ञान मात्र से ही संसार होता है यह कथन न्याय एवं आगम से विरुद्ध है यह बात सिद्ध हो जाती है और इस प्रकार से अन्य सभी के आप्त भगवान् न्यायागम से विरुद्ध भाषी हैं अतः अर्हंत ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं एवं सर्वज्ञ और वीतराग हैं ऐसा निश्चित हो जाता है। अतः वे ही सकल शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की आदि-प्रारम्भ में बुद्धिमानों के द्वारा स्तवन करने योग्य हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

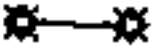

---

1 तन्निवृत्तावपि संसारानिवृत्तेरिति। 2 दोषाः रागद्वेषाः। 3 सांख्यैः। 4 सौगतैः। (ब्या० प्र०) 5 सकलं तत्त्वार्थादि। 6 एतत्सिद्धान्तवादिभिः। उमास्वामिप्रतिष्ठापरनाम। (ब्या० प्र०)

सांख्यसम्मत संसार-मोक्ष कारण के खंडन का सारांश

सांख्य ज्ञान मात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं सो ठीक नहीं है। कारण कि सर्वज्ञ भगवान के क्षायिक अनंतज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमौदारिक शरीर पाया जाता है। यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे तो यहाँ पर अवस्थान एवं उपदेश आदि नहीं घटेगा। तथा यदि ज्ञान ही एकांत से मोक्ष का कारण होवे तो सभी के आगम में दीक्षा आदि बाह्य चारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों की उपरति रूप आभ्यंतर चारित्र स्वीकार किया गया है सो व्यर्थ हो जावेगा।

हम जैनों ने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस आगम सूत्र से सार्थ को अर्थात् मोक्ष के कारण को माना है। यदि मोक्ष को अकारणक कहेंगे तो अथवा सर्वथा सभी जीव के मोक्ष का प्रसंग आ जावेगा। तथैव अन्य जनों का संसार कारण तत्त्व न्याय आगम से विरुद्ध है।

सांख्यों ने "मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है" सो ठीक नहीं है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी रागादि दोषों की निवृत्ति न होने से संसार का अभाव नहीं होता है। यह बात स्वयं सांख्यों ने मानी है। अतएव हम जैनों को मान्य संसार के कारण आगम से प्रसिद्ध हैं।

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बंधहेतवः" ये बंध के कारण ही संसार के कारण हैं क्योंकि संसार के कारण अनादि होते हुये भी निर्हेतुक नहीं हैं। ये कारण भव्य जीवों की अपेक्षा अंत सहित हैं एवं अभव्यों की अपेक्षा अनादि अनंत हैं। अतएव अर्हंत भगवान् के शासन में मोक्ष, संसार एवं दोनों के कारण सिद्ध हो हैं।

[बौद्धः शंकते यद् वीतरागोऽपि सरागवत् चेष्टां कर्तुं शक्नोति शरीरित्वात् जैनाचार्याः, अत्र समाधानं कुर्वन्ति]

ये[1] [2]त्वाहुः—'सतोपि यथार्थदर्शिनो वीतरागस्येदन्तया[3] निश्चेतुमशक्तेस्तत्कार्यस्य व्यापारादेस्तद्व्यभिचारादवीतरागेपि[4] दर्शनात्, सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टमानानामनिवारणान्न कस्यचित् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवति' इति तेषामपि, [5]विचित्राभिसंबन्ध[6]तया[7] व्यापारव्याहारादिसाङ्कर्येण [8]क्वचिदव्यभिचारनिर्णये[9] [10]कीदृक्यवाङ्निरोधेष्टिः[11], [12]ज्ञानवतोपि विसंवादात्, [13]क्व पुनरास्थास्ते[14] [15]सुगतेर्महि ? * न हि ज्ञानवतो वीतरागात्पुरुषादिसंवादः [16]क्व-

[बौद्ध शंका करता है कि वीतराग भी सरागवत् चेष्टा कर सकते हैं क्योंकि वे शरीर धारी हैं इस पर जैनाचार्यों का समाधान]

बौद्ध—यथार्थदर्शी वीतराग के होते हुये भी "ये ही वीतराग हैं" इस प्रकार से निश्चय करना अशक्य है क्योंकि वीतराग के कार्य व्यापारादि अवीतराग में भी देखे जाते हैं अतः व्यभिचार दोष आता है। सराग भी वीतरागवत् चेष्टा कर सकते हैं उनका निवारण कोई भी नहीं कर सकता है अतः किसी भी जीव में 'ये आप ही आप्त हैं' इस प्रकार से निर्णय नहीं हो सकता है। अर्थात् सराग जीवों में भी वीतराग के समान चेष्टायें होने पर भी वीतराग जीवों में वचन आदि का अतिशय विशेष देखा जाता है वह सर्वज्ञ आप्त आप ही हैं ऐसा जैनाचार्यों के कहने पर बौद्ध कहता है कि मानसिक अभिप्रायों की विचित्रता से शारीरिक और वाचनिक क्रियाओं में संकर हो जाता है अतः किसी भी पुरुष में वचनादिकों के अतिशय का निर्णय करना असंभव है। इसी बात को आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

जैन—विचित्र अभिप्राय के होने से एवं व्यापार व्यवहारादि की संकरता से कहीं पर कपिलादि के समान सुगत में भी अतिशय का निर्णय न होने पर किस प्रकार से अर्थात् किस अर्थ का आश्रय लेकर के विशेष आप्तपने की इष्ट सिद्धि होगी क्योंकि केवल वीतरागी में ही नहीं बल्कि ज्ञानवान में भी विसंवाद पाया जाता है पुनः हम लोग कहाँ पर विश्वास करेंगे ? * अर्थात् अर्हंत भगवान् आप्त हैं क्योंकि वे संवादक हैं इस पक्ष में हम लोगों को कहीं भी विश्वास नहीं हो सकेगा।

ज्ञानवान वीतराग पुरुष से कहीं पर किसी विषय में विसंवाद संभव नहीं हैं अन्यथा सुगतादि

1 सौगतः। 2 युक्तिशास्त्राविरोधित्वात् यस्य कारणस्यान्यथानुपपत्तिनिश्चायकं विचित्रेत्यादिग्रन्थसन्दर्भमयतारयति। (ब्या० प्र०) 3 अयमेवेति प्रकारेण। 4 अवीतरागेपि दर्शनादेव व्यभिचारः। 5 सरागाणामपि वीतरागवच्चेष्टासद्भावेऽपि व्याहारादिकार्यातिशयदर्शनात् स त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवत्येवेति वदंतं जैनं प्रति सौगतेन कथ्यमानस्य विचित्राभिसंधितया व्यापारव्याहारादिसांकर्येण क्वचिदव्यभिचारनिर्णय इति वचनोद्घाटनपुरस्सरं तत्र दूषणमाहुः विचित्रेति। वि. प.। 6 विचित्राभिसन्धितया इति पाठान्तरम्। 7 अभिप्रायतया। हेतुरयं, तृतीयान्तस्यापि हेतुत्वात्। 8 कपिलादाविव सुगतेपि। 9 सरागाणां वीतरागवच्चेष्टमानानां मायाविनामपि मायाविरिणामत्वेन गमनवचनादिसद्भूतत्वेन क्वचिदपि पुरुषे व्याहारव्यभिचारे सति विशेषाधिगम (सुगत) स्तत्कर्तृत्वं घटते। एवं सति ज्ञानिनोपि अनाप्तत्वं घटते। 10 किमर्थमाश्रित्येति किं शब्दः आक्षेपे। (ब्या० प्र०) 11 सुगतत्व। 12 न केवलं वीतरागात्। (ब्या० प्र०) 13 अर्हन् आप्तः संवादकत्वादित्यस्मिन् पक्षे। (ब्या० प्र०) 14 विश्वासम्। 15 न क्वापि। (ब्या० प्र०) 16 विषये।

चित्संभवति [1]सुगतावाप्यनास्वासप्रसङ्गात्[2] [3]तस्य कपिलादिभ्यो विशेषेष्टेरानर्थक्यप्रसङ्गात्। न च व्यापारव्याहाराकारविशेषाणां [4]तत्र [5]सारूप्यं सिध्यति, विचित्राभिसन्धितानुपपत्तेः[6] [7]तस्याः पृथग्जने रागादिमत्यक्ते प्रसिद्धेः प्रक्षीणदोषे भगवति [8]निवृत्तेः, अस्य यथार्थप्रतिपादनाभिप्रायतानिश्चयात्। [9]कुतश्चायं [10]सर्वस्य विचित्राभिप्रायतामदृश्यां व्यापारादिसारूप्यहेतुं निश्चिनुयात्? [11]शरीरित्वादेर्हेतोः [12]स्वादात्मनीवेति चेत् [13]तत एव सुगतस्यासर्वज्ञत्वनिश्चयोस्तु। [14]तत्रास्य[15] [16]हेतोः सन्दिग्धविपक्ष[17]व्यावृत्तिकत्वात्[18] तन्निश्चयः। [19]शरीरी च

में भी अविश्वास का प्रसंग आ जावेगा और सुगत को कपिल आदि से विशेष मानने में अनर्थकता का प्रसंग भी आ जावेगा, किन्तु व्यापार, व्याहार, आकारादि विशेषों का भगवान् में सारूप्य सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् सराग वीतरागवत् चेष्टा करें और वीतराग सरागवत् चेष्टा करें इसे सारूप्य कहते हैं। यह सारूप्य दोष भगवान् में संभव नहीं है क्योंकि उनके विचित्र अभिप्राय नहीं पाया जाता है। अर्थात् सराग यथार्थ अभिप्राय वाले हैं और वीतराग अयथार्थ विचार वाले हैं यह बात गलत है। विचित्र अभिप्रायपना तो रागादिमान् अज्ञानी पृथग्जन-साधारण मनुष्य में ही प्रसिद्ध है। दोषों से रहित वीतराग भगवान् में उसका अभाव है क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् यथार्थ प्रतिपादन के अभिप्राय वाले हैं ऐसा निश्चय पाया जाता है। तथा आप सौगत सभी के अदृश्य-रूप न दिखने वाले विचित्र अभिप्रायों को व्यापारादि सारूप्य हेतुक कैसे निश्चित करेंगे? अर्थात् अभिप्राय तो आंतरिक है अतः उनका बाह्य व्यापारादि कार्यों से निर्णय नहीं किया जा सकता है?

सौगत—'शरीरित्वादि' हेतु से स्वात्मा के समान ही विचित्राभिप्रायता निश्चित है अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग में विचित्राभिप्राय हैं क्योंकि वे शरीर धारी हैं हम लोगों के समान।

जैन—इसी 'शरीरित्व' हेतु से ही बुद्ध जैसे के असर्वज्ञपने का निश्चय हो जावे क्या बाधा है? अर्थात् आपके बुद्ध भी शरीरवान् हैं अतः वे भी असर्वज्ञ हैं ऐसा हम कह सकते हैं?

---

1 अन्यथा (ज्ञानवतोपि विसंवादः संभवति चेत्)। 2 अविश्वास (व्या० प्र०) 3 सुगतस्य। 4 ज्ञानवति। 5 सरागो वीतरागवद्वीतरागश्च सरागवच्चेष्टते इति सारूप्यवत्। 6 सरागवीतरागाभिप्रायः यथार्थायथार्थप्रतिपादनाभिप्रायः। (व्या० प्र०) 7 (विचित्राभिसन्धितायाः)। 8-(विचित्राभिसन्धितायाः)। 9 सौगतः। 10 सर्वज्ञस्यासर्वज्ञस्य वा। 11 सौगतः प्राह।—सर्वज्ञे वीतरागे विचित्राभिप्रायोस्ति, शरीरित्वाद्यस्मदादिवत्। 12 सौगतोऽनुमानं रचयति। अमुकवान् पक्षः विचित्राभिप्रायवान् भवतीति साध्यो धर्मः। शरीरित्वादेः। यः शरीरी स विचित्राभिप्रायवान् यथास्मदादिः। दि. प्र.। 13 स्वाद्यात्मनीवेति। 14 तत्र सुगते शरीरित्वादिहेतोरस्य विपक्षात्। व्यावृत्तिकत्वं संविन्न व्यावर्तते न व्यावर्तते न चेति संदेहः। यः विचित्राभिप्रायवान् नास्ति स शरीरी नास्ति। इति विपक्षसंशयः। तत्र संदेहः कथं। कश्चित्विचित्राभिप्रायरहितोऽपि शरीरीति कोपतो ब्रूयात् अतस्तस्य असर्वज्ञत्वस्य निश्चयो न। शरीरी च भवति सर्वज्ञश्च भवति। अत्र विरोधो नास्ति कस्मात्? विज्ञानोत्कृष्टत्वे पुंसि दर्शनादिविज्ञानानुपलंभात्। दि. प्र.। 15 सुगते। 16 शरीरित्वादेरित्यस्य। 17 विचित्राभिप्रायरहितत्व। (व्या० प्र०) 18 शरीरी वास्तु सर्वज्ञश्चेति संविन्ना विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य हेतोः सः। तत्त्वात्। 19 संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वं कथमित्याशंकायाह। (व्या० प्र०)

स्यात्सर्वज्ञश्च, विरोधाभावात्[1], [2]विज्ञानप्रकर्षे [3]शरीरादेरपकर्षदर्शनादिति चेत्तत[4] एव [5]सर्वज्ञस्य विचित्राभिप्रायतानिश्चयोपि मा भूत्, तत्रापि प्रोक्तहेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाविशेषात्[6] । [7]सोयं विचित्रव्यापारादिकार्यदर्शनात्तस्य विचित्राभिसन्धितां निश्चिनोति, न पुनः कस्यचिद्वचनादिकार्यातिशयनिश्चयात् सर्वज्ञत्वाद्यतिशयमिति[8] [9]कथमनुन्मत्तः ? [10]कैमर्थक्याच्च[11]स्य[12] सन्तानान्तरस्वसन्तानक्षण[13]क्षयस्वर्गप्रापणशक्त्या[14]र्विशेषस्येष्टिः ? विप्रकृष्टस्वभावत्वाविशेषात्[15], [16]वेद्यवेदकाकाररहितस्य [17]वेदनाद्वैतस्य वा विशेषस्य[18]

बौद्ध—हमारे बुद्ध में इस हेतु से अनर्वज्ञता की सिद्धि नहीं है क्योंकि यह हेतु बुद्ध में संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्तिक है। शरीरी भी होवें और सर्वज्ञ भी होवें इस प्रकार से इसमें विरोध का अभाव है क्योंकि विज्ञान का प्रकर्ष होने पर शरीरादिक का अपकर्ष नहीं देखा जाता है।

जैन—इसी हेतु से सर्वज्ञ के विचित्राभिप्रायता का निश्चय भी मत होवे क्योंकि सर्वज्ञ में भी यह हेतु संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति वाला है।

आप बौद्ध विचित्र व्यापारादि कार्यों के देखने से सभी के विचित्र अभिप्रायपने का निश्चय तो कर लेते हैं, किन्तु किसी जीव में वचनादि कार्यों के अतिशय का निश्चय देखकर भी सर्वज्ञत्व आदि अतिशय को नहीं मानते हुये आप उन्मत्त कैसे नहीं हो सकते हैं अर्थात् आप बुद्धिमान् कैसे कहे जा सकते हैं ? 'शारीरिक और वाचनिक कार्यों में संवादकत्व आदि संकरता के देखने से आप्त निश्चित नहीं है ऐसा हम नहीं कह सकते हैं किन्तु आपके सर्वज्ञ का स्वभाव विप्रकृष्ट है, प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। इसलिए अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं हैं ऐसा हम कह सकते हैं।' इस प्रकार बौद्ध के कहे जाने पर जैनाचार्य कहते हैं कि—

आप सौगत संतानांतर (भिन्न-२ यज्ञदत्त, देवदत्त की संतान) और अपने संतान में क्षणक्षयी शक्ति का और स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली शक्ति आदि की विशेषता का निश्चय भी किस हेतु से करेंगे ? क्योंकि दोनों में विप्रकृष्ट-दूरवर्ती स्वभाव समान ही है एवं वेद्य (ज्ञेय) वेदकाकार (ज्ञानाकार) से रहित संवेदनाद्वैत में विशेषता का निश्चय भी किस प्रकार से होगा ? अथवा जो विशेष प्रमाणभूत, अगद्धितैषी, शास्ता, रक्षक है और शोभन अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं अथवा संपूर्ण अवस्था को प्राप्त हैं या पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) के न होने से सुष्ठु सुगति को प्राप्त हैं ऐसे सुगत हैं। इस प्रकार इन

---

1 असर्वज्ञनिश्चयो न शरीरी भूत्वापि सर्वज्ञोऽस्ति। (ब्या० प्र०) 2 विरोधाभावे हेतुमाह। 3 इंद्रिय। (ब्या० प्र०) 4 जैनः। 5 सर्वस्य इति पा.। (ब्या० प्र०) 6 शरीरित्वादिहेतोर्विचित्राभिप्रायतां न निश्चिनुमः किन्तु विचित्रव्यापारादिदर्शनादित्यत्र आह। (ब्या० प्र०) 7 सौगतः। 8 न निश्चिनोति। (ब्या० प्र०) 9 बुद्धिमान्। 10 व्यापारव्याहारादिकार्यसंवादकत्वादिसांकर्यं दर्शनाद्यप्तत्वं न निश्चीयते इति नाभ्यते किंतु विप्रकृष्टस्वभावत्वादिष्यते। (ब्या० प्र०) 11 किं निरूपणाभिप्रेतार्थः। 12 सौगतस्य। 13 सर्व क्षणिकं सत्त्वात्। (ब्या० प्र०) 14 सन्तानान्तरो देवदत्तयज्ञदत्तसन्तानः। स्वस्य क्षणिकत्वं सन्तानश्च। तयोः क्षयशक्तिर्वा शक्तिः स्वर्गप्रापणस्य च या शक्तिस्तयोर्विशेषस्येष्टिर्निश्चयिरिका भवति। कुतः ? दूरतरस्वभावत्वात्, उभयत्र सर्वज्ञत्वातिशये तत्कविशेषस्येष्टौ च विशेषाभावात्। 15 इत्यत्रादिनं बौद्धं प्रति। (ब्या० प्र०) 16 ज्ञानाद्वैतवादिनं प्रति जैनस्योक्तिः। 17 संवेदनाद्वैतस्य इति पा.। (ब्या० प्र०) 18 कैमर्थक्यादिष्टिरिति पूर्वेणान्वयः।

प्रमाणभूतस्य[1] जगद्धितैषिणः शास्तुस्तायिनः[2] शोभनं[3] गतस्य [4]सम्पूर्णं वा गतस्य पुनरनावृत्त्या[5] सुष्ठु वा गतस्य [6]विशेषस्येष्टिः ? [7]सर्वज्ञानाश्वासाविशेषात्। [8]न चैवं [9]वादिनः किञ्चिदनुमानं नाम, [10]भिर[11]भिसन्धीनामपि बहुसं [12]कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, [13]सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे [14]क्वचिदुपलब्धस्य [15]तदभावे प्रायशोऽनुपलब्धस्य [16]मण्यादिकारणकलापेपि संभवात्। [17]यज्जातीयो [18]यतः संप्रेक्षितस्तज्जातीयात्ताद्गिति दुर्लभनियमतायां धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णीयेत ? वृक्षः, शिंशपात्वादिति[19]

विशेष नाम वाले सुगत की विशेषता का निर्णय भी कैसे होगा ? पुनः कपिल, सुगत, अर्हंत आदि सभी में अविश्वास समान ही रहेगा क्योंकि सर्वज्ञत्वादि के अतिशय में संवेदनाद्वैत गुण में और सुगत के गुण में निर्णय न होने से समानता ही है।

इस प्रकार से कहने वाले बौद्धों के यहाँ अनुमान नाम की कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी क्योंकि अभिप्रायरहित (अचेतन अग्नि आदि) में भी बहुधा कार्य हेतु और स्वभाव हेतु का नियम नहीं देखा जाता है। काष्ठादि सामग्री विशेष कारण के होने पर कहीं अग्नि की उपलब्धि होती है और कारण विशेष सामग्री के अभाव में प्रायः अनुपलब्धि है फिर भी मणि-सूर्यकांतमणि आदि कारण कलाप के होने पर अग्नि भी संभव है। जो जिस जाति वाला जिससे उत्पन्न हुआ देखा जाता है उस जाति वाले से ही वह वैसा होता है। इस प्रकार का नियम दुर्लभ होने पर धूमकेतु-अग्नि आदि में भी व्याप्य-व्यापक भाव का निर्णय कैसे होगा ? यह वृक्ष है क्योंकि शिंशपा है, इसी प्रकार "यह वृक्ष है क्योंकि इसमें आम्रत्व है" उसी प्रकार आम्रलता में भी कहीं-कहीं आम देखे जाते हैं। पुनः बुद्धिमान् का मन किस प्रकार से निःशंक (संदेहरहित) हो सकेगा ? अतः विदग्ध-चतुर मनुष्य जैसे अपनी ही पूंछ का भक्षण कर लेते हैं उसी प्रकार से आप अदृष्ट संशय एकांतवादी भी अपने पक्ष का स्वयं आप ही खण्डन कर लेते हैं।•

सौगत—काष्ठादि सामग्री से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार की देखी जाती है मणि आदि सामग्री

---

1 प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रकृष्य शास्ते सुगताय तायिने। (इत्युक्तं बौद्धैः)। 2 रक्षकस्य। (व्या० प्र०) 3 शोभनमविद्यातृष्णानुत्पादं ज्ञानसन्तानं संप्राप्तस्य सुशब्दस्य शोभनार्थत्वात् सुकथकन्यावत्। (व्या० प्र०) 4 संपूर्णं सामान्यचतुरार्यसत्यज्ञानं संप्राप्तस्य सुशब्दस्य संपूर्णार्थवित्वात् सुपूर्णकलशवत्। (व्या० प्र०) 5 सुष्ठु पुनरनावृत्त्या पुनरविद्यातृष्णाक्लांतचित्तसंतानानावृत्तेरभावेन गतस्य सुशब्दस्य पुनरनावृत्त्यर्थत्वात् सुनष्टाक्षरवत्। (व्या० प्र०) 6 सुगतकपिलार्हतां मध्ये। 7 सर्वज्ञत्वातिशये संवेदनाद्वैतगुणे सुगतगुणे चानिर्णयतया विशेषाभावात्। 8 अनुमानलक्षणेवेष्टिः स्यादित्युक्ते आह—न चैवमिति। 9 एवं वादिनः सौगतस्य किञ्चिदनुमानं न सम्भवति, निरभिप्रायानामनुमानानुमेयानां बाहुल्येन कार्यस्वभावलक्षणयोर्हेत्वोरनिश्चयदर्शनात्। 10 प्रायशः प्रतिपन्नाग्निधूमादीनामपि। (व्या० प्र०) 11 अभिप्रायरहितानामचेतनादीनामग्न्यादीनामित्यर्थः। 12 कार्यानुमानस्वभावानुमान। (व्या० प्र०) 13 दुर्लभनियमता कुत इत्युक्ते अत्र समर्थनं। (व्या० प्र०) 14 कारणकलापे। 15 अग्नेः। 16 मणिः सूर्यकान्तः। 17 यत्प्रकारः। (व्या० प्र०) 18 अग्नेः। (व्या० प्र०) 19 इत्यनुमानं च न संवेद्यतः।

[1]लताचूता[2]देरपि[3] [4]क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावतां किमिव[5] निःशंकं चेतः स्यात् ? [6]तदेतद्दृष्ट[7]संशयैकान्तवादिनां विदग्धमर्कटानामिव स्वलांगूलग्रहणम्[8] ॥ । [9]ननु च 'काष्ठादिसामग्रीजन्योऽग्निर्यादृशो दृष्टो न तादृशो मण्यादिसामग्रीप्रभव इति यज्जातीयो यतो दृष्टः स तादृशादेव न पुनरन्यादृशादपि, यतो धूमपावकयोर्व्याप्यव्यापकभावो न निर्णीयते, [10]तथा यादृशं चूतत्वं वृक्षत्वेन व्याप्तं तादृशं न लतात्वेन, यतः शिंशपात्ववृक्षत्वयोरपि व्याप्यव्यापकभावनियमो दुर्लभः [11]स्यात्' इति [12]कश्चित्सोपि [13]प्रतीतेरपलापकः, [14]कार्यस्य [15]तादृशतया प्रतीयमानस्यापि [16]कारणविशेषातिवृत्ति[17]दर्शनात्[18] ।

से उद्भूत अग्नि वैसी नहीं होती है इसीलिये जिस जाति वाला जिससे होता देखा जाता है वह उस जाति वाले से ही होता है न कि अन्य जाति वाले से, जिससे कि धूम और अग्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय न हो सके अर्थात् धूम और अग्नि में व्याप्य व्यापक भाव का निर्णय होता ही है तथा जिस प्रकार का आम्रत्व वृक्षपने से व्याप्त है उस प्रकार का आम्रत्व लता के साथ व्याप्त नहीं है जिससे कि शिंशपात्व और वृक्षत्व में भी व्याप्य-व्यापक भाव का नियम दुर्लभ होवे अर्थात् दुर्लभ नहीं है।

जैन—इस प्रकार से कहने वाले आप सौगत भी प्रत्यक्ष प्रतीति का अपलाप करने वाले हैं क्योंकि कार्य रूप अग्नि उस प्रकार (सामग्रीजन्य रूप) से प्रतीत होने पर भी कारण विशेष (काष्ठादि) का कहीं पर उल्लंघन करती है ऐसा देखा जाता है जैसे कि मणि आदि से अग्नि की उत्पत्ति सिद्ध है।

आचार्य—बौद्ध कहता है कि व्यवहार में हम देखते हैं कि कोई सरागी है परन्तु वचन और काय की क्रियाओं को वीतरागी के समान करता है एवं कोई वीतरागी है वह सरागी के समान प्रवृत्ति कर सकता है अतः "ये ही अर्हंत हैं" यह निर्णय भी किसमें हो सकेगा ? और निर्णय न हो सकने से ही आपके अर्हंत सर्वज्ञ हैं यह कहना असंभव है।

इस पर आचार्यों ने कहा कि सभी के मनोभिप्राय हम और आपको दिखते नहीं हैं तो फिर बाह्य क्रियाओं से उनका निर्णय कैसे होगा ? तब बौद्ध कहता है कि आपके वीतराग भगवान् के शरीर पाया जाता है अतः वे कुटिल-विचित्र मानसिक विचारधाराओं के हो सकते हैं अतएव वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते तब आचार्य ने कहा कि बुद्ध भगवान् को भी शरीर सहित ही आपने माना है अतः यह दोष उनमें भी सम्भव है।

बौद्ध कहता है कि आपके सर्वज्ञ का स्वभाव प्रत्यक्ष गम्य नहीं है अतः अर्हंत सर्वज्ञ नहीं हो

---

1 चूतत्वादिव्यक्तेः । । (व्या० प्र०) 2 न केवलं वृक्षचूतादेः । 3 वृक्षो भवितुमर्हति, आम्रत्वात्तथा लताऽप्यचूतत्वात् (उभयथापि वक्तुं शक्यते)। 4 क्वचित् । (व्या० प्र०) 5 न किंचिदनुमानं नाम दुर्लभनियमतायां सत्यां शिंशपात्वादिनि किमिव निःशंकं चेतः स्यात्तः दुर्लभनियमतायां कुत इत्युक्ते स्वभावहेत्वादि हेतुः सोपि: कुत इत्युक्ते लताचूतादिविरुद्धव्याप्तिसाधनं । (व्या० प्र०) 6 अनुपलब्धिसमत्वादेव यतः । बौद्ध । (व्या० प्र०) 7 ईप् । अनुपलब्धवस्तुनि । (व्या० प्र०) 8 स्वपक्षक्षतिस्यात्तः । (व्या० प्र०) 9 परः । 10 स्वभावहेतुं मन्यते सौगतः । 11 अपि तु न स्यादेव । 12 सौगतः । 13 प्रत्यक्षस्य । 14 वह्नेः । 15 काष्ठादिसामग्रीजन्यतया । 16 कारणविशेषः काष्ठादिस्तस्यातिवृत्तिरुल्लङ्घनं तस्या दर्शनात् । 17 उल्लंघन । (व्या० प्र०) 18 यस्मादेवंविधदर्शनात् ।

[यत्नेन परीक्षितकार्याणि कारणमनुवर्तन्ते]

[1]यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते इति चेत्[2] स्तुतं[3] *। [4]प्रस्तुतं, [5]व्यापारादिविशेषस्यापि किञ्चिज्ज्ञरागादिमत्संभविनो यत्नतः परीक्षितस्य भगवति ज्ञानाद्यतिशयानतिवृत्तिसिद्धेः[6]। एतेन यत्नतः परीक्षितं व्याप्यं [7]व्यापकं नातिवर्तते इति [8]ब्रुवतापि स्तुतं प्रस्तुतमित्युक्तं वेदितव्यं, पुरुषविशेषत्वादेः स्वभावस्य व्याप्यस्य सर्वज्ञत्वव्यापकस्वभावानतिक्रमसिद्धेस्तद्वदविशेषात्[9]। [10]ततोऽयं[11] प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमाचरति[12]*। [13]मन्दतरप्रियां धूमादिकमपि परीक्षितुमक्षमाणां [14]ततो धूमध्वजादिबुद्धे-

---

सकते यह बात कही जा सकती है।

जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! आपके यहाँ भी प्रत्येक वस्तु की क्षण में क्षय होने वाली शक्ति दिखती है क्या? मतलब जो चीज दिखती नहीं उनके विषय में भी कुछ न कुछ मान्यता आप रखते ही हैं। उसी प्रकार से यद्यपि सर्वज्ञ का स्वभाव दिखता नहीं है फिर भी अर्हंत ही सर्वज्ञ हैं इसका निर्णय करना ही चाहिये।

[यत्न से परीक्षित कार्य कारण के अनुवर्ती होते हैं]

बौद्ध—यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं।

जैन—इस बात से तो आपने हमारे इष्ट का ही समर्थन कर दिया है।* व्यापार व्याहार आदि विशेष भी जो कि किंचिज्ज्ञ रागादिमान् जीवों में असंभवी हैं और यत्न से परीक्षित हैं वे भगवान में सिद्ध ही हैं क्योंकि ज्ञानादि अतिशयों को भगवान् में अबाधित रूप से सिद्धि है। इस प्रकार यत्न से परीक्षित व्याप्य हेतु व्यापक का उल्लंघन नहीं करता है ऐसा कहते हुए आपने भी हमारे प्रकृत का ही समर्थन कर दिया है ऐसा समझना चाहिये। पुरुष विशेषत्व आदि स्वभाव व्याप्य हैं उसका सर्वज्ञत्व व्यापक स्वभाव से अनतिक्रम (अबाधितपना) सिद्ध है जैसे कि यत्न से परीक्षित कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करते हैं उसी प्रकार पुरुष विशेषत्व आदि व्याप्य सर्वज्ञत्व आदि रूप व्यापक स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करते हैं। दोनों जगह व्याप्य-व्यापक भाव में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् समानता ही है।

इसलिये यह साध्य का व्यभिचार लक्षण बौद्ध प्रतिवादी का अपराध है अनुमान का नहीं,

---

1 सौगतः। 2 जैनः प्राह—त्वया सौगतेन अस्माकमिष्टं कथितम् (समर्थितम्)। 3 समर्थितं। स्याद्वादी वदति हे सौगत! त्वया अस्माकं प्रस्तुते प्रारब्धे इष्टं बौद्धं। कस्मात्? अयोपलब्धलक्षणप्राप्तिनि रागादिमति पुरुषे असंभवी यत्नतः परीक्षितो व्यापारादिविशेषः भगवति ज्ञानातिशयं नातिवर्तते यतः। वि. प्र.। 4 प्रकृतम्। 5 (व्याहारादीति पाठान्तरम्)। 6 अनुल्लङ्घनात्। 7 विशेषणं। पुरुषत्वं। (व्या० प्र०) 8 सौगतेन। 9 यथा यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते तथा पुरुषविशेषत्वादिस्वभावो व्याप्यः सर्वज्ञत्वादिरूपव्यापकस्वभावं नातिवर्तते, उभयत्र व्याप्यव्यापकभावयोर्विशेषाभावात्। 10 तेन युक्तिशास्त्राविरोधिवाङ्मनेकप्रकारेण। (व्या० प्र०) 11 वाक्यमधिकारलक्षणः। 12 बौद्धः। 13 तथाहि। (व्या० प्र०) 14 धूमादिकात्।

रपि व्यभिचारदर्शनात्। प्रज्ञातिशयवतां तु सर्वत्र परीक्षाक्षमाणां यथा धूमादि पावकादिकं न व्यभिचरति तथा व्यापाराव्याहारसाकारविशेषः क्वचिदिष्टिज्ञाना[1] तिशयमपीतमनुकूलाचरणम्। एवं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वं, ततश्चार्हंत एव [2]सर्वज्ञत्वं साधयतीत्यभिप्राय।

[सभी हेतु अर्हंत भगवान् को ही सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं अन्य बुद्ध आदि को नहीं]

[3]तदेवं तत्[4] सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हंत्येव सकलज्ञत्वं साधयति [5]साध्यत्वेऽविरोध [6]इत्यादिना स्पष्टयति[7]*, [8]स्वामीति शेषः यदुक्तमविरोधः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं त्वय्येव तस्माच्च [9]त्वमेव स इत्यभिधानसंबन्धात्[10]। स [11]एवाविरोधः कुतः सिद्ध इत्यारेकायां यदिष्टं[12] ते प्रसिद्धेन न बाध्यते इत्यभिधानात्।

अतः आप बौद्ध हमारे अनुकूल ही आचरण करते हैं।७

मंदतर बुद्धि वाले पुरुष धूमादि की परीक्षा में भी असमर्थ पाये जाते हैं अतः धूमादिक हेतु से धूमध्वजादि-अग्नि आदि के ज्ञान में उन्हें व्यभिचार दोष दिखाई दे सकता है, किन्तु प्रज्ञातिशय वाले तो सर्वत्र परीक्षा में कुशल होते हैं अतः जैसे उनके धूमादि हेतु पावक के ज्ञानादि में व्यभिचार को नहीं प्राप्त होते हैं। सर्वत्र व्यापार, व्याहार, आकार विशेष किसी जीव में विज्ञानादि अतिशय को सिद्ध ही करते हैं इस प्रकार आपने हमारे अनुकूल ही कथन किया है। अतः युक्ति-शास्त्र से अविरोधी वचन भगवान् अर्हंत में ही सर्वज्ञत्व को सिद्ध करते हैं यह अभिप्राय हुआ।

[सभी हेतु अर्हंत भगवान् को ही सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं अन्य बुद्ध आदि को नहीं]

इस प्रकार से पूर्वोक्त सभी हेतु सुनिश्चितासंभवद् बाधक प्रमाण रूप होने से अर्हंत में ही सकलज्ञत्व को सिद्ध करते हैं अन्यत्र नहीं। ऐसा 'अविरोधो' इत्यादि पद से स्वामी समंतभद्राचार्य स्पष्ट करते हैं* जिससे कि जो अविरोध रूप "सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्व" है वह आप में ही है इसलिये आप ही वे आप्त हैं इस प्रकार से शब्दों का सम्बन्ध है। वे ही अविरोधी-विरोध रहित आप किस प्रमाण से सिद्ध हैं ऐसी आशंका होने पर जो आपका इष्ट (मत) है वह प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है इस प्रकार का अर्थ समझना।

---

1 न व्यभिचरतीति शेषः। (ब्या० प्र०) 2 एतेन अर्हंत्येव सर्वज्ञ इति निश्चयाभावे बाधक इत्येतदपि निरस्तं। एवं पूर्वोक्तानां सर्वेषां तीर्थंकृदंशप्रदायानां बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण निःशेषदोषावरणहानिः कस्यचिन्निश्चेतुं न शक्यते। अतः केवं संभाव्यत इति प्रत्यवस्थानांशस्य बाधकाभावप्रतिपादनप्रकारेण सामान्येन सर्वज्ञसिद्धावपि अर्हंत्येव सर्वज्ञ इति कथं निश्चय इत्येवंविधप्रत्यवस्थानांशस्यापि बाधकत्वाभावप्रतिपादनप्रकारेण—दि. प्र.। 3 युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेनेत्यनेकप्रकारेण। 4 पूर्वोक्तम्। 5 कथितादौ—दि. प्र.। 6 स त्वमेवेति कारिकोक्तेः। 7 तीर्थंकृद्-समयानां चेति कारिकायां यदस्पष्टतया कथितं सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं तदिदानीं स्पष्टयति स्वामीत्यर्थः। दि. प्र.। 8 समंतभद्राचार्यः। 9 जिनौघः। (ब्या० प्र०) 10 कारिकायां। (ब्या० प्र०) 11 अथाहार्हन् हे समंतभद्राचार्यः! सः अविरोधः क्षमि कुतः प्रमाणात् सिद्धः। (ब्या० प्र०) 12 कारिकास्थितयच्छब्दस्य पूर्वेणापि संबंधोवगंतव्यः। (ब्या० प्र०)

[इच्छामंतरेणापि भगवतः वाक्यः निर्दोषा संति]

[1]तत्रेष्टं [2]मतं [3]शासनमुपचर्यते[4], [5]निराकृतवाचोपि [6]क्वचिद्विप्रतिषेधात्[7] । *नपुनरिच्छा विषयीकृतमिष्टं, क्षीणमोहे भगवति मोहपर्यायात्मिकायास्तदिच्छायाः[8] संभवाभावात् । तथा हि । नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं, प्रणष्टमोहत्वात् । यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तं, न स प्रणष्टमोहो यथा किंचिज्ज्ञः । प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः[9] साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम् । इति केवलव्यतिरेकी हेतुर्निराकृतवाचं[10] साधयति, अव्यभिचारात् । [11]न सर्वविदिच्छामन्तरेण वक्तृत्वात्, वक्तृत्वादस्मदादिवदित्यनेन निराकृतवाचो [12]विप्रतिषेध इति चेन्नायं[13] नियमोस्ति ।

[इच्छा के बिना भी भगवान् के वचन निर्दोष हैं]

उन भगवान् में 'इष्ट-मत-शासन' अर्थात् आगम का उपचार किया जाता है । क्योंकि निरभिप्राय वचनों का भी कहीं पर अविरोध देखा जाता है ।[9] अर्थात् अभिप्रायरहित वचन भी कहीं-कहीं विरोधरहित पाये जाते हैं ।

इच्छा को विषय करने वाला "इष्ट" शब्द है ऐसा नहीं कहना क्योंकि क्षीण मोह-मोहनीय कर्मरहित भगवान् में मोह की पर्यायस्वरूप इच्छा संभव नहीं है । तथाहि "सर्वज्ञ को अपना मत प्रकाशन करने की इच्छा नहीं है क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है । जिसको शासन प्रकाशन की इच्छा है वह मोहरहित नहीं है जैसे कि किंचिज्ज्ञ (अल्पज्ञ) पुरुष, और सर्वज्ञ मोहरहित हैं यह बात प्रमाण से सिद्ध कर दी गई है । इसीलिये सर्वज्ञ को शासन प्रकाशन की इच्छा नहीं है ।" इस प्रकार केवलव्यतिरेकी हेतु अभिप्रायरहित वचन को सिद्ध करता है क्योंकि इस हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है ।

भावार्थ—'इषु' धातु इच्छा अर्थ में है और यहां भगवान् के शासन को 'इष्ट' शब्द से कहा गया है इसलिये यह प्रश्न स्वाभाविक है कि भगवान् के वचन इच्छापूर्वक ही होते होंगे क्योंकि उन्हें अपने मत को प्रकाशित करने की विश्व में सर्वतोन्मुखी फैलाने की इच्छा अवश्य होगी तभी तो उनका 'मत' इष्ट शब्द से कहा गया है । इस पर जैनाचार्यों ने समझाया है कि सर्वज्ञ भगवान् के वचन इच्छापूर्वक नहीं होते हैं क्योंकि उनके मोहनीय कर्म का नाश हो गया है ।

---

1 भगवति । 2 भगवानागमं कथयति परन्तु इच्छामन्तरेण कथयति । इष्टमित्यनेनेच्छाविषयीकृतमिति भगवत्युपचर्यते । अत्राह नैयायिकः ।—नो स्याद्वादिन् इच्छां विना वचनप्रवृत्तिर्न भवेत् । तदुपरि जैनः प्राह ।—नो नैयायिक निराकृतवाचोपि (निरभिप्रायायाः वाचोपि) क्वचिद्विप्रतिषेधात् (इच्छां विनापि वचनस्योपलब्धेर्व्यभिचाराभावात्) । 3 आगमः । 4 नित्युपचर्यते इति पा. । भगवति इच्छायाः वचनलक्षणप्रयोजनसद्भावात् इच्छमिति व्यवहारस्य निमित्तत्वात् मतुष्यत्वात् चोपचारतः प्रयोजनं प्रवर्तनं । (व्या० प्र०) 5 निरभिप्रायाः । (व्या० प्र०) 6 सुषुप्त-पुरुषादौ । 7 व्यभिचारत्वात् । (व्या० प्र०) 8 ज्ञातृत्वप्रकाशनेच्छायाः । 9 दोषावरणमोहनिरित्यादिना । 10 (निर-भिप्रायवचनम्) । 11 नैयायिकः प्राह । 12 विरोधः । (व्या० प्र०) 13 जैन आह ।

[सर्वज्ञवचनानीच्छापूर्वकान्येवेति मन्यमाने को दोषस्तस्य समाधानं]

[1]तदभ्युपगमे को दोष इति चेत्, नियमाभ्युपगमे सुषुप्तावस्थावपि [2]निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात् * न हि सुषुप्तो [3]गोत्रस्खलनादौ [4]वाग्व्याहारादिहेतुरिच्छास्ति[5] । [6]प्रतिसंविदिता[7]-कारेच्छा[8] तदा संभवन्ती पुनः स्मर्येत बाल्यावस्थावत् * । न [9]ह्यप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवति या पश्चान्न [10]स्मर्यते । [11]पूर्वकालभाविनीच्छा[12] तदा वागादिप्रवृत्तिहेतुरप्रतिसंविदि-

---

नैयायिक—"सर्वज्ञ भगवान् इच्छा के बिना नहीं बोलते हैं क्योंकि वे वक्ता हैं हम लोगों के समान ।" इस अनुमान से निरभिप्राय वचनों का विरोध सिद्ध हो जाता है । अर्थात् अभिप्रायरहित कोई पुरुष वचन नहीं बोल सकते ।

जैन—यह नियम नहीं है कि वचन इच्छापूर्वक ही हों ।

[सर्वज्ञ के वचन इच्छापूर्वक ही होते हैं ऐसी मान्यता में क्या दोष है ? इसका समाधान]

नैयायिक—वचन को इच्छासहित मानने में क्या दोष है ?

जैन—ऐसा नियम स्वीकार करने पर सोये हुये पुरुष आदि में भी अभिप्रायरहित वचनों की प्रवृत्ति नहीं होगी* ।

सोये हुये पुरुष में और गोत्रस्खलन आदि में वचन व्यवहार आदि इच्छा हेतुक नहीं हैं । अर्थात् किसी के दो पुत्र हैं कमल और विमल । सामने खड़े हुये कमल को देखते हुये और बुलाते हुये पिताजी ने कहा कि बेटा विमल इधर आओ ! उनका अभिप्राय कमल को बुलाने का था किन्तु अकस्मात् मुख से 'विमल' निकल गया इसे ही गोत्र-नाम स्खलन कहते हैं । इस गोत्र स्खलन में इच्छारहित वचन देखे जाते हैं ।

इस काल में अप्रतिसंविदिताकार इच्छा होती हुई संभव है पुनः भिन्न बाल्यावस्थाओं के समान उसका स्मरण होना चाहिये* ।

अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव नहीं है जिसका कि पश्चात् में स्मरण न किया जावे किन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा संभव है अन्य नहीं ! पूर्वकाल संभाविनी—आगे अवस्था में होने वाली इच्छा उस काल में वचन आदि की प्रवृत्ति में हेतु है और वह अप्रतिसंविदिताकार

---

1 पर आह । वाचं इच्छापूर्वकत्वाभ्युपगमे । 2 अस्ति च तत्र निरभिप्रायप्रवृत्तिः । (स्या० प्र०) 3 गोत्रं नाम । 4 व्यवहारादि इति पा. । व्यापार । (स्या० प्र०) 5 सुषुप्तावपि इच्छापूर्वस्मरत्वेन प्रवृत्तिर्भविष्यतीत्याह । (स्या० प्र०) 6 विकल्पद्वयं मनसिकृत्य सूते । सो बौद्ध ! प्रति संविदिताकारेच्छा तदा संभवंती वाग्प्रवृत्तिहेतुरिति पूर्वं चेच्छाकारवत्तदा स्मर्येत *अस्ति च तदा स्मरणं । (स्या० प्र०) 7 प्रतिनियतनियतत्वेन (आत्मज्ञानार्थं) संविदित आकारो यस्याः सा । 8 स्वाहादी वदति । तथा सुषुप्तावौ सम्यग्ज्ञानाकारा-इच्छा उत्पद्यमाना पुनरपि स्मर्यते यथा बाल्यावस्थायां उत्पद्यमाना वांछा स्मर्यते । एतावता किमायातं सुषुप्तादौ वाग्व्यापारो वांछापूर्वको न भवतीत्यर्थः । दि. प्र. । 9 प्रतिसंविदिताकारेच्छाया अभावे अप्रतिसंविदितकारेच्छा संभवतीत्युक्ते आह । (स्या० प्र०) 10 किन्तु सम्यग्ज्ञानाकारा एवेच्छा संभवतीति भाव्यं । 11 परः । 12 पूर्वकालो बाल्यावस्था ।

ताकाराऽनुमेया सम्भवत्येवेति चेत् किं पुनस्तदनुमानम् ? 'विवादाध्यासिता वागादिप्रवृत्ति-

रूप से अनुमान ज्ञान के विषयभूत संभव ही है। यदि ऐसा कहो तो वह अनुमान क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर बौद्ध उत्तर देता है। अर्थात् यहां दो विकल्पों को मन में रख कर कहते हैं कि हे बौद्ध ! प्रतिसंविदिताकार इच्छा उस काल में संभव होती हुई वचन प्रवृत्ति में हेतु है यदि आप ऐसा कहते हैं तब तो भिन्न इच्छाओं के समान उस समय उसका स्मरण होना चाहिये किन्तु उस प्रकार से स्मरण होता नहीं है। प्रतिनियम रूप नियम होने से जाग्रत अवस्था में जिसका आकार आता हुआ रहता है उसे प्रतिसंविदिताकार कहते हैं। स्याद्वादी कहता है कि उस समय सोते हुये जीवों में सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा उत्पन्न होती हुई पुनरपि स्मरण में आती है जैसे कि जाग्रत अवस्था में उत्पन्न होती हुई वांछा स्मृति में आती है इससे क्या निष्कर्ष निकला ? सोती हुई आदि अवस्था में वचन व्यापार इच्छापूर्वक नहीं होता यह अभिप्राय समझना चाहिये।

कोई कहे कि प्रतिसंविदिताकार इच्छा के अभाव में अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव है ऐसा कहने पर उत्तर देते हैं कि अप्रतिसंविदिताकार इच्छा संभव नहीं है जो पश्चात् स्मरण में नहीं आ सकती है किन्तु सम्यग्ज्ञानाकार इच्छा ही संभव है अन्य सम्भव नहीं है।

विशेषार्थ—उस समय जो पहले इच्छा की थी वही इच्छा होती हुई वहां (स्वप्न में) या गोचरस्थल में स्मरण की जाती है। जिस इच्छा का संस्कार पहले नहीं है वह संभव न होने से वहां स्मरण नहीं की जाती।

शंका—पूर्वकाल में होने वाली इच्छा उस समय वचन आदि की प्रवृत्ति में कारण है। अतः जो इच्छा पहले नहीं हुई है वह इच्छा भी वहां उत्पन्न होती है इसका भी हम अनुमान कर सकते हैं।

प्रतिशंका—यदि ऐसा है तो बताइये वह अनुमान क्या है ?

समाधान—(वह अनुमान इस प्रकार है) स्वप्न काल में होने वाली वचन आदि की प्रवृत्ति इच्छापूर्वक होती है क्योंकि वह वचन आदि की प्रवृत्ति है प्रसिद्ध इच्छापूर्वक होने वाली वचन आदि की प्रवृत्ति के समान।

वादी यह कहना चाहता है कि सर्वज्ञ बिना इच्छा के उपदेश, विहार आदि नहीं कर सकता है क्योंकि हम सर्वसाधारण वक्ता तो इच्छापूर्वक ही बोलते हुये पाये जाते हैं। इसके उत्तर में जैनों का कहना है कि यह कोई नियम नहीं है क्योंकि सोते समय मनुष्य बड़बड़ाता रहता है या हम कहना कुछ चाहते हैं और हमारे मुंह से कुछ निकलता है। इन दोनों स्थितियों में हमारी इच्छा कारण नहीं है।

ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि जाग्रत् अवस्था में हमने जो इच्छा की थी वही वहां साकार होकर स्मरण में आ जाती है। जाग्रत् मनुष्य में जिस प्रकार की इच्छा होती है वैसी इच्छा वहां सम्भव नहीं है अतः वादी का यह अनुमान करना कि "पूर्व कालिक इच्छा ही पुनः संस्कार में आकर वागादि प्रवृत्ति का कारण बन जाती है" गलत है।

1 (परः प्राह) स्वप्नसमयिकी। (व्या० प्र०)

रिच्छापूर्विका, वागादिप्रवृत्तित्वात् प्रसिद्धेच्छापूर्वकवागादिप्रवृत्तिवदिति चेन्न, हेतोरप्रयोजकत्वात्। [1]यथाभूतस्य[2] हि आप्तस्यान्यमनसो वा वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका प्रतिपन्ना देशान्तरे कालान्तरे च तथाभूतस्यैव तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्विका साधयितुं शक्या न पुनरन्याद्दशोऽपि[3]सङ्गात्[4]। न च सुषुप्तस्यान्यमनस्कस्य वा तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तावगता[6], तदवगतेरसंभवात्। [7]सा हि [8]स्वसन्तानें[9] तावन्न [10]संभवति, सुषुप्त्यादिविरोधात्। [11]सुषुप्तोऽन्यमनस्कश्च प्रवृत्तिमिच्छापूर्विकामवगच्छति चेति [12]व्याहतमेतत्। पश्चादुत्थितोऽवगच्छतीति चेदिदमपि [13]ताहगेव। [14]स्वयमसुषुप्तोऽनन्यमनाश्च सुषुप्तान्यमनस्कप्रवृत्तिमिच्छापूर्वकत्वेन [15]व्याप्तामवगच्छतीति [16]ब्रुवाणः कथमप्रतिहतवचनपथः स्वस्थैरास्थीयते[17] ? तदानु-

---

"विवाद में आई हुई (स्वप्न में होने वाली) वचन आदि प्रवृत्तियाँ इच्छा पूर्वक होती हैं क्योंकि वे वचन आदि प्रवृत्तियाँ हैं संसार में प्रसिद्ध इच्छा पूर्वक वचन आदि की प्रवृत्ति के समान।"

जैन—नहीं। आपका हेतु अप्रयोजक है क्योंकि जिस प्रकार आप्त मनुष्य या अनन्य मनस्कसावधान मनुष्य की वचनादि प्रवृत्तियाँ इच्छा पूर्वक मानी गई हैं। वैसे ही देशान्तर और कालान्तर में भी वैसों की वचनादि प्रवृत्तियाँ इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य है, किन्तु अन्य—सोते हुए या अन्यमनस्क जीवों के इच्छा पूर्वक सिद्ध करना शक्य नहीं है अन्यथा अति प्रसंग दोष आ सकता है। अर्थात्—गोपाल घटिकादि धूम भी अग्नि के गमक हो जावेंगे। अथवा "सन्निवेशमात्रत्वात्" हेतु पृथ्वी आदि बुद्धिमद् हेतुक हो जावेंगे।

सुषुप्त अथवा अन्यमनस्क जीव की वचनादि प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वकत्व से व्याप्त नहीं है। उसके साथ उसकी व्याप्ति असम्भव है। क्योंकि वह व्याप्ति स्वसंतान-सुषुप्त संतान में सम्भव नहीं है अन्यथा सुषुप्ति आदि का विरोध हो जावेगा। कोई सोता भी अथवा अन्यमनस्क भी हो और वचन प्रवृत्ति—वचनों को इच्छा पूर्वक करे यह बात विरुद्ध है। यदि कहो कि पश्चात् उठकर जानता है तो वह ज्ञान भी उसी प्रकार विरुद्ध ही है।

स्वयं जो आप्त अवस्था में हैं अथवा अनन्यमनस्क—सावधान हैं ऐसे मनुष्य सुषुप्त और अन्यमनस्क (विक्षिप्त मनस्की) की प्रवृत्ति को "इच्छा पूर्वक" से व्याप्त मानते हैं ऐसा कहते हुये

---

1 (जैनोऽप्रयोजकत्वं दर्शयति)। 2 यथास्थितस्य। (ब्या० प्र०) 3 गोपालघटिकादिधूमस्याप्यग्निगमकत्वं स्यादिति भावार्थः। विवादापन्नो, आप्त, गोपालघटिकादिधूमोऽग्निगमको न भवति विलक्षणान्तरविरहात्। 4 सुषुप्तस्यान्यमनसो वा। (ब्या० प्र०) 5 सन्निवेशमात्रत्वात् क्षित्यादेर्बुद्धिमद्धेतुकत्वप्रसंगात्। (ब्या० प्र०) 6 व्याप्ति अवगती। (ब्या० प्र०) 7 (इच्छापूर्वकत्वेन सह व्याप्तत्वावगतिः)। 8 सुषुप्तसन्ताने। 9 आह सौगतः। सा इच्छा स्वसंतानेऽपि सुषुप्तस्य सुषुप्तत्वमनसो नोत्पद्यते चेत्तदा सुषुप्त्यादि विरुद्धयते एवं सति किमायातं। स्याद्वाद्याह। हे सौगत! सुषुप्तः अन्यमनाः इच्छापूर्विकां प्रवृत्तिं जानाति इति वचो विरुद्धं अथ पश्चादुत्थितः सन् जानाति। इदमपि विरुद्धं। वि. प्र.। 10 अन्यथा। (ब्या० प्र०) 11 विरोधमेवाह। 12 विरुद्धं। (ब्या० प्र०) 13 व्याहतमेव। 14 (व्याहतिं दर्शयति)। 15 प्रत्यक्षतया। (ब्या० प्र०) 16 नैयायिकः। 17 आश्रीयते।

मानात्तदवगतेरदोष इति चेन्न, अनवस्याप्रसङ्गात्, [1]तदनुमानस्यापि व्याप्तिप्रतिपत्तिपुरस्सरत्वात् तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा [2]प्रत्यक्षतस्तद्व्याप्तिप्रतिपत्तेरघटनात्। [3]एतेन सन्तानान्तरे [4]तद्व्याप्तेरवगतिरपास्ता, अनुमानात्तदवगतावनवस्थानाविशेषात्, प्रत्यक्षतस्तदवगतेरसंभवाच्च। इति नानुमेया सुषुप्त्यादाविच्छास्ति तत्काला पूर्वकाला वा, तदनुमानस्यानुदयात्। [5]तथा च सर्वज्ञप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वे साध्ये वक्तृत्वादेर्हेतोः[6] सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्तदनियम[7] एव। [8]ततश्चैतन्यकरण[9]पाटवयोरेव[10] [11]साधकतमत्वम् क।

[वक्तुमिच्छापि सर्वज्ञवचने सहकारिणीति मान्यतया निराकरण]

[12]ननु च सत्यपि चैतन्ये करणपाटवे च वचनप्रवृत्तेरदर्शनाद्विवक्षापि तत्सहकारिकार-

---

आप नैयायिक अबाधित वचन वाले हैं। इस प्रकार से स्वस्थ पुरुषों के द्वारा आप आदर कैसे प्राप्त कर सकेंगे ?

नैयायिक—अनुमान से वचनादि प्रवृत्तियों की ऐसी व्याप्ति को मानने में दोष नहीं होगा।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा। वह अनुमान भी व्याप्ति के ज्ञान पूर्वक होगा। वह व्याप्ति भी भिन्न अनुमान की अपेक्षा रखेगी। बहुत दूर भी जा करके प्रत्यक्ष से उस व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी कथन से भिन्न सन्तान में भी उस साध्य-साधन की व्याप्ति का खण्डन कर दिया गया है क्योंकि अनुमान से उस व्याप्ति का निर्णय करने में अनवस्था समान ही है और प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान असम्भव ही है।

इस प्रकार से सोते हुये आदि मनुष्यों में तत्कालिक या पूर्वकालिक इच्छा है यह बात अनुमेय नहीं है। उसको सिद्ध करने के लिये किसी भी अनुमान का उदय नहीं है। इसीलिये सर्वज्ञ की प्रवृत्ति को इच्छा पूर्वक सिद्ध करने में वक्तृत्वादि हेतु सुषुप्त आदि पुरुष से व्यभिचरित पाये जाते हैं अतः इच्छा पूर्वक ही वचन होवें ऐसा नियम नहीं रहता है क्योंकि चैतन्य और इन्द्रियों की पटुता ही वचनादि प्रवृत्ति की साधक है*।

[बोलने की इच्छा भी सर्वज्ञ वचन में सहकारी है इस मान्यता का निराकरण]

शंका—चैतन्य और इन्द्रियों की पटुता के होने पर भी वचन प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है किन्तु विवक्षा (कहने की इच्छा) भी सहकारी कारण रूप अपेक्षित रहती है।

समाधान—नहीं। भिन्न-भिन्न सहकारी कारण नियम से अपेक्षित नहीं हैं।

शक्तिकर-ऊनत्व आदि अथवा अंजन आदि से संस्कृत चक्षु वाले प्रकाश की अपेक्षा न रखकर

---

1 अनवस्थां वर्जयति। 2 अनुमान। (व्या० प्र०) 3 स्वसन्ताने व्याप्त्यभावसमर्थनेन। 4 साध्यसाधनव्याप्तेः। 5 इच्छया अननुमेयत्वप्रकारेण। 6 नैयायिकोक्तस्य। 7 वक्तृत्वेनेच्छापूर्वकत्वयोः (स्वभावकार्यस्वरूपान्यतरनियमाभावः)। 8 चैतन्यं ज्ञानम्। 9 करणं तालवादिप्रयत्नं इन्द्रियादि वा। 10 यो. साधक इति पा.। (व्या० प्र०) 11 साध्यप्रवृत्तिं प्रति साधकतमत्वं, सुषुप्तादाविच्छापूर्वकत्वाभावेपि वक्तृत्वदर्शनात्। 12 परः।

अपेक्ष्यते एवेति चेत्, सहकारिकारणान्तरं न वै [1]नियतमपेक्षतेयं, अक्षतरूपादेः [2]संस्कृतचक्षुषो बाऽपेक्षितालोकसन्निधेः[3] क्वोपलम्भात्[4] । न चैव[5] संवित्करणपाटवयोरन्यभावेविवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, संवित्करणवैकल्ये [6]अविवक्षां वाग्वृत्तेरभावात् * । न हि [7]शब्दतोर्थतश्च शास्त्रपरिज्ञानाभावे तद्व्याख्यानविवक्षायां सत्यामपि तद्वचनप्रवृत्तिर्दृश्यते, करणपाटवस्य चाभावे स्पष्टशब्दोच्चारणं[8], [9]बालमूकादेरपि[10] तत्प्रसङ्गात् । ततश्चैतन्यं करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो, न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात् ।

[कश्चिन्मन्यते दोषसमूहः सर्वज्ञवचने हेतुस्तस्य निराकः क्रियते जैनैः]

न च [11]दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्तां वाणी[12] नातिवर्तेत[13], [14]तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद्-

---

भी रूप को उपलब्धि कर लेते हैं। विवक्षा के अभाव में वक्तृत्व का सद्भाव देखा जाता है। इस प्रकार से ज्ञान और इन्द्रियों की कुशलता के अभाव में भी विवक्षा मात्र से किसी की वचन प्रवृत्ति का प्रसंग नहीं आता है क्योंकि ज्ञान एवं इन्द्रियों की विकलता में विवक्षा मात्र से वचन प्रवृत्ति का अभाव है ।*

किसी को शब्द से और अर्थ से शास्त्र के परिज्ञान का अभाव है फिर भी उसको व्याख्यान करने की इच्छा के होने पर भी उस शास्त्र विषयक वचन की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। इंद्रिय की कुशलता के अभाव में स्पष्ट शब्द का उच्चारण भी नहीं हो सकता है अन्यथा बालक मूक आदि भी स्पष्ट शब्दोच्चारण करने लगेंगे। इसीलिए चैतन्य और इंद्रिय की पटुता ही नियम से वचन में हेतु है न कि विवक्षा क्योंकि विवक्षा—बोलने की इच्छा के बिना भी सुषुप्त-सोते हुए आदि जनों के वचन प्रवृत्ति देखी जाती है।

[कोई कहता है कि दोषों का समूहात्मक ही सर्वज्ञ के बोलने में हेतु है, जैनाचार्य इस बात का निषेध करते हैं]

तथैव दोष समूह भी वचन प्रवृत्ति में हेतु नहीं है कि जिससे वाणी उसका उल्लंघन न करे। अर्थात् वाणी दोष समूह का उल्लंघन करती ही है क्योंकि उस दोष समूह के प्रकर्ष अपकर्ष के अनुविधान का अभाव है बुद्धि के समान ।*

अष्टशती दिल्ली प्रति एवं मुद्रित प्रति में 'वाणी' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ है कि दोष समूह उस वचन प्रवृत्ति में हेतु नहीं है कि जिससे उस वाणी का उल्लंघन न कर सकें अर्थात् उल्लंघन करते ही हैं।

---

1 नियमेन । 2 अञ्जनादिना । 3 सन्निधेरभावो इति पा. । (ब्या० प्र०) 4 प्रतीतेः । (ब्या० प्र०) 5 विवक्षाभावेपि वक्तृत्वसद्भावप्रकारेण । 6 विवक्षानतिक्रमेण । (ब्या० प्र०) 7 शब्दमाश्रित्य । (ब्या० प्र०) 8 (न हीति पूर्वेणान्वयः)। 9 अन्यथा (ब्या० प्र०) 10 अन्यथा संवित्करणपाटवाभावे स्पष्टवाक्प्रवृत्तिर्भवति चेत्तदा क्लीबमूकादेरपि अवतु कोऽर्थः । तथा न दृश्यते । दि. प्र. । 11 हेत्वादि । समूहः । 12 'वाणी' इति पा० दिल्ली अष्टशती प्रतौ मुद्रितप्रतौ च । (ब्या० प्र०) 13 किन्तु अतिक्रमेतैव । 14 तस्या दोषजातेः ।

बुद्धयादिवत्[1] ॐ । न हि यथा बुद्धेः [2]शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते, तथा दोषजातेरपि, [3]तत्प्रकर्षे[4] वाचोपकर्षात् [5]तदपकर्षे एव [6]तत्प्रकर्षात्, [7]यतो वक्तुर्दोषजातिरनुमीयेत[8] । [9]सत्यपि च रागादिदोषे [10]कस्यचिद्बुद्धेर्यथार्थव्यवसायित्वादि[11]गुणस्य सद्भावात्[12], सत्यवाक्प्रवृत्तेरुपलम्भात्, कस्यचित्तु वीतरागद्वेषस्यापि बुद्धेरयथार्थाध्यवसायित्वादिदोषस्य भावे वितथवचनस्य दर्शनाद्विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा । तदुक्तं—

"विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता[13] । वाक्तस्तो[14] वा न वक्तारः सन्त्याप्ता सत्यबुद्धयः ॥"

इति । ततः साधूपादेयमि[15] [16]त्तत्रेष्टं मतं शासनमुपचर्यते इति ।

जिस प्रकार से बुद्धि और शक्ति के प्रकर्ष में वाणी का प्रकर्ष अथवा उनके अपकर्ष में भी वाणी का अपकर्ष प्रतीति में आता है उसी प्रकार से दोष जाति के प्रकर्ष में वाणी का प्रकर्ष और अपकर्ष में अपकर्ष प्रतीत नहीं होता है, प्रत्युत दोषों के प्रकर्ष होने पर वचन में अपकर्ष और दोषों की हानि होने पर वचन में प्रकर्ष (बुद्धि की विशेषता) देखा जाता है जिससे कि आप वक्ता में दोषों का अनुमान कर सकें अर्थात् वक्ता में दोषों का अनुमान नहीं कर सकते हैं। सतएव "वचन प्रवृत्ति दोषों का उल्लंघन नहीं करती है—दोष सहित होती है क्योंकि वह वचन प्रवृत्ति है हम लोगों की वचन प्रवृत्तियों के समान" ऐसे अनुमान से आप वक्ता में दोषों की कल्पना नहीं कर सकते हैं क्योंकि दोषों के अभाव में ही वचनों की विशेषता देखी जाती है।

रागादि दोष के होने पर भी किसी की बुद्धि में यथार्थ जानना आदि गुणों का सद्भाव होने से सत्यवाक् प्रवृत्ति की उपलब्धि है और किसी राग द्वेष रहित की भी बुद्धि में अयथार्थ निश्चय करने रूप दोषों का सद्भाव होने पर असत्य वचन देखे जाते हैं इसलिये विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही वचन प्रवृत्ति में गुण और दोषपना व्यवस्थित होता है न पुनः विवक्षा से अथवा दोषों से। कहा भी है—

श्लोकार्थ—वचन प्रवृत्ति में विज्ञान गुण और दोष के द्वारा ही गुण व दोषपना देखा जाता है क्योंकि शास्त्रों के विषय में सत्यबुद्धि रखने वाले जन वक्तृत्व को चाहते हुये भी वक्ता नहीं बन सकते हैं इसलिये ठीक ही कहा है कि भगवान् में इष्ट-मत-शासन शब्द उपचरित रूप से है।

---

1 (व्यतिरेकी दृष्टान्तः)। 2 करणपाटवस्य। 3 बुद्धेर्ज्ञानसद्भावे वाचः सत्सद्भावो घटते। तस्या असत्सद्भावे वाचः सद्भावो घटते इति हेतुद्वयात्। वक्तुर्दोषजातिर्यतः कुतः अनुमीयेत न कुतोपि। वि. प्र.। 4 (तथा दोषजातेरपि प्रकर्षापकर्षयोर्वाक्यप्रकर्षापकर्षौ न ह्येतस्य हेतुत्वाह।) 5 तस्या दोषजातेः। 6 तस्या वाचः। 7 कुतः? अपि तु न कुतोपि। 8 वाक्प्रवृत्तिर्दोषं गति नातिक्रामति वाक् प्रवृत्तित्वात् अस्मदादिवाक्प्रवृत्तिवत्। (व्या० प्र०) 9 किञ्च "विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता" मान्यत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सर्वज्ञसद्भावं साधयन्नाह। सत्यपीत्यादि। वि. प्र.। 10 तु:। ता। (व्या० प्र०) 11 आदिशब्देन समारोपव्यवच्छेदादिपरिग्रहः। 12 भावे इति पा. 1 (व्या० प्र०) 13 मुख्यदोषो विद्यते यस्याः सा मुख्यदोषा सत्यर्थे आशीर्देः। (व्या० प्र०) 14 वक्तृत्वम्। 15 प्रायुपादिष्टम्। 16 मतमेव।

आशंका—किसी का कहना है कि भगवान् के वचन इच्छा पूर्वक ही होते हैं। इस पर जैनाचार्यों ने स्पष्ट कह दिया है कि लोक व्यवहार में भी सोते हुए मनुष्य के वचन और गोत्रस्खलन आदि के वचन बिना इच्छा के ही देखे जाते हैं। उसने कहा कि सोने के पहले जागृत अवस्था में इच्छा थी तो आचार्य ने इसका भी निराकरण कर दिया है और इस बात को सिद्ध कर दिया है कि आप्त में ज्ञान और इन्द्रियों की कुशलता ही वचन प्रवृत्ति में हेतु है। तब फिर शंकाकार का कहना है कि ज्ञान और इन्द्रियों की कुशलता के होने पर अवश्य नहीं भी देखे जाते हैं। यदि उसके बोलने की इच्छा नहीं है अतः बोलने की इच्छा तो वचन प्रवृत्ति में सहकारी कारण है ही है।

पुनश्च आचार्य इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि छत्र बिल्ली आदि प्राणी अन्धनगुटिका सिद्ध करने वाले अंजन चोर आदि बिना प्रकाश के पदार्थों को देख लेते हैं। हम संसार में ज्ञान और इंद्रियों की पटुता के बिना बोलने की इच्छा मात्र से भी किसी में वचन प्रवृत्ति नहीं देखते हैं किसी को बोलने की, सभा में व्याख्यान करने की तो इच्छा बहुत है किन्तु न तो शास्त्रों का किंचित भी ज्ञान ही है और न ही आँखों से अक्षर शुद्ध पढ़ना आता है, न कान से स्पष्ट सुनना आता है और न ही स्पष्ट वाणी का उच्चारण ही कर सकता है। अतः क्या वह बोलने की इच्छा मात्र से कुशल वक्ता कहलायेगा? बालकों को, अन्ध से या जन्म से दोनों तरह से भी शास्त्र ज्ञान नहीं है अथवा गूंगे मनुष्य, बहरे या अन्धे मनुष्य पढ़ने, लिखने और बोलने में असमर्थ हैं किन्तु व्याख्यान की इच्छा तो उनमें भी हो सकती है क्या वे कुशल वक्ता कहला सकते हैं? इसलिये भाई! प्रतिभा-शक्ति रूप ज्ञान, क्षयोपशमज्ञान या पूर्वाभ्यास की विशेषता और इंद्रियों की कुशलता ही वचन बोलने में-उपदेश देने में हेतु है न कि बोलने की इच्छा मात्र।

कोई और बुद्धिमान् निकले तो उन्होंने कह दिया कि दोषों का समुदाय ही वचन प्रवृत्ति में हेतु है और आप के भगवान् वक्ता हैं इसलिये निर्दोष सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! दोषों के साथ वचनों का अन्वय व्यतिरेक तो है नहीं। मतलब—दोषों की वृद्धि में वचनों की विशेषता पाई जावे और दोषों के अभाव में वचनों का अभाव होवे ऐसा नियम तो है नहीं, प्रत्युत इससे विपरीत ही देखा जाता है कि दोषों की मंदता—तरतमता में वचनों की विशेषता और दोषों की बहुलता में वचनों की असभ्यता—अकुशलता ही व्यवहार में दिखती है। अतः ज्ञान के गुण और दोषों से ही वचनों में सत्यता, असत्यता पाई जाती है इसलिये निर्दोष—राग, द्वेष, मोह आदि अठारह दोषों से रहित सर्वज्ञ परमेष्ठी ही सच्चे हितोपदेशी हो सकते हैं। एवं उनके वचनों में इच्छा का दोष आदि कारण नहीं है प्रत्युत भव्यों का पुण्य विशेष और सर्वज्ञ के तीर्थंकर नाम कर्म का उदय विशेष ही भगवान् की दिव्यध्वनि में कारण माना गया है अन्यत्र ग्रंथों में भी इसी बात को पुष्ट किया है—

गंभीर मधुर मनोहरतर दोषैरपेतं हितं। कंठोष्ठादिवचो निमित्तरहितं नो तालरोधोद्गतम्।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःसंशयाद्यात्मकं। दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः॥
॥ समव. पृ. १३६॥

भगवान् के वचन गम्भीर, मधुर, मनोहरतर हैं, दोषों से रहित और हितकर हैं, कंठ, ओष्ठ,

[सर्ववतोऽनेकांतमतं प्रसिद्धेन न बाध्यते]

[1]तत्प्रसिद्धेन न बाध्यते। प्रमाणतः सिद्धं प्रसिद्धम्। तदेव कस्यचिद्बाधनं[2] युक्तम्। विशेषणमे[3]तत्परमतापेक्षम्, अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण 'बाधाऽकल्पनात्' * । [4]न ह्यनेकान्तशासनस्य [7]प्रत्यक्षतः [8]सिद्धोस्त्यनित्यत्वधर्मो बाधकः, सर्वथा नित्यत्वादिधर्मवत्[9]।

तालु आदि के निमित्त से रहित, वायु के निरोध की प्रकटता से स्पष्ट, उस-उस अभीष्ट वस्तु का कथन करने वाले सम्पूर्ण भाषा रूप, दूर और निकट से एक सदृश सुनाई देने वाले ऐसे निरुपम जिनेंद्र भगवान् के वचन सदैव हम सभी की रक्षा करें।

तिलोय पण्णत्ति ग्रंथ में भी कहा है—

जोयणपमाण संठिदतिरियामरमणुवणिकहु पडिबोहो।
णिदमक्खरगंभीरत्तराविसदविसयसयल — भासाहि ॥६०॥
अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा।
अक्खर अणक्खरप्पय सण्णी जीवाण सयलभासाओ ॥६१॥
एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकण्ठ-वावारं।
परिहरिय एककाले भव्वजणाणंद-कर-भासो ॥॥६२॥

अर्थ—वे अर्हंत भगवान् मृदु, मधुर, अतिगम्भीर और विषय को विशद करने वाली भाषाओं से एक योजन प्रमाण समवशरण सभा में स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को प्रतिबोधित करने वाले हैं, संज्ञी जीवों की अक्षर और अनक्षर रूप अठारह महाभाषा तथा सात सौ लघु भाषाओं में परिणत हुई और तालु, दंत, ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित हो कर एक ही समय में भव्यजनों को आनन्द करने वाली ऐसी दिव्यध्वनि—दिव्यभाषा के स्वामी हैं।

ऐसी दिव्यध्वनि के खिरने में तीर्थंकर नामकर्म का उदय विशेष ही प्रमुख कारण है क्योंकि मोहनीय कर्म के अभाव में तीर्थंकरों के केवली अवस्था में इच्छा का होना असम्भव है।

[भगवान् का अनेकांतशासन प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है]

भगवान् का इष्ट (शासन) प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है।

प्रमाण से जो सिद्ध है वह प्रसिद्ध कहलाता है, वही किसी से बाधित होना चाहिये। यह प्रसिद्ध विशेषण परमत की अपेक्षा से है क्योंकि अन्यमती जन प्रसिद्ध भी अनित्यत्व आदि एकान्त धर्म के द्वारा आपके मत में बाधा नहीं दे सकते हैं।*

1 परप्रसिद्धेनानित्यत्वाद्येकांतेन। (ब्या० प्र०) 2 बाधकं। (ब्या० प्र०) 3 प्रसिद्धमिति। 4 सर्वेषामस्य मतस्य। 5 परैः। 6 कीदृशं प्रत्यक्षं स्याद्वादी। 7 स्याद्वादी वदति। प्रत्यक्षेण असिद्धः सर्वथा अनित्यस्वरूपएकांत अनेकांतमतस्यबाधाकुर्त्ताह्रि यथा सर्वथा अनित्यरूप.। सौगत आह। तर्हि अनुमानेन सिद्धः एकान्तः अनेकांतस्य बाधको भविष्यतीति चेत्। स्याद्वादाह एवं न कस्मात्? प्रमाणं बिना तर्कज्ञानस्योत्पत्तेरभीकरणात्। दि. प्र.। 8 प्रसिद्धोऽस्य इति पा.। (ब्या० प्र०) 9 यथा सर्वथा नित्यत्वादिधर्मो नानेकान्तस्य बाधकस्तथा।

अनुमानात्सिद्धो बाधक इति [1]चेन्नासौ प्रमाणान्तरसिद्धत्व[2]सिद्धेरभ्युपगमात्। न [3]खलु [4]परेषां प्रत्यक्षमग्निधूमयोः [5]अंशांशसङ्कल्पयोर्वा साकल्येन व्याप्तिं प्रति समर्थम्, [6]अविचारकत्वात्सन्निहितविषयत्वाच्च[7] *। [8]अस्मदादिप्रत्यक्षं हि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहि परैरभ्युपगन्तव्यं[9], न योगिप्रत्यक्षम्, अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, योगिप्रत्यक्षेण देशतः[10] [11]कारत्स्न्यतो वा निश्शेषसाध्यसाधनव्यक्तिसाक्षात्करणे समारोपस्याप्यभावात्[12] तद्व्यवच्छेदनार्थमप्यनुमानोपयोगायोगात्[13]। [14]तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पकमपि न विचारकं[15], [16]पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वाद-

---

अनेकांतशासन का बाधक अनित्यत्व धर्म प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध नहीं है जैसे सर्वथा नित्यत्व आदि धर्म अनेकांत शासन में बाधा नहीं दे सकते हैं।

सौगत—आप के अनेकांतशासन में अनुमान से बाधा सिद्ध है।

जैन आप ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्रमाण के बिना अविनाभाव की सिद्धि स्वीकार नहीं की गई है अर्थात् साधन के प्रमाण बिना व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है एवं व्याप्ति की सिद्धि न होने पर अनुमान भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि बौद्ध तर्क प्रमाण के बिना भी प्रत्यक्ष से व्याप्ति की सिद्धि मानें तो उनके यहाँ अग्नि और धूम में अथवा "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" इस अनुमान क्षणिकत्व साध्य और सत्त्वात्—सत्त्वरूप साधन में साकल्य रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण समर्थ नहीं है क्योंकि वह विचारक—निश्चय कराने वाला नहीं है एवं सन्निहित—निकटवर्ती विषय को ही ग्रहण करने वाला है।*

अतः आप साध्य—साधन की व्याप्ति को ग्रहण करने वाला हम लोगों का इंद्रिय प्रत्यक्ष ही स्वीकार कीजिए; योगी प्रत्यक्ष नहीं, अन्यथा अनुमान व्यर्थ हो जावेगा। योगी प्रत्यक्ष के द्वारा एक देश रूप से अथवा सकल रूप से अखिल साध्य-साधन की व्यक्ति (विशेष) को साक्षात् करने में समारोप संशयादि का भी अभाव है। अतः उन संशयादि का व्यवच्छेद करने के लिये भी अनुमान का उपयोग नहीं होगा।

हम लोगों का इंद्रिय प्रत्यक्ष सविकल्प होते हुये भी निर्विकल्प के समान विचारक-व्याप्ति को ग्रहण करने वाला नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष पूर्वापर परामर्श से शून्य है और अभिलाप (शब्द)

---

1 तर्कोऽप्रमाणकत्वात् अविनाभावसिद्धेः (व्याप्तिसिद्धेः) इत्यभ्युपगमाद्व्याप्तिसिद्धेरभावेनुमानाभावात्। 2 अविनाभाव। (ब्या० प्र०) 3 (तर्कोऽप्रमाणादस्तीति प्रत्यक्षेणैव व्याप्तिसिद्धिः स्यादित्युक्ते आह, नेति)। 4 सौगतानाम्। 5 सविकल्पत्वसत्त्वयोः साध्यसाधनयोः। 6 निर्विकल्पकत्वेन। 7 अतः। (ब्या० प्र०) 8 (ननु योगिप्रत्यक्षं न सन्निहितविषयमित्युक्ते बौद्धेन स्याद्वादी प्राह)। 9 सौगतैः। (ब्या० प्र०) 10 देशयोगिनः। (ब्या० प्र०) 11 सकलयोगिनः। (ब्या० प्र०) 12 संशयादेः। 13 योगी परप्रतिपादनार्थमनुमानं करोति इति चेत् न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि असौ योगी गृहीतव्याप्तिकं वा अगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत्? न तावद् गृहीतव्याप्तिकं तस्य प्रत्यक्षेणानुमानेन वा व्याप्तिग्रहणायोगात् नाप्यगृहीतव्याप्तिकमतिप्रसंगात्। वि. प्र.। 14 अस्मदादिप्रत्यक्षम्। 15 व्याप्तिग्राहकम्। 16 (अविचारकत्वादिति प्राग्योक्तहेतुमन्यप्रकारेण कथयति)। सर्वथैवमस्माभिरिष्टं न क्षणक्षयेण सर्वथानित्येनेति परामर्शशून्यत्वात्सन्निकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा प्रत्यक्षस्य।

विलापसंसर्ग[1] रहितत्वात्[2] । सन्निहितविषयं च, [3]देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थागोचरत्वात् । [4]तत्र साकल्येन [5]व्याप्तिग्रहणसमर्थम्[6] । न चानुमान[7]मनवस्थानुषङ्गात् च । व्याप्तिग्राहिणोऽनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात्[8]द्व्याप्तेरनुमानान्तरापेक्षत्वात् क्वचिदप्यवस्थानाभावात् । एवमप्रसिद्धव्याप्तिकं च कथमनुमानमेकान्तवादिनामनित्यत्वादिकान्तधर्मस्य साधकं येन प्रमाणसिद्धः सर्वथैकान्तोऽनेकान्तशासनस्य बाधकः स्यात् ? [7]स्याद्वादिनां तु, परोक्षान्तर्भाविना [8]तर्केण[9] सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत * । तस्य विचारकत्वात्[10] ।

[जैनमते तर्कज्ञानं प्रमाणं तत्तु व्यवसायात्मकमेव]

प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिणो [11]मतिज्ञानविशेषपरोक्षतर्कज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषादुपजायमानस्य यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति

के संसर्ग से रहित है तथा वह प्रत्यक्ष सन्निहित विषयों को ही ग्रहण करने वाला है किन्तु देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट (परोक्ष) पदार्थों को विषय नहीं करता है इसलिये निर्विकल्प अथवा सविकल्प दोनों ही प्रत्यक्ष सम्पूर्ण रूप से व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं। न अनुमान ही व्याप्ति को ग्रहण करने में समर्थ है अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आ जावेगा*।

व्याप्ति को ग्रहण करने वाला अनुमान भी व्याप्ति ग्रहणपूर्वक ही होता है तब वह पूर्व की व्याप्ति भी अनुमानान्तर की अपेक्षा रखेगी अतः कहीं पर भी अवस्थान नहीं हो सकेगा। इस प्रकार से एकांतवादियों के यहाँ अप्रसिद्ध व्याप्ति वाला अनुमान भी अनित्यत्व आदि एकांत धर्म का साधक कैसे होगा कि जिससे प्रमाण सिद्ध सर्वथा एकांत धर्म अनेकांतशासन को बाधित कर सके अर्थात् नहीं कर सकता है किन्तु इस कथन से यदि आप कहें कि जैनों को किस प्रमाण से व्याप्ति को ग्रहण करते हैं तो हम स्याद्वादियों के यहाँ परोक्ष के अन्तर्गत एक तर्क नाम का प्रमाण है उससे व्याप्ति रूप सम्बन्ध की व्यवस्था बन जाती है। क्योंकि वह तर्क ही विचारक—व्याप्ति का निश्चय कराने वाला है।

[जैनमत में तर्क ज्ञान प्रमाण है और वह व्यवसायात्मक ही है]

प्रत्यक्ष और अनुपलंभ जिसमें सहकारी कारण है (अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि

---

1 निर्विकल्पादुत्पन्नत्वात् सविकल्पज्ञानस्य। परमतेऽभिलापसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहि। (व्या० प्र०) 2 निर्विकल्पकादुत्पन्नत्वात्सविकल्पकस्य (शब्दसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहीति हि परेषां मतम्)। विरोधान्नोभयेतिकारिकाव्याख्यानावसरे अभिलापसंसर्गरहितत्वं प्रमाणफलतेत्येति वक्ष्यते। 3 अविचारकं सन्निहितविषयं च यतः। 4 निर्विकल्पकं सविकल्पकं वा। 5 सर्वमनुमानं व्याप्तिग्राहकं साकल्याभ्यानुपलेरित्युक्ते सति। (व्या० प्र०) 6 साकल्येन व्याप्तिग्राहकम्। 7 तर्हि स्याद्वादिनां कथं व्याप्तिग्रह इत्युक्ते आह। 8 अस्माकम्। 9 उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहस्तर्कः। 10 यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निर्यथा महानसे। यत्र यत्राग्निर्नास्ति तत्र तत्र धूमोपि नास्ति यथा महाह्रदः। इत्युक्तप्रकारो प्रत्यक्षानुपलम्भौ सहकारिणौ यस्य तस्य। 11 मतिज्ञानविशेष, एव परोक्षतर्कज्ञानं तदावरणम्।

[1]शब्दयोजनारहितपरामर्शात्मकत्वा[2]त्कालत्रयवर्तिसाध्यसाधनव्यक्ति[3]विषयत्वाच्च व्याप्ति प्रति समर्थत्वात्[4], [5]प्रत्यक्षवद्व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वाभावादनुमानोहान्तरापेक्ष[7]त्वाभावत्वाच्चानु-[8]षङ्गात्[9], [10]संवादकत्वेन समारोपव्यवच्छेदकरत्वेन च [11]प्रमाणत्वात्[12]। तदप्रामाण्ये न [13]लौकिकं प्रमाणमिति [14]शेष:। समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्[15] *। तर्कत: [16]सम्बन्धस्याधिगमे[17] समारोप-विरोधात्[18] + [19]न [20]हि [21]निर्विकल्पकोधिगमोस्ति यतस्तत्र समारोपोपि[22] स्यात्। किं तर्हि ?

है जैसे मठ। जहां-जहां अग्नि नहीं है वहां—वहां धूम भी नहीं है जैसे तालाब। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलंभ जिसमें सहकारी है तात्पर्य यह है कि धूम तो प्रत्यक्ष है और अग्नि अनुपलंभ—परोक्ष है उन दोनों के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला व्याप्ति ज्ञान है) ऐसा मतिज्ञान का विशेष (भेद) रूप परोक्ष तर्क ज्ञान है। उस तर्क ज्ञान के आवरण एवं वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम विशेष से ही तर्क ज्ञान उत्पन्न होता है और वह तर्क जितना कुछ भी धूम है वह सभी अग्नि से ही उत्पन्न हुआ है अथवा अग्नि के अतिरिक्त अन्य किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है इस प्रकार से शब्द योजना सहित परामर्शात्मक एवं कालत्रयवर्ती साध्य-साधन व्यक्ति—विशेष को विषय करने वाला होने से ही व्याप्ति को ग्रहण करने के प्रति समर्थ है। तथा जैसे आपका प्रत्यक्ष व्याप्ति पूर्वक नहीं होता है वैसे तर्क ज्ञान प्रत्यक्ष के समान व्याप्ति के ग्रहण पूर्वक नहीं होता है। फिर अनुमान एवं तर्क की अपेक्षा भी नहीं करता है अतः उसमें अनवस्था का प्रसंग भी नहीं आता है, प्रत्युत यह तर्क ज्ञान संवादक एवं समारोप का व्यवच्छेदक होने से प्रमाण रूप ही है।

यदि इस तर्क ज्ञान को प्रमाण न मानें तो अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है क्योंकि समारोप का व्यवच्छेदकपना दोनों में समान है*। तर्क से अविनाभाव सम्बन्ध को स्वीकार करने में समारोप का विरोध है।

1 शब्दयोजनारहित इति पा०। (ब्या० प्र०) 2 तर्कस्य। 3 व्याप्ति प्रति समर्थमित्यनेन साध्ये हेत्वंतरं। (ब्या० प्र०) * समर्थत्वं कुतः यतस्तर्कोपि स्वविषये व्याप्तिग्रहणमपेक्षते तच्च न प्रत्यक्षात् अनुमानादित्यादि दोषो भविष्यतीत्याशंक्य। (ब्या०प्र०) 5 अन्वयदृष्टान्तः। व्याप्यसंबंधं प्रत्यक्ष स्वविषये यथा। व्यापक प्रति समर्थनार्थं विचारकत्वात् कालत्रयवर्ति साध्यसाधन व्यक्तिविषयत्वाच्चेति हेतुद्वयमुपात्तं। एतेन प्रत्यक्षमसंकीर्णविचारकत्वात् संनिहितविषयत्वाच्च व्याप्तिग्रहणं प्रति न समर्थमिति वदन् प्रत्याख्यातः प्रत्यक्षेत्यादिसंबन्धयोजनारहित परामर्शकत्वादिति पर्यंतं साध्यसाधनार्थं हेतुत्रयोपन्यासेन तद् हेतुद्वयमसमर्थनं परं प्रतिपत्तव्यं। व्याप्तिं प्रति समर्थत्वात् परोक्षांतर्भावेन नास्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठेतेति सम्बन्धः वि. प्र.। 6 तर्कस्य। 7 तर्कस्य। 8 तर्कविषयविकल्पज्ञानस्य प्रत्यक्षफलत्वान्न प्रमाणत्वमिति शंका। (ब्या० प्र०) 9 तर्कस्य। 10 प्रमाणांतरविरोधलक्षणेन। (ब्या० प्र०) 11 तर्कस्य। 12 प्रत्यक्षवदिति पूर्वोक्तमुदाहरणम्। 13 अनुमानं। (ब्या० प्र०) 14 समारोपव्यवच्छेदकत्वात्तार्किकं प्रमाणमित्यत्र आह। (ब्या० प्र०) 15 तर्कानुमानयोः। 16 अविनाभावस्य। (ब्या० प्र०) 17 तर्कस्य फले निर्णये। (ब्या० प्र०) 18 अधिगमो निर्विकल्पः स्यादित्याह। (ब्या० प्र०) 19 तर्कादिव निर्विकल्पकादपि निर्णये जाते समारोपो विरुध्यतामित्युक्ते आह। 20 अधिगमो हि हेया सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति तत्र सविकल्पकाधिगमे सति भवतु समारोपविरोधः स्यादिति कोपकर्ता निराकुर्वंतः प्राहुर्नहि इति—वि. प्र.। 21 अथवा अधिगमे समारोपविरोध इति कुतः कथ्यते निर्विकल्पकाधिगमे समारोपविरोधाभावादित्याशंक्याहुः। वि. प्र. 22 (समारोपविरोधस्तु दूर एवास्ताम्)।

अधिगमोपि [1]व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौसतोपि दर्शनस्य[2] [3]साध्य-साधनान्तरापेक्षया[4] सन्निधानाभेदात्[5] सुषुप्तचैतन्यवत्[6] ॥ । सन्निधानं हीन्द्रियार्थसन्निकर्षः । तत्स्वयमप्रमाणमाश्रयत् तथागतः[7], साधनान्तरापेक्षित्वात्[8] तत्त्वार्थपरिच्छित्तौ ।

[बौद्धाभिमतं निर्विकल्पदर्शनमप्रमाणमेव सन्निकर्षवत्]

[9]तत एव दर्शनस्याप्रमाणत्वं, सुषुप्तचैतन्यवत् [10]स्वयं संशयविपर्यासानध्यवसायाव्यवच्छेदकत्वात् । तद्व्यवच्छेदिनो[11] निश्चयस्य[12] [13]जननात्प्रमाणं दर्शनमिति चेत् तत एव सन्निकर्षः

यहाँ कोई कहता है कि-तर्क के समान निर्विकल्प प्रत्यक्ष से भी निर्णय हो जाने पर समारोप नहीं रहेगा। इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि निर्विकल्पकज्ञान तो कोई सिद्ध ही नहीं होता कि जिससे समारोप भी हो सके अर्थात् समारोप विरोध की बात तो दूर ही रहने दीजिये किन्तु उस निर्विकल्प में समारोप हो नहीं हो सकता है। पुनः प्रश्न होता है कि वह निर्विकल्पज्ञान क्या चीज है ? क्योंकि वह व्याप्तिज्ञान भी व्यवसायात्मक ही है। (अर्थात् यहाँ व्याप्ति के ज्ञान को अधिगम कहा है वह भी सविकल्पात्मक ही है) उस सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विद्यमान होता हुआ भी दर्शन साधनांतर (सविकल्पज्ञान) की अपेक्षा रखने से सन्निधान-सन्निकर्ष में अभेद रूप है सुषुप्त चैतन्य के समान॥।

भावार्थ—निर्विकल्प दर्शन विद्यमान होते हुये भी स्वयं समारोप का व्यवच्छेदक नहीं है अतएव साधनांतर-सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा है। उसी प्रकार से सन्निकर्ष भी स्वयं समारोप का व्यवच्छेदक नहीं है किन्तु साधनांतर की अपेक्षा करता है इसलिये सन्निकर्ष से निर्विकल्प में कोई विशेषता नहीं है। जैसे सुषुप्त पुरुष के चैतन्य के स्वयं प्रमाणता नहीं है किन्तु साधनों की अपेक्षा देखी जाती है।

सौगत—इंद्रियों से पदार्थ का सम्बन्ध रूप सन्निकर्ष ही सन्निधान कहलाता है। वह सन्निकर्ष स्वयं अप्रमाण है क्योंकि पदार्थों की परिच्छित्ति (ज्ञान) में भिन्न कारणों की अपेक्षा रखता है।

[बौद्ध के द्वारा मान्य निर्विकल्प दर्शन भी प्रामाणिक नहीं है जैसे कि सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है]

---

1 व्याप्तिज्ञानमधिगमोऽत्र । सोपि सविकल्पात्मैव । 2 निर्विकल्पकस्य । (व्या० प्र०) 3 सविकल्पकज्ञानमेवात्र-साधनान्तरम् । 4 ज्ञान । साधनांतरापेक्षया संनिधानाभेदात् यत्संनिधानापेक्षं तत् अधिगमानुत्पत्तौ कृत्वव्यवधिक्या सुषुप्तचैतन्यं । साधनांतरापेक्षं चेदं सम्यादधिगमानुत्पत्तिकृत् । वि. प्र. । 5 सोपि दर्शनस्य न समारोपव्यवच्छेदकत्वं स्वयं यतः साधनान्तरं सविकल्पकमपेक्षते । तथा सन्निकर्षोपि न समारोपव्यवच्छेदकः स्वयं किन्तु साधनान्तरमपेक्षते । इति सन्निकर्षान्न विशेषः । 6 यथा सुषुप्त चैतन्यस्य न स्वयं प्रामाण्यं साधनान्तरापेक्षित्वात् । 7 आह स्याद्वादी । तर्हि तत्सम्बन्धस्य निश्चये सति समारोपो विहन्यते अन्यथा पुनः निर्विकल्पकादपि समारोपो विहन्यते । इत्युक्ते स्याद्वादाह । निर्विकल्पकं दर्शनं निश्चयात्मकं न हि तत्राधिगमे यतः कुतः समारोपः स्यान्न कुतोऽपि पर आह । तर्हि भवन्मतेऽप्रियम: किमिति प्रश्ने आह निश्चयात्मकस्वभाव एव । स्याद्वादी अनुमानं रचयति । निर्विकल्पकदर्शनं पक्षः अधिगमानुत्पत्तिकृत् भवतीति साध्योधर्मः अनन्तरादेव सन्निकर्षोऽपि तथं भवतु वि. प्र. । 8 सौगतः तदिदियार्थसन्नि-कर्षलक्षणं सन्निधानं स्वयं अप्रमाणं कथितत्वात् । कस्मात् ? साधनांतरमपेक्ष्य तस्य संनिधानस्य अर्थनिश्चयकरणात् । वि. प्र. । 9 (जैनः) तर्हि तत एव साधनान्तरापेक्षित्वादेव हे सौगत । 10 दर्शनस्य । 11 निश्चयारोपमनसोर्विरोध-दृष्टत्युक्तेः । (व्या० प्र०) 12 सविकल्पकज्ञानस्य । 13 एवंच जनयेदेनं तत्त्वार्थस्य प्रमाणता । एवंभूतनिर्विकल्पबुद्धि । एनां—सविकल्पबुद्धिं इत्यर्थः । (व्या० प्र०)

प्रमाणमस्तु। तस्यासाधक[1]तमत्वान्न प्रमाणत्वमिति चेत्कुतस्तस्यासाधकतमत्वम् ? अचेतनत्वाद्घटादिवदिति चेद्दर्शनस्याप्यसाधकतमत्वं [2]चेतनत्वात्सुषुप्तचैतन्यवत्किं न स्यात् ? यस्य भावेयः परिच्छित्तौ व्यवच्छिद्यतेऽभावे चाऽपरिच्छिन्नस्तद्दर्शनं साधकतममिति चेत्सन्निकर्षः साधकतमोस्तु, भावाभावयो[3]स्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात्। न हि सन्निकर्षस्य भावे भाववत्त्वमभावे [4]ऽभाववत्त्वमर्थपरिच्छित्तेरप्रतीतम्। [5]नाप्यर्थस्यान्यत् परिच्छिन्नत्वं, [6]तत्परिच्छित्युत्पत्तेः। परिच्छित्तरुत्पन्ना चेत्[7] [8]परिच्छिन्नोर्थ उच्यते। अथ निर्विकल्पकदृष्टौ [9]सत्या

जैन—इसी हेतु से ही दर्शन भी प्रामाणीक नहीं है सुषुप्त चैतन्य के समान क्योंकि दर्शन (निर्विकल्प प्रत्यक्ष) स्वयं संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय का व्यवच्छेदक नहीं है।

बौद्ध—संशयादि के व्यवच्छेदी निश्चय-विकल्प ज्ञान को उत्पन्न करने वाला होने से वह दर्शन प्रमाण है।

जैन—इसी हेतु से सन्निकर्ष भी प्रमाण हो जावे क्या बाधा है ?

बौद्ध—वह सन्निकर्ष प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतम नहीं होने से प्रमाण नहीं है।

जैन—वह सन्निकर्ष साधकतम क्यों नहीं है ?

बौद्ध—वह सन्निकर्ष अचेतन है घटादि के समान।

जैन—"तब तो आपका माना हुआ दर्शन भी साधकतम नहीं है क्योंकि वह चेतन है सुषुप्त चेतन के समान।" ऐसा भी आप क्यों न मान लेवें ? अर्थात् जो चेतन है वह साधकतम हो ऐसा कोई नियम नहीं है।

बौद्ध—जिसके होने पर पदार्थ जान लिये गये हैं ऐसा व्यवहार होता है एवं जिसके न होने पर नहीं जाने गये हैं ऐसा व्यवहार होता है वह दर्शन साधकतम है।

जैन—यदि ऐसा कहते हो तब तो सन्निकर्ष भी साधकतम हो जावे क्योंकि "भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वं" यह न्याय का वचन है अर्थात् जिसके होने पर जो होवे और न होने पर न होवे वही साधकतम है। सन्निकर्ष के भाव में अर्थ परिच्छित्ति का होना एवं अभाव में नहीं होना ऐसी प्रतीति नहीं हो यह बात नहीं है।

बौद्ध—फिर भी पदार्थ जाना गया है यह व्यवहार कैसे होता है।

---

1 प्रमिति प्रति। 2 (जैन आह) यच्चेतनं तत्साधकतममेवेति न नियमोस्ति। 3 (सन्निकर्षस्य साधाभावयोः सतोरर्थपरिच्छित्तेर्भावाभाववत्तास्तीति नैव साधकतमत्वम्)। 4 भावेभावाद इति पा.। (स्या० प्र०) 5 तथापि कथमर्थः परिच्छिन्नो व्यवच्छिद्यते इत्याशङ्क्याहुः जैनः। 6 अर्थपरिच्छित्युत्पत्तिमन्तरा अन्यदर्थपरिच्छिन्नत्वं नास्तीत्यर्थः। 7 तत्परिच्छित्तेरन्यत् "परिच्छित्तिरुत्पन्ना" इत्यर्थपरिच्छिन्नत्वमस्ति चेदित्यर्थो बौद्धशङ्कायाः। 8 (जैन आह)। 9 सन्निकर्षस्य भावेऽपि सत्ये निर्विकल्पकदृष्टे सत्यामेव परिच्छित्तिरुत्पद्यते नान्यथा ततः सन्निकर्षस्य भावे भाववत्त्वमित्यादि प्रागुक्तमयुक्तमिति साधयन्नाह। (स्या० प्र०)

मर्थस्य परिच्छित्तिनिश्चयात्मकार्थपरिच्छेदव्यवहारहेतुरुत्पद्यते सासत्याम् । अतस्तस्याः साधकतमत्वमिति [1]तवाकूतं तदपि न समीचीनं, [2]सन्निकर्षवदेव तदुत्पत्त्यविरोधात् । कथमचेतनात्सन्निकर्षाच्चेतनस्यार्थनिश्चयस्योत्पत्तिर्न विरुध्यते इति चेत् तवापि कथमचेतनादिन्द्रियादेरविकल्पदर्शनस्य चेतनस्योत्पत्तिरविरुद्धा ? [3]चेतनान्मनस्कारादिन्द्रियादिसहकारिणो दर्शनस्योत्पत्तिरिति चेत्तर्हि चेतनादात्मनः सन्निकर्षसहकारिणोऽर्थनिश्चयोत्पत्तिरपि कथं विरुध्यते ? यतः स्वार्थव्यवसायात्मकोधिगमो न स्यात् ।

[सन्निकर्षवत् निर्विकल्पदर्शनमपि प्रमाणं नास्तीति प्रसाध्याधुना तर्कस्य प्रमाणतां साधयंति जैनाचार्याः]

स च साकल्येन साध्यसाधनसम्बन्धस्तर्कादेवेति[4] प्रमाणं तर्कः, स्वार्थाधिगमफलत्वात्

जैन—पदार्थ का जानना रूप ज्ञान उससे भिन्न नहीं है क्योंकि अर्थ परिच्छित्ति-ज्ञान उससे ही उत्पन्न होता है अर्थात् पदार्थ के ज्ञान की उत्पत्ति के बिना अन्य कोई अर्थ परिच्छित्ति नहीं है।

बौद्ध—उस ज्ञान से भिन्न "परिच्छित्ति उत्पन्न हुई" इस प्रकार से अर्थ परिच्छित्ति है। अर्थात् पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता ही है।

जैन—वह जाना हुआ ज्ञान ही अर्थ कहा जाता है।

बौद्ध—निर्विकल्प दर्शन के होने पर अर्थ परिच्छित्ति होती जो कि निश्चयात्मक पदार्थ के ज्ञान रूप व्यवहार में हेतु है क्योंकि निर्विकल्प दर्शन के नहीं होने पर नहीं होता है अतः वह परिच्छित्ति साधकतम है।

जैन—यह भी कथन समीचीन नहीं है क्योंकि सन्निकर्ष से ही उस परिच्छित्ति की उत्पत्ति में विरोध नहीं है।

बौद्ध—अचेतन सन्निकर्ष से पदार्थ के ज्ञान रूप चेतन की उत्पत्ति विरुद्ध कैसे नहीं है ?

जैन—तब तो आप के यहाँ भी अचेतन इन्द्रियादि से निर्विकल्प दर्शन रूप चेतन की उत्पत्ति अविरुद्ध कैसे होगी ?

बौद्ध—इन्द्रियादि सहकारी कारण जिसके साथ हैं ऐसे चेतन रूप मनोव्यापार से दर्शन की उत्पत्ति होती है।

जैन—तब तो जिसमें सन्निकर्ष सहकारी है ऐसे चेतन आत्मा से पदार्थ के निश्चय की भी उत्पत्ति होने में क्या विरोध है ? जिससे कि अधिगम (ज्ञान) स्वार्थ व्यवसायात्मक न होवे अर्थात् अवश्य स्वार्थ व्यवसायात्मक ही होता है।

[सन्निकर्ष के समान निर्विकल्पदर्शन भी प्रमाण नहीं है इस बात को सिद्ध करके अब जैनाचार्य तर्क की प्रमाणता को सिद्ध करते हैं]

और संपूर्णतया वह साध्य-साधन के सम्बन्ध को ज्ञान तर्क से ही होता है इसलिए तर्कज्ञान

---

1 बौद्धस्य। 2 मव्यवहितनिर्विकल्पकवृत्तिविषयः ब (अ० प्र०) 3 मनोव्यापारात्। 4 का। (अ० प्र०) 5 सम्बन्धं इति पा.। विषये। तर्कादेव-उत्पद्यते इति-टीका च। (अ० प्र०)

समारोपव्यवच्छेदकत्वात्संवादकत्वाच्चानुमानादिवत् ।

[एकांतवादिनां मतेऽनुमानमपि न सिद्धयति ततस्तेऽनेकांतमते बाधामुद्भावयितुं नार्हंति]

ततः [1]स्याद्वादिनां व्याप्तिसिद्धेरस्त्यनुमानं, न पुनरेकान्तवादिनां[2], [3]यतोनुमानसिद्धेन सर्वथैकान्तेनानेकान्तस्य बाधाकल्पना स्यात् । इत्यप्रमाणसिद्धेनापि[4] बाधा कल्पनीयैव परैः, [5]अन्यथा स्वमतनियमाघटनात् । तथा सति सूक्तं परमतापेक्षं विशेषणं प्रसिद्धेन न बाध्यते इति । एतेन[6] यदुक्तं भट्टेन ।

नरः [7]कोप्यस्ति [8]सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ [9]इत्यपि ।[10]साध्यं[11] वस्तुन्येव प्रतिज्ञामात्रमेव तत्[12] ॥१॥

प्रमाण है क्योंकि वह स्वार्थ अधिगम रूप अपने और पर पदार्थ को जानने रूप फल को उत्पन्न करता है, समारोप संशयादि का व्यवच्छेदक है तथा संवादक रूप है अनुमानादि की तरह ।

[एकांतवादियों के मत में अनुमान प्रमाण भी सिद्ध नहीं होता है अतः वे अनेकांत में बाधा की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं]

इसलिये स्याद्वादियों के यहाँ व्याप्ति की सिद्धि हो जाने से अनुमान प्रमाण व्यवस्थित है न कि एकांतवादियों के यहाँ । अर्थात् तर्क से सिद्ध व्याप्ति के अभाव में एकांतवादियों के यहाँ अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता है जिससे कि अनुमान से सिद्ध सर्वथा एकांत मत के द्वारा अनेकांत शासन में बाधा कल्पित की जा सके । अर्थात् सर्वथा एकांतवाद अनुमान से सिद्ध नहीं है, किन्तु आपको इस प्रकार से अप्रमाण सिद्ध के द्वारा भी अनेकांत शासन में बाधा की कल्पना करना ही चाहिए अन्यथा स्वमत का नियम नहीं घटेगा । अतः बहुत ठीक ही कहा है कि "प्रसिद्धेन न बाध्यते" यह विशेषण परमत की अपेक्षा से है ।

श्लोकार्थ—भाट्ट—कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ है और वह सर्वज्ञ आप ही हैं इत्यादि के साध्य करने में जो "सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्" साधन प्रयोग है वह प्रतिज्ञामात्र है अर्थात् वह कथन मात्र ही है ॥१॥

प्रतिज्ञामात्र क्यों है सो सुनिए—सिद्ध करने की इच्छा से जो अर्हंत आदि पदार्थ हैं वे इस प्रतिज्ञामात्र से नहीं कहे जा सकते हैं और जो इस अनिर्द्धारित प्रतिज्ञा (पक्ष) के द्वारा कहे जाते हैं

---

1 ततस्तर्कबलात् स्याद्वादिनां व्याप्तिः सिद्धयति व्याप्तेः सकाशादनुमानमस्ति । सर्वथा सिद्धाया व्याप्तेरभावे एकांतवादिनामनुमानप्रमाणं नास्ति । वि. प्र. । 2 सर्वथासिद्धाया व्याप्तेरभावे एकान्तवादिनामनुमानं प्रमाणं । 3 यद्यपि सौगतयोगादीनां सर्वथाभावेनुमानं दूषित एव नास्ति तथापि सर्वथैकांतमनुमानं सिद्धं सर्वथैकांतं वदति । तादृशेन अनुमानसिद्धेन सर्वथैकांतेन कृत्वानेकांतस्य दूषणे बाधा अपि तु न दूषणेपि । वि. प्र. । 4 अथाह कश्चिद् इति कथितप्रकारेण अप्रमाणसिद्धेनाप्यनुमानादिप्रमाणेन कृत्वा परैरेकांतवादिभिः अनेकांतमतस्य बाधा कल्पनीयैव अन्यथा स्वमतनियमो न घटते । स्वयं प्रमाणसिद्धो नास्ति तथापि बाधा कल्प्यते स्वमतनियमार्थं । वि. प्र. । 5 बाधाऽकल्पना । (ब्या० प्र०) 6 स एवमेवास्ति इत्यादिसाधनपरेण वचनेन । (ब्या० प्र०) 7 सर्वज्ञो पुमान् भवति । (ब्या० प्र०) 8 पुमान् सर्वज्ञो भवति । (ब्या० प्र०) 9 नरः पक्षः सर्वज्ञ इति न इति पक्षवचनाभिप्रायः । 10 सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वादिति । 11 पक्षवचनं । (ब्या० प्र०) 12 पुनः । (ब्या० प्र०)

[1]सिसाधयिषितो[2] योर्थः सोनया [3]नाभिधीयते[4]। [5]वक्तुमिष्यते[6] न तस्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥२॥ [7]यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते। न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥३॥ यावद्बुद्धो न[8] सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा। यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता[9] कुतः ॥४॥ [10]अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे [11]वचसोन्यस्य सत्यता। [12]सामानाधिकरण्ये हि [13]तयोरुक्तान्विता[14] भवेत् ॥५॥

इति तल्लिरस्तं[15], भगवतोर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन [16]सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात्। ततस्त्वमेव महान् मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः। यस्मात्—

उनकी सिद्धि में कुछ प्रयोजन नहीं है ॥२॥

जिसके आगम की सत्यता सिद्ध है उसके ही सर्वज्ञता है इस प्रकार सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि मात्र से वह सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती है ॥३॥

जब तक बुद्ध सर्वज्ञ नहीं है तब तक उसके वचन असत्य हैं। जिस किसी अन्य में सर्वज्ञ की सिद्धि हो जाने पर अन्य बौद्धादि के आगम की सत्यता कैसे हो सकती है? ॥४॥

अन्य कोई ही सर्वज्ञ होवे और अन्य के वचन में सत्यता होवे ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि जो सर्वज्ञ है वही आगम का प्रणेता है ऐसा समानाधिकरण होने पर ही सर्वज्ञ और उसके वचनों में कार्यकारण भाव बन सकता है अन्यथा नहीं ॥५॥

जैन—"प्रसिद्धेन न बाध्यते" ऊपर इस वाक्य का स्पष्टीकरण करने से आपके इस कथन का भी खंडन कर दिया गया है ऐसा समझना चाहिए।

अतः युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन होने से और सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण रूप से भगवान् अर्हंत में ही सर्वज्ञता और वीतरागता सिद्ध हो जाती है इसलिये आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता महान् हैं अन्य कपिलादि नहीं हैं। क्योंकि—

इसका संदर्भ आगे आने वाली सातवीं कारिका से है अर्थात् आपके मत से बाह्य, सर्वथा एकांतवादी जन 'जो कि अपने को आप्त मान रहे हैं' उनके मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित हैं।

---

1 प्रतिज्ञामात्रमेव कथमित्याह। 2 अर्हदादिः। 3 यतः। पुरुषसामान्यस्य सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रतिज्ञया साध्यते ततश्च प्रतिज्ञामात्रत्वं कथमित्याशंकायामाह। (व्या० प्र०) 4 अवद्भिर्जनैः। 5 अनिर्धारितः प्रतिज्ञया। 6 प्रतिज्ञाया अनिर्धारितः पुरुषः सर्वज्ञः। (व्या० प्र०) 7 अर्हदागम। (व्या० प्र०) 8 यावद्बुद्धो हि सर्वज्ञो न तावद् इति पा.। वि. प्र.। 9 (बौद्धादिभिः प्रवर्तमानागमसत्यता)। 10 अर्हति। (व्या० प्र०) 11 बौद्धस्य। (व्या० प्र०) 12 यः सर्वज्ञः स एवागमस्य प्रणेतेति। 13 सर्वज्ञतद्वचनयोः। 14 कार्यकारणता। 15 इतिकारिकापंचकेन यदुक्तं भट्टेन तल्लिरस्तं। वि. प्र.। 16 अविरोधलक्षणस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन पूर्वमेव व्याख्यातत्वात्तस्यामेव सप्तम्यां कारिकायां तद्व्याख्यानमवलम्ब्यः। (वि० प्र०)

नवनीत

स्वामी श्री समन्तभद्राचार्यवर्य अपनी श्रद्धा और गुणज्ञतालक्षण गुणों से सहित होकर देवागम स्तोत्र के द्वारा भगवान् की स्तुति करना चाहते हैं। इस स्तोत्र में प्रारंभिक कारिकाओं के द्वारा ऐसा ध्वनित हो रहा है कि मानों श्री आचार्यवर्य भगवान् से वार्तालाप ही कर रहे हैं—

सर्वप्रथम आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आपके जन्मोत्सव आदि में देवों का आगमन आदि अतुल्य वैभव पाया जाता है। इस पुण्य वैभव को देखकर हम आपको वंद्य नहीं समझते हैं क्योंकि ये वैभव मायावी जनों में संभव हैं। तब भगवान् ने अंतरंग-बहिरंग महोदय आदि वैभव से अपनी विशेषता बतलानी चाही तब भी (द्वितीय कारिका में) आचार्यवर्य ने कहा कि ये अंतरंग-बहिरंग वैभव देवों में पाये जा सकते हैं अतः इस हेतु से भी आप वंद्य नहीं। तब भगवान् ने अपने तीर्थंकरपने को बतलाना चाहा तब भी आचार्य श्री ने (तृतीय कारिका में) यह कहा कि सभी संप्रदायों में उनके प्रवर्तक अपने को तीर्थंकर मान रहे हैं और सभी तो आप्त हो नहीं सकते क्योंकि उनमें परस्पर में विरोध है।

पुनः यह प्रश्न होता है कि आप विश्व में किसी को भी भगवान्–आप्त मानने को तैयार नहीं है क्या ? तब स्वामी जी स्वयं (तृतीय कारिका के अंतिम चरण में) यह ध्वनित कर देते हैं कि इन सभी संप्रदायों में कोई न कोई आप्त अवश्य है। वह आप्त कौन हो सकता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यवर्य ने झट यह उत्तर नहीं दिया कि वे सच्चे आप्त हमारे अर्हंत ही हैं, प्रत्युत (चतुर्थ कारिका में) यह बतलाया कि किसी न किसी जीव में दोष और आवरण का सम्पूर्णतया विनाश हो सकता है।

इतना कहने पर भी यह प्रश्न हो गया कि दोष और आवरण के नष्ट हो जाने पर कोई आत्मा कर्म कलंक रहित अकलंक बन जायेगा फिर भी तो वह सर्वज्ञ नहीं होगा पुनः आपको मान्य कैसे होगा ? तब आचार्य श्री ने (पांचवीं कारिका में) अनुमान वाक्य से स्पष्ट किया कि "सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थों को जानने वाला कोई आत्मा अवश्य है।" और जो सभी कुछ जान लेता है वही तो सर्वज्ञ है।

इस प्रकार से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर वे सर्वज्ञ कौन हैं ? अथवा मानों भगवान् ही प्रश्न करते हैं कि मुझमें ही दोष और आवरण नहीं हैं तथा मैं ही सर्वज्ञ हूँ इस बात को आप कैसे सिद्ध करेंगे ? तब आचार्य महोदय कहते हैं कि "सत्यमेवासि" वे दोष आवरण रहित सर्वज्ञ आप ही

हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से विरोध रहित हैं आपका शासन (मत) प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है।

इस प्रकार से आचार्यवर्य ने चतुर्थ कारिका में अर्हंत के वीतराग विशेषण को स्पष्ट करके पांचवीं कारिका से उन्हें सर्वज्ञ सिद्ध किया है। पुनः छठी कारिका से उन्हें ही युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाले घोषित कर परम हितोपदेशी सिद्ध किया है।

सच्चे आप्त में वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये तीन विशेषण होने ही चाहिए अन्यथा वह आप्त नहीं हो सकता है। ऐसा अन्य ग्रन्थों में स्वयं आचार्य श्री ने कहा है और यहां चौथी, पांचवीं एवं छठी कारिका के क्रम से भी यही सूचित हो रहा है कि पहले कोई जीव दोष आवरण के अभाव से वीतराग होता है और सर्वज्ञ होने के बाद ही हितोपदेशी हो सकता है।

इस प्रकार छठी कारिका में आचार्य श्री अन्वय मुख से अर्हंत को सच्चे आप्त सिद्ध कर चुके हैं। अब सप्तम कारिका में व्यतिरेक मुख से अन्य कपिलादि को सच्चे आप्त होने का निषेध करेंगे।

अतः इस छठी कारिका से सातवीं कारिका का संबंध समझ कर इस प्रथम खण्ड का द्वितीय खण्ड से संबंध स्थापित कर लेना चाहिए।

> मादृग्भेदेश्वरादीनां, मायाक्षयमविभाकरी।
> तावदाप्तसहस्रस्याः प्राक्-खण्डो जगति गंधताम् ॥१॥

अष्टसहस्री भाषानुवाद का प्रथम भाग

समाप्त

प्रशस्ति :

सिद्धं सन्मतिदेवस्य शुद्धमेकान्तशासनम्। सर्वार्थसिद्धिकर्तारं शासनं जिनशासनम् ॥१॥
वर्षे चतुःशते सप्तत्युत्तरे वीरनिर्वृते। कुंदकुंदगणी जातो गौतमानुप्रसिद्धिभाक् ॥२॥
तस्य पूतान्वये क्रमाते तपोज्ञानपरस्मगाः। बहवः ख्यातनामानः समभूवन्महर्षयः ॥३॥
क्रमशस्तत्र सञ्जातः प्रशान्तः सागरोपमः। शांतिसागर आचार्यो मुनीन्द्रो गणनायकः ॥४॥
येन दैगम्बरी दीक्षाविच्छिन्नेकि प्रवर्तितः। चिरादासीन्निरुद्धोऽसौ कलिकालप्रभावतः ॥५॥
तत्प्रतिष्ठापदं लेभे सूरिः श्री वीरसागरः। निष्पृहानुपहे यत्नो व्यवहारविदांवरः ॥६॥
तपसा तेजसा कीर्त्या प्रभावेण महौजसा। तत्प्रतिष्ठासनः सूरिर्जीयात् सूर इवाम्बरे ॥७॥
महाभागस्य तस्यैव गुरोः पादयुगान्तिके। आर्यिकाभाः प्रव्रज्या मे सञ्जाता भवहारिणी ॥८॥
नाम्ना ज्ञानमती चाहं कृपाणेनैव सूरिणा। तत्प्रसादान्मया लब्धमारमज्ञानं भवान्तकम् ॥९॥
लब्धमासीदतः पूर्वं ब्रह्मचर्यं व्रतं मया। देशभूषणसूरीणामन्तिके क्षुल्लिकाव्रतम् ॥१०॥
सर्वत्र विहरन् भूमौ वीरवत् वीरसागरः। आयुरन्ते समाधिस्थः दिवं यातो महामुनिः ॥११॥
शिवसागर आचार्यस्ततस्तत्पट्टमाश्रितः। संसारदुःखतप्तानां शिवं साक्षात् प्रवर्तयन् ॥१२॥
वर्षाणि द्वादशं यावत् विहारं कृतवानसौ। पुनः समाधिं संप्राप्य स्वर्गलोकं समाश्रितः ॥१३॥
ततः संघानुसम्मत्या धर्मभास्करिवापरः। धर्मसागर आचार्यस्तस्य पट्टे प्रतिष्ठितः ॥१४॥
यस्यानुशासनं पूतं श्रावकैर्मुनिभिस्तथा। मूर्ध्नि संधार्यते नित्यं जिनाज्ञेव सुदृष्टिभिः ॥१५॥
यस्य पार्श्वे मयाधीतं श्रुतं सम्यक् जिनोदितम्। स महावीरकीर्त्तिर्मे भूयात् मङ्गलदायकः ॥१६॥
सर्वशास्त्रेषु निष्णातोऽनेकभाषाविशारदः। स एवासीत् प्रभुः सूरिः मन्त्रविद्याविचक्षणः ॥१७॥
मरुप्रदेशके प्रान्तेऽस्ति टोडारायसिंहकः। तत्र श्रीपार्श्वनाथस्य मंदिरे जिनसन्निधौ ॥१८॥
रसविष्णुदिशा युग्मे वीरब्दे विभुते शुभे। पौषमासि सिते पक्षे द्वादश्यां शुक्रवासरे ॥१९॥
विक्रयातोऽष्टसहस्र्या वै गोदाभ्या राष्ट्रभाषया। गुरुभक्त्यानुवादोयं मया सम्यक्समर्पितः ॥२०॥
स्वेयाद्दष्टसहस्रीयं राष्ट्रभाषा विभूषिता। विदुषां रञ्जनं कुर्यात्तावच्चंद्रदिवाकरौ ॥२१॥

इंद्रवज्रा छन्द

स्याद्वादचिंतामणिनाम्न्यैषा, टीका कृतेयं स्वयमल्पबुद्ध्या।
सम्यक्त्वशुद्ध्यै भवतात् सदा मे, चिंतामणिः स्याज्जगते च सख्यम् ॥२२॥

इति शुभं भूयात्

卐——卐

★★ परिशिष्ट ★★

उद्धृतश्लोकाः

	पृष्ठ सं०
अ	
अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात् । सामान्याधिकरण्यं प्रोक्तं विरुद्धं भेदाप्रतिष्ठितेः ॥	१३८
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वत्र आदिमान् । कृत्रिमेण स्वतन्त्रेण स कथं प्रतिपाद्यते ॥	२४३
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽसौ प्रतीयते । प्रकल्पेत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रयदोषतः ॥	२२३
अस्मदैक्यप्रतीतासु वचनान्मूलवर्जितात् । सर्वज्ञमवजानन्तः स्वेष्टवाधासहिष्णवः ॥	२५४
अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम् । तद्विविक्तस्मिंदेशश्च यदी मैवास्त्वया धृतिः ॥	२६८
असिद्धोभावधर्मश्चेद् व्यधिकार्थुभयाश्रयः । विरोधी धर्मोऽभावस्य स सतां साधयेत् कथं ॥	३३४
अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे वचसोऽस्यास्ति कृत्स्नता । सामान्याधिकरण्ये हि तयोरंशेन्विता क्वचेत् ॥	
उ	
उपदेशो हि बुद्धावेर्ष्यादिमांश्चिरोचरः । अन्यवस्तूपपद्येत सर्वज्ञो यदि नामवत् ॥	२५४
ए	
एकत्वात्कर्मणः प्राप्तं क्रियैकत्वं तथाविधः । कर्तृभेदादितीत्थं च किं कर्तव्यं विचक्षणैः ॥	११४
एकस्मात्स्वविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् । न तु ज्ञात्वान्तरज्ञानं तस्मादेवैव लभ्यते ॥	२२६
क	
करोत्यर्थमभ्यासको भिन्नो यदि तत्त्वतः । अन्यत्तत्रिश्चलत्वस्य कथने दुर्घटः क्रमः ॥	१२८
क्रमप्रतीतेरेवं स्यात् प्रथमं भावनामतिः । तत्तात्पर्यात्पुनः पश्चाद्ततः कर्ता प्रतीयते ॥	११६
कार्यमें चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्त्वतः । इत्येतच्चेद् हुंच ! श्री मद्भट्टैवैतान्तवादिनी ॥	२१
कामी वचेत्र यः कश्चिन्निजोये वस्तु तत्र सः । विचक्षणस्वमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते ॥	२६
कार्यस्य सिद्धौ आत्मानं तद्युक्तः पुरुषस्तथा । भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥	३०
कार्येषु चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य सम्मतम् । तस्य स्वरूपसत्तायां तत्प्रमाणविमर्शतः ॥	२६१
किञ्चिल्लिङ्गादिमाश्रित्य विचारोऽत्रैव वर्तते । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥	२२६
ग	
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥	२६४
ज	
ज्योतिर्विज्ञ प्रकृष्टोपि चंद्रार्कग्रहणादिषु । भवत्यादिक्षणानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥	२२६

पृष्ठ नं०

ओ ज्ञेये ऽवयवः स्यादवयवि प्रतिबंधने । घटादौ अवयविग्राहको न स्यादवयवि प्रतिबंधने ॥ २७८
आत्मा व्याकरणं बुद्धिः सम्बापञ्चसम्बयोः । प्रकृष्यते न लक्षणविषिद्दलनिर्णये ॥ २६६

त

तथा द्विजस्य व्यापारो यावद्व्यक्तिर्न दृश्यविद्दीयते । ततः परस्य च निर्बाधा करोतीति क्रियेष्यते ॥ १२६
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयोविभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पंथाः ॥ १८४
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि । न स्वयंवेद्यताप्रूर्वंप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥ २४६
तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽज्ञाप्यभावतः । साध्यते चेन्न तस्यापि सर्वज्ञाप्यप्रसूतितः ॥ २६४
सं संभवः संभव तर्कयोगैः, संस्प्यमानस्य जनस्य लोके । आसीरिहाद्यस्त्रिक एव वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ !
तथा प्रजानाम्य ॥ १५१
तज्ज्ञापकोपलंभोऽपि सिद्धः पूर्वं न चातुषित् । यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तितज्ज्ञानबाधनम् ॥ २६५
ता प्राप्तिःक्रियार्थं च ज्ञात्यर्थं च प्रयत्यते । सा सत्ता सा महत्तात्मा यावाहुस्त्वत्तत्तावयः ॥ ६५
तस्मात् तद्व्यतिरेकश्चेत् किमन्यैरनुमानतः । दूरेऽप्यासन्नवत्तस्य सन्निधानेऽतिसंनिधानतः ॥ १४१
तेषामलेपनज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके क्षणे । जायते नास्तिताज्ञानं ज्ञानं तत्र मानसम् ॥ २६४

द

दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । योजनशतं गन्तुं तस्योऽभ्यासविशेषतः ॥ २३६

ध

धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते । सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन बाध्यते ॥ ११६

न

न सामान्यं विशेषेण विना किञ्चित्प्रतीयते । सामान्याक्षिप्तमात्मानं न हि मात्राप्रतीतितः ॥ १२६
न भेदाद्विन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्धयपेक्षतः । बुद्ध्याकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता ॥ १४१
न ज्ञानमिति: क्षणिकचित्यः सर्वज्ञभोजनः । न च संस्कारसद्भावो तात्पर्यमवकल्प्यते ॥ २५३
न ज्ञाप्यार्थप्रधानैस्तैस्तत्रास्तित्वं विधीयते । न चातुषित्वं शून्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ॥ २५३
न ज्ञानेनान्तरज्ञानं लक्षणाज्ञादुपैष्यते । न क्रमाद्व्यवसायस्य प्रत्यक्षत्वानभीष्टितः ॥ २६४

पृष्ठ सं०

सम्बेयं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथं । सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति शोभं न धीमताम् ॥ २६७
न हेतोः सर्वथैकान्तैरनेकान्तः कथञ्चन । भूतज्ञानादिवन्मान्यास्तेषां दृष्टेष्टबाधनात् ॥ ३२६
नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ इत्यपि । साध्यं यत्तदनुद्येन प्रतिज्ञायामसेव तत् ॥ ४२६
नानुमानादिगम्यत्वात् स्वभावविप्रकृष्टतः । सर्वज्ञस्याग्न्यवाभावसाधनानुपपत्तितः ॥ २६६
निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥ १४३
नैवं सर्वः सर्वज्ञज्ञापकानुपपत्तितः । सिद्धं तद्वेदकारोपो येन तत्र निषिध्यते ॥ २६८

प

परस्परविनामूतं द्वयमेतत्प्रतीयते । नियोगः सम्भवाभोऽस्मात् कालप्रेरणयोर्यतः ॥ २७
परोपगमतः सिद्धः स वेत्यास्तीति चाप्यते । व्याघातस्तत्प्रमाणाभ्यामेवोक्तं सिद्धो न सोऽन्यथा ॥ २१५
पाकं करोति यागं च यदि चैत्रः प्रतीयते । एवं सत्यनवस्था स्यात्सर्वत्रैवाव्यवस्थाकरी ॥ १२६
पाकः करोति यागं चेत्येवं भेदेऽवभासिते । कालवत्स्वा भवेत्तत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम् ॥ १२१
प्रत्यक्षाभो नियोगस्य यतः शुद्धः प्रतीयते । कार्यंकल्पस्य तेनात्र शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥ २६
प्रमाणं किं नियोगः स्यात् प्रमेयसहभा पुनः । उभयेन विहीनो वा इत्यकल्पोऽथवा पुनः ॥ ३१
प्रतीतेऽन्तःप्रमाणत्वे स्वयमर्थात्मिते । को दोषः सुप्तचैतन्यैकान्तोत्पन्नकलादये ॥ २६७
प्रमाणान्तरतोऽप्येषां न सर्वपुरुषग्रहः । तस्मिन्नाक्षेरविज्ञानात् सहोक्तीरित्यसूपणात् ॥ २६६
प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य तु । तद्भावधारणे लक्ष्ये को नु तं कल्पयिष्यति ॥ ३३१
प्रज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् । व्यवधीरन्तिरामर्शान्नातिशेते परान्नरान् ॥ २५८
प्रेरकत्वं तु यत्तस्य विशेषणमिहेष्यते । तत्प्रत्यक्षबलाभ्यत्वात्प्रभुत्वे कार्य नियोगता ॥ २६
प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा सर्वत्र मन्यते । नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ॥ २७
प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणेह विना क्वचित् । ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसंज्ञता ॥ २७
प्रेरणा विषयः कार्यं न तु तत्प्रेरकं स्वतः । व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेय उपचर्यते ।
प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् । कार्यं वा प्रेरणाभेदो नियोगस्तेन सम्मतः ॥ २८

ब

बुद्धिरेवात्मवाक्यादा तत्र उत्पद्यते यदा । तदास्याध्यवसायोऽस्ति व्यवहारो नान्यतः ॥ १४४
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदावसंभवः । उपदेशः कृतोऽस्तीति मोहोऽयमेव केवलम् ॥ २५४

भ

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा । शाबरो यदि वाक्यार्थो हतो भट्टप्रभाकरौ ॥ २१

पृष्ठ नं०

म

मयेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् । स्वहितो प्रेरकं तत्स्यात्तदन्यथा तन्न सिद्धयति ॥ २७
मयेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते । ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तर्येव व्यवस्थितम् ॥ १०
मयेदं कार्यमित्येव मन्यते पुरुषः सदा । पुंसः कार्यविशिष्टत्वं नियोगोऽत्र च वाच्यता ॥

य

यथा प्रयोजकस्तत्र शाब्दमानप्रतीतिकः । प्रयोज्योऽपि तथैव स्याच्छब्दो बुद्धयर्थवाचकः ॥ १०३
यजते पचतीत्यत्र भावना न प्रतीयते । यज्यादयर्थातिरेकेण तस्या वाक्यार्थता कुतः ॥ १२२
यथा क्रियान्य व्यापारो यत्न इत्यभिधीयते । ततः सदा पुनर्बुद्धा करोतीति न हि क्रिया ॥ १२२
यदि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा न हि । सामान्यात्मिकरूपेण वेदवत्तदया मतेः ॥ १२२
यजते पचतीत्यत्र भावनायाः प्रतीतितः । यज्यादयर्थातिरेकेण मुख्या वाक्यार्थता ततः ॥ १२१
यदि क्रियापि भावस्याविशेषादपरैव हि । सामान्यात्मिकरूपेण वेदवत्तदया मतेः । १२६
यज्ञादीयैः प्रमाणैस्तु यज्ञादीनामदर्शनम् । दृष्टं संप्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥ २५५
यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थनिश्चितिसंश्रयात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात्स रूपे घोषवृत्तिता ॥ २५८
यदा च सर्वविदेकत्र भवेत्सत्यातिशायनिः । नैवास्यत्र तदा सास्ति सर्वज्ञं सर्वथा प्रति ॥ २६५
यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते । न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धावर्थेन लभ्यते ॥ ४३०
यावद्बुद्धौ न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा । यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥ ४३०
ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राबाल्येन यतीश्वराः । यतीन्द्रविदाश्रितत्वास्ते वेदप्रबलोक्तयः ॥ २४५
येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः । स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न सर्वातिशयदर्शनात् ॥ २५८

र

रूपव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य सार्थसत्यनिबन्धनम् ॥ १०५
व्यापार एव यस्य क्रियाशब्देति मन्यते । फलं विशेष एवं चेत् सत्यताऽस्य कुतः ?॥ १२०
विशेषणं तु यत्तस्य किंचिदन्यत्प्रतीयते । प्रत्ययार्थो न तद्युक्त आख्यातैः स्वर्गकामवत् ॥ २६
विवक्षापरतन्त्रत्वात् भेदाभेदव्यवस्थितेः । साधित्रात्रोत्कारकस्य सर्वमेतदसमञ्जसम् ॥ ११७
विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्गुणैर्गुणवत्ता । वाञ्छन्तो वा न वक्तारः प्रामाण्यं संवदन्ति वः ॥ ४२०

श

शब्दव्यापारकृतो वा व्यापारः पुरुषस्य वा । द्वयव्यापारकृतो वा द्वयव्यापार एव वा ॥ ६१

	पृष्ठ सं०
अन्यात्मभावनाभाहुरभ्यासेन स्थिरादयः । इयं स्वप्नेऽपि सर्वार्था सर्वसिद्धातेषु विद्यते ॥	९४
अन्यादुच्चरितावात्मा नियुक्तो मन्यते नरैः । भावनातः परः को वा नियोगः परिकल्प्यताम् ॥	१०१

स

सन्मात्रं भावसिद्धं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः । शास्त्रार्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥	९६
संबंधाक्षेपि तद्भेदो शास्त्रार्थस्याप्यसौ भवेत् । सोपि नियंत्र्य एवेति तद्भेदेनेह लिख्यताम् ॥	१४७
सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नैवानीश्वरवादिभिः । दृष्टौ न चैकवेलोऽस्ति लिंगं वा शक्तुमात्मवेत् ॥	२५२
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन व्यवस्थिता । कथं तदुभयं सिद्धयेत् सिद्धमूलान्तराद्ऋते ॥	२५३
सर्वज्ञस्तदृशं कश्चिदादि पश्येम संप्रति । उपमानेन सर्वज्ञं जानीमस तदो वयम् ॥	२५४
सर्वसंबंधि तद्बोद्धुं, किंचित् बोद्धैर्न शक्यते । सर्वबोधोस्ति चेत् कश्चित्तद्बोद्धा कि निषिध्यते ॥	२६२
सर्वसंबंधिसर्वज्ञज्ञापकानुपपत्तिनम् । न चक्षुरादिभिर्यद्वज्ज्ञातव्यस्तत्प्रवृत्तवत् ॥	२६७
सर्वप्रमातृसंबंधिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत् ॥	२६३
सर्वप्रमातृसंबंधिप्रत्यक्षादिनिवारणात् । केवलागमगम्यत्वं तत्स्यते पुरुषापसोः ॥	३२४
सत्यकल्पतया येन धर्मेतरमिति मन्यते । सत्यज्ञानेन तेनेह बोध्यं स्वं व्यवसिद्यते ॥	३०
सिद्धमेकं यतो ब्रह्म गतमाम्नायतः सदा । सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं कुत एव तत् ॥	२९
सिद्धरूपं हि यद्बोध्यं न नियोगः स तावता । सत्यत्वेनेह बोधस्य प्रेरकत्वमभिप्रेयताम् ॥	३०
सिद्धाविधिरतो बोधः शोभना नाभिधीयते । यस्तूच्यते न तस्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥	४३०
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा । अथासौ यदि सर्वज्ञो मतमेवः कथं तयोः ॥	१६
सूक्ष्मादयोपि चाकाशः कस्यचित्तत्कथं स्फुटम् । भूतज्ञानाभिधम्यत्वान्नदीद्वीपादिवेदवत् ॥	३२८
स्वसंबंधि यदीदं स्याद् व्यभिचारि पदोनिधेः । अंधःकुंभादिसंज्ञानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥	२६३
स्वाभिप्रेतेनाभिमानो हि बोद्धुर्बोध्य भवेदयम् । बोध्य एवेह विज्ञेयं सदेवं स्वं निरूप्यते ॥	३०
स्वामवयवाभिसंबंधि भूतज्ञानं हि मन्यते । तेनाभिमन्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥	३२९

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

आप्त—जो अज्ञानादि दोष, ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म रूप आवरण से रहित निर्दोष, सूक्ष्मादि पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ और युक्तिशास्त्र से अविरोधी वचन बोलने वाले हितोपदेशी हैं।

अन्यथानुपपत्ति—अन्य प्रकार से नहीं होना, जैसे अग्नि रूप साध्य के अभाव में धूम रूप साधन का न होना।

तथोपपत्ति—उस प्रकार होना, जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना।

व्यभिचार दोष—जो हेतु पक्ष, सपक्ष में रहते हुये विपक्ष में चला जावे जो व्यभिचारी या अनैकांतिक कहलाता है। जैसे 'आकाश नित्य है क्योंकि प्रमेय है' यहाँ प्रमेयत्व हेतु नित्य आकाश में रहते हुये अनित्य घट में भी चला जाता है क्योंकि घट भी प्रमेय है।

अध्यात्म—आत्मा का आश्रय लेकर होना।

नियोग—'नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन' मैं इस वेद वाक्य से नियुक्त हुआ हूँ इस प्रकार के वेद वाक्य के अर्थ को नियोग कहते हैं।

प्रभाकर संप्लव—बहुत से प्रमाणों का एक अर्थ में प्रवृत्त होना।

विधिवाद—जगत् को एक परब्रह्म रूप ही मानना, या सर्व जगत् को एक सत् रूप ही मानना, इसे ब्रह्मवाद, ब्रह्माद्वैत, सत्ताद्वैत भी कहते हैं।

अविद्या—अद्वैतवादियों द्वारा कल्पित भेद रूप गलत धारणा को अविद्या कहते हैं।

वासना—पूर्व पूर्व के संस्कार से एक रूप वस्तु को अनेक भेद रूप मानना या एक क्षण में नष्ट होने वाली क्षणिक वस्तु को कालांतर स्थायी मानना। इसे अद्वैतवादी और बौद्ध दोनों ही मानते हैं।

संवृत्ति—कल्पना मात्र। सर्वथा असत्य।

चार्वाक—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयों से आत्मा की उत्पत्ति मानने वाला जड़वादी।

बौद्ध—सर्वथा प्रत्येक वस्तु को एक क्षण मात्र स्थिति वाली मानने वाले क्षणिकवादी।

सांख्य—प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों को मानने वाले, सर्वथा प्रत्येक वस्तु को नित्य कूटस्थ अपरिणामी मानने वाले, आत्मा को अकर्ता, नित्य शुद्ध कहने वाले, नित्यैकांतवादी।

नीलांबर—वेद को अपौरुषेय मानने वाले, सर्वज्ञ को न मानने वाले।

वैशेषिक—द्रव्य गुण आदि सात पदार्थ मानने वाले, समवाय सम्बन्ध से वस्तु के अस्तित्व को कहने वाले। ईश्वर सृष्टि कर्तृत्ववादी।

नैयायिक—प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ मानने वाले, ईश्वर कर्तृत्ववादी।

वेदांती—ब्रह्माद्वैतवादी, सत्ताद्वैतवादी या विधिवादी सब पर्यायवाची नाम हैं।

अर्हत—सर्वथा सम्पूर्ण चराचर जगत् को एक रूप मानने वाले। इसमें पाँच भेद हैं—ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत और शून्याद्वैत।

तत्त्वोपप्लववादी—तत्त्वों को कहकर उनका अभाव करने वाले, कल्पना मात्र ही तत्त्व को मानने वाले।

शून्यवादी—सम्पूर्ण जगत् को असत्य या कल्पना रूप कहने वाला बौद्ध का माध्यमिक नामक एक भेद।

जैन—द्रव्यदृष्टि से सभी वस्तु को नित्य, अनादि निधन एवं, पर्याय दृष्टि से सभी वस्तु को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सत् रूप मानने वाले स्याद्वादी, कर्म शत्रु विजेता ऐसे जिन भगवान् के उपासक।

अन्यापोह—अन्य का अभाव करके कथन करना। बौद्ध शब्दों का अर्थ अन्यापोह करते हैं। जैसे 'गौ' इस शब्द को सुनने पर 'यह अश्व नहीं है, हाथी नहीं है, इत्यादि अर्थ करना अन्यापोह है।

प्रतिपत्ति—ज्ञान,

संप्रतिपत्ति—विसंवाद रहित जानना।

विप्रतिपत्ति—विसंवाद का होना।

सामान्य—अन्वय रूप धर्म या सत् रूप धर्म। जैसे सभी वस्तुयें अस्ति रूप हैं या सभी वस्तुओं में भावपना है यही सामान्य धर्म है।

विशेष—व्यावृत्ति रूप धर्म, जैसे यह गाय काली है, यह सफेद है इन धर्मों को विशेष कहते हैं।

प्रत्यासत्ति—निकटता का होना।

उपलब्धि लक्षण प्राप्ति—जो दिखने, उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति—

उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्यानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य है उसकी प्राप्ति का न होना, जैसे कमरे में घट उपलब्ध होने योग्य है उसका न होना। इसे दृश्यानुपलब्धि भी कहते हैं।

अनुपलब्धि लक्षण प्राप्तानुपलब्धि—जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य नहीं है उसकी प्राप्ति का

न होना, जैसे कमरे में पिशाच या परमाणु उपलब्ध होने योग्य नहीं हैं इनका न होना। इसे अदृश्यानुपलब्धि भी कहते हैं।

प्रतिघात—रोकना। पर ब्रह्म तत्त्व। ज्ञान।

अर्थान्तर—भिन्न।

अनर्थान्तर—अभिन्न।

समवाय—अयुत सिद्ध पदार्थों में इसमें यह है इस ज्ञान को समवाय कहते हैं। यह नैयायिक वैशेषिक की मान्यता है। जैनाचार्य इसे ही तादात्म्य नाम देते हैं।

संयोग—युत सिद्ध में इसमें यह है इसका नाम संयोग है। नैयायिक वैशेषिक इसे एक गुण मानते हैं। किन्तु जैनाचार्य इसे पृथक् गुण नहीं मानते हैं।

अभिधान—कहना।

अभिधेय—वाच्य। कहे जाने योग्यपदार्थ।

अपौरुषेयवेद—जो अनादि निधन हैं, नित्य हैं, जिनको कहने वाला रचने वाला कोई नहीं है, इसीलिये जो प्रमाण हैं। ऐसा वेदांती और मीमांसक आदि मानते हैं।

प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी—चार्वाक प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण मानता है अनुमान आदि को अप्रमाण कहता है।

अतीन्द्रियप्रत्यक्ष—इंद्रिय और मन की अपेक्षा से रहित आवरण कर्म के अभाव से आत्मा से उत्पन्न होने वाला पूर्ण ज्ञान।

अनवस्था—जिसका कहीं पर भी अवस्थान—ठहरना न हो उसे अनवस्था कहते हैं। यह एक दोष है।

लिंग—जिसके द्वारा साध्य का ज्ञान होता है, इसे हेतु भी कहते हैं।

अतिप्रसंगदोष—अघटित या अनिश्चित बात का होना अतिप्रसंग है।

अन्योन्याश्रय दोष—परस्पर में एक के होने से दूसरे का न होना मतलब एक के बिना दूसरे के न होने से दोनों का ही न होना।

याज्ञिक—क्रियाकांडवादी यज्ञ को अधिक महत्त्व देने वाले, मीमांसक।

सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण—सम्यक् प्रकार से निश्चित है बाधक नहीं होना जिस प्रमाण में अर्थात् जिस प्रमाण में बाधा नहीं होना सम्यक् प्रकार से निश्चित है।

विप्लुत—मन को क्षरण करने वाले संसारी प्राणी।

सर्वाप्तवादी—सभी को आप्त मानने वाले, सभी को आप्त कहने वाले, वैनयिकमिथ्यादृष्टि।

जीव—अज्ञानादि, भावकर्म।

आवरण—ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म।

व्यावृत्ति—पृथक् करना।

निवृत्ति—अभाव।

विवेक—ज्ञान। भेद करना।

विप्रकर्षी—दूरवर्ती पदार्थ।

व्याप्ति—इसके होने पर ही उसका होना, जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना।

व्यवच्छेद—दूर करना, हटाना। निराकरण करना।

परिच्छेद—जानना।

परमप्रकर्ष—उत्कृष्ट अवस्था, चरम अवस्था।

लक्ष्य—जिसका लक्षण किया जाये।

लक्षण—मिले हुये अनेक धर्मों में से पृथक् करने वाले किसी एक धर्म को लक्षण कहते हैं, जैसे जीव का लक्षण उपयोग है।

अविवक्षित—जिसको कहने की इच्छा नहीं है, जो विद्यमान होते हुये भी अप्रधान है।

जिनवाणी स्तुति

—कु० माधुरी शास्त्री

हे सरस्वती माता, अज्ञान दूर कर दो।
जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो॥
श्रुत का भण्डार भरा, तेरे ज्ञान की गंगा में।
जन मन शृंगार करा, गुरुवर मुनि चन्दा ने॥
शृंगार सहित माता, सुज्ञानज्योति पूर्ण कर दो।
जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो॥
हे सरस्वती० (१)

प्रभु वीर की वाणी सुन गणधर ने संभारा है।
मुनिगण उस पथ पर चल निजज्ञान सुधारा है॥
दिव ज्ञान किरण दाता, आलोक ज्ञान भर दो।
जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो॥
हे सरस्वती० (२)

चंदन चन्दा गंगा सम शीतल कर सकते।
मुक्ता मालायें भी नहिं मन को हर सकते॥
मन शांत सुरभि दाता, शारद माँ का वर दो।
जग को देकर साता, विज्ञान पूर भर दो॥
हे सरस्वती० (३)

आर्यिका ज्ञानमती स्तुति

—कु० माधुरी शास्त्री

मोक्षमयी पथ जिन्होंने प्राप्त करके।
संसार में सुमति ज्ञान प्रचार करके॥
वैराग्यमूर्ति श्रुत के परिवेष में है।
श्री मात ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं॥१॥

माँ मोहिनी जो बनीं शुभ रत्नमति थीं।
सद्ज्ञान शुद्ध रत्नत्रय युक्त मति थीं॥
अनगी सुज्ञानमति की पद रज नमूं मैं।
श्री मात ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं॥२॥

श्री देशभूषण गुरु से ज्ञान पाया।
श्री वीर सिन्धु मुनि से पद मान आया॥
निज नाम सार्थक किया निज ही गुणों से।
श्री मात ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं॥३॥

साहित्य सर्जन किया बहु पुण्यकारी।
बन ज्ञानज्योति फैली तव कीर्ति प्यारी॥
जम्बू सुद्वीप रचना में संघर्ष है।
श्रीमन्त ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं॥४॥

श्री वीर के समवसृति में चन्दना थीं।
अर्यिका बनीं जिनचरण अभिवंदना की॥
चलिनी वही पद विभूषित को नमूं मैं।
श्री मात ज्ञानमति को नित ही नमूं मैं॥५॥

मुझ में जिनके भारती, सरस्वती भण्डार।
चरण 'माधुरी' वंदना, करो मात स्वीकार॥६॥